श्रीमम्मटाचार्यविरचितः

काव्य-प्रकाशः

डा० पारसनाथ द्विवेदी

श्रीमम्मटाचार्यविरचित।

काव्य-प्रकाशः

[हिन्दी-व्याख्या-सहित]

डा० पारसनाथ द्विवेदी
एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्., व्याकरण-साहित्याचार्य
आचार्य एवं अध्यक्ष : पुराणेतिहास एवं संस्कृति विभाग
संकायाध्यक्ष : साहित्य संस्कृति संकाय
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

प्रकाशक | विनोद पुस्तक मन्दिर,
डा० रांगेय राघव मार्ग, आगरा–२

□ □

© लेखक

□ □

संस्करण नवीनतम्

□ □

मूल्य : 150.00

□ □

मुद्रक रवि मुद्रणालय,
आगरा

संस्कृत के तपोधन, संस्कृत-सेवा के महाव्रती,
संस्कृत-रक्षा के प्रहरी
ऋषियों, मुनियों, मनीषियों एवं आचार्यों
को
सादर अर्पित

प्राक्कथन

काव्यालङ्कारशास्त्र के इतिहास में आचार्य मम्मट का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने काव्यप्रकाश नामक ग्रन्थ लिखकर काव्य-जगत् में अपूर्व यश अर्जित किया है। उनका काव्यप्रकाश काव्यालङ्कारशास्त्र का अनुपम ग्रन्थ माना जाता है। यह ग्रन्थ अपने कमनीय प्रकाश से काव्य-जगत् को आलोकित करता हुआ समस्त साहित्य-शास्त्र पर अपनी प्रकाश-रश्मियाँ बिखेरता रहा है। यह समन्वयवादी युग की सर्वश्रेष्ठ रचना है, जो कि आलोचनाशास्त्र को नवीन जीवन प्रदान करती है। भारतीय काव्यालङ्कारशास्त्र के सिद्धान्तों के सम्यग् ज्ञान के लिए 'काव्यप्रकाश' का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। यह काव्यालङ्कारशास्त्र का लोकप्रिय महनीय ग्रन्थ है।

काव्यप्रकाश का अध्ययन-अध्यापन सदियों से होता आ रहा है और अध्येताओं को समय-समय पर कठिनाइयों का अनुभव भी करना पड़ा है। इस ग्रन्थ-रत्न पर विभिन्न विद्वानों द्वारा समय-समय पर अनेक व्याख्याएँ एवं टीकाएँ लिखी जाती रही हैं। एक टीकाकार आचार्य महेश्वर का कथन है कि काव्यप्रकाश की टीकाएँ घर-घर में बनीं, फिर भी यह दुर्बोध बना हुआ है—

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे-गृहे टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः।

इस ग्रन्थ पर लगभग ७५ टीकाएँ संस्कृत में लिखी गई हैं और अंग्रेजी तथा हिन्दी में भी कई टीकाएँ लिखी गई हैं। किन्तु काव्यप्रकाश में कुछ अंश ऐसे हैं जिनका अभिप्राय समझना अत्यन्त दुरूह एवं प्रौढ़ था, जिसे विद्वान् भी तत्त्वतः समझने में असमर्थ थे। यही कारण है कि इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। फिर भी हिन्दी टीकाकार इस ग्रन्थ के कुछ अंशों की स्पष्ट व्याख्या नहीं कर सके। उक्त ग्रन्थ पर **वामनाचार्य झलकीकर** की बालबोधिनी टीका सर्वोत्तम है। हिन्दी में आचार्य विश्वेश्वर की टीका है। मैंने काव्यप्रकाश पर हिन्दी में व्याख्या लिखकर पूर्व हिन्दी-व्याख्याकारों की टीकाओं में जो कमियाँ दिखाई दीं, उन्हें पूरा करने का दुःसाध्य प्रयास किया है। इस कार्य में मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय तो विद्वज्जन ही कर सकते हैं।

काव्यप्रकाश के दस उल्लासों में काव्यालङ्कारशास्त्र के समस्त विषयों का विवेचन किया गया है। प्रथम उल्लास में काव्य के हेतु, काव्य-प्रयोजन तथा काव्य के लक्षण एवं भेदों का वर्णन है। द्वितीय उल्लास में शब्दशक्तियों का तथा तृतीय उल्लास में आर्थी व्यञ्जना का निरूपण किया गया है। चतुर्थ उल्लास में ध्वनि के भेद, रस एवं भावों का विवेचन किया गया है। पञ्चम उल्लास में गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद तथा व्यञ्जना की सिद्धि का निरूपण है। षष्ठ उल्लास में चित्रकाव्य तथा सप्तम में दोषों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। अष्टम उल्लास में गुणों का निरूपण है। नवम उल्लास में शब्दालङ्कार एवं दशम उल्लास में अर्थालङ्कारों का विवेचन किया गया है।

प्रस्तुत व्याख्या लिखते समय जिन आचार्यों एवं विद्वानों के ग्रन्थों से सहायता ली गई है उनमें वामनाचार्य झलकीकर की बालबोधिनी टीका तथा आचार्य विश्वेश्वर की हिन्दी व्याख्या विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त एस० के० डे तथा महामहिम काणे महोदय के 'काव्यशास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ से भी सहयोग प्राप्त हुआ है। अतः मैं उन सभी महानुभावों, जिनके ग्रन्थों से सहायता ली गई है, के प्रति कृतज्ञता-पूर्वक आभार प्रदर्शित करना अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ। विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा के संचालक श्री विनोदकुमार अग्रवाल के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने बड़ी लगन एवं उत्साह के साथ हिन्दी-व्याख्या सहित इस महान् ग्रन्थ को प्रकाश में लाने का भार उठाया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में सावधानी बरतने पर भी मानव-सुलभ त्रुटियों का होना स्वाभाविक है। अतः उन भूलों, त्रुटियों एवं न्यूनताओं के लिए क्षमा-याचना करते हुए माननीय विद्वानों से विनम्र निवेदन है कि इस ग्रन्थ में जहाँ कहीं भी त्रुटियों का अनुभव करें, उनका संकेत करने की कृपा कर अनुगृहीत करेंगे, जिससे अगले संस्करण में उनका परिमार्जन किया जा सके।

दीपावली
१ नवम्बर, १९८६

विनीत
पारसनाथ द्विवेदी

विषयानुक्रमणिका

[प्रस्तावना]

[मूल ग्रन्थ एवं व्याख्या]

चतुर्थ उल्लास

(ध्वनिकाव्य-निरूपण)

पंचम उल्लास

(गुणीभूतव्यङ्ग्य निरूपण)

षष्ठ उल्लास

(चित्रकाव्य-निरूपण)

सप्तम उल्लास

(दोष-निरूपण)

परिशिष्ट

प्रस्तावना

काव्यालङ्कारशास्त्र

संस्कृत वाङ्मय में काव्यालङ्कारशास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन-काय में साहित्यालोचन की विद्या के लिए काव्यालङ्कारशास्त्र नाम प्रचलित था। इस शास्त्र के अध्ययन से काव्य के स्वरूप, गुण, दोष, अलङ्कार आदि का ज्ञान प्राप्त होता था। काव्य-रचना में निपुणता प्राप्त करने के लिए काव्यालंकारशास्त्र के अध्ययन की महती आवश्यकता थी। अग्निपुराणकार का कथन है कि जो काव्यालङ्कारशास्त्र को नहीं जानते हैं, केवल व्याकरणादिशास्त्र को ही जानते हैं, वे काव्य-विचारणा को नहीं जानते।[1] इस प्रकार काव्य के नियमन करने वाली विधा को 'काव्यालङ्कार-शास्त्र' कहा जाता था।

नामकरण

काव्यालङ्कारशास्त्र का प्रयोग सबसे पहिले अग्निपुराण में कथित काव्य-शास्त्रीय विषयों के लिए किया गया है। क्योंकि अग्निपुराण में काव्यशास्त्रीय भाग के अन्त में (पुष्पिका में) लिखा है—"**इत्याग्नेये महापुराणेऽग्निप्रोक्तं काव्यालंकार-शास्त्रं समाप्तम्**'। प्राचीन आचार्यों के अनुसार अग्निपुराण ही काव्यलंकारशास्त्र का आदि स्रोत है। आधुनिक समीक्षक भी इस मत को मान्यता देने लगे हैं। अग्निपुराण के आधार पर ही भामह और रुद्रट ने अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकार' रखा है और वामन ने 'काव्यलंकारसूत्र' तथा उद्भट ने 'काव्यालंकारसारसंग्रह' रखा है।[2] वामन के अनुसार 'साहित्यशास्त्र (काव्यशास्त्र) सम्बन्धी ग्रंथ को 'काव्यालंकार' इसलिए कहा जाता है कि उसमें काव्यगत सौन्दर्य का निर्देश किया जाता है। काव्यालंकारसूत्र की कामधेनु टीका में कहा गया है कि जो यह अलंकार शब्द काव्य-ग्रहण हेतु के रूप में उपन्यस्त किया गया है। इससे 'तत्व्युत्पादितशास्त्र' का 'काव्या-लंकारशास्त्र' के नाम से व्यवहार होता है।[3] अन्य आचार्यों ने भी काव्य के सौन्दर्याधायक तत्त्व को काव्यालंकार नाम से व्यवहृत किया है।[4] इस प्रकार काव्या-

---

१. इत्येतदग्निना प्रोक्तं काव्यालंकारशासनम्।
न ये जानन्ति जानन्ति न ते काव्य-विचारणाम्॥

(अग्निपुराण-काव्यप्रभावृत्ति)

२. काव्यालंकारशास्त्र १।१।१-२

३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति—कामधेनुटीका।

४. अग्निपुराणकार, भामह, रुद्रट, दण्डी, वामन, अभिनव आदि।

लंकार शब्द का अर्थ काव्य-सौन्दर्यपरक होता है और लक्षणा के द्वारा उसे काव्य-सौन्दर्यपरकशास्त्र कहा जाता है; क्योंकि प्राचीन आचार्यों ने उसमें केवल अलंकारों का ही निरूपण नहीं किया है, अपितु काव्य-सौन्दर्य के उपकारक रस, गुण, दोषाभाव आदि का भी विवेचन किया है। इसलिए काव्यशास्त्र (साहित्यशास्त्र) के प्रतिपादक शास्त्र के लिए 'काव्यालंकारशास्त्र' नाम प्रयुक्त होता रहा है। किन्तु आगे चलकर यह नाम दो रूपों में विभक्त हो गया—काव्यशास्त्र और अलंकारशास्त्र।

काव्यशास्त्र

जैसाकि पहिले बताया जा चुका है कि काव्यालंकारशास्त्र शब्द दो रूपों में विभक्त हो गया—काव्यशास्त्र और अलंकारशास्त्र। इनमें कुछ आचार्यों ने काव्यशास्त्र नाम अपनाया और कुछ ने अलंकारशास्त्र। काव्यशास्त्र नाम काव्यालोचन का सबसे प्रसिद्ध नाम है। प्रथम दण्डी ने अपने ग्रंथ का नाम 'काव्यादर्श' रखा। उन्होंने काव्यादर्श में प्रारम्भ में कहा है कि 'हम काव्य का लक्षण कर रहे हैं। (**यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम्**।[1] आनन्दवर्धन ने अलंकारवादी आचार्यों को काव्यलक्षणविधायी कहा है—(**काव्यलक्षणविधायिनः**)। भामह ने यद्यपि अपने ग्रंथ का नाम 'काव्यालंकार' रखा है, किन्तु उन्होंने अपने ग्रंथ के अन्त में काव्य-लक्ष्म' इस शब्द का प्रयोग किया है। भोजदेव ने इस शास्त्र के लिए 'काव्यशास्त्र' का स्पष्ट प्रयोग किया है। उन्होंने विधि और निषेध के छः कारण बताये हैं—(१) काव्य (२) शास्त्र (३) इतिहास (४) काव्यशास्त्र (५) काव्येतिहास और (६) शास्त्रेतिहास।[2] उनके अनुसार जहाँ पर काव्य के द्वारा शास्त्र का अभिधान होता है, उसे काव्यशास्त्र कहते हैं। यहाँ पर शास्त्र शब्द का प्रयोग 'शंसनात् शास्त्रम्' इस व्युत्पत्ति को दृष्टि में रखकर किया गया है। उक्त व्युत्पत्ति के आधार पर 'शास्त्र' शब्द का अर्थ 'गूढ़ तत्त्व का शंसन (प्रतिपादन) करने वाला ग्रन्थ' होता है। इस प्रकार काव्य के गूढ़ तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र (ग्रंथ) काव्यशास्त्र कहलाता है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इसी प्रकार का अभिप्राय व्यक्त किया है। क्षेमेन्द्र ने सुवृत्ततिलक में चार प्रकार के काव्य माने हैं—(१) शास्त्र (२) काव्य (३) शास्त्रकाव्य और (४) काव्यशास्त्र।

इस प्रकार काव्य के साथ शास्त्र शब्द का सम्बन्ध जुड़ जाने से इसका महत्त्व अधिक बढ़ गया है। इसीलिए राजशेखर ने अपने ग्रंथ का नाम 'काव्यमीमांसा' और मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' रखा है।

---

१. काव्यादर्श १।२

२. **काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च।**
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्॥
(सरस्वतीकण्ठाभरण २।१३६)

अलंकारशास्त्र

काव्यालंकारशास्त्र शब्द के प्रयोग के बाद इस शास्त्र के लिए अलंकारशास्त्र शब्द का प्रयोग होने लगा। यद्यपि इस शास्त्र में रस, गुण, दोष, अलंकार आदि अनेक काव्यशास्त्रीय तत्त्व विवेचना के विषय रहे हैं। किन्तु 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के अनुसार 'काव्य में अलंकार प्रधान होते हैं'। प्राचीन आलंकारिकों के इस कथन को ध्यान में रखकर इस शास्त्र को 'अलंकारशास्त्र' कहा जाने लगा। कुमारस्वामी का कथन है कि यद्यपि काव्यालंकारशास्त्रीय ग्रंथों में रस, गुण, अलंकार आदि अनेक तत्त्वों का विवेचन होता है, तथापि 'छत्रि न्याय' से इस शास्त्र का नाम 'अलंकारशास्त्र' कहा जाता है (यद्यपि रसालंकाराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलंकारशास्त्रमुच्यते[१] काव्यालंकारसूत्र की कामधेनु टीका में कहा गया है कि जो यह अलंकार शब्द काव्यग्रहहेतु के रूप में उपन्यस्त किया जाता है, उसका व्युत्पादक होने से इस शास्त्र को भी अलंकारशास्त्र के नाम से व्यवहार होता है।[२] अन्य आचार्यों ने भी काव्य को सौन्दर्याधायक तत्त्व होने के कारण इसे 'अलंकारशास्त्र' के नाम से व्यवहृत किया है।

साहित्यशास्त्र

काव्यशास्त्र का एक नाम 'साहित्यशास्त्र' है। आधुनिकयुग में अन्य सब नामों की अपेक्षा यह नाम अधिक प्रचलित है। राजशेखर ने तो इसे 'साहित्य-विद्या' नाम से अभिहित किया है (**पञ्चमी साहित्यविद्येति यायावरीयः**)। रुय्यक और विश्वनाथ ने इसी नाम को ग्रहण किया और इस नाम की व्यापकता और लोकप्रियता के कारण रुय्यक ने अपने ग्रन्थ का नाम 'साहित्य-मीमांसा' और विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ का नाम 'साहित्यदर्पण' रखा। किन्तु इसके पूर्व भामह ने शब्द और अर्थ के साहित्य को काव्य कहा है (**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**)। उनका अभिप्राय यह है कि साहित्य से युक्त शब्द और अर्थ का नाम काव्य है। राजशेखर ने साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है। (**शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या**)। इस प्रकार काव्य के लिए साहित्य शब्द का और काव्यशास्त्र के लिए साहित्यशास्त्र का प्रयोग प्रचलित हो गया।

क्रियाकल्प

काव्यशास्त्र का एक अन्य नाम 'क्रियाकल्प' है। यह नाम भामह और दण्डी

---

१. प्रतापरुद्रयशोभूषण टीका, पृ० ३

२. योऽयमलंकारः काव्यग्रहणहेतुत्वेन उपन्यस्ते तत्व्युत्पादकत्वाच्छास्त्रमपि अलंकारनाम्ना व्यपदिश्यते, इतिशास्त्रस्यालंकारत्वेन प्रसिद्धिः प्रतिष्ठिता स्यादिति सूचयितुमत्र विन्यासः कृतः काव्यं ग्राह्यलंकाररदिति ॥

(**काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, कामधेनुटीका**)।

से भी प्राचीन है। वात्स्यायन के कामसूत्र में चौसठ कलाओं की सूची में 'क्रियाकल्प शब्द आया है।[1] ललितविस्तर नामक बौद्ध ग्रन्थ में कलाओं की गणना में 'क्रियाकल्प' शब्द आया है।[2] जयमंगला टीका में 'क्रियाकल्प' शब्द का अर्थ 'क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधि. काव्यालंकार इत्यर्थः' किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि "क्रियाकल्प" शब्द काव्यालंकार अथवा अलंकार शास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त होता था। 'क्रियाकल्प' शब्द 'काव्यक्रियाकल्प' का संक्षिप्त रूप जान पड़ता है। 'काव्यक्रिया' भी 'काव्यक्रियाकल्प' का संक्षिप्त रूप प्रतीत होता है। सम्भवतः इसका पूरा नाम 'काव्यक्रियाकल्प' रहा हो और संक्षिप्तनाम 'काव्यक्रिया' अथवा 'क्रियाकल्प' प्रचलित हो गया हो। समुद्रगुप्तप्रशस्ति में 'काव्यक्रियाभिः' तथा नाट्यशास्त्र में 'मया काव्यक्रियाहेतोः' शब्दों का प्रयोग हुआ है। अभिनवगुप्त ने 'काव्यक्रियाहेतोः' की व्याख्या 'काव्यस्य क्रिया काव्यरूपतापादनं तदेव हेतुस्ततः' की है। भामह ने तो स्पष्ट लिखा है कि 'अन्य लेखकों की रचनाओं को देखकर काव्य-प्रणयन में प्रवृत्त होना चाहिए (विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः) इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'काव्यक्रिया' शब्द काव्य-रचना के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है।

दण्डी ने काव्यादर्श में 'क्रियाविधि' शब्द का प्रयोग किया है (वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्[3] टीकाकारों ने जिसका (क्रियाविधि शब्द का) सम्बन्ध क्रियाकल्प से जोड़ा है। इस प्रकार क्रियाविधि और क्रियाकल्प ये दोनों समानार्थक प्रतीत होते हैं। 'क्रिया' शब्द का अर्थ काव्यक्रिया अर्थात् काव्य-रचना और काव्य शब्द का अर्थ विधान या प्रक्रिया हो सकती है। इस प्रकार क्रियाविधि का अर्थ है काव्यरचना विधि और क्रियाकल्प का तात्पर्य काव्य-रचना का विधान या काव्यरचना-प्रक्रिया से है।

वाल्मीकिरामायण के उत्तरकाण्ड (९४·७) में 'क्रियाकल्पविद्' और काव्यविद्' शब्द का प्रयोग हुआ है।— क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्'[4] वहाँ 'काव्यविद्' शब्द का अर्थ 'काव्यशास्त्र का ज्ञाता' है और 'क्रियाकलाविद्' शब्द का अर्थ काव्य-रचना के विधान (कल्प) में समर्थ व्यक्ति किया गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में काव्यशास्त्र के लिए 'क्रियाकल्प' शब्द का प्रयोग होता रहा है, किन्तु काणे महोदय के अनुसार इस मत का कोई सुदृढ़ आधार नहीं है।[5] उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में, काव्यशास्त्र के लिए 'क्रियाकल्प' का प्रयोग भले ही होता रहा हो, किन्तु यह नाम अधिक दिनों तक प्रचलित न रह सका।

---

१. कामसूत्र १-३-२०
२. ललितविस्तर पृ० १५६ (लेफमेन संस्करण)
३. काव्यादर्श १/९
४. वाल्मीकिरामायण, उत्तरकाण्ड—९४-७
५. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४२४-४२६

काव्यालङ्कारशास्त्र का उद्‌गम व विकास

वेद को अपौरुषेय एवं समस्त विद्याओं का स्रोत माना जाता है। काव्यालंकार-शास्त्र का बीज भी इन वेदों में खोजा जा सकता है। कुप्पूस्वामी ने विश्व के आदिग्रन्थ ऋग्वेद में आलोचना के स्वरूप का दर्शन किया है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में आलोचना करने वाले समालोचकों की प्रशंसा की गई है।[१] यद्यपि वेदों में काव्यालंकार-शास्त्र का उल्लेख नहीं मिलता; किन्तु ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में उपमा आदि अलंकारों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जिससे ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषि काव्यालंकारशास्त्र के सिद्धान्तों से परिचित थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यालंकार-शास्त्रीय सिद्धान्तों के मूल बीज वहाँ निहित थे और वैदिक काल से ही काव्यालंकार-शास्त्रीय तत्त्वों पर विचार प्रारम्भ हो गया था।

राजशेखर के 'काव्यामीमांसा' में काव्यालंकारशास्त्र के उद्‌भव के सम्बन्ध में एक रोचक आख्यान कथित है जिसके अनुसार श्रीकण्ठ (शिव) ने काव्यालंकारशास्त्र का प्रथम उपदेश परमेष्ठी (ब्रह्मा) आदि चौंसठ शिष्यों को दिया और स्वयम्भू ब्रह्मा ने अपने संकल्पजात (मानस) शिष्यों को शिक्षा दी। उनमें सरस्वती का पुत्र 'काव्य पुरुष' भी एक था। इस काव्यपुरुष को ब्रह्मा ने तीनों लोक में काव्यलंकारशास्त्र के प्रचार के लिए नियुक्त किया और उसने इस शास्त्र को अठारह अधिकरणों में विभक्त कर अपने शिष्यों को पढ़ाया। उसमें सहस्राक्ष (इन्द्र) ने कविरहस्य, उक्तिगर्भ ने औक्तिक; सुवर्णनाभ ने रीति, प्रचेतायन ने आनुप्रासिक, यम ने यमक, चित्रागंद ने चित्र, शेष ने शब्दश्लेष, पुलस्त्य ने वास्तव; औपकायन ने उपमा, पाराशर ने अतिशय, उतथ्य ने अर्थश्लेष, कुबेर ने उभयालंकार, कामदेव ने वैनोदिक, भरत ने रूपक, नन्दिकेश्वर ने रस, धिषण ने दोष, उपमन्यु ने गुण और कुचुमार ने औपनिषदिक पर ग्रन्थ लिखे। उन आचार्यों में अधिकांश आचार्यों के अस्तित्व का पता नहीं चलता। इनमें से भरत और नन्दिकेश्वर का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है।

---

१. अथ काव्यं मीमांसिष्यामहे—यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्चतु षष्टिशिष्येभ्यः। सोऽपि भगवान् स्वयंभूरिच्छाजन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः। तेषु सारस्वतेयो वृन्दीयसामापि वन्द्यः काव्यपुरुष आसीत्।……सोऽष्टाधिकारिणी दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नतकेभ्यः सप्रपञ्चं प्रोवाच।
'तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत। औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेतायनः, यमकं यमः; चित्रं चित्रागंदः, शब्दश्लेषः शेषः; वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पराशरः, 'अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालंकारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरुपणीयं भरतः रसाधिकारिणं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणौपादनादिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचुमारः इति॥ (काव्यमीमांसा, प्रथम अध्याय।)

सुवर्णनाभ और कुचुमार का उल्लेख कामसूत्र के रचयिता ने किया है। ये दोनों ही कामशास्त्र के आचार्य थे। यद्यपि राजशेखर की उक्त मान्यता को उचित आदर नहीं मिला तथापि उनमें से अनेक आचार्यों का सम्बन्ध भगवान् शिव आदि से जोड़कर प्रकारान्तर से काव्यालंकारशास्त्रीय परम्परा को अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाशन' नामक ग्रन्थ में बताया है कि भगवान् शिव ने 'योगमाया' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था। शारदातनय ने अपने ग्रन्थ में वासुकि, नारद, आञ्जनेय आदि का आचार्य के रूप में उल्लेख किया है। शार्ङ्गदेव ने भी संगीतरत्नाकर' में ब्रह्मा, नारद, आञ्जनेय आदि आचार्यों का उल्लेख किया है। ये सभी देवकोटि में गिने जाते हैं और इनका साहित्य-निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इस प्रकार काव्यालंकारशास्त्र की प्राचीनता एवं अनादित्व सिद्ध होता है। राजशेखर ने तो काव्यालंकारशास्त्र को सप्तभ वेदाङ्ग के रूप में समादृत किया है। इस प्रकार हम देखते है कि प्राचीनकाल से ही समालोचक काव्यालंकारशास्त्र पर विचार करते आ रहे है। प्राचीनकाल से ही इस शास्त्र का उत्तरोत्तर विकास होता आ रहा है। रचना की दृष्टि से इस दीर्घकाल की सीमा का पाँच भागों में विभाजित करना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है—

(1) प्रारम्भिक युग

(2) अन्वेषण एवं रचना युग

(3) काव्यतत्त्व-चिन्तन युग

(4) आधुनिक युग

१. प्रारम्भिक युग

ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचना का उद्‌गम स्थान ऋग्वेद माना जाता है। 'रस' शब्द का प्रथम दर्शन हमें 'ऋग्वेद' में होता है, किन्तु वहाँ इस शब्द का प्रयोग शास्त्रीय अर्थ में नही हुआ है इसके अतिरिक्त वेद की ऋचाओं में सुन्दर उक्तियों एवं अलंकारों का अधिक प्रयोग मिलता है। वेदों के स्तुति-गीतों में कहीं-कहीं ऐसे वचनों के दर्शन होते हैं जहाँ आलोचना की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों; वीर, शृंगार करुण आदि रसों एवं काव्यमय गीतों के दर्शन अनेक मन्त्रों में होते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् के 'रसो वै सः' इस वाक्य में रस का स्रोत देखा जा सकता है। उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में ऋषियों में काव्य को परखने की क्षमता विद्यमान थी।

---

२. उपकारकत्वादलंकारः सप्तममंगमिति यायावरीयः।

(काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय पृ० ६)

वैदिक-भूमि के ग्रन्थ यास्क के 'निरुक्त' में आलोचना का विषय कुछ अधिक विकसित रूप में देखने को मिलता है। यहाँ पर निरुक्तकार ने 'उपमालंकार' का शास्त्रीय विवेचन करने का प्रयास किया है। उन्होने उपमालंकार का लक्षण पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य के नाम से उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त निरुक्तकार ने उपमा के पाँच भेद — भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, कर्मोपमा और लुप्तोपमा भी किए हैं। उन्होंने इव, आ, चित्, नु, यथा आदि कुछ उपमा-वाचक शब्दों का भी निर्देश किया है। इससे ज्ञात होता है कि यास्क (७०० ई० पू०) के समय आलोचनाशास्त्र की मान्यताएँ स्थापित हो चुकी थीं।

सोमेश्वर ने अपने 'साहित्य-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में 'भागुरि' का एक काव्यशास्त्र-विषयक मत उद्धृत किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी 'ध्वन्यालोक लोचन' में 'भागुरि' का एक रस-विषयक मन्तव्य दिया है। यह भागुरि वैयाकरण भागुरि ही था, जिसकी गणना वायु, भारद्वाज, चाणक्य आदि प्रचीन महर्षियों की कोटि में की गई है। इससे ज्ञात होता है कि भागुरि ने काव्यशास्त्र पर कुछ विचार अवश्य किया है।

पाणिनि (५०० ई० पू०) की अष्टाध्यायी में उपमा अलङ्कार का निरूपण अधिक स्पष्ट है। उपमान, उपमित, सामान्य आदि उपमा वाचक शब्दों का निर्देश 'अष्टाध्यायी' में पाया जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि उपमा के 'श्रौती' और 'आर्थी' भेदों का विस्तृत विवेचन भी व्याकरणशास्त्र में पाया जाता है। पतञ्जलि ने उपमान शब्द की व्याख्या महाभाष्य में की है। उनका "गौरिव गवयः" यह उदाहरण ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व रखता है।

पाणिनि ने पाराशर्य, शिलालि, कर्मन्द एवं कृशाश्वादि भिक्षुसूत्रों एवं नटसूत्रों का उल्लेख किया है। सम्भवतः ये नटसूत्र नाट्यशास्त्र से सम्बन्धित रहे हों। आनन्दवर्धन ने व्याकरण को काव्यशास्त्र का उपजीव्य माना है—

"प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः। व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम्।"

—ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत।

आलोचनाशास्त्र का ध्वनिसिद्धान्त व्याकरणशास्त्र के सिद्धान्त से पर्याप्त प्रभावित है। मम्मट ने वैयाकरणों के स्फोट के अर्थ में प्रयुक्त 'ध्वनि" शब्द को शब्द और अर्थ दोनों के लिए प्रयुक्त किया है—

"बुधैः वैयाकरणैः प्रधानभूतव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। तन्मतानुसारिभिः अन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यवाचकस्य शब्दार्थयुगलस्य॥'

—काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास।

रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि संस्कृत साहित्य के प्रमुख आलोचक थे। उनमें कारयित्री और भावयित्री दोनों प्रकार की प्रतिभा विद्यमान थी। उन्होंने अपने श्लोक 'मा निषाद' की स्वयं आलोचना की है—

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा ।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ —बालकाण्ड २/४०
पादबद्धः अक्षरसमः तन्त्रीलयसमन्वित ः।
शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा ॥ —बालकाण्ड २/१८

उनके इस 'शोक' और 'श्लोक' के समीकरण रूप आलोचना में काव्यशास्त्र का महान् सिद्धान्त निहित है जो केवल पूर्वी ही नहीं, अपितु पश्चिमी विद्वानों को भी मान्य हो गया । निश्चय ही आदि कवि एक आलोचक थे । कालिदास तथा आनन्दवर्धन ने उन्हें कवि के अतिरिक्त आलोचक भी माना है ।

राजशेखर के मतानुसार शिव काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य हैं । शिव ने ब्रह्मा को काव्यशास्त्र की शिक्षा दी थी और ब्रह्मा ने भरत को नाट्यशास्त्र का उपदेश दिया । राजशेखर ने सुवर्णनाभ और कुचुमार का भी उल्लेख किया है जिसकी पुष्टि वात्स्यायन के कामसूत्र से होती है किन्तु इनका काव्यशास्त्र-विषयक कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है ।

भरतमुनि-कृत 'नाट्यशास्त्र' में कोहल के साथ वात्स्य, शाण्डिल्य एवं धूर्तिल का नाम नाट्याचार्य के रूप में उल्लिखित है । किन्तु इनके भी कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते । 'नाट्यशास्त्र' के भरत-पुत्रों की सूची में नखकुट्ट अश्मकुट्ट एवं बादरायण के नाम आए हैं । विश्वनाथ ने भी नखकुट्ट और सागरनन्दी ने अश्मकुट्ट तथा बादरायण के मत का उल्लेख किया है । इससे ज्ञात होता है ये नाट्यशास्त्र के प्राचीन आलोचक थे ।

शारदातनय के 'भावप्रकाशन' में अनेक नाट्यचार्यों जैसे सदाशिव, गौरी, वासुकि, नारद, अगस्त्य, व्यास और आंजनेय का उल्लेख किया है । 'संगीत-रत्नाकर में सदाशिव, ब्रह्मा, भरत, कश्यप, मतंग, कोहल, नारद, तुम्बुरु, आंजनेय और नन्दिकेश्वर का उल्लेख है । नान्ददेव ने 'भरतभाष्य' में मतंग, विशाखिल, कश्यप नन्दिन् तथा दन्तिल का निर्देश किया है । अभिनवगुप्त ने रागों पर कश्यप का मत उद्धृत किया है । 'संगीतरत्नाकर' की टीका में कल्लिनाथ ने कश्यप के पद्य 'उद्धृत किये हैं । 'अग्निपुराण' में कश्यप का छन्दकार के रूप में उल्लेख है । 'काव्यादर्श' की 'हृदयङ्गमा' टीका में कश्यप एवं वररुचि का उल्लेख है । कश्यप संगीत भी के आचार्य थे । इनके ग्रन्थ का नाम 'काश्यप-संहिता' है । नारद की 'नारद संगीत' नामक पुस्तक बड़ौदा से प्रकाशित है । इसके अतिरिक्त नारदीय-शिक्षा, पंचमसार-संहिता नामक ग्रन्थ भी नारद के नाम से मिलते हैं ।आंजनेय आचार्य की 'आंजनेय संहिता' में संगीत-विषय प्रतिपादित है । उपर्युक्त विवेचन से पता चलता है कि इन आचार्यों का आलोचना-शास्त्र के विकास में पूर्ण योगदान रहा है ।

१. आदिभरत

भारतीय परम्परा के अनुसार ब्रह्मा ने नाट्यवेद का निर्माण कर भरत को

प्रयोग के लिए निर्दिष्ट किया था। ये ही भरतों के आदि पुरुष थे, इसलिए उन्हें आदि भरत या वृद्धभरत कहा जाता है। तमिल भाषा में 'पञ्चभरतम्' नामक एक रचना मिलती है जिसमें पांच भरतों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। ये पाँच भरत हैं—आदिभरत, मतंगभरत, अर्जुनभरत हनुमद्भरत और नन्दिभरत। ये सभी नाट्य और संगीत के आचार्य थे। इनमें आदिभरत वही होंगे जिन्होंने नाट्य का प्रयोग किया था और उनके सिद्धान्तों का प्रतिपादक ग्रन्थ आदिभरत के नाम से विख्यात हुआ। शारदातनय को 'पञ्चम्भरतीयम्' नामक ग्रंथ का पता था, जिसमें उक्त पांचों भरतों के सिद्धांत का सम्पादन रहा होगा। उक्त ग्रंथ में नाट्य एवं संगीत सम्बन्धी विषय रहे होंगे, जिसमें से आदिभरत और नन्दिभरत के सिद्धान्तों को लेकर दो संहिताएँ तैयार की गई होंगी।[१] जिसमें से एक बारह हजार श्लोकों को 'द्वादसशाहस्रीसंहिता' थी और वह आदिभरत या वृद्धभरत की रचना कहलाई। डा० दे के अनुसार भरतों से पृथक् करने के लिए उनके नाट्यशास्त्रीय ग्रंथ का नाम 'आदिभरत' पड़ा। रामकृष्ण कवि का कथन है कि वृद्धभरत ने बारह हजार श्लोकों में एक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसका कुछ अंश अब प्राप्य है।[२] आन्ध्रलिपि में उपलब्ध 'आदिभरत' नामक हस्तालिखित ग्रंथ उपलब्ध नाट्यशास्त्र का प्रतिलिपि प्रतीत होता है।[३] अभिज्ञानशाकुन्तल के टीकाकार राघवभट्ट ने भरत और 'आदिभरत' दोनों को उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि राघवभट्ट के समय दोनों के ग्रंथ अलग-अलग विद्यमान थे।[४] नाट्य-शास्त्र में परम्पराप्राप्त कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं जिन्हें आनुवंश्य श्लोक कहते हैं। अभिनव ने उन श्लोकों को परम्परागत आनुवंश्य श्लोक माना है।[५] ये श्लोक आदिभरत के ही रहे होंगे जो परम्परागत भरत को प्राप्त हुए होंगे और भरत ने उन्हें नाट्यशास्त्र में सम्मिलित कर लिया होगा। इन उद्धरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि आदिभरत भरत से भिन्न थे और आदिभरत या वृद्धभरत का ग्रंथ 'आदिभरत' के नाम से प्रसिद्ध रहा। भण्डारकार प्राच्य विद्यामन्दिर में संगृहीत हस्तलिखित ग्रंथों की सूची में 'नाट्यसर्वस्वदीपिका' नामक एक कृति मिली है, जिसे आदिभरत पर टीका बताया गया है। आदिभरत शिव-पार्वती के संलाप से प्रारम्भ होता है। इस प्रकार 'आदिभरत' प्रथम 'नाट्यशास्त्र' का ग्रंथ है और वर्तमान नाट्यशास्त्र के सङ्कलयिता भरत उनसे भिन्न हैं।

---

१. भावप्रकाशन १।३४-३५

२. जनरल ऑफ आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी भाग ३, पृ० २३

३. भण्डारकर प्राच्यविद्या पत्रिका १२, ५, १३७-१७९ (मनकड़ का लेख)

४. अभिज्ञानशाकुन्तल पर राघवभट्ट की टीका (निर्णयसागर) पृ० ७

५. अभिनवभारती भाग १; पृ० २९०

६. भण्डारकर प्राच्य विद्या मन्दिर भाग ७, पृ० ४५३।

२. नन्दिकेश्वर

काव्यालंकारशास्त्र के इतिहास में नन्दिकेश्वर का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे नाट्य, नृत्य, संगीत, दर्शन, कामशास्त्र एवं संगीतशास्त्र के बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न आचार्य थे। उन्होंने नाट्यकता और संगीतकला को शास्त्र का व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक रूप प्रदान किया है। आचार्य नन्दिकेश्वर के सम्बन्ध में जो जानकारी प्राप्त होती है तदनुसार वे शिलादमुनि के पुत्र शिव के अनन्य भक्त एवं अन्तेवासी थे। उनका अपरनाम नन्दी था। राजशेखर ने उन्हें रस का प्रतिष्ठाता बताया है।[3] किन्तु उनका रसविषयक कोई ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है किन्तु उनके उपलब्ध ग्रन्थ में रसविषयक जो सामग्री प्राप्त होती है उससे ज्ञात होता है कि उनका रसविषयक दृष्टिकोण नाट्य एवं संगीत परक रहा होगा; और वे रस संख्या में आठ रहे होंगे। क्योंकि उन्होंने आठ स्थायीभावों, आठ सात्विक भावों और बीस संचारीभावों का ही उल्लेख किया है। नन्दिकेश्वर के अनुसार अभिनेता जब आंगिक चेष्टाओं के द्वारा मनोगत भावों को प्रदर्शित करता है तो वह भाव (स्थायीभाव) रसत्व पद प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार भाव ही रस है। कोई भी भाव रसहीन नहीं होता और न कोई रस भावहीन होता है। जो भाव है वही रस है और जो रस है वही भाव है (**यतो भावस्ततोः रसः**)। नन्दिकेश्वर के अनुसार रस आनन्द रूप है, गीत के श्रवण तथा नाट्य एवं नृत्य के दर्शन से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है जो ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर है। यही आनन्द रस का आस्वादन है। इस आनंद रूप रस का स्वाद सब जगह एक सा मिलता है, चाहे कथा कारुणिक हो या शृंगारिक यह आस्वाद रूप से भिन्न नहीं है। स्वाद ही रस है, रस ही आनन्द है, नाट्य रस है नृत्य भी रस है और गीत भी रस है, क्योंकि सब में आनन्द है और आनंद ही रस है। इस दृष्टि से काव्य एवं नाट्य रस में अन्तर नहीं है।

'संगीत रत्नाकर' में नन्दिकेश्वर को संगीत का आचार्य बताया गया है। नाट्य-संगीत की शिक्षा इन्होंने शिव से प्राप्त की थी। नाट्यशास्त्र के काव्यमाला संस्करण के अन्तिम अध्याय के अन्त में "**इतिनन्दिभरतसंगीतपुस्तकम्**" उल्लेख मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि इन्होंने संगीतशास्त्र पर भी ग्रंथ लिखा था। भरतार्णव में भी नन्दिभरत का उल्लेख है, जिन्हें सप्तलास्य का प्रवक्ता कहा गया है। तमिल भाषा में 'पञ्चभरतम्' नामक एक रचना मिलती है जिसे नारद से सम्बन्धित बताया जाता है। संभवतः इस ग्रन्थ में पांच भरतों का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया होगा। ये पाँच भरत हैं—आदिभरत, मतंगभरत, अर्जुनभरत, हनुमद्भरत और नन्दिभरत। शारदातनय ने भी नन्दिभरत का उल्लेख किया है। यह नन्दिभरत वही होगा जिसने संगीत पर पुस्तक लिखी है। अन्य भरतों से पार्थक्य दिखलाने के लिए ही इन्हें नन्दिभरत कहा गया होगा। इस प्रकार नन्दि (नन्दी) एक भरत थे; किन्तु अभिनवगुप्त ने नन्दि और भरत को अलग-अलग व्यक्ति माना है (तण्डुमुनिशब्दौ नन्दिभरतयोरपर-

नामनी) और उनका अपर नाम तण्डु बताया है। इस प्रकार यह नाट्यशास्त्र दोनों की संयुक्त रचना रही होगी तभी तो काव्यमाला संस्करण के अन्त में **'समाप्तश्चायं ग्रंथः नन्दिभरतसंगीतपुस्तकं'** लिखा है। राइस नन्दिभरत नामक एक संगीत ग्रंथ का उल्लेख करता है। मद्रास कैटलाग में अन्तर्गत प्राप्त एक पाण्डुलिपि में नाट्यमुद्रा विषयक ग्रन्थ के एक अध्याय का नाम नन्दिभरतकृतसंकरहस्ताध्याय है।

अभिनवगुप्त ने नन्दिकेश्वर के मत से 'रेचित' नामक अलंकार का उल्लेख किया है। उन्होंने नन्दि को तण्डु का अपर नाम बताया है।[१] नाट्यशास्त्र में लिखा है कि तण्डु ने अङ्गहारों, करणों एवं रेचकों का उपदेश भरत को दिया था। शारदातनय के मतानुसार नन्दिकेश्वर ने शिव की आज्ञा से नाट्यवेद की शिक्षा भरत को दी और ब्रह्मा ने भरत तथा उनके पांच शिष्यों को पढ़ाया। नाट्यशास्त्र के पञ्चम अध्याय के 'पुनश्चित्र'... ? यहाँ से लेकर अध्याय के अन्तिम भाग तक ध्रुवानिरूपण नाट्यशास्त्र के अनेक संस्करणों में प्राप्त नहीं होता। अतएव अभिनवगुप्त ने इस पर टीका नहीं लिखी है, ऐसा विद्वानों का कथन है, किन्तु नाट्यशास्त्र के प्रथम सम्पादक ने इस भाग की कोई पारिभाषिक पद टीका लिखी है। इस सम्बन्ध में अभिनवगुप्त कहते हैं कि यह रचना नन्दिकेश्वर की है। क्योंकि नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान् कीर्तिधर ने नन्दिकेश्वर के मतानुसार चित्रपूर्वरङ्गविधि का निरूपण किया है। (**यत्तु कीर्त्तिधरेण नन्दिकेश्वरमतागामित्वेन दर्शितं तदस्माभिः साक्षान्न दृष्टं तत्प्रत्ययात्तु लिखते संक्षेपतः ......इत्येवं नन्दिकेश्वरमतानुसारेणायं चित्रपूर्वरङ्गविधिर्निरूपितः**) वात्स्यायनकृत कामसूत्र के अनुसार नन्दिकेश्वर ने एक सहस्र अध्यायों में कामशास्त्र सम्पादित किया है। पंचसायक और रतिरहस्य में भी नन्दिकेश्वर को कामशास्त्र का लेखक बताया गया है।

रामकृष्णकवि ने भी नन्दिकेश्वर और तण्डु को एक माना है। उनका कथन है कि नन्दिकेश्वर ने 'नन्दिकेश्वर-संहिता' नामक ग्रंथ की रचना की थी, जिसका अधिकतर भाग नष्ट हो गया, अवशिष्ट अंश सम्भवतः अभिनयदर्पण है। नन्दिकेश्वर का एक दूसरा ग्रंथ 'भरतार्णव है यह अभिनयदर्पण का पूरक ग्रन्थ प्रतीत होता है। उनके अतिरिक्त उनका एक ग्रंथ 'रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरण' है जिसमें शिवसूत्रों की संगीतपरक व्याख्या की गई है। मद्रास के खोज के आधार पर नन्दिकेश्वर के नाम से 'ताललक्षण' नामक ग्रन्थ का भी पता चला है। इस प्रकार नन्दिकेश्वर रसशास्त्र, नाट्यशास्त्र, संगीतशास्त्र, योगशास्त्र, एवं कामसूत्र के आचार्य थे।

३. कश्यप या काश्यप

काव्यादर्श की टीका हृदयगंमा में कश्यप को अलंकारशास्त्र का प्रणेता बताया गया है।[१] अग्निपुराण में कश्पय का छंद-शास्त्रज्ञ के रूप में उल्लेख

---

१. पूर्वेषां कश्यपवररुचिप्रभृतिनामाचार्याणां लक्षणशास्त्राणि संहृत्य पर्यालोच्य...
(काव्यादर्श-हृदयंगमा १।२)

है।[1] अभिनवगुप्त ने कश्यप का नाट्यशास्त्र-रचयिता एवं संगीत के रूप में उल्लेख किया है। यही नहीं बल्कि उन्होंने कश्यप के नाम से पचहत्तर श्लोक भी उद्धृत किये हैं।[2] अभिनवगुप्त ने कश्यप के आधार पर रस और राग में मतैक्य स्थापित किया है। उनके अनुसार भरत नाट्यशास्त्र का रागविषयक सिद्धांत कश्यप के सिद्धांत पर आधारित है। कश्यप कौशिक राग के उद्भावक थे। शार्ङ्गदेव तथा नान्यदेव के कश्यप का संगीताचार्य के रूप में उल्लेख किया है। संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने कश्यप के कई श्लोक उद्धृत किये हैं। इस प्रकार कश्यप अलंकारशास्त्र, काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, छन्दशास्त्र तथा संगीतशास्त्र के आचार्य थे और भरत के पूर्ववर्ती रहे हैं। इनके 'कश्यपसंहिता नामक' ग्रंथ का पता चला है।

४. कोहल एवं दत्तिल

भरत के नाट्यशास्त्र में 'कोहल' नामक आचार्य का उल्लेख मिलता है। अभिनवगुप्त ने भी कोहलाचार्य के मत का उल्लेख किया है। दामोदरगुप्त ने 'कुट्टनीमत' में भरत के साथ कोहल का आचार्य के रूप में उल्लेख किया है। शार्ङ्गदेव कोहल को अपना उपजीव्य मानते हैं। हेमचन्द्र ने कोहल का नाट्याचार्य के रूप में उल्लेख किया है। कोहल के नाम से 'कोहलमतम्' नामक एक छोटी-सी पुस्तक मिलती है। नाट्यचार्यों में कोहल के साथ दत्तिल का भी उल्लेख मिलता है। प्रथम शताब्दी के एक शिलालेख में इनके नाम का निर्देश मिलता है। संगीतरत्नाकर के व्याख्याकार शिगभूपाल ने अनेक अवसरों पर इनके मत का उल्लेख किया है। इनका 'दत्तिल-कोहलीयम्' नामक संगीतशास्त्र का एक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है जिसमें कोहल और दत्तिल के संगीत-विषयक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। कोहल के समान दत्तिल भी नाट्यशास्त्र के प्राचीन आचार्य हैं।

५. नाट्यशास्त्र

भरतमुनि का नाम प्रथम नाट्यशास्त्रकार के रूप में साहित्यशास्त्र में विशेष उल्लेखनीय है। नाट्यशास्त्र के रचयिता एवं काल के सम्बन्ध में विविध मत पाये जाते हैं। कुछ विद्वान् भरत को काल्पनिक व्यक्ति मानते हैं। उनके मत में जो नट का कार्य करते थे, वे भरत कहलाते थे। बाद में भरत नामक आचार्य की कल्पना करली गई, किन्तु भरत मुनि काल्पनिक व्यक्ति नहीं हैं, वे ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। मत्स्यपुराण में लिखा है कि भरतमुनि ने देवलोक में 'लक्ष्मीस्वयंवर' का अभिनय कराया था। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में भरत का उल्लेख है। अश्वघोष के 'सारिपुत्र-प्रकरण' पर नाट्यशास्त्र का प्रभाव दिखाई देता है। म० मो० हरप्रसाद शास्त्री, नाट्यशास्त्र का समय ई० पू० द्वितीय शताब्दी मानते हैं। मनमोहन घोष नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ई० पू० प्रथम शताब्दी से ईसवी द्वितीय

१. अग्निपुराण ३३६।२२
२. अभिनवभारती भाग ४, पृ० ६६, ६९ तथा ७२-७४।

शताब्दी के मध्य स्वीकार करते हैं और म० म० काणे महोदय ईसवी प्रथम या द्वितीय शताब्दी मानते हैं। शारदातनय के अनुसार नाट्यशास्त्र के दो रूप हैं—एक १२००० श्लोकों का नाट्यशास्त्र जिसके रचयिता वृद्धभरत हैं तथा दूसरा ६००० श्लोकों का नाट्यशास्त्र, जिसके रचयिता भरत हैं। कहा जाता है कि भरत ने अपने पूर्ववर्त्ती आदिभारत, वृद्धभरत, नन्दिभरत, कोहलभरत दत्तिलभरत आदि भरतों की रचनाओं का सार लेकर नाट्यसंग्रह तैयार किया था जो नाट्यशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ बाद में यह भरत नाट्यशास्त्र के नाम से विभक्त हो गया।

६. अग्निपुराण

नाट्यशास्त्र के बाद आलोचनाशास्त्र का विवेचन 'अग्निपुराण' में मिलता है। अग्निपुराण के ३३६-३४७ अध्यायों में काव्यशास्त्र के विषयों का वर्णन है। इसमें काव्य का स्वरूप, काव्य के भेद, नाट्यशास्त्र सम्बन्धी विषय, रस, भाव, नायक-नायिका भेद, रीति, वृत्ति, अभिनय, अलंकार, गुण एवं दोष आदि विविध विषय प्रतिपादित किए गए हैं। विकास-क्रम की दृष्टि से यह भरत के पश्चात् का माना जाता है। रस के सम्बन्ध में अग्निपुराण की मौलिक मान्यताएँ भी हैं।

७. मेधावी

मेधावी काव्यशास्त्र के आचार्य हैं। भामह ने मेधावी के सात दोषों को उद्धृत किया है। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में इनका उल्लेख किया है। नमि-साधु ने रुद्रट के काव्यालंकार की टीका में मेधावी का उल्लेख किया है। मेधावी और मेधविरुद्र दोनों एक ही व्यक्ति माने जाते हैं। मेधावी की कोई रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है।

८. विष्णुधर्मोत्तरपुराण

इस ग्रन्थ के तृतीयखण्ड में अलंकार तथा नाट्य-विषयक सामग्री विद्यमान है। इस पुराण में लगभग एक हजार श्लोकों में काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इसके चार अध्यायों में गीत, आतोद्य, मुद्राहस्त तथा प्रत्यंग विभाग वर्णित है। चित्रकला, मूर्त्तिकला, नाट्यकला, तथा काव्यशास्त्र विषयों को 'चित्रसूत्र' नाम से प्रतिपादित किया गया है। रूपक तथा रस को छोड़कर शेष विषयों में यह नाट्यशास्त्र का अनुसरण करता है।

२. अन्वेषण एवं रचना युग

९. भामह

प्रायः पौराणिक काल तक नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र दोनों विषयों का साथ-साथ प्रतिपादन किया जाता रहा है, किन्तु इसके बाद ये दोनों अलग-अलग आलोचना के विषय बन गए। भामह ने काव्यशास्त्र को नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से मुक्त कर एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में आलोचकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। भामह के पिता का नाम रक्रिलगोमी था।[१] ये कश्मीर के रहने वाले थे। इनका समय

---

१. सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम्। (भामह-काव्यालंकार, ६/६४)

५०० ई० के लगभग माना जाता है। भामह को कुछ लोग बौद्ध मानते हैं, किन्तु इन्होंने बौद्धों के अपोहवाद का खण्डन किया है। अतः इन्हें बौद्ध नहीं कहा जा सकता। भामह अलंकारशास्त्र के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। भामह के ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकार' है। काव्यालंकार के प्रथम परिच्छेद में काव्य-साधना, काव्य का लक्षण तथा भेदों का निरूपण है। द्वितीय, तृतीय में अलंकारों का, चतुर्थ में दस-दोषों का, पंचम में न्यायविरोधी दोष और षष्ठ परिच्छेद में शब्द-शुद्धि का वर्णन है। काव्यालंकार में कुल लगभग चार सौ श्लोक हैं। भामह की प्रमुख विशेषताएँ हैं—(१) शब्द और अर्थ के सहभाव को काव्य मानना,(२) भरत के दस गुणों का गुणत्रय में अन्तर्भाव, (३) वक्रोक्ति की व्यापकता, (४) दसविध दोषों का सुन्दर विवेचन तथा (५) रीति पर आग्रह न करके काव्य-गुणों का महत्त्व बताना। इस प्रकार भामह काव्यालंकारशास्त्र के आचार्य थे और उन्हें वक्रोक्ति सम्प्रदाय का अधिष्ठाता कहा जाता है।

१०. भट्टि (षष्ठ शताब्दी)

इनकी रचना 'भट्टिकाव्य' (रावणवध) के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें कुल बाइस सर्ग हैं। तृतीय प्रसन्न काण्ड के (१२-१३) चार सर्गों में काव्यशास्त्र-सम्बन्धी विषयों का वर्णन है। दसवें सर्ग में अड़तीस अलंकारों के उदाहरण, ग्यारहवें सर्ग में भाषासम के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। भट्टि ने अलंकारादि का कोई लक्षण नहीं दिया है। भामह ने जिस क्रम से लक्षण दिए हैं, भट्टि ने उसी क्रम से उदाहरण दिए हैं इन्हीं चार सर्गों के कारण इनका नाम काव्यशास्त्र के इतिहास में सम्मिलित है।

११. दण्डी (सातवीं शताब्दी)

दण्डी अलङ्कार-शास्त्र के प्रमुख आचार्य हैं। ये दक्षिण भारत के रहने वाले पल्लवनरेश सिंहविष्णु के सभापण्डित थे। दण्डी के 'अवन्तिसुन्दरी कथा' के प्रसङ्ग से ज्ञात होता है कि ये भारवि के प्रपौत्र थे। भारवि के पूर्वज गुजरात के रहने वाले थे, वे वहाँ से दक्षिण में अचलपुर में आकर रहने लगे। भारवि के मध्यमपुत्र मनोरथ के चतुर्थ पुत्र वीरदत्त के पुत्र का नाम दण्डी था। इस प्रकार ज्ञात होता है कि दण्डी दक्षिण भारत के रहने वाले थे। उनके समय के सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद है। मैक्स-मूलर, वेबर प्रभृति विद्वान् दण्डी का समय छठी शताब्दी बताते हैं और डा० डे० अष्टम शताब्दी का पूर्वार्द्ध मानते हैं। किन्तु जैकोबी, पीटरसन, पोद्दार आदि विद्वान् अनेक प्रमाणों के आधार पर दण्डी का समय सप्तम शताब्दी का उत्तरार्द्ध मानते हैं। और यही मत समीचीन प्रतीत होता है।

दण्डी के तीन ग्रन्थों के अस्तित्व का पता चलता है। सूक्तिमुक्तावली में दण्डी के सम्बन्ध में निम्नलिखित सूक्ति मिलती है—

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥

इस कथन से ज्ञात होता है कि दण्डी ने तीन ग्रन्थों की रचना की थी। वे तीन ग्रन्थ हैं—

१— काव्यादर्श (अलंकारशास्त्र का ग्रन्थ है)
२—दशकुमारचरित (दश राजकुमारों की कथा वर्णित है)
३—अवन्तिसुन्दरी कथा (गद्य-काव्य)

कुछ विद्वान् 'दशकुमार-चरित' और 'काव्यादर्श' के एक कर्तृत्व के विषय में सन्देह उत्पन्न करते है। क्योंकि दण्डी के काव्यलक्षण के अनुसार 'दशकुमार-चरित' दोषयुक्त प्रतीत होता है।

क्षेमेन्द्र का कथन है कि दण्डी ने जिस समय दशकुमार-चरित की रचना की थी उस समय वे तरुण एवं अनुभवहीन थे और 'काव्यादर्श' उनकी प्रौढ़ बुद्धि की रचना है।[1] अतः दण्डी को दशकुमार-चरित का रचयिता मानने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती।

दण्डी का सबसे प्रमुख ग्रन्थ काव्यादर्श' है। इसमें अलंकार-शास्त्र का विवेचन है। इसका अनुवाद तिब्बती भाषा में हुआ है। इस ग्रन्थ में कुल तीन परिच्छेद और लगभग ६६० पद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्य-लक्षण, काव्यभेद, रीति, गुण और काव्यहेतु आदि विषयों का विवेचन है। द्वितीय परिच्छेद में अलंकार शब्द की व्याख्या तथा ३५ अलंकारों का विस्तृत विवेचन है। तृतीय परिच्छेद में यमक, चित्रबन्ध काव्य-प्रहेलिका तथा दश प्रकार के दोषों का विस्तृत वर्णन है।

दण्डी केवल अलंकारशास्त्र के ही आचार्य नहीं थे, बल्कि सरस काव्य लेखक भी थे। पद-लालित्य के लिए तो वे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं (**दण्डिनः पदलालित्यम्**)। दण्डी ने सर्वप्रथम वैदर्भी और गौड़ी रीतियों में पारस्परिक भेद बतलाकर वैदर्भी रीति का प्राण दश गुण बतलाया है —

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः।

इससे वे रीति-सम्प्रदाय के मार्गदर्शक माने जा सकते हैं, वस्तुतः दण्डी अंशतः रीति-सम्प्रदाय के समर्थक हैं और अंशतः अलंकार-सम्प्रदाय के; क्योंकि उनके ग्रंथ में गुण एवं अलंकार दोनों का विस्तृत विवेचन है।[2] दण्डी की अलंकार, गुण, रीति का विवेचन मौलिक एवं विस्तृत है। अतः अलंकारशास्त्र में उनका आदरणीय स्थान है।

१२. उद्भट (अष्टम शताब्दी)

उद्भट अलंकार-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्यों में प्रमुख माने जाते हैं। परवर्ती आचार्यों ने इनका उल्लेख बड़े आदर से किया है। इनका पूरा नाम भट्टोभट था। ये कश्मीर के निवासी और जयादित्य के सभापण्डित थे। कल्हण की राजतरंगिणी में एक उद्भट का उल्लेख है जो कश्मीर नरेश जयादित्य का सभापण्डित था और प्रतिदिन उनसे एक लाख दीनार वेतन पाता था —

---

१. **संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास**—काणे
२. **संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास**—काणे तथा डे।

विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः ।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्त्तुः सभापतिः ॥

जयादित्य का समय ७७९-८१३ ई० के मध्य माना जाता है । अतः उद्भट का समय आठवीं शताब्दी का अन्तिम भाग होना चाहिए । आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में अनेक स्थानों पर उद्भट का उल्लेख किया है उनका समय ८५० ई० के पूर्व माना जाता है । क्योंकि आनन्दवर्धन अवन्तिवर्मा के शासन काल में प्रसिद्ध हो चुके थे । अवन्तिवर्मा का समय ८५५ से ८५४ के मध्य माना जाता था । अतः आनन्दवर्धन का समय इससे पूर्व नवम शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है और उद्भट का समय उससे भी पूर्व अर्थात् अष्टम शताब्दी का उत्तरार्द्ध ठहरता है । उद्भट के तीन ग्रन्थ मिलते हैं--

१—काव्यालंकारसारसंग्रह
२—भामहविवरण (भामह के काव्यालंकार की टीका)
३—कुमारसंभव (कालिदास से कुमारसंभव के आधार पर लिखा गया एक लघु-काव्य)

उद्भट के 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में छः वर्ग (अध्याय) और ७५ कारिकाएँ हैं। इसमें लगभग ४१ अलंकारों का विवेचन है । उन्होंने वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक ढंग से अलंकारों का विवेचन किया है । उद्भट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकारसारसंग्रह' में कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है—

१. अर्थभेद से शब्दभेद की कल्पना (अर्थभेदेन तावच्छब्दा भिद्यन्ते इति भट्टोद्भटस्य सिद्धान्तः ।)
२. श्लेष के दो भेद—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष और दोनों को अर्थालंकार मानना ।
३. श्लेष की अन्य अलंकारों की प्रमुखता और अन्य अलंकारों की गौणता।
४. वाक्य का तीन प्रकार से अभिधाव्यापारमानना ।
५- अर्थ की द्विविध कल्पना—विचारितसुस्थ और विचारितरमणीय ।
६. काव्यगुणों को संघटना का धर्म बताना ।
७. व्याकरण पर आधारित उपमा के उत्तरवर्ती भेदों का विस्तृत निरूपण ।
८. शृंगारादि रसों की अभिव्यक्ति तत्तत् शब्दों द्वारा तथा चार अन्य प्रकारों से मानना ।

उद्भट के 'काव्यालंकारसारसंग्रह' की दो टीकाएँ हैं—
१—प्रतिहारेन्दुराजकृत 'लघुवृत्ति तथा २—उद्भट विवेक ।

१३. वामन (अष्टम शताब्दी)

वामन अलंकारशास्त्र के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं । ये काव्य जगत् में रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं । वामन उद्भट के प्रतिद्वन्द्वी आचार्य और समकालिक थे । कल्हण के अनुसार ये कश्मीर नरेश जयादित्य के मन्त्री थे—

मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा ।
बभुवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः ॥

बूलर के अनुसार जयादित्य के मन्त्री वामन ने 'काव्यालंकारसूत्र' की रचना की थी। जयादित्य का समय ७७९ से ८१३ ई० के मध्य माना जाता है। अतः वामन का समय ८०० ई० के लगभग होना चाहिए । आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में उद्धृत 'अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः' श्लोक की व्याख्या करते हुए लोचनकार ने लिखा है, **'वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिः''** इस कथन से ज्ञात होता है कि वामन आनन्दवर्धन के पूर्ववर्त्ती थे। उनका समय ८५० ई० के आस पास माना जाता है अतः वामन का समय पूर्व ८०० ई० के लगभग होना चाहिए।

वामन के ग्रंथ का नाम 'काव्यालंकारसूत्र' है। इसके तीन भाग हैं—सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। इनमें सूत्र और वृत्ति के लेखक तो वामन स्वयं हैं किन्तु उदाहरण अधिकांशतः दूसरों से लिये गये हैं। यह ग्रंथ पाँच अधिकरणों में विभक्त है। इसमें कुल १२ अध्याय ३१९ सूत्र हैं। प्रथम अधिकरण में तीन अध्याय हैं। इसमें काव्य-लक्षण, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु तथा रीतियों का विवेचन है। द्वितीय दोष-दर्शन नामक अधिकरण में दो अध्यायों में पद, वाक्य और वाक्यार्थ के दोषों का निरूपण है। तृतीय गुण-विवेचन नामक अधिकरण के दो अध्यायों में गुण और अलंकार का भेद तथा गुणों का विवेचन है। चतुर्थ आलंकारिक नामक अधिकरण में तीन अध्यायो में यमक, अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों का विस्तृत वर्णन है। पञ्चम प्रयोगाधिकरण के दो अध्यायों में शब्दशुद्धि का निरूपण है।

वामन रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है (**रीतिरात्मा काव्यस्य**)। इसके अतिरिक्त वामन की कुछ और नवीन मान्यताएँ भी हैं—

१—गुण और अलंकारों में परस्पर भेद स्थापित करना।

२—वैदर्भी, गौणी और पाञ्चाली इन तीन रीतियों की स्वीकृति।

३—वक्रोक्ति की अर्थालंकारों में गणना तथा 'सादृश्याल्लक्षणा' यह लक्षण मानना।

४—विशेषोक्ति का विचित्र लक्षण करना।

५—'आक्षेप' नामक अलंकार के दो अर्थ करना।

६—समग्र अर्थालंकारों को उपमा-मूलक मानना।

७—दस प्रकार के गुणों को शब्दगत एवं अर्थगत भेद मानकर बीस प्रकार के गुणों की कल्पना।

१४. रुद्रट (नवम शताब्दी)

रुद्रट अलंकारशास्त्र के प्रतिष्ठित आचार्य हैं। पिशेल, वेबर, बूलर आदि विद्वान् रुद्रट और रुद्रभट्ट को अभिन्न मानते हैं किन्तु जैकोबी आदि विद्वान् दोनों को भिन्न मानते हैं। रुद्रट के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में कम जानकारी मिलती है। नाम से ये काश्मीरी प्रतीत होते है। काव्यालंकार के प्रमुख टीकाकार नमिसाधु के एक लेख से ज्ञात होता है कि रुद्रट का दूसरा नाम शतानन्द भी था और इनके पिता का नाम वासुकभट्ट और ये सामवेदी थे।[1] राजशेखर, प्रतिहारेन्दुराज, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि आचार्यों ने रुद्रट का निर्देश किया है। रुद्रट ध्वनि-सिद्धान्त से अपरिचित था। प्रतिहारेन्दुराज का समय ९०० ई० तथा आनन्दवर्धन का समय ८५० ई० माना जाता है। अतः रुद्रट का समय इसके पूर्व अर्थात् नवम शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है।

रुद्रट का एकमात्र ग्रन्थ 'काव्यालंकार' है। इसमें १६ अध्याय और ७३४ श्लोक हैं। इनमें ११ अध्यायों में अलंकारों का वर्णन तथा अन्तिम चार अध्यायों में रस-मीमांसा है। रुद्रट ने अलंकारों का वैज्ञानिक ढंग से विभाजन किया है। इन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चारों को अलंकारों का मूलतत्त्व कहा है, और इन्हीं के आधार पर इन्होंने अलंकारों को चार वर्गों में विभाजित किया है— वास्तवमूलक, औपम्यमूलक, अतिशयमूलक और श्लेषमूलक। वास्तव वर्ग में तेइस, औपम्य वर्ग में इक्कीस, अतिशय वर्ग में तेरह और श्लेष एक अलंकार माना है। इनके मत में संकर को मिलाकर कुल ५८ अलंकार हैं। इन्होंने अलंकारों को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। रुद्रट की कुछ नवीन मान्यताएँ निम्न प्रकार हैं—

१—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर अलंकारों का वर्गीकरण।
२—'भाव' नामक एक नवीन अलंकार की कल्पना।
३—नौ रसों के अतिरिक्त प्रेय नामक दसवें रस को स्वीकार करना।
४—नायक-नायिका भेद का विस्तार से वर्णन करना।
५—रीति को विशेष महत्त्व न देना।
६—गुणों के विवेचन का अभाव।

३ काव्यतत्त्व चिन्तन-युग

१५. आनन्दवर्धन (नवम शताब्दी)

ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन का अलंकारशास्त्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्याकरणशास्त्र के इतिहास में जो स्थान पाणिनि का और वेदान्तदर्शन में जो स्थान शंकराचार्य का है वही स्थान काव्यशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन का है। आनन्दवर्धन कश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे।

---

१. भारतीय साहित्यशास्त्र—उपाध्याय

इन्हें 'राजानक' की उपाधि प्राप्त हुई थी जो प्रायः काश्मीरी विद्वानों को सम्मानार्थ प्राप्त होती रही है। इनका जन्म कश्मीर के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम 'नोणोपाध्याय' था।

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में उद्भट का निर्देश किया है (**तत्र भवद्भिः भट्टोद्भटादिभिः**)। उद्भट का समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है—अतः आनन्दवर्धन का समय उसके बाद होना चाहिए। राजशेखर ने 'आचार्य आनन्दवर्धन' का उल्लेख किया है (**प्रतिभाव्युत्पत्योः प्रतिभा श्रेयसी इत्यानन्दः**)। राजशेखर का समय ९००-९२५ के आस-पास माना जाता है अतः आनन्दवर्धन का समय इसके पूर्व नवम शताब्दी होना चाहिए। आनन्दवर्धन अवन्तिवर्मा के राज्य में ख्याति को प्राप्त हो चुके थे। अवन्तिवर्मा का समय ८५५-८८३ ई० तक माना गया है। अतः आनन्दवर्धन का समय नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

आनन्दवर्धन व्याकरण, दर्शन, काव्यशास्त्र आदि अनेक विषयों के विद्वान् थे। इन्होंने निम्नलिखित ग्रंथों की रचना की है।

१—ध्वन्यालोक
२—देवीशतक
३—विषमबाणलीला
४—अर्जुनचरित
५—तत्त्वालोक
६—धर्मोत्तमा विवृति।

ध्वन्यालोक इनकी कीर्ति का आधार-स्तम्भ है। इसमें कुल चार उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि, ध्वनि-विरोधी मतों का खण्डन तथा ध्वनि के स्वरूप पर विचार किया गया है। द्वितीय उद्योत में ध्वनि के भेद रस, गुण, एवं अलंकारों का विवेचन है। तृतीय उद्योत में व्यञ्जना की दृष्टि से ध्वनि के प्रयोजन तथा महत्त्व पर विचार किया गया है। 'देवीशतक' भगवती दुर्गा की आराधना के लिए लिखा गया है। 'विषमबाणलीला' और अर्जुनचरित' ये दोनों ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। धर्मोत्तमा' धर्मकीर्ति के 'प्रमाण-विनिश्चय' की टीका है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना कर आलोचना के क्षेत्र में नवीन दिशा प्रदान की है।

१६. राजशेखर (दशम शताब्दी)

राजशेखर 'यायावर' कुल में उत्पन्न अकालजलद के प्रपौत्र और दुर्दक के पुत्र थे। इनकी माता का नाम शीलवती था। इनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी चौहान-वंशीय क्षत्रिया विदुषी थी। इनके पूर्वज महाराष्ट्र के रहने वाले थे। 'कर्पूरमंजरी' से ज्ञात होता है कि राजशेखर कन्नौज के शासक महेन्द्रपाल का गुरु था। राजशेखर

कई भाषाओं का ज्ञाता था। राजशेखर ने उद्भट तथा आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है। आनन्दवर्धन का समय अवन्तिवर्मा का शासनकाल ८५० ई० माना जाता है। अतः राजशेखर का समय इसके बाद होना चाहिए। धनपाल ने तिलकमञ्जरी में यायावर के पद्यांशों की प्रशंसा की है। तिलकमञ्जरी का समय १००० ई० के लगभग माना जाता है अतः राजशेखर का समय इसके पूर्व होना चाहिए। इस प्रकार राजशेखर का समय आनन्दवर्धन के पश्चात् तथा धनपाल के पूर्ववर्ती दशम शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है।

राजशेखर की रचनाओं का अनुमान लगाना कठिन है। बालरामायण के अनुसार उनकी छः रचनाएँ थीं। उनमें चार रूपक तथा एक काव्यशास्त्रीय लक्षण ग्रन्थ उपलब्ध है—

१—बालरामायण (यह १० अंकों का महानाटक है)
२—बालभारत या प्रचण्ड पाण्डव (अपूर्व नाटक है)
३—विशालसिद्धभञ्जिका (यह नाटिका है)
४—कर्पूरमञ्जरी (चार अंकों का सट्टक है)
५—काव्यमीमांसा (काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है)

काव्य-मीमांसा विविध विषयों की जानकारी देने वाला काव्याशास्त्रीय कोष है। इसमें कुल १८ अध्याय हैं जिनमें कवियों के व्यवहारोपयोगी विषयों का विवेचन है। इसमें भौगोलिक विषयों का अच्छा वर्णन है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में अपने से पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों तथा उनके सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। काव्य-मीमांसा में उन्होंने अपने को 'कविराज' बताया है। कविराज का ग्रंथ पांडित्य-पूर्ण शैली में लिखा गया काव्य-शिक्षा का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

१७. मुकुलभट्ट (दशम शताब्दी)

मुकुलभट्ट की एकमात्र रचना 'अभिधावृत्तमात्रिका' है। इनके पिता का नाम भट्ट कल्लट था। भट्ट कल्लट कश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे। अवन्तिवर्मा का समय ८५५-८८३ ई० माना जाता है। इस प्रकार मुकुलभट्ट इसके बाद अर्थात् दशम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रहे होंगे, ऐसा अनुमान किया जाता है। इनकी एकमात्र कृति 'अभिधावृत्तमात्रिका' में केवल १५ कारिकाएँ हैं। इसमें अभिधा का तथा लक्षणा का विशिष्ट विवेचन है। किन्तु लक्षणा को अभिधा का ही एक अंग स्वीकार किया गया है। मम्मट ने इसी आधार पर 'शब्दव्यापारविचार' नामक ग्रंग की रचना की है।

१८. प्रतिहारेन्दुराज और भट्टेन्दुराज

प्रतिहारेन्दुराज मुकुलभट्ट के शिष्य और अभिनवगुप्त के गुरु थे। पीटर्सन ने प्रतिहारेन्दुराज और भट्टेन्दुराज को अभिन्न माना है। अभिनवगुप्त ने उन्हें 'अस्मदुपाध्याय' कहकर सम्बोधित किया है। प्रतिहारेन्दुराज का समय दशम शताब्दी

का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इन्होंने उद्भट के 'अलंकारसारसंग्रह' पर टीका लिखी है। इनकी टीका पाण्डित्यपूर्ण है। अभिनव ने लोचन में भट्टेन्दुराज की प्रशंसा की है। कहा जाता है कि महेन्दुराज ने अभिनव को लोचन टीका लिखने के लिए प्रेरित किया था।

१९. भट्टतौत (दशम शताब्दी)

भट्टतौत अभिनवगुप्त के गुरु थे। अभिनव ने इन्हें अपने 'उपाध्याय' (अस्मदुपाध्याय) के रूप में उल्लेख किया है। भट्टतौत ने 'काव्यकौतुक' नामक ग्रन्थ की रचना की है। अभिनव ने 'काव्यकौतुक' पर 'विवरण नामक टीका लिखी है। अतः भट्टतौत का समय दशम शताब्दी का मध्य मानना अधिक युक्तिसंगत है। व्यक्ति-विवेक की अनाम लेखक टीका में 'काव्यकौतुक' का उल्लेख है। हेमचन्द्र ने भी भट्टतौत के तीन पद्य उद्धृत किये हैं। किन्तु यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। इनकी कुछ नवीन मान्यताएँ हैं। जैसे—

(१) मोक्षप्रद होने के कारण शान्त रस की श्रेष्ठता।

(२) प्रीत्यात्मक होने के कारण रस ही नाट्य है।

(३) रस-समुदाय ही नाट्य है और रस काव्य में भी होता है।

२०. भट्टनायक (दशम शताब्दी)

भट्टनायक कश्मीर के निवासी और भरत के रससूत्र के व्याख्याता थे। इन्होंने ध्वन्यालोक में प्रतिपादित ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन किया है। भट्टनायक ने नाट्यशास्त्र पर 'हृदयदर्पण' नामक टीका लिखी है। महिमभट्ट का कथन है कि उन्होंने हृदयदर्पण को देखे बिना ही व्यक्तिविवेक की रचना की है। इससे प्रतीत होता है कि भट्टनायक के ध्वनि-खण्डन के उद्देश्य से हृदयदर्पण लिखा है। जयरथ ने भी भट्टनायक को हृदयदर्पण का रचयिता माना है।

भट्टनायक का समय दशम शताब्दी के मध्य माना जाता है। कल्हण ने राजतरंगिणी में भट्टनायक का उल्लेख किया है। भट्टनायक शंकरवर्मन के समय में हुए थे। शंकरवर्मन का समय ८८३-९०२ ई० के मध्य माना जाता है। अतः भट्टनायक का समय नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध मानना चाहिए किन्तु काणे महोदय भट्टनायक का समय ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन के बाद तथा अभिनवगुप्त के पूर्व मानते हैं; क्योंकि भट्टनायक ने आनन्द के ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन किया है और अभिनव ने भट्टनायक के सिद्धांत का खण्डन किया है। अतः भटटनाय्क का समय दशम शताब्दी का मध्य मानना चाहिए।

भट्टनायक ने ध्वनि-सिद्धांत के महत्त्व को स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार रसचर्वणा या रस का भोग ही काव्य का जीवन है। उन्होंने रसध्वनि को

ही काव्य का जीवन (आत्मा) माना है। उन्होंने काव्य के तीन व्यापार माने हैं— अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। इनमें अभिधा के द्वारा वाच्यार्थ की प्रतीति होती है और भावकत्व व्यापार के द्वारा काव्य तथा विभावादि का साधारणीकरण होता है। तत्पश्चात् भोजकत्व व्यापार के द्वारा स्वसंवेद्य रस का आस्वादान होता है। अभिनवगुप्त ने उनके साधारणीकरण व्यापार को स्वीकार किया है किन्तु उनके भोजकत्व व्यापार की प्रक्रिया को स्वीकार नहीं किया है।

२१. धनञ्जय और धनिक (दशम शताब्दी)

धनञ्जय नाट्यशास्त्र के विद्वान् थे। इनकी एकमात्र रचना 'दशरूपक' है। दशरूपक के अन्त में एक श्लोक प्राप्त होता है जिसके अनुसार इनके पिता का नाम विष्णु था और ये मुञ्ज की राजसभा के प्रमुख पण्डित थे।[1] मुञ्ज का दूसरा नाम 'वाक्पतिराज' था। ये मालव के परमारवंशी राजा थे। इनका ९७४ ई० का एक शिलालेख प्राप्त होता है। इन्होंने ९९५ ई० तक राज्य किया था। चालुक्य शिलालेखों से ज्ञात होता है कि चालुक्य तैलप ने ९९३-९९४ में उन्हें पराजित कर उनका वध कर दिया था। इससे ज्ञात होता है कि मुञ्ज का राज्यकाल ९७४-९९५ के मध्य रहा है। अतः धनञ्जय का स्थितिकाल दशम शताब्दी का उत्तरार्द्ध रहा होगा और इसी समय उन्होंने दशरूपक की रचना की होगी।

दशरूपक में कुल चार प्रकाश हैं। इसमें मुख्यतः नाट्यशास्त्रीय विषयों पर विवेचन किया गया है। प्रथम प्रकाश में नाट्य, नृत्य और नृत्त का स्वरूप, इतिवृत्त विधान, पाँच अर्थ प्रकृतियाँ, पाँच कार्यावस्थाएँ, पाँच सन्धियाँ, अर्थोपक्षेपक तथा संवादों के भेद आदि विषयों पर विवेचन है। द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिकादि भेद तथा चार वृत्तियों का विवेचन है। तृतीय प्रकाश में रूपक के प्रकारों पर विचार किया गया है। चतुर्थ प्रकाश में रस-सिद्धान्त पर विस्तार से विचार किया गया है। इन्होंने शांतरस तथा शम स्थायीभाव को स्वीकार नहीं किया है।

धनञ्जय के भाई धनिक ने दशरूपक पर 'अवलोक' नामक टीका लिखी है। 'अवलोक' से विदित होता है कि धनञ्जय और धनिक दोनों ध्वनि-सिद्धांत के विरोधी थे। उनके अनुसार रस काव्य में ध्वनित होता है, बल्कि प्रयोगों द्वारा उसका अनुभव या आस्वादन किया जाता है। उनके मतानुसार काव्य में व्यंग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध नहीं होता, बल्कि भाव्य-भावक भाव सम्बन्ध होता है—

'अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्य-व्यञ्जकभावः किन्तर्हि भाव्य-भावक-भावसम्बन्धः। काव्यं हि भावकं भाव्या रसादयः''।

---

१. विष्णोः सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मञ्जुमहीशगोष्ठी वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्॥

कुछ विद्वानों की धारणा है कि धनञ्जय और धनिक एक ही व्यक्ति थे किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः वे दोनों अलग अलग भाई थे।

२२. अभिनवगुप्त (एकादश शताब्दी)

अलंकारशास्त्र के इतिहास में आचार्य अभिनवगुप्त का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। ये शैवदर्शन के महान् आचार्य एवं प्रतिभाशाली विद्वान् थे। ये तन्त्र शास्त्र के भी विद्वान् थे। 'परात्रिंशिका विवरण' नामक ग्रन्थ से इनके जीवन-परिचय के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। इनके पूर्वज कश्मीरनरेश ललितादित्य के आमन्त्रण पर कश्मीर में आकर बस गये थे। इनके पितामह का नाम वराहगुप्त और पिता का नाम 'चुखल' था। अभिनवगुप्त के पिता का वास्तविक नाम नृसिंह था। किन्तु वे चुखल के नाम के प्रसिद्ध थे। अभिनवगुप्त शिव के बड़े भक्त थे।

अभिनवगुप्त का समय दशम शताब्दी का अन्तिम भाग या ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है। इन्होंने 'भैरव-स्तोत्र' की रचना ९९३ ई० के आस पास की थी और 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' की रचना १०१४-१५ में की थी।

"इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरेऽन्त्ये युगांशे,
तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने।
जगति निहितबोधां ईश्वरप्रत्यभिज्ञां,
व्यवृणुत परिपूर्णां प्रेरितः शम्भुपादैः॥"

इससे ज्ञात होता कि इनका समय दशम शताब्दी का अन्त तथा एकादश शताब्दी का प्रारम्भ रहा होगा। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी, जिनकी संख्या लगभग ४० है जिनमें निम्नलिखित ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं—

१—अभिनवभारती (नाट्यशास्त्र का टीका)
२—ध्वन्यालोकलोचन (ध्वन्यालोक की टीका)
३—काव्यकौतुकविवरण (काव्यकौतुक का विवरण)
४—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी (दर्शनशास्त्र का ग्रन्थ)
५—तन्त्रालोक (यह तन्त्रशास्त्र का ग्रन्थ है)

अभिनवभारती—भरत के नाट्यशास्त्र की टीका है। इसमें प्राचीन आलंकारिकों एवं संगीताचार्यों के मतों का उल्लेख किया गया है। यह टीका इतनी महत्त्वपूर्ण है कि यह टीका न होकर एक मौलिक ग्रन्थ बन गया है।

ध्वन्यालोकलोचन—आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक की महत्त्वपूर्ण टीका है। यह टीका अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण है। इसमें भी प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख है।

काव्यकौतुकविवरण—भट्टतौत के काव्यकौतुक की विस्तृत व्याख्या है। यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। केवल अभिनवभारती में उद्धरण मात्र मिलता है।

अभिनवगुप्त रस-सिद्धान्त के परम पोषक थे। उन्होंने रसध्वनि को काव्य की आत्मा का स्थान प्रदान किया है। ये शैवदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् थे।

२३. कुन्तक (एकादश शताब्दी)

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक का अलंकारशास्त्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का जीवितभूत तत्त्व मानकर 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' की स्थापना की है। कुन्तक को 'राजानक' की उपाधि मिली थी, जो प्रायः काश्मीरी विद्वानों को सम्मानार्थ मिलती रही है। इससे ज्ञात होता है कि ये कश्मीर के निवासी थे। कुन्तक ने आनन्दवर्धन तथा राजशेखर के ग्रन्थों से अनेक उद्धरण लिये हैं। इससे प्रतीत होता है कि ये उनके पश्चात् रहे होंगे। महिमभट्ट ने कुन्तक के सिद्धान्तों का 'व्यक्ति-विवेक' में खंडन किया है। महिमभट्ट का समय एकादश शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है। इस प्रकार कुन्तक का समय दशम शताब्दी का अन्त तथा एकादश शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।

कुन्तक की प्रमुख रचना 'वक्रोक्तिजीवित' है। 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' के तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिका और वृत्ति के लेखक तो स्वयं कुन्तक हैं किन्तु अधिकांश उदाहरण संस्कृत साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों से लिए गये हैं। इनमें कुल चार उन्मेष हैं। प्रथम उन्मेष में काव्य प्रयोजन एवं काव्यलक्षण प्रतिपादित करने के पश्चात् छः प्रकार की वक्रताओं का सामान्य निर्देश किया गया है। द्वितीय उन्मेष में वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता और प्रत्ययवक्रता इन तीन प्रकार की वक्रताओं का विवेचन है। तृतीय उन्मेष में वाक्यवैचित्र्यवक्रता का सुन्दर विवेचन है और उसमें अलंकारों का अन्तर्भाव दिखाया गया है। चतुर्थ उन्मेष में प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का विवेचन किया गया है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन मानकर 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' की स्थापना की है। उनके अनुसार वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन है (वक्रोक्तिः काव्य-जीवितम्)। उन्होंने 'ध्वनि-सिद्धान्त' का खण्डन कर ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत देखा है। इनकी विवेचन-शक्ति मौलिक है। इन्होंने रस, ध्वनि एवं अलंकारों को वक्रोक्ति के अन्तर्गत बिठाने का प्रयास किया है। इन्होंने वक्रोक्ति-सिद्धान्त की व्यापकता प्रदान कर काव्य-जगत् में एक नवीन मार्ग का प्रवर्त्तन किया है। उनका यह मार्ग 'वक्रोक्तिमार्ग के नाम से प्रसिद्ध है।

२४. महिमभट्ट (एकादश शताब्दी)

ध्वनि-विरोधी आचार्यों में महिमभट्ट नाम विशेष उल्लेखनीय है। महिमभट्ट का कश्मीर के निवासी थे। इन्हें राजानक की उपाधि मिली थी जो प्रायः काश्मीरी

विद्वानों को सम्मानार्थ मिलती रही है। इनके पिता का नाम 'श्रीधैर्य' और गुरु का नाम 'श्यामल' था। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यभाग माना जाता है क्योंकि रुय्यक ने उनके मतों का उल्लेख 'अलंकारसर्वस्व' में किया है। रुय्यक का समम ११०० ई० के लगभग माना जाता है अतः महिमभट्ट का समय ११ वीं शताब्दी का मध्यभाग माना जा सकता है।

महिमभट्ट की एकमात्र रचना 'व्यक्ति-विवेक' है। इसमें कुल तीन विमर्श हैं। प्रथम विमर्श में ध्वनि का खण्डन कर अनुमान में उसका अन्तर्भाव दिखाया गया है। द्वितीय विमर्श में 'अनौचित्य' को काव्य का प्रमुख दोष मानकर अन्तरङ्ग और बहिरंग दोषों पर विचार किया गया है। तृतीय विमर्श में ध्वनि के ४० उदाहरणों का अनुमान में अन्तर्भाव दिखाया गया है।

महिमभट्ट ध्वनि सिद्धान्त के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त को उखाड़ फेंकने के लिए 'व्यक्तिविवेक' की रचना की है। वे ध्वनि के लिए व्यञ्जनावृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं समझते। ध्वनि का वे अनुमान में अन्तर्भाव कर लेते हैं। उनके अनुसार ध्वनि कोई अलग पदार्थ नहीं है बल्कि अनुमान का ही एक रूप है। उन्होंने समस्त ध्वनियों को अनुमान में अन्तर्भुक्त करने के लिए 'व्यक्ति-विवेक' की रचना की है—

अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥

महिमभट्ट से अनुसार अभिधा ही एकमात्र शक्ति है। वे शब्द और अर्थ में व्यंग्य-व्यञ्जक भाव नहीं मानते। वे प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्यार्थ) को अनुमेय मानते हैं। वे रस के काव्यात्मा होने का विरोध न कर उसकी अनुभूति अनुमान के अन्तर्गत मानते हैं।

२५. भोजराज (एकादश शताब्दी)

धारानरेश भोजराज संस्कृत-साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने साहित्य की विविध विधाओं पर ग्रन्थ-रचना की है। उन पर सरस्वती और लक्ष्मी दोनों की कृपा थी। वे स्वयं उदारचेता, विद्याप्रेमी एवं विद्वानों के आश्रयदाता थे। महाराज भोज का समय उतना विवादास्पद नहीं जितना अन्य आचार्यों का है। अल्बेरुनी ने 'अल्बेरुनी का भारत' नामक ग्रन्थ में भोज को धारा नगरी का शासक बताया है। अल्बेरुनी १०३० ई० में भारत आया था। इसके अतिरिक्त भोज का एक शिलालेख (दानपत्र) १०२१ ई० का मिलता है। एक दूसरा दानपत्र उनके उत्तराधिकारी जयसिंह का १०५५ ई० का है। इस आधार पर भोजराज का समय १०५० ई० के पूर्व ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।

भोजराज ने अनेक विषयों पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। कहा

जाता है कि उन्होंने ८४ ग्रन्थ लिखे हैं किन्तु डा० राघवन् इस पर विश्वास नहीं करते। अलंकारशास्त्र विषयक उनके दो ग्रन्थ हैं—सरस्वतीकण्ठाभरण और शृंगारप्रकाश। ये दोनों ही विशाल ग्रन्थ हैं। सरस्वतीकण्ठाभरण में कुल पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्यलक्षण, काव्यभेद, १६ पददोष, १६ वाक्य दोष और १६ वाक्यार्थ दोष, २४ शब्दगुण तथा २४ अर्थगुणों का विवेचन है। द्वितीय परिच्छेद में २४ शब्दालंकारों तथा तृतीय में २४ उभयालंकारों का वर्णन है। पञ्चम परिच्छेद में रस, भाव, नायक-नायिकाओं के भेद, सन्धियों एवं वृत्तियों का विवेचन है। इससे उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती ग्रन्थकारों के लगभग १५०० उद्धरण लिये हैं।

शृंगारप्रकाश इनकी दूसरी रचना है। इसमें मुख्यतः रसों का विशेषकर शृंगार रस का विस्तृत विवेचन है। इसमें कुल ३६ प्रकाश हैं किन्तु अभी तक पूरा ग्रन्थ प्रकाशित न हो सका। इन्होंने शृंगार रस को 'रसराज' कहा है और शृंगार को ही सब रसों का स्रोत कहा है। भोज का दृष्टिकोण समन्वयात्मक था।

२६. क्षेमेन्द्र (एकादश शताब्दी)

औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य क्षेमेन्द्र अलंकारशास्त्र के प्रमुख आचार्य थे। ये कश्मीर के रहने वाले थे। ये सिन्धु के पौत्र और प्रकाशेन्दु के पुत्र थे। इनका दूसरा नाम 'व्यासदास' था। ये अभिनवगुप्त के शिष्य थे। ये पहले शैव थे, बाद में वैष्णव धर्म में दीक्षित हो गये। क्षेमेन्द्र ने कश्मीर नरेश अनन्तराज के शासनकाल में 'औचित्य-विचारचर्चा' और 'कविकण्ठाभरण की रचना थी।

'तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः॥

(औचित्यविचारचर्चा)

''राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयं कृतः।''

(कविकण्ठाभरण)

श्री अनन्तराज ने १०२८-१०६३ तक कश्मीर में राज्य किया था। अतः क्षेमेन्द्र का समय इसके आस-पास ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

क्षेमेन्द्र ने विविध विषयों पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें बृहत्कथामञ्जरी, भारतमंजरी, रामायणमञ्जरी, दशावतारचरित, सुवृत्ततिलक आदि प्रमुख हैं। काव्यशास्त्र पर इनके दो ग्रन्थ हैं—'औचित्यविचारचर्चा' और 'कविकण्ठाभरण'। इनका 'कविकण्ठाभरण' काव्यशिक्षा-विषयक ग्रन्थ है। इनमें ५ अध्याय और ५५ कारिकाएँ हैं। इनमें कवित्व-प्राप्ति के उपाय, कवि के प्रकार, काव्य के गुण दोषों का विवेचन है। 'औचित्यविचारचर्चा' इनका नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादक आलोचनात्मक ग्रन्थ है। इसमें औचित्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इन्होंने 'औचित्य' को रस का सार और काव्य का जीवन माना है—

''औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्''

इनका 'सुवृत्ततिलक' नामक एक छन्दःशास्त्र का भी ग्रन्थ है जिसमें छन्दों के प्रयोग के विषय पर प्रकाश डाला गया। क्षेमेन्द्र ने औचित्य सिद्धान्त का प्रतिपादन कर आलोचना-शास्त्र में एक नवीन मार्ग का प्रवर्त्तन किया है।

२७. सागरनन्दी (एकादश शताब्दी)

सागरनन्दी नाट्यशास्त्र के आचार्य थे। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इनका नाटकलक्षणरत्नकोष नामक ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें उन्होंने नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इस ग्रन्थ में क्रमशः रूपक तथा उसके भेद, पाँच अवस्थाएँ, पाँच अर्थप्रकृतियाँ, पाँच सन्धियाँ, पाँच अर्थोपक्षेपक, सन्धि के अनेक भेद, चार पताकास्थान, वृत्तियाँ, नायक के गुण, नाट्यलक्षण, याट्यालंकार, गुण, रस, भाव, नायक-नायकादि भेद एवं उपरूपकों का महत्त्वपूर्ण विवेचन किया गया है।

२८. मम्मट (एकादश शताब्दी)

आचार्य मम्मट का अलंकारशास्त्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये कश्मीर के निवासी थे। इनको भी 'राजानक' की उपाधि प्राप्त हुई थी जो प्रायः काश्मीरी विद्वानों को सम्मानार्थ मिलती रही है। मम्मट कश्मीर-निवासी जैयट के पुत्र और कैयट के बड़े भाई थे। काश्मीरी पण्डितों के परम्परा के अनुसार मम्मट 'नैषधीयचरित' के रचयिता श्रीहर्ष के मामा थे। किन्तु यह विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता, क्योंकि श्रीहर्ष स्वयं काश्मीरी नहीं थे। आचार्य मम्मट साहित्यशास्त्र के ज्ञाता और व्याकरण के मर्मज्ञ विद्वान् थे।

मम्मट ने अपने ग्रन्थ में अभिनवगुप्त (१०१५ ई०) और 'नवसाहसांक-चरित' (१०१० ई०) का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त दशमोल्लास में उदात्तालंकार के उदाहरण में भोजराज (१०५० ई०) का निर्देश किया है। इससे ज्ञात होता है कि ये अभिनवगुप्त और भोजराज के बाद हुए हैं। हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन' में काव्यप्रकाश से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। हेमचन्द्र का समय १०८८ ई० माना जाता है। अतः मम्मट का समय १०५० ई० के मध्य ११वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

आचार्य मम्मट का प्रमुख ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' है। इनमें १० उल्लास १४२ कारिकाएँ और ६०३ उदाहरण हैं। प्रथम उल्लास में काव्यहेतु, काव्यप्रयोजन, काव्यलक्षण और काव्यभेद का निरूपण है। द्वितीय उल्लास में शब्दशक्तियों का और तृतीय में शाब्दी-व्यञ्जना का विवेचन किया गया है। चतुर्थ उल्लास में ध्वनि के भेद, रस, भाव आदि का विवेचन है। पञ्चम उल्लास में गुणीभूत-व्यंग्य और व्यञ्जना का निरूपण है। षष्ठ में चित्रकाव्य और सप्तम में दोषों का वर्णन है। अष्टम उल्लास में गुणों का विवेचन है। नवम और दशम उल्लास में शब्दालंकारों एवं

अर्थालङ्कारों का विवेचन है। इसके अतिरिक्त मम्मट का एक ग्रन्थ 'शब्दव्यापार-विचार' भी मिलता है जिसमें शब्दवृत्तियों पर विस्तृत विचार किया गया है।

काव्यप्रकाश सूत्रात्मक शैली में लिखा गया काव्यशास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है। इस पर ७० टीकाएँ मिलती हैं। कहा जाता है कि मम्मट ने 'परिकर' अलंकार तक ही काव्यप्रकाश रचना की थी और शेष भाग को अल्लट ने पूरा किया था। काव्य-प्रकाश में कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीन भाग हैं। इनमें कारिका और वृत्ति का लेखक मम्मट है और उदाहरण अन्य ग्रन्थों से लिए गए हैं। मम्मट ने काव्यप्रकाश की रचना कर काव्य-जगत् में खूब प्रतिष्ठा प्राप्त की। ये ध्वनिवादी आचार्यों मे सर्वश्रेष्ठ आचार्य माने जाते हैं। भीमसेन ने इन्हें 'वाग्देवतावतार' की उपाधि से विभूषित किया है। मम्मट समन्वयवादी आचार्य थे। मम्मट की कतिपय नवीन उद्भावनाएँ भी हैं—

१. सूत्रात्मक शैली में विविध विषयों का समावेश।
२. ध्वनि-सिद्धान्त को सुप्रतिष्ठित करना।
३. त्रिगुणवाद की स्थापना।
४. रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में मौलिक विचार।
५. गुण और अलंकारों में परस्पर भेद-प्रदर्शन।

४. समन्वययुग या व्याख्याकाल

२९. रुय्यक (द्वादश शताब्दी)

रुय्यक कश्मीर निवासी राजानक तिलक के पुत्र थे। इन्हें भी 'राजानक' की उपाधि मिली थी। इनका दूसरा नाम 'रुचक' था। रुय्यक श्रीकण्ठचरित के रचयिता मंखक के गुरु थे। रुय्यक ने काव्यप्रकाश पर 'काव्यप्रकाश संकेत' नामक टीका लिखी है। अतः ये मम्मट के बाद हुए हैं। रुय्यक का शिष्य मंखक था और मंखक कश्मीर नरेश जयसिंह का मन्त्री था। जयसिंह का समय ११२८-११४९ ई० माना जाता है। अतः रुय्यक का समय बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।

रुय्यक ने अनेक ग्रन्थों की रचना की हैं। इन्होंने उद्भट के ग्रन्थ पर 'उद्भट-विवेक' नामक टीका लिखी है और काव्यप्रकाश पर 'काव्यप्रकाशसंकेत' नामक टीका लिखी है। 'अलङ्कारसर्वस्व' इनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह इनकी मौलिक कृति है। इसमें कुल ८६ सूत्र है। इन्होंने ७५ अर्थालङ्कारों और ६ शब्दालङ्कारों का विवेचन किया है। जिनमें परिणाम, उल्लेख, विचित्र और विकल्प जैसे नवीन अलंकारों की कल्पना इनकी मौलिक है। इस ग्रन्थ के दो तीन भाग हैं—सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। इनमें सूत्र और वृत्ति दोनों के लेखक रुय्यक हैं और उदाहरण दूसरों से लिये गये हैं। इनके ऊपर दो प्रमुख टीकाएँ हैं—जयरथकृत 'अलंकार विमर्शिणी' और समुद्रबन्ध की टीका। इसकी लोकप्रियता इससे सिद्ध है कि विश्वनाथ, जगन्नाथ, अप्पयदीक्षित जैसे विद्वानों ने इनके मत को उद्धृत किया है।

'अलंकारसर्वस्व' के अतिरिक्त रुय्यक के निम्नलिखित ग्रन्थ हैं—

१. सहृदयलीला (यह एक लघुकाय ग्रन्थ है)
२. साहित्यमीमांसा (इसमें प्रकीर्ण विषय हैं)
३. नाटकमीमांसा (नाटक पर विचार)
४. अलंकारानुसारिणी (जयरथ के अनुसार यह अलंकारों पर स्वतन्त्र ग्रन्थ है)
५. अलङ्कार वार्तिक
६. व्यक्तिविवेक विचार (महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक की टीका)
७. काव्यप्रकाश-संकेत (मम्मट के काव्यप्रकाश की टीका)
८. उद्भट-विवेक (उद्भट के ग्रन्थ की टीका)

३०. वाग्भट्ट (प्रथम)

ये जैन विद्वान् थे। इनका प्राकृत नाम 'बाहट' था। ये किसी राजा के मन्त्री थे और इनके पिता का नाम सोम था। इनका समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इनके ग्रन्थ का नाम 'वाग्भटालंकार' है, जिस पर आठ टीकाएँ लिखी गई हैं। इसमें पाँच परिच्छेद है, जिनमें २६० श्लोक हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्यलक्षण, द्वितीय में काव्य-भेद एवं दोष-निरूपण, तृतीय में गुण-विवेचन, चतुर्थ में अलंकार एवं रीति-विवेचन, पंचम में रस एवं नायक-नायिका-भेद निरूपित हैं। 'वाग्भटालंकार' के अतिरिक्त इनके नाम से कुछ अन्य ग्रन्थ भी मिलते हैं—नेमिनिर्माण-काव्य, अष्टांगहृदय, काव्यानुशासन, छन्दोऽनुशासन तथा ऋषभदेवचरित। ये सभी ग्रन्थ एक ही व्यक्ति द्वारा रचित हैं, इस विषय पर विद्वानों का एक मत नहीं है।

३१. हेमचन्द्र (द्वादश शताब्दी)

हेमचन्द्र बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। इनका नाम साहित्यशास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ये गुजरात के राजा कुमारपाल के गुरु थे। इनका समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यानुशासन' है। इस पर इन्होंने स्वयं 'विवेक' नामक वृत्ति लिखी है। काव्यानुशासन में आठ अध्याय हैं, जिसमें काव्यलक्षण, शब्दार्थस्वरूप, रसदोष, गुणत्रय, छः शब्दालंकार और उन्नीस अर्थालंकार तथा नायक-नायिका भेद निरूपित हैं। इन्होंने 'परावृत्ति' नामक नवीन अलंकार की कल्पना की है, जिसके अन्तर्गत मम्मट के पर्याप्त और परिवृत्ति दोनों अलंकार आ जाते हैं। रस-प्रकरण तो पूरा अभिनवभारती पर आधारित है।

३२. रामचन्द्र गुणचन्द्र (द्वादश शताब्दी)

हेमचन्द्र के दो शिष्य रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र की सम्मिलित कृति नाट्यदर्पण' है। इसमें नाट्यशास्त्र विषयक चर्चाएँ हैं। नाट्यदर्पण में चार विवेक है। उनमें क्रमशः नाटक, प्रकरण, रस, भाव, अभिनय आदि का विवेचन किया गया है। रामचन्द्र गुणा चन्द्र का समय हेमचन्द्र के समकालीन बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

३३. शारदातनय (त्रयोदश शताब्दी)

शारदातनय का जन्म उत्तर भारत में मेरूत्तर जनपद के माठर पूज्य ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम भट्टगोपाल था। शारदा (सरस्वती) देवी का वरद पुत्र होने के कारण इनका नाम शारदातनय था। इनके गुरु का नाम दिवाकर था। शिङ्गभूपाल ने 'रसार्णवसुधाकर' में शारदातनय के भावप्रकाशन के अनेक उद्धरण उद्धृत किये हैं। अल्लराज ने रसरत्नदीपिका में भावप्रकाशन के उद्धरण दिये हैं। अल्लराज हम्मीर के पुत्र थे। इनका समय चौदहवीं शताब्दी का आरम्भ माना जाता है। अतः शारदातनय का स्थितिकाल तेरहवीं शताब्दी का मध्यकाल ११७५-१२५० ई० के मध्य माना जाता है। शारदातनय के दो ग्रन्थों के अस्तित्व का पता चलता है—

(१) भावप्रकाशन

(२) शारदीय

भावप्रकाशन इनका नाटयशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने सदाशिव, वासुकि, नारद, कुम्भ, व्यास, भरत अगस्त्य, कोहल, सुबन्धु, मातृगुप्त, नन्दिकेश्वर, आञ्जनेय आदि आचार्यों का उल्लेख किया है। भावप्रकाशन में दस अधिकार हैं जिसमें उन्होंने भाव-निर्णय, रस-विवेचन, नायक नायिकादि भेद, शब्दशक्ति विवेचन, नाट्येतिवृत्त का निरूपण-अट्टशरूपक लक्षण एवं भेद, नृत्य-स्वरूप एवं भेद, तथा नाट्य-प्रयोग के प्रकारों का विवेचन किया गया है।

शारदीयम् संगीतपरक ग्रन्थ है। इसमें संगीत के समस्त अङ्गोपाङ्गों का सम्यक् विवेचन किया गया है, किन्तु यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है।

शारदातनय का भावप्रकाशन नाट्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उन्होंने अपने युग में व्याप्त नाट्यशास्त्र विषपक अनेक मत-मतान्तरों एवं विचारों को नवीन दृष्टि से प्रस्तुत किया है। प्रामाणिकता एवं उपादेयता की दृष्टि से वह भरत नाट्य-शास्त्र से कम नहीं हैं। नाट्यकला के अतिरिक्त इसमें संगीतादि कलाओं का भी प्रतिपादन किया गया है।

३४. पीयूषवर्ष जयदेव (१३ वीं शताब्दी)

पीयूषवर्ष जयदेव मिथिला निवासी थे। ये राजा लक्ष्मणसेन के सभापण्डित थे। इनके पिता का नाम महादेव था। इनको 'पीयूषवर्ष' की उपाधि मिली थी। ये गीतगोविन्दकार जयदेव से तो भिन्न थे, किन्तु प्रसन्नराघव के प्रणेता जयदेव से अभिन्न थे। ये न्याय के प्रसिद्ध विद्वान् थे। जयदेव के कुछ श्लोक शार्ङ्गधर-पद्धति में उद्धृत हैं। शार्ङ्गधर-पद्धति का रचना-काल १३६३ ई० है अतः जयदेव इससे पूर्व रहे होंगे। जयदेव रुय्यक से परिचित थे, क्योंकि उसने रुय्यक के 'विचित्र' और 'विकल्प' नामक अलंकारों को ज्यों का त्यों उद्धृत किया है अतः जयदेव का समय १३ वीं शताब्दी का मध्यभाग माना जा सकता है।

जयदेव का 'चन्द्रालोक' अलंकारशास्त्र का लोकप्रिय ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ १० मयूखों में विभाजित है। जिसमें ३५० श्लोक हैं। इसमें काव्यशास्त्र के समस्त विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ की निरूपण-शैली अनुपम है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें एक ही श्लोक से पूर्वार्द्ध में अलंकार का लक्षण और उत्तरार्द्ध में उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस अलंकार प्रकरण को अप्पयदीक्षित ने 'कुवलयानन्द' नामक ग्रन्थ की रचना की है। जयदेव अलंकार-सम्प्रदाय के पोषक आचार्य थे। इनका कहना है जो अलंकार-रहित काव्य को काव्य मानते हैं वे अग्नि को शीतल क्यों नहीं मानत—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थवनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनंकृती॥

जयदेव ने लगभग १०० अलंकारों का निरूपण किया है। इनकी शैली सुगम एवं भाषा प्रवाहमयी है। इस ग्रन्थ पर लगभग छः टीकाएँ लिखी गई हैं। जिनमें 'शरदागम' नामक टीका प्रमुख है।

३५. विश्वनाथ कविराज (१४ वीं शताब्दी)

अलंकारशात्र के इतिहास में विश्दनाथ कविराज का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उत्कल प्रदेश के एक विद्वान् ब्राह्मण परिवार में इनका जन्म हुआ था। इनके वृद्धप्रपितामह नारायण पण्डित बहुत बड़े विद्वान् थे। इनके पिता चन्द्रशेखर विद्वान् एवं सन्धिविग्रहिक थे। उन्होंने अपने पिता के दो ग्रन्थों 'पुष्पमाला' और 'भाषार्णव' का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है।

विश्वनाथ का समय १४ वीं शताब्दी मानी जाती है। इनके 'साहित्यदर्पण' की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है। जिसकी लेखन तिथि विक्रमी सम्वत् १४४० और १३८४ ई० सन् है। अतः विश्वनाथ का समय इसके पूर्व होना चाहिए। साहित्यदर्पण के एक श्लोक में 'अलाउद्दीन का उल्लेख है—

"अलाउद्दीननृपतौ न सन्धिनं च विग्रहः।"

अलाउद्दीन का शासनकाल १२९६-१३१६ ई० माना जाता है अतः विश्वनाथ का समय १३०० ई० से १३५० ई० के मध्य अर्थात् १४ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।

विश्वनाथ कविराज की निम्नलिखित रचनाएं हैं—

१. राघवविलास (संस्कृत का महाकाव्य है)
२. कुवलयाश्वचरित (प्राकृत भाषा का काव्य)
३. चन्द्रकला नाटिका (यह नाटिका है)
४. प्रभावती परिणय (यह भी नाटिका है)
५. प्रशस्तिरत्नावली (यह १६ भाषाओं में ग्रथित करम्भक है)

विश्वनाथ की सबसे प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय रचना साहित्यदर्पण है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार के काव्य भेदों का निरूपण किया है। इसके तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। इसमें कुल १० परिच्छेद हैं। काव्य शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है। साहित्यदर्पण की कुछ प्रमुख विशेषताएँ भी हैं—

१. प्रारम्भ में पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के काव्यलक्षणों का खण्डन कर 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' यह काव्यलक्षण के रूप में स्थापित करना।

२. षष्ठ परिच्छेद में दृश्यकाव्य सम्बन्धी सभी विषयों का समावेश।

३. सरल, सुबोध एवं प्रसादमयी भाषा में विषय-विवेचन।

४. नायक नायिका-भेद तथा नाट्यकला का सविस्तार विवेचन।

३६. विद्याधर (त्रयोदश शताब्दी)

विद्याधर का जन्म उत्कल प्रदेश में हुआ। ये उत्कल नरेश केसरिनरसिंह अथवा प्रतापनरसिंह के आश्रित थे। इनकी एक रचना 'एकावली' है। शिङ्ग-भूपाल ने अपने ग्रन्थ में एकावली का उल्लेख किया है। मल्लिनाथ ने इस पर 'तरल नामक टीका लिखी है। इसका समय तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। शिङ्गभूपाल ने विद्याधर के सम्बन्ध ने लिखा है (**उत्कलाधिपतेः शृङ्गाररसाभिमानिनो नरसिंहदेवस्य चित्तमनुवर्त्तमानेन विद्याधरेण कविना वाङ्मात्पन्तरीकृतोऽस्ति, एवं खलु समर्थित मेकावल्यामनेन**), शिङ्गभूपाल का समय १३३० ई० माना जाता है। अतः विद्याधर का समय १२८५-१३२५ के मध्य माना जा सकता है।

विद्याधर की एकावली में तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। इसके उदाहरण स्वयं विद्याधर रचित हैं। इसमें उन्होंने उत्कल नरेश नरसिंह की प्रशंसा की है। इसमें कुल आठ उन्मेष हैं। प्रथम उन्मेष में काव्यहेतु एवं काव्य-लक्षण का विवेचन है। द्वितीय में शब्द के भेद तथा अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना इन तीन शक्तियों का विवेचन है। तृतीय एवं चतुर्थ उन्मेष में ध्वनि का तथा पञ्चम में गुण और तीन रीतियों का विवेचन है। षष्ठ में दोष तथा सप्तक एवं अष्टम में अलंकारों का निरूपण है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कामशास्त्र पर 'केलिरहस्य, ग्रन्थ भी लिखा है।

३७. विद्यानाथ

विद्यानाथ विद्याधर के समकालिक आचार्य थे। आन्ध्र के कामतीय वंश के राजा प्रतापरुद्र इनके आश्रयदाता थे। इनकी राजधानी एकशिला थी, जिसे आज-कल वारंगल कहते हैं। ईसवी सन् १२९८-१३०८ के मध्य के इनके शिलालेख मिलते हैं। अतः इनका समय तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के मध्य माना जा सकता है।

विद्यानाथ ने अपने आश्रयदाता प्रतापरुद्र की प्रशस्ति में 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' नामक ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। इसके उदाहरण विद्यानाथ द्वारा स्वरचित हैं, जिसमें प्रतापरुद्र का यशोगान है। इसमें नौ प्रकरण हैं। जिसके अन्तर्गत नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकारों का प्रतिपादन है। कुमारस्वामी ने इस पर 'रत्नापण' नामक टीका लिखी है। रत्नापण टीका के साथ इसका प्रकाशन १९१४ ई० में हुआ है।

३७. शिंगभूपाल (चतुर्दश शताब्दी)

शिंगभूपाल नाट्य एवं संगीत कला के आचार्य के रूप में विख्यात हैं। शिंगभूपाल आन्ध्र प्रदेश के राजा थे। 'राजाचलम्' इनकी राजधानी थी। इनके पिता का नाम अनन्त (या अनपोल) तथा माता का नाम अन्नमाम्बा था। रामकृष्ण भण्डारकर के अनुसार आन्ध्रनरेश शिंगभूपाल तथा देवगिरि के यादवराज सिंघण को एक समझा जा सकता है। संगीतरत्नाकर के रचयिता शार्ङ्गदेव ने इन्हीं के आश्रय में संगीतरत्नाकर की रचना की थी। चमत्कारचन्द्रिका के रचयिता विश्वेश्वर कविचन्द्र ने शिंगभूपाल का यशोगान किया है और उन्हें 'सर्वज्ञ' कहा है। शिङ्गभूपाल कवियों एवं विद्वानों के आश्रयदाता तथा गुणग्राही थे और स्वयं भी कवि एवं आचार्य थे। ये व्याकरण, संगीत, साहित्य, काव्य, नाट्य के विद्वान् थे। इनका स्थितिकाल १३३० से १४०० ई० के मध्य माना जाता है। शिंगभूपाल के नाम से तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

(१) रसार्णवसुधाकर
(२) नाटक-परिभाषा
(३) संगीतसुधाकर (संगीतरत्नाकर की टीका)

'रसार्णवसुधाकर' नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें तीन विलास हैं जिनमें नाट्यलक्षण, रसलक्षण, नायक-नायिका के गुण एवं भेद, तीन रीतियों, चार वृत्तियों, सात्त्विकभावों, स्थायी एवं व्यभिचारी भावों, रतिभेद एवं शृङ्गारादि रसों के भेद, रूपकभेद, पांच अर्थप्रकृतियाँ, पाँच अवस्थाएँ, पाँच सन्धियाँ, नाट्यभूषण, प्रयोज्य भाषाएँ एवं विविध पात्रों के नामकरण सम्बन्धी निर्देश आदि विषयों का विशद विवेचन किया है। नाट्यविषयक सामग्री के साथ काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन शिङ्गभूपाल की विशिष्टता है। रस विषय पर इतना विस्तृत एवं स्पष्ट विवेचन अन्यत्र मुखरित नहीं हुआ है। उनका कहना है कि रस नाट्यरूपी शरीर का प्राण है, उस रस प्राप्ति का साधन भाव है, रस साध्य है। भाव के बिना रस-प्राप्ति असंभव है। शिङ्गभूपाल का रसार्णवसुधाकर एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें नाट्य के व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक दोनों पक्षों का समुचित विवेचन है। अनेक नवीनताओं से ओत-प्रोत यह नाट्य-शास्त्र एवं काव्यशास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है। 'नाटक-परिभाषा' में नाटकांग

तत्त्वों का प्रतिपादन है। 'संगीतसुधाकर' शार्ङ्गदेवकृत संगीतरत्नाकर की टीका है। शार्ङ्गदेव शिङ्गभूपाल के सभारत्न थे।

३८. भानुदत्त (पञ्चदश शताब्दी)

भानुदत्त मिथिला निवासी गणेश्वर के पुत्र थे। काव्यशास्त्र पर इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—रसमञ्जरी और रसतरङ्गिणी। इन दोनों में 'रसमंजरी' अधिक प्रसिद्ध है। रसमञ्जरी के लगभग २/३ भाग में नायिका-भेद का विस्तृत वर्णन किया गया है। शेष १/३ भाग में नायक-भेद, सात्त्विकभाव एवं श्रृंगार रस के भेद वर्णित हैं। 'रसमञ्जरी' पर ग्यारह टीकाएँ उपलब्ध हैं। भानुदत्त के द्वितीय ग्रन्थ 'रसतरंगिणी' में आठ तरंग हैं जिनमें भाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव एवं रसों का विवेचन किया गया है। भानुदत्त ने अपने दोनों ग्रन्थों में रस-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। भानुदत्त का समय १४५० से १५०० ई०. के मध्य माना जाता है।

३९. रूपगोस्वामी (१५-१६ वीं शताब्दी)

रूपगोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे। ये वृन्दावन की विभूति थे। काव्यशास्त्र विषयक इनके तीन ग्रन्थ हैं—'भक्तिरसामृतसिन्धु', 'उज्ज्वलनीलमणि' एवं 'नाटकचन्द्रिका'। इनमें 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्तिरस सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। 'उज्ज्वलनीलमणि' इसका पूरक ग्रन्थ है। इसमें मधुर श्रृंगार का विस्तृत विवेचन है। रूपगोस्वामी ने भक्ति की रसरूपता का प्रशस्त वर्णन किया है। इनका तृतीय ग्रन्थ 'नाटकचन्द्रिका' है जिसमें नाट्यशास्त्र से सम्बन्धित विषय विवेचित है। नाट्य-विवेचन में उन्होंने भरत तथा रसार्णवसुधाकर (शिङ्गभूपाल) का अनुसरण किया है। रूपगोस्वामी ने १४९५ ई० में 'दानकेलिकौमुदी' तथा १५३२-३३ में 'विदग्धमाधव' नामक ग्रन्थ लिखा था। अतः इनका समय पन्द्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।

४०. कर्णपूर (षोडश शताब्दी)

कवि कर्णपूर शिवानन्द के कनिष्ठ पुत्र थे। इनका जन्म १५२४ ई० में हुआ था। ये चैतन्य के अनुयायी श्रीनाथ के शिष्य थे। इन्होंने काव्यालङ्कारशास्त्र पर 'अलङ्कार-कौस्तुभ' नामक ग्रन्थ लिखा है। इसमें दस किरण हैं जिसमें क्रमशः काव्य लक्षण, शब्दार्थ, ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य, रस-भाव तथा उनके भेद, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार, रीति तथा दोषों का विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के विषय-विवेचन में काव्यप्रकाश का अनुसरण किया गया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'आनन्द वृन्दावन-चम्पू', चैतन्यचन्द्रोदय, गौराङ्गगणोद्देशदीपिका नामक ग्रन्थ भी लिखे हैं।

४१. केशव मिश्र (षोडश शताब्दी)

केशव मिश्र ने धर्मचन्द्र के पुत्र राजा माणिक्यचन्द्र के निर्देश पर 'अलंकार-शेखर' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। माणिक्यचन्द दिल्ली के समीप राज्य करता

था। उसने काबुल के बादशाह को पराजित किया था। कनिंघम के अनुसार माणिक्यचन्द्र कांगड़ा का राजा था और १५६३ ई० में उसका राज्याभिषेक हुआ था। अतः केशव मिश्र का साहित्यरचनाकाल सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

केशव मिश्र के अलंकारशेखर में तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिकाएँ शौद्धोदनि द्वारा रचित कही जाती हैं जिस पर केशव मिश्र ने वृत्ति लिखी है। जैसाकि उन्होंने स्वयं कहा है कि कारिकाएँ शौद्धोदनि की रचना है **(अलंकारविद्यासूत्रकारो भगवान् शौद्धोदनिः परमकारुणिकः स्वशास्त्रे प्रवर्त्तयिष्यन् प्रथमं काव्यस्वरूपमाह)**। केशव ने अपने ग्रन्थ में अनेक आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है। उनका अलंकारकौस्तुभ आठ रत्नों तथा बाईस मरीचियों में विभाजित है। जिसमें काव्य की परिभाषा, तीन रीतियाँ, अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जना ये तीन शक्तियाँ, दोष, गुण, अलंकार, रस, नायक-नायिकादि भेद आदि विषयों पर विवेचन किया गया है।

४२. कविचन्द

कविचन्द कर्णपूर के पुत्र थे। इनका समय सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा सत्तरहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इन्होंने 'चमत्कारचन्द्रिका' नामक ग्रन्थ लिखा था। इसमें आठ विलास हैं। इनमें क्रमशः दोष, गुण, रीति, वृत्ति, पाक, शय्या, रस, अलङ्कार आदि विषयों का प्रतिपादन है। इन्होंने काव्य के सात चमत्कार बताये हैं। इस आधार पर काव्य के तीन विभाग किये हैं—चमत्कारी, चमत्कारितर और चमत्कारितम।

४३. अप्पयदीक्षित (षोडश शताब्दी)

अप्पयदीक्षित दक्षिण के रहने वाले शैवदर्शन के आचार्य थे। ये रंगराजाध्वरि के पुत्र थे। इनके आश्रयदाता का नाम 'वेङ्कटपति' था। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। इन्होंने लगभग १०० ग्रन्थों की रचना की थी। कहा जाता है कि विजयनगर के राजा वेङ्कट प्रथम की प्रेरणा पर अप्पयदीक्षित ने 'कुवलयानन्द' की रचना की थी। वेङ्कट प्रथम का एक शिलालेख १५८३ शाके १६०१ ई० है। अतः अप्पयदीक्षित का समय १६ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

अप्पयदीक्षित के अलंकारशास्त्र पर तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—(१) कुवलयानन्द (२) चित्रमीमांसा और (३) वृत्तवार्त्तिक। इनमें 'कुवलयानन्द' इनका सर्वोत्तम ग्रन्थ है। इसमें दीक्षितजी ने चन्द्रालोक से कारिकाएँ लेकर अलंकारों का निरूपण किया है। कविताएँ तो इन्होंने चन्द्रालोक से ली हैं किन्तु गद्यांश इनकी स्वयं की कृति है। चन्द्रालोक में १०० अलंकार वर्णित हैं। इनमें उन्होंने १५ अलंकार और जोड़ दिये हैं। कुवलयानन्द में उन्होंने अलंकारों का मार्मिक विवेचन किया है। दीक्षितजी का दूसरा ग्रन्थ 'चित्रमीमांसा' है। यह इनकी

मौलिक रचना है। इसमें अलंकारों का अपूर्ण विवेचन है। इनकी तीसरी रचना 'वृत्तवार्त्तिक' है। इसमें दो परिच्छेद हैं जिनमें अभिधा तथा लक्षणा का विवेचन किया गया है। दीक्षित दर्शनशास्त्र के उच्चकोटि के विद्वान् थे। अलंकारशास्त्र के विकास में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इनकी प्रबल आलोचना की है।

४४. पण्डितराज जगन्नाथ (षोडश शताब्दी)

अलंकारशास्त्र के इतिहास में पण्डितराज जगन्नाथ का नाम बड़े गौरव के साथ लिया जाता है। ये दक्षिण के रहने वाले तैलङ्ग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट और माता का नाम लक्ष्मीदेवी था। इन्होंने अपनी यौवनावस्था दिल्ली में वितायी थी। इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि लवङ्गी नामक एक यवनी के साथ इनका सम्बन्ध था। जगन्नाथ दिल्लीश्वर शाहजहाँ के दरबार में थे। इन्होंने शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह की प्रशंसा से 'जगदाभरण' नामक ग्रन्थ लिखा है। शाहजहाँ का राज्याभिषेक १६२८ ई० में हुआ था और १३६६ में औरङ्गजेब ने उसे बन्दी बनाया था। अतः इनका समय सत्तरहवीं शताब्दी का मध्यभाग माना जा सकता है।

पण्डितराज ने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की है—(१) रसगंगाधर (२) चित्रमीमांसाखण्डन (३) मनोरमाकुचमर्दिनी (४) पञ्चलहरी (५) जगदाभरण। (६) भामिनीविलास (७) आसफविलास (८) प्राणाभरण (९) यमुनावर्णन चम्पू। इनमें 'रसगंगाधर' और 'चित्रमीमांसाखण्डन' इनका काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थ है। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में इनके 'रसगंगाधार' का विशेष सम्मान है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है कि पण्डितराज ने इसमें स्वरचित उदाहरणों का ही प्रयोग किया है। इसके दो आनन हैं। प्रथम आनन में इन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य-लक्षणों का खण्डन कर नवीन काव्यलक्षण स्थापित किया है (रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्)। इनके अतिरिक्त काव्य के भेद, दश शब्दगुण, दश अर्थगुण, ध्वनिभेद का निरूपण तथा रस की विस्तृत व्याख्या की है। द्वितीय आनन में अभिधा और लक्षणा का विवेचन तथा तदनन्तर ७० अलंकारों का विस्तृत वर्णन है। उत्तरालंकार के विवेचन के पश्चात् यह ग्रन्थ समाप्त होता है। पण्डितराज के वैदुष्य एवं वैदग्ध्य का इसमें अपूर्व मिश्रण है। यह ग्रन्थ अपूर्ण होने पर भी विवेचना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नागेशभट्ट की 'गुरुमर्मप्रकाश' टीका रसगंगाधर की सर्वोत्तम टीका है।

पण्डितराज का दूसरा ग्रन्थ चित्रमीमांसाखण्डन' है। इसमें उन्होंने अप्पय-दीक्षित के 'चित्रमीमांसा' का खण्डन किया है। पण्डितराज ने भट्टोजिदीक्षित की 'मनोरमा' के खण्डन के लिए 'मनोरमाकुचमर्दिनी' नामक व्याकरण का ग्रंथ लिखा है। यवनसम्राट् शाहजहाँ ने इन्हें 'पण्डितराज' की उपाधि से विभूषित किया था।

५. आधुनिककाल युग

४६. आशाधरभट्ट (अष्टादश शताब्दी)

पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् आधुनिक युग आरम्भ होता है। इस युग के आचार्यों में आशाधरभट्ट का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके पिता का नाम रामजीत और गुरु का नाम धरणीधर था। काव्यशास्त्र विषयक इनकी तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं—कोविन्दानन्द, त्रिवेणिका एवं अलंकारदीपिका। इनमें 'कोविन्दानन्द' एवं 'त्रिवेणिका' नामक ग्रन्थों में शब्दशक्तियों पर विचार किया गया है। 'अलंकारदीपिका' में एकसौ पच्चीस अलंकारों का विस्तृत विवेचन है। 'चन्द्रालोक' के सौ, 'कुवलयानन्द' के एक सौ पन्द्रह तथा 'अलंकारदीपिका' के एक सौ पच्चीस अलंकारों का निरूपण अलंकार के विकास क्रम को सूचित करता है।

४७. विश्वेश्वर पण्डित (अष्टादश शताब्दी)

आधुनिक युग के काव्यशास्त्र के इतिहास में विश्वेश्वर पण्डित का स्थान महत्त्वपूर्ण है। ये अल्मोड़ा के अन्तर्गत पटिया ग्राम के निवासी पाण्डेय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था। इनका समय अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'अलंकारकौस्तुभ' है। यह पण्डितराज की शैली में लिखा गया एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें अप्पयदीक्षित और पण्डितराज के मतों का बड़ी प्रौढ़ता के साथ खण्डन किया गया है। सम्भवतः अलंकारों की बढ़ती हुई संख्या को रोकने के उद्देश्य से ही इन्होंने 'अलंकार-कौस्तुभ' का निर्माण किया है।

४८. नरसिंह कवि (अष्टादश शताब्दी)

विश्वेश्वर पण्डित के पश्चात् काव्यशास्त्र के आचार्यों में नरसिंह कवि जो 'अभिनव कालिदास' के नाम से विभूषित हैं, का नाम आता है। नरसिंह के पिता नाम शिवराम सुधिमणि तथा गुरु का नाम योगानन्द था। इनका समय अठारहवीं शताब्दी का मध्यभाग माना जाता है। नरसिंह कवि ने 'नंजराज-यशोभूषण' नामक अलंकारशास्त्र का ग्रन्थ लिखा है। इसमें सात विकास हैं जिनके अन्तर्गत नायक, काव्यस्वरूप, दोष-गुण, ध्वनि, रस, दोष, नाटक और अलंकारों का निरूपण है। इसके उदाहरण नञ्जराज के प्रशंसापरक हैं। यह 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के अनुसरण पर लिखा गया है।

४९. भूदेव शुक्ल

भूदेव शुक्ल जम्बूसर निवासी शुकदेव के पुत्र थे। इनका समय १६६० तथा १७२० ई० के मध्य माना जाता है। इनकी रचना का नाम रसविलास है। इसमें सात अध्याय हैं जिसमें रस, भाव, गुण, दोष वृत्ति (शब्दशक्ति) का विवेचन है।

५०. नागोजिभट्ट (१८वीं शताब्दी)

काव्यशास्त्र के इतिहास में महावैयाकरण नागोजिभट्ट का नाम बड़े सम्मान एवं गौरव के साथ लिया जाता है। ये महाराष्ट्र निवासी शिवभट्ट और सती के पुत्र

थे। इनको 'नागेशभट्ट' भी कहते हैं। इन्होंने 'रसगंगाधर' पर 'गुरुमर्मप्रकाश' नामक टीका लिखी है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त काव्यप्रकाश, रसमञ्जरी और कुवलयानन्द पर भी टीकाएँ लिखी हैं। इन्होंने व्याकरणशास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं।

५१. अच्युत शर्मा (१९वीं शताब्दी)

अच्युत शर्मा नासिक के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम नारायण और माता का नाम अन्नपूर्णा था। इनका समय उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। इन्होंने 'साहित्यसार' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। साहित्यसार में बारह रत्न हैं जिनमें काव्यलक्षण, शब्दशक्ति, व्यंग्य, रसध्वनि, ध्वनि के अन्य भेद, दोष, गुण, अलंकार, नायक-नायिका भेद आदि विषयों का विवेचन है।

इनके अतिरिक्त और भी बहुत से आचार्य हैं जिन्होंने काव्यशास्त्र पर ग्रन्थ लिखे हैं। इन सभी आचार्यों का आलोचनाशास्त्र के विकास में पूर्ण योगदान रहा है। आलोचनाशास्त्र के विकास के इन २००० वर्षों में अनेक वादों, विचारों एवं सम्प्रदायों का निर्माण एवं विकास हुआ है, जिससे संस्कृत आलोचना समृद्ध होती रही है। इस समृद्ध संस्कृत आलोचना को हिन्दी ने भी अपनी आलोचना का आधार बनाया है।

जब से संस्कृत आलोचना हिन्दी में पर्यवसित और विकसित हो रही है, तब से संस्कृत में आलोचना ग्रन्थों के प्रणयन का अभाव-सा हो गया है। इस समय संस्कृत आचार्यों की प्रवृत्ति संस्कृत ग्रन्थों की हिन्दी व्याख्या की ओर अधिक झुकी है। यद्यपि ये व्याख्यायें हिन्दी में हैं तथापि मूल ग्रन्थ संस्कृत में होने के कारण वे संस्कृत के ही आलोचना-ग्रन्थ माने जाते हैं।

आचार्य मम्मट और उनका काव्यप्रकाश

जीवन-वृत्त

आचार्य मम्मट के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कोई प्रबल प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, किन्तु कैयट, वज्रट, अल्लट, उव्वट, भल्लट आदि नामों के सादृश्य के आधार पर इन्हें कश्मीर का निवासी माना जाता है। इन्हें 'राजानक' की उपाधि मिली थी, जो प्रायः काश्मीरी विद्वानों को मिलती रही है। मम्मट ने पञ्चम उल्लास में 'चिकु' शब्द का प्रयोग किया है। 'चिकु' पद के व्याख्यान के अवसर पर विश्वनाथ ने कहा है कि 'चिकु' शब्द काश्मीरी भाषा में अश्लील अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः ये कश्मीर के निवासी थे। भीमसेन के काव्यप्रकाश की सुधासागर टीका में लिखा है कि मम्मट कश्मीर निवासी जैयट के पुत्र थे। इन्होंने वाराणसी में आकर शास्त्र का अध्ययन किया था। ये पतञ्जलि प्रणीत महाभाष्य के टीकाकार कैयट तथा वेद-चतुष्टय के भाष्यकार उव्वट के ज्येष्ट भ्राता थे।[1] किन्तु भीमसेन का यह कथन विशेष महत्त्व नहीं रखता; क्योंकि उव्वट ने वाजसनेयिसंहिता के भाष्य में अपने को वज्रट का पुत्र तथा भोजराज के समकालिक बताया है—

---

१. शब्दब्रह्म सनातनं न विदितं शास्त्रैः क्वचित् केनचित्
तद्देवी हि सरस्वती स्वयमभूत्काश्मीरदेशे पुमान्।
श्रीमज्जैयटगेहिनीसुजठराज्जन्माप्य युग्मानुजः
श्रीमन्मम्मटसंज्ञयाश्रिततनुं सारस्वतीं सूचयन्॥
मर्यादां किल पालयन् शिवपुरीं गत्वा प्रपठ्यादरात्
शास्त्रं सर्वजनोपकाररसिकः साहित्यसूत्रं व्यधात्।
तद्वृत्तिं च विरच्य गूढमकरोत् काव्यप्रकाशं स्फुटं
वैदग्ध्यैकनिदानमर्थिषु चतुर्वर्गप्रदं सेवनात्॥
कस्तस्य स्तुतिमाचरेत् कविरसो को वा गुणान् वेदितुं
शक्तः स्यात् किल मम्मटस्य भुवने वाग्देवतारूपिणः।
श्रीमान् कैयट औव्वटो ह्यवरजो यच्छात्रतामागतो
भाष्याब्धिं निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धिं गतः॥
(भीमसेनकृत सुधासागर टीका)

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सुनुना ।
महाभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं शासति ।।

इस कथन से प्रतीत होता है कि वह उव्वट वज्रट का पुत्र और आनन्दपुर का निवासी था तथा उसने भोज के राज्यकाल में वाजसनेयिसंहिता पर भाष्य लिखा था किन्तु भीमसेन का यह कथन संदिग्ध प्रतीत होता है। यदि भीमसेन के कथनानुसार उव्वट, मम्मट का भाई होता तो कैयट का भाई नहीं हो सकता, क्योंकि कैयट, जैयट का पुत्र था (**कैयटो जैयटात्मजः**)। कुछ विद्वानों की धारणा है कि उव्वट, कैयट गोत्र में उत्पन्न था और वज्रट का दत्तक पुत्र था। इस आधार पर जैयट का पुत्र होने पर भी उव्वट को वज्रट का पुत्र कहा जाता है, किन्तु उन्हें भोजराज के समकालिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि मम्मट ने स्वयं काव्यप्रकाश के दशम उल्लास में उदात्त अलंकार के उदाहरण के रूप में उद्धृत पद्य में (**भोजनृपतेस्तल्लीलायितम्**) भोज की प्रशंसा की है। इस आधार पर उन्हें भोजराज का परवर्ती माना जा सकता है किन्तु उव्वट को मम्मट का अनुज कहना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

वेबर[१] तथा बूल्हर[२] के अनुसार काश्मीरी पण्डितों की परम्परा में मम्मट को नैषधचरित के लेखक श्रीहर्ष का मामा माना जाता है किन्तु यह एक किंवदन्ती प्रतीत होती है, क्योंकि श्रीहर्ष स्वयं काश्मीरी नहीं थे। ऑफ्रेक्ट[३] के अनुसार मम्मट का वास्तविक नाम महिमभट्ट था और मम्मट महिमभट्ट का विकृत रूप है किन्तु इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

मम्मट का समय

मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में अभिनवगुप्त का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त १०१५ ई० में जीवित थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने पद्मगुप्तप्रणीत नवसाहसाङ्कचरित से एक श्लोक (पुराणि यस्यां—दशम उल्लास ५४९) काव्यप्रकाश में उद्धृत किया है। नवसाहसाङ्कचरित का रचनाकाल १००५ ई० के आस-पास माना जाता है। अतः मम्मट का समय इसके बाद होना चाहिए। इनके अतिरिक्त मम्मट ने काव्यप्रकाश के दशम उल्लास में उदात्त अलंकार के उदाहरण के रूप में एक पद्य (भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम्) उद्धृत किया है जिसमें भोज के दान की प्रशंसा की गई है। इससे ज्ञात होता है कि वे भोजदेव के बाद अथवा समकालिक रहे होंगे। भोजराज का समय ग्यारहवीं शती का पूर्वार्द्ध (१०१०-१०५५) माना जाता है अतः मम्मट को भोजदेव के पूर्ववर्ती नहीं माना जा सकता। सम्भवतः ये भोजदेव के समकालिक अथवा कुछ बाद में रहे होंगे।

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास (वेबर) पृ० २३२ (फुटनोट)
२. कश्मीर रिपोर्ट (बूलर) पृ० ६८
३. AUFRECHT—I-४३२

माणिक्यचन्द्र ने ११५६-६० ई० में काव्यप्रकाश पर 'संकेत' नाम की टीका लिखी है जिसकी प्राण्डुलिपि पर विक्रमी सम्वत् १२१६ (११५९ ई०) अङ्कित है।[१] राजानक आनन्द ने ११६५ ई० में काव्यप्रकाश पर निदर्शना नामक टीका लिखी है जिसमें **'कृत: श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः। प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायाल्लटसूरिणा'** यह पद्य उल्लिखित है। इस पद्य के अनुसार मम्मट ने परिकर अलंकार-पर्यन्त काव्यप्रकाश का प्रणयन किया है। इसके अतिरिक्त काव्यप्रकाश पर एक संकेत टीका रुय्यक की है। रुय्यक ने अपने ग्रन्थ अलंकार-सर्वस्व में काव्यप्रकाश की अनेक कारिकाएँ उद्धृत की हैं। जयरथ का कथन है कि रुय्यक ने काव्यप्रकाश पर 'काव्य-प्रकाश-संकेत' नामक टीका लिखी है और कई स्थलों पर मम्मट के मत की समालोचना की है। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में मम्मट का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र का समय लगभग ११४३ ई० माना जाता है अतः मम्मट का समय इसके पूर्व होना चाहिए।

जैसलमेर में काव्यप्रकाश की एक पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है। उक्त पाण्डु-लिपि सम्वत् १२१५ आश्विन सुदी १४ बुधवार अर्थात् ८ अक्टूबर ११५८ ई० में अनहिलपातक स्थान पर कुमारपाल के राज्यकाल में तैयार की गई थी। उस पाण्डु-लिपि के अन्त में **'कृती राजानकमम्मटालकयो:। .... अणहिल्लपाटके....... शाकम्भरिभूपालश्रीकुमारपालदेव-कल्याणविजय'**... लिखा है।[२] कुमारपाल ने ११४२-११४३ ई० तक राज्य किया था। इस आधार पर मम्मट का समय बारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर मम्मट का समय काणे महोदय १०५० ई० से ११०० ई० के मध्य मानते हैं,[३] किन्तु एस० के० डे महोदय ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा १२वीं शताब्दी का प्रथम चरण के मध्य मानते हैं।[४] किन्तु उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर इतना तो निश्चित है कि मम्मट ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अवश्य विद्यमान थे, अत: मम्मट का समय ११वीं शती का उत्तरार्द्ध मानना अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है।

मम्मट की रचनाएँ

मम्मट की प्रमुख कृति 'काव्यप्रकाश' है जिसके कारण मम्मट को पर्याप्त ख्याति मिली है। काव्यप्रकाश में कुल दस उल्लास हैं जिसमें नाट्य को छोड़कर

---

१. रसवक्त्रग्रहाधीशवत्सरे मासि माधवे।
   काव्ये काव्यप्रकाशस्य संकेतोऽयं समर्थितः॥
   (काव्यप्रकाशसंकेतटीका—माणिक्यचन्द्र)

२. जर्नल आफ़ ओरियन्टल रिसर्च—पी० के० गोड़े XIII-४६-५३

३. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० ३४२.

४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (एस० के० डे) पृ० १३६

काव्यशास्त्र के सभी विषयों का विवेचन है। इसमें १४३ कारिकाएँ २१२ सूत्र और ६०५ उदाहरण हैं। इसमें उदाहरण अन्यत्र से संकलित किये गये हैं। काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में काव्य-प्रयोजन, काव्यहेतु काव्यलक्षण तथा काव्य के त्रिविध प्रकारों का विवेचन है। द्वितीय उल्लास में तीन प्रकार के शब्दों, त्रिविध अर्थों और शब्द-शक्तियों का निरूपण है। तृतीय उल्लास में शाब्दी-व्यञ्जना का निरूपण है। चतुर्थ उल्लास में ध्वनि के भेद, रस एवं भावों का विस्तृत विवेचन है। पञ्चम उल्लास में गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद तथा व्यञ्जना की सिद्धि का प्रतिपादन है, षष्ठ उल्लास में चित्रकाव्य और सप्तम उल्लास में पद, वाक्य, अर्थ तथा रस दोषों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। अष्टम उल्लास में गुण एवं अलङ्कार के भेद, माधुर्य, ओज, प्रसाद त्रिविध गुणों की स्थापना और गुण-व्यञ्जक वर्ण-विन्यास का निरूपण है। नवम उल्लास में शब्दालङ्कारों और दशम उल्लास में ६१ अर्थालङ्कारों का विवेचन है।

इसके अतिरिक्त मम्मट की एक अन्य कृति 'शब्दव्यापारपरिचय' है किन्तु यह काव्यप्रकाश की अपेक्षा कम प्रचलित है। इस कृति में शब्दवृत्तियों पर विचार किया गया है।

काव्यप्रकाश का रचयिता

काव्यप्रकाश सूत्र-शैली में लिखा गया काव्यालङ्कारशास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है। काव्यप्रकाश के कर्तृत्व के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। कुछ टीकाकारों का कहना है कि इस ग्रन्थ के निर्माण में अल्लट या अलक का भी सहयोग रहा है। काव्यप्रकाश के अन्त में यह निर्दिष्ट किया गया है कि 'विद्वानों का यह मार्ग भिन्न होते हुए भी अभिन्न प्रतीत होता है, किन्तु यह कोई विचित्र बात नहीं है, क्योंकि सम्यक् प्रकार से विनिर्मित संघटना ही यहाँ हेतु हैं—

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः॥[1]

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए प्राचीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र कहते हैं कि 'यह ग्रन्थ किसी अन्य के द्वारा प्रारम्भ किया गया और किसी अन्य के द्वारा समाप्त किया गया, इस प्रकार यह दो व्यक्तियों द्वारा रचित होने पर भी अखण्ड-सा प्रतीत होता है—

'स चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समर्थित इति द्विखण्डोऽपि संघटनावशाद-खण्डायते[2]

इसके अतिरिक्त रुय्यक ने भी अपनी 'संकेत' टीका में यही अभिप्राय व्यक्त किया है—

---

१. काव्यप्रकाश—दशम उल्लास पृष्ठान्त
२. काव्यप्रकाशसङ्केत—माणिक्यचन्द्र

'एष ग्रन्थो ग्रन्थकृताऽनेन कथमप्यसमाप्तत्वादपरेण च पूरिताशेषत्वात् द्विखण्डोऽप्यखण्डतया यदवभासते, तत्र संघटनैव हेतुः।'[1]

इसी प्रकार सोमेश्वर, जयन्तभट्ट, नरहरि, कमलाकर, आनन्द, सरस्वतीतीर्थ आदि टीकाकारों ने भी रुय्यक के उपर्युक्त मत का अनुसरण किया है। अब प्रश्न यह उठता है कि मम्मट ने ग्रन्थ का कितना अंश लिखा है और किसने काव्यप्रकाश के अवशिष्ट भाग को पूरा किया है। इसका संकेत काव्यप्रकाश की निदर्शना टीका में राजानक आनन्द ने बताया है कि काव्यप्रकाश में परिकर अलङ्कार पर्यन्त मम्मट ने लिखा है और उसके बाद शेष अंश को अल्लट (या अलक) ने पूरा किया था :—

कृतः श्रीमम्मटाचार्यवरैः परिकरावधिः।
प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायाल्लटसूरिणा ॥[2]

इस प्रकार उपर्युक्त कथन से यह प्रतीत होता है कि मम्मट ने परिकर अलंकार पर्यन्त ही काव्यप्रकाश लिखा है और शेष भाग को अल्लटसूरि ने पूरा किया है। यह एक पक्ष है। दूसरे मत के अनुसार सम्पूर्ण काव्यप्रकाश मम्मट और अल्लट की सम्मिलित रचना है जैसा कि आनन्द ने ही काव्यप्रकाशनिदर्शना टीका में कहा है—

अन्येनाऽप्युक्तम्—

काव्यप्रकाशदशकोऽपि निबन्धकृद्भ्यां
द्वाभ्यां कृतोऽपि कृतिनां रसतत्त्वलाभः।
लोकेऽस्ति विश्रुतमिदं नितरां रसालं।
बन्धप्रकाररचितस्य तरोः फलं यत् ॥[3]

काव्यप्रकाश की शारदालिपि में लिखित एक पाण्डुलिपि में उपसंहारात्मक वाक्य इस प्रकार लिखा गया है—

'इति काव्यप्रकाशाभिधानं काव्यलक्षणं समाप्तं, कृति, श्रीराजानकमम्मटालकयोः'।[4]

काव्यप्रकाश की 'संकेत' नामक टीका के प्रथम उल्लास के अन्त में उपसंहारात्मक वाक्य इस प्रकार दिया गया है—

'इति श्रीमद्राजानकाल्लटमम्मटरुचकविरचिते निजग्रन्थकाव्यप्रकाशसंकेते प्रथम उल्लासः।'

इसी प्रकार दशम उल्लास के अन्त में 'राजानकमम्मटालकरुचकानाम्' लिखा हुआ है।[5] पीटर्सन और स्टीन इस आधार पर काव्यप्रकाश को मम्मट, अलक और

---

१. पीटर्सन—द्वितीय रिपोर्ट पृ० १३, काव्यप्रकाश संकेत—रुय्यक।
२. काव्यप्रकाशनिदर्शना (आनन्द)
३. वही
४. भण्डारकर रिपोर्ट १९०५-६, पृ० ७९।
५. पीटर्सन की द्वितीय रिपोर्ट पृ० १४।

रुचक (रुय्यक) की संयुक्त रचना मानते हैं, किन्तु ऐसा मान लेना सर्वथा निराधार है; क्योंकि रुय्यक (रुचक) ने यहाँ मूलग्रन्थ के लेखकों के साथ अपनी काव्यप्रकाशसंकेत-टीका को भी सम्मिलित करके उपसंहारात्मक वाक्य दिये हैं। यहाँ पर जो उप-संहारात्मक वाक्य हैं, वे काव्यप्रकाश के नहीं काव्यप्रकाशसंकेत टीका के हैं। अतः वहाँ मूलग्रन्थ के लेखक मम्मट और अलक के साथ संकेत टीका के लेखक के रूप में अपने नाम का भी उल्लेख कर दिया है। इस प्रकार काव्यप्रकाश के युग्म-लेखकत्व की बात ही माननीय है।

इस हस्तलिखित लेख से इस बात की पुष्टि होती है कि काव्यप्रकाश मम्मट और अल्लट सूरि दोनों की सम्मिलित रचना है। अमरुशतक के टीकाकार अर्जुनवर्म-देव ने भी यही मत प्रकट किया है कि काव्यप्रकाश की रचना में मम्मट और अल्लट दोनों का सहयोग रहा है। अर्जुनवर्मदेव ने अमरुशतक की अपनी टीका में 'भवतु विदितं' इत्यादि श्लोक की व्याख्या में लिखा है—'**य थोदाहृतं दोषनिर्णये मम्मटा-लकाभ्यां-प्रसादे वर्त्तस्व**' इत्यादि। इसी प्रकार अर्जुनवर्मदेव ने एक और जगह 'लीलातामरसाहतो०' इत्यादि श्लोक की व्याख्या में लिखा है—'**अत्र केनचिद्वायुपदेन जुगुप्साश्लीलमिति दोषमाचक्षते।**' अर्थात् अमरुशतक से उद्धृत 'लीलातामरसाहत' इत्यादि श्लोक में 'वायु' पद आया है। काव्यप्रकाशकार ने उसे अश्लीलता उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। इस पर तीखी आलोचना करते हुए अर्जुनवर्मदेव कहते हैं—

'तदा वाग्देवतादेश इति व्यवसितव्य एवासौ,' किन्तु ह्लादैकमयीवरलब्ध-प्रसादौ काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण दोषदृष्टी। येनैवंविधेष्वपि परमार्थसहृदयानन्दपदेषु सरसकविसन्दर्भेषु दोषमेव साक्षात्कुरुताम्॥

यहाँ पर 'काव्यप्रकाशकारौ' द्विवचन का प्रयोग हुआ है और उपर्युक्त 'भवतु विदितं' इत्यादि की व्याख्या में 'मम्मटालकाभ्याम्' प्रयुक्त है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि काव्यप्रकाश मम्मट और अलक (अल्लट) दोनों की सम्मिलित रचना है।

डा० एच० आर० दिवेकर कतिपय प्रमाणों के आधार पर यह कहते हैं कि मम्मट ने परिकर अलंकार तक केवल कारिकाओं की ही रचना की थी और शेष भाग अर्थात् शेष कारिकाएँ और सम्पूर्ण वृत्ति की रचना अलक ने की है[1] किन्तु डा० दिवेकर द्वारा दिये गये तर्क काल्पनिक एवं अविश्वसनीय हैं।

---

१. जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी १९२७, पृ० ५०५-५२.

इस प्रकार काव्यप्रकाश के कर्तृत्व के रूप में मम्मट के साथ अल्लट या अलक दोनों ही नाम मिलते हैं, किन्तु स्टीन के अनुसार काश्मीरी परम्परा में 'अल्लट' नाम अधिक प्रचलित है। स्टीन का कहना है कि अल्ल (अल्लट) नाम राजानक रत्न कण्ठ द्वारा १६४८ ई० में रचित काव्यप्रकाशसंकेत की भोजपत्र पाण्डुलिपि में भी मिलता है।[1] कैर्नल जैकब भी अल्लट नाम को ही शुद्ध मानते हैं।[2] किन्तु म० म० काणे ने प्राचीन अनेक हस्तलिखित प्रतियों में उपलब्ध अलक नाम को ही अधिक उपयुक्त समझा है। उनके अनुसार अलक नाम भी अल्लट या अलट के समान काश्मीरी नाम है।[3] पीटर्सन ने भी अलक और अल्लट इन दोनों लेखकों को अभिन्न मानने का सुझाव दिया है।[4] इस प्रकार अलक और अल्लट दोनों एक ही नाम प्रतीत होते हैं और काव्यप्रकाश मम्मट तथा अलक (अल्लट) की संयुक्त रचना प्रतीत होती है। किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि कितने अंश की रचना मम्मट ने की है और कितने अंश की अल्लट या अलक ने। परम्परा के अनुसार काव्यप्रकाश के कर्तृत्व के रूप में मम्मट का नाम ही प्रचलित है।

काव्यप्रकाश निदर्शना टीका के आधार पर पीटर्सन ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है कि मम्मट ने सम्पूर्ण ग्रन्थ स्वयं लिखा है, ग्रन्थ के अन्तिम उल्लास का एक अंश छूट गया था, जिसे एक अन्य लेखक ने पूरा किया। आनन्द के अनुसार उसका नाम अलक अथवा अल्लट था। यह अल्लट (अलक) राजानक जयानक का पुत्र था। पीटर्सन के अनुसार रत्नाकर के हरविजय पर 'विषमपदोद्योत' टीका का रचयिता यही अल्लट था।[5]

कारिका और वृत्ति का लेखक

काव्यप्रकाश में तीन अंश हैं— कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिकाओं को सूत्र कहा जाता है और इन सूत्रों के व्याख्यानभूत अंश को वृत्ति कहते हैं, क्योंकि सूत्रों की व्याख्या का ही प्रायः वृत्ति नाम से व्यवहार किया जाता है। इनमें उदाहरण तो अन्य ग्रन्थों से लिये गये हैं। किन्तु कारिका और वृत्ति भाग के रचयिता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। बंगीय परम्परा के अनुसार कारिकाएँ तो भरतमुनि प्रणीत हैं और वृत्ति भाग के रचयिता मम्मट हैं तथा वही मम्मट प्रणीत वृत्ति काव्यप्रकाश नाम से व्यवहृत होती है। साहित्यकौमुदी के रचयिता विद्याभूषण ने इस मत का समर्थन करते हुए लिखा है—

---

१. जम्मू हस्तलिखित ग्रन्थमाला पृ० २३-६

२. जर्नल आफ़ द रायल एशियाटिक सोसाइटी १८९७, पृ० २८२

३. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (काणे) पृ० ३४०

४. पीटर्सन II, पृ० १७

५. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, एस० के० दे, पृ० १३७

सूत्राणां भरतमुनीशवर्णितानां वृत्तीनां मितवपुषां कृतौ ममास्याम् ।

विद्याभूषण ने साहित्यकौमुदी के अन्त में लिखा है—

मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्यकौमुदीम् ।
वृत्तिं भरतसूत्राणां श्रीविद्याभूषणो व्यधात् ॥

विद्याभूषण के उपर्युक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि कारिकाएँ भरतमुनि द्वारा प्रणीत हैं और वृत्ति भाग मम्मट की रचना है।[1] इसी प्रकार महेश्वर ने भी काव्यप्रकाश की कारिकाओं का रचयिता भरतमुनि को माना है।[2] एक बंगाली टीकाकार जयराम पञ्चानन ने भी इसी बात का समर्थन किया है।[3] यह मत निम्नलिखित तथ्यों पर आधारित है—

(१) उनका प्रथम मत है कि काव्यप्रकाश की कुछ कारिकायें भरत के नाट्यशास्त्र के समान हैं। जैसे—

(२) 'शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥
(नाट्यशास्त्र ६।१६)

(३) शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानका ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥
(काव्यप्रकाश ४।२९)

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्साविस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥'
(नाट्यशास्त्र ५।१८)

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥
(काव्यप्रकाश ४।३०)

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमा ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जड़ता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥
सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥

---

१. पीटर्सन II, पृ० १०
२. महेश्वर की काव्यप्रकाशादर्शटीका (जीवानन्द संस्करण पृ० ३)
३. पीटर्सन II, पृ० २१, २२, १०७

त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥

नाट्यशास्त्र ६।१९-२२
काव्यप्रकाश ४।३१-३४

इस प्रकार उपर्युक्त कारिकाएँ नाट्यशास्त्र और काव्यप्रकाश दोनों में समान रूप से पायी जाती हैं।

(२) दूसरा तर्क है कि प्रथम कारिका की वृत्ति आरम्भ करते समय ग्रन्थकार ने '**ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति**' में अन्य पुरुष का प्रयोग किया है। इससे यह सिद्ध होता हैं कि वृत्तिकार कारिकाकार से भिन्न व्यक्ति है। यदि वृत्तिकार ही कारिकाकार होते तो अन्य पुरुष का प्रयोग न करके उत्तम पुरुष का प्रयोग करते। किन्तु ग्रन्थकार ने यहाँ अन्य पुरुष का प्रयोग किया है, इससे प्रतीत होता है कि कारिकाभाग की रचना भरतमुनि ने की है और वृत्तिभाग की मम्मट।

(३) तीसरा तर्क यह है कि काव्य प्रकाश के दशम उल्लास में रूपक अलङ्कार के निरूपण के प्रसङ्ग में '**समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा**' इस कारिका में 'आरोपिताः' बहुवचन का प्रयोग हुआ है और वृत्ति में '**आरोपिताः इति बहुवचनमविवक्षितम्**' अर्थात् यहाँ बहुवचन का प्रयोग अविवक्षित है, द्विवचन का प्रयोग भी हो सकता था। यदि वृत्तिकार और कारिकाकार एक ही व्यक्ति होते तो 'आरोपिताः' बहुवचन का प्रयोग करके उसकी वृत्ति में '**बहुवचनमविवक्षितम्**' ऐसा क्यों कहते? उसके स्थान पर '**श्रौतावारोपितौ यदा**' इस प्रकार प्रयोग करते।

किन्तु विचार करने पर उपर्युक्त मत निःसार प्रतीत होता है, क्योंकि यदि कारिकाएँ भरतमुनि द्वारा प्रणीत होतीं तो चतुर्थ उल्लास में रस निरूपण के अवसर पर 'उक्तं हि भरतेन' ऐसा क्यों कहते? क्योंकि कौन ऐसा उन्मत्त (पागल) होगा जो अपनी ही उक्ति के प्रमाण के रूप में अपने ही वचन को उद्धृत करेगा? और भी मम्मट ने यदि नाट्यशास्त्र से केवल छः कारिकाएँ ले ली हों तो उस आधार पर भरत को काव्यप्रकाश की कारिकाओं का रचयिता मान लेना तर्कसंगत नहीं है। क्योंकि मम्मट के काव्यप्रकाश की बहुत सी कारिकाएँ वामन, आनन्दवर्धन से मिलती हैं और अनेक उद्धरण भामह, उद्भट, रुद्रट आदि से उद्धृत हैं। इस आधार पर उन्हें काव्यप्रकाश का रचयिता नहीं माना जा सकता।

दूसरे '**ग्रन्थकृत् परामृशति**' में अन्य पुरुष के प्रयोग के आधार पर वृत्तिकार की कारिकाकार से पार्थक्य की कल्पना बिल्कुल निराधार है, मम्मट ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में अन्य पुरुष का प्रयोग अपनी निरभिमानता प्रकट करने के लिए किया है। प्राचीन ग्रन्थकारों की यह परम्परा रही है कि वे स्वयं के लिए अन्य पुरुष का प्रयोग करना अधिक पसन्द करते थे। जैसाकि साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने 'साम्मुख्य-

माधत्ते' अन्य पुरुष का प्रयोग किया है। 'मिथिलाख्यः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाऽब्रवीन्मुनीन्'[1] में याज्ञवल्क्य ने तथा 'नागेशः कुरुते सुधीः' में नागेश ने स्वयं के लिए अन्यपुरुष का प्रयोग किया है। मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि तथा कुलूकभट्ट का कथन है कि आचार्य अथवा ग्रन्थकार प्रायः अपने मत को परोपदेश के समान वर्णन करते थे—

'तदा च आद्यं प्रायेण ग्रन्थकाराः स्वमतं परोपदेशेन ब्रुवते।' (मेधातिथि)।[2]

'प्रायेणाचार्याणामियं शैली यत्स्वाभिप्रायमपि परोपदेशमिव वर्णयन्ति' (कुलूकभट्ट)।[3]

सम्भवतः वे अपनी निरभिमानता प्रकट करने के लिए ऐसा करते रहे हों। और इसी दृष्टि से मम्मट ने भी अपनी निरभिमानता प्रकट करने के लिए अन्य पुरुष का प्रयोग किया हो। इसके अतिरिक्त वैद्यनाथ ने काव्यप्रकाश की टीका में लिखा है कि 'ग्रन्थकृत्' इस शब्द से कारिकाकार मम्मट का निर्देश है। भरत के नाट्यशास्त्र में कुछ कारिकाओं के देखने से भरत को कारिकाकार मान लेना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि चतुर्थ उल्लास में 'कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च' (IV-४) इत्यादि कारिका की वृत्ति में 'उक्तं हि भरतेन' इस प्रकार भरत के मत का प्रदर्शन असंगत हो जायगा—

'ग्रन्थकृदिति मम्मटाख्यस्य कारिकाकर्त्तुर्निर्देशः भरतसंहितायां कासांचित् कारिकाणां दर्शनात् स एव ग्रन्थकृदिति न युक्तम्, चतुर्थे कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि (IV-४) इत्यादि कारिकार्धे 'यदुक्तं भरतेन' इति भरतसम्मतिप्रदर्शनस्यासंगतित्वापत्तेः।'[4]

इस प्रकार यदि कारिकाएँ भरतमुनि प्रणीत होतीं तो वृत्ति में कई स्थलों पर 'तदुक्तं भरतेन', 'उक्तं हि भरतेन' इस प्रकार के प्रयोग क्यों किये जाते? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कारिकाएँ भरतमुनि प्रणीत नहीं हैं। इस प्रकार वृत्तिकार मम्मट ने ही कारिकाओं की भी रचना की है। (वृत्तिकृन्मम्मट एव कारिकामपि प्रणिनाय)।

जैसाकि निम्नलिखित उद्धरणों से प्रतीत होता है कि वृत्तिकार और कारिकाकार एक व्यक्ति हैं और वह मम्मट हैं। मम्मट ने ही कारिका और वृत्ति दोनों की रचना की है।

'येनैव वृत्तिरकारि तेनैव कारिकेत्यायाति, वृत्तिकृत्तु मम्मट एवेति' (विवरणकाराः)।

---

१. याज्ञवल्क्यस्मृति १/२
२. मनुस्मृति टीका (मेधातिथि) १/४
३. वही (कुलूकभट्ट) १/४
४. वैद्यनाथ की काव्यप्रकाश की टीका १/१

तच्च तददोषौ शब्दार्थौ ......इति प्रकाशकारेणोक्तम् इति रसप्रदीपः।

अथ मम्मटाचार्यः स्वकृतकाव्यरूपसूत्रारम्भरचितं स्वस्वरूपसूचकं मङ्गलं स्वीयमनुस्मरन्नाह— ग्रन्थारम्भे इति। अत्र सूत्रकारो वृत्तिकारश्चैक एवेति तत्त्वम्। (इति सुधासागरे)।

रूपक के प्रसङ्ग में **'समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा'** में बहुवचन का प्रयोग सामान्य रूप से किया गया है कि समस्तवस्तुविषय रूपक में सामान्यतः आरोप्यमाण विषय बहुत से होंगे, अतः 'आरोपिताः' यह बहुवचन का प्रयोग हुआ है। आरोप्यमाण विषय के दो होने पर भी समस्तवस्तुविषय रूपक होता है, यह वृत्तिकार का अभिप्राय है। अतः सूत्रकार ने स्वरचित वृत्ति में स्वतन्त्र रूप से उल्लेख किया है कि दो उपमानों वाले उदाहरण भी हो सकते हैं। इस प्रकार कारिका और वृत्ति भाग दोनों के रचयिता मम्मट हैं।

इनके अतिरिक्त मम्मट ने काव्यप्रकाश में कहीं भी यह नहीं कहा है कि वे अन्य के द्वारा लिखित ग्रन्थ पर वृत्ति लिख रहे हैं और वृत्ति में मंगलाचरण का उल्लेख नहीं है। यदि मम्मट केवल वृत्तिकार होते तो मंगलाचरण अवश्य करते। तीसरे काव्यप्रकाश में **'साङ्गमेतन्निरङ्गं तु शुद्धं माला तु पूर्ववत्'** इस कारिका में मालारूपक को पूर्वोक्त 'मालोपमा' के समान बताया गया है, किन्तु मालोपमा का वर्णन पूर्व कारिका में न करके केवल वृत्ति में ही उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कारिका और वृत्ति का लेखक एक ही व्यक्ति है। वैद्यनाथ ने काव्यप्रकाश की टीका में इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि—

'एतदेव हि सूत्रं सूत्रवृत्तिकृतोरेकत्वे ज्ञापकं, मालोपमायाः सूत्रावनुक्ताया वृत्तावेव कथनात्'।[1]

माणिक्यचन्द, सरस्वतीतीर्थ, जयन्तभट्ट, सोमेश्वर, भीमसेन, कमलाकरभट्ट, गोपालभट्ट, जयराम न्यायपञ्चानन, विश्वनाथ आदि टीकाकारों ने वृत्तिकार और कारिकाकार में भेद नहीं माना है, बल्कि कारिकाकार और वृत्तिकार को एक ही व्यक्ति माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यं यशसे' इस कारिका को तथा उसकी वृत्ति को दोनों को एक ही व्यक्ति की रचना मानकर ही यह उल्लेख किया है—

'एवमानन्दयशश्चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तीनां काव्यप्रयोजनतामसाधारणीं प्रतिपाद्य यत्किंचित् श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनं......अनर्थनिवारणं प्रयोजनत्रयमुपन्यस्तम्।'[2]

इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थल पर हेमचन्द्र ने लिखा है—

'यथाह मम्मटः— अगूढमपरस्याङ्गमित्यादि'[3]

इसमें हेमचन्द्र ने स्पष्ट रूप से कारिकाओं का रचयिता मम्मट को माना है।

---

१. वैद्यनाथ की टीका (काव्यमाला संस्करण १९१२, पृ० ३२९)

२. काव्यानुशासन की टीका पृ० ४

३. काव्यानुशासन पृ० १०९

'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के रचयिता विद्यानाथ ने रसगंगाधर के लेखक पण्डित-राज जगन्नाथ, चित्रमीमांसा के लेखक अप्पयदीक्षित आदि ने कारिकाओं और वृत्ति का लेखक मम्मट को माना है। जयरथ ने कारिकाकार और वृत्तिकार के लिए 'काव्यप्रकाशकृत्' इस एक ही संज्ञा का उल्लेख किया है। जयराम न्यायपञ्चानन ने कारिकाकार और वृत्तिकार को पृथक्-पृथक् मानने वाले विद्वानों के मतों का खण्डन कर कारिका और वृत्ति का रचयिता एक ही व्यक्ति को माना है।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि कारिका और वृत्ति दोनों के लेखक मम्मट ही थे। प्राचीनकाल में यह परम्परा रही है कि जो विद्वान् कारिका लिखते रहे हैं, वे ही वृत्ति (भाष्य) भी लिखते रहे हैं। जैसे, वामन, आनन्दवर्धन, हेमचन्द, कुन्तक, महिमभट्ट आदि विद्वानों ने सूत्र (कारिका) तथा वृत्ति (भाष्य) दोनों की रचना की है। जैसा कि कौटिल्य के कथन से ज्ञात होता है कि उन्होंने सूत्र और भाष्य दोनों की रचना की है—

स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च।

डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने 'अभिनवगुप्त' नामक ग्रन्थ में कहा है कि काश्मीरी परम्परा में एक ही व्यक्ति कारिका (सूत्र) तथा वृत्ति दोनों की ही रचना करता रहा है। इस प्रकार पूर्व परम्परा के अनुसार मम्मट भी कारिका और वृत्ति दोनों के रचयिता कहे जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि कारिका और वृत्ति दोनों के रचयिता मम्मट ही हैं।

काव्यप्रकाश के टीकाकार—

काव्यप्रकाश काव्यालंकारशास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है; किन्तु काव्यप्रकाश में कुछ अंश ऐसे हैं कि जिनका अभिप्राय अत्यन्त दुरूह एवं प्रौढ़ है, जिसे विद्वान् भी तत्त्वतः समझने में असमर्थ थे। यही कारण है कि इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं हैं। जैसाकि महेश्वर ने भावार्थ-चिन्तामणि में कहा है कि यद्यपि काव्यप्रकाश की टीकाएँ घर-घर में विद्यमान हैं, फिर भी यह दुरूह बना हुआ है—

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे-गृहे टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः।
सुखेन विज्ञातुमिमं य ईहते धीरः स एतां निपुणं विलोकताम्।

कमलाकरभट्ट ने काव्यप्रकाश की टीका में लिखा है—

काव्यप्रकाशे टिप्पण्यः सहस्रं सन्ति यद्यपि।
ताभ्यस्त्वया विशेषो यः पण्डितैः सोऽवधार्यताम्।

नरसिंह ठाकुर का कथन है—

नानाविधं बहुविधैर्विबुधैर्निबद्धं व्याख्यानमत्र न तथा मुदमातनोति।

जैसा कि बताया जा चुका है कि काव्यप्रकाश पर अनेक टीकाएँ लिखी जा

---

१. पीटर्सन द्वितीय रिपोर्ट पृ० १०७

चुकी हैं, फिर भी यह दुरूह ही बना हुआ है। इस ग्रन्थ पर लगभग ७५ टीकाएँ संस्कृत में लिखी गई हैं और अंग्रेजी तथा हिन्दी में कई टीकाएँ लिखी गई हैं। सम्भवतः श्रीमद्भगवद्गीता को छोड़कर अन्य किसी ग्रन्थ पर इतनी अधिक टीकाएँ नहीं लिखी गयी हैं। इस प्रकार काव्यालंकारशास्त्र के इतिहास में यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय है। इस ग्रन्थ पर टीका लिखने में लोग विद्वत्ता का मापदण्ड समझते थे। काव्यप्रकाश की यद्यपि अनेक टीकाएँ हैं किन्तु उनमें कुछ ही टीकाएँ मुद्रित हैं। यहाँ हम कुछ प्रमुख टीकाकारों का ही संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं।

१—काव्यप्रकाश की सबसे प्राचीन टीका रुय्यक की 'काव्यप्रकाशसंकेत' है। इसका सम्पादन श्री एस० पी० भट्टाचार्य ने अंग्रेजी टीका के साथ किया है। इस टीका की रचना ११४५ ई० के आस-पास बारहवीं शताब्दी के मध्यकाल में हुई है।

२—माणिक्यचन्द्र की 'संकेत' टीका सबसे अधिक प्रसिद्ध है। माणिक्यचन्द्र गुजरात के रहने वाले जैन विद्वान् थे। इन्होंने अपनी टीका विक्रमी सम्वत् १२१६ ईसवी सन् ११६० में पूरी की थी।

३—श्रीधर का काव्यप्रकाश के टीकाकार के रूप में उल्लेख विश्वनाथ ने काव्यप्रकाशदर्पण में किया है। इन्हें सन्धि-विग्रहिक की उपाधि प्राप्त थी। इनकी टीका का नाम 'काव्यप्रकाश विवेक' है। यह टीका १२२५ ई० में लिखी गई थी। यह कलकत्ता से प्रकाशित है।

४—सोमेश्वर भरद्वाजकुलोत्पन्न देवक के पुत्र थे। इन्होंने काव्यप्रकाश पर काव्यादर्ण टीका लिखी है। इस टीका का दूसरा नाम 'संकेत' भी है। (सम्पूर्णश्च काव्यादर्शो नाम काव्यप्रकाशसंकेत इति)। यह टीका विक्रमी सम्वत् १२८३ में एक अन्य टीका के आधार पर तैयार की गई थी। इस प्रकार इसका समय १२२७ ई० के पूर्व निश्चित होता है (भाऊदाजी संग्रह बुक्स आफ बाम्बे रायल एशियाटिक सोसाइटी, पृ० ४५)। यह टीका १९५९ ई० में राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला जोधपुर से दो खण्डों में प्रकाशित है।

५—वाचस्पतिमिश्र का काव्यप्रकाश के टीकाकार के रूप में उल्लेख विश्वनाथ ने काव्यप्रकाशदर्पण में किया है। ये वाचस्पति मिश्र मिथिला निवासी भामती के लेखक वाचस्पति मिश्र से भिन्न थे। इन्होंने तेरहवीं शताब्दी में काव्यप्रकाश पर एक टीका लिखा थी।

६—सरस्वतीतीर्थ को नरसिंह सरस्वतीतीर्थ भी कहा जाता था। इनकी टीका का नाम बालचित्तानुरञ्जिनी है। यह टीका १२४२ ई० में लिखी गयी थी। कहा जाता है कि इन्होंने संन्यास लेने के बाद सरस्वतीतीर्थ की उपाधि ग्रहण की थी और वाराणसी में ही काव्यप्रकाश पर टीका लिखी थी।

७—जयन्तभट्ट गुर्जर नरेश शार्ङ्गदेव के पुरोहित भरद्वाज के पुत्र थे। इन्होंने काव्यप्रकाश पर 'दीपिका' टीका लिखी है। इस टीका का रचना काल १२९४ ई० है।

८—**चण्डीदास** ने काव्यप्रकाश पर 'दीपिका' नामक टीका लिखी है। यह सरस्वतीभवन सीरिज वाराणसी से मुद्रित है। इनका समय १३०० ई० के आस-पास माना जाता है।

९—**विश्वनाथ** साहित्यदर्पण के लेखक के रूप में विख्यात हैं। उन्होंने काव्यप्रकाश पर 'दर्पण' नामक टीका लिखी है। विश्वनाथ का समय १४वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।

१०—**भास्कर** ने काव्यप्रकाश पर 'साहित्यदीपिका' टीका लिखी है। गोविन्द ठक्कुर ने इनका उल्लेख किया है; अतः ये १५वीं शती के पूर्व हुए हैं।

११—**परमानन्द चक्रवर्ती** ने काव्यप्रकाश पर 'विस्तारिका' टीका लिखी है।

१२—**गोविन्द ठक्कुर** मिथिला निवासी केशव के पुत्र तथा श्रीहर्ष के ज्येष्ठ भ्राता थे। इन्होंने काव्यप्रकाश पर 'काव्यप्रदीप' नामक टीका लिखी है। इनका समय १५वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इनकी टीका का पूरा नाम 'काव्यप्रकाशप्रदीप' है।

१३—**जयराम न्यायपञ्चानन** की टीका का नाम 'तिलक' है। इनकी रहस्यदीपिका' नामक टीका का उल्लेख भी मिलता है। संभवतः यह 'तिलक' टीका का दूसरा नाम है। इसका समय १६वीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

१४—**श्रीवत्सलांछन** श्रीविष्णुभट्टाचार्य के पुत्र थे। इन्होंने काव्यप्रकाश पर सारबोधिनी टीका लिखी है। कमलाकरभट्ट ने इनका उल्लेख किया है। अतः इनका समय ११वीं शती का अन्तिम भाग माना जा सकता है।

१५—**महेश्वर भट्टाचार्य** बंगाल के निवासी थे और इन्हें न्यायालंकार की उपाधि मिली थी। इन्होंने काव्यप्रकाश पर 'आदर्श' नामक टीका लिखी है। इनकी टीका का दूसरा नाम 'भावार्थचिन्तामणि' है। इनकी 'काव्यप्रकाशादर्श' टीका एक प्रसिद्ध टीका है। वैद्यनाथ ने इनका उल्लेख किया है। अतः इनका समय १७वीं शती का प्रारम्भ माना जा सकता है।

१६—**कमलाकरभट्ट** बनारस के रहने वाले महाराष्ट्री ब्राह्मण रामकृष्णभट्ट के पुत्र थे। इन्होंने निर्णयसिन्धु तथा धर्मशास्त्र एवं मीमांसा पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इन्होंने काव्यप्रकाश पर टीका लिखी है। इनका समय १६१२ ई० के आस-पास माना जाता है।

१७—**राजानक आनन्द** काश्मीरी शैव थे। इन्होंने काव्यप्रकाश पर 'निदर्शना' नामक टीका लिखी है। इस टीका का द्वितीय नाम 'शितिकण्ठविबोधन' है। स्टीन के अनुसार आनन्द ने यह टीका १६६५ ई० में लिखी थी। काश्मीरी पण्डित-परम्परा में इन्हें राजानक रत्नकण्ठ का मित्र माना जाता है। अतः इनका समय १७वीं शताब्दी का मध्य भाग माना जा सकता है।

१८—राजानक रत्नकण्ठ आनन्द के मित्र थे। इन्होंने काव्यप्रकाश पर 'सारसमुच्चय' नामक टीका लिखी है। इनका समय १६४८-१६८१ के मध्य माना जाता है।

१९—नरसिंह ठक्कुर ने काव्यप्रकाश पर 'नरसिंह मनीषा' नामक टीका लिखी है। इनका समय १६२०-१७०० ई० के मध्य माना जाता है।

२०—वैद्यनाथ रामचन्द्रभट्ट (रामबुधभट्ट) के पुत्र थे। इन्होंने काव्यप्रकाश के दृष्टान्तों (उदाहरणों) पर 'उदाहरण-चन्द्रिका' टीका तथा गोविन्दभट्ट के काव्य-पदीप पर 'प्रभा' टीका लिखी है। इन्होंने अप्पयदीक्षित के कुवलयानन्द पर 'अलंकार-चन्द्रिका टीका लिखी है। नागोजीभट्ट ने इनका उल्लेख किया है। ये मैथिल वैया-करण वैद्यनाथ पांडुगुण्डे से भिन्न हैं। इनकी 'उदाहरण-चन्द्रिका' टीका विक्रमी सम्वत् १७४० (१६८४ ई०) में पूरी हुई थी।

२१—भीमसेन दीक्षित कान्यकुब्ज ब्राह्मण और शिवानन्द के पुत्र थे। इन्होंने काव्यप्रकाश पर 'सुधासागर' अथवा 'सुधोदधि' टीका लिखी है। सम्वत् १७७९ ईसवी सन् १७२३ वैसाख सुदी त्रयोदशी सोमवार यह टीका समाप्त हुई थी। इन्होंने 'अलं-कारसारोद्धार' तथा 'कुवलयानन्दखण्डन' नामक ग्रन्थ भी लिखे हैं।

२२—बलदेव विद्याभूषण ने काव्यप्रकाश की कारिकाओं पर 'साहित्यकौमुदी' टीका लिखी है। ये चैतन्य मतानुयायी थे। 'साहित्यकौमुदी' पर 'कृष्णानन्दिनी' प्रटीका लिखी है। उनकी 'साहित्यकौमुदी' टीका नामक 'भरतसूत्रवृत्ति' भी है।

२३—नागोजीभट्ट सती के गर्भ से उत्पन्न शिवभट्ट के पुत्र थे। ये महा-वैयाकरण थे। इन्होंने व्याकरण के अतिरिक्त धर्मशास्त्र, योगशास्त्र तथा साहित्यशास्त्र पर भी ग्रन्थ लिखे हैं। इन्होंने काव्यप्रकाशप्रदीप पर 'बृहदुद्योत' तथा 'लघु-उद्योत' नामक दो टीकाएँ लिखी हैं। यह टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त इन्होंने रसगङ्गाधर पर 'गुरुमर्मप्रकाश' टीका लिखी है। इनका समय १८वीं शती का प्रथम भाग माना जाता है।

२४—गोपालभट्ट ने साहित्य चूड़ामणि नामक टीका १७५० ई० के लगभग लिखी है।

२५—वामनाचार्य झलकीकर झलकी ग्राम निवासी महाराष्ट्री ब्राह्मण थे। इन्होंने काव्यप्रकाश पर १७४७ ई० में 'बालबोधिनी' नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है। यह टीका अत्यन्त समादरणीय है। वामनाचार्य ने बालबोधिनी में लगभग २१ टीकाओं का उपयोग किया है।

इनके अतिरिक्त कुछ अल्प-प्रसिद्ध टीकाएँ भी हैं जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

२६—विद्याचक्रवर्त्ती कृत बृहट्टीका १४वीं शताब्दी।

२७—पण्डितराज कृत टीका १६३७ ई०।

२८—सुबुद्धिमिश्रकृत टीका ।

२९—रत्नपाणिकृत दर्पण टीका १५वीं शताब्दी ।

३०—रविकृत मधुमती टीका १५वीं शताब्दी ।

३१—कृष्णमिश्राचार्य की टीका ।

३२—गदाधरचक्रवर्तीकृत टीका १६वीं शताब्दी का अन्तिम भाग ।

३३—गुणरत्नगणि की सारदीपिका टीका १७वीं शती ।

३४—गोकुलनाथ उपाध्यायकृत विवरणटीका १६५० ई० से १७३० के मध्य ।

३५—गोपीनाथकृत सुमनोमनोहरा टीका १७वीं शताब्दी का अन्त ।

३६—जगदीशतर्कपञ्चानन भट्टाचार्यकृत 'रहस्य-प्रकाश' टीका १६५७ ई० ।

३७—जनार्दनविबुधकृत 'श्लोक-दीपिका' टीका ।

३८—देवनाथ तर्कपञ्चानन की काव्यकौमुदी टीका १६६१ ई० ।

३९—नरसिंहसूरि की टीका ऋजुवृत्ति ।

४०—नागराज केशवकृत 'पदवृत्ति' टीका ।

४१—नारायणदीक्षितकृत टीका १७वीं शताब्दी का अन्त ।

४२—भवदेवकृत 'लीला' टीका, १६४९ ई० ।

४३—भानुचन्द्रकृत टीका ।

४४—मधुमतिगणेशकृत 'काव्यदर्पण' टीका ।

४५—यज्ञेश्वरयज्वन्कृत टीका ।

४६—रघुदेवकृत कारिकार्थ प्रकाशिका ।

४७—रत्नेश्वरकृत टीका ।

४८—राघव की 'अवचूरि-टीका'

४९—विजयानन्दकृत टीका १६८३ ई० ।

५०—राजानन्द की टीका ।

५१—शिवनारायणदास कृत 'दीपिका' टीका १७वीं शताब्दी का आरम्भ ।

५२—महेश्वरन्यायलंकार कृत—भावार्थचिन्तामणि (अथवा आदर्श) टीका १७वीं शताब्दी ।

५३—रामचन्द्रकृत 'काव्यप्रकाशसार' टीका ।

५४—रामनाथ विद्यावाचस्पति कृत 'रहस्य-प्रकाश' टीका १६२३ ई० ।

५५—रामकृष्णकृत कविनन्दिनी (अथवा नन्दिका) टीका ।

५६—विजयानन्दकृत टीका १६८३ ई०

५७—विद्यासागरकृत टीका १५वीं शताब्दी ।

५८—वेङ्कटाचलसूरि कृत 'सुबोधिनी' टीका ।

५९—शिवराम त्रिवणी कृत 'विजयपदी' टीका ।

६०—भास्करकृत रहस्य-निबन्ध ।

६१—महेशचन्द्रकृत 'तात्पर्य विवरण' १८८२ ई०।
६२—कृष्णशर्मा कृत 'रसप्रकाश' टीका।
६३—कृष्णद्विवेदी 'मधुररसा' टीका।
६४—रामकृष्णकृत 'काव्यप्रकाश-भावार्थ' टीका।
६५—कलाधरकृत 'कारिकावली' टीका।
६६—सूरिकृत 'रहस्यप्रकाश' टीका।
६७—पक्षधरकृत टीका।
६८—मुरारिमिश्रकृत टीका।
६९—यशोधरकृत टीका।
७०—भट्टाचार्यकृत काव्यदर्पण टीका।
७१—अच्युतकृत टीका।
७२—पद्मनाभकृत टीका।
७३—हरिशंकरकृत नागेश्वरी टीका।
७४—सिद्धिचन्द्रगणिकृत—काव्यप्रकाश खण्डन (१५८७-१६६६ ई०)।
७५—रुचककृत 'संकेत टीका'
इनके अतिरिक्त भी कुछ टीकाएँ हैं जिनके लेखक अज्ञात हैं।

काव्यालङ्कारशास्त्र में मम्मट का स्थान और उनका महत्त्व

काव्यालंकारशास्त्र के महान् आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना कर काव्य-जगत् में अपूर्व गौरव प्राप्त किया है। भीमसेन दीक्षित ने 'वाग्देवतावतार' की उपाधि से विभूषित किया है। काव्यालंकारशास्त्र के इतिहास में इन्हें जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है वह किसी अन्य साहित्याचार्य को सुलभ न हो सकी। आचार्य मम्मट ध्वनि के प्रतिष्ठापक के रूप में विख्यात हैं। उन्होंने ध्वनिविरोधी आचार्यों के मतों का खण्डन कर ध्वनिवाद की प्रस्थापना की है। उन्होंने भरत से लेकर भोजराज तक लगभग १२०० वर्षों में काव्यालंकारशास्त्र पर जो भी कार्य हुआ है उनका सार ग्रहण कर 'काव्यप्रकाश' रूप नवनीत तैयार किया है। आचार्य भरत के रस-सिद्धान्त तथा उस पर हुई समस्त व्याख्याओं का सार काव्यप्रकाश में सुन्दर ढंग से उपस्थापित किया गया है।

साहित्यशास्त्र के दो पक्ष हैं—कलापक्ष और भावपक्ष। इनमें से किसी आचार्य ने कलापक्ष पर ध्यान दिया तो किसी ने भावपक्ष पर विचार किया है, किन्तु मम्मट ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाकर दोनों पर विचार किया है। मम्मट के पूर्व भामह, दण्डी, रुद्रट आदि अलंकारों के विवेचन में ही लगे रहे, रस और ध्वनि को उन्होंने छुआ भी नहीं। वामन ने रीति को ही असाधारण गौरव प्रदान किया, किन्तु काव्य के आत्मभूत तत्त्व रस के विवेचन की उपेक्षा की है। उद्भट अलंकारसारसंग्रह में रमे रहे, काव्यशास्त्र के अन्य तत्त्वों पर उन्होंने विचार ही नहीं किया। आनन्दवर्धन ने ध्वनि-

तत्त्व पर तो विवेचन किया है, किन्तु काव्यालंकारशास्त्र के अन्य उपकरणों के विवेचन से दूर रहे। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में कवि और सहृदय दोनों की दृष्टियों से काव्य का विश्लेषण किया है जिसका विशद विवेचन अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन में किया है, किन्तु उनके लोचन में ध्वनि-रहस्य का ही उद्घाटन सर्वत्र परिलक्षित होता है। काव्य के अन्य अंगों के विवेचन में उनकी उपेक्षा ही दिखाई देती है।

कुन्तक ने ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यताओं और काव्य के रहस्य को कवि के उक्ति-वैचित्र्य में ही समन्वित करना चाहा है। भट्टनायक और महिमभट्ट ने ध्वनि-सिद्धान्त को कुचलने का प्रयास किया था किन्तु मम्मट ने अपनी विलक्षण प्रतिभा के सामर्थ्य से उसे और अधिक परिपुष्ट रूप में प्रतिपादित करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। इसीलिए उन्हें 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' कहा जाता है। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त को सर्वथा मिटा डालने का महिमभट्ट का संकल्प पूरा नहीं हुआ। राजशेखर का काव्यमीमांसा ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी होने पर भी काव्यालंकारशास्त्र विषयक जिज्ञासा को शान्त करने में प्रायः असमर्थ रहा है। किन्तु आचार्य मम्मट ने उन सब का सारभूत तत्त्व ग्रहण कर उनका समन्वय 'काव्यप्रकाश' के रूप में उपस्थित किया है।

इस प्रकार काव्य-जगत् के साहित्योद्यान में जितने भी पुष्प खिले हैं उन सब का मधु सञ्चय कर मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' रूप छत्ता तैयार किया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों की विचारधाराओं का सम्यगालोड़न कर काव्यप्रकाश में काव्या-लंकार-सम्बन्धी सभी विषयों को जिस साज-सज्जा के साथ सजाकर रखा है, वह दर्शनीय है। उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा से काव्य-जगत् को काव्यप्रकाश जैसा अमूल्य रत्न प्रदान किया है जिसकी सुन्दर आभा से समस्त काव्य-जगत् आलोकित है। यही कारण है कि काव्यालंकारशास्त्र के इतिहास में इन्हें अपूर्व स्थान प्राप्त है। वाग्देवतावतार मम्मट और उनके काव्यप्रकाश के सम्बन्ध ने हिन्दी-जगत् के प्रसिद्ध समालोचक डा० श्यामसुन्दरदास ने लिखा है—

'मम्मट के समान व्यवस्थित और व्यवहारोपयोगी व्यवस्था करने वाला दूसरा नहीं हुआ। ......इसी से मम्मट का काव्यप्रकाश भारतीय आलोचना के ग्रन्थों में प्रामाणिक माना जाता है।"

काव्यालंकारशास्त्र के इतिहास में मम्मट के काव्यप्रकाश का विशिष्ट स्थान है। वेदान्त दर्शन में जो स्थान शारीरिक भाष्य का और व्याकरणशास्त्र में जो स्थान पातञ्जल महाभाष्य का है वही स्थान काव्यालंकारशास्त्र में 'काव्यप्रकाश' का है। काव्यप्रकाश की लोकप्रियता का कारण यह है कि मम्मट ने काव्यप्रकाश में अपने से पूर्ववर्त्ती आचार्यों की सभी विचार-धाराओं को उपस्थित किया है, पर दासवत् अनु-करण नहीं किया है। 'नीरक्षीरविवेकन्याय' से जिसे उचित समझा, उसे तो अपने ग्रन्थ में उचित स्थान दिया और जिसे अनुचित समझा, उसकी समालोचना की है तथा परित्याज्य अंशों का परित्याग कर दिया है, किन्तु विशेष रूप से समन्वयवादी

दृष्टिकोण अपनाया है। वाग्देवतावतार मम्मट ने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मतों की पूर्ण समीक्षा कर उनमें सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। ध्वनि-सिद्धान्त के प्रस्थापन में तो इनका प्रयास विशेष स्तुत्य है, क्योंकि इनके बाद ध्वनि-सिद्धान्त के विरोध में बोलने का किसी भी समालोचक को साहस ही न हुआ। मम्मट ने सूत्रात्मक शैली का आश्रय लेकर काव्यालंकारशास्त्र के विविध विषयों का यथार्थ मूल्यांकन किया है। इनके अतिरिक्त कतिपय नवीन उद्भावनाएँ भी हैं जिनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

(१) काव्यप्रकाश की पहली विशेषता है—'सूत्रात्मक शैली में विविध विषयों का समावेश'। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में २१२ सूत्रों में काव्यालंकारशास्त्र के समस्त विषयों का समावेश कर दिया है जिसका एक-एक विषय आज समालोचना का विषय बना हुआ है। उनका केवल एक सूत्र '**तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि**' समस्त काव्यप्रकाश में चक्रवत् घूम रहा है जिसका एक-एक शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(२) काव्यप्रकाश की दूसरी विशेषता है—वृत्तिभाग। सूत्रों के दुरधिगम अर्थों के बोध के लिए मम्मट ने स्वयं वृत्तिभाग लिखा है।

(३) काव्यप्रकाश की तीसरी विशेषता है—'ध्वनिमार्ग की प्रतिष्ठा'। मम्मट ने आनन्दवर्द्धन द्वारा स्थापित ध्वनि-सिद्धान्त को काव्यप्रकाश में इस प्रकार सुप्रतिष्ठित किया है कि अप्पयदीक्षित और पण्डित जगन्नाथ जैसे समालोचकों को भी आक्षेप करने का अवसर नहीं मिला है।

(४) काव्यप्रकाश की चौथी विशेषता है—'त्रिगुणवाद की स्थापना'। मम्मट ने अपने से पूर्व गुणों के सम्बन्ध में फैली हुई अव्यवस्था को दूर कर तीन गुणों की स्थापना की है। उन्होंने भरत, वामन दण्डी, भोजदेव आदि के द्वारा निर्दिष्ट गुणों की विषमता को दूर कर अपने तीन गुणों में ही उनका अन्तर्भाव कर दिया है।

(५) काव्यप्रकाश की पाँचवीं विशेषता है—'अलंकार-निरूपण', मम्मट ने गुण और अलंकारों में भेद स्थापित कर अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने श्लेष, उपमा आदि अलंकारों के निरूपण में जगह-जगह जो भेद प्रदर्शित किया है, वह उनकी मौलिक उद्भावनाएँ हैं।

(६) काव्यप्रकाश की छठी विशेषता है—'रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में मौलिक विचार'। मम्मट ने काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में रसनिष्पत्ति की व्याख्या के प्रसंग में भट्लोल्लट, श्रीशंकु, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि व्याख्याकारों के मतों को उपस्थापित कर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं।

(७) काव्यप्रकाश की सातवीं विशेषता है—'काव्यप्रकाश पर सर्वाधिक टीकाएँ।' मम्मट के काव्यप्रकाश का सर्वाधिक महत्त्व इससे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ पर जितनी टीकाएँ लिखी गई हैं, उतनी किसी भी ग्रन्थ पर नहीं लिखी गई हैं।

इस प्रकार मम्मट ने समस्त साहित्यशास्त्र का मन्थन कर जो नवनीत संग्रह किया था, उसी का सारभूत पदार्थ 'काव्यप्रकाश' है। काव्यप्रकाश काव्य एवं अलंकारशास्त्र के अध्येताओं के लिए वह प्रकाशस्तम्भ है, जिसकी प्रखर ज्योति के बिना पूर्वोत्तर उभयकालीन साहित्य महोदधि आलोकित नहीं हो सकता। उन्होंने काव्यालंकारशास्त्रीय सभी सिद्धान्तों का समन्वय करके काव्यशास्त्र का जो रूप प्रदान किया है, उसी का अनुकरण परवर्त्ती आचार्यों ने किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ नितान्त प्रौढ़, सारगभित और पाण्डित्यपूर्ण है, केवल इस ग्रन्थ के अध्ययन से ही सम्पूर्ण काव्यशास्त्र का ज्ञान हो सकता है। इसीलिए समालोचकों ने काव्यप्रकाश को काव्यालङ्कारशास्त्र का सर्वश्रेष्ठ एवं प्रामाणिक ग्रन्थ कहा है।

काव्यालङ्कारशास्त्र के सम्प्रदाय

काव्यालंकारशास्त्र का प्रमुख तत्त्व आत्मतत्त्व है। प्राचीन आचार्य इसी आत्मतत्त्व के चिन्तन में सक्रिय रहे हैं और अपने-अपने चिन्तन के आधार पर अलग-अलग-अलग रूपों में आत्मतत्त्व का अवलोकन करते रहे। किसी ने रस को आत्मतत्त्व के रूप में देखा तो दूसरे ने ध्वनि को काव्य की आत्मा बताया, किसी ने गुण या रीति को काव्य का प्राण माना है तो कुछ लोगों ने अलंकार को ही आत्मतत्त्व के रूप में देखा, किसी ने उक्ति-वैचित्र्य (वक्रोक्ति) को काव्य की आत्मा कहा तो दूसरे ने औचित्य को आत्मतत्त्व के रूप में परखा। इस प्रकार विभिन्न तत्त्वों को आत्मतत्त्व के रूप में परखने के कारण विभिन्न सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई।

प्रथम आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में तीन सम्प्रदायों का उल्लेख किया है—(१) ध्वन्यभाववादी—जो ध्वनि के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। (२) भक्तिवादी—जो ध्वनि को लक्षणा में अन्तर्भूत मानते हैं। (३) अनिर्वचनीयतावादी—जो ध्वनि को मान्य करके भी उसे परिभाषित करने में असमर्थ रहते हैं और उसे सहृदयहृदयसंवेद्य बताते हैं। अलंकारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने कुछ भिन्न रूप में पाँच सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं। शब्द और अर्थ का वह वैशिष्ट्य तीन प्रकार से संभव हो सकता है—(१) धर्म के द्वारा (२) व्यापार के द्वारा और (३) व्यङ्ग्य के द्वारा। इनमें धर्म के द्वारा विशिष्टता दो प्रकार से हो सकती है—(१) अलंकार के द्वारा और (२) गुण के द्वारा। व्यापारमूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का होता है—(१) वक्रोक्ति के द्वारा और (२) भोजकत्व के द्वारा। इस प्रकार अलंकार, गुण (रीति), वक्रोक्ति, भोजकत्व (रस) और व्यङ्ग्य (ध्वनि) ये पाँच पक्ष (सम्प्रदाय) हो जाते हैं। इनमें प्रथम पक्ष को उद्भट आदि आचार्यों ने स्वीकार किया, दूसरे पक्ष को वामन ने, तीसरे पक्ष को कुन्तक ने, चतुर्थ को भट्टनायक ने और पंचम पक्ष को आनन्दवर्धन ने स्वीकार किया—**'इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्, तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापारमुखेन व्यङ्ग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि**

भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्वेन वेति द्विविध्यम्। एष पञ्चसु पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनेन।' (अलंकारसर्वस्वसमुद्रबन्ध टीका, पृ० ४)

इस प्रकार प्रथम अलंकार-सम्प्रदाय का सम्बन्ध भामह, उद्भट आदि आचार्यों से है, उन्होंने अलंकार को ही काव्य की आत्मा के रूप में देखा है (**तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्**)। दूसरे गुण अर्थात् रीति-सम्प्रदाय का सम्बन्ध दण्डी और वामन से जोड़ा गया। दण्डी ने गुणों को मार्ग अथवा रीति का प्राण कहा है (**····प्राणाः दशगुणाः स्मृताः**); किन्तु आत्मा क्या है? इस प्रश्न का सूक्ष्म और स्पष्ट विवेचन वामन ने किया है (**रीतिरात्मा काव्यस्य**)। वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का सम्बन्ध कुन्तक से है, कुन्तक के अनुसार उक्ति-वैचित्र्य का ही अपरनाम वक्रोक्ति है उन्होंने ध्वनि को भी वक्रोक्ति में अन्तर्भूत करके वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा कहा है (**वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्**)। चतुर्थ भोजकत्व व्यापार का सम्बन्ध भट्टनायक से है। रस के सम्बन्ध में भोजकत्व-व्यापार की कल्पना भट्टनायक की है। किन्तु यह मत भरत के रस-सिद्धान्त में अन्तर्भुक्त हो गया और रस-सम्प्रदाय का सम्बन्ध भरत से जुड़ गया; किन्तु रस का काव्यात्मक रूप में, प्रथम विवेचन अग्निपुराणकार ने किया है (**वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्**)। राजशेखर ने तो काव्य-पुरुष की कल्पना कर रस को उसकी आत्मा कहा है (**रस आत्मा**)। पञ्चम ध्वनि-सम्प्रदाय का सम्बन्ध आनन्दवर्धन से है। उन्होंने शब्दार्थ में व्यङ्ग्यमूलक वैशिष्ट्य मानकर व्यङ्ग्य को काव्य की आत्मा कहा है (**काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति**)। इस प्रकार समुद्रबन्ध के अनुसार अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस और ध्वनि (व्यङ्ग्य) ये पाँच सम्प्रदाय हैं। उन्होंने औचित्य-सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। सम्भवतः उन्होंने औचित्य में किसी वैशिष्ट्य का दर्शन न किया हो, इसी कारण सम्प्रदाय के रूप में उसका उल्लेख नहीं किया हो। किन्तु उनका यह दृष्टिकोण समीचीन नहीं प्रतीत होता; क्योंकि क्षेमेन्द्र के अनुसार काव्य में औचित्य को वही स्थान प्राप्त है जो भरत ने रस को तथा आनन्द ने ध्वनि को दिया है। उनके अनुसार औचित्य के द्वारा ही काव्य में चमत्कार आता है, अतः उन्होंने औचित्य को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित कर औचित्य-सम्प्रदाय की स्थापना की है (**औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्**)।

इस प्रकार विभिन्न आचार्यों द्वारा काव्य के विभिन्न तत्त्वों का काव्यात्म रूप में दर्शन के कारण छः सम्प्रदायों का जन्म हुआ। इस प्रकार काव्यशास्त्र के मुख्यतः छः सम्प्रदाय बन गये—

(१) रस सम्प्रदाय
(२) अलंकार संम्प्रदाय
(३) रीति सम्प्रदाय

(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय
(६) ध्वनि सम्प्रदाय
(६) औचित्य सम्प्रदाय

रस-सम्प्रदाय

रस-सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य भरत माने जाते हैं, किन्तु राजशेखर ने नन्दिकेश्वर को रस का मूल व्याख्याता बताया है और भरत को रूपक का प्रामाणिक आचार्य माना है।[1] यदि राजशेखर का कथन सत्य है तो संभव है भरत ने नन्दिकेश्वर के विचारों का आकलन कर उसे व्यवस्थित रूप दिया हो, क्योंकि एक सुनिश्चित सिद्धान्त के रूप में रस का उपस्थापन भरत नाट्यशास्त्र में ही उपलब्ध होता है। किन्तु रस का सिद्धान्त भरत से भी प्राचीन है और भरत के नाट्यशास्त्र से स्पष्ट संकेत मिलता है कि भरत के पूर्व भी रस-मीमांसा की एक परम्परा रही है। जैसाकि भरत ने नाट्यशास्त्र के षष्ठ एवं सप्तम अध्यायों में रस और भावों के विवेचन के अवसर पर अपने कथन की पुष्टि अथवा विचारों के समर्थन में अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के आनुवंश्य श्लोक एवं आर्याएँ उद्धृत की हैं।[2] भरत ने नाट्य के प्रसंग में रस का जैसा मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह नाट्यशास्त्र में सर्वथा मौलिक एवं मनोहारी प्रसंग है। उनकी दृष्टि में रस नाट्य-रचना के लिए इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके बिना कोई अर्थ ही नहीं प्रवृत्त होता। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव ही रस के निष्पादक होते हैं—

'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते।
विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'[3]

भरत ने स्वयं इस सूत्र की व्याख्या की है, किन्तु सूत्र में आये 'संयोगात्' और 'निष्पत्ति' शब्दों का अर्थ उनके व्याख्यान से स्पष्ट नहीं होता। इन शब्दों की व्याख्या में बड़ा मतभेद है जिसके कारण अनेक सिद्धान्तों का सूत्रपात हुआ है। भरत के अनुसार जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्य, व्यंजन और औषधि के संयोग (मिश्रण) से पेय रस की निष्पत्ति होती है वैसे ही नाना भावों से उपगत (पुष्ट) स्थायीभाव रसरूपता (रसत्व) को प्राप्त होता है।[4] इसे रस इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसका आस्वादन किया जाता है (आस्वाद्यमानत्वात्)। रस का आस्तादन कैसे किया जाता है?

---

१. रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, रूपकनिरूपणीयं भरतः।
(काव्यमीमांसा, प्रथम)

२. नाट्यशास्त्र षष्ठ, अध्याय।

३. नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय, पृ० २७२।

४. यथा हि गुड़ादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनौषधीभिश्च षाडवादयो रसा निवर्त्यन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।
(नाट्यशास्त्र-अभिनवभारती षष्ठ अध्याय)

इस पर भरत का कथन है कि जिस प्रकार लोक में पुरुष सुसंस्कृत नाना प्रकार के व्यंजनों का भोजन करते हुए रसों का आस्वादन करते हैं और आनन्दित होते हैं उसी प्रकार नाना प्रकार के भावों और अभिनयों के द्वारा अभिव्यक्त वाचिक, आङ्गिक और सात्त्विक से युक्त स्थायीभावों का सहृदय प्रेक्षक आस्वादन करते हैं और हर्ष को प्राप्त होते हैं।[1] इस प्रकार नाट्यरसों की व्याख्या की गयी।

अभिनवगुप्त के अनुसार नट के द्वारा प्रयुक्त अभिनय के प्रभाव से प्रत्यक्ष के समान प्रतीयमान, एकाग्र मन की निश्चलता से अनुभवनीय, नाटकादि में से किसी एक काव्यविशेष से प्रकाश्य अर्थ नाट्य है। यह 'नाट्य' यद्यपि विभावादि के अनन्त होने के कारण अनन्त विभावादि रूप है तथापि सभी विभावों के ज्ञान में पर्यवसित होने से तथा ज्ञान का भोक्ता में और भोक्तृवर्ग का प्रधान भोक्ता के (नायक) में पर्यवसान होने से नायक नामक भोक्तृविशेष की स्थायी चित्तवृत्ति भी 'नाट्य' है।[2] स्वगत-परगत भेद से शून्य यह चित्तवृत्ति आस्वाद्यमान होने से 'रस' है। इस प्रकार रागात्मिका चित्तवृत्ति का परिणाम ही रस है। अतः रस ही नाट्य है, क्योंकि नाट्य की पूर्णतः अनुभूति रस में होती है। इस प्रकार जिस नाट्यरस की पूर्णतः अनुभूति होती है वह मुख्यभूत महारस है। इस नाट्यरस के अन्तर्गत अन्य सब रसों की स्थिति गौण हो जाती है और ये समुदाय रूप प्रधान रस का ज्ञान कराते हैं। यह रस नाट्य-समुदाय से समुद्भूत होता है अतः नाट्य में रस निहित है। इस प्रकार रससमुदाय ही नाट्य है। केवल नाट्य ही रस नहीं होता, अपितु काव्य में भी नाट्यरूप हो रस होता है।[3] इस प्रकार अभिनव की दृष्टि में समुदायरूप अर्थ नाट्य है। अभिनय भी नाट्य का अंश है। समस्त नाट्यकर्म अभिनय में ही समाविष्ट है। अभिनय होने पर काव्य नाट्य होता है और नाट्य ही रस है (नाट्य एव रसाः)।

काव्य-रस—कहा जाता है कि प्रारम्भ में रस-सिद्धान्त का चिन्तन प्रमुख रूप से नाट्याश्रित था और नाटक के क्षेत्र में ही इसका प्रयोग हुआ, किन्तु काव्य के क्षेत्र में इसका प्रयोग आगे चलकर हुआ। आरम्भ में काव्यांग के रूप में तो रस के

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ६।

२. तत्र नाट्यं नाम नटगताभिनयप्रभावसाक्षात्कारायमाणैकघनमानसनिश्चलाध्यवसेयः समस्तनाटकाद्यन्यतमकाव्यविशेषाच्च द्योतनीयोऽर्थः। स च यद्यप्यनन्तविभावाद्यात्मा, तथापि सर्वेषां जड़ानां संविदि, तस्याश्च भोक्तरि, भोक्तृवर्गस्य च प्रधाने भोक्तरि पर्यवसानान्नायकाभिधानभोक्तृविशेषस्थायिचित्तवृत्तिस्वभावः।
(अभिनवभारती, भाग १, पृ० २६६)

३. नाट्यात्समुदायरूपाद्रसाः। यदि वा नाट्यमेव रसाः। रससमुदायो हि नाट्यम्। न नाट्य एव च रसाः। काव्येऽपि नाट्यायमाने एव रसः।
(अभिनवभारती, भाग १, षष्ठ अध्याय) पृ० २९०

महत्त्व का बोध था, किन्तु सिद्धान्त के रूप में इसकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकी थी।[1] काव्याश्रित रस के सम्बन्ध में प्रथम बार व्याख्या अग्निपुराण में हुई, सम्भवतः तभी से काव्याश्रित रस सिद्धान्त रूप में चर्चा का विषय बना। यद्यपि भरत के नाट्याश्रित रस-सिद्धान्त को काव्याश्रित रस-सिद्धान्त के मूल स्रोत के रूप में देखा जा सकता है। अग्निपुराणकार ने रस और काव्य के परस्पर सम्बन्ध की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है, जिसे विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। अग्निपुराण के अनुसार वाग्वैदग्ध्य की प्रधानता होने पर भी 'रस को काव्य की आत्मा कहा गया है' (**वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्**)।[2] रस की उत्पत्ति के विषय में यहाँ एक विचित्र, किन्तु मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है जिसके अनुसार परब्रह्म परमात्मा के सहज आनन्द की अभिव्यक्ति का नाम चैतन्य, चमत्कार अथवा रस है।[3] उस चैतन्यरूप परब्रह्म का सत्त्व, रजस, तमस् (गुणत्रय) रूप प्रथम विकार महत्तत्व है। उस महत्तत्त्व से अभिमान या अहंकार की अनुभूति होती है। महत्तत्त्व के समान अहंकार भी त्रिगुणात्मक है। जब रजस् और तमस् के संस्पर्श से रहित सत्त्व का उद्रेक होता है तब सहृदयों के द्वारा रसानुभूति होती है यही अनुभूति ही आस्वाद है, यही चैतन्य है और यही चमत्कार अथवा रस है। (चैतन्यचमत्काररसाह्वया)। अग्निपुराणकार के अनुसार अहंकार ही रस है, अभिमान अहंकार का ही एक रूप है, इसे अभिमान इसलिए कहते हैं कि इसमें समस्त सुख-दुःखात्मक अनुभूतियाँ आनन्दप्रद होने के कारण अभिमत हो जाती हैं। यहाँ पर अभिमान उत्तेजना-जन्य मिथ्या गर्व नहीं है, अपितु आत्मस्थित विशेष गुण है; जो रस्यमान होने के कारण 'रस' है। इसी अहंकार या आत्मप्रतीति (आत्मज्ञान) का दूसरा नाम शृंगार है, इसे शृंगार इसलिए कहते हैं कि यह मनुष्य को शृंग तक पहुँचा देता है। यहाँ यह शृंगार स्त्री-पुरुष का वासनात्मक प्रेम या रति का प्रकर्ष नहीं है, अपितु आत्मनिष्ठ निरपेक्ष प्रेम है। इस प्रकार आत्मा का अहंकार विशेष शृंगार है जो सहृदयों द्वारा रस्यमान होने से रस कहलाता है, इसी शृंगार (अहंकार) से अन्य रस अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार अग्निपुराण का रस-सिद्धान्त काव्याश्रित और नाट्याश्रित दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। अग्निपुराण के पश्चात् आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने काव्य में रस के महत्त्व को स्वीकारा और रस को काव्याश्रित सिद्धान्त के रूप प्रतिष्ठापित किया।

---

१. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (दे) पृ० १९

२. अग्निपुराणोक्त काव्यालंकारशास्त्रम् १/३३

३. अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥
(अग्निपुराणोक्तं काव्यालंकारशास्त्रम् ४/१-२)

किन्तु आनन्द ने रस को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित नहीं किया। अभिनवगुप्त ने रस-सिद्धान्त को अधिक महत्त्व दिया और रस को काव्य का जीवन कहा (रसेनैव सर्वं जीवति काव्यम्)।[1] उनके मत में उस (रस) से शून्य काव्य कोई चीज नहीं है (नहि तच्छून्यं काव्यं किञ्चिदस्ति)।[2] इसलिए रस ही वास्तव में काव्य की आत्मा है, वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि तो सर्वथा रस के प्रति पर्यवसित होते हैं (रस एव वस्तुत आत्मा। वस्तत्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते)।[3] इस प्रकार अभिनव ने सर्वत्र (काव्य में) रस को आत्मरूप में प्रतिष्ठित किया। विश्वनाथ ने इस रस-सिद्धान्त को, जिसे अग्निपुराणकार ने आत्मा का रूप दिया और अभिनवगुप्त ने प्रतिष्ठा की और अधिक विकसित रूप में व्यवस्थित किया और उसे काव्य का जीवन बताया (रसात्मकं वाक्यं काव्यम्)[4] उन्होंने रस को सहृदयसंवेद्य, अलौकिक काव्यार्थतत्त्व कहा है, किन्तु इस रस का आस्वादन सबको नहीं होता। इसका अनुभव उसी को होता है। जिसके हृदय में सत्त्व का उद्रेक होता है, रजोगुण एवं तमोगुण के संस्पर्श से रहित चित्त 'सत्त्व' कहलाता है। इस सत्त्व के उद्रेक से सहृदयों के द्वारा अनुभूत 'रस' अखण्ड स्वयंप्रकाश एवं आनन्दमय रत्यादि स्वसंवेदन रूप है। उस समय किसी ज्ञेय वस्तु का संस्पर्श (ज्ञान) नहीं रहता। यह अनुभव अलौकिक चमत्कार अर्थात् सहृदय के चित्त का विस्तार है और यह चमत्कार ही रस रूप अनुभव का प्राण है और रस काव्य की आत्मा है। इस प्रकार अग्निपुराण, आनन्द तथा अभिनव, विश्वनाथ आदि ने रस को नाट्य के समान काव्य की भी आत्मा कहा है।

रस की निष्पत्ति किस प्रकार होती है, इस विषय में भरत ने लिखा है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

भरत के इस सूत्र में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' ये दोनों शब्द व्याख्येय हैं। इन शब्दों की व्याख्या में बड़ा मतभेद है जिसके परिणामस्वरूप अनेक सिद्धान्तों का जन्म हुआ। भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त आदि भरतसूत्र के प्रमुख व्याख्याकार हैं। इन्होंने भरत-सूत्र को आधार मानकर अपने-अपने सिद्धान्त का व्याख्यान किया है। इनमें भट्टलोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनायक के मूलग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु इनके मतों का सारांश अभिनवगुप्त ने 'अभिनव-भारती' में तथा मम्मट ने काव्यप्रकाश में प्रस्तुत किया है। इनमें से भट्टलोल्लट का मत उत्पत्तिवाद, श्री शंकुक का अनुमितिवाद, भट्टनायक का भुक्तिवाद तथा अभिनवगुप्त का मत

---

१. ध्वन्यालोक-लोचन (अभिनवगुप्त) २/२
२. वही
३. ध्वन्यालोक-लोचन (अभिनवगुप्त) १/५
४. साहित्यदर्पण (विश्वनाथ)

अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद ही मम्मट का भी मत है। मम्मट ने इन चारों मतों का काव्यप्रकाश में विस्तार से प्रतिपादन किया है।[1] भरत के अनुसार स्थायीभाव ही रस है। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव उस स्थायिभाव के आस्वादन में सहायक होते हैं। उनके सहयोग से ही स्थायीभाव रसत्व को प्राप्त होता है। मानव-हृदय में विद्यमान मानस-संस्कार या वासना भाव है। ये संस्कार रूप भाव मानव-हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं, इसलिए उन्हें स्थायीभाव कहते हैं। काव्य और नाटक में जो भाव स्थायीभाव के उद्बोधन का कारण होता है, उसे 'विभाव' कहते हैं। वाचिक, मानसिक और शारीरिक व्यापार का नाम 'अनुभाव' है। रत्यादि स्थायी भावों के पोषण अथवा अभिव्यञ्जन में सहायक सहकारी या संचारीभाव (व्यभिचारिभाव) कहलाते हैं। इन विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभावों के संयोग से अभिव्यक्त स्थायीभाव रस कहलाता है।

नाट्य और काव्य के अतिरिक्त नृत्य, गीत तथा चित्रादि कलाओं में भी रस की स्थिति होती है, किन्तु काव्य और नाट्य में प्रतिपादित भावादि से नृत्य के भावादि में अन्तर होता है। काव्य और नाट्य में जिसके हृदय में भाव उत्पन्न होता है, वह 'आश्रय' कहलाता है। किन्तु नृत्य में जो कुछ होता है, उसका सीधा प्रभाव दर्शक पर पड़ता है, ऐसी स्थिति में दर्शक आश्रय बन जाता है और नर्तक 'आलम्बन'। नर्तक का काम भावों को जगाना होता है और उसकी प्रतिक्रिया दर्शक के हृदय पर सीधे होती हैं। नृत्य में अनुभाव को आलम्बनगत उद्दीपन कहते हैं। जिनसे भाव स्पष्ट होते हैं, अनुभाव कहते हैं। नृत्य में अभिनय के द्वारा भावों की उत्पत्ति दिखाई जाती है। जिन कारणों से अनुभाव का स्वरूप बनता हैं, वे व्यभिचारीभाव कहलाते हैं। इन्हीं के सहयोग से स्थायीभाव रसरूपता को प्राप्त होता है।

अभिनवगुप्त का कथन है कि गीत-ध्वनि से भी रस की अभिव्यक्ति होती है **(गीतादिशब्देभ्योऽपि रसाभिव्यक्तिरस्ति)**[2] उनका कथन है कि जिस प्रकार वाचक शब्द वाक्यार्थ के बोधन के पश्चात् व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराते हैं, उसी प्रकार गेय स्वर भी अपने स्वरूप बोधन के पश्चात् भाव या रस का बोध कराते हैं। जिस प्रकार अशब्द भी चेष्टा आदि से अर्थ-विशेष का प्रकाशन होता है उसी प्रकार अवाचक भी गीत-ध्वनि से रसादिरूप अर्थ का अवगमन देखा जाता है[3], इस प्रकार गीत-ध्वनि भी रसादि के व्यञ्जक होते है[4], रसकौमुदीकार श्रीकण्ठ ने भी कहा है कि

---

१. इन चारों मतों के लिए देखिये—मेरा काव्यप्रकाश पृ० १२८-१४७

२. ध्वन्यालोक (वृत्ति) ३/३३

३. अवाचकस्यापि गीतशब्दादेः रसादिलक्षणार्थावगमदर्शनात्।

४. तथाहि गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकत्वमस्तीति रसादिविषयम् (ध्वन्यालोक ३/३३ की वृत्ति।)

गीत, काव्य और नाट्य ये तीनों निरपेक्ष रूप से रस के उद्गम स्थान हैं।[1] किन्तु काव्य की अपेक्षा गीतध्वनि का क्षेत्र अधिक व्यापक है क्योंकि काव्य का रसास्वादन तो सहृदय व्यक्ति ही कर सकता है किन्तु गीत के द्वारा तो बालक भी आनन्दानुभव करता है और तिर्यक् प्राणी भी गीत में आनन्द-निमग्न हो जाते हैं, यहाँ तक कि अचेतन जड़ प्रकृति भी उससे प्रभावित हो जाती है।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि गीत के द्वारा असहृदय व्यक्तियों का भी हृदय सरस हो जाता है और वह सहृदय के समान ही रसास्वादन करने लगता है।

गीत में स्थायीभाव का आलम्बन 'अंशस्वर' होता है, जिसे स्थायी स्वर कहते हैं। इस स्थायी स्वर का संवादी स्वर उद्दीपन विभाव होता है और अनुवादी स्वर अनुभाव का कार्य करता है तथा संचारी स्वर संचारीभावों को प्रकाशित करता है। इसीलिए कहा जाता है कि स्थायी स्वर पर आलम्बित, उसके संवादी स्वर द्वारा उद्दीप्त एवं अनुवादी स्वर द्वारा अनुभावित तथा संचारी स्वरों द्वारा परिपोषित सहृदयों का वह चेतनाविशेष रस है जिसकी अनुभूति के समय रजस्तमोगुणजनित राग-द्वेषादि ग्रन्थियाँ विगलित हो जाती हैं।[3] नन्दिकेश्वर के अनुसार संगीत के सात स्वर और उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित ये चार वर्ण होते हैं। उदात्त के साथ संगीत के आरोही का, अनुदात्त के साथ अवरोही का, स्वरित के साथ स्थायी का और कम्पित के साथ संचारी स्वर का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। नन्दिकेश्वर के अनुसार गान्धर्व सम्यक् रूप से गाया जाने वाला गीत है और वह गीत वर्ण एवं अर्थ से विलग नहीं है। संगीत गायन में वर्ण भावों से अनुकूल होने पर ही रसोद्बोधन में सहायक हो सकते हैं। इस प्रकार रसानुभूति में गीत के शब्द, अर्थ एवं स्वर तीनों सहायक होते हैं। जैसाकि बताया जा चुका है कि रस-सिद्धान्त की परम्परा भरत के पहिले से चली आ रही है। राजशेखर ने नन्दिकेश्वर को रस का आधिकारिक विद्वान् बताया है (**रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः**)। यद्यपि सम्प्रति नन्दिकेश्वर का रस-विषयक कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, किन्तु यत्र-तत्र उपलब्ध उद्धरणों से उनकी रस-विषयक विचारधारा की रूपरेखा की स्पष्ट झलक दिखाई देती है। नन्दिकेश्वर की रस-योजना काव्य, नाट्य, नृत्य और संगीतपरक है। यही उनकी विशेषता है। जहाँ भरत, अग्निपुराण, आनन्द, अभिनव, मम्मट आदि रसवेत्ता रस की काव्य एवं नाट्यपरक ही व्याख्या करते हैं वहाँ नन्दिकेश्वर का दृष्टिकोण काव्य, नाट्य, नृत्य एवं संगीतपरक भी है। इनके अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तर

---

१. नाट्ये गीते च काव्ये त्रिषु वसति रसश्शुद्धबुद्धस्वभावः।

(भरतकोष, पृ० ४२९)

२. श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध २१/१५

३. भारत का संगीत सिद्धान्त पृ० २७०-२७१

पुराण में एक अन्य परम्परा का उल्लेख है जिसके अनुसार रस की कला (वास्तु, मूर्ति, चित्र) की दृष्टि से व्याख्या की गई है और उनके विभावादि का भी संयोजन किया गया है।

रस के आधिकारिक विद्वान् नन्दिकेश्वर ने रस के विषय में एक मौलिक विचारधारा प्रस्तुत की है। उनकी दृष्टि में रस आनन्दरूप है। गीत के श्रवण तथा नाट्य एवं नृत्य के दर्शन से अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है जो ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर है। यही आनन्द रसास्वादन है। यह आनन्द रूप रस का स्वाद हर जगह मिलता है, चाहे कथावस्तु कारुणिक हो अथवा शृङ्गारिक सब में एक सा स्वाद मिलेगा। यह स्वाद रस से भिन्न नहीं है, स्वाद ही रस है, और रस ही आनन्द है और आनन्द ही रस है। नाट्य भी रस है, नृत्य भी रस हे और गीत भी रस है, क्योंकि सब आनन्द रूप हैं और आनन्द ही रस है।

नन्दिकेश्वर के अनुसार संगीत के साथ चतुर्विध अभिनय का संयोग होने पर नृत्य के द्वारा रसानुभूति काव्य एवं नाट्य की अपेक्षा द्रुततर गति से होती है। इसीलिए नन्दिकेश्वर ने सभी प्रकार के लोगों के लिए नाट्य एवं संगीत को एक ऐसा साधन बताया है कि जहाँ सबको एक-सा आनन्द मिलता है। कामुक, विदग्ध, शूर, व्यापारी, ज्ञानी, विरागी, वयोवृद्ध, रसभावविशेषज्ञ, अज्ञ, बालक, नारी आदि सभी एक साथ अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करते हैं।[1] महाकवि कालिदास ने भी कहा है कि भिन्न-भिन्न रुचि के लोगों के लिए नाट्य एक ऐसा साधन है जहाँ सबको एक-सा आनन्द मिलता है[2] इस प्रकार नाट्य अथवा संगीत द्वारा विभिन्न रुचि रखने वाले सभी प्रकार के लोगों के हृदय में आनन्द की एक अनिर्वचनीयअसीम आनन्द की अनुभूति होती है, यही अनुभूति रस है।

रस-संख्या—भरत और धनञ्जय के अनुसार नाट्य में आठ रस स्वीकृत हैं। मम्मट ने उसी मान्यता को स्वीकार किया है[3] 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' इस कथन से ज्ञात होता है कि काव्य में शान्त नामक नवाँ रस भी होता है, (काव्ये तु शान्तोऽपि नवमो रसः)। इसी दृष्टि से अग्निपुराण में नव रसों का प्रतिपादन किया गया है, मम्मट ने भी आठ नाट्य रसों का विवेचन करने के पश्चात् शान्त को नवाँ रस माना है (शान्तोऽपि नवमो रसः)। अभिनवगुप्त का कथन है कि 'अष्टौ नाट्ये रसाः' यह उपलक्षणमात्र है। वैसे नाट्य में भी शान्त रस होता है। जैसाकि नाट्यशास्त्र का

---

१. विशेष अध्ययन के लिए देखिये—लेखक की पुस्तक—'आचार्य नन्दिकेश्वर और उनका नाट्य साहित्य (रसप्रकरण)।

२. नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्

(मालविकाग्निमित्र, प्रथम अंक)

३. अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।

नाट्यशास्त्र ६। काव्यप्रकाश ४/२९

षष्ठ अध्याय में अभिनव का 'एवं नव रसा दृष्टाः' यह कथन और मम्मट का 'शान्तोऽपि नवमो रसः' यह कथन इस बात को द्योतित करता है कि काव्य और नाट्य में शान्त रस की स्थिति मान्य है। अभिनव ने शान्त रस को अभिनेय बताया है। जैसाकि संगीत रत्नाकर के 'अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन्। तदचारु...... ' इस कथन से भी ज्ञात होता है कि नाट्य में केवल आठ ही रस नहीं होते, अपितु शान्त-सहित नव रस होते हैं। रुद्रट ने प्रेयान् नामक दसवें रस की उद्भावना की है।[1] रूपगोस्वामी ने मधुर नामक भक्ति रस को प्रधान रस माना है। (मधुराख्यो भक्तिरसः)।[2] विश्वनाथ ने नव-रस के अतिरिक्त 'वात्सल्य' एक अन्य (अलग) रस स्वीकार किया है।[3] अभिनवभारती में अन्य आचार्यों द्वारा प्रस्तुत आर्द्रता स्थायीभाव वाला स्नेह, लौल्य और भक्ति इन तीन रसों का उल्लेख किया गया है, किन्तु अन्य आचार्यों के अनुसार स्नेह, भक्ति वात्सल्य ये रति के ही विशेष नामान्तर हैं। समान व्यक्तियों का परस्पर रति (प्रेम) 'स्नेह' है, छोटे का बड़े के प्रति प्रेम (रति) भक्ति है और बड़े का छोटे के प्रति प्रेम (रति) वात्सल्य है। इस प्रकार ये सब रति के ही विशेष (रूप) हैं।[4] इसी प्रकार 'प्रेयान्' और 'लौल्य' भी अलग रस नहीं माने जा सकते, क्योंकि इनका भी भाव में अन्तर्भाव हो जाता है।[5] किन्तु रूपगोस्वामी आदि वैष्णव आचार्यों ने इस मत का घोर विरोध किया और भक्तिरस को ही परम (प्रधान) रस माना है और शृङ्गार आदि रसों को गौण घोषित किया है। मुख्य और गौण भेदों के आधार पर भक्ति-रस के १२ भेदों को स्वीकार किया है। इनके अनुसार भक्ति रस के पाँच मुख्य भेद शान्त, हास्य, (प्रीति) सख्य (प्रेयस्) वात्सल्य और मधुर तथा सात गौण भेद हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र भयानक और बीभत्स हैं। इस प्रकार उनके मतानुसार रस के १२ भेद होते हैं। एक अन्य परवर्ती लेखक विश्वनाथ चक्रवर्ती ने मधुर को भक्तिरसराज कहा है।

रस संख्या के सम्बन्ध में भोज का अपना अलग मत है। उन्होंने अग्निपुराणोक्त नौ रसों के अतिरिक्त प्रेयान्, उदात्त और उद्धत तीन रस अधिक माने हैं।[6] भोज के अनुसार आठ रसों के अतिरिक्त अन्य चार रस शान्त, प्रेयान्, उदात्त और उद्धत नायक के भेदों के अनुसार उद्भावित किये गये हैं--धीर-शान्त नायक में शान्त

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट) १२/३
२. भक्तिरसामृतसिन्धु १/५-६
३. स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः (साहित्यदर्पण) ३/२५१
४. स्नेहोभक्तिर्वात्सल्यमिति रतेरेव विशेषाः (काव्यानुशासन)
५. प्रेयांस-लौल्यादित्रयस्तु भावान्तर्गता एव (बालबोधिनी)
६. शृङ्गारवीरकरुणरौद्राद्भुतभयानकाः ।
बीभत्सहास्यप्रेयांसः शान्तोदात्तोद्धताः ॥

(सरस्वतीकण्ठाभरण ५/१६४

रस, धीरललित में प्रेयान् रस, धीरोदात्त में उदात्त-रस और धीरोद्धत नायक में उद्धत रस की स्थिति मानी जा सकती है।[1] इस प्रकार भोज के मत में १२ रस होते हैं। इनके अतिरिक्त भोज ने स्वातन्त्र्य, आनन्द, पारवश्य, साध्वस, विलास आदि कई नये रस भी प्रस्तुत किये हैं।[2] इससे ज्ञात होता है कि भोज रसों के आनन्त्य में विश्वास रखते थे। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अग्निपुराणोक्त नव रसों के अतिरिक्त लौल्य, स्नेह, व्यसन, दुःख और सुख आदि अन्य रस माने हैं। उनके मतानुसार तृष्णा स्थायीभाव वाला लौल्य-रस, आर्द्रता स्थायीभाव वाला स्नेह-रस, आसक्ति स्थायीभाव वाला व्यसन-रस, आरति स्थायीभाव वाला दुःख और सन्तोष स्थायीभाव वाला सुख आदि अन्य रस भी हो सकते हैं। किन्तु कुछ लोग इनका अन्तर्भाव नौ रसों में कर लेते हैं।[3]

एक परवर्ती लेखक भानुदत्त ने रसतरंगिणी में 'मायारस' का उल्लेख किया है। एक जैन लेखक ने लज्जा-स्थायीभाव वाला 'व्रीडनक' रस भी माना है। इस प्रकार काव्यालङ्कारशास्त्र में भावों की अनन्तता के आधार पर अनन्त रसों की परिकल्पना की एक परम्परा रही है जिसके अनुसार रसों की संख्या की कोई सीमा नहीं मानी जाती थी। किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने रस संख्या की इस विस्तार-प्रवृत्ति का जोरदार खण्डन करते हुए पूर्व-परम्परा की प्रतिष्ठा पर बल दिया है। उनका कहना है कि भक्ति आदि का रस के रूप में समावेश करने पर भरतमुनि द्वारा निर्धारित संख्या भंग हो जायगी, अतः पूर्व-शास्त्र-परम्परा का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर है।[4] इस प्रकार गम्भीरतापूर्वक विचार-विमर्श के पश्चात् रस परम्परा के आचार्यों ने काव्य, नाट्य और संगीत में आठ अथवा नौ रस ही मान्य हैं, इस मत से सहमति प्रकट की, और अन्य का इन नौ रसों अथवा भावों में अन्तर्भाव मान लिया।

एकरसवाद--वास्तव में रस एक होता है और वह अखण्ड, अवर्णनीय, चैतन्य है, वह चैतन्य ही रस है जो भावों के आधार पर विविध रूपों में अवभासित होता है। अग्निपुराण में परब्रह्म के सहज आनन्द की अभिव्यक्ति को चैतन्य, चमत्कार या रस कहा गया है। उसका प्रथम अनुभव अहङ्कार या अभिमान है।

---

१. न चाष्टावेवेति नियमः, यतः शान्तम्, प्रेयांसम्, उद्धतम्, ऊर्जस्विनं च केचिद्‌समाचक्षते। तन्मूलाश्च किल नायकानां धीर-शान्त-धीरललित-धीरोदात्त-धीरोद्धतव्यपदेशः (शृंगारप्रकाश, एकादश प्रकाश पृ० ४४१)।

२. शृंगार प्रकाश, ६१९-७२३

३. एते शृंगारादयो नवैव रसा……पूर्वाचार्योपदिष्टाः। सम्भवन्ति त्वपरेऽपि। यथा गर्द्धस्थायी लौल्यः। आर्द्रता स्थायी स्नेहः। आसक्तिस्थायी व्यसनम्। अरतिस्थायि दुःखम्। सन्तोषस्थापि सुखमित्यादि। केचिदेषां पूर्वेष्वन्तर्भावमाहुरिति।' (नाट्यदर्पण ६/११२)।

४. रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्यते, इति यथाशास्त्रमेव ज्यायः (रसगंगाधर, पृ० १७६)।

अभिमान और अहङ्कार एक ही वस्तु है और वही रस है। इसी अहङ्कार का दूसरा नाम शृंगार है। इसे 'शृंगार' इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह मनुष्य को शृंग तक पहुँचा देता है। इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार अभिमान या अहङ्कार ही रस है, वही शृंगार है। इसी शृंगार से शृंगार-हास्य आदि अनेक रस अभिव्यक्त होते हैं। अग्निपुराण के अनुसार जहाँ पर शृंगार है वहीं रस है बिना शृंगार के तो सब कुछ रस-विहीन है।[1] इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार शृंगार ही एकमात्र रस है और स्थायीभावों की विशेषता से वह अलग-अलग हास्यादि अनेक रूपों में अवभासित होता है। भोज ने अग्निपुराण की परम्परा का अनुसरण कर इस रस का पूर्ण विकास किया है और शृंगार को ही एकमात्र रस माना है।[2] उनका कहना है कि रस एक ही है, अग्निपुराण के अनुसार जिसे शृंगार, अभिमान या अहङ्कार कहते हैं।[3] शृंगार प्रकाश में शृंगार के अतिरिक्त अन्य किसी रस को स्वीकार नहीं किया गया है, और उसका रूप अभिमान या अहङ्कार जैसा बताया गया है।

अभिनवभारती के लेखक अभिनवगुप्त ने शान्तरस को ही मूलभूत रस माना है जिससे अपने-अपने हेतुओं के आश्रयण से नाना भाव उद्भूत होते हैं और निमित्त के अपाय होने पर पुनः उसी में लीन हो जाते हैं---

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्त्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते।।

(नाट्यशास्त्र ६/७)

इस प्रकार अभिनव के अनुसार शान्तरस प्रकृत रस है और अन्य रस शृंगारादि उसकी विकृतियाँ हैं। शृंगारादि विकृत रस अपने-अपने विशिष्ट हेतुओं को प्राप्त कर उसी प्रकृत शान्तरस से उद्भूत हुआ करते हैं। नारद और वासुकि भी शान्तरस को प्रमुख रस मानते हैं। महाभारत का प्रमुख रस शान्त है। नागानन्द नाटक का अंगीरस शान्त है। शान्तरस का स्थायीभाव शम है, किन्तु मम्मट निर्वेद को स्थायीभाव मानते हैं।

भवभूति ने करुण रस को ही एकमात्र मूल रस माना है और अन्य रसों को उसका विवर्त्त बताया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार जल निमित्त भेद से कभी आवर्त्त (भँवर), कभी बुद्बुद और कभी तरंग (लहर) का रूप धारण कर लेता है, वस्तुतः वह जल ही होता है उसी प्रकार करुण निमित्त-भेद से शृंगारादि भिन्न-भिन्न

---

१. शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव चेदशृंगारी नीरसं सर्वमेव तत्।।

(अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कारशास्त्रम् ४/२७)

२. शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः। शृंगारप्रकाश १/६

३ रसोऽभिमानोऽहङ्कार शृंगार इति गीयते।

(सरस्वतीकण्ठाभरण ५/१)

रसों के रूप में परिणत होकर भिन्न-भिन्न रूप में भासित होता है।[१] उत्तररामचरित के टीकाकार वीरराघव का कहना है कि करुणरस को एकमात्र प्रधान रस इसलिए माना जाता है कि उसका आस्वादन रागी-विरागी सभी समान रूप से कर लेते हैं, अन्य रसों के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है कि उसका आस्वादन सब सही रूप में कर सकें। जैसे, शृंगार रस का आस्वादन रागी तो सही रूप में कर सकते हैं किन्तु विरागी उसका सही रूप में आस्वादन नहीं कर सकते। इसलिए करुण को ही सर्वव्यापी प्रधान रस माना जाता है। रामायण का प्रधान रस करुण है। यही कारण है कि आनन्दवर्धन ने क्रौञ्चसहचरीवियोगोत्थ शोक (करुण) को ही काव्य की आत्मा कहा है।[२] क्योंकि क्रौञ्च पक्षी की घटना को देखते ही महर्षि वाल्मीकि के हृदय में वासना रूप से विद्यमान शोक ही श्लोक के रूप में करुण रस के रूप में प्रस्फुरित हो गया, वही शोक (करुणा) ही काव्य की आत्मा है, वही काव्य का सारभूत तत्त्व है और वही निमित्तों के आधार पर विभिन्न रसों के रूप में परिणत दिखाई देता है।

रूपगोस्वामी ने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' में रस-सिद्धान्त की एक नई प्रकल्पना की है। उनके अनुसार भक्तिरस ही एकमात्र परम रस है[३] और शृंगारादि रस उसके विकार हैं। उनका कहना है कि जो मम्मट आदि आचार्य देवादिविषयक रति को भाव कहते हैं और भक्ति को भाव में समाविष्ट मानते हैं, उनका उक्त कथन उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि देवादिविषयक रति तो भाव है किन्तु भगवद्विषयक रति तो भाव नहीं हो सकता। वह तो स्थायीभाव है और भगवद्विषया रति (स्थायीभाव) ही भक्ति रस है और वही मूलभूतरस है। इसलिए रूपगोस्वामी ने भक्तिरस को मूलभूत रस माना है और उन्होंने भक्ति रस के पाँच प्रकारों को मुख्य और हास्यादि सात रसों को गौण घोषित किया है।[४] उन्होंने शृंगार रस का निरूपण नहीं किया है। उनके अनुसार भक्तिरसराज मधुर रस शृंगार का ही भक्तिपरक नाम है। उन्होंने मुख्य रस भक्ति के पाँच प्रकार बताये हैं—शान्त, प्रीति,

---

१. एको रसः करुण एव निमित्तभेदा-
   द्भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
   आवर्त्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्
   अम्भो तथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥

(उत्तररामचरित ३/४७)

२. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
   क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

(ध्वन्यालोक, १/५)

३. भक्तिरसामृतसिन्धु १/५-६

४. भक्तिरसामृतसिन्धु पृ० ९४-९६

प्रेयान्, वत्सल और मधुर। विश्वनाथ चक्रवर्ती ने तो मधुर रस को भक्तिरसराज कहा है (भक्तिरसानां राजा मधुराख्यो रसः)। इसके अतिरिक्त हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स को गौण रस घोषित किया है।[1] इस प्रकार रूपगोस्वामी आदि वैष्णव आचार्यों के अनुसार भक्तिरस ही सर्वोपरि प्रधान रस है और अन्य रस इसके विकार हैं।

विश्वनाथ के वृद्ध प्रपितामह नारायण पण्डित ने चमत्कार को सब रसों का प्राण कहा है। अपने मत के समर्थन में उन्होंने धर्मदत्त का वचन उद्धृत किया है। उनका कथन है कि कोई भी रस हो, सर्वत्र चमत्कार ही है, चमत्कार ही रस का सार है अतः एकमात्र चमत्कार ही रस है और चमत्कार को अद्भुत का पर्याय मानकर अद्भुत को ही सर्वव्यापी और एकमात्र रस माना हैं।[2]

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽप्युद्भूतो रसः॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्॥

किन्तु अग्निपुराण में चमत्कार को ही रस कहा गया है।[3] अग्निपुराण के अनुसार चैतन्य, चमत्कार और रस एक ही वस्तु है और चमत्कार ही रस है और रस ही चमत्कार है। उसी चमत्कार से अहङ्कार या शृंगार अभिव्यक्त होते हैं और उसके कामशृंगार तथा हास्यादि अनेक रूप हैं[4], किन्तु मूल में एक ही है और वह चमत्कार या रस ही है। इसी चमत्कार को ही आनन्दवर्द्धन ने काव्य की आत्मा कहा है।[5] हेमचन्द्र के अनुसार चमत्कार एक विचित्र प्रकार का आनन्दावेश है[6] जिससे एक विचित्र प्रकार का सुख मिला करता है। इस प्रकार चमत्कार एकमात्र रस है। यह अग्निपुराणकार का मत है।

---

१. मुख्यस्तु पञ्चधा शान्तः प्रीतिः प्रेयांश्च वत्सलः।
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमाः॥
हास्योऽद्भुतस्तथा वीरः करुणो रौद्र इत्यपि।
भयानकः सबीभत्स इति गौणाश्च सप्तधा।
एवं भक्तिरसो भेदाद् द्वयोर्द्वादशधोच्यते॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु पृ० ९६-९८)

२. साहित्यदर्पण ३/१ की वृत्ति

३. चैतन्यचमत्काररसाह्वयाः (अग्निपुराणोक्तं काव्यालङ्कारशास्त्रम् ४/१)

४. तद्भेदाः काममितरे हास्याद्यानेकशः। (वही ४/

५. तस्य रसस्यैकघनचमत्कारात्मनोऽपि (ध्वन्यालोक २/३ वृत्ति)

६. अद्भुताभोगात्मस्पन्दावेशरूपो हि चमत्कारः। (काव्यानुशासन २/

अलङ्कार-सम्प्रदाय

अलङ्कार-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक अग्निपुराणकार हैं और उसे सुव्यवस्थित रूप प्रदान कर सिद्धान्त के रूप से प्रतिष्ठापित करने वाले आचार्य भामह हैं। भामह ने प्रमुख रूप से काव्यालङ्कारों तथा तत्सम्बन्धी गुण-दोषों का विवेचन किया है जिसके कारण इस शास्त्र का नाम काव्यालङ्कारशास्त्र पड़ा और भामह ने अपने ग्रन्थ का 'काव्यालङ्कार' रखा। यह अलङ्कार-सिद्धान्त रस-सिद्धान्त के समकालीन सिद्धान्त था, क्योंकि दोनों सिद्धान्तों की व्याख्या अग्निपुराण में साथ-साथ की गई है और अग्निपुराण में जहाँ रस को काव्य की आत्मा कहा गया है वहाँ अलङ्कारों का महत्त्व भी प्रतिपादित किया गया है। अग्निपुराण में काव्य के शोभाकर धर्म को अलङ्कार कहा गया है[1] और अभिव्यक्ति जैसे ध्वनिमूलक तत्त्वों को अलङ्कारों में समाविष्ट कर लिया है। यही नहीं, उन्होंने अर्थालङ्कार से रहित कविता को विधवा स्त्री के समान बताया है। अग्निपुराण का ही अनुसरण करते हुए दण्डी ने भी काव्य के शोभाकर धर्म को अलङ्कार कहा है।[2] अलङ्कार-सिद्धान्त के पोषक आचार्य भामह ने भी काव्य के शोभाधायक तत्त्व को अलङ्कार कहा है। उनका कहना है कि रमणी का मुख सुन्दर होने पर भी अलङ्कार के अभाव में सुशोभित नहीं होता।[3] इस प्रकार भामह के मत में अलङ्कार काव्य का सबसे प्रमुख तत्त्व है। जयदेव ने तो यहाँ तक कहा है कि जो व्यक्ति अलङ्कारविहीन शब्द और अर्थ को काव्य मानते हैं वे अग्नि को शीतल क्यों नहीं मानते ?

> अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
> असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ॥
>
> (चन्द्रालोक १/८)

इस प्रकार भामह ने अलङ्कार-सिद्धान्त को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। वे इस सिद्धान्त के प्रतिनिधि आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने अलङ्कार-सम्प्रदाय की विच्छिन्न परम्परा को ग्रथित किया और वक्रोक्ति को काव्य का सर्वस्व बताया। उनके मतानुसार वक्रोक्ति के बिना कोई भी अलङ्कार नहीं होता (कोऽलंकारोऽनया विना)। उन्होंने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को अभिन्न माना है। वक्र-उक्ति अथवा उक्ति-वैचित्र्य का नाम वक्रोक्ति है, कुन्तक ने इसी विचार को ग्रहण कर एक सिद्धान्त का विकास किया है। उक्ति-वैचित्र्य ही अलङ्कार है, (उक्ति-वैचित्र्यमलङ्कारः) कवि

---

१. काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।
(अग्निपुराणोक्त काव्यलङ्कारशास्त्र ७/१)

२. काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते। (काव्यादर्श २/१)

३. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्। (काव्यालङ्कार-भामह १/१३)

प्रतिभाप्रसूत उक्ति-वैचित्र्य होने पर ही अलङ्कार माना जाता है। भामह ने अतिशयोक्ति अलङ्कार का विवेचन करने के पश्चात् **'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः'** कहकर यह संकेत किया है कि अतिशयोक्ति ही वक्रोक्ति है। दण्डी के अनुसार सभी अलङ्कारों का मूल अतिशयोक्ति है। यह अतिशयोक्ति लोकातिशायि उक्ति (कथन) होने से अतिरमणीय होती है और यह भामह की वक्रोक्ति ही है। यह सभी अलङ्कारों में श्रेष्ठ है। आनन्दवर्द्धन का कथन है कि प्रत्येक अलङ्कार में अतिशयोक्ति स्वीकार की जा सकती है। अभिनवगुप्त के अनुसार अतिशयोक्ति समस्त अलङ्कारों का सामान्य रूप है (**सर्वालंकारसामान्यरूपम्**)। मम्मट के अनुसार अतिशयोक्ति समस्त अलङ्कारों का प्राण है अलङ्कारत्व का बीजभूत तत्त्व है (**सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते**)। भोज ने समस्त वाङ्मय को स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति में विभाजित किया है (**"वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।"**) उनके अनुसार गुणों की प्रधानता होने पर स्वभावोक्ति, रस की प्रधानता होने पर रसोक्ति और अलङ्कारों की प्रधानता होने पर वक्रोक्ति होती है। कुन्तक के अनुसार वक्रोक्ति ही एकमात्र अलङ्कार है और वक्रोक्ति का अर्थ है 'उक्ति-वैचित्र्य'। यह वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन है, इस वक्रोक्ति की परिधि में रस और ध्वनि भी समाहित हो जाते हैं। ध्वनिकार आनन्द ने वैचित्र्य (वक्रता) से विशिष्ट अलंकार को अलंकार कहा है जोकि वक्रोक्ति का ही रूप है। इस प्रकार भामह ने अलंकार-सिद्धान्त को 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः' कहकर जिस मत को व्यक्त किया था, कुन्तक ने उसे व्यवस्थित रूप प्रदान किया और वक्रोक्ति को अलंकार-सिद्धान्त की एक शाखा के रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार भामह से रुद्रट पर्यन्त आचार्यों ने अलंकार-सिद्धान्त के महत्त्व को स्वीकार किया है और अलंकारों का मनोविज्ञान के आधार पर सूक्ष्म दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। यही कारण है कि प्रायः सभी आचार्यों के ग्रन्थों में अधिक भाग में अलंकारों का विवेचन देखा जाता है, कुछ काव्यालंकारशास्त्रीय ग्रन्थों में तो केवल अलंकार-विवेचन ही दृष्टिगत होता है। इस प्रकार सभी आचार्यों ने काव्य में अलंकारों का सर्वाधिक महत्त्व समझा है। अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने कहा है कि प्राचीन आचार्यों ने अलंकारों को काव्य में प्रधान तत्त्व माना है—

'.........तदेवमलंकारा एवं काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्' (अलंकार-सर्वस्व—९)

आनन्दवर्द्धन के अनुसार ध्वनि के तीन भेद होते हैं—(१) वस्तुध्वनि (२) अलंकार-ध्वनि और (३) रसध्वनि। इस प्रकार उन्होंने अलंकार-ध्वनि को काव्य की आत्मा कहकर अलंकार के महत्त्व को द्योतित किया है। अलंकारवादी आचार्यों ने उक्त तीन प्रकार की ध्वनियों (वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि, रस-ध्वनि) को अलंकारों के अन्तर्गत समाविष्ट कर दिया है। उनके मतानुसार ध्वनि, गुण, रस आदि सभी

काव्य के शोभाकर धर्म होने से अलंकार के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं। अग्निपुराण में तो अभिव्यक्ति, अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, आक्षेप, ध्वनि आदि का अलंकारों के अन्तर्गत विवेचन किया और उन्हें उभयालंकार माना है। पण्डितराज जगन्नाथ के मतानुसार रस, वस्तुध्वनि तथा अलंकार प्रत्येक में स्वतन्त्र रूप से अलंकारत्व माना जाता है। इस प्रकार उनके मतानुसार अलंकार काव्य का जीवनभूत तत्त्व है।

सर्वप्रथम भरत ने उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलंकारों का उल्लेख किया है। अग्निपुराणकार ने अलंकारों का शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार इन तीन वर्गों में वर्गीकरण कर नौ शब्दालंकार, आठ अर्थालंकार और छः उभयालंकार कुल २३ अलंकारों को स्वीकार किया है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में अठारह अलंकार माने गये हैं। भामह ने ३८, दण्डी ने ३७ अलंकारों का विवेचन किया है और अलंकारों का शब्दालंकार और अर्थालंकार इन दो वर्गों में वर्गीकरण किया है। उद्भट ने ४१ अलंकार माने हैं। उन्होंने ३४ अलंकार प्राचीन आचार्यों के मतानुसार और सात अलंकारों की उनकी स्वयं की कल्पना है। रुद्रट ने ६८ अलंकारों का निरूपण किया है। उन्होंने अलंकारों का शब्द और अर्थ के महत्त्व के अनुसार दो वर्गों में विभाजन किया है—शब्दालंकार और अर्थालंकार। चित्र अलंकार पर उन्होंने पूरा एक अध्याय लिखा है। सर्वप्रथम उन्होंने शब्दालंकारों के पाँच भेद किये हैं। तत्पश्चात् अर्थालंकारों को जातिभेद के आधार पर-वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष इन चार वर्गों में विभाजित किया है। यह उनकी मौलिक कल्पना है।

भोज ने अलंकारों का तीन वर्गों (शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार) में विभाजन कर २४ शब्दालंकार, २४ अर्थालंकार और २४ उभयालंकार इस प्रकार कुल ७२ अलंकार माने हैं। मम्मट ने ६८ अलंकारों का निरूपण किया है। उनके अनुसार छः शब्दालंकार और ६१ अर्थालंकार हैं। इस प्रकार अलंकारों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही, किन्तु मम्मट के समय संख्या-वृद्धि में रुकावट आ गई। पुनः संख्या बढ़ने लगी। रुय्यक ने अलंकारसर्वस्व में ७८ अलंकारों की गणना की है, विश्वनाथ ने ७८ अलंकारों को स्वीकार किया है। चन्द्रालोक में १०० तथा अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में लगभग १२० अलंकारों का निरूपण किया है। इस प्रकार अलंकारों की संख्या में वृद्धि होती रही, किन्तु इनमें अनेक अलंकारों का पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित अलंकारों में अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार अलंकार-सम्प्रदाय का उत्तरोत्तर विकास होता रहा।

आनन्दवर्द्धन के अनुसार 'वाग्विकल्प' अनन्त है अतः तद्रूप अलंकार भी अनन्त हैं (अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालंकाराः) उनका कहना है कि 'आचार्यों ने सहस्रों की संख्या में अलंकारों के प्रकार प्रकाशित किये हैं और कर रहे

हैं (सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलंकारप्रकाशः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च)।[1] इससे प्रतीत होता है कि अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकार के अनन्त प्रकार निरूपित किये हैं। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट का कथन है कि 'यद्यपि अलंकार अनन्त हैं तथापि कुशल कवि कुछ ही अलंकारों का प्रयोग करते हैं'।[2] उनके मतानुसार उपमा अलंकारों का प्राण है। इस प्रकार काव्याभिव्यंजन के लिए अलंकारों का विशेष महत्त्व रहा है। अलंकारों में वैचित्र्य या विशेष चमत्कार होने के कारण इसकी महत्ता और बढ़ गई। यहाँ तक कि इसकी महत्ता के कारण ही रस, ध्वनि, गुण आदि का समन्वय अलंकार-शास्त्र के अन्तर्गत किया जाने लगा। क्योंकि अलंकारों में जीवन-शक्ति डालकर उसे सजीव बनाने वाला तत्त्व 'चमत्कार' विद्यमान रहता है। बिना चमत्कार के रसादि तत्त्व भी निर्जीव जैसे प्रतीत होते हैं। इस प्रकार चमत्कारमय होने से अलंकारों का महत्त्व विख्यात है।

रीति-सम्प्रदाय

रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य वामन माने जाते हैं उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा कहा है (**रीतिरात्मा काव्यस्य**)। संस्कृत वाङ्मय में 'रीति' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। सर्वप्रथम रीति शब्द 'ऋग्वेद' में स्तुति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[3] सायण रीति का अर्थ 'स्तुति' करते हैं।[4] विभिन्न काव्यशास्त्रियों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों के अनुसार रीति के अनेक पक्षों का प्रतिपादन किया है। भामह रीति को काव्य, दण्डी और भोज मार्ग, वामन रीति, आनन्द पदसंघटना, कुन्तक कविप्रस्थानहेतु, रुद्रट एवं मम्मट वृत्ति और विश्वनाथ रीति के नाम से सम्बोधित करते हैं। रूढ़ि में रीति का अर्थ पद्धति लिया जाता है। भोज रीङ् गतौ धातु से क्तिन् प्रत्यय करके रीति शब्द की निष्पत्ति मानते हैं और उसका अर्थ उन्होंने 'मार्ग' (पन्थाः) किया है।[5] अग्निपुराणकार 'वक्तृत्वकला' को रीति के नाम से अभिहित करते हैं।[6] वक्तृत्वकला को यदि हम अभिव्यक्ति कला का ही रूपान्तर मानें तो रीति का अर्थ और भी स्पष्ट हो जाता है। वामन 'विशिष्ट-पद-रचना' को रीति कहते हैं। विशिष्ट का अर्थ है गुण सम्पन्न और गुणसम्पन्नता ही सुन्दरता का द्योतक है, अतः सुन्दर पद-रचना करने की कला को रीति समझना चाहिये।[7] हिन्दी-साहित्य में इसे

---

१. ध्वन्यालोक १/१ की वृत्ति
२. व्यक्तिविवेक पृ० ८८
३. महीव रीतिः शवसासरत् पृथक् (ऋग्वेद २/२४/१४)
४. महीव रीतिः महती स्तुतिरिव। (ऋ० वे० सायणभाष्य)
५. वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः ॥
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते। (सरस्वतीकण्ठाभरण २/२७)
६. वाग्विद्यासम्प्रतिज्ञाने रीतिः (अग्निपुराण ३४४/१)
७. विशिष्ट-पद-रचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। (काव्यालंकार सूत्र १/२/७-८)

'शैली' कहते हैं। सुन्दरतम रचना रस, अलंकार, गुण, शब्दशक्ति आदि सभी के समावेश होने पर ही होती है और पद रचना में विशिष्टतापूर्वक इन्हीं का समावेश करने पर हमें शैली या रीति का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है।

रीति के अर्थ में शैली शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम पतञ्जलि के महाभाष्य में मिलता है।[1] यही नहीं बल्कि पतञ्जलि के समय आलोचना का उद्भव हुआ जो कि काव्यशास्त्र में नवीन शैली का बोधक रहा। 'मुग्धबोध' की टीका में दुर्गादास ने भी इसी अर्थ में शैली शब्द का प्रयोग किया है।[2] व्युत्पत्ति के आधार पर शैली शब्द का निर्वचन 'शीलस्येदम्' इस विग्रह में शील शब्द से अण् प्रत्यय होकर स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होने से होता है। शील का अर्थ है स्वभाव, स्वभाव के आधार पर विभिन्न शैलियाँ हो सकती हैं अर्थात् स्वभाव के अनुसार रचना को शैली के क्रम में रखा गया। इस प्रकार पद-रचना के अर्थ में शैली का प्रयोग होने लगा और पद-रचना को शैली कहा जाने लगा।

राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा' में रीति का सर्वप्रथम अधिकारी 'सुवर्णनाभ' को बताया है।[3] पर सुवर्णनाभ कौन था? इनकी रचना क्या थी? इस सम्बन्ध में कोई भी तथ्य उपलब्ध नहीं है अतः उनका केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही मानना होगा। किन्तु यदि रीति का व्यापक अर्थ लेते हैं तो रीति का इतिहास वेदों तक पहुँचता है। वेद समस्त भारतीय ज्ञान-राशि का मूल स्रोत हैं। यदि हम उनका अनुशीलन करें तो उनकी छन्दोबद्ध रचना, गीति विशिष्ट मन्त्र, पाठ-प्रकार आदि के चिन्तन आदि में अनेक शैलियों के दर्शन होते हैं। जिस प्रकार वेद पाठ की अनेक विधियाँ और अनेक शाखाएँ थीं, उसी प्रकार उस समय अनेक शैलियों का निर्माण हुआ। 'ऋग्वेद' में छन्दोबद्ध रचना, कथोपकथन शैली, 'यजुर्वेद' की गद्यपद्यात्मक शैली, 'सामवेद' की गेय शैली उनके निदर्शन हैं। इसके अतिरिक्त अलंकृत शैली का प्रथम उन्मेष हमें 'ऋग्वेद' में ही प्राप्त होता है। उपमालंकार—जो कि अर्थालंकार का मूलभूत अलंकार है, का सुन्दर रूप हमें सर्वप्रथम 'ऋग्वेद' में ही दृष्टिगोचर होता है।[4] उपमालंकार की प्रथम छटा किस प्रकार 'ऋग्वेद' में मिलती है देखने से तात्कालिक अलंकृत शैली का परिचय प्राप्त होता है जिसका विकसित रूप 'यजुर्वेद' में उपलब्ध है जहाँ संसृष्टि अलंकार की छटा दर्शनीय है।[5] इसके अति-

---

१. एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते ....। (महाभाष्य-प्रत्याहाराह्निक)
२. प्रायेणाचार्याणामियं शैली, यत्सामायेनाभिधाय विशेषेण विवृणोति। (मुग्धबोध टीका)
३. रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः (काव्यमीमांसा प्रथमाध्याय)
४. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। (ऋ० वे० १/२२/२०)
५. यत्र बाणा निपतन्ति कुमाराः विशिखा इव। (शुक्लयजुर्वेद १/४८)

रिक्त अनेक अलंकारों के दर्शन वैदिक साहित्य में होते हैं। इस प्रकार रीति का मूल स्रोत हमें वेदों में उपलब्ध होता है किन्तु वहाँ पर रीति का नाम नहीं आया है। रीति-चर्चा वेदों का विषय भी नहीं था, अतः वहाँ रीति के सम्बन्ध में विचार कर उसके स्वरूप के उल्लेख प्राप्त करने की चेष्टा करना किसी की भ्रमित कामना हो सकती है। अतः वेदों का काव्य-सौन्दर्य आदि काल से ही रीति के अस्तित्व का निदर्शन कराता है।

वैदिक काल में प्रवृत्त रीति ने ब्राह्मण काल में परिवर्तित होकर एक नया स्वरूप ग्रहण किया। उस समय रचनाशैली आख्यानात्मक एवं वर्णनात्मक हो गई। वैदिक काल के अन्त में शैली (रीति) में नवीन परिवर्तन हुआ, लोग अधिक से अधिक बातों को संक्षेप में कहना चाहते थे, अतः सूत्र शैली की सर्जना हुई। इस शैली में सूत्र, व्याकरण, दर्शन आदि साहित्य निर्मित हुए। वेद के व्याख्यात्मक रूप में यास्क का निरुक्त एवं निघन्टु उपलब्ध होता है जहाँ पर शैली का केवल सूत्रात्मक रूप ही नहीं बल्कि उसका अलंकृत रूप भी प्राप्त होता है। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में तो उपमा के स्वरूप का सम्यक् निर्धारण हो चुका था। काव्यशास्त्र की अभिधा आदि शब्दशक्तियों का विवेचन दर्शनशास्त्र में प्रारम्भ हो गया था, जिसको कि काव्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। व्याख्यात्मक शैली की उद्भावना पतञ्जलि के समय हुई। शाङ्करभाष्य आदि इसी शैली के परिचायक हैं। इनमें सूत्रों की ललित गद्य-शैली में व्याख्याएँ हैं। पश्चात् नव्य न्यायदर्शन में एक नवीन शैली का जन्म हुआ, जिसमें शब्दाडम्बर अधिक था, जिसे बाण ने गौणी रीति में स्वीकार किया है। इस प्रकार शैली के विभिन्न रूपों का दर्शन हमें संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता है।

लौकिक साहित्य के उदय की प्रभात वेला में जबकि क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से एक को व्याध के द्वारा बिद्ध देखकर महर्षि वाल्मीकि के मुख से सरस्वती सहसा फूट पड़ी[1], एक नवीन शैली का जन्म हुआ। वह 'रसमयी-पद्धति' कहलाई, जिसे कि 'सुकुमार-मार्ग' के नाम से अभिहित किया जाता है। सुकुमारमार्ग में कोमल शब्दों का प्रयोग होता है। वाल्मीकीय रामायण इसी शैली में निबद्ध किया गया और इसी शैली में महाभारत, पुराण साहित्य एवं कालिदास के ग्रन्थ रचे गये। यह युग रस-युग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार 'नाट्य-शास्त्र' के पूर्व तक साहित्य-रचना की अनेक शैलियाँ विकसित हो चुकी थीं, किन्तु उनका शास्त्रीय विवेचन नहीं हो पाया था।

रीति का शास्त्रीय विवेचन 'नाट्यशास्त्र' से प्रारम्भ होता है। वहाँ पर स्पष्ट

---

१. मा निषाद ! प्रतिष्ठास्त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ (वाल्मीकीय रामायण)

रूप से रीति नाम से विवेचन तो उपलब्ध नहीं होता किन्तु प्रवृत्ति के अन्तर्गत आवन्ती, दाक्षिणात्या, पाञ्चाली, उड्रमागधी ये चार शैलियाँ मानी गई हैं।[1] 'नाट्यशास्त्र' में पृथ्वी के नाना देशों के वेश-भूषा, भाषा, आचार, वार्ता को प्रकट करने वाली प्रवृत्ति कही कही गयी है।[2] इस प्रकार देश की प्रमुख विशेषताओं के आधार पर शैली का निर्माण हो चुका था और उसके शास्त्रीय विवेचन की रूपरेखा 'नाट्यशास्त्र' से प्रारम्भ होती है। 'नाट्यशास्त्र' के इस विवेचन के आधार पर अग्निपुराणकार ने रीति का स्पष्ट विवेचन किया है। वहाँ पर 'वक्तृत्वकला' के रूप में रीति का स्वरूप स्वीकार कर रीति के चार-भेद स्वीकार किये गये हैं—वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली और लाटी।[3] वस्तुतः ये नामभेद से 'नाट्यशास्त्र' की प्रवृत्ति के ही रूप हैं—

अग्निपुराण	नाट्यशास्त्र
वैदर्भी	दाक्षिणात्या
गौड़ी	उड्रमागधी
पाञ्चाली	पाञ्चाली
लाटी	आवन्ती

इस प्रकार अग्निपुराणकार ने चारों रीतियों का पृथक्-पृथक् स्वरूप निर्दिष्ट कर शास्त्रीय रूप प्रदान किया। रीति का व्यापक अर्थ लेते हुये रीति को समास, अलङ्कार एवं मृदु पदावली से सम्बद्ध किया, जोकि काव्यशास्त्रियों के लिये विवेच्य विषय रहा। बाण ने यद्यपि रीतियों का शास्त्रीय विवेचन नहीं किया है किन्तु रीति के सम्बन्ध में वे 'अग्निपुराण' की ही मान्यता स्वीकार करते हैं। उत्तर भारत के लोग श्लेषप्राय, पश्चिम के लोग अर्थगौरव, दाक्षिणात्य उत्प्रेक्षा और पूर्व भारत के लोग अक्षरडम्बर पसन्द करते हैं।[4] बाण का कथन है कि नवीन भाव-सौन्दर्य, अग्राम्या जाति, अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रस और विकटाक्षरबन्ध इन सबका एकत्र सन्निवेश दुर्लभ है।[5] बाण के कथन से हमारे ही मत की पुष्टि होती है। बाण स्पष्ट रूप से

---

१. चतुर्विधाप्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चोड्रमागधी॥ (नाट्यशास्त्र १४/३६)

२. पृथिव्यां नानादेशवेशभाषाचारवार्ताः ख्यापयतीति प्रवृत्तिः। (नाट्यशास्त्र)

३. वाग्विद्या सम्प्रतिज्ञाने रीतिः सापि चतुर्विधा। (अ० पु० ३४०/१)

४. श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौड़ेष्वक्षरडम्बरः॥ (हर्षचरित)

५. नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्॥ (बाणभट्ट)

रीति का नाम लेते हैं, किन्तु उनकी विवेचन शैली से यह तात्पर्य प्रस्फुटित होता है कि रीति एक रचना-शैली है। उनकी इस शैली के अन्तर्गत रस, गुण, अलङ्कार आदि सभी समाविष्ट हैं। उस समय रीति के विभाजन का आधार प्रादेशिक था, किन्तु वाण ने स्वयं इसे महत्त्व नहीं दिया है। भामह इस प्रादेशिक आधार को मान्यता न देते हुये तथा रीति का व्यापक अर्थ लेते हुए रीति के अर्थ में 'काव्य' का प्रयोग करते हैं। वे 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' को काव्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए काव्य के प्रकारों में गौड़ तथा वैदर्भ का उल्लेख करते हैं। उनका कथन है कि अमुक काव्य वैदर्भ होने से श्रेष्ठ है और अमुक गौड़ होने से हेय, यह उचित नहीं है। कोई भी वस्तु नाममात्र से सुन्दर या असुन्दर नहीं होती। वैदर्भ काव्य में यदि स्पष्टता (प्रसादगुणयुक्त), सरलता एवं कोमलता हो, पुष्टार्थता एवं वक्रोक्ति न हो तो वह संगीत के समान केवल श्रुतिमधुर होता है। इसी प्रकार गौड़ काव्य भी अलंकारयुक्त, अग्राम्य, अर्थवान्, न्यायसम्मत तथा अनाकुल होने से श्रेष्ठ होता है। अन्यथा इन गुणों से हीन वैदर्भ भी श्रेष्ठ नहीं होता है।[1] अतः भामह के अनुसार दोनों काव्य अपने-अपने स्थान पर प्रशस्य हैं। किन्तु इनके ये दो प्रकार तो उपलक्षणमात्र हैं अर्थात् इनके अतिरिक्त काव्य के और भी प्रकार हो सकते हैं, जैसा कि दण्डी की शब्द-योजना से स्पष्ट होता है। "यद्यपि वाणी के अनेक मार्ग हैं और उनमें सूक्ष्म भेद भी होता है किन्तु वैदर्भ और गौड़ दो ही मार्ग प्रशस्त हैं क्योंकि इन दोनों का भेद स्पष्ट है।"[2] दण्डी के इस कथन से यही तात्पर्य प्रस्फुटित होता है कि शब्द-रचना के अनेक मार्ग हैं अर्थात् रचना का अनेक शैलियों में विभाजन किया जा सकता है और यही दण्डी की रीति विवेचना है। दण्डी का यह विवेचन भामह के मत की स्पष्टता का पूरक है। इस प्रकार भामह रीति के व्यापक अर्थ का ही समाधान करते हैं।

इन शैलियों का विवेचन भामह तथा दण्डी के पूर्व भी विद्यमान था। उस समय भी विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की शैलियाँ प्रचलित थीं। आज भी विभिन्न प्रान्तों की विभिन्न भाषाएँ एवं विभिन्न रचना शैलियाँ विद्यमान हैं। उस समय विभिन्न देशों की रचना-पद्धतियों में विशेषताएँ थीं जिन्हें कि बहुमत मान्य करता था। उन्हीं के आधार पर इन शैलियों का विभाजन हुआ होगा, किन्तु बाद में काव्य-पद्धतियों के विकास के साथ-साथ उन विशेषताओं का बन्धन भी शिथिल हुआ, कवियों के स्वभाव एवं रुचि के अनुसार उनमें परिवर्तन हुआ, किन्तु परिवर्तन के बाद भी

---

१. अपुष्टार्थमवक्रोक्तिः प्रसन्नमृजुकोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्॥
अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौड़ीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा॥ (काव्यालंकार १/३४-३५)

२. अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौड़ीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ॥ (काव्यादर्श १/४०)

नाम उसी रूप में रहे। जब उनका शास्त्रीय विवेचन आरम्भ हुआ। 'अग्निपुराण' के समय वे केवल देश विशेष से सम्बद्ध न रहकर रचनाशैली से सम्बद्ध हो गये। भामह, जिन्होंने प्रायः 'अग्निपुराण' का अनुसरण किया है, वे भी 'अग्निपुराण' का अनुसरण करते हुए देश विशेष की सीमा में नियन्त्रित शैली-विभाजन का विरोध करते हैं किन्तु उस समय उसका स्वरूप क्या रहा होगा, यह सम्भवतः आज के आलोचकों को ज्ञात नहीं है। तत्तद्देशों की वेश-भूषा, रहन-सहन एवं भाषण-शैली विभिन्न प्रकार की होती रही है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि इनका यह स्वरूप रूढ़ हो गया होगा, जैसाकि पतञ्जलि के इस कथन से स्पष्ट होता है कि देश देशान्तरों में एक ही शब्द विभिन्न प्रकार से उच्चरित होते रहे हैं[1]। क्या यह उस देश की उच्चारण-शैली नहीं कही जा सकती? इस प्रकार तत्तद्देश की रचना-शैली भी पृथक्-पृथक् रही होगी। काव्यशास्त्रियों ने उसे नियन्त्रण में बांध कर उसे रीति के स्वरूप में सीमित कर दिया और उसे शास्त्रीय विवेचन का स्वरूप दे दिया। यद्यपि यह कार्य 'नाट्य-शास्त्र' एवं 'अग्निपुराण' के समय से ही प्रारम्भ हो गया था किन्तु श्रेय भामह एवं दण्डी को मिला। भामह ने उसके उसी व्यापक अर्थ का स्वरूप शास्त्रीय रूप में परिणत किया, किन्तु दण्डी उसका स्वरूप गुणों तक ही सीमित रखते हैं। जहाँ भामह रीति (काव्य) का स्वरूप अलङ्कार, गुण, दोषादि के विचारों तक निर्धारित करते हैं, वहाँ दण्डी ने उनकी अपेक्षा रीति का स्थान सीमित कर केवल वैदर्भ मार्ग को ही दश गुणों से सम्बद्ध करके उसे वैदर्भ मार्ग का प्राण बताया है।[2] दण्डी की इस विचारधारा के शैथिल्य को सामने रखकर वामन ने रीति को काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में देखा[3]। वामन के अनुसार शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं और रीति उसकी आत्मा है (रीतिरात्मा काव्यस्य)। रीति का लक्षण उन्होंने पद-रचना बताया है। वामन् के मत में रीति तीन प्रकार की होती है— वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली। उनके अनुसार सम्पूर्ण काव्यसौन्दर्य इन तीन रीतियों में उसी प्रकार समाविष्ट हो जाता है जिस प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र प्रतिष्ठित रहता है[4]। वामन के अनुसार रीति का अर्थ है रचना-शैली, जो गुणाश्रित है और गुण काव्य

---

१. प्रियतद्धिताः दाक्षिणात्या। यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुञ्जते""सर्वेऽपि खल्वेते शब्दाः देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते।......यथा शवतिर्गति-कर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एवैनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमागधेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जन्ते। (महाभाष्य पस्पशा-ह्निक)

२. इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः (काव्यादर्श)

३. रीतिरात्मा काव्यस्य (का० अ० सू० १/२/६)

४. एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रकाव्यं प्रतिष्ठितमिति। (काव्यालंकार सूत्र वृत्ति। १/२/१३)

सुशोभित करने वाले नित्य धर्म हैं। दोष गुणाभाव के रूप हैं। गुण के योग एवं दोष के त्याग से काव्य में सौन्दर्य आता है। अतः सौन्दर्य रस तथा बाह्य सौन्दर्य अलङ्कार है।[१] इस प्रकार वामन की इस शब्द-योजना के अन्तर्गत गुण, दोष, रस, अलङ्कार आदि सभी समाविष्ट हैं।

वामन के पश्चात् आनन्दवर्धन पद-संघटना को रीति मानते हैं। वामन की पद-रचना और आनन्द की संघटना एक ही हैं, किन्तु जहाँ वामन रीति को गुणाश्रित मानते हैं वहाँ आनन्द गुणाश्रित होते हुए भी रसाभिव्यक्ति का साधन बताते हैं।[२] उन्हें रीति के आत्म-तत्त्व वाली मान्यता मान्य न हुई और उन्होंने ध्वनि को आत्मा के स्थान पर आरोपित कर ध्वनिवाद का प्रवर्त्तन किया। ध्वनिवाद के इस युग में रीति के शास्त्रीय महत्त्व में शिथिलता हुई और इसी युग में कुन्तक ने, जिन्हें ध्वनि के आत्मतत्त्व का पक्ष स्वीकार नहीं है, वक्रोक्ति को आत्मस्थान प्रदान किया।[३] कुन्तक ने यद्यपि वक्रोक्ति को काव्य का जीवन स्वीकार किया किन्तु उन्होंने रीति की भी व्यापकता स्वीकार करते हुए उसे 'कविप्रस्थानहेतु' कहा है। इसका अर्थ होता है जिससे कवि प्रस्थान करे। दूसरे शब्दों में यह रचना-शैली है। क्योंकि मानव स्वभाव के आधार पर सुकुमार आदि तीन मार्ग रचना-शैली से पृथक् नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार कुन्तक ने प्रकारान्तर से रीति की व्यापकता को स्वीकार किया है। राजशेखर 'वचनविन्यासक्रम' को रीति मानते हैं।[४] यह वचनविन्यास क्रम रचना-शैली से पृथक् नहीं है। वचन का अर्थ है शब्द और विन्यासक्रम का अर्थ है रचना। इस प्रकार शब्द-रचना, रचना-शैली से भिन्न नहीं कही जा सकती।

मम्मट रीति का पृथक् विवेचन न कर अनुप्रासालङ्कार के अन्तर्गत उपनागरिका, परुषा और कोमला इन तीन वृत्तियों का प्रतिपादन करते हैं। ये ही तीन रीतियाँ वामन आदि आचार्यों के मत में मान्य तीन रीतियाँ हैं।[५] ऐसी मान्यता प्रदान कर मम्मट नियत वर्णगतरस-विषयक व्यापार को वृत्ति मानते हैं।[६] मम्मट ध्वनिवादी आचार्य हैं। वे रीति की व्यापकता-अव्यापकता को अपना लक्ष्य नहीं बनाना चाहते थे। उन्हें तो ध्वनिवाद की स्थापना कर व्यञ्जना की सिद्धि करनी थी। सम्भवतः उन्हें रीति की व्यापकता का ध्यान रहा हो और उसे शैली के रूप

---

१. का० अ० सू० प्रथमाधिकरण।

२. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसादीन् ....। (ध्वन्यालोक ३/६)

३. वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्। (कुन्तक)

४. वचनविन्यासक्रमो रीतिः। (काव्य-मीमांसा)

५. एतास्तिस्रो वृत्तयो वामनादीनां मते वैदर्भी गौड़ीया पाञ्चाल्याख्या रीतय उच्यन्ते)। (काव्यप्रकाश, नवम उल्लास)

६. नियतवर्णगतो रसविषयको व्यापारः। (काव्यप्रकाश वृत्ति)

में स्वीकृत कर सभी काव्यतत्त्वों को उसमें समाविष्ट कर ध्वनि-काव्य का विवेचन किया हो और वृत्ति का विवेचन पृथक् रूप से न किया हो। विश्वनाथ रसों का उपकार करने वाले अङ्गसंस्थान के समान पदों की संघटना को रीति मानते हैं[१]। विश्वनाथ यद्यपि काव्य के अनेक भेद मानते हैं जो शैली के परिचायक हैं। लौकिक साहित्य की प्रभातकालीन 'रसमयी शैली' को काव्य का स्वरूप माना है किन्तु रीति नाम से नहीं। सम्भवतः उन्होंने मौलिकता दिखाने के लिये ही ऐसा किया होगा और रीति को रसोपकारक काव्य के रूप में। जहाँ वामन ने उसे आत्मा का स्थान प्रदान किया था, विश्वनाथ अंगसंस्थान तक ही सीमित रखते हैं।

इस प्रकार रीति के स्वरूप का विवेचन कर हम देखते हैं कि कुछ आचार्यों ने यदि उसे काव्य को आत्मा माना है तो कुछ उसे काव्य के कलेवर को मनोरूप देने वाली सज्जा मानते हैं और उसके प्रभाव में मादक स्पन्दन उत्पन्न करने वाली गति स्वीकार करते हैं। वेद की ऋचाओं में उनका जन्म हुआ और कवियों ने उसी के आश्रय में अपने-अपने काव्य को चमत्कृत किया है—ऐसा स्वीकार करने में सम्भवतः आचार्यों ने उसके चमत्कारी स्वरूप की चकाचौंध के कारण ही उसकी अनेक नामों से संस्तुति की है, उसे अनेक आभरण पहनाये हैं। साथ ही उसके अङ्गप्रत्यङ्गों में से किसी को कोई अत्यन्त रुचिर प्रतीत हुआ तो किसी को कोई।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य कुन्तक हैं। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित (जीवन) कहा है। इसलिए उनके ग्रन्थ का नाम 'वक्रोक्ति जीवित' पड़ा। काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। वक्रोक्ति शब्द का अर्थ है वक्र-उक्ति—अर्थात् टेढ़ा कथन। तात्पर्य यह है कि काव्य में वक्र (घुमा-फिराकर) कथन को 'वक्रोक्ति' कहते हैं। 'वक्रोक्ति' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग भामह ने किया है। भामह वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का पर्याय मानते हैं और इसे काव्य का जीवनाधायक तत्त्व मानते हैं। उनका कथन है कि काव्य का सौन्दर्याधायक तत्त्व अलंकार है और किसी भी अलंकार का अस्तित्व वक्रोक्ति के बिना नहीं हो सकता।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥[२]

भामह के अनुसार वक्रोक्ति से रहित वाक्य काव्य नहीं होता, बल्कि वार्तामात्र होता है। इसीलिए उन्होंने हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलंकार नहीं माना है। क्योंकि इनमें वक्रोक्ति नहीं है।

आचार्य दण्डी ने समस्त वाङ्मय को दो भागों में बाँटा है—स्वभावोक्ति और

१. पदसंघटना रीतिरंगसंस्थानविशेषवत्। उपकर्त्तुं रसादीन्। (साहित्यदर्पण ९/१)
२. काव्यालंकार (भामह) २/८५

वक्रोक्ति। उन्होंने स्वाभाविक या यथार्थ कथन को स्वभावोक्ति अलंकार माना है और स्वाभाविक कथन से भिन्न वक्र या अतिशय कथन को वक्रोक्ति कहा है।

भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्[1]

दण्डी ने उपमा आदि सभी अलंकारों को वक्रोक्ति के अन्तर्गत माना है और इस वक्रोक्ति की शोभा श्लेष से बढ़ती है (**श्लेषः सर्वत्र पुष्णाति प्रायोवक्रोक्तिषु श्रियम्**[2]) दण्डी ने भी वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का पर्याय मानकर अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का मूल माना है। वामन ने वक्रोक्ति को एक अलंकार विशेष माना है और उसे अलंकार में परिगणित किया है। उनके अनुसार सादृश्य पर आश्रित रहने वाली लक्षणा वक्रोक्ति है (सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः[3]) रुद्रट ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना है। जो वाक्छल पर आधारित है और श्लेष एवं काकु रूप से इसके दो भेद होते हैं। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को एक मानते हुए उसे काव्य-सौन्दर्य का अभिव्यञ्जक माना है। उनके अनुसार सभी अलंकार अतिशयोक्ति गर्भित होते हैं।

"यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया"[4]

अभिनव ने आनन्द के दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों में सामान्य बताया है और वक्रोक्ति का आधार बताया है--

शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता, लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थान-मेवासावलंकारस्यालंकारान्तर्भावः। लोकोत्तरेण चैवातिशयः, तेनातिशयोक्तिः सर्वा-लंकारसामान्यम्।[5]

मम्मट ने आनन्द के समान वक्रोक्ति को शब्दालंकार मानकर श्लेष और काकु भेद किये हैं। भोज ने वक्रोक्ति को अधिक व्यापक रूप में देखा और उन्होंने रसादि को वक्रोक्ति से पृथक् मानकर समस्त वाक्य-वाङ्मय को तीन वर्गों में विभाजित किया है--वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, और रसोक्ति।

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।[6]

अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने मम्मट का अनुसरण करते हुए वक्रोक्ति को शब्दालंकार मात्र माना है।

---

१. काव्यादर्श २/३६२
२. वही
३. काव्यालंकार सूत्र ४/३/८
४. ध्वन्यालोक ३/३७ की वृत्ति
५. ध्वन्यालोक (लोचन)
६. स्वरस्वतीकण्ठाभरण ५/९

कुन्तक की वक्रोक्ति उक्त सभी आचार्यों से विलक्षण है। उन्होंने वक्रोक्ति को अलंकार न मानकर उसे काव्य की आत्मा स्वीकार करके वक्रोक्ति के एक नवीन स्वरूप की स्थापना की है। उन्होंने वक्रोक्ति का स्वरूप इस प्रकार बताया है कि किसी विषय या वस्तु का लौकिक प्रकार से भिन्न आलौकिक ढंग से कथन वक्रोक्ति है। यह कवि-कौशल पर आश्रित होता है और इसमें जनसाधारण के कथन से विलक्षण कथन होता है।

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ।[1]

इसकी व्याख्या में उन्होंने स्वयं कहा कि कवि की रचना-चातुर्य से शोभित विचित्र उक्ति वक्रोक्ति है।

'वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्मकौशलं तस्य विच्छित्तिः तया भणितिः विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिः।

इस प्रकार कुशल कवि के काव्य रचना रूप कर्म का कौशल और उसकी भंगी (चमत्कार) के द्वारा जो कथन है उसे वक्रोक्ति कहते हैं। इस प्रकार विचित्र अभिधा ही वक्रोक्ति है।

वक्रोक्तिः-प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा[2] ।

इस प्रकार कुन्तक के मत में लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है और यह वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है। उन्होंने रस, ध्वनि और औचित्य इन तीनों की अपेक्षा वक्रोक्ति को अधिक महत्त्व दिया है। क्योंकि उनकी वैदग्ध्यभंगी-भणिति रूप वक्रोक्ति उक्त तीनों को अपने में आत्मसात् कर लेती है। यही कारण है कि उन्होंने वैदग्ध्यभंगीभणिति रूप वक्रोक्ति को ही प्रधान होने के कारण काव्य जीवित कहा है।

"वक्रोक्तिजीवितकार. पुनर्वैदग्ध्यभंगीभणितिस्वभावा बहुविधां वक्रोक्तिमेव प्राधान्यात् काव्यजीवितमुक्तवान् ।"[3]

इस प्रकार कुन्तक ने वक्रोक्ति सम्प्रदाय की स्थापना कर काव्यशास्त्र में चिन्तन की एक मौलिक दिशा प्रदान की है जिसका समर्थन परवर्ती आचार्यों ने भी किया है। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट का कथन है कि "शास्त्रादि प्रसिद्ध मार्ग का परित्याग कर चमत्कार की सिद्धि के लिए उसी अर्थ को जब दूसरे प्रकार से कहा जाता है तो उसे वक्रोक्ति कहते हैं।" बाण ने वक्रोक्ति की प्रशंसा करते हुए कहा कि—

---

१. वक्रोक्तिजीवितम् १/१०
२. वही १/१० की वृत्ति
३. वही।

"वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा।" इस प्रकार लोकोत्तर चमत्कार-पूर्ण वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है और यह वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति छः प्रकार की बताई है—

(१) वर्णविन्यास वक्रता (२) पदपूर्वार्द्ध वक्रता (३) पदोत्तरार्द्ध वक्रता (४) वाक्य-वक्रता (५) प्रकरण-वक्रता (६) प्रबन्ध-वक्रता।

कुन्तक ने इन छः प्रकार की वक्रताओं का सविस्तार वर्णन किया है। उनका कहना है कि वक्रताओं के अन्य भी प्रकार हो सकते हैं किन्तु यहाँ मुख्य भेदों का ही निदर्शन किया गया है। उनकी वक्रता इतनी व्यापक एवं बहुमुखी है कि इसके अन्तर्गत रस, ध्वनि, गुण एवं अलंकार सभी का समावेश किया जा सकता है।

कुन्तक का यह वक्रोक्तिसिद्धान्त, अलंकार-सिद्धान्त की ही एक शाखा है; एक अंग है क्योंकि वक्रोक्ति उक्ति-वैचित्र्य अथवा वक्र कथन के अतिरिक्त कुछ नहीं है और उक्ति-वैचित्र्य ही अलंकार होता है (वैचित्र्यमलंकारः) वैचित्र्य अथवा वक्रता से विशिष्ट अलंकार ही अलंकार माना जाता है और वह वक्रोक्ति का ही रूप है।

ध्वनि-सम्प्रदाय

काव्यशास्त्र के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय 'ध्वनि-सम्प्रदाय' है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्धन हैं, इन्होंने ध्वनि को काव्य का जीवित भूत तत्त्व माना है। उनका कहना है जो स्थान शरीर में आत्मा का है वही स्थान काव्य में ध्वनि का है। इस प्रकार ध्वनि काव्य की आत्मा है।

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः।[1]

आनन्दवर्धन ने यहाँ आत्मा का अर्थ तत्त्व किया है और तत्त्व का अर्थ है जिसके स्वरूप का कभी बाध न हो। अर्थात् जिस प्रकार आत्मा के स्वरूप का कभी बाध नहीं होता है, उसी प्रकार ध्वनि के स्वरूप का भी कभी बाध नहीं होता है। इस प्रकार ध्वनिकार आत्मा को अर्थ रूप में स्वीकार करते हैं। काव्य का वह आत्म स्थानीय अर्थ है प्रतीयमान। यही प्रतीयमान अर्थ काव्य की आत्मा है। यह अर्थ आदि कवि वाल्मीकि की वाणी में काव्य रूप में प्रस्फुटित हुआ था। जब क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से एक को व्याध के द्वारा बिद्ध देखकर उसके वियोग से उत्पन्न उनका शोक श्लोक रूप में परिणत हो गया था।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरः।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोको श्लोकत्वमागतः॥[2]

आनन्द के अनुसार यह प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही तत्त्व है जो अङ्गना के

---

१. ध्वन्यालोक १/१
२. वही १/५

प्रसिद्ध अवयवों से भिन्न लावण्य के समान महाकवियों की वाणी में वाच्यार्थ से भिन्न भासित होता है। यही अर्थ सहृदयों के हृदय को आनन्दित करने वाला है।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥[१]

इस प्रकार आनन्द के अनुसार प्रतीयमान अर्थ ही ध्वन्यर्थ या व्यङ्ग्यार्थ है और यही सारभूत पदार्थ है। यह सारभूत तत्वरूप ध्वन्यर्थ कहीं रसादिरूप में कहीं अलंकार रूप में और कहीं वस्तु रूप में भासित होता है।

एवं वस्त्वलंकाररसभेदेन त्रिधा ध्वनिः।[२]

इनमें वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि की अपेक्षा रस-ध्वनि श्रेष्ठ है और यही काव्य की आत्मा है। अभिनवगुप्त इसी का समर्थन करते हुए कहते हैं कि वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि तो रस में पर्यवसित होती है अतः रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है—

"तेन रस एव वस्तुत आत्मा'। वस्त्वलंकारध्वनो तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्याबुत्कृष्टो तौ इत्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।"[३]

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने यद्यपि प्रतीयमान अर्थ में वस्तुध्वनि तथा अलंकार ध्वनि रूप अन्य भेद भी स्वीकार किया है किन्तु रसध्वनि को ही सारभूत काव्य की आत्मा माना है। आनन्द के अनुयायी अभिनव ने रस-ध्वनि को ही काव्य की आत्मा कहा है—

"सर्वत्र रसध्वनेरेवात्मभावः"।[४]

आनन्द ने रसध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है, किन्तु इससे वस्तु-ध्वनि को काव्यात्म क्षेत्र से बाहर नहीं रखा जा सकता। वस्तुतः रस, वस्तु, अलंकार तीनों ही ध्वनि के भेद हैं और ध्वनि को काव्य की आत्मा मान लेने पर रस, वस्तु तथा अलंकार रूप सभी काव्य के जीवितभूत सिद्ध हो जाते हैं। अतः ध्वनिकार ने मुख्य रूप से ध्वनि को ही काव्य की आत्मा कहा है।

'काव्यास्यात्मा ध्वनिः।'[५]

ध्वनि क्या है? ध्वनिकार के मतानुसार 'जहाँ पर वाच्य अपने स्वरूप को तथा वाचक अपने अर्थ को गौण बनाकर व्यंग्य अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्यविशेष को ध्वनि कहते हैं।

---

१. ध्वन्यालोक १/४
२. ध्वन्यालोक (लोचन)
३. ध्वन्यालोक (लोचन) १/५
४. वही।
५. वही १/१

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।[१]

अभिनवगुप्त ने ध्वनि शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ करके ध्वनि के अन्तर्गत शब्द, अर्थ और व्यापार तीनों का समावेश कर दिया है। उन्होंने ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है --

(१) **ध्वनति इति ध्वनिः**
(२) **ध्वन्यते इति ध्वनिः**
(३) **ध्वननं ध्वनिः ।**

जब हम 'ध्वनति इति ध्वनिः' इस प्रकार व्युत्पत्ति करते हैं तो इसका अर्थ वाचक शब्द भी होता है और वाक्य अर्थ भी। इस प्रकार वाचक शब्द भी ध्वनि है और वाच्य अर्थ भी ध्वनि है।

तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीतिकृत्वा ।[२]

जब 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' कर्मवाच्य में व्युत्पत्ति करते हैं तो इसका अर्थ व्यंग्यार्थ होगा। इस प्रकार व्यंग्य अर्थ भी ध्वनि है।

सम्मिश्रयते विभावानुभावसंवलनयेति व्यंग्योऽपि ध्वनिः इति कृत्वा ।[3]

जब 'ध्वननम् इति ध्वनिः'। इस प्रकार व्युत्पत्ति करते हैं तब इसका अर्थ 'शब्द और अर्थ का व्यापार' होता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ का व्यापार भी ध्वनि है।

शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः न चासावभिधारूपः ।
अपि त्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वननं ध्वनिः ।[४]

इन चारों का समुदाय ही काव्य है अर्थात् उक्त चारों ध्वनियाँ (शब्द, अर्थ, व्यंग्यार्थ और व्यंजना व्यापार) काव्य में रहती हैं अतः काव्य को भी ध्वनि कहा जाता है।

काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः, उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात् ।[५]

अभिनवगुप्त ध्वन्यालोक में ध्वनि की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि वाचक शब्द भी ध्वनि है और वाच्यार्थ भी ध्वनि है, क्योंकि दोनों का व्यञ्जकत्व ध्वनन व्यापार होता है। विभाव, अनुभाव आदि के संवलन् से जो सम्मिलित होता है वह व्यंग्यर्थ भी

---

१. ध्वन्यालोक १/१३
२. वही १/१३ की वृत्ति
३. वही ।
४. वही ।
५. वही ।

ध्वनि है, क्योंकि वह ध्वनित किया जाता है। शब्द का व्यापार भी ध्वनि है जो अभिधारूप न होकर आत्मभूत तत्त्व है। काव्य नाम वाला पदार्थ भी ध्वनि है क्योंकि उसमें ध्वनि के उक्त चारों प्रकार निहित रहते हैं!

"तेन वाच्योऽपि ध्वनिः, वाचकोऽपि ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। सम्मिश्रयते विभावानुभावसंवलनयेति व्यङ्ग्योऽपि ध्वनिः ध्वन्यते इति कृत्वा शब्दनं शब्दः शब्दव्यापार; न चासावभिधादिरूप, अपित्वात्मभूतः सोऽयं ध्वननं ध्वनिः काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः। उक्त प्रकारध्वनिचतुष्टमयत्वात्॥[1]

इस प्रकार आनन्दवर्धन और अभिनव दोनों ने ही वाच्य, शब्द, व्यंग्यार्थ, व्यञ्जना व्यापार तथा इन चारों से युक्त काव्य इन पाँचों को ध्वनि नाम से अभिहित किया है, किन्तु इन पाँचों में उन्होंने काव्य को ही मुख्य माना है। उनका कहना है कि काव्य में शब्द भी होता है, वाच्यार्थ भी होता है, व्यंग्यार्थ भी होता है, व्यञ्जना व्यापार भी होता है और इन सबका समूह ही काव्य होता है, अतः मुख्य रूप से काव्य को ही ध्वनि कहते हैं।

अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम्। व्यङ्ग्योऽपि वा ध्वन्यते। ध्वन्यते इति। व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्।[2]

अभिनवगुप्त का कथन है कि कुछ विद्वान् चारुत्व-प्रतीति को काव्य की आत्मा मानते हैं। इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। दोनों एक ही बात है। चाहे उसे ध्वनि कहें अथवा चारुत्व प्रतीति कहें। इस वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक व्यंग्यार्थ ही ध्वनि काव्य है। ध्वनिवादी आचार्य अपने मत की पुष्टि में वैयाकरणों के मत का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि वैयाकरणों ने प्रधानभूत स्फोट रूप व्यंग्य की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द के लिए ध्वनि का प्रयोग किया है। तत्पश्चात् तन्मतानुयायी काव्यशास्त्रियों ने भी उसके लिए 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का परिशीलन कर ध्वनि को सर्वोपरि पद पर प्रतिष्ठित किया और ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना की। उन्होंने गुण, अलंकार, रीति, वृत्ति आदि सभी को ध्वनि के अन्तर्गत समाविष्ट कर दिया। उनके अनुसार ध्वनि ही एकमात्र तत्त्व है जिसमें सभी काव्य तत्त्व समाहित हो जाते हैं।

ध्वनि-सिद्धान्त एक प्राचीन सिद्धान्त है। आनन्द के पूर्व भी अनेक आचार्यों ने इस विषय पर विचार किया है। अभिनव का कथन है कि यह सिद्धान्त किसी एक

---

१. ध्वन्यालोक के १/१३ की वृत्ति
२. वही।

विद्वान् द्वारा प्रतिपादित नहीं है, बल्कि अनेक विद्वानों ने भलीभाँति विचार करके प्रतिपादित किया है, उसका यह प्रवाह अविच्छिन्न रूप से चलता रहा।

आनन्द के अनुसार ध्वनि का संकेत भरत के काव्यशास्त्र में देखने को मिलता है। नाट्यशास्त्र में रस को प्रमुख तत्त्व स्वीकार किया गया है और ध्वनि तत्त्व रस का ही विस्तृतीकरण रूप है। भरत के बाद अग्निपुराण में रस को काव्य का जीवन कहा गया है और आक्षेप अलंकार को ध्वनि नाम से अभिहित किया है। इसके अतिरिक्त भामह, दण्डी, बामन, कुन्तक आदि आचार्यों ने भी प्रकारान्तर से ध्वनि सिद्धान्त को स्वीकार किया है। मेरे विचार से ध्वनि-सिद्धान्त, रस सिद्धान्त का ही विकसित रूप है और रस-सम्प्रदाय से ही ध्वनि सम्प्रदाय का विकास हुआ है।

औचित्य-सम्प्रदाय

औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक क्षेमेन्द्र माने जाते हैं। उन्होंने औचित्य को रससिद्ध काव्य का जीविततत्त्व कहा है। (**औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्**[1])। इस आधार पर उन्हें औचित्य सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक माना जाता है किन्तु उनके जन्म के बहुत पहले से ही इस विषय पर विचार होता रहा है। सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र में औचित्य की चर्चा की गयी है। वहाँ बताया गया है कि लोक में जो वस्तु जिस रूप में, वेश में, जिस मुद्रा में उपलब्ध हो, उसका उसी रूप में, उसी वेश में और उसी मुद्रा में अनुकरण करना चाहिए। इसलिए नाट्यशास्त्र में पात्रों की भाषा, वेश-भूषा आदि के विधान पर अधिक बल दिया गया है। भरत का कथन है कि नाटक में पात्रों को देश, काल और वय (अवस्था) के अनुरूप ही वेश-भूषा धारण करनी चाहिए, जो वेश-भूषा देश-काल के अनुरूप नहीं है वह शोभाजनक नहीं हो सकती। जैसे वक्ष पर मेखला धारण करना उपहास का कारण है।

आदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥[2]

भरत के पश्चात् भामह ने औचित्य को काव्य का सबसे बड़ा गुण बताया है। उनके मत से अनौचित्य सबसे बड़ा दोष है। दण्डी ने भी गुण दोष के विधान में औचित्य और अनौचित्य को कारण स्वीकार किया है। रुद्रट ने अनौचित्य को दोष का कारण बताया है। देश, कुल, जाति, विद्या, धन, आयु, स्थान और पात्रों के व्यवहार, वेश में अनौचित्य का होना ग्राम्यत्व दोष होता है।

आनन्दवर्धन ने औचित्य को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। उनका कथन है कि रस का उन्मेष परमरहस्य औचित्य है और अनौचित्य ही रसभंग का प्रधान कारण है। अनुचित वस्तु के सन्निवेश से काव्य में रस का परिपाक उत्पन्न नहीं हो

---

१. औचित्यविचारचर्चा ५
२. नाट्यशास्त्र २३/६८

सकता। उनके मतानुसार अलंकार, गुण, रीति आदि का विनियोजन रस के औचित्य की दृष्टि से किया जाता है। उनके अनुसार औचित्य के द्वारा किसी वस्तु के उपनिबन्धन रस का परम रहस्य है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥[1]

अभिनवगुप्त ने औचित्य का महत्त्व स्वीकार करते हुए कहा है कि रस-ध्वनि के साथ औचित्य का नित्य सम्बन्ध है और औचित्य रस-ध्वनि का प्राणभूत है। भोज ने औचित्य सिद्धान्त की आवश्यकता बताते हुए कहा है कि विषय, वक्ता, देश, काल के औचित्य के आधार पर कवि को भाषा का प्रयोग करना चाहिए। प्रबन्ध काव्यों में रस अलंकार आदि का विनियोग औचित्य के आधार पर करना चाहिए। इस प्रकार भोज ने औचित्य की महत्ता स्वीकार की है। कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में विभिन्न प्रकार की वक्रताओं का प्रतिपादन करते समय औचित्य की आवश्यकता स्वीकार की है। उनका कथन है कि वस्तु, रस आदि में औचित्य का निर्वाह करना चाहिए। महिमभट्ट ने काव्य में औचित्य को अनिवार्य तत्त्व बताया है। उन्होंने रस के अनौचित्य को काव्य का सबसे महान् दोष माना है।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित कर औचित्य सम्प्रदाय की स्थापना की है। औचित्य क्या है? इसका विवेचन करते हुए क्षेमेन्द्र कहते हैं कि जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है उसे 'उचित कहते हैं' और उचित का जो भाव है वह औचित्य कहलाता है—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते॥[2]

यह औचित्य ही रस का जीवितभूत है, उसका प्राण है और काव्य में चमत्कारी तत्त्व है। जिस काव्य में जीवितभूत औचित्य नहीं है, उसमें अलंकारों और गुणों का विनियोग निरर्थक है। अलंकार तो अलंकार ही है और गुण तो गुण ही है, वह काव्य का जीवितभूत तत्त्व नहीं हो सकता, रसनिविष्ट काव्य का जीवन तो औचित्य ही है।

अलंकारास्त्वलंकाराः गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्[3]**॥**

क्षेमेन्द्र का कथन है कि अलंकारों में अलंकारत्व तभी होता है जबकि उनका विन्यास उचित स्थान पर होता है और गुणों में गुणत्व तभी होता है जबकि वे औचित्य से च्युत नहीं होते हैं—

---

१. ध्वन्यालोक ३/१४ की वृत्ति
२. औचित्यविचारचर्चा, ७
३. वही, ५

उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृति ।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणाः गुणाः ।।[1]

आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है कि रसों के विनियोजन में भी औचित्य का विधान परम आवश्यक है । यदि काव्य में रसों का विनियोजन उचित रूप में किया जाता है तभी उसमें रमणीयता आती है । अनुचित स्थान व समय में रस का नियोजन नीरसता को उत्पन्न करता है और काव्य में दोष माना जाता है । इसलिए आनन्द ने अनौचित्य को रसभंग का एकमात्र कारण माना है । क्षेमेन्द्र की दृष्टि में औचित्य से युक्त रस-विनियोग सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने में समर्थ होता है ।

क्षेमेन्द्र का कथन है कि औचित्य काव्य के प्रत्येक अंग में व्याप्त है । जिस स्थान पर औचित्य नहीं रहेगा, वहीं रस का भंग हो जायेगा । इससे काव्य उपहासास्पद हो जायेगा । अतः काव्य में औचित्य का निर्वाह आवश्यक है । काव्य में औचित्य का निर्वाह न होने पर वह काव्य उपहसनीय होता है । जिस प्रकार लोक में सुन्दरी रमणी गले में मेखला पहन ले, नितम्बों पर हार धारण कर ले, हाथ में नूपुर बाँध ले और पैर में केयूर धारण कर ले तो कौन उसका उपहास नहीं करेगा । इसी प्रकार यदि कोई पुरुष विनम्र व्यक्ति पर तो वीरता दिखाये और शत्रु पर करुणा प्रदर्शित करे तो कौन उसका उपहास नहीं करेगा ? यही स्थिति काव्य में है । औचित्य के अभाव में न तो अलंकार ही शोभा धारण करता है और न गुण ही रुचिरता उत्पन्न करता है । यही नहीं, वल्कि रस भी रमणीयता उत्पन्न नहीं करता है ।

कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा ।
शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यतां,
औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नो गुणाः ।।[2]

इस प्रकार काव्य के प्रत्येक अंग में औचित्य के व्याप्त होने के कारण क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का जीवित (प्राण) कहा है । उनका कथन है कि रस में रसत्त्व, अलंकार में अलंकारत्व, गुण में गुणत्व और रीति में रीतित्व तभी होते हैं जबकि औचित्यपूर्ण उनका संविधान होता है ।

क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' में औचित्य के सत्ताईस भेदों का निरूपण किया है किन्तु काव्य के प्रत्येक अंगों में औचित्य के व्याप्त होने के कारण उसके अनेक भेद हो सकते हैं ।

---

१. औचित्यविचारचर्चा ६

२. औचित्यविचारचर्चा ६ की व्याख्या

इस प्रकार काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में प्रतिपादित विभिन्न पक्षों के आधार पर काव्यालंकारशास्त्र के इतिहास में छ: सम्प्रदायों की कल्पना की गई है, किन्तु यह परिकल्पना सर्वथा उपयुक्त प्रतीत नहीं होती; क्योंकि रस-सम्प्रदाय में रस को काव्य की आत्मा कहा गया। इस रस-सिद्धान्त का विस्तार ध्वनिकार के ध्वनि-सिद्धान्त में देखा जाता है। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है, दोनों सिद्धान्तों में मूलतः एक ही तत्त्व विद्यमान है 'रस'। इसीलिए आनन्द ने विविध ध्वनि की (वस्तु, अलंकार, और रस) कल्पना करके रस (रस-ध्वनि) को काव्य की आत्मा कहा है और वस्तु एवं अलंकार (ध्वनि) को रस में अन्तर्भूत कर दिया (**तेन रस एवं वस्तुत आत्मा वस्त्वलंकार ध्वनिस्तु रसं प्रति पर्यवस्येते**)।[1] इस प्रकार रस-सिद्धान्त का महत्त्व अधिक बढ़ गया है।

अग्निपुराणकार एक अन्य पक्ष प्रस्तुत करते हैं। उनके मतानुसार ध्वनि एक अलंकार मात्र है। उन्होंने आक्षेप नामक एक अलंकार स्वीकार किया है और उसे ही ध्वनि कहा है। (**स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः**)।[2] इस प्रकार ध्वनि भी एक अलंकार है। इस प्रकार वक्रोक्ति, रीति, औचित्य आदि भी अलंकार ही हैं। वक्रोक्ति को तो प्रायः अनेक आचार्यों ने अलंकार माना है, क्योंकि वक्रोक्ति वक्र-उक्ति, उक्ति-वैचित्र्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और उक्ति-वैचिश्य ही अलंकार है। (**वैचित्र्यमलंकारः**)। इस प्रकार वक्रोक्ति एक अलंकार है। अलंकार-सिद्धान्त की एक शाखा है, एक अंग है, इसका विकास इस प्रकार समुदाय से ही हुआ है। अतः इसे पृथक् मान्यता देना उचित नहीं प्रतीत होता है। भोज ने रीति को शब्दालंकार माना है। रीति काव्य के कलेवर को मनोरम रूप देने वाली एक शय्या है। उसके प्रभाव से स्पन्द उत्पन्न करने वाली गति है, जिसके आश्रय से कवि-गण अपने-अपने काव्य को चमत्कृत किया करते हैं। अतः रीति चमत्कार-जनक होने से काव्य का अलंकार है। औचित्य दोषाभाव मात्र है; क्योंकि भोज ने अनौचित्य को एक दोष के रूप में माना है। मेखलादि का कण्ठ आदि अनुचित स्थान पर सन्निवेश दोष नहीं है, तो और क्या है? अनौचित्य को रसभङ्ग का एकमात्र कारण माना गया है और काव्य में औचित्य के अभाव में रसदोय उत्पन्न होता है। अतः अनौचित्य रस-दोष है और दोष का अभाव अनौचित्य है। इस प्रकार औचित्य एक गुण है। अतः औचित्य का अलग सम्प्रदाय मानना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। इस बढ़ प्रकार वक्रोक्ति, रीति आदि का समावेश अलंकार में होने से अलंकार का महत्त्व अधिक गया है। अतः अलंकार-सम्प्रदाय अथवा अलंकार-सिद्धान्त एक व्यापक एवं महत्त्व-पूर्ण सिद्धान्त (सम्प्रदाय) है और दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है—रस-सिद्धान्त, जिसे सभी आचार्यों ने सिद्धान्त के रूप में मान्यता दी है।

---

१. ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत वृत्ति

२. काव्यालंकारशास्त्र।

चमत्कार-सम्प्रदाय

वस्तुतः काव्य में मूलतत्त्व चमत्कार है। शब्द और अर्थ काव्य है और काव्य में काव्यत्व चमत्कार है। 'चमत्कारसारञ्च काव्यम्'। यह चमत्कार कविप्रतिमा-प्रसूत होता है। चमत्कारविशिष्ट ही शब्द और अर्थ काव्य होते हैं। इसलिए चमत्कार ही काव्य की आत्मा है। (**चमत्कारैकप्राणौ शब्दार्थौ काव्यम्**)। चमत्कार से ही समस्त काव्य जीवित रहता है। चमत्कार के बिना काव्य हो ही नहीं सकता। चमत्कार होने पर ही काव्य में काव्यत्व रहता है। (**चमत्कारेणैव सर्वं काव्यं जीवति, नहि चमत्कारशून्यं काव्यं किञ्चिदस्ति**)—इस प्रकार काव्य में प्रधानीभूत तत्त्व चमत्कार है। काव्य में जो जीवनी शक्ति डालकर उसे सजीव बनाता है, उसे चमत्कार कहते हैं। इस प्रकार काव्य में एक महनीय जीवनाधायक तत्त्व है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने चमत्कार-विशिष्ट शब्द को काव्य कहा है (**चमत्कारवत्त्वमेव काव्यम्**) [1]। व्याख्याकार पं० बदरीनाथ झा ने कहा है कि चमत्कार-विशिष्ट होने पर ही शब्द काव्य होता है। (**चमत्कारविशिष्टत्वे सति शब्दत्वं काव्यत्वम्**)।[2] इस प्रकार चमत्कार को उत्पन्न करने वाली भावना-विषयक अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहते हैं। यहाँ चमत्कार का अर्थ है लोकोत्तरत्व। पण्डितराज ने चमत्कार को लोकोत्तरत्व का पर्यायवाची माना है। (**लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारापरपर्यायः**[3])। इस चमत्कारत्व या लोकोत्तरत्व में ही रमणीयता रहती है और यह काव्यालंकार का प्रधान तत्त्व माना गया है। अभिनवगुप्त के अनुसार चमत्कार एक निर्विघ्न संवेदन है, यह चमत्कार एक अखण्ड भोगावेश है, अद्भुत (विलक्षण) भोग (आस्वाद) के स्पन्दन रूप आवेश है यह चमत्कार (आस्वाद) साक्षात्कार रूप, मानस प्रत्यय (अध्यवसाय), संकल्प या स्मृति है जिसका उस-उस रूप में स्फुरण होता है।[4] अभिनव के अनुसार चमत्कार आनन्द का पर्याय है। लोक में समस्त विघ्नों से विनिर्मुक्त संवित्ति को चमत्कार कहते हैं। इसे ही रसन, आस्वादन, भोग, (योग में) समापति (संगीत में) लय और (अद्वैत में) विश्रान्ति कहते हैं।[5] चमत्कार को ही हृदयत्व, चारुत्व, सौन्दर्य, वैचित्र्य, विच्छित्ति-विशेष तथा भणिति-

---

१. रसगङ्गाधर, प्रथम आनन

२. वही

३. वही

४. ....अद्भुतभोगात्मस्पन्दविष्टरूपे च मनःस्सरणं चमत्कारः। स च चमत्कारः साक्षात्कारस्वाभावो मानसाध्यवसायो वा संकल्पों वा स्मृतिर्वा तथात्वेन स्फुरन्नस्तु (अभिभवभारती अध्याय ६, रससूत्र)।

५. सकलविघ्नविनिर्मुक्ता संवित्तिरेव चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्ति लयविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते (अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय-रससूत्र-व्याख्या)

प्रकार भी कहते हैं। इस प्रकार यह चमत्कार काव्य, नाट्य, संगीत आदि सब जगह हृदयत्व के रूप में विद्यमान रहता है। यह मुख्यतः अलंकार और रस इन दो रूपों में अभिव्यक्त होता है। (रसादिरलंकारश्च द्वयं चमत्कारहेतुः) अलंकार में जीवन शक्ति डालकर उसे सजीव बनाने वाला तत्त्व चमत्कार है। चमत्कार से अलंकृत होने पर ही अलंकार में अलंकारत्व रहता है। चमत्कारहीन अलंकार अलंकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चमत्कार ही अलंकार का निकष है। इसी आधार पर अलंकारवादी विचारकों का एक दल खड़ा हुआ, जो काव्य में अलंकार को प्रमुख तत्त्व स्वीकार करता हुआ विभिन्न प्रकार से उसका विवेचन करता रहा है। इस तत्त्व को सौन्दर्य-पोषक के रूप में काव्य का सर्वस्व माना गया है। काव्य में एक आवश्यक तत्त्व वस्तु है। वस्तु के स्वभाव का कथन स्वाभावोक्ति अलंकार माना गया है, क्योंकि इस प्रकार के कथन में भी चमत्कार रहता है, अन्यथा वह अलंकार की परिधि से बाहर हो जायेगा। यद्यपि कुन्तक और महिमभट्ट इसे अलंकार नहीं मानते, किन्तु अलंकार-वादी विचारक दण्डी, रुद्रट, भोज आदि इसे अलंकार के रूप में मान्य करते हैं। दण्डी ने तो इसे पृथक् अलंकार माना है। अलंकारों के द्वारा चमत्कार की अभि-व्यक्ति वाच्य और व्यङ्ग्य दो रूपों में होती है। वामन ने भी वाच्य और प्रतीय-मान (व्यङ्ग्य) अलंकारों की व्यवस्था दी है। वाच्यरूप में वह चमत्कार शब्दचित्र और वाच्यचित्र दो रूपों में अभिव्यक्त होता है। यद्यपि मम्मट के इसे अवर-काव्य माना है। किन्तु इसमें भी तो चमत्कार है तो अवर-काव्य कैसे? चमत्कार तो काव्य का हृदय है ही, चाहे वह वाच्य रूप में हो अथवा व्यङ्ग्य रूप में। भले ही वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य में चमत्कार का आधिक्य पाया जाता है। इसीलिए अलंकारवादी विचारक अलंकार को काव्य का प्रमुख तत्त्व मानते हैं। यही अलंकारतत्त्व व्यङ्ग्य रूप में अभिव्यक्त होने पर ध्वनि-काव्य कहा जाता है। वस्तुतः ध्वनि कोई पृथक् तत्त्व नहीं है, वह एक विशिष्ट चमत्कारपूर्ण अलंकार ही है, वह अलंकार का व्यङ्ग्यमूलक चमत्कारिक तत्त्व है। अग्निपुराण में उसे (ध्वनि) को अलंकार ही माना गया है। (स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः)। वक्रोक्ति जिसे कुन्तक ने एक सम्प्रदाय माना है, वह एक उक्तिवैचित्र्यपूर्ण अलंकार ही है। जिसके द्वारा वस्तुगत चमत्कार काव्य में अभिव्यक्त होता है।

वैदग्ध्यभङ्गीभणिति ही वक्रोक्ति है और चमत्कार-जनक होने से ही इसे काव्य का जीवन कहा गया है। भामह ने अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को व्यङ्ग्य-प्रधान अलंकार माना है।

रसवादी आचार्य रसगत चमत्कार की प्रधानता मानते हैं। उनकी दृष्टि में लोकोत्तर चमत्कार रस का प्राण है। यह चमत्कार अनुभूति का विषय है। हृदय का विस्तार ही चमत्कार है (**चमत्कारत्वं च चित्तविस्तारात्मक वृत्तिधर्मविशेषः**) इसे चैतन्य से समीकरण किया गया है। अग्निपुराण के अनुसार हृदयान्तःपाति चमत्कार

की सहज अभिव्यक्ति ही आनन्द है, चाहे उसे रस कहलें अथवा चैतन्य या चमत्कार, सब एक ही वस्तु है (**चैतन्यचमत्काररसाह्व या**)। इसी कारण चैतन्यरूप चमत्कार को आत्मा कहा गया है। (**चमत्कार एवात्मा स चैतन्यं च यदुच्यते**)। यह चैतन्य ही आश्रय भेद से विभिन्न रूप में अवभासित होता है (**स एवाश्रयभेदेन धत्ते विविधरूपताम्**)। यह कभी अलंकार के रूप में अवभासित होता है तो कभी रस अथवा चैतन्य के रूप में। रस के रूप में यह एक अलौकिक चमत्कार है, यह निवृत्ति रूप आनन्द है और यह आनन्द ही चमत्कार है (**आनन्दो निवृत्यात्मा चमत्कारापरपर्यायः**)।[1] यह चमत्कार सभी रसों में प्राण रूप में अवस्थित है, सभी रसों में सारभूत तत्त्व है (**रसे सारश्चमत्कारः**—विश्वनाथ)। इसे रस, आस्वादन, चमत्करण आदि नामों से अभिहित करते हैं (**रसास्वादनचमत्करणादयो विलक्षणा एव व्यपदेशः**)। मम्मट के अनुसार शृङ्गारादि रस अलौकिक चमत्कार का जनक होता है (**अलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादिको रसः**)[2]। अभिनवगुप्त के मतानुसार चमत्कारैकप्राण आनन्द रूप अखण्ड रस की अनुभूति ही आस्वाद (आस्वादन) है, यह आस्वाद अलौकिक चमत्कार रूप आस्वाद है और यह आस्वाद रस से भिन्न नहीं, बल्कि रस रूप है रस ही चमत्कार है, चमत्कार ही आस्वाद है, और आस्वाद ही आनन्द है, आनन्द ही चमत्कार है।

अभिनवगुप्त के मतानुसार अलौकिक चमत्काररूप रसास्वाद स्मृति, अनुमान और लौकिक प्रत्यक्षादि संवेदना से विलक्षण होता है।[3] इस प्रकार रस एक अलौकिक चमत्कार है। यह चमत्कार अनुभूति का विषय है, इसलिए यह अनिर्वचनीय है।

इस प्रकार रस और अलंकार दोनों ही चमत्कार रूप हैं। चमत्कार के बिना न रस में रसत्व है और न अलंकार में अलंकारत्व। रस और अलंकार दोनों में ही चमत्कार जीवित तत्त्व है। यदि काव्य में अलंकार अथवा रस नहीं है तो चमत्कार कैसे ? और यदि चमत्कार नहीं तो उसे काव्य कैसे कहेंगे ? अतः काव्य में चमत्कार ही सार है (**चमत्कारश्च काव्यम्**)। चमत्कार ही काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है।

—पारसनाथ द्विवेदी

---

१. ध्वन्यालोकलोचन-अभिनवगुप्त

२. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, रस सूत्र की व्याख्या

३. अलौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमानलौकिकस्वसंवेदनविलक्षण एव (अभिनवभारती षष्ठ अध्याय रस सूत्र)

ॐ

काव्यप्रकाशः

अथ प्रथम उल्लासः

ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति—

डा० पारसनाथद्विवेदिविरचिता

काव्यप्रकाशप्रकाशिका हिन्दीव्याख्या

अनुवाद—ग्रन्थ के आरम्भ में ग्रन्थकार (आचार्य मम्मट) विघ्नों के विनाश के लिए समुचित (प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप) अपनी अभीष्ट देवी भारती का स्मरण करते हैं, स्तुति करते हैं—

विमर्श—यहाँ पर आरम्भ शब्द का अर्थ लक्षणा के द्वारा आरम्भ करने के पूर्व किया गया है। यहाँ आद्यकृति रूप मुख्यार्थ का बाध है और शीघ्र विघ्नों का नाश होना लक्षणा का प्रयोजन है। 'विघ्नविघाताय' में तादर्थ्य में चतुर्थी विभक्ति है। कार्य के प्रतिबन्धक अदृष्ट को विघ्न कहते हैं, उसके सर्वथा विनाश के लिए। **समुचितेष्टदेवतेति**—समुचित प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप इष्ट देवता भारती है। **परामृशति**—का अर्थ स्मरण करना, ध्यान करना, स्तुति करना है।

इस प्रकार ग्रन्थकार आचार्य मम्मट ग्रन्थ आरम्भ करने के पहिले कार्यसिद्धि के प्रतिबन्धक विघ्नों के सर्वथा विनाश के लिए समुचित अर्थात् प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप अपनी आराध्य देवी भारती का स्मरण करते हैं, स्तुति करते हैं।

टिप्पणी—**ग्रन्थेति**—पाँच अवयवों से युक्त वाक्य को ग्रन्थ कहते हैं (पञ्चाङ्गकं वाक्यं ग्रन्थः)। शास्त्रों में उन पाँच अंगों को 'अधिकरण' कहा गया है। वे पाँच अंग निम्न प्रकार हैं—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ।।१।।

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् ।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं मतम् ।।

विषय, विशय (संशय), पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और निर्णय ये पाँच अंग शास्त्र में अधिकरण माने गये हैं। ये ही पाँच ग्रन्थ के अंग भी कहे गये हैं। विषय का तात्पर्य प्रतिपाद्य विषय से है। काव्यप्रकाश के प्रतिपाद्य विषय हैं—काव्य का स्वरूप, प्रयोजन, हेतु, प्रकार आदि काव्यतत्त्व। इन काव्यतत्त्वों के विवेचन में संशय (सन्देह) उत्पन्न होना 'विशय' है। काव्यप्रकाश में प्रतिपाद्य विषयों के विवेचन के अवसर पर किसी भी विषय पर संशय होने पर उसे पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित कर यथा-स्थान उसका समाधान भी किया गया है। विभिन्न मत-मतान्तरों के पश्चात् अन्त में निर्णय प्रक्ष (सिद्धान्तपक्ष) स्थिर किया गया है। इस प्रकार काव्यप्रकाश में उक्त पाँच अङ्गों से युक्त वाक्यों (सन्दर्भों) का विवेचन होने से यह ग्रन्थ कहा जाता है। कुछ आचार्य ग्रन्थ का लक्षण निम्न प्रकार करते हैं—

सम्बन्धप्रयोजनज्ञानाहितशुश्रूषाजन्यश्रुतिविषयशब्दसन्दर्भो ग्रन्थः ।

'ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मंगलमाचरेत्' इस नियम के अनुसार ग्रन्थ के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में मंगलाचरण करना चाहिए। महाभाष्य में भी कहा गया है कि **'मंगलादीनि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि आयुष्यत्पुरुषाणि च भवन्ति अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति'** इस सिद्धान्त के अनुसार ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए तथा प्रवक्ता, श्रोता एवं अध्येताओं के मंगल के लिए ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण का विधान बताया गया है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर आचार्य मम्मट अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कविवाङ्निर्मिति की उत्कृष्टता प्रदर्शित करते हुए कवि-भारती का स्तवनरूप मंगलाचरण करते हैं—

अनुवाद—नियति के द्वारा निर्धारित नियमों से रहित, केवल आनन्दमयी (आनन्द-प्रचुरा), अन्य किसी के अधीन न रहने वाली अर्थात् समवायादि कारणों से निरपेक्ष, नव रसों के योग से मनोहारिणी निर्मिति (काव्य-सृष्टि) को प्रकट करने वाली कवि की भारती (वाग्देवी सरस्वती) सर्वोत्कृष्टा है (मैं उसकी स्तुति करता हूं) ।।१।।

विमर्श—भौतिक सृष्टि की अपेक्षा कवि-सृष्टि की उत्कृष्टता बताते हुए महर्षि व्यास ने अग्निपुराण में कहा है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते ॥

अर्थात् इस अपार काव्य-जगत् का निर्माता कवि है, उस कवि-प्रजापति को जैसा रुचता है वैसा ही अपनी रुचि के अनुसार काव्य-जगत् की रचना करता है. किन्तु आचार्य मम्मट ने उससे भी आगे बढ़कर कवि-सृष्टि को ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट बताया है। मम्मट ने उपर्युक्त मंगलाचरण में कवि-भारती की चार विशेषताओं का उल्लेख किया है जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

१—**नियतिकृतनियमरहितेति**—कवि-भारती की पहली विशेषता है—'**नियतिकृतनियमरहिता**' अर्थात् कवि की भारती नियतिकृत नियमों से रहित है जब कि ब्रह्मा की सृष्टि नियति के नियमों के अधीन हुआ करती है। नियति के अदृष्ट, नियामक शक्ति (प्रकृति) और असाधारण धर्म आदि कई अर्थ होते हैं। शैवदर्शन के अनुसार चिदात्मा की स्वातन्त्र्य-शक्ति ही नियतितत्त्व है। उसमें **कार्य**-कारणभाव के नियमन का सामर्थ्य और व्यापार रहता है जिसके कारण जागतिक-सृष्टि कार्य-कारण भावों की नियामक-शक्ति के अधीन होती है। किन्तु काव्य-सृष्टि कार्यकारण भाव के नियन्त्रण में नहीं होती। वह तो कवि की प्रतिभा का विलास है। वामनाचार्य झलकीकर का कथन है कि 'नियति' असाधारण धर्म है जिसके द्वारा सौरभादि धर्म नियन्त्रित रहते हैं, जैसे—पद्मत्व आदि (**नियम्यन्ते सौरभादयो धर्मा अनयेति नियतिरसाधारणो धर्मः पद्मत्वादिरूपः**)। उसके द्वारा किया गया नियम 'जहाँ-जहाँ पद्मत्व होता है वहाँ-वहाँ सौरभविशेष रहता है' (**तत्कृतो नियमश्च यत्र यत्र पद्मत्वं तत्र तत्र सौरभविशेषः**)। इस प्रकार की व्याप्ति को 'नियतिकृतनियम' कहते हैं। ब्रह्मा की सृष्टि नियतिकृत नियमों के अधीन (नियन्त्रण में) होती है किन्तु कवि की सृष्टि नियतिकृत नियमों के नियन्त्रण से सर्वथा विमुक्त रहती है। क्योंकि कवि अपनी प्रतिभा से एक ही वस्तु को विभिन्न रूपों में ढालता है। जैसे, कवि कान्ता के एक मुख को कहीं कमल तो कहीं चन्द्रमा तो कहीं प्रतिबिम्ब बना देता है जबकि ब्रह्मा की सृष्टि में वह सदा मुख ही रहता है।

वामनाचार्य नियति का अर्थ अदृष्ट (दैव) करते हुए कहते हैं कि ब्रह्मा की सृष्टि धर्माधर्मादि अदृष्ट के अधीन होती है किन्तु कवि की सृष्टि अदृष्ट के बन्धनों से सर्वथा मुक्त होती है। कवि तो अपनी कल्पना के सहारे अद्भुत सृष्टि (रचना) करता है। वह तो उसी शरीर से मनुष्य को स्वर्गलोक में पहुँचा देता है। **स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनि**)। इसीलिए कवि की सृष्टि को ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा विशिष्ट कहा गया है।

२. **ह्लादैकमयी**—कवि-निर्मिति की दूसरी विशेषता है—ह्लादैकमयी अर्थात् ह्लादमात्रस्वभावा। तात्पर्य यह कि ब्रह्मा की लोकसृष्टि सुख-दुःख-मोह-स्वभावा है, क्योंकि लोक-सृष्टि सत्त्व, रजस् और तमस् के संक्षोभ से होती है. इसलिए त्रिगुणा-

"नियतिशक्त्या नियतरूपा सुखदुःखमोहस्वभावा परमाण्वाद्युपादान-कर्मादिसहकारिकारणपरतन्त्रा षड्रसा न च हृद्यैव तैः, तादृशी ब्रह्मणो निर्मितिर्निर्माणम्, एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्मितिः, अतएव जयति, जयतीत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यते इति, तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते।"

त्मक होने से उसका सुखदुःखमोहस्वभावात्मक होना स्वाभाविक है। किन्तु कवि की सृष्टि में आनन्द ही आनन्द है उसमें दुःख एवं मोह का लेश भी नहीं है। केवल ह्लाद (आनन्द) की ही प्रचुरता है (ह्लादेन एकम् = ह्लादैकं (वस्तु) प्रचुरं यस्यां सा ह्लादैकमयी) अर्थात् कवि की सृष्टि आनन्द-प्रचुरा है। इस प्रकार आनन्दमात्र-स्वभावा होने से कवि-सृष्टि प्रजापति की सृष्टि से विलक्षण है।

३. अनन्यपरतन्त्राम्—कवि-निर्मिति की तीसरी विशेषता है—**अनन्यपरतन्त्राम्**—अर्थात् कवि की सृष्टि अन्य कारणों के अधीन नहीं हुआ करती (अन्यस्य भारतीभिन्नस्य परतन्त्रा अधीना न भवति, ताम्-अनन्यपरतन्त्राम्)। यहाँ परतन्त्र शब्द का अर्थ 'अधीन' लिया गया है। अर्थात् कवि की सृष्टि समवायि-असमवायि-निमित्त कारणों के अधीन नहीं होती, जबकि ब्रह्मा की भौतिक सृष्टि समवायि, असमवायि और निमित्त कारणों के अधीन हुआ करती है, उसके बिना भौतिक सृष्टि असंभव है। किन्तु कवि की सृष्टि के लिए न तो समवायिकरण की अपेक्षा है और न असमवायिकरण की और न ही निमित्तकारण की अपेक्षा होती हैं; क्योंकि काव्य तो कवि के स्वातन्त्र्य शक्ति का उन्मेष है। अतः 'अनन्यपरतन्त्रा' होने के कारण कवि की सृष्टि प्रजापति की सृष्टि से विलक्षण है।

४. नवरसरुचिरामिति—कवि-निर्मिति की चतुर्थ विशेषता है—नवरसरुचिराम् अर्थात् कवि की सृष्टि श्रृंगारादि नव रसों से युक्त होने के कारण रुचिरा है, जबकि ब्रह्मा की भौतिक सृष्टि षट् रस अर्थात् मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त इन छः रसों से युक्त होती है और उनमें सभी रस सदा अनुकूल एवं रुचिकर नहीं होते; क्योंकि कटु रस अप्रिय भी होता है। कवि की सृष्टि में श्रृंगार, करुण, वीर आदि नव रस होते हैं और ये सदा प्रिय होते हैं। इसमें करुण रस भी परम आनन्द रूप होता है—

> **करुणादावपि रसे यत् जायते परमं सुखम्।**
> **सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥**

इसलिए कवि की सृष्टि नवरसरुचिरा होने के कारण ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है। अतः यह कविवाङ्निर्मिति विलक्षण है, (**एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्मितिः**)

इस प्रकार ब्रह्मा की भौतिक सृष्टि से अधिक उत्कृष्ट रचना करने वाली कवि-भारती 'जयति' सर्वोत्कृष्टा है। इसकी व्याख्या करते हुए मम्मट कहते हैं—

अनुवाद—"ब्रह्मा की भौतिक सृष्टि नियति (अदृष्ट) शक्ति से निश्चित रूपवाली, त्रिगुणात्मक होने से सुख-दुःख-मोह स्वभावा, परमाणु आदि उपादान कारण तथा कर्म आदि सहकारी कारणों के परतन्त्र (अधीन), मधुरादि छः रसों से युक्त, उनसे केवल हृद्य (आनन्दात्मक) ही नहीं, बल्कि अप्रिय भी है। क्योंकि कटु आदि अप्रिय भी होते हैं। किन्तु कवि-भारती की सृष्टि तो उससे सर्वथा विलक्षण होती है। अर्थात् कवि-निर्मिति उससे विलक्षण नियतिकृतनियमरहिता, आनन्दमयी, अनन्यपरतन्त्रा और नवरस-रुचिरा होती है। अतएव कवि-भारती लोक-सृष्टि से उत्कृष्ट (बढ़कर) है। यहाँ पर 'जयति' क्रिया के अर्थ से नमस्कार का आक्षेप होता है। इसलिए मैं उस कवि-भारती के प्रति प्रणत हूँ अर्थात् उसे प्रणाम करता हूँ, यह अर्थ प्राप्त होता है।

टिप्पणी—यहाँ पर 'कवेर्भारती' के दो अर्थ होते हैं—प्रथम काव्यरूप वाणी और दूसरा आराध्यदेवी सरस्वती। प्रथम पक्ष में कवि का भारती (काव्य) के साथ जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध है और द्वितीय पक्ष में कवि और भारती (देवी) का आराध्य-आराधक भाव सम्बन्ध है। यहाँ पर आराध्यदेवी सरस्वती के प्रति अनुराग होने के कारण भाव-ध्वनि है।

इस श्लोक में उपमानभूत ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा उपमेयभूत कवि-सृष्टि का आधिक्य बताया गया है अतः यहाँ व्यतिरेकालंकार है। व्यतिरेक अलंकार का लक्षण निम्न प्रकार है :—

उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।

इस श्लोक में गीति छन्द है। गीति छन्द का लक्षण निम्न प्रकार है—

आर्याप्रथमदलोक्तं यदि कथमपि लक्षणं भवेदुभयोः।
दलयोः कृतयतिशोभां तां गीतिं गीतवान् भुजंगेशः॥

आर्या का लक्षण श्रुतबोध में निम्न प्रकार बताया गया है—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये पञ्चदश चतुर्थके साऽऽर्या॥

परमाण्वादि—काव्यप्रकाश की प्रदीप और उद्योत नामक टीका में लिखा है कि 'परमाण्वादि सत्समवायिकारणं तदीयश्च यः स्पन्दः तत्प्रभृतिसहकारिपरतन्त्रा'। न्यायवैशेषिक में तीन प्रकार के कारण बताये गये हैं—समवायि, असमवायि और निमित्त कारण। कुछ विद्वान् उपादानकारण और निमित्तकारण दो ही मानते हैं। उपादानकारण को समवायिकारण कहते हैं। यहाँ पर परमाणु आदि उपादानकारण अर्थात् समवायिकारण है और कर्म-क्रिया रूप असमवायिकारण है, आदि पद से दण्ड-चक्रादि रूप अथवा ईश्वरेच्छा, दिक्, काल आदि निमित्त कारण हैं। ये दोनों अर्थात् असमवायिकारण और निमित्तकारण सहकारिकारण (अप्रधानकारण) हैं। इस प्रकार

लोक-सृष्टि परमाणु आदि उपादानकारण तथा कर्मादि (असमवायि और निमित्तकारण) रूप सहकारि कारणों के अधीन होती है !

इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि लोक-सृष्टि में परमाणु आदि उपादान कारण हैं। जालान्तर्गत (खिड़की, झरोखे आदि में) सूर्य की किरणों में जो सूक्ष्म रजकण दिखाई देता है उसका छठा भाग परमाणु होता है—

जलान्तर्गते भानोः यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तत् षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते ॥

यहाँ परमाणु आदि में **आदि** पद से द्व्यणकादि का ग्रहण होता है। ये परमाणु, द्व्यणुकादि ही लोक-सृष्टि के उपापादान या समवायिकारण है। यहाँ पर **कर्म** से क्रिया (उत्क्षेपण, आकुञ्चन, अपक्षेपण, प्रसारण, गमन) का ग्रहण होता है। अथवा स्पन्दन रूप एक ही क्रिया का ग्रहण होता है और उत्क्षेपण आदि उसमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। **आदि** पद से निमित्तकारण का ग्रहण होता है। ये स्पन्दन रूप कर्म तथा निमित्तकारण सहकारिकारण होते हैं।

सुखदुःखमोहस्वभावा—लोक-सृष्टि सुख, दुःख एवं मोह स्वभावा है। सुख, दुःख, मोह ये त्रिगुणात्मक हैं। सत्त्वगुण सुखात्मक, रजोगुण दुःखात्मक और तमोगुण मोहात्मक है। इस प्रकार त्रिगुणात्मक होने से लोक-सृष्टि सुखदुःखमोहस्वभावा है। लोक-सृष्टि में सभी पदार्थ सुखदुःखमोहात्मक होते हैं। एक ही पदार्थ में तीनों (सुख, दुःख, मोह) रहते हैं। वह किसी के लिए सुखकारक, किसी के लिए दुःखकारक और किसी के लिए मोहात्मक होता है। जैसे—एक ही स्त्री अपने प्रियतम के लिए सुखकारक, सौत के लिए दुःखकारक और उसे न प्राप्त करने वाले अन्य पुरुषों के लिए मोहकारक होती है। इसी प्रकार एक ही वस्तु किसी को सुख देती है तो दूसरे को दुःख देती है।

एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्मितिः—काव्यप्रकाश में कवि की सृष्टि को ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा विलक्षण बताया गया है। क्योंकि ब्रह्मा की सृष्टि नियतिकृत नियमों के अधीन होती है, किन्तु कवि की सृष्टि नियति के नियमों से सर्वथा विमुक्त रहती है। ब्रह्मा की सृष्टि त्रिगुणात्मक होने से सुख, दुख और मोह तीनों रूपों से युक्त होती है किन्तु कवि की सृष्टि सदैव सुखैकमयी होती है अर्थात् इसमें सदा सुख ही सुख रहता है। यहाँ तक कि करुणादि रस में भी सुख की उपलब्धि होती है। ब्रह्मा की सृष्टि कार्य-कारणादि भावों के अधीन होती है। किन्तु कवि की सृष्टि किसी के नियन्त्रण के अधीन नहीं होती। ब्रह्मा की सृष्टि में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त आदि छः रस होते हैं और ये कभी अरुचिकर भी होते हैं किन्तु कवि की सृष्टि नव रसों से युक्त तथा सदैव मनोहारिणी एवं प्रिय होती है। ये नव रस सदैव रुचिकर होते हैं। इसलिए कवि की सृष्टि को ब्रह्मा की सृष्टि से विलक्षण कहा गया है (**एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्मितिः**)।

इहाभिधेयं सप्रयोजनमित्याह—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।२।।

काव्य-प्रयोजन

'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते' इस न्याय के अनुसार मन्दबुद्धि भी व्यक्ति निष्प्रयोजन कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, कोई भी कार्य क्यों न हो. सभी प्रयोजन की अपेक्षा रखते हैं। अतः काव्यप्रकाश जैसे महान् ग्रन्थ का प्रयोजन भी निरुद्देश्य कैसे हो सकता है ? यतश्च यह ग्रन्थ काव्य का उपकारक है और काव्य उपकार्य । अतः काव्य का प्रयोजन ही इस ग्रन्थ का भी प्रयोजन है। यहाँ पर इस ग्रन्थ का जो प्रतिपाद्य विषय है वह सप्रयोजन है, ग्रन्थकार उसी का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

अनुवाद – 'काव्य-रचना यश के लिए, धन अर्जन के लिए, लोक-व्यवहार के ज्ञान के लिए, अमंगल के नाश के लिए, सद्यः परमानन्द की प्राप्ति के लिए और कान्ता-सम्मित (प्रिया के सदृश) होने से उपदेश के लिए होता है ।।२।।

विमर्श—काव्य-प्रयोजन के सम्बन्ध में आचार्यों ने पर्याप्त विचार किया है। सर्वप्रथम आचार्य भरत ने नाट्य (काव्य) का प्रयोजन बताया है कि नाट्य लोक का मनोरंजन करने वाला, विश्रान्ति प्रदान करने वाला, धर्म, यश एवं आयुष्य को प्रदान करने वाला तथा लोकोपदेशजनक होता है—

विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।
....
विश्रान्तिजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ।।

अग्निपुराण में नाट्य का प्रयोजन तो धर्म, अर्थ, काम बताया गया है (**त्रिवर्ग-साधनं नाट्यम्**) किन्तु काव्य का प्रयोजन तो चतुर्वर्ग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष है। आचार्य भामह का कथन है कि सत्काव्य के निर्माण से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा सम्पूर्ण कलाओं में निपुणता, कीर्त्तिलाभ (यश-प्राप्ति) और प्रीति (आनन्द) की प्राप्ति होती है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्त्ति प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ।।

कालिदासादीनामिव यशः, श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्, राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्, आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्, सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्, प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत् पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्त्तितव्यं न रावणादिवदितिव्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम् ॥२॥

भामह के पश्चात् आचार्य वामन काव्य का प्रयोजन बताते हुए कहते हैं कि काव्य के दो प्रयोजन हैं—प्रीति और कीर्त्ति। इनमें प्रीति को दृष्ट प्रयोजन और कीर्त्ति को अदृष्ट प्रयोजन माना गया है। उनके मतानुसार काव्य का प्रयोजन काव्य-शरीर के सौन्दर्य-दर्शन से उत्पन्न प्रीति (आनन्द) एवं कीर्ति है—

काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्त्तिहेतुत्वात्।

तदनन्तर आनन्दवर्धन ने 'प्रीति' को ही काव्य का प्रयोजन बताया है जो सहृदयों के हृदय की आनन्दानुभूति का विषय है (**तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्**)। उनके मतानुसार यह (प्रीति) सहृदयों के हृदय की विलक्षण आनन्दानुभूति है और जिसे रसवादी आचार्य रसानुभूति कहते हैं। रसानुभूति भी तो आनन्दानुभूति ही है, क्योंकि रस आनन्द रूप है (आनन्दो रसः)। आनन्दवर्धन के समान अभिनवगुप्त ने भी 'प्रीति' को ही काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है (**कवेस्तावत् कीर्त्याऽपि प्रीतिरेव सम्पाद्या। श्रोतॄणां च व्युत्पत्तिर्यद्यप्यस्ति तथापि प्रीतिरेव प्रधानम्**—(ध्वन्यालोकलोचन)। भोजराज ने कीर्त्ति और प्रीति दोनों को काव्य का प्रयोजन बताया है (**कीर्त्ति प्रीतिं च विन्दति**)। इनमें 'प्रीति' की व्याख्या करते हुए रत्नेश्वर ने सरस्वतीकण्ठाभरण की टीका में लिखा है कि "**प्रीतिः सम्पूर्णकाव्यार्थसमुत्थ आनन्दः**'। आचार्य कुन्तक ने भी 'प्रीति' (आनन्दानुभूति) को ही काव्य का प्रयोजन बताया है—

काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ॥
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥

पाश्चात्य विद्वान् भी रसानुभव को ही मुख्य प्रयोजन मानते हैं। उनके अनुसार आनन्द ही काव्य का परम प्रयोजन है। आचार्य मम्मट ने उक्त सभी मतों में समन्वय स्थापित करते हुए तथा उनमें संशोधन एवं परिमार्जन करके 'परिष्कृत

एवं विस्तृत रूप से काव्य के छः प्रयोजनों का प्रतिपादन किया है। मम्मट उनकी व्याख्या निम्न प्रकार करते हैं—

अनुवाद—कालिदास के समान यश, हर्ष आदि से धावक आदि के समान धन, राजा आदि के साथ उचित आचार (व्यवहार) का ज्ञान, सूर्य आदि से मयूर आदि के समान अर्थ (अमंगल) का निवारण, समस्त प्रयोजनों में मौलिभूत (मुख्य) सद्यः रसास्वादन से समुद्भूत वेद्यान्तर संस्पर्शशून्य परमानन्द की अनुभूति, प्रभुसम्मित (राजा के समान) शब्द प्रधान वेदादि शास्त्रों से तथा सुहृत्सम्मित (मित्र के समान) अर्थ-प्रधान पुराण-इतिहास आदि से विलक्षण, शब्द और अर्थ के गुणीभाव के कारण तथा रस के अंगभूत (सहायक) व्यापार में प्रवण (तत्पर) होने के कारण लोकोत्तर वर्णन में निपुण कवि का कर्म (कृति) जो काव्य है वह कान्ता के समान सरसता उत्पादन के द्वारा अपनी ओर उन्मुख करके, 'राम के समान व्यवहार करना चाहिए, रावण के समान नहीं' इस प्रकार का उपदेश यथायोग कवि और सहृदय दोनों को करता है उस काव्य के विषय में सब प्रकार से यत्न करना चाहिए ।।२।।

विमर्श—ग्रन्थकार आचार्य मम्मट काव्य के छः प्रयोजन बतलाकर अब सोदाहरण उनकी व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं—

१—काव्यं यशसे—काव्य का निर्माण यश के लिए होता है अर्थात् काव्य-रचना के द्वारा यश की प्राप्ति की जा सकती है। जैसे—कालिदास, भारवि, माघ आदि कवियों ने काव्य की रचना करके यश प्राप्त किया है—

कालिदासादीनामिव यशः

अर्थात् सत्काव्य के निर्माण से कालिदास आदि के समान यश की प्राप्ति होती है। सुधासागरकार का कथन है कि कालिदास तथा उनके कुल को कौन जानता था और न उनके द्वारा दिये गये दानादि की ही प्रसिद्धि है अतः काव्य ही उनके यश के कारण हैं। कहते हैं कि वाल्मीकि आदि कवि हैं अतः 'वाल्मीक्यादीनामिव यशः' कहना चाहिए था किन्तु 'कालिदासादीनामिव यशः', यह कथन इस बात को द्योतित करता है कि वाल्मीकि, व्यास आदि दिव्यादिव्य प्रकृति के होने से तथा अज्ञात कुलशील होने के कारण केवल काव्य-रचना ही उनके यश का कारण है। एडलर का कहना है कि 'यशलिप्सा ही मानव की सबसे प्रमुख स्वाभाविक प्रवृत्ति है'। जो प्रतिभावान् कवि यश की कामना करते हैं वे ही सत्साहित्य का सृजन करते हैं।

२—अर्थकृते—काव्य-रचना धनोपार्जन के लिए होती है। भोजप्रबन्ध में इस प्रकार की अनेक कथाएँ मिलती हैं जिनसे ज्ञात होता है कि कवियों ने काव्य-

रचना करके बहुत सा धन प्राप्त किया है। कहा जाता है कि धावक नामक किसी कवि ने महाराज हर्ष के नाम से रत्नावली नामक नाटिका रचकर बहुत सा धन प्राप्त किया था। साहित्यसार टीका के अनुसार अत्यन्त दरिद्र धावक नामक किसी पण्डित ने नैषधीय-चरित नामक शतसर्गात्मक महाकाव्य की रचना करके श्रीहर्ष नामक राजा से बहुत सी सम्पत्ति अर्जित की थी। इसीलिए कहा गया है—

श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्

३—व्यवहारविदे—काव्य व्यवहार-ज्ञान के लिए होता है। काव्य के द्वारा राजा आदि के साथ समुचित व्यवहार और अन्य के भी उचित आचार का ज्ञान होता है अर्थात् काव्य के अनुशीलन से राजा, मन्त्री, गुरु, माता-पिता, भाई-बन्धु आदि के उचित आचार-व्यवहार का ज्ञान अच्छी तरह किया जा सकता है। रामायण तो व्यवहार-ज्ञान का कोष है। गुरु, पिता, माता, भाई, पत्नी, सेवक आदि के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसका ज्ञान रामायण के द्वारा सहज में होता है। इसीलिए कहा गया है—

राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्

४—शिवेतरक्षतये—अमंगल का विनाश भी काव्य का एक प्रयोजन है। काव्य शिव का अर्थ मंगल, उससे इतर (भिन्न) अमंगल उसके विनाश के लिए (शिवं मंगलं, शिवादितरद् अमंगलं तस्य क्षतये विनाशायेत्यर्थः) होता है। जैसा कि मयूर कवि ने 'सूर्यशतक' नामक काव्य की रचना कर और उसके द्वारा सूर्य की स्तुति कर कुष्ठ रोग से निवृत्ति प्राप्त की थी।

आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्

तुलसीदास के सम्बन्ध में भी ऐसी प्रसिद्धि है कि उन्होंने हनुमानबाहुक की रचनाकर बाहु-पीड़ा से निवृत्ति पाई थी। इस प्रकार अन्य कवियों ने भी काव्य के द्वारा कल्याण की प्राप्ति की है।

५—सद्यःपरनिर्वृतये—समस्त प्रयोजनों में श्रेष्ठ प्रयोजन 'सद्यःपरनिर्वृत्ति' है। काव्य के पढ़ने या सुनने के अनन्तर ही तत्काल परमनिर्वृत्ति (परमानन्द) की प्राप्ति होती है। काव्य पढ़ने से पाठक को रसास्वादन होता है और वह एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति करता है, उस समय उसे किसी अन्य वस्तु का ज्ञान नहीं रहता। यह आनन्दानुभूति ही 'सकलप्रयोजनमौलिभूत' है, अन्य प्रयोजन तो आनुषंगिक हैं। इस अलौकिक आनन्द की अनुभूति काव्य के द्वारा ही संभव है; क्योंकि वेदादिशास्त्र और पुराणशास्त्र के अध्ययन से रसचर्वणा नहीं होती। ये चतुवर्ग की प्राप्ति भले ही करा दें, किन्तु रसास्वादन या आनन्दानुभूति नहीं करा सकते। आनन्द तथा अभिनव भी आनन्द को ही काव्य का मुख्य प्रयोजन मानते हैं (**चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि चानन्द एव पार्यन्तिकं मुख्यं प्रयोजनम्**)। अतएव मम्मट ने इसे विगलित वेद्यान्तर (वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य) तथा 'सकलप्रयोजनमौलिभूत' कहा है क्योंकि

परमानन्द प्राप्ति के बाद उसे कुछ भी ज्ञात नहीं रहता। इसी को स्पष्ट करते हुए मम्मट ने कहा है—

सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलित—वेद्यान्तरमानन्दम् ।

६—**कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे**— काव्य का अन्तिम प्रयोजन 'कान्तासम्मित-तयोपदेशयुजे' है। काव्य कान्ता के समान उपदेश देने के लिए है। क्योंकि वेदादि शास्त्रों की रचना तो शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति के लिए है किन्तु काव्य की रचना कान्तासम्मित उपदेश के लिए होती है। इसकी उपदेश-शैली उससे विलक्षण है, इसी विलक्षणता का प्रतिपादन करते हुए मम्मट ने त्रिविध उपदेश-शैली का प्रतिपादन किया है—

(१) **प्रभुसम्मित उपदेश**

(२) **सुहृत्सम्मित उपदेश**

(३) **कान्तासम्मित उपदेश**

प्रभुसम्मित उपदेश शब्दप्रधान होता है। शब्दप्रधान का अर्थ है—'शब्द-परिवृत्यसह। प्रभुसम्मितशब्दप्रधान वेदादिशास्त्र हैं। जिस प्रकार राजा या स्वामी जो कुछ आज्ञा (आदेश) देता है, उसे बिना किसी परिवर्तन के अक्षरशः पालन करना अनिवार्य है, चाहे वह इष्टकारक हो अथवा अनिष्टकारक। उसी प्रकार वेदादिशास्त्र भी शब्दप्रधान होने के कारण इष्टसाधन ज्योतिष्टोमादि, अनिष्टसाधन श्येनयगादि तथा फलरहित सन्ध्या-वन्दनादि में प्रवृत्त करता है।

द्वितीय उपदेश-शैली सुहृत्सम्मित है। इसमें अर्थ की प्रधानता होती है,, अर्थात् इसमें तात्पर्य (अभिप्राय) का अनुसरण किया जाता है। अर्थ में तात्पर्य रखने के कारण पुराणेतिहसादि की उपदेश शैली सुहृत्सम्मित है। यह शैली इष्ट-अनिष्ट के बोधमात्रपरक है। जैसे कोई मित्र अपने मित्र को 'ऐसा करने पर ऐसा होता है' 'अमुक व्यक्ति ने ऐसा किया तो ऐसा हो गया' इस प्रकार बोध कराता है उसी प्रकार पुराणेतिहासादि भी 'ऐसा करने पर इस प्रकार शुभ होता है, इस प्रकार करने पर इस प्रकार अनिष्ट होता है', केवल इस प्रकार का इष्ट-अनिष्ट का बोध कराते हैं, उसे नियोजित नहीं करते। वे मित्रोपदेश के समान उचित-अनुचित कार्य में केवल प्रवृत्ति-निवृत्ति का उपदेश देते हैं। इस प्रकार पुराणेतिहासादि की शैली सुहृत्सम्मित है।

तृतीय उपदेश-शैली इन दोनों से विलक्षण कान्तासम्मित है। इसमें न शब्द की प्रधानता होती है और न अर्थ की; बल्कि शब्द और अर्थ दोनों के अप्रधान (गुणभाव) होने से रस के अंगभूत व्यापार व्यंजना की प्रधानता होती है; क्योंकि

व्यंजना ही रस का अंगीभूत व्यापार है। इस प्रकार काव्य में व्यंजना के विषय व्यंग्यार्थ की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार लोकोत्तर (अलौकिक) वर्णन में निपुण कवि की कृति (कर्म) काव्य है अर्थात् व्यंग्यार्थप्रधान आह्लादजनक (चमत्कार-जनक) वर्णन में निपुण कवि का उस प्रकार का अलौकिक चमत्कारजनक कर्म (कृति) ही काव्य है। वह काव्य कान्ता के समान सरसता उत्पादन के द्वारा पुरुष को अपने अनुकूल करके उचित मार्ग पर ले जाने का उपदेश देता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार कान्ता (कामिनी) अपने प्रियतम को कटाक्ष, भुजक्षेप आदि के द्वारा सरसता उत्पन्न करके उसे अनुकूल करके किसी कार्य के लिए प्रेरणा देती है, उसी प्रकार काव्य भी सुकुमारबुद्धि नीतिशास्त्र से पराङ्मुख राजकुमारों को शृंगारादि रस के द्वारा अपनी ओर उन्मुख करके, 'रामादि के समान आचरण करना चाहिए, रावण के समान नहीं' इस प्रकार सदुपदेश देता है।

इस प्रकार काव्य का उपदेश कान्ता के मधुर वचनों के समान सरस होता है, क्योंकि इसमें रस की प्रधानता होती है, रसाभिव्यक्ति के सहायक विभावादि का संयोजन होता है और वह अलौकिक चमत्कारपूर्ण वर्णना में निपुण कवि की कृति है, अतः वह कान्ता के समान शृंगारादि रस के द्वारा श्रोता के मन को वश में करके उसे सन्मार्ग पर ले जाता है। अतः सहृदय को काव्यरसास्वादन में यत्न करना चाहिए।

कुछ विद्वानों का कथन है कि काव्य अशिष्ट, असत्य, असभ्य अर्थ के भी अभिधायी होते हैं और काव्य-निन्दा विषयक अनेक वचन उपलब्ध होते हैं और ऋषि-प्रणीत नहीं होते, अतः उसके लिए यत्न नहीं करना चाहिए। इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि शास्त्रों में भी अर्थवाद रूप में असत्य अर्थ का, निषेध रूप असदर्थ का, दृष्ट रूप में असभ्य अर्थ का अभिधान होता है और काव्यनिन्दा वचन असत्काव्य विषयक होते हैं, अतः सत्काव्य के विषय में यत्न करना चाहिए।

मम्मट ने काव्य में जो छः प्रयोजन बताये हैं उनमें यशसे, अर्थकृते और शिवेतरक्षतये ये तीन प्रयोजन कविनिष्ठ होते हैं और व्यवहारज्ञान, सद्यः परनिर्वृत्ति और कान्तासम्मित उपदेश ये तीन सहृदयनिष्ठ होते हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या कवि को रसानुभूति होती है या नहीं? इस पर कहते हैं कि रसास्वादन काल में कवि भी सहृदय की कोटि में आ जाता है। (**काव्यस्वादनकाले कवेरपि सहृद-यान्तःपातितया रसास्वादः**)। किन्तु मम्मट ने उनमें समस्त प्रयोजनों में सद्यः-परनिर्वृत्ति (आनन्दानुभूति) को ही सर्वोत्कृष्ट प्रयोजन बताया है, क्योंकि आनन्दा-नुभूति (रसानुभूति) ही काव्य-निर्माण का चरम लक्ष्य है और यह अनुभूति कवि और सामाजिक दोनों को होती है।

एवमस्य प्रयोजनमुक्त्वा कारणमाह—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।।३।।

काव्य-हेतु

इस प्रकार काव्य का प्रयोजन बतलाने के बाद ग्रन्थकार अब काव्य-हेतु का निरूपण कर रहे हैं—

अनुवाद—शक्ति, लोक-शास्त्र-काव्य आदि के पर्यवेक्षण से उत्पन्न निपुणता और काव्य के जानने वाले (कवि और आलोचक) की शिक्षा के द्वारा अभ्यास—ये तीनों मिलकर काव्य के उद्भव के हेतु हैं ।।३।।

विमर्श—आचार्य मम्मट ने शक्ति, निपुणता और अभ्यास के समुदित रूप को काव्य का हेतु माना है । उनके विचार से न केवल शक्ति ही हेतु है, न केवल निपुणता और न केवल अभ्यास ही हेतु है, बल्कि तीनों का सम्मिलित रूप ही काव्य का हेतु है । आचार्य मम्मट के काव्य-हेतु पर विचार करने के पूर्व काव्य-हेतु के सम्बन्ध में पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मतों पर दृष्टिक्षेप करना आवश्यक प्रतीत होता है । सर्वप्रथम महर्षि व्यास ने अग्निपुराण में काव्य-हेतुओं का प्रतिपादन किया है । अग्निपुराण के अनुसार संसार में मानव जन्म दुर्लभ है, यदि मानव-जन्म मिल भी जाय तो उसमें विद्या दुर्लभ है, यदि विद्या भी प्राप्त हो जाय तो उसमें कवित्व-शक्ति अत्यन्त दुर्लभ है, यदि शक्ति भी हो तो व्युत्पत्ति का ज्ञान कठिन है, यदि व्युत्पत्ति का ज्ञान भी हो तो विवेक अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि सभी मनुष्य सभी शास्त्रों को नहीं जानते, अतः सभी शास्त्रों को न जानने वाले मनुष्य सभी शास्त्रों के खोजने पर भी विवेक-ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते । इसलिए 'विवेक' को अत्यन्त दुर्लभ कहा गया है ।

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा ।।
व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः ।
सर्वं शास्त्रमविद्वद्भिर्मृग्यमाणं न दृश्यति ।।

अग्निपुराण के पश्चात् भामह ने शक्ति (प्रतिभा) पर अधिक बल देते हुए 'काव्यविदुपासन' एवं 'अन्यनिबन्धावलोकन' के द्वारा व्युत्पत्ति (निपुणता) तथा 'काव्यक्रियादरः' के द्वारा विवेक (अभ्यास) को काव्य-हेतु के रूप में उपन्यस्त किया है ।

काव्यं तु जायते जातु कस्यचिद् प्रतिभावतः ।
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम् ।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ।।

शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः, यां विनां काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षण-ग्रन्थानाम्, काव्यानां महाकविसम्बन्धिनाम्, आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः काव्यं कर्त्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिता न तु व्यस्ता, तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः ॥३॥

दण्डी ने नैसर्गिकी प्रतिभा के साथ-साथ शास्त्र-ज्ञान (निर्मलश्रुत) और अमन्दाभियोग (अभ्यास) को भी काव्य-हेतु के रूप में प्रतिष्ठित किया है। उनके अनुसार केवल प्रतिभा (शक्ति) ही काव्य-निर्माण में समर्थ नहीं है, बल्कि इसके साथ निर्मल शास्त्र-ज्ञान और अमन्दाभियोग भी आवश्यक है।

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥

रुद्रट ने शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों को एक साथ काव्य का हेतु माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि मम्मट ने रुद्रट से प्रभावित होकर, उनके अनुसार ही काव्य-हेतु का विवेचन किया है।

त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः।

इसके पश्चात् वामन, कुन्तक राजशेखर आदि आचार्यों ने भी अप्रत्यक्ष रूप से उपर्युक्त तीनों को काव्य-हेतु के रूप में मान्यता दी है। आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त सभी मतों में सामंजस्य स्थापित करते हुए शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनों के समुदित रूप को काव्य का हेतु स्वीकृत कर काव्य-शास्त्र के लिए एक सरल एवं स्वच्छ मार्ग की स्थापना की है। मम्मट उक्त तीनों हेतुओं की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

अनुवाद—शक्ति (प्रतिभा) कवित्व का बीजभूत संस्कार-विशेष है जिसके बिना काव्य का प्रसार नहीं हो सकता और यदि प्रसार हो भी जाय तो वह उपहास के योग्य होता है। लोक अर्थात् स्थावर-जङ्गम (जड़-चेतन) रूप जगत् के व्यवहार के, शास्त्र अर्थात् छन्द, व्याकरण, शब्द-कोश, कला (नृत्य-गीतादि), पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के प्रतिपादक ग्रन्थ, गज, तुरङ्ग और खड्ग आदि के लक्षण ग्रन्थों और महाकवियों के काव्यों के तथा आदि ग्रहण से इतिहास आदि के अनुशीलन से उत्पन्न व्युत्पत्ति (निपुणता) तथा जो काव्य करना तथा विचार करना जानते हैं उनके

उपदेश के अनुसार काव्य-निर्माण और उनके संयोजन में बार-बार प्रवृत्ति अभ्यास वे तीनों सम्मिलित रूप से न कि अलग-अलग काव्य के उद्भव अर्थात् निर्माण और विकास (उत्कर्ष) के हेतु हैं, ऐसा नहीं कि काव्य के निर्माण में तीन (पृथक्-पृथक्) कारण हैं ।।३।।

विमर्श—(१) **शक्ति**—आचार्य मम्मट ने शक्ति को काव्य का प्रथम हेतु स्वीकार किया है। इसी को आचार्यों ने प्रतिभा भी कहा है। प्रतिभा और शक्ति एक ही तत्त्व है। कवित्व का बीजभूत संस्कार विशेष ही शक्ति है। भाव यह कि कवि के हृदय में जन्म-जन्मान्तर के संस्कार संचित रहते हैं जो कवि के जन्म के साथ जन्म लेते हैं, उसे ही कवित्व का बीज कहा जाता है। वह कवि की आत्मा में विद्यमान सूक्ष्मतत्त्व है जिसे काव्यकला भी कहते हैं। उसके बिना काव्य की रचना नहीं हो सकती, यदि छन्दोबद्ध रूप में कुछ कर भी लिया जाय तो वह उपहास योग्य होता है। तात्पर्य यह कि यदि लोक-शास्त्र-काव्य आदि के पर्यवेक्षण से निपुणता तथा काव्य-ज्ञान की शिक्षा से अभ्यास हो भी जाय तो सर्वथा अनुपहसनीय काव्य का निर्माण नहीं हो सकता, उसके लिए तो कवित्व-शक्ति ही समर्थ है जो जन्म-जन्मान्तर से संचित अथवा दैविक शक्ति (प्रतिभा) है जिसके बिना काव्य-रचना हो ही नहीं सकती और यदि हो भी जाय तो वह उपहसनीय होता है।

मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने शक्ति (प्रतिभा) को काव्य का प्रधान कारण माना है। भामह ने प्रतिभा को ही काव्य का प्रमुख हेतु स्वीकार किया है। उनका कहना है कि प्रतिभा सम्पन्न कवि ही सर्वथा निर्दोष काव्य की रचना कर सकता है। आनन्दवर्धन ने तो शक्ति (प्रतिभा) को ही काव्य-रचना का प्रमुख कारण मानते हुए कहा है कि यदि व्युत्पत्ति के बिना कवि काव्य-रचना करता है और उसमें अव्युत्पन्न-जन्य दोष भी हो तो शक्ति के द्वारा उसका संवरण हो जाता है किन्तु शक्ति (प्रतिभा) के न होने पर रचा गया काव्य अन्तस्तत्त्वशून्य हो जायगा—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते ।।

देवीभागवत में कहा गया है कि 'नानृषिः कुरुते काव्यम्' अर्थात् जो संसार रूप प्राक्तन शक्ति से हीन है वह काव्य-रचना नहीं कर सकता, भले ही वह शब्द और अर्थ का संयोजन कर ले, किन्तु ऐसे काव्य की रचना नहीं कर सकता, जिसमें नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का सन्निवेश हो। नये-नये अर्थों का उन्मीलन करने वाली प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हैं (**प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता**)। कुन्तक ने पूर्व जन्म तथा इस जन्म के संस्कार के परिपाक से पुष्ट होने वाली विशिष्ट कवि-शक्ति को ही प्रतिभा कहा है (**प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः**)। वामन के अनुसार प्रतिभा कवित्व-बीज है (**कवित्वबीजः प्रतिभानम्**) अर्थात् प्रतिभा

पूर्वजन्म का संस्कार-विशेष है जो ईश्वर प्रदत्त होती है। इसी की सहायता से कवि भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों को देखता है। इसीलिए कवियों को क्रान्तदर्शी कहा गया है (कवयः क्रान्तदर्शिनः)। वे इन्द्रियातीत विषयों का साक्षात्कार कर लेते हैं।

(२) **निपुणता**—मम्मट के अनुसार काव्य-निर्माण का द्वितीय हेतु 'निपुणता' है। इसी को आचार्यों ने व्युत्पत्ति भी कहा है। लोक, शास्त्र, काव्यादि के अवेक्षण से निपुणता आती है। यहाँ लोक से तात्पर्य लोकवृत्त से है अर्थात् चराचरात्मक जगत् (लोक) के व्यवहार से निपुणता (व्युत्पत्ति) प्राप्त होती है। शास्त्र से तात्पर्य काव्यवर्णादिनियमबोधक शास्त्र से है। जैसे, पिंगल मुनि आदि आचार्यों द्वारा रचित छन्दःशास्त्र, प्रकृति-प्रत्यय आदि के विश्लेषणपूर्वक शब्द व्युत्पत्त्याधायक शास्त्र पाणिन्यादि-प्रणीत व्याकरणशास्त्र, नामादि के संग्राहक अमरसिंहादि-प्रणीत कोषग्रन्थ, नृत्य-गीत आदि ६४ कलाओं के प्रतिपादक ब्रह्मभरतकोहलादिप्रणीत कलाशास्त्र, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के प्रतिपादक ग्रन्थ (धर्मशास्त्र, स्मृतिशास्त्र, पुराणादि) धर्म-शास्त्र, अर्थ के प्रतिपादक गर्गादि प्रणीत अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्रादि; काम के प्रति-पादक वात्सायानादि प्रणीत कामशास्त्र, मोक्ष के प्रतिपादक व्यास-कपिलादिप्रणीत दर्शनशास्त्र एवं उपनिषदादि, पालकाप्यादि प्रणीत हयायुर्वेदादि गजशास्त्र, शालि-होत्रादि-प्रणीत अश्वशास्त्र तथा खड्ग आदि के प्रतिपादक धनुर्वेदादि लक्षणग्रन्थ, आदि के पर्यालोचन से निपुणता प्राप्त होती है। महाकवियों द्वारा रचित रामायण आदि काव्यग्रन्थ, आदि पद से इतिहासादि का ग्रहण होता है। महाभारत आदि इतिहास हैं इनके बारम्बार पर्यालोचन एवं चिन्तन से भी निपुणता (व्युत्पत्ति) प्राप्त होती है। व्युत्पत्ति से तात्पर्य बहुज्ञता से है। कुछ विद्वान् व्युत्पत्ति का अर्थ 'समस्त-पदार्थपौर्वापर्यपर्यालोचनकौशलम्' करते हैं।

(३) **अभ्यास**—काव्य निर्माण का तृतीय हेतु 'अभ्यास' है। जो काव्य की रचना करना जानते हैं और उनकी समीक्षा (सदसत् की विवेचना) करना जानते हैं, उनके उपदेश (शिक्षा) के अनुसार नवीन श्लोकों की रचना करने में और उनमें जोड़-तोड़ करने में बार-बार प्रवृत्त होना 'अभ्यास' है। भाव यह कि काव्य के मर्मज्ञ विद्वानों तथा समालोचकों के पास रहकर और उनसे शिक्षा प्राप्त करके श्लोकों की रचना में बार-बार प्रवृत्त होना 'अभ्यास' है। काव्य-रचना करने वाले जिज्ञासुओं को केवल शास्त्र-ज्ञान होना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उन्हें कविता बनाने का बार-बार अभ्यास भी करना चाहिए क्योंकि बिना अभ्यास किये काव्य-रचना में वह सफल नहीं हो सकता। जैसा कि आचार्य मंगल का कथन है कि अभ्यास के बिना काव्य की रचना दुष्कर (कठिन) है, काव्य-कर्म में अभ्यास ही उत्तम व्यापार है और काव्य-रचना में निरन्तर प्रवृत्त होना ही अभ्यास है। इसी के कारण ही किसी काव्य में उसके रचयिता का कौशल झलकता है (अभ्यासः काव्यकर्मणि परं व्याप्रियते। अवि-

च्छेदेन शीलनमभ्यासः, स हि सर्वगामी सर्वत्र निरतिशयं कौशलमाधत्ते—काव्य-मीमांसा) । इसलिए कवियों को चाहिए कि वह पहले काव्य-रचना का अभ्यास करें।

आचार्य मम्मट ने केवल शक्ति या प्रतिभा अथवा व्युत्पत्ति या अभ्यास को ही काव्य का हेतु नहीं माना है। उनके अनुसार शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों ही काव्य के हेतु है। ये तीनों अलग-अलग कारण नहीं; वल्कि तीनों सम्मिलित रूप में ही कारण हैं। क्योंकि केवल एक के होने पर कोई अच्छा कवि नहीं बन सकता, शब्दों को जोड़-जाड़ कर तुकबन्दी भले ही कर ले। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य मम्मट ने लिखा है—

त्रयः समुदिताः, न व्यस्ताः, काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः ।

इति हेतुस्तदुद्भवे—यहाँ पर कारिका में 'हेतुः' एकवचन का प्रयोग किया गया है 'हेतवः' बहुवचन का प्रयोग नहीं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी भी कार्य के प्रति उसकी पूरी सामग्री ही कारण होती है, कोई एक वस्तु नहीं। अतः काव्य-निर्माण में शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों सम्मिलित रूप में हेतु हैं, अलग-अलग नहीं। जिस प्रकार **'जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः'** इस गौतम सूत्र में 'पदार्थ' पद में एकवचन का प्रयोग यह द्योतित करता है कि जाति, आकृति और व्यक्ति इन तीनों में ही शक्ति होती है, अलग अलग-अलग नहीं। जिस प्रकार 'वेदाः प्रमाणम्' इस वाक्य में 'प्रमाणम्' एकवचन का प्रयोग समस्त वेद प्रमाण हैं, यह द्योतित करता है। इसी प्रकार 'हेतुः' एकवचन का प्रयोग तीनों के सम्मिलित रूप में हेतुता द्योतित करता है। इस बात को दण्डचक्रादि न्याय के द्वारा भी स्पष्ट किया जाता है कि जिस प्रकार घट रूप कार्य के प्रति दण्ड, चीवर, चक्र, कुलाल, मृत्तिका आदि सभी मिलकर कारण हैं, किसी एक से घट का निर्माण नहीं हो सकता; उसी प्रकार काव्य-निर्माण के प्रति शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों मिलकर ही कारण हैं, ये अलग-अलग कारण नहीं हो सकते।

कुछ विद्वानों का कहना है कि किसी कार्य के प्रति पृथक्-पृथक् हेतु भी होते हैं, जैसे 'तृणारणिमणिन्याय' के अनुसार किसी विशेष अग्नि के प्रति अरणि-मन्थन कारण होता है, किसी के प्रति मणि-किरण-संयोग और विशेष अग्नि के प्रति तृण-फूत्कारादि कारण होते हैं। जिस प्रकार 'तृणारणिमणिन्याय' के अनुसार अग्नि-प्रज्वलन के प्रति तृणादि अलग-अलग कारण होते हैं। उसी प्रकार काव्य के प्रति भी शक्ति आदि को अलग-अलग कारण क्यों न मान लिया जाय? इसका समाधान इस प्रकार किया जाता है कि कारणता के प्रति अन्वय-व्यतिरेक का होना आवश्यक है। अन्वय का अर्थ है—साहचर्य अर्थात् उसके रहने पर वह रहे **'अन्वय'** है **(तत्सत्त्वे तत्सत्ता अन्वयः)** ।' जैसे जहाँ धुआँ रहता है वहाँ आग रहती है **(यत्र धूमस्तत्राग्निः)**। व्यतिरेक का अर्थ है—अविनाभाव अर्थात् उसके न रहने पर वह न रहे **(तदभावे**

एवमस्य कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह—

(सू० १) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ॥

तदभावो व्यतिरेकः)। जैसे — जहाँ आग नहीं रहती, वहाँ धुआँ नहीं रहता (**यत्र वह्न्यभावः तत्र धूमाभावः**)। यहाँ पर अग्नि-प्रज्वलन रूप कार्यस्थल पर विभिन्न अरणि-मन्थनादि कारणों से उत्पन्न अग्नि-प्रज्वलन के प्रति विभिन्न कारण हो जाते हैं; किन्तु काव्य रूप कार्य के प्रति तीनों (शक्ति, निपुणता और अभ्यास) पृथक्-पृथक् कारण नहीं हो सकते, बल्कि तीनों के सम्मिलित रूप को काव्य का कारण माना जाता है। क्योंकि यहाँ पर 'हेतुः' में एकवचन के प्रयोग में यह ध्वनित होता है कि यहाँ 'तृणारणिमणिन्याय' का विषय ही नहीं है। यहाँ पर एकवचन का प्रयोग समुदाय का अभिधायक है। अर्थात् तीनों एकरूप में काव्य के हेतु हैं अलग-अलग नहीं, यह अर्थ ध्वनित होता है।

काव्य का स्वरूप

इस प्रकार काव्य काव्य-प्रयोजन तथा काव्य के कारणों का निरूपण करने के पश्चात् ग्रन्थकार अब काव्य के स्वरूप का विवेचन करते हैं—

अनुवाद—दोष-रहित, गुणसहित, कहीं-कहीं स्पष्ट अलंकारों से रहित भी शब्द और अर्थ (मिलकर) काव्य हैं ॥

विमर्श—आचार्य मम्मट ने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों के काव्य-लक्षणों का पर्याप्त मनन एवं चिन्तन कर अपना काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया है अतः उनके काव्य-लक्षण के प्रतिपादन के पूर्ववर्त्ती आचार्यों के काव्य-लक्षणों पर विचार करना आवश्यक है। सर्वप्रथम महर्षि व्यास ने अग्निपुराण में काव्य के स्वरूप पर विचार किया है। अग्निपुराणकार काव्य-लक्षण का निरूपण करते हुए कहते हैं—

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद् दोषवर्जितम् ॥

अर्थात् इष्ट अर्थ से युक्त पदावली को काव्य कहते हैं और स्फुट अलंकार से युक्त, गुणयुक्त एवं दोषरहित वाक्य को काव्य कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मम्मट ने अग्निपुराण के काव्य-लक्षण को सामने रखकर अपना काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया है। मम्मट के पूर्व भोज ने अग्निपुराण का अनुसरण करते हुए काव्य का स्वरूप प्रतिपादित किया है—

अदोषं गुणवद्काव्यमलंकारैरलंकृतम्
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्ति प्रीतिं च विन्दति।

भोज का काव्य लक्षण अग्निपुराण के काव्य-लक्षण पर आधारित हैं। उन्होंने अग्निपुराण के अनुसार निर्दोष, गुणयुक्त, सालंकार वाक्य को तो काव्य माना है

किन्तु 'रसान्वित' वाक्य को भी काव्य का विशेषण स्वीकार किया है। इस प्रकार भोज के अनुसार दोष-हीन, गुणसमन्वित, अलंकारविभूषित और रसान्वित वाक्य काव्य है। भोज अग्निपुराणकार से पूर्ण प्रभावित जान पड़ते हैं। अग्निपुराणकार के पश्चात् भामह ने **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** यह काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया है। भामह का यह काव्य-लक्षण संक्षिप्त होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है। दण्डी ने **'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'** काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार दण्डी ने 'इष्ट अर्थ से युक्त पदावली' को काव्य माना है। दण्डी को अग्निपुराण का काव्य-लक्षण अभीष्ट था, अतः उन्होंने उसे स्वीकार करते हुए 'संक्षेपाद्वाक्यम्' के स्थान पर 'शरीरं तावत्' रख दिया है। वस्तुतः अग्निपुराण का काव्य-लक्षण अपने में पूर्ण है। अग्निपुराणकार ने इष्ट अर्थ युक्त पदावली को वाक्य कहा है और स्फुरदलंकार, गुणवत्, दोषवर्जित वाक्य (पदावली) को काव्य कहा है। अग्निपुराण के अनुसार इष्ट अर्थ से युक्त पदावली काव्य है अर्थात् अर्थ युक्त शब्द काव्य है, क्योंकि अर्थ शब्द के बिना नहीं रह सकता। शब्द और अर्थ का अविनाभाव सम्बन्ध है अतः शब्द अर्थ सालंकार गुणयुक्त, एवं दोषमुक्त होने पर 'काव्य' कहलाते हैं। भामह और दण्डी दोनों अग्निपुराणोक्त काव्य-लक्षण को स्वीकार करते हैं। इसीलिए उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों को काव्य माना है। यद्यपि उन्होंने स्पष्ट रूप से गुणवत्, सालंकार और दोषाभाव का उल्लेख नहीं किया। तथापि उनकी शब्द-योजना से अग्निपुराण के काव्य-लक्षण की मान्यता स्वीकार करती प्रतीत होती है। जैसा कि भामह ने **'सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवधवत्'** तथा **'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्'** का और दण्डी ने **'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन'** तथा **'तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः'** का उल्लेख किया है। इन वाक्यों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भामह और दण्डी दोनों अग्निपुराण के अनुसार गुणालंकारयुक्ता दोष-रहिता तथा मनोहरार्थ प्रतिपादिका 'पदावली' को काव्य मानते हैं।

वामन उपर्युक्त काव्य-लक्षण को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः। स च दोषगुणालंकार-हानोपादानाभ्याम्। रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टपदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। अत्र च **'काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।'** इस प्रकार वामन के मतानुसार दोष के परित्याग और गुणालंकार से युक्त सुन्दर शब्द और अर्थ काव्य है। उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा कहा है। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने काव्य के शरीर तथा आत्मतत्त्व पर विचार करते हुए ध्वनि को काव्य की आत्मा (**ध्वनिरात्मा काव्यस्य**) और 'शब्दार्थयुगल' को काव्य का शरीर (**शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्**) माना है। इस प्रकार ध्वनिकार ने सहृदयहृदयाह्लादि व्यंग्यात्मक शब्द और अर्थ को काव्य माना है (**सहृदयहृदयाह्लादिव्यंग्यात्मकौ शब्दार्थौ काव्यम्**)। आनन्दवर्धन के अनुसार सहृदयहृदयश्लाघ्य अर्थ काव्य की आत्मा है (**योऽर्थः सहृदश्लाघ्यः काव्य-**

स्यात्मा व्यवस्थितः)। उनके अनुसार सहृदयश्लाघ्य अर्थ व्यंग्यार्थ है। वह व्यंग्यार्थ रसादिरूप है और वही रसादिरूप व्यंग्यार्थ काव्य की आत्मा है और व्यंग्यार्थयुक्त शब्द और अर्थ काव्य का शरीर है। राजशेखर ने काव्यपुरुष की कल्पना कर शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर (**शब्दार्थौ ते शरीरम्**) और रस को काव्य की आत्मा (**रस आत्मा**) स्वीकार किया है। इस प्रकार राजशेखर ने आनन्दवर्द्धन के समान काव्य के शरीर और आत्मा दोनों पक्षों पर विचार किया है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति अर्थात् कवि के वक्र व्यापार को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए वैदग्ध्यभंगीभणिति रूप शब्दार्थ को काव्य माना है।

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।

किन्तु कुन्तक का यह काव्य लक्षण सर्वथा व्यवस्थित काव्य लक्षण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वस्तुतः काव्य वही है जो मनुष्यमात्र को आह्लादित करे, केवल काव्यविद को ही आह्लादित करने वाला काव्य काव्य नहीं है। अग्निपुराणकार का तो कथन है कि काव्य में वाग्वैदग्ध्य की प्रधानता होने पर भी रस ही काव्य का आत्मभूत तत्त्व है। कवि के वाग्विन्यास व्यापार से उत्पाद्य भंगीभणिति (वाग्वैचित्र्य) काव्य का शरीर भले ही हो, किन्तु काव्य का आत्मतत्त्व तो रस ही है। क्षेमेन्द्र ने रससिद्ध काव्य का प्राण औचित्य बताया है (**औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्**) उनका कहना है कि औचित्य के बिना काव्य में रस की धारा प्रवाहित नहीं होती। अनौचित्य से बढ़कर रसभंग का कोई दूसरा कारण नहीं है औचित्य काव्य का प्राण है।

उपर्युक्त सभी मतों को दृष्टिगत करते हुए आचार्य मम्मट ने एक परिमार्जित काव्य लक्षण प्रस्तुत किया है :—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

आचार्य मम्मट समन्वयवादी आचार्य हैं। उनके पूर्व काव्य के विभिन्न पहलुओं पर विचार होता रहा है। आचार्यों ने विभिन्न दृष्टियों से काव्य के स्वरूप पर विचार किया है। पहले काव्य के शरीर पक्ष पर विचार होता रहा और शब्दार्थ-युगल को काव्य का शरीर स्वीकार किया गया, बाद में आत्मतत्त्व की ओर लोगों का ध्यान गया और रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य को काव्य की आत्मा माना जाने लगा। इस प्रकार विभिन्न मत-मतान्तरों के विवेचन से एक प्रकार की अव्यवस्था फैल गई। मम्मट ने समन्वयात्मक दृष्टि अपनाकर आचार्यों के मतों का सार ग्रहण कर एक नवीन काव्य लक्षण तैयार किया। उन्होंने दोष-हीन, गुणयुक्त, सालंकार क्वचित् स्फुटालंकार-रहित शब्दार्थ को काव्य माना है। इस प्रकार मम्मट के अनुसार—शब्द और अर्थ का समष्टि रूप काव्य है और शब्दार्थौ के तीन विशेषण दिये गये हैं—(१) अदोषौ (२) सगुणौ और (३) अनलंकृती पुनः क्वापि। यहाँ हम प्रत्येक का अलग-अलग विवेचन करते हैं—

अदोषौ—'अदोष' पद का अर्थ है—'दोषाभाव'। अर्थात् काव्य में च्युत-संस्कारादि जो दोष बताये गये हैं उनसे रहित। इस प्रकार दोष-रहित शब्दार्थ काव्य है। अतः काव्य का दोष-रहित होना नितान्त अपेक्षित है। दण्डी ने तो यहाँ तक कहा है कि **'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन'** अर्थात् काव्य में थोड़ा भी दोष उपेक्षणीय नहीं है। काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु का कथन है कि **'सकलालंकारयुक्तमपि काव्यमेकेनापि दोषेण दुष्येत'** अर्थात् समस्त अलंकारों से अलंकृत होने पर भी काव्य एक दोष से भी दूषित हो जाता है, किन्तु संसार में कोई भी वस्तु सर्वथा निर्दोष नहीं मिलती। यदि निर्दोष काव्य मिल भी जाय तो बहुत कम मिलेगा (**एवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्**।) अतः यहाँ पर अदोषता का अभिप्रायः सर्वथा दोषाभाव नहीं, बल्कि प्रबल दोषों का अभाव है जो काव्य के विघातक होते हैं। इसके अतिरिक्त **'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः तत्राप्यसौ तापसः'** इत्यादि काव्य में 'विधेयाविमर्श' दोष होने से काव्य नहीं कहलायेगा। जबकि आनन्दवर्द्धन ने इस उत्तम काव्य (ध्वनिकाव्य) के रूप में उदाहृत किया है। यदि यह कहा जाय कि जितने अंश में दोष है वह अकाव्यत्व का प्रयोजक होगा और जिस अंश में ध्वनि है वह उत्तम काव्यत्व का प्रयोजक है। इस प्रकार दोनों अंशों के द्वारा अपनी-अपनी ओर खींचा गया यह काव्य-अकाव्य कुछ भी नहीं कहलायेगा—

'यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्वप्रयोजकः, यत्र ध्वनिः, स उत्तमकाव्यप्रयोजकः
इत्यंशाभ्यामुभयत आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्यं वा किमपि न स्यात्।"

किन्तु विश्वनाथ का यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता, उन्होंने मम्मट के अभिप्राय को नहीं समझा, उनका ध्यान केवल 'नञ्' के 'अभाव' अर्थ पर ही गया है। यहाँ पर दोषाभाव का तात्पर्य सर्वथा दोषाभाव नहीं है, बल्कि ऐसे दोषों के अभाव से है जो उद्देश्यों की प्रतीति के प्रतिबन्धक हैं **(उद्देश्यप्रतीतिप्रतिबन्धकत्वम्)**। प्रस्तुत उदाहरण में 'न्यक्कारो' तथा 'ह्ययमेव' इन पदों के पूर्वापर प्रयोग में 'विधेयाविमर्श' दोष बताया गया है। किन्तु यहाँ पर कवि का अभिप्राय क्रोधान्ध रावण के उग्र स्वभाव का प्रकाशन है। मम्मट के अनुसार उद्देश्य-विधेय का पूर्वापर प्रयोग रावण की 'अविमृश्यकारिता' को अधिक उत्कट रूप में प्रकट कर रहा है। यही कवि का अभिप्राय है, इससे व्यंग्यार्थ (रस) की प्रतीति में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। अतः इसे उत्तम काव्य का उदाहरण माना जा सकता है। जैसा कि मम्मट का कथन है कि वक्ता, प्रतिपाद्य, प्रकरण आदि के औचित्य के कारण कहीं-कहीं दोष भी गुण हो जाता है। **वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित्** (काव्यप्रकाश ७।८१)

इस प्रकार मम्मट के अनुसार 'दोष-रहित शब्दार्थयुगल' काव्य है और दोष-रहित से तात्पर्य सर्वथा दोषाभाव नहीं, बल्कि उद्देश्य-प्रतीति के विघातक तत्त्वों से है। क्योंकि सर्वथा दोष-रहित काव्य मिलना कठिन है। यदि यहाँ पर 'ईषत्' अर्थ में 'नञ्' का प्रयोग मानकर 'अदोषौ' का अर्थ 'ईषद्दोषौ' मान लिया जाय तो जहाँ थोड़ा दोष होगा वही काव्य कहलायेगा और सर्वथा निर्दोष काव्य काव्य नहीं

कहलायेगा। इसलिए 'अदोषौ' पद का अर्थ विशिष्ट दोषाभाव किया गया है अर्थात् रसानुभूति के बाधक विशिष्ट (प्रबल) दोषों से रहित शब्दार्थयुगल काव्य है अतः साधारण दोष, जिनसे रसानुभूति में कोई बाधा नहीं होती, के रहने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती, जैसा कि विश्वनाथ ने स्वयं कहा है कि जिस प्रकार कीड़ों के द्वारा खाया हुआ प्रबाल आदि रत्न रत्न ही कहलाते हैं, उसी प्रकार काव्य में दुर्बल दोषों के रहने पर भी काव्यत्व में कोई क्षति नहीं होती—

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि दोष-रहित शब्दार्थयुगल काव्य है किन्तु साधारण दोष के होने पर भी काव्यत्व में कोई हानि नहीं होती; क्योंकि दोषों की दो श्रेणियाँ हैं—सामान्य और विशेष। इनमें रस के विघातक विशेष दोषों को अभाव (परिहार) काव्य में आवश्यक है किन्तु सामान्य दोष हों भी और रसोन्मेष अथवा व्यंग्यार्थ-प्रतीति में कोई बाधा नहीं पड़ती हो तो वह काव्य कहा जा सकता है।

सगुणौ—'शब्दार्थौ' का दूसरा विशेषण है 'सगुण'। मम्मट के पूर्व वामन ने भी 'शब्दार्थ-युगल' काव्य का विशेषण 'सगुणौ' दिया है किन्तु दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर है। वामन गुण को शब्द और अर्थ का धर्म मानते हैं जबकि मम्मट रस का। मम्मट के अनुसार प्रसाद, माधुर्य और ओज गुणत्रय रस के धर्म हैं, रस के उत्कर्ष के हेतु हैं और रस में अचल स्थिति से रहते हैं—

ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥

इस प्रकार गुण रस के धर्म हैं किन्तु परम्परया ये रसाभिव्यंजक शब्द और अर्थ के भी धर्म कहे गये हैं। (**गुणानां रसैकनिष्ठत्वेऽपि परम्परया तदभिव्यञ्जक-शब्दार्थनिष्ठत्त्वमपि**)। अर्थात् गुण रसनिष्ठ होते हैं किन्तु उपचारतः ये शब्दार्थ निष्ठ भी कहे जाते हैं।

गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।

विश्वनाथ का कथन है कि यदि रसाभिव्यंजक शब्द और अर्थ को उपचारतः सगुण शब्द और अर्थ कहा जा सकता है तो प्रश्न उठता है कि उसमें रस है या नहीं? यदि कहा जाय कि नहीं, तो उसमें गुणवत्ता भी नहीं है क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा जहाँ रस होगा वहाँ गुण भी रहेगा और जहाँ रस नहीं रहेगा वहाँ गुण भी नहीं रहेगा। यदि यह कहा जाय कि उसमें रस है तो उसमें (सगुणौ) के स्थान पर सरसौ (रसवन्तौ) क्यों नहीं कह दिया? क्योंकि मन में तो रखा जाय 'सरसौ शब्दार्थौ' और कहा जाय 'सगुणौ शब्दार्थौ', यह कहाँ तक उचित है? इस पर कहते हैं कि यदि 'सरसौ' को 'शब्दार्थौ' का विशेषण रखा जाय तो उससे 'रसाभिव्यंजक' शब्दार्थ का भाव भले ही निकल जाय किन्तु 'गुणाभिव्यंजक शब्दार्थ' का भाव नहीं निकल सकता। भाव यह कि "सरसौ

शब्दार्थौ'' कहने से 'रसाभिव्यंजकौ शब्दार्थौ' का अभिप्राय निकल सकता है किन्तु 'गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ' का भाव नहीं निकल सकता। अतः 'गुणाभिव्यञ्जक शब्दार्थ' के लिए 'सगुणौ' विशेषण ही उपयुक्त प्रतीत होता है जैसा कि प्रदीपकार का कथन है—

'गुणस्य रसनिष्ठत्वेऽपि तद्व्यञ्जकपरं गुणपदम्'

विश्वनाथ का कहना है कि यदि 'सगुणौ' का अभिप्राय 'गुणाभिव्यञ्जकौ' है तो भी यह उचित नहीं प्रतीत होता; क्योंकि गुणाभिव्यञ्जक शब्दार्थ काव्य के उत्कर्षाधायकमात्र होते हैं स्वरूपाधायक नहीं। किन्तु आचार्य विश्वनाथ काव्य-प्रकाशकार के मन्तव्य को न समझ कर ही ऐसा कहते हैं, क्योंकि ध्वनिवादी आचार्य गुणाभिव्यंञ्जक शब्दार्थ संयोजन को काव्य का स्वरूपाधायक एवं उत्कर्षाधायक दोनों मानते हैं। जैसाकि काव्यप्रकाशकार कहते हैं—

ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलास्थितयो गुणाः॥

अनलंकृती पुनः क्वापि—आचार्य मम्मट के काव्य लक्षण में 'शब्दार्थौ' का तृतीय विशेषण 'अनलंकृती' है। यहाँ पर 'अनलंकृती' का अर्थ सर्वथा 'अलंकार-रहित' नहीं है। जैसाकि कहा गया है कि 'नञ्' के छः अर्थ होते हैं—

तत्सादृश्यं तदन्यत्वं तदल्पत्वं विरोधिता।
अप्राशस्त्यमभावश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्त्तिताः॥

'अनलंकृती' इस पद में 'अल्पत्व' (ईषद्) अर्थ में नञ् समास है (**अनलंकृतीत्यत्र ईषदर्थे नञ्, अनुदरा कन्या, अलवणा यवागूः इत्यादिवत्**)। जिस प्रकार 'अलवणा' में अल्प अर्थ में 'नञ्' का प्रयोग करके 'अल्पलवणा' अल्प (कम) नमक से युक्त, अर्थ होता है और 'अनुदरा' का 'अल्पोदरी, कृशोदरी' अर्थ किया जाता है, उसी प्रकार 'अनलंकृती' पद में 'ईषद्' अर्थ में नञ् समास किया है अतः 'अनलंकृती' पद का अर्थ 'अलंकारों' की अल्पता (न्यूनता) किया जाता है। झलकीकर ने 'ईषद्' का अर्थ 'अस्फुटता' किया है (अल्पत्वस्य चात्रास्फुटत्वे एव विश्रामात्)। इस प्रकार इसका अर्थ होगा कि 'सालंकार शब्द और अर्थ काव्य होते हैं किन्तु कहीं-कहीं अलंकारों की स्पष्ट स्थिति न रहने पर भी काव्य कहलाते हैं, जैसा कि मम्मट ने कहा है—**'सर्वत्र सालंकारौ, क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः'** अर्थात् काव्य में अलंकार की अस्पष्ट प्रतीति होने पर शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं। किन्तु नीरस काव्य में अस्फुट अलंकार होने पर काव्यत्व नहीं होता, जहाँ पर रस की स्थिति होती है अर्थात् सरस काव्य में अस्फुट अलंकार हों तो काव्यत्व होता है। क्योंकि काव्य में मुख्य तत्त्व चमत्कार है। वह चमत्कार दो प्रकार का होता है—रस के द्वारा अथवा अलंकार के द्वारा। दोनों में एक का होना आवश्यक है। जहाँ पर रस हो वहाँ स्पष्ट अलंकार की अपेक्षा नहीं होती, जैसा कि ध्वनिकार ने कहा

दोषगुणालङ्काराः वक्ष्यन्ते। क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालङ्कारौ, क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। यथा—

यः कौमारहरः स एव वरस्ता एव चैत्रक्षपा—
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढ़ाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥१॥

अत्र स्फुटो न कश्चिदलंकारः रसस्य च प्राधान्यान्नलंकारता।

कि रसानुकूल अर्थ-निबन्धन अलंकार-विरह में भी काव्य में शोभा को बढ़ाता है (रसानुगुणार्थनिबन्धनमलंकारविरहेऽपि छायातिशयं पुष्णाति)। जैसे—

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः।
येनैककुलके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ ॥

इस उदाहरण में अद्भुतरस के अनुकूल आधी अंजुली जल में मछली और कच्छप का दर्शन (वर्णन) शोभा (चमत्कार) को ही बढ़ाता है। इस प्रकार 'अनलंकृती' पद के द्वारा यह ध्वनित होता है कि जहाँ रस हो वहाँ अस्फुट अलंकार होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती, किन्तु रस की अनुपस्थिति (नीरस काव्य) में अस्फुट अलंकार होने पर काव्यत्व नहीं होगा। इसीलिए मम्मट ने कहा है कि **'क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः'**। इससे स्पष्ट है कि अस्फुट (अस्पष्ट) प्रतीयमान होने पर भी अलंकार काव्य में चमत्कार उत्पन्न करता है। यदि यह बात न होती तो मम्मट 'अलंकारविरहेऽपि' इतना ही कहते 'स्फुटालंकारविरहेऽपि' क्यों कहते? 'अनलंकृती पुनः क्वापि' में 'क्वापि' पद के द्वारा द्योतित होता है कि कहीं अर्थात् स्फुटरसयुक्त स्थल में स्पष्ट अलंकार के अभाव में भी काव्यत्व होता है। इसी प्रकार मम्मट के अभिप्राय को न समझकर जयदेव ने मम्मट पर व्यर्थ ही आक्षेप किया है—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ॥

इस प्रकार मम्मट के मतानुसार दोष-रहित, गुण-सहित, सर्वत्र अलंकारसहित तथा स्फुटरसयुक्त स्थल में स्फुट अलंकार-रहित भी शब्द और अर्थ काव्य है। मम्मट ने स्फुटालंकार-विरह का उदाहरण 'यः कौमारहरः·····' दिया है।

अनुवाद—दोष, गुण और अलंकारों का विवेचन आगे किया जायगा। 'क्वापि' इस पद से यह कहते हैं कि सब जगह अलंकार युक्त, किन्तु कहीं पर अलंकार स्पष्ट न होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती। जैसे—

अनुवाद—"कोई नायिका कहती है कि जिसने मेरे कौमार्य का हरण किया है, वही मेरा पति है; वही चैत की रातें, वही विकसित मालती लताओं की सुगन्धित प्रौढ़ (रत्युद्दीपक) कदम्ब (पुष्प विशेष) की हवाएँ हैं और मैं भी वही हूँ, तथापि (फिर भी) वहाँ नर्मदा के तट पर उस वेतलता (वेत की झाड़ी) के नीचे सुरत-व्यापार की लीलाओं (काम-क्रीड़ा) के लिए मेरा चित्त (मन) उत्कण्ठित हो रहा है" ॥१॥

यहाँ पर कोई स्पष्ट अलङ्कार नहीं है और रस की प्रधानता के कारण उसे (रसवदलङ्कार) अलङ्कार भी नहीं कहा जा सकता।

टिप्पणी—इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है। शार्दूलविक्रीडित का लक्षण निम्न प्रकार है—

सूर्याश्वैर्मस्जस्ततः सगुरुः शार्दूलविक्रीडितम्।

विमर्श—मम्मट ने सर्वत्र अलंकार-सहित, किन्तु स्फुटरसस्थल में स्फुटालंकार-रहित शब्दार्थ को काव्य माना है और स्फुटालंकार-रहित काव्य का उदाहरण "**यः कौमारहरः स एव वरः**......" इत्यादि श्लोक दिया है। उनका कहना है कि यहाँ पर किसी स्फुट अलङ्कार की प्रतीति नहीं होती है। यदि यह कहा जाय कि यहाँ पर 'हरो वरः' में 'र' वर्ण की आवृत्ति होने से स्फुट अनुप्रास अलंकार है, किन्तु यहाँ विप्रलम्भ श्रृंगार के प्रतिकूल वर्ण का संघटन होने से अलंकारत्व नहीं है। यद्यपि विश्वनाथ ने खींच-तान कर यहाँ पर विभावना और विशेषोक्ति अलंकार मानने का प्रयास किया है। कारण के न होने पर कार्य का होना विभावना है (**कारणाभावे कार्योत्पत्तिकथनं विभावना**) यहाँ पर पति तथा अन्य उपकरणों के अनुपभोग रूप कारण के अभाव में भी उत्कण्ठा रूप कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। अतः यहाँ विभावना अलंकार है। इसी प्रकार कारण के होने पर भी कार्य के अभाव का कथन 'विशेषोक्ति' है (**कारणसत्त्वेऽपि कार्याभावकथनं विशेषोक्तिः**)। यहाँ पर पति आदि सुखोपभोग कारण के होने पर भी अनुत्कण्ठा रूप कार्य के होने का वर्णन है, अतः विशेषोक्ति अलंकार है। किन्तु यहाँ पर ये दोनों अलंकार स्पष्ट नहीं हैं; क्योंकि यहाँ कवि को यदि विभावना अलंकार अभीष्ट होता तो उत्कण्ठा रूप कार्य के कारण का अभाव बताने के किए 'नञ्' शब्द का प्रयोग करते। इसी प्रकार 'विशेषोक्ति' अलंकार में कार्य का अभाव बताने के लिए भी 'नञ् शब्द का प्रयोग करते और 'चेतःसमुत्कण्ठे' के स्थान पर 'चेतोऽनुकण्ठितं न' कहते। किन्तु यहाँ पर कारण और कार्य के अभाव का कथन 'नञ्' शब्द के द्वारा कथित नहीं है, बल्कि अर्थतः उपात्त है (अर्थ-लभ्य है)। इस प्रकार कारण के अभाव और कार्य के अभाव का प्रतिपादन 'नञ्' आदि शब्दों के द्वारा न होने के कारण विभावना और विशेषोक्ति दोनों अलंकार अस्पष्ट हैं। अतः दोनों अलंकारों के अस्पष्ट होने के कारण तन्मूलक सन्देहालंकार अलंकार की प्रतीति भी अस्पष्ट है।

यदि यह कहा जाय कि यहाँ पर विप्रलम्भ शृंगार स्पष्ट है, इसलिए 'रसवत्' अलंकार भी स्पष्ट है। इस प्रकार वहाँ यदि 'रसवत्' अलंकार है, तो फिर यह अलंकार-रहित कैसे? इस पर कहते हैं कि रस की प्रधानता के कारण यहाँ पर अलंकारत्व नहीं है (**रसस्यात्र प्राधान्यान्नालंकारता**)। भाव यह कि यहाँ पर विप्रलम्भ शृंगार रस की प्रधानता है अतः रसवत् अलंकार नहीं हो सकता; क्योंकि जहाँ पर रस की प्रधानता होती है वहाँ 'रसवत्' अलंकार नहीं होता। जहाँ पर रस की प्रधानता नहीं होती, वहीं पर 'रसवत्' अलंकार होता है। जैसा कि ध्वनिकार ने कहा है—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः।

आचार्य के मत में तो 'रसवत्' अलंकार की मान्यता ही नहीं है। इसलिए यहाँ पर रस को अलंकार नहीं माना जा सकता। इस प्रकार यहाँ पर कोई अलंकार स्पष्ट नहीं है। यहाँ पर तो सहृदय विप्रलम्भशृंगार में ही मग्न है।

मम्मट शब्दार्थ युगल को काव्य मानते हैं (शब्दार्थौ काव्यम्)। इस पर आपत्ति उठाते हुए पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं कि जो काव्यप्रकाशकार मम्मट आदि प्राचीन आचार्य शब्द और अर्थ दोनों को काव्य मानते हैं, वह उचित नहीं है; क्योंकि यदि शब्दार्थयुगल को काव्य कहा जाता है तो प्रश्न यह उठता है कि क्या दोनों के सम्मिलित रूप को काव्य कहेंगे या अलग-अलग? यदि दोनों के सम्मिलित रूप को काव्य कहेंगे तो जिस प्रकार दो एक के सम्मिलित रूप 'द्वौ' (दो) के अवयवभूत प्रत्येक एक को दो नहीं कह सकते, उसी प्रकार श्लोक के एक वाक्य को आप काव्य नहीं कह सकते। यदि आप यह कहें कि दोनों अलग-अलग काव्य हैं तो एक ही श्लोक में दो काव्यों का व्यवहार होने लगेगा। अतः वेद-शास्त्र-पुराण के समान काव्य-लक्षण को शब्दनिष्ठ मानना ही उचित है—

"यत्तु प्राञ्चः (काव्यप्रकाशकृदादयः) शब्दार्थौ काव्यमित्याहुस्तत्र विचार्यते-……अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तं (व्यासज्यवृत्ति) प्रत्येक-पर्याप्तं वा? नाद्यः, एको न द्वौ इति व्यवहारस्येव श्लोकवाक्यं न काव्यमिति व्यवहारस्यापत्तेः। न द्वितीयः, एकस्मिन् पद्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः। तस्माद्वेदशास्त्र-पुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता।"

नागेशभट्ट '**उचिता**' इस प्रतीक को लेकर जगन्नाथ के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार 'काव्य पढ़ा' या 'काव्य सुना' यह व्यवहार होता है उसी प्रकार 'काव्य समझा' यह भी व्यवहार होता है और समझना अर्थ का होता है, शब्द का नहीं। वेदादिशास्त्र भी शब्दार्थोभयवृत्ति के प्रतिपादक हैं। अतएव '**तदधीते तद्वेद**' इस सूत्र का भाष्य संगत होता है। उक्त सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने शब्द अर्थ दोनों को वेदादि रूप माना है। जिस प्रकार दो के अवयव एक को दो नहीं कहा जा सकता (एको न द्वौ), उसी प्रकार शब्द और अर्थ उभय रूप काव्य के अवयव शब्द और अर्थ प्रत्येक के लिए शब्द-व्यवहार नहीं हो सकता। यहाँ पर

तद्भेदानाह—

(सू० २) इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥४॥

इदमिति काव्यम् । बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः । ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यंग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य ।

के लक्षणा द्वारा काम चल जायगा । अतः शब्द और अर्थ के सम्मिलित रूप से काव्य मानने में कोई दोष नहीं दिखाई देता ।

वस्तुतः यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो दोनों का सम्बन्ध अनिवार्य है । अर्थ की स्थिति शब्द में ही निहित है, शब्द के बिना अर्थ का बोध असम्भव है, अतः मम्मट ने शब्द और अर्थ के विशिष्ट समन्वय को काव्य कहा है, इस प्रकार शब्दार्थ का समन्वयात्मक रूप ही काव्य है । मम्मट के मत का समर्थन करते हुए डा० श्यामसुन्दरदास कहते हैं—

"शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य अथवा कविता कहे जाते हैं ।" इसी से उन्होंने 'एक ओर तो ध्वनि को काव्य माना है और दूसरी ओर चित्रकाव्य को भी कविता का पद दिया है । यही उनके विवेचन की व्यापकता है, व्यवहार से प्रत्यक्ष लोक में चित्रकाव्य का बड़ा मान होता है ।

इस प्रकार मम्मट का यह काव्य-लक्षण अन्य काव्य लक्षणों की अपेक्षा अधिक परिमार्जित एवं स्पष्ट है । मम्मट ने काव्य के शरीरभूत शब्दार्थ के 'अदोषौ' और 'सगुणौ' विशेषण के द्वारा द्विविध संस्कार की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है और 'अनलंकृती पुनः क्वापि' के द्वारा अलंकार की गौणता को सूचित किया है ।

काव्य-भेद

आचार्य मम्मट काव्य-स्वरूप का विवेचन करने के पश्चात् अब काव्य-भेदों का निरूपण करते हैं । मम्मट के अनुसार काव्य के तीन भेद होते हैं—(१) उत्तम काव्य (२) मध्यमकाल (३) अधम काव्य । इनमें उत्तम काव्य को ध्वनिकाव्य, मध्यम काव्य को गुणीभूतव्यंग्य और अधम काव्य को चित्रकाव्य कहते हैं । प्रथम उत्तम काव्य के सम्बन्ध में जिज्ञासा होने से उत्तम काव्य के स्वरूप का निर्देश किया जा रहा है—

१. उत्तम काव्य (ध्वनिकाव्य)

अनुवाद—वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ में अधिक चमत्कार होने से वह उत्तम काव्य होता है और विद्वानों ने उसे 'ध्वनिःकाव्य' कहा है ॥४॥

अनुवाद—'इदम्' पद यहाँ पर काव्य का बोधक है। वैयाकरणों ने प्रधानभूत स्फोट रूप व्यंग्य के व्यंजक (अभिव्यक्त कराने वाले) शब्द के लिए 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार (प्रयोग) किया है। इसलिए उनके अनुसरण करने वाले अन्य आचार्य भी वाच्य अर्थ को गौण (अप्रधान) बना देने वाले व्यंग्य अर्थ के व्यंजन (अभिव्यक्ति) में समर्थ शब्दार्थ युगल के लिए 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार करते हैं।

विमर्श—मम्मट का कथन है कि जहाँ पर वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार पाया जाता है, उसे उत्तम काव्य कहा जाता है और वैयाकरण विद्वानों ने उसे 'ध्वनि' नाम से अभिहित किया है। आनन्दवर्द्धन आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने व्याकरण शास्त्र से 'ध्वनि' शब्द ग्रहण किया है। आनन्दवर्द्धन का कहना है कि वैयाकरण ही प्रथम विद्वान् हैं जिन्होंने श्रूयमाण वर्णों के लिए 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार किया है, उसी प्रकार उनके मत का अनुसरण करने वाले दूसरे काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वानों ने भी वाच्य-वाचक, व्यंग्यार्थ, व्यंजना-व्यापार (शब्दात्मा) तथा इन चारों के समुदाय रूप काव्य इन पाँचों को व्यंजकत्व की समानता के कारण 'ध्वनि' कहा है—

"प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात्सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्य-वाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसामान्याद् ध्वनिरित्युक्तः।"

आनन्दवर्द्धन के मतानुसार जहाँ पर वाच्य-वाचक शब्द अपने को तथा अपने अर्थ को गौण बनाकर व्यंग्य अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य-विशेष को 'ध्वनि' कहते हैं।

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

अभिनवगुप्त ने 'ध्वनि' शब्द का व्युत्पत्ति-परक अर्थ करके ध्वनि के अन्तर्गत शब्द, अर्थ और व्यापार तीनों का समावेश कर दिया है। तदनुसार 'ध्वनति इति ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ध्वनि शब्द का अर्थ वाचक शब्द और वाच्य अर्थ होता है। **'ध्वन्यते इति ध्वनिः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ 'व्यंग्यार्थ' होगा, 'ध्वननं ध्वनिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ व्यञ्जनरूप शब्द व्यापार' होगा। इस प्रकार ध्वनिवादियों के अनुसार शब्द, अर्थ, व्यंग्य और व्यञ्जनाव्यापार इन चारों के समुदाय रूप काव्य को 'ध्वनि' कहते हैं। इस प्रकार आनन्दवर्द्धन काव्य-विशेष को ध्वनि कहते हैं—

'ध्वनिशब्दस्तु ध्वनतीति ध्वनिः' इति कृत्वा वाचके शब्दे वाच्ये चार्थे, 'ध्वन्यते इति ध्वनिः, इति कृत्वा व्यङ्ग्येऽर्थे, 'ध्वननं ध्वनिः' इति कृत्वा व्यञ्जनरूपशब्दव्यापारे उक्तप्रकारकध्वनिचतुष्टययोगात् काव्यविशेषे च प्रयुज्यते।

यथा—

नि:शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं वपुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीड़ागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ।।२।।
अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति प्रधायेनाधमपदेन व्यज्यते।

वैयाकरणों से स्फोट रूप शब्द के व्यञ्जक शब्द को 'ध्वनि' कहा है। 'ध्वनति स्फोटं व्यनक्ति इति ध्वनि:)। तदनुसार ध्वनिवादी आचार्यों ने भी व्यङ्ग्यार्थ के व्यञ्जक शब्द और अर्थ के लिए 'ध्वनि' पद का व्यवहार प्रारम्भ कर दिया। वैयाकरणों के अनुसार जिनसे अर्थ की प्रतीति हो, उसे 'स्फोट' कहते हैं (स्फुटत्यर्थो यस्मात् स स्फोटः)। भर्तृहरि ने नित्य स्फोट रूप शब्द के प्रकाशक श्रूयमाण वर्णों को 'ध्वनि' कहा है। अब प्रश्न यह है कि श्रोत्रग्राह्य वर्ण (ध्वनि) के बाद जब दूसरे वर्ण का उच्चारण किया जाता है तो प्रथम वर्ण नष्ट हो जाता है तो समुदाय रूप वर्ण समूह की एक एक साथ उपस्थिति कैसे हो सकती है? इसी प्रकार अनेक पद समूह रूप वाक्य की भी उपस्थिति नहीं होगी। तब पदार्थ या वाक्यार्थ की प्रतीति कैसे होगी? इसके समाधान के लिए वैयाकरणों ने 'स्फोट-वाद' की कल्पना की है। उनका कहना है कि पूर्व वर्णों के अनुभव से उत्पन्न संस्कारों के सहित अन्तिम वर्ण के अनुभव से पद की प्रतीति होती है, उसे ही 'स्फोट' कहते हैं। वह ध्वन्यात्मक स्फोट रूप शब्द नित्य एवं ब्रह्मस्वरूप है। इस प्रकार वर्णसमुदाय रूप पदों से स्फोटरूप नित्य शब्द की प्रतीति होती है।

इस स्फोट रूप शब्द के व्यंजक भिन्न-भिन्न स्थानों से उच्चार्यमाण वर्णसमुदाय रूप गो आदि शब्दों को वैयाकरण लोगा 'ध्वनि' कहते हैं। क्योंकि स्फोट की अभिव्यक्ति श्रोत्रग्राह्य वर्ण (ध्वनि) से होती है। इस प्रकार व्याकरणशास्त्र में स्फोट की अभिव्यक्ति शब्द से होने के कारण वैयाकरण लोग स्फोट के व्यंजक शब्द के लिए 'ध्वनि' का प्रयोग करने लगे। जैसा कि महाभाष्य में पतंजलि ने कहा है—

"प्रतीतपदार्थको लोकेः ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। शब्दं कुरु, शब्दं मा कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्यात् ध्वनिः शब्दः।"

इसी आधार पर वैयाकरण मतानुयायी ध्वनिवादी आचार्यों ने भी वाच्यार्थ को दबाकर व्यंग्यार्थ के व्यंजन में समर्थ शब्दार्थयुगल के किए 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया।

ध्वनि काव्य का उदाहरण—

अनुवाद—हे दूति ! तुम्हारे स्तनों के किनारों पर लगा हुआ चन्दन पूरा छूट गया है; तुम्हारे अधरों की लाली छूट गई है, तेरी आँखों का अंजन बिल्कुल पुंछ गया है और तुम्हारा कृश-शरीर पुलकित हो गया है। अरे अपनी सखी की पीड़ा को न समझने वाली, झूठ बोलने वाली दूति ! तू तो बावड़ी में स्नान करने गई थी, न कि उस नीच (अधम) के पास ।।२।।

'यहाँ पर 'उस नायक के पास रमण करने के लिए गई थी' यह अर्थ 'अधम' पद के द्वारा अभिव्यक्त होता है।' ।।४।।

विमर्श—यह श्लोक 'अमरुशतक' से उद्धृत है। मम्मट ने इसे उत्तम काव्य (ध्वनिकाव्य) के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। कोई विदग्धा नायिका अपने प्रियतम को बुलाने के लिए अपनी प्रिय सखी को भेजती है। उसकी सखी उस नायक के पास जाकर स्वयं रमण करके लौट आती है और नायिका से झूठ बोलती है कि मेरे बहुत अनुनय-विनय करने पर भी वह नहीं आया। किन्तु नायिका उसकी झूठ बातें समझ जाती है और फटकारती हुई कहती है कि अरे झूठ बोलने वाली दूति ! तू तो बावड़ी में स्नान करने के लिए गई थी, उस नीच के पास थोड़े गई थी, क्योंकि तुम्हारे स्तनों के किनारे पर लगा चन्दन छूट गया है, ओठ की लाली धुल गई है, आँखों का अंजन भी पुंछ गया है और तुम्हारी पतली देह रोमांचित हो गई है। यहाँ पर 'तू यहाँ से बावड़ी में स्नान करने के लिए गई थी, उस अधम के पास नहीं गई थी' यह (निषेध रूप) वाच्यार्थ है। इस वाच्यार्थ को दबाकर यह व्यंग्यार्थ ध्वनित हो रहा है कि 'तू उस अधम के पास रमण करने के लिए गई थी' क्योंकि स्नान से तो चन्दनादि पूर्ण रूप से छूट जाते हैं; किन्तु तुम्हारी जो दशा है वह स्नान के बाद की नहीं प्रतीत होती। अतः तू उस नीच के पास संभोग के लिए गई थी, यह बात 'अधम' पद के द्वारा अभिव्यक्त हो रही है—

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति प्राधान्येनाधमपदेन व्यज्यते।

यहाँ पर वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कार-जनक है। प्रधानतया 'अधम' पद के द्वारा यह अभिव्यक्त होता है कि 'तू रमण के लिए ही गई थी'। 'अधम' पद के वाच्यार्थ दुःख प्रयोजक कर्मशील (दुःखदायक कर्म करने वाला) की अपेक्षा 'अधम' पद का व्यंग्यार्थ 'अन्य नायिका के सम्भोग के द्वारा पीड़ा को उत्पन्न करने वाला' अधिक चमत्कारजनक है। यहाँ मुख्य रूप से 'अधम' पद ही व्यंजक है।

टिप्पणी—कोई विदग्धा नायिका अपनी दूती को फटकारती हुई कहती है कि हे दूति ! तुमने अपनी सखी की पीड़ा को नहीं समझा और झूठ बोल रही हो कि मैं तो बावड़ी में स्नान करने के लिए गई थी। वस्तुतः तू उस नीच के पास रमण करने के लिए गई थी; क्योंकि तुम्हारे स्तनों पर लगा हुआ चन्दन पूरा छूट गया है। यदि तू स्नान करने के लिए गई होती तो स्नान करने से तो वक्षःस्थल पर लगा सारा चन्दन

(सू० ३) अताद्दशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम् ।

अताद्दशि वाच्यादनतिशायिनि । यथा—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववंजुलमंजरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ।।३।।

अत्र वंजुललतागृहे दत्तसंकेता नागतेति व्यंग्यं गुणीभूतम्, तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् ।

धुल जाता, नायक के द्वारा हाथों से बार-बार स्तनों के मर्दन (मलने) से केवल कुछ भाग का ही चन्दन-लेप पूरा छूटा है। यदि बावड़ी में स्नान करती तो लज्जावश स्तनों को कम और वक्षःस्थल का चन्दन-लेप पूरा छूटता, किन्तु ऐसा नहीं है। इसी प्रकार यदि स्नान करती तो दोनों अधरों की लाली धुलती, यहाँ तो केवल नीचे के ओठ की लाली धुली है; क्योंकि कामशास्त्र में नीचे के ओठ का ही चुम्बन बताया गया है, ऊपर के ओठ का चुम्बन निषिद्ध है। इसी प्रकार स्नान करने से पूरे-पूरे आँख में लगा अंजन धुल सकता है, किन्तु नेत्र के प्रान्त भाग का ही अंजन धुला है, क्योंकि कामशास्त्र में नेत्र के प्रान्त भाग के चुम्बन का ही वर्णन है। अतः नायक के चुम्बन से नेत्र का प्रान्त भाग धुल गया है। तुम्हारी पतली देह सुरत-क्रीडा के श्रम से पुलकित है, अतः स्पष्ट है कि तू उस नीच के पास रमण करने के लिए गई थी। यह व्यंग्यार्थ है।

(२) मध्यम काव्य (गुणीभूतव्यंग्यकाव्य)

इस प्रकार उत्तम काव्य का लक्षण एवं उदाहरण दे चुकने के बाद अब मध्यम-काव्य (गुणीभूतव्यंग्य) का लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

अनुवाद—जहाँ पर वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार नहीं पाया जाता, उसे 'मध्यम-काव्य' कहते हैं। इसे ही 'गुणीभूतव्यंग्य' भी कहते हैं ।।३।।

अतादृशि— वैसा न होने पर अर्थात् व्यंग्यार्थ के अधिक चमत्कार-जनक न होने पर गुणीभूतव्यंग्य काव्य होता है।

विमर्श—आचार्य मम्मट मध्यम काव्य का लक्षण करते हुए कहते है कि जहाँ पर वाच्यार्थ के चमत्कार की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कार-जनक नहीं होता उसे गुणीभूतव्यंग्य कहते हैं। भाव यह कि गुणीभूतव्यंग्य में व्यंग्यार्थ गौण (अप्रधान) हो जाता है और वाच्यार्थ अधिक चमत्कारजनक होता है। उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जहाँ पर व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है और वह वाच्यार्थ से अधिक चमत्कार-जनक होता है, उसे उत्तम काव्य या ध्वनिकाव्य कहते हैं और जहाँ पर

व्यंग्यार्थ अप्रधान (गौण) हो जाता है तथा वाच्यार्थ अधिक चमत्कार-जनक होता है, उसे मध्यमकाव्य वा गुणीभूतव्यंग्य काव्य कहते हैं। मम्मट ने ध्वनिकाव्य तथा गुणीभूतव्यंग्य काव्य में व्यंग्यार्थ की प्रधानता और अप्रधानता का अन्तर स्थापित किया है। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन की भी यही मान्यता है जैसा कि कहा है— **'व्यंग्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितः काव्यप्रकारः, गुणभावे तु गुणीभूतव्यंग्यता'** (ध्वन्यालोक ३।४२)। इस प्रकार ध्वनिकार ने व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य को ध्वनिकाव्य तथा व्यंग्यार्थ के गुणीभूत (गौण, अप्रधान) होने पर गुणीभूतव्यंग्य कहा है। उन्होंने गुणीभूतव्यंग्य काव्य को कम चमत्कार न मानकर उसे ध्वनि का निष्यन्द कहा है—

'तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः (ध्वन्या० ३-३७)।

इस प्रकार चित्रकाव्य में भी व्यंग्य तो रहता है किन्तु उसकी स्फुट प्रतीति नहीं होती तो उसे 'मध्यमकाव्य' क्यों नहीं कहते ? इसी प्रकार पर्यायोक्त आदि अलंकारों में भी व्यंग्य के गुणीभूत होने से उसे 'मध्यमकाव्य' क्यों नहीं कहते ? इस पर कहते हैं कि गुणीभूतव्यंग्य तथा चित्रकाव्य का विषय अलग-अलग होता है। जहाँ पर व्यंग्य गुणीभूत (गौण) होने पर भी साक्षात् चमत्कार-जनक होता है, वहाँ गुणीभूतव्यंग्य का विषय होता है और जहाँ पर व्यंग्य वाच्यार्थ के द्वारा चमत्कार-जनकता में वाच्य का सहायक होता है, साक्षात् स्वयं चमत्कार-जनक नहीं होता, वह चित्रकाव्य का विषय होता है। इस प्रकार चमत्कार-विविधता का तारतम्य ही विषय-विभाजन का आधार होने से गुणीभूतव्यंग्य तथा चित्रकाव्य का विषय पृथक्-पृथक् होता है।

गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण

आचार्य मम्मट काव्यप्रकाश के पंचम उल्लास में गुणीभूतव्यंग्य के आठ उदाहरण दिये हैं। व्यंग्य का वाच्य से अनतिशय (अधिक चमत्कारी न होना) न्यूनत्व और तुल्यत्व भेद से दो प्रकार का होता है—(१) न्यूनत्वप्रधान गुणीभूतव्यंग्य और तुल्यत्वप्रधान गुणीभूतव्यंग्य। यहाँ पर न्यूनत्व प्रधान गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण दे रहे हैं—

अनुवाद—वेतस् (अशोक) लता की मंजरी को हाथ में लिये हुए ग्राम उस नवयुवक को देखती हुई उस तरुणी के मुख की कान्ति (छवि) अत्यन्त मलिन (धूमिल) होती जा रही है ।।३।।

यहाँ पर 'अशोक (वंजुल) लता-गृह में मिलने का संकेत देकर भी नहीं आयी' यह व्यंग्यार्थ गौण हो गया है और उसकी अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक चमत्कारी है।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण रुद्रट के काव्यालंकार से उद्धृत किया गया है। कोई युवती वेतस-लता गृह में ग्राम के तरुण (युवक) से स्वयं मिलने का समय देकर गृह-कार्य में व्यग्र होने के कारण संकेत-स्थान पर नहीं पहुँची और तरुण (युवक) वहाँ पहुँच गया था। तरुणी के संकेत-स्थान पर न आने का और स्वयं के पहुँचने की बात सूचित करने के लिए वहाँ से वेतस-लता की मंजरी को हाथ में लेकर आये हुए नायक (तरुण) को बार-बार चंचल नेत्र से देखती हुई उस तरुणी की मुख की कान्ति अत्यन्त मलिन हो गई।

यहाँ पर 'ग्रामतरुण' पद के द्वारा यह अभिव्यक्त होता है कि उस ग्राम में एक ही युवक है और वह अनेक युवतियों के द्वारा प्रार्थ्यमान होने से अत्यन्त दुर्लभ है, लोगों के देखने के भय से बार-बार दर्शन भी सुलभ नहीं है, दोनों के तरुण होने से दोनों में परस्पर अनुरागातिशय द्योतित होता है, अशोक-मंजरी के दर्शन से मुख-मालिन्य होना कार्य-कारण भाव के पौर्वापर्य के वैपरीत्य होने से अतिशयोक्ति अलंकार ध्वनित होता है, किन्तु ग्रामतरुण के अशोक-मंजरी के प्रदर्शन से अशोक-लता-कुंज में किसी कारण से न पहुँच सकने वाली ग्राम-तरुणी की मुख-कान्ति का अधिक मालिन्य होना चमत्कार-जनक है। अतः यहाँ व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ चमत्कारी होने से गुणीभूतव्यंग्य है।

इसके अतिरिक्त यहाँ पर 'संकेत-भंग' रूप व्यंग्यार्थ मुख-मालिन्य रूप वाच्यार्थ के द्वारा ही विप्रलम्भाभास का पोषक है, यहाँ पर केवल नायिका के संकेतभंग रूप अकर्त्तव्यता में ही वाच्य की विश्रान्ति हो जाती है, अतः यहाँ पर वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ गौण हो जाता है। इसीलिए इसे गुणीभूतव्यंग्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

तुल्यत्वप्रधान गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण निम्न प्रकार है—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥

हे राक्षसराज ! ब्राह्मणों के अपमान का परित्याग करना आपके ही कल्याण के लिए है। क्योंकि ऐसा करने से जामदग्न्य (परशुराम) तुम्हारा मित्र है, अन्यथा तुमसे क्षुब्ध हो जायगा।

परशुराम रावण को लक्ष्य करके मन्त्री माल्यवान् के पास सन्देश भेजता है कि ब्राह्मणों का अपमान न करना आपके लिए कल्याणकारी होगा, ऐसा करने पर परशुराम आपका मित्र होगा, अन्यथा वह आपका शत्रु हो जायगा। दण्ड रूप शत्रु बनने पर वह 'क्षत्रियों के समान राक्षसों का भी विनाश कर देगा' यह व्यंग्यार्थ है और 'कल्याणोपदेश' तथा 'मित्रता-कथन' रूप सामोपायक रूप वाच्यार्थ है। यहाँ पर व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों की समान प्रधानता है। यहाँ दण्डरूप व्यंग्यार्थ और सामोपाय-रूप वाच्यार्थ (विग्रह रूप व्यंग्य और सन्धि रूप वाच्य) दोनों समान रूप से चमत्कार-जनक हैं, अतः यह गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण है।

(सू० ४) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥५॥

चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्। अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानरहितम्। अवरमधमम्।

---

(३) चित्रकाव्य (अधमकाव्य)

इस प्रकार काव्य के ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य (उत्तम और मध्यम) काव्य-भेदों के निरूपण करने के पश्चात् अब तृतीय प्रकार अधमकाव्य (चित्रकाव्य) का सोदाहरण निरूपण करते हैं—

अनुवाद—व्यङ्ग्य से रहित काव्य अधमकाव्य (अवरकाव्य) कहा गया है। इसे ही विद्वानों ने चित्रकाव्य कहा है। यह दो प्रकार का होता है—शब्दचित्र और वाच्यचित्र ॥५॥

यहाँ पर 'चित्र' शब्द का अभिप्राय गुण और अलङ्कार से युक्त होना है। और 'अव्यङ्ग्य' शब्द का अभिप्राय स्फुट प्रतीयमान अर्थ से रहित है। 'अवर का अर्थ 'अधम' है।

विमर्श—मम्मट ने गुण-व्यञ्जक, अलङ्कार-युक्त, व्यङ्ग्य-रहित काव्य को अधमकाव्य कहा है। यहाँ पर अव्यङ्ग्य (व्यङ्ग्य-रहित) का अर्थ व्यङ्ग्य का अभाव नहीं है, बल्कि स्फुट प्रतीयमान अर्थ से रहित है। क्योंकि ऐसा कोई भी काव्य नहीं है जिसमें व्यङ्ग्य न हो। इस प्रकार जहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ की स्पष्ट प्रतीति न हो उसे अधम काव्य कहते हैं। प्रदीपकार का कथन है कि व्यङ्ग्य के अस्फुट होने पर अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य का विषय हो जायगा तो इसे अवर काव्य कैसे कहेंगे? इस पर कहते हैं कि यहाँ पर कवि का तात्पर्य व्यङ्ग्यार्थ में नहीं है, बल्कि अनुप्रासादि अलङ्कार में ही विवक्षा है। ध्वनिकार का भी कथन है कि चित्रकाव्य में रस-भावादि का तात्पर्य विवक्षित नहीं होता, और न किसी व्यंग्य विशेष के प्रकाशन का सामर्थ्य ही विवक्षित रहता है। उसमें तो केवल शब्दवैचित्र्य और अर्थवैचित्र्य का चमत्कार ही विवक्षित रहता है। मम्मट ने व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता और अप्रधानता के आधार पर काव्य के दो भेद किये हैं—ध्वनिकाव्य और गुणीभूतव्यंग्यकाव्य। इनके अतिरिक्त व्यंग्यार्थ की विवक्षा से शून्य 'चित्रकाव्य' नामक तृतीय भेद स्वीकार करते हैं जिसके शब्दचित्र और वाच्यचित्र दो भेद स्वीकार करते हैं। ध्वनिकार ने व्यंग्यार्थ की विवक्षा से शून्य काव्य को चित्रकाव्य इसलिए कहा है कि उसमें अन्तस्तत्त्व का अभाव रहता है। मम्मट के अवर काव्य को ध्वनिकार ने चित्रकाव्य कहा है और उसके दो भेद स्वीकार किये हैं—शब्दचित्र और वाच्यचित्र।

यथा—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा—
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाय वः ।
भिद्यादुधदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रद्रुम—
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदामन्दाकिनी मन्दताम् ॥४॥
विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम् ।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती ॥५॥

इति काव्यप्रकाशे काव्यस्य प्रयोजनकारणस्वरूपविशेषनिर्णयो नाम प्रथम उल्लासः ॥१॥

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ततोऽन्यत् यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥
चित्रशब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रयतः परम् ॥
(ध्वन्यालोक ३/४२-४३)

(१) शब्दचित्र का उदाहरण—

अनुवाद—स्वच्छन्द रूप से उछलती हुई किनारों के गड्ढे में अत्यन्त वेग से प्रवाहित होने वाली स्वच्छ जलधारा की छटा से विगत मोह वाले महर्षियों के सहर्ष स्नान तथा दैनिक कार्यों को सम्पन्न करने वाली, जहाँ तहाँ दिखाई पड़ने वाले मेढ़कों से भरी बड़ी-बड़ी दरारों से युक्त, बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ फेंकने में निरत, ऊपर उठने वाली बड़ी-बड़ी तरंगों से उन्मत्त मन्दाकिनी गंगा आप लोगों के पापों को नष्ट करें ॥४॥

विमर्श—यहाँ पर यदि मन्दाकिनी-विषयक रतिभाव की प्रतीति तथा अन्य तीर्थों की अपेक्षा मन्दाकिनी के वर्णन की अधिकता (विशेषता) के कारण व्यतिरेकालंकार, ये दोनों व्यंग्य हैं, तथापि यह व्यंग्य अस्फुटतर है और व्यंग्य में कवि का तात्पर्य नहीं प्रतीत होता। कवि का तात्पर्य तो अनुप्रास अलंकार के चमत्कार-प्रदर्शन में ही है। अतः अनुप्रास-प्रदर्शन मात्र कवि का तात्पर्य होने से व्यंग्य तिरोहित हो गया है। यहाँ पर 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छ.........' में छकार का 'मोहमहर्षिहर्ष.........' में हकार का 'उधदुदारदर्दुरदरी.........' में दकार का प्रचुर प्रयोग होने से अनुप्रास अलंकार है। शब्दाश्रित होने के कारण यह शब्दालंकार है। यहाँ पर कवि का अभिप्राय केवल शब्द-चित्रण में ही दिखाई देता है। अतः यह **'शब्दचित्र'** नामक अधमकाव्य का उदाहरण है।

(२) अर्थचित्र का उदाहरण—

अनुवाद—शत्रुओं के मान-मर्दन करने वाले हयग्रीव को स्वेच्छा से घूमने के लिए अपने महल से निकला हुआ सुनकर घबड़ाये हुए इन्द्र ने जिसकी अर्गला गिरा दी है, ऐसी अमरावती नगरी मानो भय के कारण द्वार रूपी आँखें बन्द कर ली हैं ॥५॥

विमर्श—यहाँ पर 'निमीलिताक्षीव' में उत्प्रेक्षा अलंकार है। यह अर्थ के आश्रित होने से अर्थालंकार है यद्यपि यहाँ पर वीररस की प्रतीति हो रही है अतः रसध्वनि की प्रतीति होने से व्यंग्य है। किन्तु कवि का तात्पर्य उत्प्रेक्षा के चमत्कार-प्रदर्शन में ही है। इसलिए वीररस की प्रतीति होने पर भी (व्यंग्यार्थ के सद्भाव में भी) उसमें कवि का तात्पर्य न होने से इसे अर्थचित्र का उदाहरण कहना चाहिए। क्योंकि उत्प्रेक्षा ही यहाँ पर चमत्कार-जनक है। और उसी में कवि का तात्पर्य होने वीररसादिग्रन्थरूप व्यंग्य तिरोहित हो गया है। अतः यह अव्यंग्य चित्रकाव्य है।

इस प्रकार काव्यप्रकाश में काव्य के प्रयोजन, कारण तथा स्वरूप विशेष का निर्णय नामक प्रथम उल्लास समाप्त हुआ।

इस प्रकार डा० पारसनाथद्विवेदिकृत काव्यप्रकाश की हिन्दी-व्याख्या का प्रथम उल्लास समाप्त हुआ ॥१॥

अथ द्वितीय उल्लासः

(शब्दार्थस्वरूपनिर्णयः)

क्रमेण शब्दार्थयोः स्वरूपमाह—

(सू० ५) स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यंजकस्तथा ।

अत्रेति काव्ये । एषां स्वरूपं वक्ष्यते ।

द्वितीय उल्लास

प्रथम उल्लास में शब्दार्थयुगल को काव्य कहा है (**शब्दार्थौ काव्यम्**)। वहाँ पर शब्द और अर्थ का विशेष्य के रूप में प्रतिपादन है। उनमें विशेष्य शब्द का प्रथम प्रतिपादन होने से पहले शब्द का ही विवेचन करते हैं। उसके बाद अर्थ के स्वरूप का विवेचन करेंगे। मम्मट ने शब्द का लक्षण नहीं दिया है किन्तु पतंजलि ने महाभाष्य में '**प्रतीतपदार्थको ध्वनिः शब्दः**' यह शब्द का लक्षण बताया है। वहाँ पर ध्वनि और स्फोट में अभेद मानकर कहा गया है कि 'श्रोत्रोपलब्ध, बुद्धि-ग्राह्य और प्रयोग के द्वारा प्रकाशित आकाशदेशस्थ शब्द स्फोट रूप है (**श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः**)। यह स्फोटरूप शब्द अखण्ड (एक) होते हुए भी उपाधिभेद से अनेक रूपों में भासित होता है। आचार्य मम्मट पहले शब्द के तीन प्रकारों का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—(५) **काव्य में वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक ये तीन प्रकार के शब्द होते हैं।**

यहाँ 'अत्र' पद का अभिप्राय काव्य में है। इन तीन प्रकार के वाचक, लाक्षणिक एवं व्यंजक शब्दों का स्वरूप आगे कहा जायगा।

विमर्श—आचार्य मम्मट ने उपाधि-भेद से शब्द के तीन प्रकार बताये हैं—वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक। यहाँ पर वाचक शब्द लक्षक और व्यंजक शब्द का उपजीव्य है और वाचक तथा लक्षक दोनों व्यंजक शब्द के उपजीव्य हैं। क्योंकि लक्षक शब्द वाचक शब्द के आश्रित रहता है और व्यंजक शब्द इन दोनों (वाचक और लाक्षणिक) की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार शब्द के उपाधि-भेद से तीन प्रकार कहे गये हैं। जिस प्रकार एक ही व्यक्ति उपाधि-भेद से कभी पाचक कभी पाठक कहा जाता है उसी प्रकार एक शब्द उपाधि-भेद से कभी वाचक, कभी लक्षक और कभी

(सू० ६) वाच्यदयस्तदर्थाः स्युः ।

वाच्य-लक्ष्य-व्यंग्याः ।

(सू० ७) तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्

आकांक्षायोग्यतासन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तत्पर्थार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहिता-न्वयवादिनां मतम् ।

वाच्य एव वाक्यार्थ इति अन्विताभिधानवादिनः ।

व्यंजक भी हो सकता है। अतः 'गंगायां घोषः' में एक ही गंगा शब्द वाचक, लक्षक और व्यंजक तीनों होता है। यह तीन प्रकार का विभाग शब्दों की उपाधि का होता है। शब्द की भाँति उपाधिभेद से अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं—

अनुवाद (सू० ६)— वाच्य आदि (वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य) उन (वाचक, लक्षक, व्यंजक) शब्दों के अर्थ होते हैं।

वाच्यादि का तात्पर्य वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य है।

विमर्श—मम्मट ने वाचक, लक्षक और व्यंजक ये तीन प्रकार के शब्द बताये हैं। उन तीन प्रकार के शब्दों के तीन अर्थ होते हैं—वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ।

वाच्यार्थ मुख्य अर्थ होता है। जैसे—'गगायां घोषः' इस उदाहरण में 'गंगा' शब्द का मुख्य (वाच्य) अर्थ गंगा का प्रवाह है। इस मुख्य (वाच्य) अर्थ को प्रकट करने वाला 'गंगा' शब्द वाचक शब्द है। मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ की प्रतीति लक्ष्यार्थ है। जैसे, 'गंगा' शब्द का तट (तीर) रूप लक्ष्य अर्थ है। इसी प्रकार इनसे भिन्न अर्थ की प्रतीति को व्यंग्यार्थ कहते हैं। यहाँ पर शैत्य-पावनत्व रूप अर्थ व्यंग्यार्थ है और उसका वोधक शब्द व्यञ्जक है।

अनुवाद (सू० ७)— किन्हीं आचार्यों के मत में तात्पर्यार्थ भी एक अर्थ होता है।

अनुवाद—आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि के कारण, जिनका स्वरूप आगे कहा जायगा, उन पदार्थों का अन्वय परस्पर सम्बन्ध होने पर विशेष आकार वाला अपदार्थ अर्थात् पदों का अर्थ न होने पर भी तात्पर्यार्थ रूप वाक्यार्थ होता है, यह अभिहितान्वयवादियों का मत है।

वाच्यार्थ ही वाक्यार्थ है, यह अन्विताभिधानवादियों का मत है।

विमर्श—आचार्य मम्मट वाचक, लक्षक और व्यंजक तीन प्रकार के शब्द और वाच्य, लक्ष्य व्यंग्य ये तीन प्रकार का अर्थ मानते हैं। किन्तु कुमारिल भट्ट के मतानुयायी मीमांसक तात्पर्यार्थ रूप अन्य अर्थ भी स्वीकार करते हैं। काव्यप्रकाश में तीन प्रकार के शब्द और तीन प्रकार के अर्थ बताये गये हैं और उन तीनों प्रकार के अर्थों को बोध कराने वाली तीन शक्तियाँ मानी गई हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इन तीन शक्तियों के द्वारा शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है। इसी को वाक्यार्थ-ज्ञान भी कहते हैं। वाक्यार्थ ज्ञान के सम्बन्ध में वैयाकरण, नैयायिक और मीमांसक तीनों ने विचार किया है। यहाँ मीमांसकों के मत की समीक्षा कर रहे हैं। वाक्यार्थज्ञान के सम्बन्ध में मीमांसकों के दो मत पाये जाते हैं—(१) अभिहितान्वयवाद और (२) अन्विताभिधानवाद। इनमें अभिहितान्वयवाद को मानने वाले कुमारिल भट्ट और पार्थसारथि मिश्र आदि हैं और अन्विताभिधानवाद के प्रतिपादक प्रभाकर गुरु तथा शालिकनाथ मिश्र आदि हैं। यहाँ दोनों मतों का प्रतिपादन किया गया है।

(१) **अभिहितान्वयवाद**—अभिहितान्वयवाद का अर्थ है अभिहित अर्थात् अभिधाशक्ति के द्वारा बोधित (कथित) अर्थों का अन्वय (सम्बन्ध) अर्थात् अभिधाशक्ति के द्वारा पदों का अर्थ अभिहित (कथित) होता है, बाद में उनका परस्पर अन्वय होता है (**अभिहितानां स्वस्ववृत्या पदैरुपस्थितानामर्थानामन्वयो भवतीति ये वदन्ति, ते अभिहितान्वयवादिनः**)। इस प्रकार अभिहितान्वयवाद के अनुसार पहले अभिधाशक्ति के द्वारा पद से पदार्थ का ज्ञान होता है। उसके पश्चात् वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उनका परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) होता है, जिससे वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। इस प्रकार वाक्यार्थ-ज्ञान में अभिहित पदार्थों का अन्वय (सम्बन्ध) होने के कारण इसे अभिहितान्वयवाद कहते हैं। इस मत में पदार्थों का अन्वय वक्ता के तात्पर्य के अनुसार होता है अतः इसे 'तात्पर्यार्थ' या वाक्यार्थ कहते हैं और इसे बोध कराने वाली शक्ति को 'तात्पर्याख्या' शक्ति कहते हैं।

अभिहितान्वयवाद के अनुसार किसी भी पद का अर्थ प्रथमतः अभिधा शक्ति के द्वारा होता है। बाद में उनका आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के आधार पर परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) होता है। वह सम्बद्ध पदार्थज्ञान वाक्यार्थज्ञान या शब्दार्थ बोध कहलाता है। जैसे—'गामानय' इस वाक्य में दो पद हैं—'गाम्' और 'आनय'। इनमें 'गो' पद का अर्थ है—सास्नादिविशिष्ट पशु। यह एक सामान्य अर्थ है। इसी प्रकार 'अम्' प्रत्यय का अर्थ 'कर्मत्व' है और 'आनय' क्रियापद का अर्थ आनयन रूप क्रिया का ज्ञान है। यहाँ पर वक्ता को अभीष्ट पशुविशेष का ज्ञान नहीं होता। इस विशिष्ट अर्थ का ज्ञान जब आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के द्वारा एक पद के अर्थ के साथ दूसरे पद के अर्थ का अन्वय (सम्बन्ध) होता है, तभी होता है। अतः इन दोनों पदों के सामान्य अर्थ के अभिहित (कथित) होने के बाद परस्पर अन्वय होने पर जो सम्बद्ध रूप विशिष्ट अर्थ होता है वही वाक्यार्थज्ञान होता है, उसी को

तात्पर्यार्थ कहते हैं, इसी को अभिहितान्वयवाद कहते हैं। इसी को स्पष्ट करते हुए मम्मट कहते हैं कि—'आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि के कारण वक्ष्यमाण स्वरूप पदार्थों का परस्पर अन्वय होने पर तात्पर्यार्थ रूप पदार्थ से भिन्न विशेष प्रकार का वाक्यार्थ होता है। इस प्रसंग में आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि पदों का अर्थ भी समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

आकांक्षा—जहाँ पर एक पद के सुनने के बाद दूसरे पद के बिना अर्थ की प्रतीति न होने पर दूसरे (अन्य) पद की जो इच्छा होती है, उसे 'आकांक्षा' कहते हैं। **(येन पदेन विना यस्य पदस्यान्वयानुभावकत्वं तेन पदेन सह तस्याकांक्षा)**। जैसे—कोई व्यक्ति कहता है कि 'आनय' (लाओ)। इस पद के सुनने के बाद तुरन्त जिज्ञासा होती है कि 'क्या' ? इस आकांक्षा की पूर्ति केवल 'आनय' पद से नहीं होती; बल्कि 'गाम्' या 'घटम्' आदि पदों से आकांक्षा की पूर्ति हो जाती (गामानय या घटमानय); क्योंकि ये दोनों पद परस्पर 'सापेक्ष' होते हैं। इसी प्रकार गाम्' या 'घटम्' आदि केवल कारक पदों से कोई अर्थज्ञान नहीं होता, उसके लिए क्रियापद अपेक्षित है। तभी सम्यक् अर्थबोध होता है। इस प्रकार आकांक्षा से रहित वाक्य अप्रामाणिक होता है। केवल कारक या क्रिया पदों का समूह वाक्यार्थ-ज्ञान नहीं करा सकता। जैसे—गौः, अश्वः, पुरुषः आदि पद-समूह निराकांक्ष होने से प्रामाणिक नहीं होते।

योग्यता—जहाँ पर एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध में बाधा उपस्थित न हो, उसे 'योग्यता' कहते हैं **(पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावे योग्यता)**। जो पदार्थ परस्पर अन्वय के योग्य नहीं होते, वे अप्रामाणिक वाक्य कहे जाते हैं। जैसे—'अग्निना सिञ्चति' (आग से सींचता है) इस वाक्य में 'अग्नि' में सिंचन (सेचन) की योग्यता न होने से अप्रामाणिक है। क्योंकि अग्नि से सींचने का कार्य असम्भव है अतः अग्नि और सिंचन के पारस्परिक सम्बन्ध में बाधा उत्पन्न होती है। इसलिए यह वाक्य-प्रामाणिक नहीं हो सकता।

सन्निधि—एक ही वक्ता द्वारा पदों का बिना विलम्ब के उच्चारण करना 'सन्निधि' है **(पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः)**। जैसे—कोई व्यक्ति 'घटम्' (घड़ा) उच्चारण करने के दो घण्टे बाद 'आनय' (लाओ) पद का उच्चारण करता है तो यह वाक्य प्रामाणिक नहीं होगा, क्योंकि इसमें सन्निधि का अभाव है। अतः परस्पर अन्वय योग्य पदों की अव्यवहित उपस्थिति होने पर ही वाक्यार्थ-ज्ञान होगा। जैसे बिना विलम्ब के एक साथ 'घटमानय' यह वाक्य कहने पर अर्थज्ञान होता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्तमुक्तावलीकार कहते **(यत्पदार्थेन यस्य पदार्थस्यान्वयोऽपेक्षितस्तयोरव्यवधानेनोपस्थितिः शाब्दबोधे कारणम्)**। यदि परस्पर अन्वय योग्य पदार्थों की अव्यवहित उपस्थिति में किसी प्रकार की बाधा पड़ती है तो वह न तो वाक्य कहलायेगा और न उससे वाक्यार्थ-ज्ञान होगा।

इस प्रकार आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से युक्त पदसमूह ही वाक्य कहलाता है और उसी से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। तात्पर्य यह कि अभिहित

न्वयवाद के अनुसार पहले पदार्थ का ज्ञान होता है और बाद में तात्पर्य-शक्ति के द्वारा आकांक्षादि विशिष्ट पदार्थों का परस्पर अन्वय होता है और उससे विशिष्ट वाक्यार्थ का ज्ञान होता है।

तात्पर्यार्थ—वाक्यार्थ-ज्ञान के लिए 'तात्पर्य-ज्ञान' आवश्यक है। तात्पर्य शब्द का अर्थ है—वक्ता का अभिप्राय। प्रसंग के अनुसार वक्ता के अभिप्राय का निर्णय किया जाता है। जैसे—किसी ने 'सैन्धवमानय' कहा। 'सैन्धव' पद के दो अर्थ होते हैं—नमक और घोड़ा। यदि भोजन करते समय किसी ने 'सैन्धवमानय' कहा तो वहाँ सैन्धव पद का अर्थ नमक होगा, क्योंकि यहाँ सैन्धव पद से वक्ता का तात्पर्य नमक से है। यदि यात्रा के समय 'सैन्धवमानय' कहा जाय तो वहाँ वक्ता का तात्पर्य घोड़े से होने से सैन्धव पद का अर्थ घोड़ा होगा। क्योंकि यात्रा के समय घोड़े की आवश्यकता होती है। इस प्रकार वक्ता के अभिप्रेत अर्थ का बोध कराने के लिए तात्पर्यार्थ-ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार 'घटमानय' इस वाक्य में प्रथम घट पद का सामान्य घट और आनय पद का सामान्य आनयन रूप क्रिया का बोध होता है। बाद में वक्ता अपने अभिप्राय के अनुसार साकांक्षादि-विशिष्ट पदों का अन्वय करता है तब एक विशिष्ट अर्थ का ज्ञान होता है कि 'अमुक घड़ा (घटविशेष) लाओ' यही तात्पर्यार्थ है, इसी को वाक्यार्थ कहते हैं।

(२) **अन्विताभिधानवाद**—अन्विताभिधानवाद के अनुसार अभिधाशक्ति से पहले पदार्थों की उपस्थिति नहीं होती, बल्कि पदों द्वारा अन्वित पदार्थों की ही उपस्थिति होती है, अर्थात् पहले पद अन्वित होते हैं बाद में विशिष्ट अर्थ (वाक्यार्थ) को कहते हैं इसलिए उसे 'अन्विताभिधानवाद' कहते हैं (**पदानि अन्वितानि भूत्वा पश्चाद्विशिष्टमर्थं कथयन्तीति यो वदति, सोऽन्विताभिधानवादी**)। भाव यह कि अभिहितान्वयवाद में पहले अभिधाशक्ति से पदार्थ का ज्ञान होता है बाद में तात्पर्य के अनुसार उनका परस्पर अन्वय होता है, फिर उससे तात्पर्यार्थ या वाक्यार्थ-ज्ञान उपस्थित होता है किन्तु अन्विताभिधानवाद में अभिधा शक्ति के द्वारा अन्वित पदार्थ ही उपस्थित होता है, उसके लिए तात्पर्या-शक्ति नामक पृथक् शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि अभिधाशक्ति में संकेतग्रह आवश्यक होता है और संकेत-ग्रह केवल पदार्थ में नहीं, बल्कि अन्वित पदार्थ में होता है। अतः अभिधाशक्ति से अन्वित पदार्थ ही उपस्थित होता हैं, केवल पदार्थ नहीं। अतः इस मत के अनुसार अन्वित अर्थ की प्रतीति के लिए 'तात्पर्या-शक्ति' मानने की आवश्यकता नहीं होती। इसी बात को ग्रन्थकार निम्न पंक्तियों में व्यक्त करते हैं—

वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः।

इस प्रकार अन्विताभिधानवाद के अनुसार अन्वित पदार्थों की उपस्थिति संकेतग्रह के द्वारा होती है और संकेतग्रह का आधार व्यवहार है। जैसे—कोई उत्तम वृद्ध मध्यम-वृद्ध से कहता है कि 'गामानय' अर्थात् गाय लाओ। समीप में बैठा हुआ बालक 'गामानय' इस वाक्य को सुनता है और सास्नादिविशिष्ट पशु-

विशेष (गाय) को लाते हुए देखता है तो पृथक् पदार्थ ज्ञान न होने पर भी वह 'गामानय' इस अखण्ड वाक्य से सास्नादिविशिष्ट गो का 'आनयन' रूप वाक्यार्थ का ग्रहण करता है। इसके बाद जब बालक 'गां नय' 'अश्वमानय' इस वाक्य को सुनता है तो 'गां नय' में आनय के स्थान पर 'नय' पद का प्रयोग तथा 'अश्वमानय' में आनय पद को सुनकर और प्रवृत्ति-निवृत्ति के द्वारा प्रवर्त्तन और निवर्त्तन रूप क्रिया को देखकर 'नय' का अर्थ 'ले जाना' और 'आनय' का अर्थ 'लाना' समझने लगता है। यही संकेतग्रह की प्रक्रिया है। इस प्रकार संकेतग्रह अन्वित पदार्थ में ही होता है; क्योंकि प्रवृत्ति का व्यवहार अन्वित पदार्थ में ही होता है---

विशिष्टा एव पदार्थः वाक्यार्थः, न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम् ।

अर्थात् परस्पर अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ के रूप में उपस्थित होते हैं, अलग-पदार्थों की उपस्थिति के बाद अन्वय नहीं होता। जैसा कि न्यायमंजरीकार का कथन है कि किसी पद का पृथक् प्रयोग नहीं होता, वाक्य के रूप में ही उसका प्रयोग होता है, इसलिए वाक्यान्तर्गत पद परस्पर अन्वित अर्थ का ही अभिधान करते हैं, अतः तात्पर्या-शक्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार अन्विताभिधानवादी तात्पर्याख्या शक्ति को स्वीकार नहीं करते, किन्तु अभिहितान्वयवादी मीमांसक और व्यंजनावादी आचार्य तात्पर्या-शक्ति को स्वीकार करते हैं। क्योंकि आचार्य मम्मट ने 'अन्विताभिधानवादिनः' इस पद में एकवचन का प्रयोग करके इस मत के प्रति उपेक्षा प्रकट की है और 'अभिहितान्वयवादिनां मतम्' में बहुवचन का प्रयोग कर उनके प्रति आदरभाव प्रकट किया है। इससे स्पष्ट है कि मम्मट अभिहितान्वय-वादियों के मत को मान्य करते हैं और अन्विनाभिधानवाद को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि अन्विताभिधानवाद के स्वीकार करने पर भी अभिधाशक्ति से अन्वयमात्र का ज्ञान भले ही हो जाय, किन्तु सम्बन्ध विशेष की प्रतीति नहीं हो सकती, अतः उसके लिए तात्पर्यवृत्ति माननी ही पड़ेगी। इस प्रकार मम्मट ने 'अन्विताभिधानवाद' की अपेक्षा 'अभिहितान्वयवाद' को विशेष मान्य किया है, क्योंकि तात्पर्यवृत्ति उनके व्यंजना-वृत्ति की सिद्धि में सहायिका होती है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि जब अभिधाशक्ति के द्वारा विशिष्ट अर्थ का ज्ञान भी नहीं हो सकता और उसके तात्पर्याशक्ति माननी ही पड़ती है तो व्यंग्यार्थ की प्रतीति उससे कैसे हो सकती है अतः उसके लिए व्यंजना वृत्ति की आवश्यकता सिद्ध होती है। न्यायमंजरीकार भी अन्विताभिधानवाद को स्वीकार नहीं करते, वे संसर्गबोध के लिए तात्पर्य-शक्ति को स्वीकार करते हैं—

अभिधात्री मता शक्तिः पदानां स्वार्थनिष्ठता ।
तेषां तात्पर्यशक्तिस्तु संसर्गावगमावधिः ।
तेनावताभिधानं हि नास्माभिरिह मृष्यते ।

(सू० ८) सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यंजकत्वमपीष्यते

तत्र वाक्यस्य यथा—

माए घरोअरणं अज्ज हु णत्थि त्ति साहिअं तुमए ।
ता भण किं करणिज्जं एमेअ ण वासरो ठाइ ॥६॥
[मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया ।
तद्भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी ॥६॥]
(इति संस्कृतम्)

अत्र स्वैरविहारार्थिनीति व्यज्यते ।

अर्थों की व्यंजकता

व्यंजक शब्दों और अर्थों का सन्निवेश वस्तुतः कवि-विषयक होता है और इस ग्रन्थ के काव्यज्ञशिक्षारूप होने से व्यंजकता का निरूपण करते हैं । यहाँ व्यंजकता का अभिधा आदि से विलक्षणता बताने के लिए कहते हैं—

अनुवाद (८)—प्रायः सभी अर्थों की व्यंजकता भी इष्ट है ।

विमर्श—मम्मट ने तीन प्रकार के शब्द बताये हैं—वाचक, लक्षक और व्यंजक और उनके तीन प्रकार के अर्थ भी होते हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य । केवल शब्द ही व्यंजक नहीं होते, बल्कि अर्थों में भी व्यंजकता होती है । उनमें भी केवल वाच्य अर्थ में ही व्यंजकता नहीं होती; किन्तु वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य सभी अर्थों में प्रायः व्यंजकता होती है । वाच्यादि सभी अर्थ यथासम्भव चमत्कारपूर्ण अर्थ अभिव्यक्त करने में समर्थ होते हैं किन्तु वक्ता, श्रोता आदि के वैशिष्ट्य (विशेषता) के अनुसार ही अर्थान्तर व्यंजन में समर्थ होते हैं । वक्ता आदि के वैशिष्ट्य-कथन न होने पर अर्थान्तर की व्यंजना संभव नहीं है, इसीलिए कारिका में 'प्रायशः' कहा गया है । प्रथम वक्तृ-वैशिष्ट्य के कारण वाच्य अर्थ की व्यंजकता का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—हे मातः ! आज घर में (अन्न, इन्धन, शाकादि) सामग्री नहीं है, यह तुमने बतला ही दिया था, तो अब यह बताओ कि क्या करना चाहिए ? क्योंकि इस प्रकार दिन भी तो स्थिर नहीं रहेगा अर्थात् दिन ढलता जा रहा है ॥६॥

यहाँ पर कोई नायिका स्वच्छन्द विहार की अभिलाषिणी है, यह व्यंग्यार्थ है ।

विमर्श—कोई व्यभिचारिणी स्त्री उपपति से मिलने की इच्छा से ईंधन, शाक-सब्जी आदि लाने के बहाने से बाहर जाने के लिए अपनी माँ से कहती है कि हे मातः ! तुमने पहले ही बतला दिया था कि आज घर में लकड़ी, (ईंधन) साग-सब्जी

लक्ष्यस्य यथा—

साहेन्ती सहि सुहअं खणे खणे दूम्मिआसि मज्झकए ।
सब्भावणेहकरणिज्जसरिसअं दाव विरइअं तुमए ।।७।।
[साधयन्ती सखि सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते ।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद् विरचितं त्वया ।।७।।]
(इति संस्कृतम्)

अत्र मत्प्रियं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वमाचरितमिति लक्ष्यम् । तेन च कामुकविषयं सापराधत्वप्रकाशनं व्यंग्यम् ।

आदि कुछ भी सामग्री नहीं है, तो बताओ क्या करूँ ? इस प्रकार दिन भी तो स्थिर नहीं रहेगा अर्थात् सूर्य छिपने वाला है, थोड़ी देर में रात हो जायगी । तो बताओ, ईंधन आदि लाने के लिए बाहर जाना है या नहीं ? क्योंकि यदि एकाध वस्तु की कमी होती तो पड़ोसिन से उधार ले लेती, किन्तु घर में तो अन्न, आटा, चावल, दाल, ईंधन, साग-सब्जी, नमक, तेल आदि कुछ भी नहीं है । इसलिए माँ मुझे अवश्य बाहर भेजेगी, यह जानती हुई चतुरा नायिका अपने अभिप्राय को छिपाती हुई बाहर जाने के विषय में माँ के ऊपर छोड़ देती है । यहाँ पर वाच्यार्थ के द्वारा व्यभिचारिणी रूप वक्ता के सम्बन्ध के कारण 'यह स्वैरविहारिणी है' यह बात सहृदय व्यंजना के द्वारा बोध करते हैं ।

लक्ष्य अर्थ की व्यंजकता (का उदाहरण) जैसे—

अनुवाद—हे सखि ! मेरे लिए उस सुन्दर नायक को मनाती हुई तुम क्षण-क्षण बहुत दुःखी हुई हो । तुम्हें मेरे प्रति सद्भाव और स्नेह के कारण जो करना चाहिए था, वही कार्य तुमने कर लिया ।।७।।

यहाँ पर 'मेरे प्रिय के साथ रमण करने वाली तुमने मेरे साथ शत्रुता निबाही है' यह लक्ष्यार्थ है और कामुक-विषयक सापराधत्व का प्रकाशन व्यंग्य है ।

विमर्श—प्रस्तुत गाथा बोद्धव्य-वैशिष्ट्य-मूलक लक्ष्यार्थ की व्यंजकता का उदाहरण है । यहाँ पर लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है । किसी नायिका ने अपने प्रियतम को मनाने के लिए अपनी सखी को भेजा था, किन्तु सखी वहाँ जाकर उसके प्रियतम के साथ रमण करके लौट आई, तब उपभोग के चिह्नों से अनुमित नायक के साथ रमण करने वाली सखी के प्रति कोई नायिका कहती है कि हे सखि ! तुमने मेरे साथ बहुत अच्छा व्यवहार किया, और सद्भाव एवं स्नेह के सदृश ही आचारण किया है । यहाँ पर मुख्यार्थ को बाधकर 'तू ने मेरे प्रियतम के साथ रमण करके मेरे साथ शत्रुता का

व्यंग्यस्य यथा—

उअ णिच्चलणिप्पंदा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ संखसुत्ति व्व ॥८॥

[पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शंखशुक्तिरिव ॥८॥

(इति संस्कृतम्)

अत्र निष्पन्दत्त्वेन आश्वस्तत्त्वम्। तेन च जनरहितत्त्वम्। अतः संकेतस्थानमेतदिति कयाचित् कंचित् प्रति उच्यते। अथवा मिथ्या वदसि, न त्वमत्रागतोऽभूरिति व्यज्यते।

आचरण किया है' यह वाक्यार्थ है। इसके द्वारा कामुक नायक तथा सखी के अपराध का प्रकाशन व्यंग्य है। यहाँ पर बोद्धव्य-वैशिष्ट्य के कारण सहृदय को व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

व्यंग्यार्थ की व्यंजकता का उदाहरण—

अनुवाद—देखो, कमलिनी के पत्ते पर निश्चल और निष्पन्द (बिना हिले-डुले) बैठी हुई बलाका निर्मल मरकतमणि के पात्र में रखी हुई शंख-शुक्ति की तरह शोभित हो रही है॥८॥

यहाँ पर 'निष्पन्द होने से आश्वस्तता (निर्भयता) व्यंग्य है और उससे स्थान का निर्जन होना व्यंग्य है, अतः यह संकेतस्थान है, यह बात किसी नायिका के द्वारा किसी नायक के प्रति व्यंजना के द्वारा कही जा रही है। अथवा 'तुम झूठ बोल रहे हो, तुम यहाँ नहीं आये हो' यह (जनाभावरूप व्यंग्य से) अभिव्यक्त हो रहा है।

विमर्श—यह गाथा हाल की गाथा-सप्तशती से उद्धृत है। इस गाथा में बलाका निष्पन्द (बिना हिले-डुले) बैठी है, यह वाच्य अर्थ है। इससे उसकी अश्वस्तता (निर्भयता) व्यक्त हो रही है, इस आश्वस्तता (निर्भयता) से यह स्थान निर्जन (एकान्त) है, यह व्यंग्यार्थ अभिव्यक्त होता है, इस व्यंग्यार्थ से यह निर्जन स्थान उचित संकेत-स्थल है, यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है, अथवा जब कोई नायक नायिका से कहता है कि 'तुम समय देकर भी यहाँ नहीं आई, मैं तो यहाँ आया था' इस प्रकार कहते हुए नायक से नायिका कहती है कि बलाका की निर्भयता से यहाँ मनुष्य के आगमन का अभाव (जनाभाव) द्योतित हो रहा है, अतः 'झूठ बोलते हो, तुम यहाँ नहीं आये थे' यह बात व्यंजना के द्वारा अभिव्यक्त होती है। अतः यह व्यंग्यार्थ की व्यंजकता का उदाहरण है।

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह—

(सू० ६) साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ।।७।।

इहागृहीतसंकेतस्य शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात् संकेतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यवधानेन संकेतो गृह्यते स तस्य वाचकः ।

वाचक-शब्द-स्वरूप

इस प्रकार तीन प्रकार के शब्दों और अर्थों के विवेचन करने के पश्चात् अब वाचक आदि (वाचक, लक्षक, व्यंजक) तीन प्रकार के शब्दों के स्वरूप का विवेचन करते हैं—

अनुवाद—(सू० ६) जो साक्षात् संकेतित अर्थ को कहता है, उसे 'वाचक' शब्द कहते हैं ।।७।।

अनुवाद – इस लोकव्यवहार में बिना संकेतग्रह के शब्द के अर्थ की प्रतीति नहीं होती। संकेतग्रह की सहायता से ही शब्द अर्थविशेष का प्रतिपादन करता है इसलिए जिस शब्द का जिस अर्थ में बिना व्यवधान (अव्यवधान) के संकेत का ग्रहण होता है, वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है।

विमर्श—वाचक शब्द किसे कहते हैं? उसका स्वरूप क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य मम्मट कहते हैं कि काव्यशास्त्र में शब्द के अर्थ ज्ञान के लिए तीन प्रकार की शक्तियों का निर्देश है— अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इनमें अभिधा शक्ति के द्वारा साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराने वाले शब्द को 'वाचक' शब्द कहते हैं अर्थात् लोक व्यवहार में जिस शब्द का जिस अर्थ में बिना व्यवधान के संकेत ग्रहण किया जाता है, वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है। यदि संकेतग्रह न हो तो शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। पतंजलि ने पद और पदार्थ (शब्द और अर्थ) में परस्पर अध्यास रूप संकेत माना है। उनके अनुसार 'जो यह शब्द है वह अर्थ है, और जो यह अर्थ है, वह शब्द है, इस प्रकार परस्पर अध्यास रूप संकेत होता है। (**योऽयं शब्दः सोऽयमर्थो योऽयमर्थः सोऽयं शब्दः इत्येवमितरेतराध्यासरूपः संकेतो भवतीति**। योगसूत्र ३।१७)। इस प्रकार जिस शब्द का जिस अर्थ में साक्षात् अध्यारोप होता है, उस अर्थ का बोधक वह शब्द उसका वाचक होता है।

पद और पदार्थ के सम्बन्ध को 'शक्ति' कहते हैं। 'इस पद का यह अर्थ है' इस प्रकार का ईश्वर की इच्छारूप संकेत ही शक्ति है (**अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इति ईश्वरसंकेतः शक्तिः**)। इस प्रकार शक्ति को संकेत और शक्तिग्रह को संकेतग्रह कहते हैं। शक्ति को संकेत इसलिए कहते हैं कि 'इस पद का यह अर्थ है' या 'यह पद इस अर्थ का बोधक है' या 'इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए' इस प्रकार का

ईश्वरेच्छारूप संकेतग्रह (शक्तिग्रह) होता है। प्राचीन नैयायिक ईश्वरेच्छारूप संकेत को ही शक्ति मानते हैं और नव्य नैयायिक संकेतमात्र को शक्ति मानते हैं वैयाकरण, मीमांसक तथा साहित्यिकों ने संकेत और शक्ति को भिन्न-भिन्न माना है। उनके अनुसार शक्ति संकेत नहीं, बल्कि संकेतग्राह्य है। जैसे—शब्द में अभिधा शक्ति है। इस प्रकार संकेतित अर्थ का बोध कराने वाली शब्द शक्ति अभिधा शक्ति है। इस प्रकार संकेतग्रह से शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है विना संकेतग्रह के अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती।

मम्मट के अनुसार साक्षात्संकेतित अर्थ को वोध कराने वाला शब्द का मुख्य व्यापार 'अभिधा' है। यह अभिधा शक्ति है और 'इस शब्द का यह वाच्य (अर्थ) है, इस अर्थ का यह वाचक शब्द है' इस प्रकार की (मान्यता) संकेत है। इस प्रकार शब्द और अर्थ में वाक्य-वाचक भाव सम्बन्ध है जो साक्षात् संकेतित अर्थ का बोधक है वह वाचक है और इसका अर्थ 'वाच्य' है। इस पर प्रदीपकार कहते हैं कि यदि साक्षात् संकेतित शब्द वाचक है तो 'अभिधत्ते' इस पद की क्या आवश्यकता है? इस पर कहते हैं कि 'अभिधत्ते' कहने से जो अभिधा शक्ति का विषय हो, वही संकेतित होता है। इस प्रकार जो शब्द साक्षात् संकेत के विषयीभूत अर्थ को अभिधा से कहता है वह शब्द 'वाचक' है।

संकेतग्रह के साधन

संकेतग्रह का प्रमुख साधन लोक-व्यवहार है। लोक-व्यवहार से संकेत का ज्ञान होता है। जैसे कोई उत्तम वृद्ध मध्यम वृद्ध को गाय लाओ' (गामानय) यह आदेश देता है। समीप में बैठा हुआ वालक 'गामानय' इस वाक्य को सुनता है और सास्नादि-विशिष्ट पशुविशेष को लाते हुए देखता है। उसे पद का अर्थ अलग-अलग ज्ञात नहीं है किन्तु मध्यम वृद्ध द्वारा पशु-विशेष के आनयन रूप क्रिया को देखता है तो अखण्ड वाक्य का अर्थ 'गाय लाओ' यह समझ लेता है। उसके पश्चात् बालक 'गां नय, अश्वमानय' (गाय ले जाओ, घोड़ा लाओ) इस वाक्य को सुनता है तो 'गां नय' वाक्य में 'आनय' के स्थान पर 'नय' और 'अश्वमानय' इस वाक्य में 'आनय' पद को देखकर 'प्रवर्त्तन' और 'निवर्त्तन' रूप क्रिया को देखकर 'आनय' का अर्थ 'लाना' और 'नय' का अर्थ 'ले जाना' समझने लगता है, इसी प्रकार बालक 'गां नय' के प्रयोग से सास्नादि-विशिष्ट पशुविशेष को ले जाते हुए देखकर 'गाम्' पद का अर्थ सास्नादियुक्त पशुविशेष (गाय) और 'अश्वम् आनय' पद के प्रयोग से केसरादिविशिष्ट पशुविशिष्ट को लाते हुए देखकर 'अश्व' पद का अर्थ केसरादिविशिष्ट पशुविशेष (घोड़ा) समझने लगता है। यही संकेतग्रह की प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त न्यायशास्त्र में संकेतग्रह अन्य साधन भी बताये गये हैं—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्यात् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।

(सू० १०) संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।

यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव, तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र संकेतः कर्त्तुं न युज्यते इति गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनां विषय-विभागो न प्राप्नोतीति च, तदुपाधावेव संकेतः ।

अर्थात् व्याकरण उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति (व्याख्या), सिद्ध पदों के सान्निध्य से भी संकेत का ग्रहण होता है । जैसे—'भू सत्तायाम्' इस पद में 'भू' का अर्थ 'सत्ता' (होना) है यह ज्ञान व्याकरण से होता है; क्योंकि व्याकरण के द्वारा 'भू' का 'सत्ता' अर्थ में संकेत है । इसी प्रकार 'वर्तमाने लट्' इस सूत्र में 'लट्' का व्याकरण द्वारा 'वर्तमान' अर्थ में संकेत होने से 'लट्' का अर्थ वर्तमान (काल) होता है । इस प्रकार धातु, प्रकृति, प्रत्यय आदि में संकेतग्रह व्याकरण से होता है । **उपमान** से भी संकेतग्रह होता है 'यथा गौस्तथा गवयः' इस वाक्य से उपमान के द्वारा गोसदृश गवय (नीलगाय) का ज्ञान होता है । यहाँ पर 'गवय' पद का संकेतग्रह नीलगाय अर्थ में उपमान के द्वारा होता है । **कोश** से संकेत-ग्रह होता है । जैसे—कोश के द्वारा 'नील' पद का नीले रंग (नील रूप) में संकेत-ग्रह होता है । **आप्तवाक्य** अर्थात् आप्तपुरुष के कथन से संकेतग्रह होता है—जैसे सास्नादिविशिष्ट पशु को 'यह गाय है' इस प्रकार का संकेत ज्ञान आप्तपुरुष के कथन से होता है । **व्यवहार** से संकेतग्रह का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है । **वाक्यशेष** से भी संकेतग्रह होता है, जैसे—'यवमयश्चरुर्भवति' इस वाक्य में 'यव' शब्द का 'जौ' अर्थ वाक्यशेष के द्वारा होता है । **विवृति** अर्थात् व्याख्या के द्वारा संकेतग्रह का उदाहरण 'घटोऽस्ति' है । इस वाक्य की व्याख्या के द्वारा 'कलशोऽस्ति' का भी ज्ञान हो जाता है । **सिद्धपद के सान्निध्य** से भी संकेतग्रह होता है । जैसे—'इह सहकार-तरौ मधुरं पिको रौति' इस वाक्य में सहकारवृक्ष के सान्निध्य से 'पिक' पद का 'कोयल' रूप अर्थ में संकेतग्रह होता है ।

संकेतग्रह का विषय

अब प्रश्न यह उठता है कि संकेतग्रह किसमें हो; जाति में या उपाधि में ? इस विषय में वैयाकरण, मीमांसक, नैयायिक, बौद्ध आदि अपना अलग-अलग दृष्टि-कोण रखते हैं । मीमांसक जाति में, नैयायिक जाति विशिष्ट व्यक्ति में, बौद्ध 'अपोह' में और वैयाकरण तथा मम्मट आदि आचार्य उपाधि में संकेतग्रह मानते हैं । इसी बात को लक्ष्य करके मम्मट कहते हैं—

अनुवाद—(सू० १०) संकेतित अर्थ चार प्रकार का होता है—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा अथवा केवल जाति रूप एक प्रकार का होता है ।

उपाधिश्च द्विविधः—वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च। वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः—सिद्धः साध्यश्च। सिद्धोऽपि द्विविधः—पदार्थस्य प्राणपदो विशेषाधानहेतुश्च। तत्राद्यो जातिः। उक्तं च वाक्यपदीये—"न हि गौः स्वरूपेण गौः, नापि अगौः, गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः" इति। द्वितीयो गुणः, शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते। साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः। डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यते इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति।

अनुवाद—यद्यपि अर्थक्रियाकारिता अर्थात् वस्तु (पदार्थ) के कार्य करने के कारण प्रवृत्ति एवं निवृत्ति (प्रवर्तन एवं निवर्तन रूप व्यवहार) के योग्य व्यक्ति ही होता है तथापि व्यक्तियों के अनन्त होने तथा व्यभिचार (दोष) के आ जाने के कारण उसमें (व्यक्ति में) संकेत मानना उचित नहीं है और गौः (जाति) शुक्लः (सफेद रंग की गाय, गुण) चलः (चलती हुई गाय, क्रिया), डित्थ (संज्ञा, व्यक्ति) इस प्रकार का विषय-विभाग नहीं हो सकता, इसलिए उपाधि में ही संकेतग्रह होता है।

यह उपाधि दो प्रकार की होती है—(१) वस्तु धर्म और (२) वक्ता के द्वारा अपनी इच्छा से सन्निवेशित (डित्थ आदि)। वस्तु धर्म भी दो प्रकार का होता है—सिद्ध और साध्य। सिद्ध भी दो प्रकार का होता है—(१) पदार्थ का प्राणपद (जीवनाधायक) धर्म (जाति) और (२) विशेषता का आधान करने का हेतु (कारण)। इनमें प्रथम (वस्तु का प्राणप्रद धर्म) जाति है। जैसा कि वाक्यपदीय में कहा गया है कि 'गौ' (गाय) स्वरूपतः न गौ होती है और न अगौ ही होती है, बल्कि गोत्व (जाति) के सम्बन्ध से 'गौ' कहलाती है। दूसरा 'गुण' है। क्योंकि शुक्ल आदि गुणों के कारण ही सत्ताप्राप्त वस्तु (अन्य सजातीय वस्तुओं से) भिन्न होती है। साध्य पूर्वापरीभूत क्रियारूप होता है। डित्थ आदि शब्दों के अन्त्य बुद्धि से निर्ग्राह्य (गृहीत होने वाला), क्रमभेद से शून्य स्वरूप को वक्ता अपनी इच्छा से डित्थ आदि अर्थों में उपाधि रूप से सन्निविष्ट किया जाता है, वह यह संज्ञारूप यदृच्छात्मक शब्द होता है।

विमर्श—संकेतग्रह के सम्बन्ध में अनेक मत पाये जाते हैं, कोई व्यक्ति में संकेतग्रह मानता है तो कोई जाति में, तो कोई जातिविशिष्ट व्यक्ति में, तो कोई उपाधि में, कोई अपोह में। व्यक्ति में संकेतग्रह मानने वालों का तर्क है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति

(प्रवर्त्तन और निवर्त्तन रूप क्रिया) व्यक्ति में ही देखी जाती है, अतः व्यक्ति में ही संकेत मानना उचित है। व्यवहार में व्यक्ति ही प्रवृत्ति-निवृत्ति के योग्य होता है अतः व्यक्ति में ही संकेत मानना चाहिए। प्रदीपकार का कथन है कि संकेतग्रह व्यवहार के अधीन होता है अतः प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार व्यक्ति में होने से व्यक्ति में ही संकेतग्रह मानना उचित है (संकेतग्रहस्य व्यवहारमात्राधीनतया प्रवृत्ति-निवृत्ति-योग्यायां व्यक्तावेव तदौचित्यात्)। किन्तु व्यक्ति में संकेतग्रह मानने पर 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' दोष उपस्थित होते हैं। क्योंकि व्यक्ति में संकेत मानने में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या एक व्यक्ति में संकेत होगा या समस्त व्यक्तियों में संकेतग्रह होगा? यदि एक व्यक्ति में संकेतग्रह मानते हैं तो अनेक व्यक्तियों की एक साथ उपस्थिति असंभव होने से वहाँ संकेतग्रह नहीं होगा; क्योंकि जिस व्यक्ति में संकेतग्रह होगा, उससे उसी व्यक्ति विशिष्ट का ग्रहण होगा, अन्य व्यक्तियों के लिए अलग-अलग संकेतग्रह मानना पड़ेगा। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग संकेत मानने में 'आनन्त्य' दोष उपस्थित होगा। अतः व्यक्ति में संकेतग्रह नहीं माना जा सकता।

यदि यह कहा जाय कि प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग संकेतग्रह मानने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि कुछ व्यक्तियों में व्यवहार से संकेतग्रह हो जायगा और शेष व्यक्तियों में बिना संकेतग्रह के भी अर्थबोध हो जायगा। इस प्रकार असंकेतित में भी अर्थबोध होने लगेगा और 'शुक्ला गौः' कहने पर शुक्ल गो में संकेतग्रह होने पर भी असंकेतित, 'कृष्णा गौः' में भी गोपद की प्रवृत्ति होने लगेगी। इसी प्रकार असंकेतित अश्व में भी गोपद की प्रवृत्ति होने लगेगी। इस प्रकार नियम का उल्लंघन होने से व्यभिचार रूप दोष होगा; क्योंकि संकेतग्रह होने पर ही शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, यह नियम है। यदि कुछ व्यक्तियों में संकेतग्रह मानकर शेष अन्य व्यक्तियों में बिना संकेतग्रह के अर्थबोध हो जायगा, तो उक्त नियम का उल्लंघन होने से व्यभिचार दोष होता है। इस प्रकार 'आनन्त्य' एवं 'व्यभिचार' दोष होने से व्यक्ति में संकेतग्रह मानना उचित नहीं है।

इसी प्रकार केवल व्यक्ति में संकेतग्रह मानने पर सभी जगह 'व्यक्ति' यह व्यवहार होगा, यह जाति है, यह गुण है, यह क्रिया है, यह डित्थ संज्ञा है ('गौः शुक्लः चलः डित्थः) इस प्रकार के शब्द के चार विभाग नहीं बनेंगे और चारों शब्दों से 'व्यक्ति' का ही बोध होगा। इसलिए केवल व्यक्ति में संकेत न मानकर व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा रूप धर्मों में ही संकेतग्रह मानना चाहिए।

इस प्रकार मम्मट के मतानुसार केवल व्यक्ति में संकेतग्रह न होकर व्यक्ति के उपाधिरूप जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा आदि धर्मों में संकेतग्रह होता है। उनमें जाति रूप उपाधि प्राणप्रद धर्म है। जिस धर्म के बिना पदार्थ के स्वरूप की सत्ता ही नहीं होती, उसे प्राणपद कहते हैं; क्योंकि कोई भी पदार्थ जाति के द्वारा ही सत्ता को प्राप्त

'गौः शुक्लश्चलो डित्थः' इत्यादौ 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इति महाभाष्यकारः।

करता है। जैसे—गोत्व रूप धर्म के विना गोरूप पदार्थ की गोरूप में सत्ता ही नहीं होती। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है कि 'गोः (गोपद) केवल स्वरूप (आकारमात्र) से ही 'गौ' नहीं है और न 'अगौः' ही है। 'गोत्व' के सम्बन्ध से ही उसे 'गो' कहते हैं; क्योंकि गोत्व के जाने बिना 'यह गौ है' यह नहीं जाना जा सकता अर्थात् गोत्व के ज्ञान से ही 'गो' शब्द का व्यवहार होता है।

गुणरूप उपाधि वस्तु का सिद्ध धर्म है वह नित्य एवं पदार्थ में समवेत होता है और वस्तु में विशेषता के आधान का हेतु है। अर्थात् अस्तित्व (व्यक्ति के स्वरूप) को प्राप्त कर लेने पर पदार्थ में विशेषता के आधान का हेतु गुण है। यह गुण रूप धर्म ही सजातीय वस्तुओं के व्यावर्त्तक हैं। अर्थात् 'कपिला गौः' और 'कृष्णा गौः' में कपिल और कृष्ण रूप गुण ही दोनों गो व्यक्तियों में भेद (पार्थक्य) बताते हैं। इस प्रकार जाति पदार्थ में स्वरूपाधायक तत्त्व है तो गुण पदार्थ में विशेषता के आधान के हेतु हैं।

साध्य रूप उपाधि क्रिया रूप है। क्रिया एक वस्तु धर्म है, किन्तु जाति और गुण के समान सिद्धरूप वस्तुधर्म नहीं है बल्कि साध्यरूप वस्तुधर्म है। जैसे 'पचति' आदि। 'पचति' आदि क्रियावाचक शब्द हैं; क्योंकि इनमें अधिश्रयण (चूल्हे पर रखने) से लेकर अवश्रयण (अवतारण, पके हुए अन्न के पात्र को चूल्हे से उतारने) तक क्रमशः होने वाली विभिन्न क्रियाएँ होती हैं।

यदृच्छा रूप उपाधि वस्तु की संज्ञा मात्र है। इसमें वस्तु के धर्म (जाति, गुण, क्रिया) नहीं रहते। जैसे—डित्थ, डवित्थ आदि संज्ञा शब्द यदृच्छा शब्द माने जाते हैं; क्योंकि ये एकमात्र वक्ता के द्वारा अपनी इच्छा से एक-व्यक्ति में ही संकेतित होते हैं।

इस प्रकार व्यक्ति के उपाधि रूप जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा में संकेत-ग्रह होता है और तभी शब्दों के चार विभाग बनते हैं। वैयाकरण, जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा रूप चतुर्विध उपाधियों में संकेतित अर्थ सिद्ध करते हैं। इसीलिए वैयाकरणों ने शब्दों की चतुष्टयी प्रवृत्ति मानी है (चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः)। जैसा कि महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है—

अनुवाद—गौ (गाय), शुक्ल, चल (चलना, क्रिया) और डित्थ, इत्यादि में शब्दों की प्रवृत्ति चार प्रकार की होती है, यह महाभाष्यकार का कथन है।

परमाण्वादीनां गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम् ।
गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते।
यथैकस्य मुखस्य खड्ग-मुकुर-तैलाद्यालम्बनभेदात् ।

विमर्श—महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ऋलृक् सूत्र के भाष्य में शब्दों की चार प्रकार की प्रवृत्ति मानी है—जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छाशब्द। (चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः, जातिशब्दः, गुणशब्दः, क्रियाशब्दः, यदृच्छाशब्दाश्च)। महाभाष्यकार के अनुसार जाति शब्द किसी एक व्यक्ति का वाचक नहीं है, बल्कि जातिवाचक है। जैसे—'गो' शब्द किसी एक गो व्यक्ति का वाचक नहीं, बल्कि गोत्व जाति का वाचक है। गुणवाचक शब्द शुक्लादि रूप हैं। जिनके संकेतित अर्थ गुणरूप होते हैं। क्रियाशब्द दो प्रकार के होते हैं—धातुरूप निबन्धन और घञादि निबन्धन। ये साध्य रूप क्रिया हैं। यदृच्छाशब्द संज्ञावाचक होते हैं, जिन्हें वक्ता अपनी इच्छा से संज्ञा के रूप में व्यवहृत करता है। उपर्युक्त चारों शब्दों के चार प्रकार के अर्थ होते हैं। जातिरूप अर्थ (गौः), गुणरूप अर्थ (शुक्लादि) क्रियारूप अर्थ (चलनादि) और यदृच्छारूप अर्थ (डित्थादि)।

वैशेषिक दर्शन में परमाणु शब्द गुणवाचक है और आपके कथनानुसार परमाणु प्राणप्रद धर्म होने से जाति है तो परमाण्वादि शब्दों के जाति होने से परमाणु को गुण कैसे कहेंगे ? इसलिए कहते हैं—

अनुवाद—परमाणु आदि का गुणों के मध्य में पाठ होने से (उसमें) पारिभाषिक गुणत्व है।

विमर्श—वैशेषिक दर्शन में परमाणु को गुण कहा गया है। वहाँ पर २४ गुणों में 'परिमाण' की गणना है। परिमाण मुख्यतः अणु और महत् दो प्रकार का होता है। उनमें 'परम' शब्द छोड़कर दो भेद और हो जाते हैं। इस प्रकार परम अणु (परमाणु) परिमाण होने से गुण होगा। परमाणु परिमाण को पारिमाण्डल्य परिमाण भी कहते हैं। यह परमाणु-परिमाण परमाणु पदार्थ का प्राणप्रद धर्म है। इसलिए प्राणप्रद धर्म होने से इसे जाति कहना चाहिए, किन्तु वैशेषिक दर्शन में इसका गुणों के मध्य पाठ किया गया है। इस प्रश्न का समाधान ग्रन्थकार ने इस प्रकार दिया है—परमाणु आदि प्राणपद धर्म है, अतः परमाणु आदि शब्द वस्तुतः जातिवाचक शब्द हैं। वैशेषिक दर्शन में परमाणु की गणना जो परिमाण गुण के अन्तर्गत की गई है वह पारिभाषिक (औपचारिक) है। जिस प्रकार व्याकरणशास्त्र में गुण, वृद्धि आदि शब्दों का प्रयोग विशेष अर्थ में हुआ है उसी प्रकार परमाणु-परिमाण की गणना वैशेषिक में गुणों के अन्तर्गत की गई है। वस्तुतः यह जातिवाचक शब्द है।

अनुवाद—गुण, क्रिया तथा यदृच्छा के वस्तुतः एक रूप होने पर भी

आश्रयभेद से उनमें भेद सा प्रतीत होता है। जैसे—एक ही मुख का खड्ग (तलवार), दर्पण तथा तैल आदि आलम्बन भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है।

विमर्श—यहाँ पर प्रश्न यह है कि ग्रन्थकार ने व्यक्ति में संकेतग्रह मानने में आनन्त्य और व्यभिचार दोष उपस्थापित कर व्यक्ति के उपाधिरूप जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा आदि में संकेतग्रह माना है। उनका कहना है कि यदि व्यक्ति में संकेतग्रह मानते हैं तो व्यक्तियों के अनन्त होने से अनन्त शक्ति माननी पड़ेगी, इससे आनन्त्य दोष उत्पन्न होगा। यदि कुछ व्यक्तियों में संकेतग्रह करके शेष व्यक्तियों में बिना संकेत-ग्रह के भी अर्थबोध मानेंगे तो असंकेतित में भी अर्थबोध होने से नियम का उल्लंघन होगा, जिससे व्यभिचार दोष होगा। इसलिए उपाधि में संकेतग्रह मानना उचित है। इस पर यह शंका होती है कि यदि उपाधि में संकेतग्रह मानते हैं तो गोत्व जाति के सब गो-व्यक्तियों में एक होने से एक जगह संकेतग्रह हो जाने से सभी व्यक्तियों की उपस्थिति हो जायगी। इसी प्रकार शुक्ल आदि गुणों के सर्वत्र एक होने से एक जगह संकेतग्रह हो जाने से सभी शुक्ल पदार्थों का उससे बोध हो जायगा, अतः अलग-अलग संकेतग्रह की क्या आवश्यकता है? इस पर कहते हैं कि हिम, शंख, दूध, वस्त्र आदि में रहने वाला शुक्ल रूप अलग-अलग प्रकार का प्रतीत होता है। इसलिए एक जगह शुक्ल पद का संकेतग्रह मानने पर अन्यत्र संकेतग्रह नहीं होगा; क्योंकि शुक्लादि गुणों से भिन्नता होने से आनन्त्य एवं व्यभिचार दोष उपस्थित होगा। इसी प्रकार एक पाकक्रिया में संकेतग्रह मानने पर विभिन्न पाठक्रियाओं में पृथक्ता होने से आनन्त्य एवं व्यभिचार दोष आ जायगा। इसका समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि शुक्ल गुण सभी पदार्थों में रहने वाला एक ही है उनमें जो भेद दिखाई देता है वह वास्तविक नहीं, औपाधिक है। इसी प्रकार पाकादि क्रियाओं का भिन्न-भिन्न पदार्थों में जो भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देता है, वह औपाधिक भेद है। जिस प्रकार एक ही मुख का प्रतिबिम्ब तलवार, दर्पण, तेल आदि में आश्रय भेद से अलग-अलग दिखाई देता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीत होने वाले गुण, क्रिया, यदृच्छा आदि एक रूप होने पर भी आश्रयभेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। उनमें वास्तविक भेद नहीं है, बल्कि औपाधिक भेद है। अतः गुण, क्रिया आदि में संकेतग्रह मानने में कोई दोष नहीं है।

जाति में संकेतग्रह (मीमांसक-मत)

मम्मट ने 'जात्यादिर्जातिरेव वा' के द्वारा संकेतग्रह के विषय में दो पक्ष उपस्थापित किये हैं—(१) 'जात्यादिः' वैयाकरणों एवं साहित्यशास्त्रियों का (२) 'जातिरेव' मीमांसकों का। उनमें वैयाकरणों के मत की व्याख्या करने के बाद मीमांसकों का मत प्रतिपादित करते हैं—

हिम-पयः-शङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्लः इत्याद्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तत् शुक्लत्वादिसामान्यम् । गुड़तण्डुलादिपाकादिष्वेवमेव पाकत्वादि । बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये ।

अनुवाद – हिम, दुग्ध, शङ्ख आदि में रहने वाले वस्तुतः भिन्न शुक्लादि गुणों में जिसके कारण 'शुक्लः शुक्लः' (यह सफेद है, यह सफेद है) इस प्रकार का एकाकार (समान) अभिधान (कथन या शब्द व्यवहार) और प्रतीति उत्पन्न होती है, वह शुक्लत्व आदि सामान्य (जाति) है । इसी प्रकार गुड़, चावल आदि के पाकादि (पाक-क्रिया) में भी पाकत्व आदि सामान्य है। इसी प्रकार बालक, वृद्ध और शुक आदि के द्वारा उच्चारित (उच्चारण किये गये) 'डित्थ' आदि शब्दों में अथवा प्रतिक्षण परिवर्त्तन-शील (भिद्यमान) डित्थ आदि पदार्थों में 'डित्थत्व' आदि सामान्य (जाति) रहता है। इसलिए समस्त शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त (संकेत विषय) जाति ही है, ऐसा मीमांसक कहते हैं । (अतः जाति में ही संकेतग्रह मानना चाहिए) ।

विमर्श—मीमांसक केवल 'जाति' में संकेतग्रह मानते हैं । उनका कथन है कि हिम, दुग्ध, शंख आदि में स्थित शुक्ल आदि गुणों के अलग-अलग होते हुए भी 'यह शुक्ल है' यह शुक्ल है, इस प्रकार की जो एकाकार प्रतीति होती है, उसका कारण शुक्लत्व जाति है । इसी प्रकार गुड़, चावल आदि पदार्थों में भी पाकक्रिया के अलग-अलग होने पर भी उसमें एकाकार प्रतीति का कारण पाकत्व-जाति है । इसी प्रकार बाल, वृद्ध, तोते आदि के द्वारा उच्चारित 'डित्थ' आदि यदृच्छा-शब्दों और प्रतिक्षण विद्यमान उनके अर्थों में भी भिन्नता होने पर भी 'डित्थत्व-जाति' एक है । इस प्रकार सभी जगह प्रवृत्ति-निमित्त (संकेत-विषय) जाति ही है अतः जाति में ही संकेतग्रह मानना उचित है ।

इस प्रकार मीमांसक जात्यादि-चतुष्टय के स्थान पर केवल जाति में ही संकेतग्रह मानते हैं । जाति का ही अपरनाम 'सामान्य' है । सामान्य (जाति) नित्य और अनेक में समवेत होता है (नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं सामान्यम्) । अनुगत-एकाकार प्रतीति के कारण को सामान्य कहते हैं (अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्) । जैसे दस घट-व्यक्तियों में 'घटोऽयं, घटोऽयं' इस अनुवृत्ति-प्रत्यय-एकाकारप्रतीति का कारण 'घटत्व-सामान्य' है । इसी प्रकार दस पदार्थों (व्यक्तियों) में स्थित

शुक्ल गुण में 'शुक्लः शुक्लः' इस प्रकार एकाकार-प्रतीति का कारण 'शुक्लत्व-सामान्य' है। इसी प्रकार पाकादि क्रियाओं में भी एकाकार-प्रतीति का कारण 'पाकत्व-सामान्य' है। इसी प्रकार डित्यादि यदृच्छा शब्दों के डित्यादि रूप शरीर बालक, वृद्ध, युवा आदि अवस्थाओं में छोटा, बड़ा, स्थूल, कृश, क्षीण होने से भिन्न-भिन्न हैं, और उसी प्रकार बालक, वृद्ध, युवा, शुक आदि के नर-नारियों के द्वारा उच्चारित डित्यादि शब्द उच्चारण-भेद से भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु उनमें जो अनुवृत्ति-प्रत्यय-एकाकार की प्रतीति है, उसका कारण डित्यत्वादि सामान्य है। इस प्रकार डित्यादि शब्दों के भिन्न होने पर भी उनमें जो अनुगत एकाकार की प्रतीति (डित्योऽयं, डित्योऽयं) होती है इसका कारण डित्यत्वादि-जाति है।

अब प्रश्न यह है कि जाति तो नित्य एवं अनेक समवेत है और डित्यादि यदृच्छा शब्द तो एक व्यक्ति-वाचक है और यदृच्छा-शब्दों में स्फोटरूप शब्द भी एक है और उसका वाच्य व्यक्ति भी एक है तो उसमें अनेक समवेत सामान्य (जाति) की कल्पना कैसे की जा सकती है ? इस पर कहते हैं कि 'चिति शक्ति को छोड़कर संसार के समस्त पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील हैं' (**प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावाः ऋते चितिशक्तेः**)। इस सिद्धान्त के अनुसार मीमांसकों ने प्रतिक्षण होने वाले बाल्यादि अवस्था में स्थूलत्व, कृशत्व आदि रूप में वृद्धि एवं ह्रास रूप परिवर्त्तन के आधार पर यदृच्छा शब्दों के वाच्य व्यक्तियों में भेद मान करके उनमें अनुगत एकाकार प्रतीति कराने वाली जाति की कल्पना की जा सकती है। इस प्रकार डित्यादि अर्थों (पदार्थों) में एकाकार प्रतीति के कारण डित्यत्वादि धर्मिगत सामान्य (जाति) है। इस प्रकार सभी अर्थों में अखण्डोपाधिरूप जाति के होने से सभी शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त (संकेतविषय) अखण्डोपाधिरूप जाति ही है। इस प्रकार मीमांसक केवल 'जाति' में ही संकेतग्रह मानते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि मीमांसकों के मतानुसार यदि जाति में संकेतग्रह मानते हैं तो असंकेतित व्यक्ति का भान कैसे होगा ? इस पर कहते हैं कि जाति व्यक्ति के बिना नहीं रह सकती, जाति और व्यक्ति का अविनाभाव सम्बन्ध है, इस प्रकार जाति व्यक्ति के आश्रित होती है (**जातिः व्यक्त्याश्रिता जातित्वात्**)। अतः जाति से व्यक्ति का आक्षेप कर लेंगे (**जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते**)। इस पर कहते हैं कि यदि व्यक्ति आक्षिप्त है तो उसका शाब्दबोध में भान कैसे होगा ? क्योंकि वृत्ति के द्वारा प्रतीत होने वाले शब्द का ही शाब्दबोध में भान होता है और तभी संख्या, कर्मत्व आदि के साथ उसका अन्वय होता है; क्योंकि शब्द-विषयिणी आकांक्षा शब्द से ही पूर्ण होती है। (**शाब्दी ह्याकांक्षा शब्देनैव पूर्यते**)। इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि अनुमान शब्द का सहकारी होता है (**अनुमानस्य शब्दसहकारित्वात्**)। अतः अनुमान सहकृत शब्द (पद) से प्रतीति-विषय अर्थ का शब्दबोध में भान होता है।

तद्वानपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवभयात् प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम् ।

नैयायिक एवं बौद्ध मत

इस प्रकार वैयाकरण, साहित्यिक और मीमांसकों के मत का विवेचन करने के बाद अब नैयायिकों एवं बौद्धों के मत का विवेचन करते हैं—

अनुवाद—कुछ विद्वानों ने 'तद्वान्' (जातिविशिष्ट व्यक्ति) और 'अपोह' (अतद्व्यावृत्ति) शब्द का अर्थ है, ऐसा कहा है । ग्रन्थ के विस्तार के भय से और प्रकृत में उपयोग न होने से यहाँ नहीं दिखाया गया है ।

विमर्श—नैयायिकमत—नैयायिक जातिविशिष्ट व्यक्ति में संकेतग्रह मानते हैं । उनका कहना है कि न केवल व्यक्ति में संकेतग्रह होता है और न केवल जाति में, बल्कि जातिविशिष्ट व्यक्ति में संकेतग्रह होता है; क्योंकि केवल व्यक्ति में संकेतग्रह मानने पर 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' दोष आ जाते हैं और केवल जाति में संकेतग्रह मानने पर शब्द से केवल जाति का ही बोध होगा, व्यक्ति का भान नहीं होगा । यदि यह कहा जाय कि जाति में ही संकेतग्रह मानकर जाति से व्यक्ति का आक्षेप कर लेंगे और तब व्यक्ति का भान हो जायगा । इस पर कहते हैं कि तब तो व्यक्ति का शाब्दबोध में अन्वय ही नहीं होगा; क्योंकि शब्द-विषयिणी आकांक्षा शब्द से ही पूर्ण होती (**शाब्दी आकांक्षा शब्देनैव पूर्यते**) इस नियम के अनुसार वृत्ति (शब्दशक्ति) से प्राप्त अर्थ का ही शाब्दबोध में अन्वय होता है, आक्षेप-लभ्य अर्थ का शाब्दबोध में अन्वय नहीं हो सकता, अतः नैयायिक न केवल व्यक्ति में संकेतग्रह मानते हैं और न केवल जाति में; बल्कि जातिविशिष्ट व्यक्ति में संकेतग्रह मानते हैं । तभी तो न्यायदर्शन में कहा गया है कि जाति और आकृति में विशिष्ट व्यक्ति पद का अर्थ होता है (**व्यक्त्याकृतिजातयः पदार्थः**) ।

टिप्पणी—नैयायिक 'तद्वान्' में संकेतग्रह मानते हैं । 'तद्वान्' का अर्थ 'जातिमान्' है । (**तद् जातिः अस्ति अस्याम् इति तद्वान्, जातिमान्**) । इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन जयन्तभट्ट ने निम्न प्रकार किया है—

'तस्मात् तद्वानेव पदार्थः, ननु कोऽयं तद्वान्नाम ? सामान्याश्रयः कश्चिदनुल्लिखितशाबलेयादिविशेषस्तद्वानित्युच्यते । सामान्याश्रयत्वाच्च नानन्त्यव्यभिचारयोस्तत्रावसरः । (न्यायमञ्जरी) ।

अपोहवाद—बौद्ध 'अपोह' में संकेतग्रह मानते हैं । उनके मतानुसार शब्द का अर्थ 'अपोह' है और अपोह का अर्थ है 'अतद्व्यावृत्ति या तद्भिन्नभिन्नत्व (**अतद्व्यावृत्तिरपोहः पदार्थः**) । बौद्ध जाति की सत्ता स्वीकार नहीं करते, जाति के स्थान पर वे 'अपोह' को स्वीकार करते हैं । उनका कहना है कि दस घट व्यक्तियों में

(सू० ११) स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥८॥

'अयं घटः, अयं घटः' इस प्रकार की जो सदृश प्रतीति होती है, उसका कारण 'घटत्व सामान्य' नहीं है बल्कि 'अतद्व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व' के कारण एकाकार की प्रतीति होती है। इसी को बौद्ध 'अपोहवाद' कहते हैं। जैसे, तद्-घट से भिन्न अतद्-अघट (घट को छोड़कर अन्य समस्त वस्तु) और अतद्-अघट से भिन्न 'घट' है। अतः उसमें 'अयं घटः, अयं घटः, अय घटः' इस प्रकार की एकाकार प्रतीति होती है। बौद्धों का कहना है कि व्यक्ति के साथ जाति का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि जाति व्यक्ति की उत्पत्ति के पूर्व नहीं थी और न कहीं से आती हुई दिखाई देती है, न व्यक्ति के साथ उत्पन्न होती है और न एक ही समय में नित्य जाति का अनेक व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध ही बन पाता है, अतः 'जाति' नाम की कोई वस्तु नहीं है।

नायाति न तत्रासीत् न चोत्पन्नं न चांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसंहतिः॥

मम्मट मत—काव्यप्रकाश में संकेतग्रह के विषय में कई मत दिखाये गये हैं। उनमें कौन सा मत मम्मट को अभिप्रेत है? इस पर व्याख्याकारों ने दो दृष्टियों से विचार किया है। प्रथम के अनुसार काव्यप्रकाश में 'इति महाभाष्यकारः', 'इत्यन्ये', 'इति कैश्चित्' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया है। नरसिंह ठक्कुर आदि टीकाकार इस आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि इनमें से मम्मट को कोई भी मत स्वीकार नहीं है, इसीलिए उन्होंने उक्त शब्दों द्वारा उक्त सभी मतों में अपना अस्वरस प्रदर्शित किया है। उन्होंने अन्त में यहाँ तक कहा है कि इसलिए व्यक्तिपक्ष ही विचारसह (उचित) है (**तस्माद्व्यक्तिपक्ष एव क्षोदक्षमः**)। किन्तु झलकीकर ने महाभाष्यकार के मत को मम्मट का अभिप्रेत बताते हुए कहा है कि मम्मट ने प्रथम उल्लास में "**बुधैर्वैयाकरणैः**.........**ततस्तन्मानुसारिभिरन्यैरपि**.........." इत्यादि कथन के द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि आलंकारिक आचार्य प्रायः वैयाकरणों के मत का अनुसरण करते हैं और 'जात्यादि में संकेतवाद' का प्रथम विस्तारपूर्वक उल्लेख करके आदरपूर्वक महाभाष्यकार के वचन को उद्धृत किया है। अतएव काव्यप्रकाश के दशम उल्लास में जात्यादि चतुर्विध पदार्थों के आधार पर विरोध अलंकार के दश भेद प्रतिपादित किये हैं (**जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः। क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेते ते दश**)। इनके अतिरिक्त मम्मट ने अपने 'शब्दव्यापारविचार' नामक ग्रन्थ में जात्यादि चतुष्टय वैयाकरण मत की युक्तिपूर्वक स्थापना की है। अतः महाभाष्यकारोक्त मत में ही मम्मट का स्वरस है, यह स्पष्ट सिद्ध है।

अभिधा-वृत्ति

अनुवाद—(**सूत्र ११**) **वह (साक्षात् संकेतित) अर्थ ही मुख्य अर्थ है। उस मुख्य अर्थ के बोधन में शब्द का जो व्यापार है, उसे अभिधा कहते हैं ॥८॥**

(सू० १२) मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ।।९।।

स इति साक्षात्संकेतितः । अस्येति शब्दस्य ।

अनुवाद—'स' पद से साक्षात् संकेतित अर्थ गृहीत है और 'अस्य' का अभिप्राय है शब्द का ।

विमर्श—जो साक्षात् संकेतित अर्थ है, वह मुख्यार्थ है और उस मुख्य अर्थ के बोधन में शब्द का जो व्यापार है वह 'अभिधा' है, अर्थात् साक्षात् संकेतित अर्थ को बोध कराने वाला शब्द-व्यापार 'अभिधा' है । कुछ विद्वान् वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य इन तीन अर्थों के अतिरिक्त 'मुख्यार्थ' को चतुर्थ अर्थ भी मानते हैं, किन्तु उनका यह विभाजन युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता । आचार्य मम्मट उक्त शंका का निराकरण करते हुए कहते हैं कि वह साक्षात् संकेतित अर्थ मुख्यार्थ है । प्रथम ज्ञेय (प्रतीयमान) होने के कारण उसे मुख्य कहते हैं । इस प्रकार शब्द-व्यापार से जो अर्थ अव्यवहित रूप में सर्वप्रथम (सबसे पहले) उपस्थित होता है, वह मुख्यार्थ है । जिस प्रकार हस्त-पादादि समस्त अवयवों से मुख प्रधान है और प्रथम दिखाई देता है, उसी प्रकार (मुखादि) समस्त अर्थों में जो अर्थ पहले उपस्थित होता है, मुख के समान होने से उसे 'मुख्यार्थ' कहते हैं । 'मुखमिव मुख्यः' इस अर्थ में मुख शब्द में 'शाखादिभ्यो यः' इस सूत्र से 'य' प्रत्यय होकर 'मुख्य' शब्द बनता है ।

"स हि यथा सर्वेभ्यो हस्तपादादिभ्योऽवयवेभ्यः पूर्वं मुखमवलोक्यते तथा सर्वेभ्यः प्रतीयमानेभ्योऽर्थेभ्यः पूर्वमवगम्यते । तस्मान्मुखमिव मुख्य इति 'शाखादिभ्यो यः' इति पाणिनिसूत्रेण य प्रत्ययः । (बालबोधिनी) ।

उस मुख्य अर्थ का बोध कराने वाला शब्द-व्यापार 'अभिधा' है । अर्थात् साक्षात् संकेतित अर्थ के बोधन में अव्यवहित शब्द का जो व्यापार है वह 'अभिधा' है । इस प्रकार संकेतित अर्थ का बोधन व्यापार अभिधा व्यापार है । इसे शक्ति भी कहते हैं । शक्ति (अभिधा) के द्वारा ही संकेतित अर्थ का बोध होता है ।

लक्षणा-निरूपण

अनुवाद—(सूत्र १२) मुख्य अर्थ के बाध होने पर तथा उस (मुख्य अर्थ) के योग (सम्बन्ध) होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन से जिसके द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वह आरोपित वृत्ति (व्यापार) लक्षणा है ।।९।।

विमर्श—मम्मट ने तीन प्रकार के अर्थ बताये हैं—मुख्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ । उनमें वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) की बोधिका शक्ति 'अभिधा' है और लक्ष्यार्थ

की वोधिका शक्ति 'लक्षणा' है। मम्मट ने रूढ़िवश अथवा किसी प्रयोजन से मुख्य अर्थ से सम्बद्ध प्रतीति को लक्ष्यार्थ और उसकी ग्राहिका शक्ति को 'लक्षणा' कहा है। उन्होंने मुख्यार्थ बाध, मुख्यार्थ-योग और रूढ़ि या प्रयोजन इन तीनों को लक्षणा का समुदित हेतु माना है अर्थात् मम्मट के अनुसार लक्षणा के व्यापार के लिए मुख्यार्थ बाध, मुख्यार्थयोग, रूढ़ि या प्रयोजन तीनों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ योग और रूढ़ि अथवा प्रयोजन—ये तीनों समुदित रूप से लक्षणा के हेतु माने गये हैं। जैसाकि ग्रन्थकार ने काव्यप्रकाश के २५वें सूत्र की व्याख्या में **'मुख्यार्थबाधात्रियं हेतुः'** कहा है॥

मुख्यार्थबाध—मुख्य अर्थ (वाच्यार्थ) का बाध लक्षणा का प्रथम हेतु है। व्याख्याकार 'मुख्यार्थ बाध' की दो प्रकार की व्याख्या करते हैं। प्रथम के अनुसार मुख्य अर्थ का अन्वय न बन सकना लक्षणा का हेतु है। इसे 'अन्वयानुपपत्ति' कहते हैं। अर्थात् मुख्य अर्थ का अन्वय अनुपपन्न होने पर लक्षणा होती है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में 'गङ्गा' का मुख्य अर्थ 'जलप्रवाह' है और 'घोष' का अर्थ 'घोषावास' या 'आभीरगृह' है। गङ्गा के प्रवाह में घोष का आवास (रहना) असम्भव है, क्योंकि यहाँ गङ्गा पद का घोष के साथ अन्वय नहीं बन रहा है, अतः लक्षणा के द्वारा गङ्गा पद का सामीप्य सम्बन्ध से तटरूप अर्थ का बोध कराता है। इस पर नागेश भट्ट आदि आचार्य कहते हैं कि यदि 'अन्वयानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज मानते हैं तो 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' (कौओं से दही की रक्षा कीजिये) इस वाक्य में लक्षणा नहीं होगी; क्योंकि यहाँ 'काक' पद के मुख्य अर्थ के अन्वय होने में कोई बाधा नहीं है; क्योंकि कौओं से भी तो दही की रक्षा अपेक्षित है, अतः यहाँ अन्वयानुपपत्ति न होने से लक्षणा नहीं होगी। अतः अन्वयानुपपत्ति ही लक्षणा का बीज नहीं है। बल्कि 'तात्पर्यानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज मानना चाहिए। तात्पर्यानुपपत्ति के अनुसार 'वक्ता के तात्पर्य के अनुपपन्न होने पर लक्षणा होती है। यहाँ पर वक्ता का तात्पर्य केवल 'कौओं से ही दही की रक्षा करना' अभीष्ट नहीं है बल्कि दध्युपघातक अन्य प्राणियों से भी रक्षा करना अभीष्ट है। अतः यहाँ वक्ता के तात्पर्य के अनुसार अन्वय में बाध है, इसलिए यह लक्षणा का विषय है। इसी प्रकार 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में गङ्गा के प्रवाह में घोष का वास असम्भव है। यहाँ पर वक्ता का तात्पर्य गङ्गा के प्रवाह में घोष का रहना नहीं, बल्कि गङ्गा पद से गङ्गा के तट पर यह अर्थ अभीष्ट है, अतः लक्षणा के द्वारा यहाँ पर गङ्गा पद से तीर अर्थ की उपस्थिति होती है।

मुख्यार्थयोग—मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति को मुख्यार्थयोग कहते हैं। मुख्यार्थयोग लक्षणा का द्वितीय हेतु है। अर्थात् मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति लक्षणा है। यह सम्बन्ध सामीप्यादि सम्बन्ध से माना जाता है। इस प्रकार सामीप्यादि सम्बन्ध से मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति लक्षणा है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' में 'गङ्गा' शब्द का मुख्य अर्थ 'जल-प्रवाह' है, किन्तु जल-प्रवाह में

'कर्मणि कुशलः' इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगात् 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्याधारत्वासंभवात् मुख्यार्थस्य बाधे विवेचकत्वादौ सामीप्ये च सम्बन्धो रूढ़ितः प्रसिद्धेः तथा गङ्गातटे घोषः

घोष का वास असम्भव है, अतः यहाँ सामीप्य सम्बन्ध से गङ्गा पद का तट रूप अर्थ में लक्षणा होती है।

रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्—मम्मट ने रूढ़ि या प्रयोजन को लक्षणा का तृतीय हेतु कहा है। नरसिंह ठक्कुर के मतानुसार मम्मट को यहाँ 'रूढ़ि लक्षणा और प्रयोजन लक्षणा' लक्षणा के ये दो भेद अभीष्ट हैं किन्तु प्रदीपकार इस मत से सहमत नहीं हैं। किन्तु मम्मट के 'व्यंगेन रहिता रूढ़ौ सहिता तु प्रयोजने' इस अठारहवें सूत्र से स्पष्ट है कि मम्मट को 'रूढ़ि अथवा प्रयोजन' लक्षणा के ये दोनों हेतु स्वीकार हैं, क्योंकि मम्मट ने दोनों का पृथक्-पृथक् उदाहरण दिया है। मम्मट ने रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण 'कर्मणि कुशलः' और प्रयोजन लक्षणा का उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' दिया है। इस सूत्र में 'अथ' पद 'अथवा' का वाचक है। इस प्रकार मम्मट के अनुसार 'रूढ़ि' अथवा 'प्रयोजन' लक्षणा के ये दो मुख्य हेतु हैं। यदि 'रूढ़ि या प्रयोजन' को लक्षणा का हेतु नहीं माना जायगा तो 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में 'गङ्गा' पद का प्रवाहरूप मुख्य अर्थ का बाध होने पर मुख्य अर्थ से सम्बद्ध 'गङ्गा-पुल' आदि अर्थों में भी लक्षणा होने लगेगी, अतः लक्षणा में रूढ़ि या प्रयोजन हेतु मानना उचित है। उक्त उदाहरण में शैत्यपावनत्वादि रूप प्रयोजन है, अतः गङ्गा पद का तट रूप अर्थ में लक्षणा होती है। दूसरे तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना जाता है। अर्थात् तात्पर्य के अनुपपन्न होने पर लक्षणा होती है, तो वहाँ तात्पर्य का नियामक क्या होगा? यहाँ पर तात्पर्य का नियामक रूढ़ि या प्रयोजन है।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्—यहाँ पर 'यत्' पद में करण अर्थ में लुप्त तृतीया विभक्ति है 'यया (यत्) अन्योऽर्थो लक्ष्यते सा लक्षणा' अर्थात् जिस वृत्ति के द्वारा अन्य अर्थ (मुख्यार्थभिन्न अर्थ) लक्षित हो, उसे लक्षणा कहते हैं। कुछ आचार्य 'यत्' पद को क्रिया विशेषण मानते हैं। तदनुसार अन्य अर्थ (मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ) जो लक्षित होता है, वह लक्षणा है।

लक्षणारोपिता क्रिया—मम्मट के अनुसार लक्षणा आरोपिता क्रिया (व्यापार) है। यहाँ पर 'आरोपित' का अर्थ 'कल्पित' है और 'क्रिया' का अर्थ 'व्यापार' है। इस प्रकार कल्पित व्यापार लक्षणा है, स्वाभाविक नहीं। शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचकभाव रूप सम्बन्ध स्वाभाविक सम्बन्ध होता है और उससे भिन्न आरोपित (कल्पित) व्यापार लक्षणा है। जैसे 'गङ्गायां गावश्चरन्ति' इस उदाहरण में सामीप्य सम्बन्ध से 'तीर' पद में गङ्गात्व का आरोप है। इस प्रकार लक्षणा आरोपित (कल्पित) व्यापार है।

इत्यादेः प्रयोगात् येषां न तथा प्रतिपत्तिः तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथा प्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येनामुख्योऽर्थो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा ॥९॥

अनुवाद—'कर्मणि कुशलः' इस प्रयोग में कुश का ग्रहण आदि का योग (सम्बन्ध) न होने से और 'गङ्गायां घोषः' इस प्रयोग में गङ्गा आदि पद का घोष आदि का आधार न हो सकने (असम्भव) होने के कारण मुख्यार्थ का बाध होने पर विवेकशीलता आदि और सामीप्य सम्बन्ध होने पर (कर्मणि कुशलः में) रूढ़ि (प्रसिद्धि) से तथा (गङ्गायां घोषः में) 'गङ्गा तट पर घोष है' इत्यादि प्रयोग से जिनकी वैसी प्रतीति नहीं होती, उन पावनत्वादि धर्मों की वैसी (उक्त प्रकार) प्रतिपादन रूप प्रयोजन से जो मुख्यार्थ से (सम्बद्ध) अमुख्य अर्थ की प्रतीति है, वह व्यवहित अर्थ में रहने वाला आरोपित शब्दव्यापार लक्षणा है ॥९॥

विमर्श—मम्मट ने रूढ़ि लक्षणा का उदाहरण 'कर्मणि कुशलः' दिया है। यहाँ पर 'कुशल' शब्द का मुख्य अर्थ 'कुशान् दर्भान् लाति आदत्ते इति कुशलः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'कुश लाने वाला' है, किन्तु यहाँ पर 'कुश लाने वाला' यह अर्थ सङ्गत नहीं है। इस असङ्गति के निराकरण के लिए 'कुशल' शब्द 'दक्ष' या 'चतुर' रूप अर्थ का प्रतिपादन करता है। यहाँ पर कुशानयन रूप मुख्यार्थ और दक्ष या चतुर रूप लक्ष्यार्थ में साधर्म्य सम्बन्ध है; क्योंकि कुशानयन में जिस प्रकार की विवेकशीलता हुआ करती है, उसी प्रकार की विवेकशीलता किसी कार्य के सम्पादन में भी आवश्यक है। यहाँ पर साधर्म्य सम्बन्ध से 'कुशल' शब्द दक्ष या चतुर अर्थ में रूढ़ हो गया है। अतः यहाँ रूढ़ि के कारण 'कुशल' शब्द की दक्ष या चतुर में लक्षणा होती है। यह मम्मट का अभिप्राय है। किन्तु विश्वनाथ आदि आचार्य इससे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि उक्त उदाहरण में 'कुशल' शब्द लाक्षणिक नहीं, बल्कि वाचक है। क्योंकि भले ही कुशल शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'कुश लाने वाला' (कुश-ग्राहक) हो, किन्तु इसका प्रसिद्ध अर्थ तो दक्ष या चतुर ही है; क्योंकि व्यवहार में यह दक्ष या चतुर अर्थ में रूढ़ हो गया है। इस प्रकार व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ मुख्य नहीं होता, बल्कि व्यवहार से प्राप्त होने वाला प्रवृत्तिलभ्य अर्थ ही मुख्य हुआ करता है। क्योंकि यदि व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ को मुख्य मानेंगे तो 'गौः शेते' (गाय सोती है) में भी लक्षणा होने लगेगी। क्योंकि 'गौः' शब्द की व्युत्पत्ति 'गच्छतीति गौः' है। यहाँ पर 'गम्' धातु से 'गमेर्डोः' सूत्र से 'डो' प्रत्यय होकर 'गौ' शब्द बनता है जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'चलने वाली गौ'। इस प्रकार चलने वाली गौ के लिए तो 'गो' शब्द का प्रयोग होगा और सोने वाली गौ के लिए 'गो' शब्द का प्रयोग बाधित होगा, अतः 'गौः शेते' इस वाक्य

(सू० १३) स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥१०॥

में शयन-शील गौ के लिए लक्षणा करनी पड़ेगी। इस प्रकार 'कुशल' शब्द का प्रवृत्तिलभ्य दक्ष (चतुर) रूप अर्थ ही मुख्य है, अतः यहाँ लक्षणा के लिए अवकाश नहीं है।

कुछ विद्वान् 'कुश्' धातु से 'कलच्' प्रत्यय करके 'कुशल' शब्द में 'रूढ़ शक्ति' मानते हैं उनके मत में रूढ़ि का उदाहरण 'तैल' पद है। 'तैल' पद का मुख्य अर्थ है 'तिल का विकार' (तिल के पेरने से निकला हुआ स्नेह पदार्थ)। अतः सरसों के तेल के लिए यह शब्द बाधित है, इसलिए 'तैल' पद में रूढ़ि लक्षणा होती है और सभी प्रकार के स्नेह पदार्थ (द्रव पदार्थ) के लिए 'तैल' शब्द प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार 'लावण्य' शब्द का मुख्य अर्थ नमक रस (नमकीन) है, किन्तु सौन्दर्य अर्थ में लावण्य शब्द रूढ़ हो गया, अतः यहाँ रूढ़ि लक्षणा है।

मम्मट ने प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' दिया है। यहाँ पर 'गङ्गा' शब्द का मुख्य अर्थ 'प्रवाह' है उसमें घोष का आवास असम्भव है अतः सामीप्य सम्बन्ध से गङ्गा पद का तट रूप अर्थ में लक्षणा होती है। किन्तु गङ्गा पद का तट रूप अर्थ में ही लक्षणा क्यों? 'पुल' आदि में लक्षणा क्यों नहीं होती? अतः यहाँ पर कोई प्रयोजन होगा और वह है 'शैत्यपावनत्व'। अर्थात् शैत्य-पावनत्व रूप प्रयोजन से गङ्गा पद की तट रूप अर्थ में लक्षणा होती है।

मम्मट ने 'आरोपित शब्दव्यापार' को लक्षणा कहा है। वह (कल्पित व्यापार) शब्द का 'सान्तरार्थनिष्ठ' व्यापार है। तात्पर्य यह कि मुख्यार्थ बाध होने पर व्यवहित अर्थ (लक्ष्यार्थ) का बोध कराने वाले (बोधक) व्यापार को आरोपित व्यापार कहते हैं [**अन्तरं व्यवधानं तेन सह वर्तते इति सान्तरः (मुख्यार्थबाधाद्युपस्थित्या) व्यवहितो योऽर्थः लक्ष्यरूपः तन्निष्ठः तद्विषयकः (तद्बोधकः) इत्यर्थः।**] यद्यपि 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में गङ्गा शब्द से प्रत्यायित (बोधित) प्रवाह तीर अर्थ को लक्षित करता है, इस प्रकार लक्षणा अर्थ व्यापार है, तथापि वाच्य धर्म का वाचक शब्द में आरोप किया जाता है। इसलिए लक्षणा शब्द व्यापार है, यह व्यवहार होता है। अतः शब्द भी लाक्षणिक है। कमलाकरभट्ट का कथन है कि 'वस्तुतः लक्षणा अर्थ-व्यापार है' किन्तु उसे शब्द में आरोपित होने से शब्द व्यापार कहा जाता है।

लक्षणा के भेद

अनुवाद- (सू० १३) **अपने (वाच्यार्थ के) अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य (दूसरे) अर्थ का आक्षेप करना 'उपादानलक्षणा' है और दूसरे के लिए (अमुख्य अर्थ के अन्वय की सिद्धि के लिए) अपने को समर्पित कर देना**

(मुख्यार्थ का समर्पण या त्याग करना) 'लक्षण लक्षणा' है। इस प्रकार उपादान और लक्षण रूप से ये दोनों (उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा) शुद्धा ही कही गई हैं ॥१०॥

विमर्श—मम्मट ने अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि आदि की व्यवस्था के लिए लक्षणा के भेदों का निरूपण किया है। प्रथमतः उन्होंने लक्षणा के दो भेद किये हैं—(१) उपादानलक्षणा और (२) लक्षणलक्षणा। ये दोनों ही भेद शुद्धा लक्षणा के हैं।

(१) **उपादानलक्षणा**--उपादान लक्षणा का लक्षण है **'स्वसिद्धये पराक्षेपः···· उपादानम्'** अर्थात् अपने (शक्यार्थ, वाच्यार्थ के) अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ (अशक्यार्थ) का आक्षेप करना 'उपादानलक्षणा' है। तात्पर्य यह कि अपने अर्थ का परित्याग किये बिना अपने से भिन्न अर्थ का उपस्थापन (ग्रहण) उपादानलक्षणा है **(स्वार्थापरित्यागेन परार्थलक्षणमुपादानम्)**। मुकुलभट्ट ने उपादान लक्षणा क लक्षण 'स्वसिद्ध्यर्थतया वस्त्वन्तरस्याक्षेपो····उपादनाम्' बताया है। जैसे—'कुन्ताः प्रविशन्ति' में 'कुन्त' शब्द अपने अर्थ (मुख्यार्थ, कुन्त आदि) का परित्याग किये बिना ही अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य (अशक्य) अर्थ (कुन्तधारी पुरुष) का आक्षेप कर लिया जाता है। वैयाकरण लोग इसे **'अजहल्लक्षणा'** या **'अजहत्स्वार्थावृत्ति'** कहते हैं। उन्होंने इसका उदाहरण **'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'** दिया है। यहाँ पर 'काक' शब्द अपने अर्थ (वाच्यार्थ, कौआ) का परित्याग किये बिना उससे भिन्न अर्थ दध्युपघातक अन्य प्राणियों से भी दही की रक्षा करना प्रतीत हो रहा है, अतः यहाँ 'उपादान लक्षणा' है। भर्तृहरि ने **'काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिः'** उदाहरण दिया है। यहाँ पर 'काक' पद अपने वाच्यार्थ (काक) के साथ उससे भिन्न प्राणियों से भी घृत की रक्षा रूप अर्थ लक्षित होता है अर्थात् कौओं तथा साथ ही अन्य घृतोपघातक प्राणियों से दही घृत की रक्षा करना लक्षित होता है अतः यहाँ पर 'अजहत्स्वार्थावृत्ति' या 'अजहल्लक्षणा' है।

नागेश भट्ट ने 'स्वार्थसंवलितपरार्थ की अभिधायिका वृत्ति को 'अजहत्स्वार्था' वृत्ति कहा है। (स्वार्थसंवलितपरार्थाभिधायिकाऽऽजहत्स्वार्था)।

(२) **लक्षणलक्षणा**—मम्मट ने लक्षणलक्षणा का लक्षण **'परार्थं स्वसमर्पणं···· लक्षणलक्षणा'** बताया है अर्थात् जहाँ पर शब्द दूसरे (अशक्य) अर्थ के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का समर्पण (परित्याग) कर देता है, उसे 'लक्षणलक्षणा' कहते हैं। तात्पर्य यह कि स्वार्थ (अपने मुख्य अर्थ) का परित्याग करके अन्य (अमुख्य) अर्थ को लक्षित करना 'लक्षणलक्षणा' है। इस प्रकार स्वार्थ का परित्याग कर अन्य अर्थ को उपस्थापित (लक्षित) करना 'लक्षणलक्षणा' है। **(स्वार्थपरित्यागेन परार्थोपस्थापनं लक्षणम्)**। 'गङ्गायां घोषः' में 'गङ्गा' पद अन्य (अशक्य, तीरादि रूप) अर्थ के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने (शक्य, प्रवाहरूप) अर्थ का परित्याग **(स्वसमर्पण)** कर देता है अतः यहाँ 'लक्षणलक्षणा' है। वैयाकरण लोग इसे **'जहत्स्वार्थावृत्ति'** या **'जहल्लक्षणा'** कहते हैं। महावैयाकरण नागेश भट्ट ने 'लक्षणलक्षणा' या **'जहत्स्वार्था वृत्ति'** का लक्षण निम्न प्रकार बताया है—

'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तादिभिरात्मनः प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते, तत उपादानेनेयं लक्षणा।

'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्ति राक्षिप्यते, न तु शब्देनोच्यते "विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्ति-र्विशेषणे" इति न्यायादित्युपादानलक्षणा तु नोदाहर्त्तव्या। नह्यत्र प्रयोजन-मस्ति न वा रूढ़िरियम्। 'व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते; यथा क्रियतामित्यत्र कर्त्ता, कुर्वित्यत्र कर्म, प्रविश पिण्डीमित्यादौ गृहं भक्षये-त्यादि च।

'स्वार्थपरित्यागेनेतरार्थाभिधायिका जहत्स्वार्था'

अर्थात् स्वार्थ परित्यागपूर्वक परार्थ की अभिधायिका वृत्ति 'जहत्स्वार्था' वृत्ति है। मुकुलभट्ट ने भी इसी अभिप्राय को लक्ष्य कर लक्षणा का स्वरूप बताया है—

'अर्थान्तरसिद्ध्यर्थत्वेन स्वार्थसमर्पणं तत्र लक्षणम्'।

अनुवाद—'कुन्ताः प्रतिशन्ति' (भाले प्रवेश कर रहे हैं) 'यष्टयः प्रवि-शन्ति' (लाठियाँ प्रवेश कर रही हैं) इत्यादि वाक्यों में 'कुन्त' आदि के द्वारा अपने प्रवेश रूप अन्वय की सिद्धि के लिए अपने अर्थों से सम्बद्ध (कुन्तधारी अथवा यष्टिधारी) पुरुष का आक्षेप किया जाता है, इसलिए उपादान (स्वार्थ-मुख्यार्थ के अपरित्यागपूर्वक अन्यार्थ अमुख्य अर्थ के ग्रहण करने) के कारण यहाँ 'उपादान लक्षणा' है।

विमर्श—मम्मट ने उपादानलक्षणा का उदाहरण 'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'यष्टयः प्रविशन्ति' दिया है। 'कुन्ताः प्रविशन्ति' (भाले प्रवेश कर रहे हैं) इस वाक्य में कुन्त (भाले) के अचेतन होने के कारण प्रवेश क्रिया असम्भव है, अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध है। अतः 'कुन्त' शब्द अपने से सम्बन्ध रखने वाले कुन्तधारी पुरुष का आक्षेप कर लेता है। तब 'कुन्ताः प्रविशन्ति' का अर्थ 'कुन्तधारी पुरुष प्रवेश करते हैं' यह अर्थ हो जाता है। यहाँ पर पुरुष में 'कुन्त के समान तीक्ष्णता' अथवा 'कुन्तों की बहुलता' का बोध कराना प्रयोजन है। अतः यह उपादान लक्षणा का उदाहरण है। इसी प्रकार 'यष्टयः प्रविशन्ति' (दण्डे प्रवेश कर रहे हैं) इस वाक्य में दण्डे (लाठी) के अचेतन होने के कारण प्रवेश-क्रिया असम्भव है, अतः मुख्यार्थ का बाध है, इसलिए 'यष्टि' शब्द अपने से सम्बन्ध रखने वाले यष्टिधारी पुरुष का आक्षेप कर लेता है। तब 'यष्टपः प्रविशन्ति' का 'यष्टिधारी पुरुष प्रवेश करते हैं। यह अर्थ हो जाता है। इस प्रकार यहाँ स्वार्थ के अपरित्यागपूर्वक पदार्थ (यष्टिधारी पुरुष) का ग्रहण होने से 'उपादान लक्षणा' है। इसी प्रकार 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्', 'छत्रिणो यान्ति', 'श्वेतो धावति' इत्यादि वाक्यों में भी उपादान लक्षणा समझनी चाहिए।

अनुवाद– (मीमांसकाभिमत उपादानलक्षणा के उदाहरण) 'गौरनुबन्ध्यः' (गौ का आलम्भन करना चाहिए) में वेदविहित (श्रुतिचोदित्) आलम्भन मेरा (जाति का) कैसे सम्भव है ? इसलिए (गोत्व) जाति के द्वारा (गो) व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है, (गो व्यक्ति को) शब्द के द्वारा नहीं कहा जाता अर्थात् गोव्यक्ति का अभिधा के द्वारा बोध नहीं होता; क्योंकि 'विशेषण (गोत्वादि) के बोध कराने में क्षीणशक्ति (विरत व्यापार) अभिधा विशेष्य (व्यक्ति) का बोध नहीं करा सकती' इस नियम से इसे उपादान लक्षणा का उदाहरण नहीं कहना (मानना) चाहिए; क्योंकि यहाँ न तो कोई प्रयोजन है अथवा न रूढ़ि ही है। क्योंकि जाति व्यक्ति के बिना नहीं रहती (व्यक्त्यविनाभावित्वात्-व्यक्ति बिना जातेरभावात्); इसलिए जाति से व्यक्ति का आक्षेप किया जाता है। जैसे 'क्रियताम्' यहाँ पर कर्त्ता का, 'कुरु' यहाँ पर कर्म का, 'प्रविश' यहाँ पर गृह का और 'पिण्डीम्' यहाँ पर भक्षय (क्रिया पद) का आक्षेप किया जाता है, उसी प्रकार जाति से व्यक्ति का आक्षेप होता है।

विमर्श---मण्डन मिश्र तथा मुकुल भट्ट आदि आचार्यों ने उपादान लक्षणा का उदाहरण 'गौरनुबन्ध्यः' दिया है। झलकीकर के मतानुसार मीमांसक मण्डन मिश्र ने 'गौरनुबन्ध्यः' को उपादान लक्षणा का उदाहरण कहा है। अन्य आचार्यों के अनुसार मुकुलभट्ट ने अभिधावृत्तिमातृका में उपादान लक्षणा का उदाहरण 'गौरनुबन्ध्यः' दिया है। मम्मट ने उसका यहाँ खण्डन किया है। मुकुलभट्ट का कथन है कि जहाँ पर अपने अर्थ के अन्वय की सिद्धि के लिए अर्थान्तर का उपादान (आक्षेप) किया जाता है, वहाँ उपादान लक्षणा होती है। जैसे 'गौरनुबन्ध्यः' अर्थात् गाय का आलम्भन करना चाहिए। अर्थात् 'गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीयः' इत्यादि श्रुति के अनुसार ज्योतिष्टोम यज्ञ में गौ के आलम्भन (हनन) का विधान बताया गया है। मीमांसकों के अनुसार जाति में शक्ति होने के कारण गो शब्द का अर्थ 'गोत्व', जाति होगा और जाति में आलम्भन (हनन) असम्भव है, इस प्रकार मुख्यार्थ का बाध होने के कारण 'गोत्व' जाति से व्यक्ति का आक्षेप होता है अतः इसे उपादान लक्षणा का उदाहरण मानना चाहिए. मुकुलभट्ट का कथन है कि 'विशेषण के बोध कराने में क्षीण हुई अभिधा शक्ति विशेष्य का बोध नहीं करा सकती' इस नियम के अनुसार 'गौरनुबन्ध्यः' इस वाक्य में गोत्व जाति का अनुबन्धन असम्भव होने से जाति से

व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है। अतः विशेष्य (गो व्यक्ति) का बोध उपादान लक्षणा के द्वारा होता है।

'यत्र स्वसिद्ध्यर्थतया वस्त्वन्तराक्षेपो भवति, तदुपादनम्। यथा—'गौरनुबन्ध्यः' इति।.........'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इति न्यायात शब्दस्य जातिमात्रपर्यवसितत्वात्। जातिस्तु व्यक्तिमन्तरेण यागसाधनभावं न प्रतिपद्यत इति शब्दप्रत्यायितं जातिसामर्थ्यादत्र जातेराश्रयभूता व्यक्तिराक्षिप्यते, तेनासौ 'लाक्षणिकी'। (अभिधावृत्तिमातृका)

आचार्य मम्मट मुकुलभट्ट के उक्त उदाहरण का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'गौरनुबन्ध्यः' का उपादानलक्षणा का उदाहरण नहीं मानना चाहिए; क्योंकि यहाँ पर न प्रयोजन है न रूढ़ि। मम्मट ने लक्षणा में तीन हेतु बताये हैं—मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग (सम्बन्ध) और रूढ़ि या प्रयोजन। यद्यपि यहाँ पर मुख्यार्थबाध (गोत्व-जाति में आलम्भन असंभव होना) और मुख्यार्थयोग (गोत्व से सम्बद्ध व्यक्ति) भी है, किन्तु न यहाँ कोई प्रयोजन है और न रूढ़ि है। क्योंकि मुख्यार्थ में रहने वाले किसी विशेष गुण या धर्म की प्रतीति कराना लक्षणा का प्रयोजन होता है। जैसे—'कुन्ताः प्रविशन्ति' में बाहुल्यादि की प्रतीति, 'गङ्गायां घोषः' में शैत्य-पावनत्व आदि प्रतीति को लक्षणा का प्रयोजन माना जाता है किन्तु यहाँ यहाँ पर कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि यहाँ पर मुख्य अर्थ गोत्व जाति है और जाति में कोई गुण या धर्म नहीं रहता। यहाँ पर 'रूढ़ि' भी नहीं है। यदि यह कहा जाय कि 'गौ' में अनादि परम्परागत प्रयोग रूप और भूरि-प्रयोग रूप रूढ़ि है तो यह कैसे कहते हैं कि यहाँ रूढ़ि नहीं है। इस पर कहते हैं कि शक्यार्थ में प्रयुक्त शब्द का लक्ष्यार्थ में भूरि प्रयोग (लक्ष्यार्थ बोधक प्रयोग बाहुल्य) ही रूढ़ि होती है केवल भूरिप्रयोग (प्रयोगबाहुल्य) नहीं। **(शक्यार्थे प्रयुक्ते पदे लक्ष्यार्थबोधकप्रयोगबाहुल्यं रूढ़िः)**। यहाँ पर 'गो' शब्द का व्यक्ति के बिना केवल शक्यार्थ में (गोत्व में) प्रयोग नहीं होता; इसलिए यहाँ पर रूढ़ि नहीं है। अतः यहाँ लक्षणा नहीं है। भाव यह कि 'गो' शब्द में विद्यमान व्यक्ति विषयक रूढ़ि लक्षणा के हेतुभूत रूढ़ि नहीं है। अब प्रश्न यह है कि यदि जाति शब्द (गोत्व) व्यक्ति में लक्षणा नहीं होती तो जाति से व्यक्ति की प्रतीति कैसे होगी ? इस पर कहते हैं कि 'व्यक्ति के बिना जाति नहीं रह सकती' इस अविनाभाव सम्बन्ध से जाति के द्वारा व्यक्ति का अनुमान या अध्याहार कर लिया जाता है, इसलिए यह उपादानलक्षणा का उदाहरण नहीं हो सकता।

आचार्य मम्मट का कथन है कि जाति और व्यक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध है क्योंकि जाति व्यक्ति के बिना नहीं रह सकती, इस अविनाभाव सम्बन्ध से जाति के द्वारा व्यक्ति का अनुमान या अध्याहार कर लिया जाता है। जैसे—'क्रियताम्' कहने से 'कर्ता' का और 'कुरु' कहने से 'कर्म' का अध्याहार या आक्षेप कर लिया जाता है तथा भट्ट के मतानुसार 'प्रविश' (प्रवेश करो) कहने पर 'गृह' (कर्म) का और 'पिण्डीम्' यह कहने पर 'भक्षय' क्रिया का जिस प्रकार आक्षेप कर लिया जाता है

'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते, श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात् ।

उसी प्रकार 'गौरनुबन्ध्यः' इस उदाहरण में अविनाभाव सम्बन्ध से जाति के द्वारा व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है, अतः मुकुल भट्ट का 'गौरनुबन्ध्यः' को उपादान लक्षणा का उदाहरण मानना उचित नहीं है ।

अनुवाद—(पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते) 'देवदत्त मोटा है, किन्तु दिन में नहीं खाता' इस वाक्य में 'रात्रि-भोजन' लक्षणा के द्वारा सिद्ध नहीं होता; क्योंकि यह (रात्रि-भोजन) श्रुतार्थापत्ति अथवा अर्थापत्ति का विषय है ।

विमर्श—मुकुलभट्ट ने उपादान लक्षणा का दूसरा उदाहरण 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' दिया है । उनका कथन है कि 'जहाँ पर अपने अन्वय की सिद्धि के के लिए अर्थान्तर का उपादान (आक्षेप) किया जाता है, वहाँ 'उपादान लक्षणा' होती है । (**यत्र स्वसिद्ध्यर्थतया वस्त्वन्तराक्षेपो भवति तत्रोपादनम्** ।''''**यथा च 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति**) । अर्थात् 'देवदत्त मोटा है किन्तु दिन में नहीं खाता' यहाँ पर 'पीनत्व' कार्य है और उसका कारण भोजन है । बिना कारण के कार्य नहीं होता, अतः पीनत्व रूप कार्य में दिन में भोजनाभाव का अन्वय नहीं सिद्ध होता, अतः अन्वय की सिद्धि के लिए कारण रूप रात्रि भोजन का आक्षेप कर लिया जाता है, अतः यहाँ 'उपादान लक्षणा' है । (**अत्र हि पीनत्वं विनाधिकरणभोजनाभावविशिष्टतयाऽवगम्यमानमेव कार्यत्वात् स्वसिद्ध्यर्थत्वेन कारणभूतं रात्रिभोजनमाक्षेपादभ्यन्तरीकरोति**) । इस प्रकार मुकुलभट्ट ने इसे उपादान लक्षणा का उदाहरण माना है, किन्तु आचार्य मम्मट यहाँ पर लक्षणा नहीं मानते, उनका कहना है कि **'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'** इस वाक्य में 'रात्रि भोजन' लक्षणा के द्वारा सिद्ध नहीं होता है । क्योंकि दिन में भोजन न करने पर भी मोटा रहना रात्रि भोजन के बिना अनुपपन्न है, अतः अनुपपन्न अर्थ से रात्रि भोजन की कल्पना की जाती है, अतः यहाँ अर्थापत्ति अथवा श्रुतार्थापत्ति का विषय होने मे लक्षणा नहीं होगी । भाव यह कि मीमांसक अर्थापत्ति को अलग प्रमाण मानते हैं । किसी अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना करना अर्थापत्ति है (**अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनमर्थापत्तिः**) जैसे—दिन में न खाने वाले देवदत्त का मोटा होना अनुपपन्न है, अतः इस अनुपपन्न अर्थ की सिद्धि के लिए उसके उपपादक रूप रात्रिभोजन की कल्पना कर ली जाती है । अतः यह अर्थापत्ति का उदाहरण है ।

अर्थापत्ति के दो प्रकार हैं—श्रुतार्थापत्ति और अर्थार्थापत्ति या दृष्टार्थापत्ति । जहाँ पर दूसरे के मुख से अनुपपन्न अर्थ को सुनकर उसके उपपादक अन्य अर्थ की कल्पना की जाती है वहाँ श्रुतार्थापत्ति होती है और जहाँ पर अनुपपन्न अर्थ स्वयं

'गङ्गायां गोषः' इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा ।

देखकर अर्थान्तर की कल्पना की जाती है, वहाँ अर्थार्थापत्ति या दृष्टार्थापत्ति होती है। (यत्र च दृष्टः श्रुतो वार्थोऽनुपपन्नोऽर्थान्तरं कल्पयति तत्र अर्थापत्तिः)। जैसे—'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य को सुनकर रात्रि भोजन की कल्पना करना श्रुतार्थापत्ति है और दिन में न खाने वाले देवदत्त को मोटा देखकर रात्रि भोजन की कल्पना करना अर्थापत्ति है। कुछ आचार्य यहाँ अध्याहार (आक्षेप) मानते हैं। 'येन बिना यदनुपपन्नं तत्तेनैवाक्षिप्यते। जैसे—द्वारम्' यह शब्द अनुपपन्न है; क्योंकि बिना क्रिया के कारक प्रयोग अनुपपन्न होता है और बिना कारक के क्रिया नहीं रहती अतः कारक के प्रयोग होने पर यदि क्रिया प्रयुक्त नहीं है, तो क्रिया का अध्याहार कर लिया जाता है। जैसे—'द्वारम्' अनुपपन्न है। अतः 'द्वारम्' कहने पर 'पिधेहि' और 'प्रविश' कहने पर 'गृहम्' का आक्षेप (अध्याहार) कर लिया जाता है। अतः यहाँ अर्थापत्ति का विषय होने से लक्षणा नहीं होगी।

अनुवाद—'गंगायां घोषः' यहाँ पर तट के घोष का आधार (अधिकरण) सिद्धि के लिए गंगा शब्द अपने प्रवाह रूप अर्थ का परित्याग कर देता है, इस प्रकार यहाँ स्वार्थसमर्पण रूप लक्षण के कारण लक्षण-लक्षणा है।

विमर्श—मम्मट ने लक्षण लक्षणा का उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' दिया है। दूसरे के लिए अपने अर्थ का समर्पण कर देना लक्षणा है। अर्थात् जहाँ सक्षम शब्द दूसरे के अन्वय सिद्धि के लिए अपने मुख्य अर्थ का परित्याग कर देता है, वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है। यहाँ पर 'गङ्गा' पद अन्य तीरादि रूप अर्थ के अन्वय सिद्धि के लिए अपने अर्थ (प्रवाह रूप मुख्यार्थ) का परित्याग कर सामीप्य सम्बन्ध के तट रूप अर्थ का बोध कराता है। अतः यहाँ 'लक्षणलक्षणा' है। शैत्यपावनत्वरूप आधिक्य की प्रतीति लक्षणा का प्रयोजन है। वैयाकरण इसे जहत्स्वार्थावृत्ति या 'जहल्लक्षणा' कहते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि गङ्गा पद से जो तीर (तट) रूप अर्थ लक्षित होता है, क्या वहाँ केवल तीर रूप अर्थ ही उपस्थित होता है या गङ्गा से सम्बद्ध तीर रूप अर्थ उपस्थित होता है? यदि केवल तीर रूप अर्थ उपस्थित होता है तो गङ्गा का तीर कहने से यमुना का तीर रूप अर्थ भी उपस्थित होगा। अतः गङ्गा पद से केवल तीर रूप अर्थ ही उपस्थित नहीं होता है, बल्कि गङ्गातीर रूप अर्थ उपस्थित होता है। अब यह कहते हैं कि जब गङ्गा पद से गङ्गातीर रूप अर्थ उपस्थित होता है तो यह लक्षणलक्षणा (जहल्लणा) का उदाहरण कैसे होगा? क्योंकि यहाँ पर गङ्गा पद अपने अर्थ का परित्याग नहीं करता। इसी प्रकार द्विरेफ शब्द का अर्थ (वाच्यार्थ)

उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्त्वात्। अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम्। तदादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपादयिषित प्रयोजन सम्प्रत्ययः। गङ्गादिसम्बन्धमात्र प्रतीतौ तु गङ्गातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः?

दो रेफ वाला है अर्थात् दो रेफ से युक्त भ्रमर है। यहाँ पर द्विरेफ शब्द का भ्रमर (भौंरा) रूप अर्थ लक्षणा के द्वारा ग्रहण होता है, किन्तु यहाँ पर द्विरेफ शब्द का दो रेफ से युक्त भ्रमर वाच्यार्थ ही है तो इसे लक्षणलक्षणा (जहल्लक्षणा) का उदाहरण कैसे माना जाय? क्योंकि यहाँ द्विरेफ शब्द अपने मुख्यार्थ (दो रेफ) का परित्याग नहीं करता। अतः इसे लक्षणलक्षणा का उदाहरण मानना ठीक नहीं है। लक्षणलक्षणा स्पष्ट उदाहरण निम्न प्रकार है—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे! सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥

यहाँ पर कोई व्यक्ति अपकार करने वाले के प्रति कहता है कि "आपने मेरा बड़ा उपकार किया है, उसका कितना बखान करूँ, आपने अपनी सज्जनता प्रकट कर दी है, हे मित्र! इसे हमेंशा करते हुए तुम सौ वर्ष (जीवनभर) सुखी रहो"। यहाँ पर 'उपकृतम्' पद अपकार रूप अपने अर्थ को छोड़कर 'अपकृतम्' अपकाररूप को लक्षित कर रहा है, अतः यहाँ लक्षणलक्षणा (जहल्लक्षणा) का उदाहरण है। इसी प्रकार सुजनता, आदि शब्द अपने अर्थ को छोड़कर दुर्जनता आदि अर्थ को लक्षित करते हैं, अतः इसे शुद्धा लक्षणलक्षणा का उदाहरण कहते हैं। यह उदाहरण अत्यन्त स्पष्ट है।

अनुवाद—यह दोनों प्रकार की लक्षणा (उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा) शुद्धा कहलाती है; क्योंकि ये दोनों उपचार (सादृश्याख्य सम्बन्ध से मिश्रित नहीं होतीं। इन दोनों में लक्ष्य (तटादि) तथा लक्षक (गङ्गा आदि) के भेद-प्रतीति रूप ताटस्थ्य (उदासीनता) नहीं है। गङ्गा आदि शब्दों के द्वारा तटादि (लक्ष्यार्थ) के प्रतिपादन में गङ्गा (शक्य, प्रवाह) और तीर (लक्ष्य) में अभेद की प्रतीति होने पर ही वक्ता के अभीष्ट (प्रतिपादयिषित) शैत्य-पावनत्व रूप प्रयोजन की प्रतीति होती है। गंगा आदि में सम्बन्धमात्र की प्रतीति होने पर तो 'गंगा तटे घोषः' (गंगा के तट पर घोष हैं) इस प्रकार मुख्य (वाचक) शब्द के प्रयोग (कथन) से लक्षणा का क्या अन्तर होगा?

विमर्श--आचार्य मम्मट ने लक्षणा के दो भेद बताये हैं—शुद्धा और गौणी। इनमें सादृश्यादि सम्बन्ध न होने से शुद्धा और सादृश्य सम्बन्ध से प्रवृत्ति होने पर गौणी होती है। तात्पर्य यह कि उपचार मिश्रित गौणी और उपचार से अमिश्रित (रहित) शुद्धा लक्षणा होती है।

काव्यालङ्कारशास्त्र में 'उपचार' शब्द को एक पारिभाषिक शब्द माना गया है। विश्वनाथ ने परस्पर भिन्न दो वस्तुओं के सादृश्यातिशय के कारण भेद-प्रतीति स्थगन को उपचार कहा है (''''अत्यन्तं विशकलितयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेद-प्रतीतिस्थगनमुपचारः)। प्रदीपकार के अनुसार सादृश्य सम्बन्ध से प्रवृत्ति उपचार है अथवा अत्यन्त भिन्न दो पदार्थों (वस्तुओं के सादृश्यातिशय के कारण भेद-प्रतीति का स्थगित होना उपचार है (**उपचारश्च सादृश्यसम्बन्धेन प्रवृत्तिः, सादृश्यातिशय—महिम्ना भिन्नयोः पदार्थयोर्भेदप्रतीतिस्थगनं वा**) अर्थात् सादृश्य के कारण दो भिन्न वस्तुओं में भेद की प्रतीति न होना 'उपचार' है। अर्थात् जहाँ पर दो भिन्न पदार्थों में साधर्म्य अथवा सादृश्य के कारण परस्पर भिन्नता का स्थगित हो जाना उपचार है। जैसे '**सिंहो माणवकः**' इस उदाहरण में सिंह गत शौर्यादि गुणों का सादृश्य के कारण बालक में आरोप कर लिया जाता है यहाँ गौणी लक्षणा है। मम्मट ने इसी उपचार के मिश्रण से गौणी और उपचार रहित लक्षणा को शुद्धा कहा है।

अग्निपुराण में लक्षणा और गौणी दोनों को औपचारिक कहा है। अग्नि-पुराणकार उपचार (औपचारिकी श्रुति) को लाक्षणिकी और गौणी द्विविध रूप मानते हैं। अग्निपुराण के अनुसार उपचार शब्द का प्रयोग निमित्त और पारिभाषिक दोनों अर्थों में होता है। तदनुसार मुकुलभट्ट ने भी उपचार को शुद्ध और गौण द्विविध रूप माना है (**द्विविध उपचारः शुद्धो गौणश्च**)। उन्होंने गौणी लक्षणा का उदाहरण '**गौर्वाहीकः**' दिया है। उनका कथन है कि 'गौर्वाहीकः' इस उदाहरण में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य सम्बन्ध से अभेद प्रतीति होती है, इसलिए इसे गौणी लक्षणा कहते हैं। मुकुलभट्ट के अनुसार शुद्धा लक्षणा में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में भेद प्रतीति होती है। यह भेद प्रतीति ही ताटस्थ्य है। 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में प्रवाह और तट (वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ) में भेद-प्रतीति होने से शुद्धा लक्षणा है। यही शुद्धा और गौणी में अन्तर है।

अग्निपुराणकार ने गौणी को लक्षणा से भिन्न प्रतिपादित किया है। अग्नि-पुराणकार का कथन है कि 'गौर्वाहीकः' में मुख्यार्थ का बोध होने पर भी 'गौ' का मुख्यार्थ से सम्बन्ध न होने से लक्षणा नहीं होगी; क्योंकि लक्ष्यमाण गुणों के योग से जो औपचारिकी वृत्ति है, वही गौणी है। इस प्रकार गुणों के योग (सम्बन्ध) होने पर गौणी वृत्ति होती है। अग्निपुराण के अनुसार लक्षणा में अविनाभाव सम्बन्ध नियामक होता है और गौणी में गुणसादृश्य नियामक होता है, यही दोनों में अन्तर है।

सा च लाक्षणिकी गौणी लक्षणागुणयोगतः

(सू० १४) सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

आरोप्यमाणः आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते तत्र लक्षणा सारोपा।

मम्मट ने गौणी को लक्षणा में अन्तर्भूत कर दिया है। उन्होंने शुद्धा और गौणी को लक्षणा का भेद माना है। उनका कथन है कि गौणी में शुद्धा भेदक तत्त्व ताटस्थ्य नहीं है; क्योंकि 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा (प्रवाह) और तट में भेद-प्रतीति नहीं होती; गङ्गा और तट में अभेद प्रतीति होती है। अन्यथा अर्थात् अभेद बुद्धि के बिना शैत्यपावनत्वरूप प्रयोजन की प्रतीति नहीं होगी. अतः दोनों का भेदकतत्त्व ताटस्थ्य नहीं हैं। क्योंकि गङ्गा और तट में अभेद बुद्धि होने पर ही शैत्यपावनत्वरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है। यदि ऐसा न होता अर्थात् केवल तट रूप अर्थ की प्रतीति ही अभीष्ट होती तो 'गङ्गायां घोषः' के स्थान पर 'गंगातटे घोषः' कह देते। 'गङ्गायां घोषः' कहने का तात्पर्य शैत्यपावनत्वरूप प्रयोजन है। यहाँ शैत्यपावनत्व का बोध करना ही लक्षणा का प्रयोजन है और वह गङ्गा और तट में अभेद बुद्धि मानने पर ही संभव है। इसलिए मम्मट ने ताटस्थ्य को भेदक तत्त्व न मानकर उपचार के आमिश्रण को भेदक तत्त्व माना है (उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्) इस प्रकार मम्मट के अनुसार उपचार से रहित शुद्धा और उपचारयुक्त गौणी लक्षणा होती है। भाव यह कि शुद्धा में उपचार का अमिश्रण और गौणी में उपचार का मिश्रण रहता है। यही दोनों में अन्तर है।

सारोपा और साध्यवसाना

अनुवाद—(सू० १४) जहाँ पर विषयी (आरोप्यमाण) और विषय (आरोपविषय) दोनों शब्दतः (स्वरूप से) कथित हों, वह एक (अन्या) 'सारोपा' लक्षणा है।

अनुवाद—जहाँ आरोप्यमाण और आरोपविषय का भेद छिपाया नहीं जाता और दोनों का समानाधिकरण रूप से निर्देश किया जाता है; वहाँ 'सारोपा' लक्षणा होती है।

विमर्श—आचार्य मम्मट सारोपा लक्षणा का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि जहाँ पर विषयी (आरोप्यमाण, उपमान) और आरोप विषय (उपमेय) दोनों शब्दतः कथित होते हैं और दोनों समानाधिकरण रूप में निर्दिष्ट किये जाते हैं, वहाँ 'सारोपा' लक्षणा होती है। जैसे—'गौर्वाहीकः' इस उदाहरण में विषयी (आरोप्यमाण) गो आदि और आरोप विषय वाहीक आदि दोनों अपने-अपने स्वरूप से शब्दतः कथित हैं अर्थात् विषयी (गवादि) और विषय (वाहीकादि) अपने-अपने वाचक शब्दों द्वारा

(सूत्र १५) विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥११॥

विषयिणाऽऽरोप्यमाणेनान्तःकृते निगीर्णे अन्यस्मिन्नारोपविषये सति साध्यवसाना स्यात् ॥

उपस्थित किये गये हैं और दोनों समानाधिकरण रूप से निर्दिष्ट किये गये हैं। यहाँ पर 'आरोप' का अर्थ है—विषय और विषयी को पृथक्-पृथक् प्रस्तुत करना (**विषयविषयिणोभदेनोपन्यासोऽत्रारोपपदार्थः इति प्रदीपकाराः**)। मुकुलभट्ट का कथन है कि जहाँ उपचर्यमाण (विषयी) और उपचर्यमाणविषय (आरोप विषय) दोनों का स्वरूप छिपा न हो अर्थात् दोनों अपने स्वरूप में स्थित हों, वहाँ 'अध्यारोप' (सारोप) होता है। (**यत्रोपचर्यमाणेनोपचर्यमाणविषयस्य स्वरूपं नापह्नूयते, तत्राध्यारोपः**)। अलङ्कार-सर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने भी यही अभिप्राय प्रतिपादित किया है (…**भिन्नयोः समानाधिकरण्येन निर्देशो ह्यारोपलक्षणम्**। विश्वनाथ सारोपा का लक्षण बताते हुए कहते हैं (**आरोपो नाम्ना निगीर्यस्वरूपस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिः**)।

साध्यवसाना लक्षणा

अनुवाद—(सू० १५) जहाँ पर विषयी (आरोप्यमाण) के द्वारा अन्य आरोप विषय को अन्तर्लीन कर लिया जाता है, वहाँ 'साध्यवसाना' लक्षणा होती है ॥११॥

अनुवाद—विषयी अर्थात् आरोप्यमाण के द्वारा आरोप विषय निगीर्ण (अन्तर्लीन) कर लिये जाने पर 'साध्यवसाना' लक्षणा होती है।

विमर्श—मम्मट साध्यवसाना लक्षणा का लक्षण प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि जहाँ पर आरोप विषय शब्दतः कथित नहीं होता, आरोप्यमाण (विषयी) के द्वारा अपने में अन्तर्भाव कर लिया जाता है, वहाँ 'साध्यवसाना' लक्षणा होती है। तात्पर्य यह कि जहाँ पर आरोपविषय के वाचक शब्द का प्रयोग नहीं होता और आरोप्यमाण वाचक शब्द के द्वारा आरोप विषय का निगरण होने से विषयी के द्वारा विषय की अभेद प्रतीति होती है, वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है। जैसे—'गौरयम्' इस उदाहरण में विषयी (आरोप्यमाण गौ) के द्वारा विषय (वाहीक) का निगरण कर लिया गया है और दोनों में अभेद प्रतीति होती है। अतः यहाँ 'साध्यवसाना' लक्षणा है।

मुकुल भट्ट के अनुसार जहाँ पर उपचर्यमाण विषय का उपचर्यमाण (विषयी) में अन्तर्भाव (निगरण) हो जाता है, वहाँ 'साध्यवसाना' लक्षणा होती है। **यत्र तूपचर्यमाणविषयस्योपचर्य्यमाणेऽन्तर्लीनतया विवक्षितत्वात्—स्वरूपापह्नवः क्रियते तत्राध्यवसानम्**)। प्रदीपकार का कथन है कि विषयी के द्वारा विषय का निगरण (अपने में अन्तर्भाव करना) अध्यवसान है (**विषयिणा विषयतिरोभावोऽत्राध्यवसायः**)।

(सूत्र १६) भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ .... ॥

इमौ आरोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ 'गौर्वाहीकः' इत्यत्र 'गौरयम्' इत्यत्र च।

अनुवाद (सू० १६)—ये (सारोपा और साध्यवसाना) दोनों भेद सादृश्य सम्बन्ध से तथा अन्य सम्बन्ध से गौण और शुद्ध भेद समझने चाहिए।

अनुवाद (वृत्ति)—ये दोनों सारोपा और साध्यवसाना रूप भेद सादृश्य के हेतु होने पर 'गौर्वाहीक' यहाँ पर तथा 'गौरयम्' यहाँ पर है।

विमर्श—मम्मट लक्षणा के भेदों में 'सारोपा' और 'साध्यवसाना' ये दो भेद मानते हैं। उन्होंने सादृश्य सम्बन्ध के आधार पर इनके शुद्धा और गौणी रूप दो भेद किये हैं। जहाँ पर सादृश्य सम्बन्ध से लक्षणा होती है, वहाँ गौणी लक्षणा होती है, जैसे—'गौर्वाहीकः' में गोगत जड़ता, मन्दता आदि गुणों के सादृश्य के कारण गो शब्द की वाहीक (जड़तादिविशिष्ट पुरुष) में लक्षणा होती है। यहाँ गौणी लक्षणा सारोपा है। जहाँ पर सम्बन्धान्तर अर्थात् सादृश्य सम्बन्ध से भिन्न कार्य-कारण भाव आदि सम्बन्ध से लक्षणा होती है, वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। जैसे—(आयुर्घृतम्' यहाँ पर आयु और घृत (घी) में कार्यकारणभाव सम्बन्ध होने से 'आयु' शब्द का 'घृत' रूप अर्थ में लक्षणा होती है। अतः यह शुद्धा लक्षणा का उदाहरण है। इस प्रकार मम्मट ने सारोपा और साध्यवसाना दोनों के सादृश्य सम्बन्ध के आधार पर गौणी और कार्यकारणभावादि के सम्बन्ध से शुद्धा रूप दो-दो भेद किये हैं। इस प्रकार मम्मट के अनुसार सारोपा के दो भेद (गौणी सारोपा और शुद्धा सारोपा) तथा साध्यवसाना के दो भेद (गौणी साध्यवसाना और शुद्धा साध्यवसाना) होते हैं। इस प्रकार सारोपा और साध्यवसाना के कुल चार भेद होते हैं—

(१) गौणी सारोपा
(२) गौणी साध्यवसाना
(३) शुद्धा सारोपा
(४) शुद्धा साध्यवसाना

मम्मट इनका क्रमशः उदाहरण देते हैं—

(१) **गौणी सारोपा**—मम्मट ने गौणी सारोपा का उदाहरण 'गौर्वाहीकः' दिया है। मम्मट ने यह उदाहरण 'पुंयोगादाख्यायाम्' सूत्र के भाष्य से उद्धृत किया है। वाहीक देशविशेष का नाम है। कुछ विद्वान् वाहीक देश में रहने वाले पुरुष

अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तमुपयान्ति, इति केचित् ।

स्वार्थसहचारिणो गुणाभेदेन पदार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते, न परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये ।

साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यते, इत्यपरे ।

को वाहीक कहते हैं। अन्य विद्वान् 'बहिर्भवो वाहीकः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर शास्त्रीय आचार से विमुख (असंस्कृत) व्यक्ति को 'वाहीक' कहते हैं। (**बहिर्भवो वाहीक इति शास्त्रीयाचाराद्बहिर्भूतः**)। यहाँ पर गो में रहने वाले जड़ता, मन्दता आदि गुणों का वाहीक (जड़ता-मन्दता विशिष्ट पुरुष) में लक्षणा के द्वारा आरोप किया जाता है। अतः यहाँ गौणी सारोपा लक्षणा है।

(२) **गौणी साध्यवसाना** – इसका उदाहरण 'गौरयम्' है। यहाँ पर आरोप-विषय 'वाहीक' शब्दतः कथित नहीं है, उसका विषयी (आरोप्यमाण, गौ) के द्वारा निगरण (अन्तर्भाव) कर लिया गया है, अतः यहाँ गौणी साध्यवसाना लक्षणा है।

अनुवाद—कुछ आचार्य यहाँ पर (गौर्वाहीकः आदि में) अपने अर्थ की सहचारी जड़ता-मन्दता आदि गुण लक्षणा द्वारा बोधित होकर भी गो शब्द के परार्थ (वाहीक, दूसरे अर्थ) के अभिधा द्वारा बोध कराने में प्रवृत्त-निमित्त बन जाते हैं।

दूसरे आचार्य कहते हैं कि अपने अर्थ के सहचारी जड़ता-मन्दता आदि गुणों से अभिन्न (सजातीय) वाहीकगत गुण ही लक्षणा द्वारा बोधित होते हैं; वाहीक रूप परार्थ का अभिधा के द्वारा बोध नहीं कराया जाता।

अन्य आचार्यों का मत है कि साधारण गुण (जड़ता-मन्दता आदि) का आश्रय होने से परार्थ (वाहीक) ही लक्षणा के द्वारा बोधित होता है।

विमर्श—आचार्य मम्मट ने गौणी लक्षणा का उदाहरण 'गौर्वाहीकः' और 'गौरयम्' दिया है। यहाँ पर अर्थात् इन उदाहरणों के सम्बन्ध में मम्मट तीन मत प्रस्तुत करते हैं।

(१) प्रथम मत के अनुसार 'गौर्वाहीकः' इस उदाहरण में पहिले गो शब्द से लक्षणा के द्वारा गो गत जड़ता-मन्दता आदि गुणों का बोध होता है और बाद में वे वाहीक रूप अर्थ के अभिधा द्वारा बोध कराने में प्रवृत्त-निमित्त होते हैं। तात्पर्य यह कि पहिले लक्षणा के द्वारा गोगत जड़ता-मन्दता आदि गुणों का बोध होता है बाद में अभिधा के द्वारा वाहीक रूप अर्थ का बोध होता है।

(२) द्वितीय मत के अनुसार अभिधा के द्वारा वाहीक रूप अर्थ का बोध नहीं होता; बल्कि गो में रहने वाले (गोगत) जड़ता-मन्दता आदि गुणों के सजातीय वाहीक में रहने वाले जड़ता-मन्दता आदि गुण ही लक्षणा के द्वारा बोधित होते हैं। भाव यह कि गो में रहने वाला जाड्यादि गुण वाहीक में भी विद्यमान है अतः गोगत जाड्यादि गुण और वाहीकगत जाड्यादि गुण सजातीय हैं इसलिए गोगत जाड्यादि सजातीय जाड्यादि गुण विशिष्ट वाहीक का बोध लक्षणा के द्वारा होता है।

(३) तृतीय मतानुयायी आचार्यों का कहना है कि जड़ता-मन्दता आदि गुण गो और वाहीक दोनों में समान रूप से हैं, अतः ये साधारण गुण हैं, इन जड़ता आदि साधारण गुणों का आश्रय वाहीक है। इसलिए गो शब्द की वाहीक में लक्षणा होती है। भाव यह कि गोगत (गो में रहने वाले) जाड्यादि गुणों के समान जाड्यादि गुणों के आश्रय होने से वाहीक रूप अर्थ का लक्षणा के द्वारा बोध होता है। इस प्रकार इस मत में गोगत जाड्यादि गुणों के सदृश जाड्यादि गुणविशिष्ट वाहीक में लक्षणा होती है।

व्याख्याकारों ने इस तृतीय मत को मम्मट का मत माना है। झलकीकर आदि ने 'अपरे' का अर्थ **'न परे अपरे स्वीया इत्यर्थः'** किया है अर्थात् उनके अनुसार यह तृतीय मत उनका अपना मत है। वस्तुतः यह मत मीमांसकों का है। इस मत का विवेचन मुकुलभट्ट ने अपनी 'अभिधावृत्तिमातृका' में किया है। मुकुलभट्ट का कथन है कि गोगत जाड्यादि गुणों के सदृश जाड्यादि गुण वाहीक में भी पाये जाते हैं। इसलिए वाहीक में गोशब्द तथा गो अर्थ गोत्व दोनों का उपचार से प्रयोग होता है। कुछ विद्वान् वाहीक में केवल गो शब्द का उपचार मानते हैं गो के अर्थ गोत्व का उपचार नहीं मानते। मुकुलभट्ट इस मत को सहन नहीं करते, उनका कथन है कि अर्थ के उपचार के बिना शब्द का उपचार नहीं होता, इसलिए गोगत जाड्यादि गुणो के सदृश जाड्यादि गुणों का वाहीक में योग होने से गो शब्द और गो के अर्थ गोत्व दोनों का उपचार से प्रयोग होता है। (**अत्र हि जाड्य-मान्द्यादिसदृशजाड्यमान्द्या-दियोगाद्वाहीके गोशब्द-गोत्वयोरुपचारः। केचित्तु शब्दोपचारमेव मन्यन्ते नोपचारः। तदयुक्तम्। शब्दोपचारस्यार्थोपचाराविनाभावित्वात्**)।

मुकुलभट्ट के इस मत के आधार पर मम्मट ने तृतीय मत का प्रतिपादन किया है। दोनों ही 'गौर्वाहीकः' में लक्षणा के द्वारा समानाधिकरण्य मानते हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी इस का प्रतिपादन साहित्यदर्पण में किया है (**तस्मादत्र गोशब्दो मुख्यया वृत्त्या वाहीकशब्देन सहान्वयमलभमानोऽज्ञत्वादिसाधर्म्य-सम्बन्धाद् वाहीकार्थं लक्षयति**)। इस प्रकार विश्वनाथ के अनुसार भी गोगत जाड्यादिगुणसदृश जाड्यादिगुण वाहीक में लक्षणा के द्वारा बोधित होते हैं।

उक्तञ्चान्यत्र—

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ।।

अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रं न तु नान्तरीयकत्त्वम् । तत्त्वे हि 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यादौ न लक्षणा स्यात् । अविनाभावे चाक्षेपेणैव सिद्धेर्लक्षणाया नोपयोग इत्युक्तम् ।

अनुवाद—अन्यत्र (तन्त्रवार्त्तिक में) कहा भी है—

'अभिधेय (मुख्यार्थ) से अविनाभूत (सम्बद्ध) अर्थ की प्रतीति लक्षणा कही जाती है। लक्ष्यमाण गुणों के योग से वृत्ति की गौणता होती है।

यहाँ पर अविनाभाव का तात्पर्य सम्बन्धमात्र है, नान्तरीयकत्व (व्याप्ति) नहीं; क्योंकि व्याप्ति अर्थ लेने पर 'मञ्चाः क्रोशन्ति' (मचान चिल्लाते हैं) इत्यादि में लक्षणा नहीं होगी और अविनाभाव (व्याप्ति) सम्बन्ध मानने पर तो आक्षेप (अनुमान) के द्वारा ही सिद्धि होने से लक्षणा का उपयोग ही नहीं होगा, यह कहा जा चुका है।

विमर्श—आचार्य मम्मट ने मुकुल भट्ट के मत को उपयुक्त मानकर ही इसी आधार पर अपना मत प्रस्तुत किया है। मम्मट अपने मत के समर्थन में कुमारिल भट्ट के तन्त्रवार्त्तिक से 'अभिधेयादि' कारिका को प्रमाण रूप में उद्धृत करते हैं। इसमें लक्षणा और गौणी वृत्ति का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। प्रथम लक्षणा का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि अभिधेय अर्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति लक्षणा है। तात्पर्य यह कि मुख्यार्थ का अन्य प्रमाणों से बाध होने पर मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति को लक्षणा कहते हैं और लक्ष्यमाण जाड्यादि गुणों के सम्बन्ध से वृत्ति की गौणता हो जाती है अर्थात् लक्ष्यमाण जाड्यादि गुणों से सम्बन्ध होने से लक्षणावृत्ति की गौणता हो जाती है।

यहाँ पर अविनाभाव का अभिप्राय सम्बन्धमात्र है; व्याप्ति नहीं। यदि अविनाभाव शब्द का अर्थ व्याप्ति लेते हैं तो 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इस उदाहरण में मञ्च शब्द की मञ्चस्थ पुरुष के साथ लक्षणा ही नहीं होगी; क्योंकि व्याप्ति के द्वारा मञ्च का चिल्लाना असम्भव होने से मञ्चस्थ पुरुष का आक्षेप (अनुमान) कर लिया जायगा। अतः उसके लिए लक्षणा की आवश्यकता ही नहीं होगी। इसलिए यहाँ अविनाभाव का अर्थ सम्बन्धमात्र लिया जाता है, सम्बन्धमात्र अर्थ मानने पर 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इस उदाहरण में अचेतन होने के कारण मचान का चिल्लाना

असंभव होने से मञ्च पद की मञ्चस्थ पुरुष में लक्षणा होती है। यहाँ पर मचान और पुरुष का संयोग सम्बन्ध है।

अग्निपुराण में भी 'अभिधेयाविनाभूत?''''' इत्यादि कारिका मिलती है। संभव है कि यह कारिका कुमारिल भट्ट ने अग्निपुराण से उद्धृत की हो, क्योंकि तन्त्रवार्त्तिक में कुमारिल गद्य में कहते हैं कि **'अथवा गौण्या वृत्तेरिह निमित्तमभिधीयते, न लक्षणायाः। किञ्चानयोर्भेदोऽप्यन्ति ? बाढ़मस्ति। कुतः'** इसके बाद कारिका उद्धृत करते हैं : 'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते' कारिका के बाद पुनः गद्य में विवेचन करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि कुमारिल को गद्य में अपना विषय प्रतिपादन रहा हो और गद्य में विषय प्रतिपादन करते समय प्रमाणस्वरूप कारिका उद्धृत की हो, जैसा कि मम्मट ने किया है। मम्मट जब काव्यप्रकाश लिख रहे होंगे, उस समय कुमरिल का उक्त ग्रन्थ सामने रहा होगा और उन्होंने उसी को उद्धृत कर दिया होगा।

अग्निपुराणकार लक्षणा और गौणी में अन्तर बताते हुए कहते हैं कि लक्षणा की विशेषता के योग से लक्षणा और गुण की विशेषता के योग (सम्बन्ध) से गौणी वृत्ति होती है। पुनः दोनों के अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अभिधेय अर्थ से अविनाभाव (सम्बद्ध) अर्थ की प्रतीति को लक्षणा कहते हैं और लक्ष्यमाण गुणों के सम्बन्ध से वृत्ति की गौणता होती है।

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगद्धत्तेरिष्टा तु गौणता ॥

अग्निपुराण के अनुसार अभिधेय का अर्थ मुख्य है। जहाँ पर मुख्य अपर अर्थ के साथ अन्वय नहीं बनता और अपर पदार्थ के अन्वय-योग्य अर्थ में शब्द का अपने अभिधेय अर्थ से अविनाभूत (सम्बद्ध) अर्थ में जो प्रतीति होती है, उसे लक्षणा कहते हैं। इस प्रकार अभिधेय अर्थ के सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होने पर ही लक्षणा होती है और लक्ष्यमाण गुणों का सम्बन्ध होने पर गौणी वृत्ति होती है। तात्पर्य यह कि तत्तद् वस्तुओं में जिस प्रकार के गुण होते हैं, उसी प्रकार के गुणों का सम्बन्ध होने पर गौणी वृत्ति होती है।

इस प्रकार अग्निपुराणकार ने गौणी को लक्षणा से पृथक् प्रतिपादित किया है। उनका कथन है कि लक्षणा में अविनाभाव सम्बन्ध नियामक होता है अर्थात् अभिधेय अर्थ (स्वार्थ) से अविनाभूत (सम्बद्ध) अर्थ की प्रतीति लक्षणा होती है और गौणी वृत्ति में गुण-साहृश्य नियामक होता है। अर्थात् अभिधेय अर्थ (स्वार्थ) से विनाभूत अर्थ की प्रतीति गौणी वृत्ति होती है। जैसे—'अग्निर्माणवकः' में अग्नि शब्द के लक्ष्यार्थ और माणवक शब्द के वाच्यार्थ में अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है, बल्कि

'आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेदम्' इत्यादौ च सादृश्यादन्यत् कार्यकारणभावादिसम्बन्धान्तरम्। एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वे आरोपाध्यवसाने।

अग्नि के लक्ष्यार्थ (तेजस्विता आदि गुणों) के साथ माणवक का सादृश्य सम्बन्ध ही एकमात्र नियामक है, अतः यह गौणी वृत्ति का उदाहरण है।

अब प्रश्न यह है कि उक्त कारिका, जिसे मम्मट ने 'उक्तं चान्यत्र' कहकर उद्धृत किया है, वह मूलतः अग्निपुराण का है अथवा कुमारिल का? यह प्रश्न अत्यन्त जटिल है और दोनों के पौवापर्य काल पर निर्भर हैं। विद्वानों ने कुमारिल भट्ट को शंकराचार्य के समकालीन (आठवीं शताब्दी) माना है[1] और अग्निपुराण का रचनाकाल तृतीय-चतुर्थ शताब्दी का मध्य माना जाता है। यद्यपि म० म० काणे, डा० दे० अग्निपुराण का रचनाकाल नवम शताब्दी तथा डा० हाजरा अष्टम शताब्दी मानते हैं, किन्तु अनेक विद्वानों ने अन्तः और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर अग्निपुराण का समय तृतीय-चतुर्थ शताब्दी के मध्य माना है।[2] इस आधार पर उक्त कारिका मूलतः अग्निपुराण की प्रतीत होती है, जिसे कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्त्तिक में उद्धृत किया होगा और तन्त्रवार्त्तिक से मम्मट ने। झलकीकर वामन ने मम्मट के 'उक्तं चान्यत्र' की व्याख्या में 'अन्यत्र' का अर्थ 'भट्टवार्त्तिक' किया है। ये भट्ट कुमारिल हैं जिन्होंने जैमिनिसूत्र पर वार्त्तिक लिखा है। इस प्रकार वामन के अनुसार उक्त कारिका भट्टवार्त्तिक से ली गई है, किन्तु यह भी संभव है कि मम्मट ने यह कारिका अग्निपुराण से ही उद्धृत की हो और 'उक्तं चान्यत्र' में 'अन्यत्र' का अर्थ 'अग्निपुराण' भी किया जा सकता है; क्योंकि यह कारिका अग्निपुराण में उपलब्ध है और निश्चित रूप से अग्निपुराण को मम्मट का पूर्ववर्त्ती माना जाता है।

शुद्धा सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण

अनुवाद—'आयुर्घृतम्' (घी आयु है) और 'आयुरेवेदम्' (यह आयु ही है) इत्यादि उदाहरणों में सादृश्य से भिन्न कार्यकारणभाव आदि अन्य सम्बन्ध हैं, इस प्रकार के उदाहरणों में कार्यकारणभावादि लक्षणपूर्वक आरोप और अध्यवसान होते हैं।

---

१. भारतीय दर्शन—(द्वितीय संस्करण)—डा० पारसनाथ द्विवेदी पृष्ठ ३६०

२. देखिये—अग्निपुराणोक्त काव्यालङ्कार शास्त्र की भूमिका तथा 'अग्निपुराण का रचनाकाल' शीर्षक लेख (आगरा यूनीवर्सिटी जर्नल आफ रिसर्च Vol. XIX, Pt. II July, 1971 Pages 75-86

अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाभेदागमश्च प्रयोजनम्। शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि।

विमर्श—मम्मट ने शुद्धा लक्षणा के दो भेद किये हैं— शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना। जहाँ पर सम्बन्धान्तर अर्थात् सादृश्य सम्बन्ध से भिन्न कार्यकारण-भावादि सम्बन्ध होते हैं, वहाँ पर शुद्धा लक्षणा होती है। मम्मट ने शुद्धा लक्षणा के दोनों भेदों (शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना) के क्रमशः 'आयुर्घृतम्' और 'आयुरेवेदम्' उदाहरण दिये हैं। मम्मट ने शुद्धा सारोपा लक्षणा का उदाहरण 'आयुर्घृतम्' दिया है। यहाँ पर 'घृत आयु का कारण है और आयु उसका कार्य इस प्रकार दोनों में कार्यकारणभाव रूप सम्बन्ध होने से आयु शब्द का घृत रूप अर्थ में लक्षणा होती है। यहाँ पर आरोप्यमाण (विषयी) आयु और आरोपविषय घृत दोनों शब्दतः कथित हैं, अतः यहाँ शुद्धा सारोपा लक्षणा हैं। शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण 'आयुरेवेदम्' है। यहाँ पर भी कार्यकारणभाव रूप सम्बन्ध से आयु शब्द का 'इदम्' (घृत) में लक्षणा होती है। यहाँ पर आरोप्यमाण (विषयी) आयु शब्द तो शब्दतः उपात्त (कथित) है किन्तु आरोप विषय 'घृत' शब्दतः उपात्त नहीं है; बल्कि आरोप्यमाण (विषयी) आयु के द्वारा विषय 'घृत' का निगरण (अन्तर्भाव) कर लिया गया है, अतः यह शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण है। इस प्रकार यहाँ पर आयु और घृत में कार्य-कारणभाव रूप सम्बन्ध होने से आरोप और अध्यवसान होते हैं।

अनुवाद—यहाँ पर (चारों उदाहरणों में) गौणी के भेदों में भेद होने पर भी (दोनों में) तद्रूपता (तादात्म्य) की प्रतीति और सर्वथा अभेद का बोध कराना (प्रतीति) लक्षणा का प्रयोजन है। शुद्धा लक्षणा के दोनों भेदों में अन्यों से विलक्षण रूप से तथा नियम (अव्यभिचार) से कार्य-कारित्व आदि लक्षणा का प्रयोजन है।

विमर्श—मम्मट के अनुसार गौणी लक्षणा के दोनों भेदों सारोपा और साध्यवसाना आरोप्यमाण विषयी गो तथा आरोप विषय वाहीक में भेद होने पर भी दोनों में (गो और वाहीक) में तादात्म्य की प्रतीति कराना ही लक्षणा का प्रयोजन है। जैसे, 'गौर्वाहीकः' में 'गो' और 'वाहीक' दोनों अलग-अलग प्रतीत होते हैं किन्तु जाड्यादि गुणों के सादृश्यातिशय के कारण लक्षणा के द्वारा दोनों में (गो और वाहीक में, तादात्म्य की प्रतीति होती है। इसी प्रकार गौणी साध्यवसाना लक्षणा का प्रयोजन आरोप्यमाण विषयी तथा आरोप विषय में अभेद की प्रतीति कराना है। जैसे 'गौरयम्' में विषयी और विषय दोनों सर्वथा पूर्ण रूप से अभेद की प्रतीति होती है।

क्वचित्तादर्थ्यादुपचारः, यथा इन्द्रार्था स्थूणा 'इन्द्रः'। क्वचित् स्वस्वामिभावात्, यथा राजकीय पुरुषो 'राजा'। क्वचिदवयवावयविभावात्, यथा-अग्रहस्त इत्यत्राग्रमात्रेऽवयते 'हस्तः'। क्वचित्तात्कर्म्यात्, यथा-अतक्षा तक्षा।

इसी प्रकार शुद्धा लक्षणा के दोनों भेदों सारोपा और साध्यवसाना में शुद्धा सारोपा लक्षणा में अन्यों से विलक्षण कार्य-कारित्व शक्ति का बोध करना लक्षणा का प्रयोजन है। जैसे—'आयुर्घृतम्' इस उदाहरण में दुग्धादि (दूध आदि) की अपेक्षा घृत (घी) में आयु बढ़ाने की शक्ति की अधिकता का बोध कराना लक्षणा का प्रयोजन है। इसी प्रकार शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा का प्रयोजन नियम से कार्यकारित्व शक्ति की प्रतीति कराना है। जैसे—'आयुरेवेदम्' में घृत में निश्चित रूप से आयुवर्द्धक शक्ति है, यह बोध कराना लक्षणा का प्रयोजन है।

अनुवाद—कहीं तादर्थ्य से उपचार होता है। जैसे—इन्द्र (पूजा) के लिए स्थूणा (स्तम्भ) को (तादर्थ्य सम्बन्ध से) 'इन्द्र' कहते हैं। कहीं स्वस्वामिभाव सम्बन्ध से, जैसे राजा का पुरुष भी 'राजा' कह दिया जाता है। कहीं अवयवावयविभाव सम्बन्ध से, जैसे अग्रहस्तः यहाँ केवल अग्रभाग मात्र के लिए 'हस्त' शब्द का प्रयोग होता है। कहीं उस कार्य के करने के कारण, जैसे अतक्षा (जो बढ़ई नहीं है, उसे) को तक्षा (बढ़ई) कह दिया जाता है।

विमर्श—मम्मट के अनुसार जहाँ पर सादृश्य सम्बन्ध से लक्षणा होती है, वहाँ गौणी लक्षणा है और जहाँ अन्य सम्बन्ध (सम्बन्धान्तर) से लक्षणा होती है वहाँ शुद्धा लक्षणा है। जैसे कार्यकारणभावादि सम्बन्ध से जो लक्षणा होती है, वह 'शुद्धा' है। कार्यकारणभाव रूप सम्बन्ध का उदाहरण 'आयुर्घृतम्' और 'आयुरेवेदम्' दिया जा चुका है। कार्यकारणभाव के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध भी होते है। जैसे कहीं तादर्थ्य सम्बन्ध से लक्षणा होती है, यथा—यज्ञ में इन्द्र के लिए स्थापित स्थूणा को भी तादर्थ्य सम्बन्ध से 'इन्द्र' कह दिया जाता है। कहीं पर स्वस्वामिभाव रूप सम्बन्ध से लक्षणा होती है, जैसे राजकीय पुरुष को स्वस्वामिभाव रूप सम्बन्ध से 'राजा' कह दिया जाता है। कहीं पर अवयवावयविभाव सम्बन्ध से लक्षणा होती है जैसे 'अग्रहस्त' में केवल अग्रभाग के लिए अवयवावयविभाव रूप सम्बन्ध से 'हस्त' (हाथ) शब्द का प्रयोग होता है। कहीं तात्कर्म्य (उस कार्य के करने के कारण) सम्बन्ध से लक्षणा होती है, जैसे अतक्षा जो बढ़ई नहीं है अर्थात् बढ़ई से भिन्न ब्राह्मण आदि को भी बढ़ई का कार्य करने के कारण बढ़ई (तक्षा) कह दिया जाता है।

(सू० १७) लक्षणा तेन षड्विधा

आद्यभेदाभ्यां सह

लक्षणा के छः भेद

अनुवाद—(सू० १७) उक्त प्रकार से (तेन) लक्षणा छः प्रकार की है।

अनुवाद—आदि के दोनों भेदों के साथ (लक्षणा) छः प्रकार की होती है।

विमर्श—आचार्य मम्मट ने लक्षणा के छः भेद प्रतिपादित किये हैं। प्रथम वे लक्षणा के दो भेद करते हैं—उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा। ये दोनों भेद शुद्धा लक्षणा के हैं। इसके बाद लक्षणा के सारोपा और साध्यवसाना ये दो भेद और करते हैं। ये दोनों शुद्धा और गौणी भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। अतः इनके चार भेद हुए—(१) शुद्धा सारोपा (२) शुद्धा साध्यवसाना (३) गौणी सारोपा (४) गौणी साध्यवसाना। इस प्रथम दो भेदों उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा के साथ इन चारों भेदों शुद्धा सारोपा, शुद्धा साध्यवसाना, गौणी सारोपा और गौणी साध्यवसाना के मिला देने से लक्षणा छः प्रकार की होती है। इन छः भेदों को निम्न चक्र द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

लक्षणा

शुद्धा — गौणी

उपादान-लक्षणा — लक्षणलक्षणा — शुद्धा सारोपा — शुद्धा साध्यवसाना — गौणी सारोपा — गौणी साध्यवसाना

कुन्ताः प्रविशन्ति — गंगायां घोषः — आयुर्घृतम् — आयुरेवेदम् — गौर्वाहीकः — गौरयम्

वामनाचार्य झलकीकर लक्षणा के षट् भेदों की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि प्रथम लक्षणा के दो भेद होते हैं—शुद्धा और गौणी। इनमें शुद्धा के दो भेद होते हैं—उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा। ये दोनों भी सारोपा और साध्यवसाना भेद से दो दो प्रकार की हैं। इस प्रकार शुद्धा लक्षणा के कुल चार भेद हुए। गौणी लक्षणा के भी दो भेद होते हैं—सारोपा और साध्यवसाना। इस प्रकार लक्षणा के कुल छः भेद होते हैं, जिनका स्पष्टीकरण अग्रांकित चक्र द्वारा होता है—
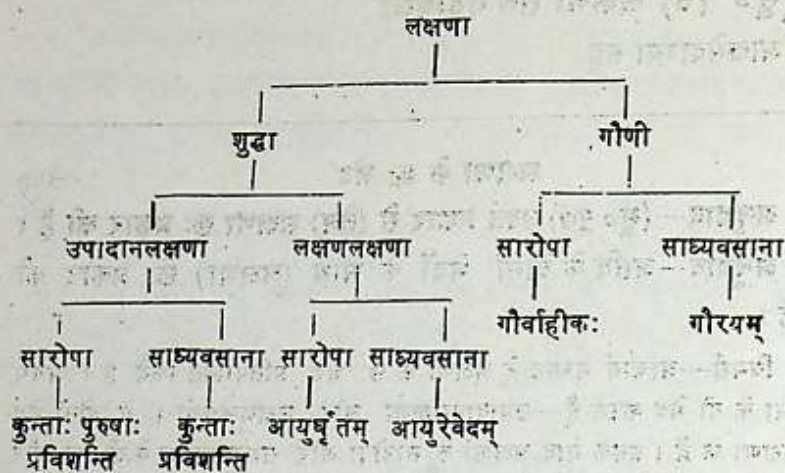
नरसिंह ठक्कुर आदि टीकाकारों का मत है कि यद्यपि लक्षणा के निरूढ़ा और प्रयोजनवती ये दो भेद भी पाये जाते हैं, अतः शुद्धात्व आदि उपाधियों के द्वारा लक्षणा के छः ही भेद प्रतिपादन करना उचित नहीं प्रतीत होता। किन्तु उनका कथन है कि मम्मट ने जो निरूढ़ा और प्रयोजनवती ये दो भेद लक्षणा के प्रतिपादित किये हैं, उनमें प्रयोजनवती लक्षणा के शुद्धात्व उपाधियों से छः विभाग किये हैं। उन्हीं छः भेदों का यहाँ निरूपण है। निरूढ़ा लक्षणा के भेदों का तो आगे १८वें सूत्र में निरूपण किया जायगा, यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेदों का ही निरूपण किया गया है, इसलिए मम्मट ने 'लक्षणा षड्विधा' कहा है।

कहते हैं कि जब लक्षणा के अनेक भेद होते हैं तो मम्मट ने छः ही भेदों का निरूपण क्यों किया? इस पर नरसिंह ठक्कुर आदि टीकाकारों का कथन है कि मम्मट पदार्थ सामान्य का निरूपण के लिए प्रवृत्त नहीं हैं कि वे लक्षणा के समस्त भेदों का निरूपण करते, वे तो काव्यतत्त्व निरूपण में प्रवृत्त हैं, इसलिए, काव्योपयोगी छः भेदों का ही निरूपण करते हैं। इस प्रकार मम्मट का षड्विध भेद निरूपण उचित ही है। जैसा कि उपादान लक्षणा का अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्यध्वनि में, लक्षणलक्षणा का अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि में, गौणी सारोपा का रूपकालङ्कार में, गौणी साध्यवसाना का प्रथमातिशयोक्ति में, शुद्धा सारोपा का चतुर्थातिशयोक्ति में, शुद्धा साध्यवसाना का अन्य से विलक्षण कार्यकारित्वादि व्यंग्यरूप वस्तुध्वनि में उपयोग होता है। शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना का हेतु अलंकार में प्रयोग होता है, यह सारबोधिनीकार का मत है।

आचार्य मम्मट ने शब्दशक्ति निरूपण में मुकुलभट्ट का अनुसरण किया है। किन्तु उन्होंने मुकुलभट्ट के जिन सिद्धान्तों से सहमत नहीं थे, उनका तो खण्डन किया है और जिन सिद्धान्तों से सहमत थे, उनका अपने ग्रन्थ में उपयोग किया है। लक्षणा निरूपण के अवसर पर तो मुकुलभट्ट के मत का विशेष उपयोग किया है; किन्तु लक्षणा के भेद निरूपण में मम्मट मुकुलभट्ट से सहमत नहीं दिखाई देते, इसीलिए उन्होंने मुकुलभट्ट के अनुसार लक्षणा-भेद निरूपण नहीं किया है।

सा च—

(सू० १८) व्यंग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने।

प्रयोजनं हि व्यञ्जनव्यापारगम्यमेव

(सू० १९) तच्च गूढमगूढं वा।

गूढं यथा—तच्चेति व्यंग्यम्।

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।
उरो मुकलितस्तनं जघनमसम्बद्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥८॥

और वह लक्षणा—

अनुवाद—(सू० १८) रूढ़ि में व्यंग्य से रहित और प्रयोजन में व्यंग्य के सहित होती है।

क्योंकि प्रयोजन तो व्यञ्जना-व्यापार से ही गम्य (बोध्य) होता है (व्यञ्जनरूपो यो व्यापारस्तद्गम्यमेव—वामन)।

अनुवाद—(सू० १९) और वह व्यंग्य गूढ़ (सहृदयमात्रवेद्य) अथवा अगूढ़ (जनसाधारणवेद्य) होता है।

'तच्च' का अर्थ और वह व्यंग्यार्थ (होता है)।

अनुवाद—गूढ़ व्यंग्य का उदाहरण, जैसे—

'अहो, इस चन्द्रवदना के मुख पर मुस्कराहट खिल रही है, दृष्टि (चितवन) ने वक्रिमा (बाँकेपन) को वश में कर लिया है, गति (चाल) में हाव-भाव छलक रहे हैं, बुद्धि (मति) मर्यादा को छोड़ दी है, वक्षःस्थल पर स्तन उभर रहे हैं (खिल रहे हैं), जंघाएँ अवयवों के बन्ध से रतियोग्य हो रही हैं, इस प्रकार इस चन्द्रमुखी के शरीर में यौवन विलास कर रहा है ॥८॥

विमर्श—यह गूढ़व्यंग्य का उदाहरण है। किसी नवयौवना युवती को देखकर कोई युवक कह रहा है कि इस चन्द्रमुखी नायिका के मुख पर मुस्कराहट खिल रही है। किन्तु खिलना तो फूलों का धर्म है, मुख में उसका सम्बन्ध लक्षणा के द्वारा किया गया है यहाँ सौरभ आदि व्यंग्य है। दृष्टि में चेतन के धर्म वशीकरण का बाध होने से 'स्वाधीनता' लक्षित होती है. यहाँ अभिमत विशेष की ओर प्रवृत्ति व्यंग्य है। गति (चाल) में मूर्त्त द्रव के धर्म 'छलकने' का बोध होने से विभ्रम में बाहुल्य का

अगूढ़ यथा—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥१०॥

अत्रोपदिशतीति—

(सू० २०) तदेषा कथिता त्रिधा ॥१३॥

अव्यंग्या, गूढव्यंग्या, अगूढव्यंग्या च ।

लक्षणा से बोध होता है। यहाँ 'सकलमनोहारिता' व्यंग्य है। मति में चेतन के धर्म मर्यादा-त्याग का बाध होने से 'अधीरता' का लक्षणा के द्वारा बोध होता है यहाँ 'अनुरागातिशय' व्यंग्य है। स्तनों में मुकुलितत्व रूप पुष्प के धर्म का बाध होने से स्तनों की कठिनता (उभार) का लक्षणा के द्वारा बोध होता है, यहाँ 'आलिंगन-योग्यता' व्यंग्य है। जङ्घा में चेतन के धर्म उद्धुरता का बाध होने से 'विलक्षण रति-योग्यता' का लक्षणा से बोध होता है, यहाँ 'रमणीयता' व्यंग्य है। यौवनोद्‌गम में चेतन-धर्म 'मोद' का बाध होने से 'उत्कर्ष' लक्षित होता है, यहाँ 'स्पृहणीयता' व्यंग्य है। इस प्रकार यहाँ पर जो व्यंग्यार्थ है, वह जनसाधारणवेद्य नहीं है, वह तो केवल सहृदयजनों द्वारा ही वेद्य (समझने योग्य) है। अतः यहाँ गूढव्यंग्य है।

अगूढ़ व्यंग्य का उदाहरण है, जैसे—

अनुवाद—'लक्ष्मी' के सम्बन्ध (परिचय) से मूर्ख जन भी चतुरों के व्यवहार को समझने वाले हो जाते हैं। यौवन का मद ही कामिनी नारियों को रति विलास (ललित चेष्टाएँ) सिखा देता है ॥१०॥

यहाँ पर 'उपदिशति' यह पद अगूढ़व्यंग्य है।

विमर्श—यह अगूढ़व्यंग्य का उदाहरण है। यहाँ पर उपदेश देना चेतन का धर्म होने से यौवनमद में इसका होना असम्भव है, अतः सामान्य-विशेष-भाव सम्बन्ध से केवल आविष्कार (प्रकाशन, प्रकट करना) अर्थ लक्षित होता है। यहाँ बिना प्रयास के रतिचेष्टा का ज्ञान होना व्यंग्य है। यह साधारणजनवेद्य होने से अगूढ़व्यंग्य का उदाहरण है। नरसिंह ठक्कुर के अनुसार शब्द के द्वारा अज्ञात अर्थ का ज्ञापन उपदेश है, वह उपदेश चेतन का धर्म होने से यौवनमद में बाधित है, इसलिए विशेष (उपदेश पद) से अज्ञात ज्ञापन रूप सामान्य का लक्षणा के द्वारा बोध होता है। यहाँ पर सामान्य विशेष भाव सम्बन्ध है और बिना प्रयास शिक्षा का आदान व्यंग्य है। भाव यह कि उपदेश देना चेतन प्राणी का धर्म है अतः वागिन्द्रियरहित यौवनमद में उसका होना असम्भव है, इसलिए यहाँ पर लक्षणा के द्वारा 'उपदिशति' पद का आविष्कार, प्रकाशन करना रूप अर्थ लक्षित होता है।

अनुवाद—(सू० २०) **इस प्रकार यह लक्षणा तीन प्रकार कही जाती है, अव्यंग्या, गूढ़व्यंग्या और अगूढ़व्यंग्या।**

विमर्श—आचार्य मम्मट लक्षणा के उपाधिकृत छः भेदों के प्रतिपादन करने के पश्चात् अब लक्षणा के व्यंग्य-प्रयुक्त भेदों का निरूपण करते हैं। प्रथमतः लक्षणा के दो भेद होते हैं—रूढ़ि और प्रयोजन। इनमें रूढ़ि लक्षणा व्यंग्य से रहित और प्रयोजनवती व्यंग्य-सहित होती है। इस प्रकार लक्षणा के दो भेद हुए (१) अव्यंग्या रूढ़ि लक्षणा और (२) सव्यंग्या प्रयोजनवती। इनमें प्रयोजनवती लक्षणा व्यंजना व्यापार गम्य होती है। यहाँ प्रयोजन और व्यंग्य को एकार्थक माना गया है (**तथा च प्रयोजन-व्यंग्ययोरेकार्थत्वात्-वामनाचार्य**)। वह व्यंग्य दो प्रकार का होता है—गूढ़ और अगूढ़। इस प्रकार सव्यंग्या प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद होते हैं—(१) गूढ़-व्यंग्या और (२) अगूढ़व्यंग्या। जहाँ पर व्यंग्य छिपा रहता है, स्पष्ट नहीं रहता है और जिसका अनुभव (साक्षात्कार) सहृदय जन ही कर सकते हैं, वहाँ गूढ़व्यंग्या लक्षणा होती है और जहाँ पर व्यंग्य अर्थ स्पष्ट रहता है, साधारणजन भी जिसका अनुभव करते हैं, उसे अगूढ़व्यंग्या कहते हैं। इस प्रकार सव्यंग्या लक्षणा दो प्रकार की हुई—गूढ़व्यंग्या औय अगूढ़व्यंग्या। इन दोनों का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। इस प्रकार व्यंग्य प्रयुक्त लक्षणा के तीन भेद हुए—(१) अव्यंग्या (२) गूढ़व्यंग्या और अगूढ़व्यंग्या। मम्मट ने '**तदेषा कथिता त्रिधा**' सूत्र में इन्हीं तीन लक्षणा भेदों का प्रतिपादन किया है। व्यंग्यरूप उपाधि भेद से लक्षणा के ये तीन भेद कहे गये हैं। जिनका निम्न चक्र में स्पष्टीकरण किया गया है—

लक्षणा

रूढ़ि (अव्यंग्या) | प्रयोजनवती (सव्यंग्या)

गूढ़व्यंग्या | अगूढ़व्यंग्या

प्रदीपकार के अनुसार मम्मट के मत में शुद्धात्व आदि उपाधिभेद से लक्षणा के पूर्वोक्त छः भेद बताये गये हैं और व्यंग्यरूप उपाधि भेद से तीन भेद कहे गये हैं (अव्यंग्या, गूढ़व्यंग्या, अगूढ़व्यंग्या); किन्तु नरसिंह ठक्कुर के मतानुसार मम्मट के मत में लक्षणा के प्रथम दो भेद होते हैं—रूढ़ि लक्षणा और प्रयोजनवती। इनमें प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद पहिले प्रतिपादित किये जा चुके हैं। वे छः भेद गूढ़व्यंग्य और अगूढ़व्यंग्य के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के कुल बारह भेद होते हैं और रूढ़ि लक्षणा केवल एक प्रकार की होती है। इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के बारह भेद और रूढ़ि लक्षणा के एक भेद

(सू० २१) तद्भूर्लाक्षणिकः

'शब्दः' इति सम्बध्यते। तद्भूस्तदाश्रयः।

(सू० २२) तत्र व्यापारो व्यंजनात्मकः।

ालाकर म·नट के मत में लक्षणा के तेरह भेद होते हैं। निम्न चक्र में इन भेदों का
ष्ट निरूपण है—

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने लक्षणा के ८० भेद बताये हैं। प्रथम वे लक्षणा के दो भेद—करते हैं—रूढ़ि और प्रयोजनवती। पुनः रूढ़ि लक्षणा के आठ भेद करते हैं और प्रयोजनवती लक्षणा के बत्तीस भेद करते हैं। इस प्रकार उनके मत में लक्षणा के ४० भेद होते हैं-(८+३२=४०)। पुनः इन चालीस प्रकार की लक्षणाओं के पदगत और वाक्यगत रूप से दो-दो भेद करते हैं। इस प्रकार विश्वनाथ के मतानुसार लक्षणा के ८० भेद होते हैं।

अनुवाद—(सू० २१)—**इस लक्षणा का आश्रयभूत शब्द लाक्षणिक कहलाता है।**

यहाँ लाक्षणिक से शब्द का सम्बन्ध है अर्थात् लाक्षणिक शब्द। 'तद्भूः' का अर्थ उसका आश्रय है अर्थात् लक्षणा का आश्रय है।

अनुवाद—(सू० २२)—**उस लाक्षणिक शब्द में व्यंजनात्मक (व्यंजना रूप) व्यापार होता है।**

विमर्श—आचार्य मम्मट लक्षणा का निरूपण करने के बाद अब लाक्षणिक शब्द का निरूपण करते हैं। लक्षणा का आश्रयभूत शब्द लाक्षणिक शब्द कहलाता है। काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास के प्रारम्भ में वाचिक, लाक्षणिक और व्यंजक ये तीन प्रकार के शब्द बताये गये हैं (**स्याद्वाचिको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यंजकस्त्रिधा**)। इनमें वाचिक शब्द का स्वरूप पहिले बताया जा चुका है। यहाँ लाक्षणिक शब्द का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि लक्षणा का आश्रयभूत शब्द लाक्षणिक शब्द कहलाता है (तद्भूर्लाक्षणिकः)।

इस प्रकार वाचक और लाक्षणिक शब्द का निरूपण करने के पश्चात् अब व्यंजक शब्द का निरूपण करने के लिए व्यंजना का स्वरूप बतलाते हैं। उस लाक्षणिक शब्द में व्यंग्यार्थ को बोध करने वाला जो व्यापार है, वह व्यंजनात्मक व्यापार है। प्रदीपकार का कथन है कि व्यंजक शब्द का निरूपण करने के लिए व्यंजना का स्वरूप बतलाना आवश्यक है। वह व्यंजना दो प्रकार की होती है—शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना। इनमें अन्तिम आर्थी व्यंजना का प्रकृत में (शब्द निरूपण के प्रसंग में) उपयोग न होने से आगे तृतीय उल्लास में विवेचन किया जायगा। प्रथम शाब्दी व्यंजना के दो भेद होते हैं—अभिधामूला और लक्षणामूला। इनमें यद्यपि अभिधा के मुख्यवृत्ति होने तथा लक्षणा का भी आश्रय होने से अभिधामूला व्यंजना का प्रथम निरूपण करना चाहिए था; किन्तु अत्यन्त प्रसिद्ध प्रसंगानुकूल और व्यंग्यार्थफलक होने के कारण पहिले लक्षणामूलक व्यंजना का निरूपण करते हैं। वस्तुत: काव्यप्रकाशकार के लिए यही क्रम अपेक्षित था, क्योंकि उन्हें व्यंजना की सिद्धि करनी थी और व्यंजना को माने बिना लक्षणा का रहस्य स्पष्ट नहीं हो सकता, इसलिए मम्मट ने पहिले लक्षणामूला व्यंजना का निरूपण किया है।

मुकुलभट्ट ने प्रयोजन को लक्षणा का प्रयोजक हेतु माना है और पुण्यत्व-मनोहरत्व को लक्षणा का प्रयोजन माना है (**अत्र च लक्षणायाः प्रयोजनं तटस्थ…… पुण्यत्वमनोहरत्वादिप्रतिपादनम्—अभिधावृत्तमातृका**) किन्तु वे प्रयोजन की प्रतीति अभिधा के द्वारा नहीं मानते; बल्कि लक्षणा वृत्ति से मानते हैं जबकि मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्य प्रयोजन की प्रतीति व्यंजना वृत्ति के द्वारा मानते हैं। मुकुलभट्ट के अनुसार जब पुण्य-मनोहरस्वरूप प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा के द्वारा मानते हैं तो उनके मत में प्रयोजन लक्ष्यार्थ होगा। किन्तु वे तट को लक्ष्यार्थ मानते हैं अत: प्रयोजन को लक्ष्यार्थ नहीं माना जा सकता, तब उन्हें पुण्यत्व-मनोहरत्वादिविशिष्ट तट में लक्षणा मान लेनी चाहिए, मुकुलभट्ट का यही अभिप्राय प्रतीत होता है। किन्तु मम्मट ने सोलहवीं और सत्रहवीं कारिका में प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने का खण्डन कर दिया है और सत्रहवीं तथा अठारहवीं कारिका में पुण्य-मनोहरत्वादिरूप प्रयोजनविशिष्ट तट में लक्षणा मानने का भी निराकरण कर दिया है, अत: प्रयोजन की प्रतीति के लिए व्यंजना मानना आवश्यक है।

कुत इत्यत आह—

(सू० २३) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥१४॥
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ॥

प्रयोजनप्रतिपादियिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात्। न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो व्यापारः॥

तथाहि—

(सू० २४) नाभिधा समयाभावात्।

'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दाः संकेतिताः।

अनुवाद—'ऐसा क्यों ? इस पर कहते हैं।

(सू० २३)—जिस (प्रयोजन विशेष) की प्रतीति कराने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, केवल शब्द से गम्य उस प्रयोजन के विषय में व्यंजना के अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं है ॥१४॥

अनुवाद—प्रयोजन विशेष के प्रतिपादन करने की इच्छा से जहाँ लक्षणा द्वारा शब्द प्रयोग किया जाता है, वहाँ (अनुमानादि) अन्य के द्वारा उसकी प्रतीति नहीं होती; बल्कि उसी शब्द के द्वारा होती है। यहाँ व्यंजना के अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं हो सकता।

विमर्श—मम्मट का कहना है कि जिस शैत्य-पावनत्व रूप प्रयोजन की प्रतीति कराने के लिए लक्षणा अर्थात् लाक्षणिक शब्द का सहारा लिया जाता है, केवल लाक्षणिक शब्द से गम्य उस शैत्य-पावनत्व रूप प्रयोजन के विषय में व्यंजना के अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं हो सकता। अपितु व्यंजना व्यापार ही वह शक्ति है जिसके द्वारा शैत्य-पावनत्वरूप प्रयोजन की प्रतीति होती है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शैत्य-पावनत्व रूप अर्थ की प्रतीति तो अभिधा के द्वारा भी हो सकती है, अतः उसके लिए व्यंजना वृत्ति मानने की क्या आवश्यकता है ? इस शंका का निराकरण करने के लिए मम्मट कहते हैं—

नाभिधा समयाभावात्

अनुवाद—(सू० २४) समय अर्थात् संकेतग्रह न होने से अभिधा नहीं है।

अनुवाद—'गंगायां घोषः' इस उदाहरण में जो पावनत्व आदि धर्म तट आदि में प्रतीत होते हैं उनमें गंगा आदि शब्दों का संकेत नहीं किया गया है।

(सू० २५) हेत्वभावान्न लक्षणा ॥१५॥

मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः।

तथा च

**(सू० २६) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥१६॥**

यथा गंगाशब्दः स्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति, तद्वत् यदि तटेऽपि सबाधः स्यात्तत्प्रयोजनं लक्षयेत्। न च तटं मुख्योऽर्थः, नाप्यत्र बाधः, न च गंगाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः सम्बन्धः। नापि प्रयोजने लक्ष्ये किञ्चित्प्रयोजनम्। नापि गंगाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः।

विमर्श—मम्मट का कहना है कि शैत्य-पावनत्व आदि प्रयोजन की प्रतीति में अभिधाशक्ति समर्थ नहीं है। भाव यह कि 'गंगायां घोषः' शैत्य-पावनत्व रूप अर्थ की प्रतीति अभिधा के द्वारा नहीं हो सकती; क्योंकि अभिधा शक्ति में संकेतग्रह का होना आवश्यक है। 'गंगायां घोषः' इस उदाहरण में शैत्य-पावनत्व रूप अर्थ में गंगा शब्द का संकेतग्रह नहीं है और अभिधाशक्ति का व्यापार नहीं होता है, जहाँ शब्द का संकेत होता है। 'गंगायां घोषः' में गंगा शब्द लक्षणा के द्वारा तट रूप का बोध कराता है और तट में शैत्य-पावनत्व आदि की प्रतीति कराना लक्षणा का प्रयोजन है, अतः शैत्य-पावनत्व आदि की प्रतीति अभिधा के द्वारा नहीं हो सकती; क्योंकि शैत्य-पावनत्व रूप अर्थ में गंगा शब्द का संकेतग्रह न होने से अभिधा वृत्ति का विषय ही नहीं बनता। अब प्रश्न यह है कि यदि कहा जाय कि गंगा शब्द का तट में लक्षणा होने पर भी पुनः गंगा पद यह शैत्य-पावनत्व रूप अर्थ लक्षणा के द्वारा ज्ञात हो जायगा तो उसके लिए व्यंजना वृत्ति मानने की क्या आवश्यकता है। इस शंका का निराकरण करते हुए मम्मट कहते हैं—

हेत्वभावान्न लक्षणा

अनुवाद—(सू० २५) हेतुओं के न होने से लक्षणा भी नहीं है ॥१५॥

अनुवाद—(वृत्ति) मुख्यार्थ का बाध आदि तीन हेतु हैं।

अनुवाद—(सू० २६)—(और भी) यहाँ पर लक्ष्यार्थ मुख्य अर्थ नहीं है, उसका यहाँ बाध भी नहीं है, और न (पावनत्वादि) फल के साथ सम्बन्ध ही है और न इसमें कोई प्रयोजन है तथा न शब्द स्खलद्गति ही है ॥१६॥

अनुवाद—जैसे गंगा शब्द प्रवाहरूप अर्थ में बाधित होकर लक्षणा से तट रूप अर्थ का बोध कराता है, उसी प्रकार यदि तट में भी बाधित होता तो प्रयोजन को लक्षणा से बोध करा सकता था, किन्तु न तो तट मुख्य अर्थ है, न उसका बाध ही है और न गंगा शब्द के अर्थ तट का पावनत्व आदि लक्षणीय के साथ सम्बन्ध है और न प्रयोजन के लक्ष्यार्थ मानने में कोई अन्य प्रयोजन ही है और न गंगा शब्द तट के समान प्रयोजन का प्रतिपादन करने में असमर्थ है।

विमर्श—प्रश्न यह है कि यदि अभिधा के द्वारा शैत्य-पावनत्व रूप प्रयोजन की प्रतीति सम्भव नहीं है तो लक्षणा के द्वारा उसकी प्रतीति मान ली जाय। 'गंगायां घोष:' यहाँ पर पहले गंगा शब्द लक्षणा के द्वारा तट रूप अर्थ को उपस्थित करेगा, फिर गंगा शब्द शैत्य-पावनत्व रूप अर्थ को लक्षित करेगा, इस प्रकार लक्ष्य की सिद्धि हो जायगी तो व्यंजना मानने की क्या आवश्यकता है ? इस पर मम्मट कहते हैं कि मुख्यार्थबाध आदि हेतुत्रय के न होने से यहाँ लक्षणा नहीं होगी। मम्मट ने लक्षणा के तीन हेतु बताये हैं—मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ से सम्बन्ध, और रूढ़ि या प्रयोजन। लक्षणा में इन तीन हेतुओं का होना आवश्यक है। यहाँ उक्त मुख्यार्थ बाधादि तीनों हेतुओं के न होने से शैत्य-पावनत्वादिरूप अर्थ की प्रतीति लक्षणा के द्वारा नहीं हो सकती।

लक्षणा का प्रथम हेतु मुख्यार्थ बाध है। यहाँ पर मुख्यार्थ बाध नहीं है, क्योंकि यदि शैत्य-पावनत्वरूप अर्थ को यदि लक्ष्यार्थ मानते हैं तो तट रूप अर्थ को मुख्यार्थ मानना पड़ेगा; किन्तु तटरूप अर्थ तो लक्ष्यार्थ है, मुख्यार्थ नहीं; यदि उसे किसी प्रकार मुख्यार्थ मान भी लिया जाय तो लक्षणा के पूर्व मुख्यार्थ का बाध होना चाहिए, किन्तु यहाँ पर मुख्यार्थ-बाध भी नहीं है; क्योंकि तट पर तो घोष रहता ही है (तटे घोषाधिकरणत्वादसम्भवरूपो बाधोऽपि न-बालबोधिनी)। अत: यहाँ लक्षणा नहीं हो सकती।

लक्षणा का द्वितीय हेतु मुख्यार्थयोग अर्थात् मुख्यार्थ से सम्बन्ध है। यहाँ पर मुख्यार्थ योग भी नहीं है। क्योंकि यदि शैत्य-पावनत्व आदि को लक्ष्यार्थ मान भी लिया जाय तो तट रूप अर्थ को मुख्यार्थ मानना पड़ेगा और उसके साथ शैत्य-पावनत्व रूप लक्ष्यार्थ का साक्षात् सम्बन्ध भी होना चाहिए, (लक्षणा-सम्बन्ध एव लक्षणा-प्रयोजनम्) किन्तु यहाँ शैत्य-पावनत्व आदि का तट रूप अर्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध भी नहीं है, उसका साक्षात् सम्बन्ध तो गंगा-प्रवाह के साथ है। अत: यहाँ पर द्वितीय हेतु भी न होने से लक्षणा नहीं हो सकती।

लक्षणा का तृतीय हेतु 'रूढ़ि' या 'प्रयोजन' है। यहाँ पर तृतीय हेतु भी नहीं है; क्योंकि शैत्य-पावनत्व आदि प्रयोजन को यदि लक्ष्यार्थ माना जायगा तो उसका

कोई अन्य प्रयोजन मानना पड़ेगा। इस प्रकार यदि प्रयोजन का भी प्रयोजन मानेंगे तो उसका भी कोई प्रयोजन मानना पड़ेगा और उसका भी अन्य प्रयोजन मानना पड़ेगा। इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायगा, अतः यहाँ पर रूढ़ि या प्रयोजन हेतु न होने से लक्षणा नहीं हो सकती।

इस प्रकार हेतुत्रय के अभाव में यहाँ लक्षणा नहीं होगी (**हेत्वभावान्न लक्षणा**)। अब प्रश्न यह उठता है कि मुख्यार्थबाधादि हेतुत्रय के अभाव में भी यहाँ लक्षणा क्यों न मान लिया जाय? क्योंकि जिस प्रकार गंगा शब्द प्रवाह रूप मुख्यार्थबाधादि के साथ लक्षणा के द्वारा तट रूप अर्थ को बोध कराता है, उसी प्रकार गंगा शब्द तट रूप अर्थ का लक्षणा के द्वारा बोध कराकर उसे (लक्षणा) सामग्री से शैत्य-पावनत्व रूप अर्थ का बोध करा दे, इसमें क्या आपत्ति है? इस पर कहते हैं कि यदि शैत्य-पावनत्व रूप प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मान भी लिया जाय तो भी शब्द का 'स्खलद्गति' होना आवश्यक है। जैसे 'गंगायां घोषः' में गंगा शब्द का लक्ष्यार्थ तट है किन्तु मुख्यार्थबाधादि के बिना गंगा शब्द तट का बोध कराने में असमर्थ है, अतः तट रूप अर्थ के बोध कराने में गंगा शब्द 'स्खलद्गति' है अतः वह लक्षणा के द्वारा तट रूप अर्थ का बोध कराता है। किन्तु शैत्य-पावनत्व आदि धर्म बिना मुख्यार्थ बाध के भी गंगा शब्द के अर्थ के साथ स्वयं प्रकट हो जाते हैं, अतः शैत्य-पावनत्व रूप अर्थ की प्रतीति लक्षणा से नहीं हो सकती।

आचार्य मम्मट ने 'स्खलद्गति' शब्द की व्याख्या करते हुए वृत्ति में लिखा है कि **'नापि गंगाशब्दः तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः'**। अर्थात् गंगा शब्द तट के समान प्रयोजन के प्रतिपादन में असमर्थ (स्खलद्गति) भी नहीं है। इस कथन का तात्पर्य यह कि जिस प्रकार गंगा शब्द मुख्यार्थबाधादि के बिना तट रूप अर्थ का प्रतिपादन करने में असमर्थ (स्खलद्गति) है, इस प्रकार शैत्यपावनत्वादि रूप प्रयोजन के प्रतिपादन में असमर्थ नहीं है, बल्कि समर्थ है। इसलिए प्रयोजन में 'स्खलद्गति' न होने से 'लक्षणा' नहीं हो सकती। कुछ विद्वान् उक्त वाक्य में 'असमर्थः' के स्थान पर 'समर्थः' पाठ मानते हैं (प्रयोजनप्रतिपादयितु समर्थः)। इस प्रकार का पाठ मानने पर "नापि गंगा शब्दः तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितु समर्थः" का अर्थ होगा, जिस प्रकार गंगा शब्द मुख्यार्थबाधादि के साथ तट रूप अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ है उस प्रकार शैत्य-पावनत्व रूप प्रयोजन का प्रतिपादन करने में समर्थ नहीं है। इसलिए शैत्य-पावनत्व रूप प्रयोजन में लक्षणा नहीं हो सकती।

यदि यह कहा जाय कि लक्षणा की बीज तात्पर्यानुपपत्ति है। अतः जिस प्रकार 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस उदाहरण में वक्ता को तात्पर्य दध्युपघातक प्राणियों से दही की रक्षा करने में होने से अन्वयानुपपत्ति में बाध है अतः यह लक्षणा का विषय है उसी प्रकार 'गंगायां घोषः' में 'गंगा के तट पर घोष है' इस कथन में वक्ता का तात्पर्य होने से शैत्य-पावनत्व आदि लक्षणा के विषय हो सकते हैं। दूसरे यह भी

(सू० २७) एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी ।

एवमपि प्रयोजनं चेल्लक्ष्यते तत् प्रयोजनान्तरेण, तदपि प्रयोजनान्तरेणेति प्रकृताप्रतीतिकृत् अनवस्था भवेत् ।

कहा जा सकता है कि जिस प्रकार प्रवाह रूप मुख्यार्थ का बाध होने से तट रूप अर्थ का लक्षणा के द्वारा बोध होता है उसी प्रकार प्रवाह रूप मुख्यार्थ का बाध होने से शैत्य-पावनत्व रूप अर्थ (प्रयोजन) का भी लक्षणा के द्वारा बोध हो जायगा, क्योंकि यहाँ पर भी तीरनिष्ठ शैत्य-पावनत्व रूप लक्ष्यार्थ में घोषनिष्ठ पावनत्व आदि प्रयोजन संभव है किन्तु इस प्रकार प्रयोजन का प्रयोजन मानने पर अनवस्था दोष होगा। इसी बात को स्पष्ट करते हुए मम्मट कहते हैं—

अनुवाद (सू० २७)—इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायगा जो मूल का भी विनाश करने वाला है।

अनुवाद—इस प्रकार यदि प्रयोजन को भी लक्ष्यार्थ मानेंगे तो वह भी अन्य प्रयोजन से और भी वह अन्य प्रयोजन से (लक्ष्यार्थ होगा); इस प्रकार प्रस्तुत (तटादि अथवा शैत्य-पावनत्वादि रूप) अर्थ की भी अप्रतीति कराने वाली अनवस्था होगी।

विमर्श—उपर्युक्त कथन का तात्पर्य है कि यदि प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानते हैं तो वह अन्य प्रयोजन (प्रयोजनान्तर) से लक्ष्यार्थ होगा और वह प्रयोजन भी अन्य प्रयोजन रूप हेतु से लक्ष्यार्थ होगा, इस प्रकार प्रयोजन का प्रयोजन और प्रयोजन का प्रयोजन मानने की अविश्रान्त प्रयोजन-परम्परा में लक्षणा मानने पर अनवस्था दोष ही आ जायगा जो प्रस्तुत तटादि रूप अर्थ की प्रतीति में बाधा डालने वाली अर्थात् मूल का विनाश कर देने वाली अनवस्था होगी। यदि यह कहा जाय कि बीजांकुरन्याय से यहाँ पर अनवस्था दोष नहीं होगा, अर्थात् जिस पर बीज के प्रति अंकुर कारण माना जाता है और अंकुर के प्रति दूसरा बीज और उस बीज के प्रति दूसरा अंकुर उत्तरोत्तर कारण माने जाने पर अनवस्था दोष नहीं माना जाता, उसी प्रकार प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने पर दूसरा प्रयोजन और उस प्रयोजन के भी लक्ष्यार्थ होने पर दूसरा प्रयोजन हेतु मानने पर अनवस्था दोष नहीं होगा, अतः पावनत्वादि रूप प्रयोजन में लक्षणा मानी जा सकती है। किन्तु इस प्रकार की अनवस्था मूल को भी नष्ट करने वाली है। इसलिए वह अनवस्था दोषरूप ही है। जैसी कि कहा गया है कि अनवस्थारूप दोष को मूल का नाश करने वाली है 'मूलक्षयकरीमाहुरनवस्थां तु दूषणम्' नरसिंह ठक्कुर का कथन है कि गंगा शब्द का तट में जो लक्षणा होती है उसकी प्रतीति न कराने वाली अनवस्था अनवस्थादोष है जो मूल का भी नाश करने वाली है।

ननु पावनत्वादिधर्मयुक्तमेव तटं लक्ष्यते, गंगायास्तटे घोषः इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा, तत्किं व्यंजनयेत्यत आह—

(सू० २८) प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ।।१७।।

कुत इत्यत आह—

(सू० २९) ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।

प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषयः फलं तु प्रकटता संवित्तिर्वा ।

विशिष्ट लक्षणा का खण्डन

अनुवाद—प्रश्न यह है कि पावनत्व आदि धर्म से युक्त ही तट लक्षित होता है और 'गंगा के तट पर घोष है' इससे अधिक अर्थ की प्रतीति प्रयोजन है। इस प्रकार प्रयोजन-विशिष्ट में लक्षणा हो सकती है तो व्यञ्जना मानने से क्या लाभ ? अर्थात् व्यञ्जना मानना व्यर्थ है, इस पर कहते हैं—

अनुवाद—(सू० २८) प्रयोजन के सहित (तट को) लक्ष्यार्थ मानना उचित नहीं है क्यों ? इसलिए कहते हैं—

अनुवाद—(सू० २९) क्योंकि ज्ञान का विषय अन्य होता है और ज्ञान का फल (प्रयोजन) अन्य कहा गया है ।

अनुवाद—(वृत्ति) प्रत्यक्ष आदि का विषय नील आदि है और फल (मीमांसक के मत में) प्रकटता (ज्ञातता) अथवा (नैयायिक-मत में) संवित्ति (अनुव्यवसाय) होता है ।

विमर्श—लक्षणावादियों का कथन है कि लक्षणा केवल तट रूप अर्थ में नहीं होती, बल्कि शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजनविशिष्ट तट में लक्षणा होती है अर्थात् पावनत्वादि प्रयोजन सहित तट रूप अर्थ का लक्षणा के द्वारा बोध होता है। यदि यह कहा जाय कि पावनत्वादिधर्मविशिष्ट तट को लक्ष्यार्थ मानने पर प्रयोजनाभाव दोष होगा। इस पर कहते हैं कि 'गंगायाः तटे घोषः' (गंगा के तट पर घोष है) इस प्रयोग की अपेक्षा पावनत्वादिविशिष्ट तट रूप अर्थ की प्रतीति लक्षणा का प्रयोजन है। इसलिए पावनत्वादिविशिष्ट तट में लक्षणा हो सकती है, फिर इसके लिए अलग से व्यञ्जना-वृत्ति मानने की क्या आवश्यकता है ? इस शंका का निराकरण करते हुए मम्मट कहते हैं कि प्रयोजन सहित अर्थात् शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजनविशिष्ट में लक्षणा नहीं होगी, क्योंकि ज्ञान का विषय अलग होता है और ज्ञान का फल (प्रयोजन) अलग होता है। यहां पर लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय तट है और उसका फल (प्रयोजन) है शैत्य-पावनत्व। ये दोनों एक साथ मिल नहीं सकते, क्योंकि विषय और फल में कार्य-

कारणभाव सम्बन्ध होता है। अतः ज्ञान के विषय और फल में कार्यकारणभाव सम्बन्ध होने से दोनों की समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसलिए पावनत्वादिविशिष्ट तट में लक्षणा नहीं होगी।

इस प्रकार 'ज्ञान का विषय अन्य होता है और फल अन्य' इस सम्बन्ध में मीमांसक और नैयायिकों के अलग-अलग मत पाये जाते हैं। मीमांसक के मतानुसार विषय घट है और ज्ञान प्रकटता (ज्ञातता)। घट से 'अयं घटः' ज्ञान उत्पन्न होता है। 'अयं घटः' ज्ञान का विषय 'घट' है और फल ज्ञातता। मीमांसक घट से 'अयं घटः' ज्ञान की उत्पत्ति मातते हैं। घट से 'अयं घटः' ज्ञान हो जाने के बाद 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति से घट में ज्ञातता या प्रकटता नामक धर्म का भान होता है। यह धर्म ज्ञान के पूर्व घट में नहीं था। घटज्ञान हो जाने के बाद ही 'ज्ञातता' धर्म उत्पन्न होता। इस प्रकार 'ज्ञातता' का कारण ज्ञान है और ज्ञातता कार्य। अतः दोनों में कार्यकारणभाव है। कार्यकारण भाव सिद्धान्त के अनुसार कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, अतः ज्ञातता की उत्पत्ति भी ज्ञान रूप कारण से होती है। भाव यह कि 'अयं घटः' इस प्रकार घट ज्ञान हो जाने के बाद ही 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रकार की प्रतीति होती है। यह प्रतीति तभी संभव है है जबकि ज्ञान से घट में कोई विशेषता उत्पन्न हो, यह विशेषता ज्ञानजन्य एक विशेष धर्म है जिसे मीमांसक प्रकटता या ज्ञातता कहते हैं। इस प्रकार 'अयं घटः' ज्ञान का विषय घट है और फल है ज्ञानजन्य ज्ञातता। यही मीमांसकों का 'ज्ञातता' सिद्धान्त है।

नैयायिकों के अनुसार इन्द्रिय और घट के सन्निकर्ष से जो 'अयं घटः' ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'व्यवसायात्मक' ज्ञान कहते हैं। और अयं घटः' ज्ञान के पश्चात् 'घटमहं जानामि' अथवा 'घटज्ञानवानहम्' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, उसे 'अनुव्यवसाय' ज्ञान कहते हैं। उसे ही मम्मट 'संवित्ति' कहते हैं। इस प्रकार 'अयं घटः' इस ज्ञान का विषय 'घट' है और फल (प्रयोजन) अनुव्यवसाय (संवित्ति) है। भाव यह है पहिले इन्द्रिय और घट के सन्निकर्ष से 'अयं घटः' ज्ञान होता है, इसलिए इसे 'व्यवसायात्मक' ज्ञान कहते हैं। उसके बाद 'अयं घटः' इस ज्ञान से 'घट-ज्ञानवानहम्' इस प्रकार का ज्ञान होता है। बाद में होने के कारण इसे 'अनुव्यव-साय' ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार नैयायिक मतानुसार दो ज्ञान होते हैं। प्रथम व्यव-सायात्मक ज्ञान (अयं घटः' वह ज्ञान) घट से उत्पन्न होता है, अतः उसका (अयं घटः ज्ञान का) विषय 'घट' है। दूसरा अनुव्यवसाय ज्ञान ('घटज्ञानवानहम्' अथवा घटमहं जानामि यह ज्ञान) व्यवसायात्मक ज्ञान (अयं घटः इस ज्ञान) से उत्पन्न होता है अतः उसका विषय 'घटज्ञान' है। यह अनुव्यवसाय ज्ञान ही फल है जिसे मम्मट 'संवित्ति' कहते हैं। इस प्रकार घटज्ञान का विषय घट और घट ज्ञान का फल 'अनुव्यवसाय' दोनों भिन्न-भिन्न हैं। अतः नैयायिकों के मत में भी ज्ञान का विषय (घट) और ज्ञान का फल (अनुव्यवसाय या संवित्ति) अलग-अलग होता है। यही नैयायिकों का अनुव्यवसाय सिद्धान्त है।

(सू० ३०) विशिष्टे लक्षणा नैवम् ।

व्याख्यातम्

(सू० ३१) विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥१६॥

तदादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधा-तात्पर्य-लक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः । तच्च व्यञ्जन-ध्वनन-द्योतनादिशब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम् ॥ एवं लक्षणामूलं व्यञ्जकत्वमुक्तम् ॥१८॥

मीमांसक घट से 'अयं घटः' ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं और नैयायिक भी घट से 'अयं घटः' ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं । इस प्रकार दोनों ही घट को ज्ञान का विषय मानते हैं, किन्तु फल के सम्बन्ध में दोनों में वैमत्य हैं । मीमांसक ज्ञान का फल 'ज्ञातता' मानते हैं जबकि नैयायिक ज्ञान का फल 'अनुव्यवसाय' मानते हैं और दोनों ही फल (ज्ञातता एवं अनुव्यवसाय) को 'अयं घटः' ज्ञान से जन्य मानते हैं अर्थात् मीमांसकाभिमत ज्ञातता और नैयायिकाभिमत अनुव्यवसाय दोनों ही ज्ञान जन्य है । किन्तु दोनों की क्रियाओं में समानता होने पर भी उनमें मौलिक भेद है । मीमांसकों की 'ज्ञातता' घटादि विषय में रहने वाला धर्म है और नैयायिकों का अनुव्यवसाय' आत्मा में रहने वाला धर्म है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ज्ञान का विषय अलग होता है और फल अलग । लक्षणाजन्य ज्ञान का विषय तट है और फल है पावनत्वादि । ये दोनों अलग-अलग हैं । इसलिए प्रयोजन-विशिष्ट में लक्षणा नहीं होगी ।

विशिष्ट लक्षणवादियों का कथन है कि यहाँ पर लक्षणा का प्रयोजन पावनत्वादि नहीं है, बलिक पावनत्वादि की प्रतीति है । जैसा कि 'प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषय फलं तु प्रकटता संवित्तिर्वा' इस कथन से ज्ञात होता है कि जो ज्ञान-जन्य होता है वही ज्ञान का फल है (फलत्वं हि जन्यत्वं) । यहाँ पर प्रकटता या संवित्ति रूप फल घटज्ञान जन्य है ।

अनुवाद—(सू० ३०) इस प्रकार प्रयोजनविशिष्ट में लक्षणा नहीं होती ।

अनुवाद—(सू० ३१) किन्तु विशेष (पावनत्वादि) लक्षित अर्थ हो सकते हैं ॥१६॥

अनुवाद—(वृत्ति)—तट आदि (लक्ष्यार्थ) में जो पावनत्व आदि विशेष (धर्म) हैं, वे अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से भिन्न व्यापार से गम्य हैं और व्यञ्जन, ध्वनन, द्योतन आदि शब्दों से वाच्य व्यंजना-व्यापार अवश्य मानना चाहिए । इस प्रकार लक्षणामूला व्यंजना का वर्णन कर दिया गया ।

अभिधामूलं त्वाह—

(सू० ३२) अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यै रवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥१९॥

विमर्श—प्रश्न यह है कि इस प्रकार शैत्य-पावनत्वादि धर्म यदि लक्ष्यार्थ नहीं है तो उसकी प्रतीति कैसे होगी ? इसका निराकरण करते हुए कहते हैं कि लक्षणा के द्वारा बोधित तटादि रूप अर्थ में शैत्य-पावनत्व रूप विशेष धर्म की प्रतीति हो सकती है। भाव यह कि तटादि रूप लक्ष्यार्थ में जो पावनत्व आदि विशेष धर्म प्रतीत होते हैं वे अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से भिन्न व्यापार अर्थात् व्यंजना व्यापार से गम्य (बोध्य-प्रतीत) होते हैं। इस प्रकार शैत्य-पावनत्व आदि धर्म और तट आदि धर्मी हुए और शैत्य-पावनत्व आदि तथा तट आदि का धर्म-धर्मि-भाव सम्बन्ध हुआ; किन्तु ऐसा मानने पर शैत्य-पावनत्व आदि का तटादि के साथ धर्म-धर्मि-भाव सम्बन्ध ज्ञान के लिए एक अलग व्यापार की कल्पना करनी पड़ेगी; किन्तु जिस प्रकार नील विषय का नीलनिष्ठ प्रकटता (ज्ञातता) अथवा संवित्ति (अनुव्यवसाय) रूप फल होता है उसी प्रकार लक्षणा का भी लक्षणानिष्ठ कोई फल (प्रयोजन) होगा, इसलिए वहाँ पर धर्म-धर्मि-भाव सम्बन्ध ज्ञान के लिए व्यापारान्तर की कल्पना अनावश्यक है, इस बात को मन में रखकर मम्मट कहते हैं कि वह व्यापारान्तर व्यंजना व्यापार ही है, धर्म-धर्मि-भाव बोधन रूप अन्य कोई व्यापार नहीं है और वह व्यंजन-ध्वनन द्योतन आदि व्यापार है अर्थात् शब्द का वह व्यापार व्यंजन, ध्वनन, द्योतन, बोधन, प्रत्यायन, सूचन आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है, इसलिए व्यंजना-व्यापार मानना आवश्यक है।

अभिधामूला व्यंजना

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि व्यंजना दो प्रकार की होती है—शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना। इनमें शाब्दी व्यंजना के भी दो भेद होते हैं—लक्षणामूला और अभिधामूला। इनमें लक्षणामूला व्यंजना का निरूपण पहले किया जा चुका है। अब अभिधामूला-व्यंजना का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—(सू० ३२)—संयोगादि के द्वारा अनेकार्थक शब्दों के वाचकत्व के नियन्त्रित हो जाने पर अवाच्य (वाच्यार्थ से भिन्न) अर्थ की प्रतीति (बोध, धी) कराने वाला व्यापार व्यंजना कहलाता है ॥१९॥

विमर्श—मम्मट का कथन है कि जहाँ पर अनेकार्थक (अनेक अर्थ वाले) शब्द संयोग, वियोग आदि के द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर भी जो वाच्यार्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ की प्रतीति कराते हैं, उस अन्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला व्यापार व्यंजना व्यापार है, उसे ही अभिधामूला व्यंजना कहते हैं। सारबोधिनीकार

"संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ।।
इत्युक्तदिशा

का मत है कि वर्णसमूहात्मक पद की कहीं-कहीं अनेक अर्थों में शक्ति होती है, किन्तु वक्ता के द्वारा जिस अर्थ में उसका तात्पर्य (अभिप्राय) होता है, वही अर्थ वहाँ ग्रहण (उपस्थित) होता है और जब संयोगादि के द्वारा उसका (वाच्यार्थ का) किसी एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाता तथा उससे कभी-कभी जो अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, उसे अवाच्यार्थ कहते हैं, क्योंकि वह अभिधा के द्वारा उसका बोध नहीं हो सकता, क्योंकि अभिधा एक अर्थ में बोध कराने के बाद क्षीणशक्ति हो जाती है। अतः उस अवाच्यार्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति व्यंजना है। इसे ही अभिधामूला व्यंजना कहते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जिन संयोगादि के द्वारा अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाते हैं उन संयोगादि का अभिप्राय क्या है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए मम्मट भर्तृहरि-कृत वाक्यपदीय से दो कारिकाएँ उद्धृत करते हैं। भर्तृहरि ने उन कारिकाओं के आधार पर अनेकार्थक शब्दों का एकार्थ में नियन्त्रण करने के निम्नलिखित १४ कारण बताये हैं—

अनुवाद—(१) संयोग (२) विप्रयोग (३) साहचर्य (४) विरोधिता (५) अर्थ (६) प्रकरण (७) लिंग (८) अन्य शब्द की सन्निधि (९) सामर्थ्य (१०) औचित्य (११) देश (१२) काल (१३) व्यक्ति (लिंग) तथा (१४) स्वरादि।

विमर्श—ये संयोगादि अनेकार्थक शब्दों को एकार्थ में नियन्त्रित कर वाच्यार्थ अर्थात् विवक्षित अर्थ का ज्ञान कराते हैं। नागेशभट्ट संयोगादि का अभिप्राय व्यक्त करते हुए कहते हैं कि अनेकार्थक शब्दों के अर्थ निर्धारण में संदेह हो जाता है। तब संयोगादि के द्वारा अनेकार्थक शब्द के अनेक अर्थों में एक अर्थ का निश्चय (निर्णय) किया जाता है, इसलिए संयोगादि को विशेष स्मृति हेतु अर्थात् अर्थनिर्णय का हेतु कहा जाता है (**एते संयोगादयः शब्दार्थस्यानवच्छेदे सन्देहे तदपाकरणद्वारेण विशेषस्मृतिहेतवो निर्णयहेतव इत्यर्थः**)। नागेशभट्ट के अनुसार ये दोनों कारिकाएँ भर्तृहरि की हैं किन्तु भर्तृहरि की वाक्यपदीय में निम्न श्लोक मिलता है—

वाक्यात्प्रकरणादर्थादौचित्याद्देशकालतः ।
शब्दार्थाः प्रतिभज्यन्ते न रूपादेव केवलम् ।।

'सशंखचक्रो हरिः' 'अशंखचक्रो हरि' इति अच्युते। रामलक्ष्मणाविति दाशरथी। "रामार्जुनगतिस्तयोः' इति भार्गव-कार्त्तवीर्ययोः। 'स्थाणु भज भवच्छिदे' इति हरे। 'सर्वं जानाति देव' इति युष्मदर्थे। 'कुपितो मकर-ध्वजः' इति कामे। 'देवस्य पुरारातेः' इति शम्भौ। मधुना मत्तः कोकिलः' इति वसन्ते। 'पातु वो दयितामुखम्' इति साम्मुख्ये। 'भात्यत्र परमेश्वरः' इति राजधानीरूपाद् देशाद् राजनि। 'चित्रभानुर्विभाति' इति दिने रवौ, रात्रौ वह्नौ। 'मित्रं भाति' इति सुहृदि। 'मित्रो भाति' इति रवौ। इन्द्र-शत्रुरित्यादौ वेदे एव न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत्।

अर्थात् वाक्य, प्रकरण, अर्थ, औचित्य, देश और काल—ये शब्द के अर्थ को निर्धारित करने वाले हैं अर्थात् ये किसी भी शब्द के अर्थ-नियामक (या अर्थ-निर्धारक) होते हैं, कोई भी शब्द स्वरूपमात्र अर्थ का निर्धारक नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि उपर्युक्त दोनों श्लोक भर्तृहरि ने कहीं अन्यत्र से लिये हैं। सम्भवतः ये श्लोक व्याडि के हों और भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में संग्रह किया हो।

अनुवाद वृत्ति—'सशंखचक्रो हरिः' (शंख और चक्र से युक्ति हरि) यहाँ (संयोग से अशंखचक्रोहरिः) (शंख और चक्र से रहित हरि) यहाँ (विप्रयोग) से 'हरि' शब्द अच्युत (विष्णु) अर्थ में नियन्त्रित है, 'रामलक्ष्मणौ' (राम और लक्ष्मण) यहाँ (साहचर्य से) दोनों शब्द दशरथ पुत्र में, रामार्जुनगतिस्तयोः' अर्थात् उन दोनों की दशा राम और अर्जुन के समान है, यहाँ पर (विरोध से) दोनों शब्द क्रमशः भार्गव (परशुराम) और कार्त्तवीर्य में, 'भव (संसार) को पार करने के लिए स्थाणु को भजो' यहाँ 'स्थाणु' शब्द शिव में, 'देव सब जानते हैं' यहाँ 'देव' शब्द (प्रकरण से) 'आप' के अर्थ में, 'मकरध्वज कुपित है' यहाँ पर 'मकरध्वज' शब्द कामदेव में, 'देव पुराराति' यहाँ 'देव' शब्द (सान्निध्य से) शिव में, 'मधु से मतवाली कोयल' यहाँ 'मधु' शब्द (सामर्थ्य से) वसन्त में; 'प्रियामुख तुम्हारी रक्षा करे' यहाँ (औचित्य से) मुख्य शब्द साम्मुख्य अर्थ में, 'भात्यत्र परमेश्वरः' यहाँ (देश विशेष के कारण) परमेश्वर शब्द राजा अर्थ में, 'चित्रभानु प्रकाशमान है' यहाँ पर चित्रभानु शब्द (काल विशेष में) दिन में सूर्य अर्थ में और रात्रि में अग्नि में; 'मित्रं भाति' यहाँ पर मित्र शब्द (नपुंसक होने से) सुहृद् अर्थ में और 'मित्रो भाति' यहाँ पर (पुंल्लिग होने से) मित्र शब्द सूर्य अर्थ में नियन्त्रित होता है। 'इन्द्र शत्रु' में वेद में ही स्वर अर्थ विशेष का वाचक होता है, काव्य में नहीं।

विमर्श—(१) **संयोग**—जैसे 'संशंखचक्रो हरिः' अर्थात् 'शंख और चक्र से युक्त हरि' इस उदाहरण में शंख और चक्र के साथ विष्णु का सम्बन्ध होने से 'हरि' शब्द विष्णु अर्थ में नियन्त्रित हो गया है। यद्यपि 'हरि' शब्द के यम, अनिल, इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा, विष्णु, सिंह, अश्व, सर्प, बन्दर आदि अनेक अर्थहोते हैं किन्तु यहाँ शंख और चक्र के साथ संयोग होने से 'हरि' शब्द का विष्णु अर्थ हो जाता है।

(२) **विप्रयोग**—जैसे 'अशंखचक्रो हरिः' अर्थात् 'शंख-चक्र से रहित हरि' इस उदाहरण में विप्रयोग के कारण 'हरि' शब्द 'विष्णु' का वाचक हो गया है। क्योंकि शंख और चक्र का वियोग विष्णु के साथ ही संभव है, यम, अनिल, इन्द्र आदि के साथ नहीं, इसलिए 'हरि' शब्द यहाँ विष्णु का वाचक है।

(३) **साहचर्य**—साहचर्य से भी अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है। जैसे 'रामलक्ष्मणौ' इस उदाहरण में 'लक्ष्मण' के साहचर्य से राम शब्द दशरथ पुत्र राम का वाचक हो जाता है। यद्यपि 'राम' शब्द के राम, परशुराम, बलराम आदि अनेक अर्थ होते हैं किन्तु यहाँ लक्ष्मण के साथ प्रयुक्त होने से राम शब्द का अर्थ दशरथ पुत्र राम होता है।

(४) **विरोधिता**—विरोध के कारण भी अनेकार्थ शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है। 'विरोधिता' का अर्थ है—प्रसिद्ध वैर। 'रामार्जुनगतिस्तयोः' अर्थात् 'उन दोनों की दशा राम और अर्जुन के समान है'। यहाँ पर राम और अर्जुन दोनों में प्रसिद्ध वैर के कारण 'राम' शब्द परशुराम अर्थ में और अर्जुन शब्द सहस्रबाहु कार्त्तवीर्य अर्थ में नियन्त्रित हो गया है।

(५) **अर्थ**—जहाँ अनेकार्थक शब्द किसी प्रयोजन से एक अर्थ में नियन्त्रित होता है वहाँ 'अर्थ' हेतु होता है। अर्थ रूप हेतु से भी अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित होता है। जैसे 'स्थाणुं भज भवच्छिदे' में भवच्छेद के कारण 'स्थाणु' के भजन का निर्देश है। 'स्थाणु' शब्द के शिव, ठूँठा पेड़ आदि अनेक अर्थ होते हैं किन्तु यहाँ भवच्छेदन (जगत् तारण) के लिए शिव का ही भजन हो सकता है, अतः यहाँ 'स्थाणु' शब्द एकमात्र शिव के अर्थ में नियन्त्रित हो गया है।

(६) **प्रकरण**—प्रकरण का अर्थ है प्रसंग, सन्दर्भ अथवा वक्ता-श्रोता की बुद्धिस्थता। प्रकरण के अनुसार भी अनेकार्थक शब्द एकार्थ में नियन्त्रित हो जाता है। जैसे—किसी राजा को सम्बोधित कर कोई कहता है कि 'सर्वं जानाति देवः' अर्थात् 'देव सब जानते हैं' यहाँ पर अनेकार्थक 'देव' शब्द प्रसंग के अनुसार राजा या महाराज अर्थ में नियन्त्रित हो गया है।

(७) **लिंग**—लिंग अर्थात् चिह्न विशेष को देखकर भी अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित होता है। जैसे—'कुपितो मकरध्वजः' अर्थात् मकरध्वज कुपित है। मकरध्वज के समुद्र, कामदेव, औषधि विशेष आदि अनेक अर्थ होते हैं किन्तु कोप रूप

लिंग या चिह्न विशेष के कारण 'मकरध्वज' शब्द कामदेव के अर्थ में नियन्त्रित हो गया है।

(८) **अन्य शब्द की सन्निधि**—किसी अन्य शब्द के सान्निध्य के कारण भी अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है। प्रदीपकार का कथन है कि जहाँ किसी अनेकार्थक शब्द के साथ किसी निश्चितार्थक शब्द का समानाधिकरण्य होता है वहाँ वह अनेकार्थक शब्द अपने समानाधिकरण शब्द के द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है। जैसे 'देवस्य पुरारातेः' इस उदाहरण में देव शब्द अनेकार्थक होने पर भी 'पुराराति' शब्द के समानाधिकरण्य या सान्निध्य से शिव अर्थ में नियन्त्रित हो गया है।

(९) **सामर्थ्य**—सामर्थ्य का अर्थ है कारणता। सामर्थ्य के कारण भी अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है। जैसे 'मधुना मत्तः कोकिलः' अर्थात् कोयल मधु से मत्त है। 'मधु' शब्द के वसन्त, मकरन्द, शहद आदि अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु यहाँ पर कोयल की उन्मत्तता की कारणता या सामर्थ्य वसन्त ऋतु में होने से 'मधु' शब्द वसन्त ऋतु रूप अर्थ में नियन्त्रित हो गया है।

(१०) **औचित्य**—औचित्य का अर्थ है 'योग्यता'। औचित्य के कारण भी अनेकार्थक शब्द एकार्थ में नियन्त्रित हो जाता है। जैसे 'पातु वो दयितामुखम्' अर्थात् प्रिया का मुख तुम्हारी रक्षा करे। इस उदाहरण में मुख शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी औचित्य के कारण साम्मुख्य (अनुकूलता) अर्थ में नियन्त्रित हो गया है, क्योंकि कामिनी का साम्मुख्य (अनुकूलता) ही कामपीड़ितों की रक्षा में योग्यता है।

(११) **देश**—देश (स्थान) विशेष के कारण भी अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है, जैसे 'भात्यत्र परमेश्वरः' इस उदाहरण में 'अत्र' अर्थ राजधानी है परमेश्वर शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी राजधानी रूप देश विशेष के कारण यहाँ पर 'राज विशेष' अर्थ में नियन्त्रित हो गया है।

(१२) **काल**—समय विशेष के कारण भी अनेकार्थक एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है। जैसे 'चित्रभानुर्विभाति' इस उदाहरण में अनेकार्थक चित्रभानु शब्द दिन में प्रयुक्त होने पर 'सूर्य' अर्थ और रात्रि में प्रयुक्त होने पर 'अग्नि' अर्थ में नियन्त्रित हो गया है। अर्थात् दिन में प्रयोग करने पर चित्रभानु का अर्थ सूर्य होगा और रात्रि में प्रयोग करने पर 'अग्नि' अर्थ होगा।

(१३) **व्यक्ति**—व्यक्ति अर्थात् स्त्रीलिंग, पुल्लिग आदि के आधार पर अनेकार्थक शब्द एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है। जैसे 'मित्रं भाति' इस उदाहरण में नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होने के कारण 'मित्र' शब्द का अर्थ 'सुहृद्' हो गया और 'मित्रो भाति' इस उदाहरण में मित्र शब्द पुल्लिंग में प्रयुक्त होने से 'सूर्य' अर्थ को द्योतित करता है। क्योंकि कोशादि के अनुसार सुहृद् वाचक 'मित्र' शब्द नपुंसकलिंग होता है और 'सूर्य' अर्थ का वाचक मित्र पुल्लिग में प्रयुक्त होता है।

(१४) **स्वरादि**—स्वरादि का अभिप्राय है—उद्रात्त, अनुदात्तादि स्वर तथा अभिनय आदि। स्वर तो वेदों में ही अर्थ का नियामक होता है, काव्यशास्त्र में इसका कोई महत्त्व नहीं है। इसलिए इसका उदाहरण वेद में ही मिलता है। काव्य में नहीं, अतः मम्मट ने इसका उदाहरण नहीं दिया है।

स्वरभेद से अर्थ भेद का उदाहरण 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' है। यहाँ पर 'शत्रु' का अर्थ 'शातयिता' (मारने वाला) किया गया है। 'इन्द्रशत्रुः' पद में दो प्रकार के समास हो सकते हैं—प्रथम 'इन्द्रस्य शत्रुः शातयिता' (इन्द्र का मारने वाला), इस अर्थ में षष्ठी तत्पुरुष समास होता है। इस अर्थ में षष्ठी तत्पुरुष समास होने पर 'समासस्य' (पा० सू० ६।१।२२३) सूत्र से 'इन्द्रशत्रु' पद में अन्तोदात्त होता है। इस प्रकार अन्तोदात्त होने पर इसका 'इन्द्र का शत्रु वृत्रासुर की विजय (वृद्धि) हो' यह अर्थ होता है। द्वितीय 'इन्द्रशत्रु' पद में 'इन्द्रः शत्रुः (शातयिता) यस्य स इन्द्रशत्रुः' (इन्द्र जिसका शातयिता (हन्ता-मारने वाला) है। इस अर्थ में बहुव्रीहि समास होता है। बहुव्रीहि समास होने पर 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (पा० सू० ६।२।१) इस सूत्र से पूर्व पद पर उदात्त (आद्युदात्त) होता है। इस प्रकार आद्युदात्त होने पर 'इन्द्रशत्रु' पद का अर्थ 'इन्द्र ही जिसका शत्रु (हन्ता) है अर्थात् वृत्रहन्ता इन्द्र की वृद्धि (जय) हो' यह अर्थ होगा। यहाँ पर 'इन्द्रशत्रु' शब्द स्वरभेद के कारण 'इन्द्र' के अर्थ में नियन्त्रित हो गया है। अर्थात् 'इन्द्रशत्रु' शब्द षष्ठी तत्पुरुष समास होने पर अन्तोदात्त होने से 'वृत्रासुर' के अर्थ में और बहुव्रीहि समास होने पर आद्युदात्त होने से 'इन्द्र' अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है।

इस प्रकार मम्मट के अनुसार वेद में ही स्वर अर्थ का निर्णायक होता है, काव्य में नहीं। मम्मट के इस कथन पर आक्षेप करने वाले कुछ आलोचकों का कहना है कि उदात्तादि स्वर और काकु स्वर काव्य में भी अर्थ निर्णायक होते हैं। जैसा कि भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में कहा है कि—

> **उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः कम्पितस्तथा।**
> **वर्णाश्चत्त्वार एव स्युः पाठ्ययोगे तपोधनाः॥**

तत्र हास्यशृंगारयोः स्वरितोदात्तैर्वीररौद्राद्भुतेषूदात्तकम्पितैः करुणावात्सल्य-भयानकेष्वानुदात्तस्वरितकम्पितैर्वर्णैः पाठ्यमुपपाद्यमिति"॥

इस प्रकार भरतमुनि के अनुसार उदात्तादि स्वर पाठ्य के धर्म हैं और वे शृंगारादि रसों के प्रत्यायन में सहायक हैं और 'मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्' इत्यादि उदाहरण में काकुस्वर को भी विशेषार्थ- का व्यंजक कहा गया है। किन्तु मम्मटानुयायी विश्वनाथ आदि आचार्य कहते हैं कि उदात्तादिस्वर और काकुस्वर व्यंग्यरूप अर्थ विशेष के ही व्यंजक होते हैं किन्तु अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ में नियन्त्रक (नियामक) नहीं होते (**स्वराः काक्वादयः उदात्तादयो वा व्यंग्यरूपमेव विशेषं प्रत्यायमन्ति, न खलु प्रकृतोक्तमनेकार्थशब्दस्यैकार्थनियन्त्रणरूपं विशेषम्**—साहित्य-

आदि ग्रहणात्—

एद्दहमेत्तत्थणिआ एद्दह मेत्तेहिं अच्छिवत्तेहिं ।
एद्दहमेत्तावत्था एद्दहमेत्तेहिं दिअएहिं ॥११॥

['एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम् ।
एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः'] ॥११॥

इति संस्कृतम् ॥

इत्यादावभिनयः ।

दर्पण) । इसके अतिरिक्त श्लेष-वर्णन के प्रसंग में जहाँ प्रकरणादि के द्वारा अनेकार्थक शब्द का अर्थ-निर्णय असंभव हो, वहाँ यदि पाठ्यानुरूप स्वर से किसी एक अर्थ का निर्णय कर लिया जाय तो ऐसे स्थान पर श्लेष अलंकार का विषय ही नहीं रहेगा, जबकि ऐसे प्रसंग श्लेषालंकार के विषय होते हैं । इसीलिए श्लेषालंकार निरूपण प्रसंग में मम्मट ने कहा है कि काव्य के क्षेत्र में स्वर का कोई काम नहीं है (**काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते**) । इसी प्रकार काकुस्वर भी अर्थ विशेष के ही व्यंजक होते हैं जैसा कि प्रदीपकार का कथन है कि काकुस्वर का काव्य आदि में भले ही प्रयोग होता हो, किन्तु वे काव्यादि में अनेकार्थक पदों के अभिधा नियामक नहीं होते, अपितु वाच्यार्थ से भिन्न विलक्षण अर्थ के व्यंजक होते हैं (**काकुस्थले तु न न नानार्थाभिधानियमनं किं त्वपदार्थस्यैव व्यंजनम्** – काव्यप्रदीप) । 'मथ्नामि·····' इत्यादि स्थल पर काकुस्वर व्यंजना के द्वारा विशेषार्थ की व्यंजना होती है, न कि अभिधा के द्वारा । अतः काव्य में स्वर अथवा काकु अर्थ का निर्णायक नहीं होता ।

वाक्यपदीय की 'संयोगोविप्रयोगश्चेत्यादि' 'कारिका में 'कालो व्यक्तिः स्वरादयः' में 'आदि' पद से 'अभिनय' तथा 'अपदेश' का ग्रहण होता है । इस प्रकार 'अभिनय' अथवा हस्तादि चेष्टाओं के द्वारा भी अनेकार्थक पद के अर्थ का निर्णय होता है । जैसे—

अनुवाद—इतने बड़े स्तनों वाली, एतावन्मात्र (इतने बड़ी) नेत्रपुट से उपलक्षित; इतने ही दिनों में ऐसी अवस्था की हो गई ॥११॥

यहाँ पर अभिनय के द्वारा अर्थ का निर्णय होता है ।

विमर्श—चन्द्रिकाकार का कथन है कि सौन्दर्यातिशय से युक्त किसी नायिका के गुणों के सुनने मात्र से ही अनुरागयुक्त नायक के द्वारा उसकी अवस्था के सम्बन्ध में पूछे जाने पर कोई दूती नायिका के सौन्दर्य का वर्णन कर रही है (**सौन्दर्यातिशयशालिन्या नयनगोचरमगतायाः गुणश्रवणमात्रजनितानुरागेण नायकेनावस्थायां पृष्टायां दूत्या उक्तिरियमिति चन्द्रिकाकाराः**) । उद्योतकार के अनुसार चिरप्रवासी नायक से नायिका की अवस्था (दशा) का वर्णन करती हुई कोई दूती कहती है (**चिर-**

इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत्क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनं तत्र नाभिधा नियमनात्तस्याः। न च लक्षणा मुख्यार्थबाधाद्यभावात्, अपितु अञ्जनं व्यंजनमेव व्यापारः। यथा—

प्रवासिनि नायके नायिकावस्थां बोधयन्त्याः कस्याश्चिदुक्तिरियम्)। हस्तमुद्राओं के द्वारा अभिनय से नायिका के अवस्थादि का वर्णन करती हुई कोई दूती कह रही है—अभिनय के द्वारा हाथों के निर्देश से मात्र इतने बड़े स्तनों वाली, इस प्रकार कमलदल के समान नेत्रों वाली नायिका इतने ही दिनों में इतनी अवस्था की हो गई। यहाँ पर स्तनों के वर्णन में हाथ को आँवले के आकार का बनाकर, नेत्रों के वर्णन में हाथों को कमलदल के समान बनाकर अवस्था (वर्ष) के वर्णन में उँगुलियों को दिखाकर प्रदर्शित करना अभिनय है। इस प्रकार हस्तादि चेष्टा के द्वारा नायिका की अवस्था (दशा) का अनुकरण करना अभिनय है। यहाँ पर अभिनय के द्वारा अर्थ निर्णय किया गया है।

अभिनय के अतिरिक्त अपदेश से भी अर्थ निर्णय होता है। अपदेश का अर्थ है—हृदय पर हाथ रखकर विवक्षित अर्थ का निर्देश (आदेशो नाम हृदयनिहित—हस्तादिनाऽभिमतनिर्देशः)। यह अपदेश भी अभिमधानियामक होता है। जैसे—

इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्॥

यहाँ पर 'इतः' पद का वाचकत्व वक्ता में नियन्त्रित है, क्योंकि वक्ता ही अपने हृदय पर अपना हाथ रखकर अपनी ओर निर्देश कर रहा है। इसे अभिनय इसलिए नहीं कहा जा सकता कि यहाँ पर अनुकरण का अभाव है और अनुकरण होने पर ही अभिनय होता है (अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्)।

अनुवाद—इस प्रकार संयोगादि के द्वारा अनेकार्थक शब्द (अर्थान्तर) के बोधकत्व के निवारण हो जाने पर भी उस अनेकार्थक शब्द से जो कहीं दूसरे अर्थ का प्रतिपादन करता है वहाँ अभिधा नहीं हो सकती, क्योंकि उसका तो संयोगादि से, नियन्त्रण हो चुका है, और मुख्यार्थ बाध आदि हेतुओं के न होने से लक्षणा भी नहीं हो सकती, किन्तु अंजन अर्थात् व्यंजन व्यापार ही होता है। जैसे—

विमर्श—जैसा कि पहिले बताया जा चुका है कि संयोगादि के द्वारा अनेकार्थक शब्दों का एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है। कहते हैं कि जब अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर अन्य अर्थ का निवारण हो जाता है, तब वह शब्द वक्तृबोद्धव्य-वैशिष्ट्य (वक्ता-श्रोता की विशेषता के कारण) या कवि-कौशल से

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥१२॥

कहीं-कहीं किसी अन्य अर्थ की प्रतीति करा देता है—इस अन्य अर्थ (विशेषार्थ) की प्रतीति कराने वाला अभिधा-व्यापार नहीं हो सकता; क्योंकि वहाँ तो संयोगादि के द्वारा वाच्यार्थ का निर्धारण हो चुका है। यदि यह कहा जाय कि उस विशेषार्थ का बोध लक्षणा के द्वारा हो जायगा, तो यह भी नहीं हो सकता; क्योंकि मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग तथा रूढ़ि या प्रयोजन रूप हेतु यहाँ विद्यमान नहीं है और लक्षणा में मुख्यार्थबाधादित्रय का होना आवश्यक है। इसलिए विशेष अर्थ के बोध (प्रतीति) के लिए व्यंजना-व्यापार, मानना आवश्यक है। आगे अभिधामूला व्यंजना का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—(राजपक्ष में) सुन्दर रूप अथवा अन्तःकरण वाले, अनभिभवनीय शरीर से युक्त, अपने कुल की उन्नति करने वाले, बाण चलाने का सतत अभ्यास करने वाले, अबाध गति वाले तथा शत्रुओं का निवारण करने वाले, उस राजा का कर (हाथ) निरन्तर दान के (संकल्प के) जल से शोभित रहता था ॥१२॥

विमर्श—यहाँ पर राजा की प्रशंसा की गई है, अतः राजविषयक अर्थ ही यहाँ प्राकरणिक है। आगे प्रतीयमान अर्थ को कहते हैं जो अप्रस्तुत हाथी के पक्ष में होता है—

अनुवाद—(गजपक्ष में) भद्र जाति वाले, चढ़ने में कठिनाई से युक्त ऊँचे शरीर वाले उन्नत (विशाल) पृष्ठ दण्ड वाले, मदजल के कारण शिलीमुख (भ्रमरों) का संग्रह करने वाले, अभुद्धत गति वाले उत्तम (श्रेष्ठ) हाथी के सूड़ (कर) मदजल (दानाम्बु) से सिक्त होने निरंतर शोभित रहता है ॥१२॥

विमर्श—'भद्रात्मनः·····' यह श्लोक अभिधामूला व्यंजना का उदाहरण है। इस श्लोक में किसी राजा के दानशीलता का वर्णन है, जो प्राकरणिक अर्थ है। कवि कौशल के कारण इसका एक दूसरा अर्थ हाथी के पक्ष में भी होता है जिसे अप्राकरणिक या प्रतीयमान अर्थ कहते हैं। इस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति व्यंजना के द्वारा होती है। क्योंकि राजा के पक्ष में जो अर्थ होता है वह वाच्यार्थ है और उसकी प्रतीति अभिधा के द्वारा होती है। अतः राजपक्ष में होने वाला प्रतीयमान अर्थ अभिधा के द्वारा बोध्य नहीं है, क्योंकि अभिधा वाच्यार्थ का बोध कराकर विरत हो गई है। मुख्यार्थबाधादि हेतु न होने से लक्षणा भी नहीं होगी, अतः विशेषार्थ (प्रतीयमान अर्थ) के बोध के लिए व्यंजना व्यापार आवश्यक है।

(सू० ३३) तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः ।

तद्युक्तो व्यंजन युक्तः ।

(सू० ३४) ...यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।

अर्थोऽपि व्यंजकस्तत्र सहकारितयामतः ॥२०॥

तथेति व्यंजकः ।

इति काव्यप्रकाशे शब्दार्थस्वरूपनिर्णयो नाम द्वितीय उल्लासः ॥२॥

व्यंजक शब्द

आचार्य मम्मट लक्षणामूला तथा अभिधामूला शाब्दी व्यंजना को निरूपण करने के बाद व्यंजक शब्द का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—(सू० ३३) उस व्यंजना से युक्त शब्द व्यंजक शब्द कहलाता है । उससे युक्त अर्थात् व्यंजना से युक्त ।

अनुवाद—(सू० ३४) क्योंकि वह शब्द दूसरे अर्थ के योग से उस प्रकार का व्यंजक होता है, इसलिए काव्य में शब्द का सहकारी होने से अर्थ भी व्यंजक होता है ॥२०॥

विमर्श—मम्मट का कथन है कि व्यंजन व्यापार से युक्त शब्द व्यंजक कहलाता है । इस पर कहते हैं कि केवल शब्द ही व्यंजक नहीं होता, बल्कि अर्थ भी व्यंजक होता है । क्योंकि वह (अर्थ) शब्द का सहकारी होता है । इसी प्रकार शब्द भी अर्थ का सहकारी होता है । इस प्रकार वाच्यार्थ भी प्रतीयमान अर्थ का व्यंजक होता है । इसीलिए व्यंजना के दो भेद बताये गये हैं—शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना ।

इस प्रकार काव्यप्रकाश में शब्दार्थ-स्वरूप निर्णय नामक द्वितीय उल्लास समाप्त ।

इस प्रकार डा० पारसनाथद्विवेदिकृत काव्यप्रकाश की हिन्दी व्याख्या में शब्दार्थस्वरूप निर्णय नामक द्वितीय उल्लास समाप्त हुआ ॥२॥

अथ तृतीय उल्लासः

(अर्थव्यंजकता-निर्णयः)

(सू० ३५) अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्

अर्था वाच्य-लक्ष्य-व्यंग्याः । तेषां वाचक-लाक्षणिक-व्यंजकानाम् ।

आर्थी-व्यंजना

आचार्य मम्मट ने द्वितीय उल्लास में वाचक, लक्षकव्यंजक तीन प्रकार के शब्द और वाच्य, लक्ष्य; व्यंग्य तीन प्रकार के अर्थों का निरूपण किया है। उन्होंने उक्त तीन प्रकार के अर्थों को बोध कराने वाली अभिधा, लक्षणा और व्यंजना त्रिविध शक्तियाँ स्वीकार की हैं। इनमें व्यंजना एक व्यापक शक्ति है। काव्यप्रकाशकार ने वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य रूप त्रिविध अर्थों की व्यंजकता स्वीकार की है। उनके अनुसार व्यंजना के दो भेद हैं—शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना। इनमें शाब्दी-व्यंजना दो प्रकार की होती है—अभिधामूला और लक्षणामूला। ये दोनों शब्द के व्यापार हैं, शब्द निष्ठ हैं, इसलिए इन्हें शाब्दी-व्यंजना कहते हैं। वस्तुतः ध्वनिवादी आचार्यों ने ही शब्द-वैचित्र्य का रहस्य समझा और उसके मूल में देखा शाब्दी व्यंजना का स्वरूप। किन्तु शब्दनिष्ठ यह व्यंजना व्यापार काव्य का उपकरण है। इससे काव्य में सौन्दर्य का आभास होता है। अलंकारमहोदधिकार ने इसे आपातरम्य अर्थ कहा है। इसी से काव्य में विशेष चमत्कारजनक अर्थ का आभास होता है जो सहृदयों को आनन्द देने वाला है, जिसमें कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का उन्मेष है और जिसके द्वारा काव्य में कवित्व आता है. काव्य का आन्तरिक सौन्दर्य निखरता है, कवियों की कला चमकती है और कवि महाकवि बन जाता है। यह अर्थ-वैचित्र्य ही पर्यन्तरम्य अर्थ है और इसी अर्थ-वैचित्र्य के मूल में आर्थी-व्यंजना का मूल निहित है, आचार्य यहाँ इसी आर्थी-व्यंजना का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—(सू० ३५)—**उनके अर्थात् वाचक, लक्षक और व्यंजक शब्दों के वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य रूप अर्थ पहले (द्वितीय उल्लास में) बताये जा चुके हैं ॥**

(सू० ३६) ······अर्थव्यंजकतयोच्यते ।

कीदृशीत्याह—

(सू० ३७) वक्तृ-बोद्धव्य-काकूनां वाक्य-वाच्यान्यसन्निधेः ॥२१॥
प्रस्ताव-देश-कालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥२२॥

बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः । काकुर्ध्वनेर्विकारः । प्रस्तावः कारणम् । अर्थस्य वाच्य-लक्ष्य-व्यंग्यात्मनः ।

वृत्ति—अर्थ वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य होते हैं और शब्द वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक होते हैं ।

(सू० ३६)- **यहाँ अर्थव्यंजकता (वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य रूप अर्थों की व्यंजना कैसे होती है, इसका निरूपण करते हैं ॥**

आर्थी-व्यंजना के भेद

वह अर्थ व्यंजकता किस प्रकार की (कैसी) है, इसका निरूपण करते हैं—

अनुवाद--(सू० ३७)—**वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य-सन्निधि, प्रस्ताव, (प्रकरण), देश, काल 'चेष्टा' आदि के वैशिष्ट्य से प्रतिभावान् सहृदयों को अन्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला जो अर्थ का व्यापार है, वह आर्थी-व्यंजना कहलाता है ॥२१-२२॥**

अनुवाद (वृत्ति)—बोद्धव्य का अर्थ प्रतिपाद्य है, काकु का अर्थ ध्वनि-विकार है । प्रस्ताव का अर्थ प्रकरण है, और अर्थ का अभिप्राय वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य रूप अर्थ है ।

विमर्श—आर्थी व्यंजना वक्तृ-बोद्धव्य आदि विशेषताओं के कारण इस प्रकार की होती है । यहाँ कालादेः में आदि पद से चेष्टादि का ग्रहण होता है । इस वक्तृ-बोद्धव्यादि विशेषताओं के कारण प्रतिभावान सहृदयों को एक विशेष अर्थ की प्रतीति होती है । यह अर्थविशेष ही सहृदयों के हृदय को स्पर्श करता हुआ काव्य-सौन्दर्य को तरंगायित करता है । ध्वनिवादी आचार्य इसे प्रतीयमान अर्थ कहते हैं । इस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति करने वाला व्यापार आर्थी व्यंजना कहलाता है । इस प्रकार वक्तृ-बोद्धव्यादि के वैशिष्ट्य से आर्थी-व्यंजना के निम्नलिखित दस भेद होते हैं—

क्रमेणोदाहरणानि—

१. अइपिहुलं जलकुंभं घेत्तूण समागदह्मि सहि तुरिअम् ।
समसे असलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम् ॥१३॥

[अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागतास्मि सखि त्वरितम् ।
श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् ॥१३॥]

अत्र चौर्यरतगोपनं व्यज्यते ।

२. ओण्णिदं दोब्बल्लं चिन्ता अलसत्तणं सणीससिअम् ।
मह मन्द भाइणीए केरं सहि तु वि अहह परिहवइ ॥१४॥

[औन्निद्र्यं दौर्बल्यं चिन्तालसत्त्वं सनिःश्वसितम् ।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति ॥१५॥]

अत्र दूत्यास्तत्कामुकोपभोगो व्यज्यते ।

---

१. वक्तृ-वैशिष्ट्य
२. बोद्धव्य-वैशिष्ट्य
३. काकु-वैशिष्ट्य
४. वाक्य-वैशिष्ट्य
५. वाच्य-वैशिष्ट्य
६. अन्यसन्निधिवैशिष्ट्य
७. प्रस्ताव-वैशिष्ट्य
८. देश-वैशिष्ट्य
९. काल-वैशिष्ट्य
१०. चेष्टादि-वैशिष्ट्य

अब क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं—

१. वक्तृ-वैशिष्ट्य का उदाहरण

अनुवाद—'हे सखि ! मैं पानी के विशाल घड़े को लेकर जल्दी-जल्दी चली आ रही हूँ। परिश्रम के कारण पसीने की बूँदें और निःश्वास से परेशान हूँ, अतः थोड़ी देर विश्राम करूँगी' ॥१३॥

(वृत्ति)—यहाँ पर नायिका का चौर्यरत गोपन अभिव्यक्त हो रहा है।

विमर्श—कोई नायिका वक्ता के वैशिष्ट्य से चोरी की गई रति को छिपाने का प्रयास करती हुई अपनी सखि से कह रही है कि सखि ! मैं पानी से भरे इतने बड़े घड़े को लेकर जल्दी-जल्दी भागती हुई आई हूँ। इससे थकावट से पसीने और निःश्वास निकल रहे हैं। इस प्रकार बहाने बनाकर वह अपने चौर्यरत (सम्भोग) को छिपाना चाहती है। यह वक्ता के वैशिष्ट्य से व्यंग्य है। यहाँ पर वक्ता कामिनी नायिका है और चौर्यरत गोपन व्यंग्य है।

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भ निभृतं
गुरूः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥१५॥

अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्य इति काक्वा प्रकाश्यते। न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यम्। प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः।

२—बोद्धव्य-वैशिष्ट्य का उदाहरण

अनुवाद—हे सखि ! खेद है कि मुझ अभागिनी के कारण नींद न आना, दुर्बलता, चिन्ता, आलस्य, निःश्वास आदि (दुःख) तुम्हें भी भोगने पड़ रहे हैं ॥१४॥

यहाँ पर दूती का उस नायिका के कामुक के साथ सम्भोग व्यंग्य है।

विमर्श—जहाँ पर बोद्धा (श्रोता) की विशेषता के कारण व्यंग्य अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ बोद्धव्य-वैशिष्ट्य आर्थी-व्यंजना होती है। यहाँ पर बोद्धव्य कोई दूती है जिसकी दुष्ट चेष्टाएँ पहिले भी जानी गई हैं। यहाँ बोद्धव्य दूती के ज्ञात दुष्ट चेष्टा वैशिष्ट्य के कारण 'तुम्हें भी मेरे पति के साथ सम्भोग इष्ट है' इस प्रकार नायिका के पति के साथ दूती के संभोग की बात प्रकट हो रही है ॥

३—काकु-वैशिष्ट्य का उदाहरण

अनुवाद—'राजसभा में पाञ्चाल-पुत्री द्रौपदी उस प्रकार की (बाल और वस्त्र खींचे जाने की) अवस्था को देखकर, फिर वल्कल धारण कर चिरकाल तक व्याधों के साथ वन में रहे और विराट के घर पर अनुचित (पाचक आदि) कार्य करते हुए शान्त (चुप) रहे, (यह सब देखकर भी) युधिष्ठिर (गुरू) खिन्न (दुःखी) मुझ पर ही क्रोध कर रहे हैं, कौरवों पर नहीं' ॥१५॥

(वृत्ति)—यहाँ 'मुझ पर क्रोध करना उचित नहीं है, अपितु कौरवों पर क्रोध करना उचित है' यह काकु से प्रकट हो रहा है। यहाँ पर 'काकु' वाच्यार्थ की सिद्धि का अंग (साधन) है, इसलिए यहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य व्यङ्ग्य है, इस प्रकार की आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रश्नमात्र से ही काकु की विश्रान्ति हो जाती है ॥

विमर्श—'काकु' का अर्थ है ध्वनि का विकार (कण्ठ की बदली हुई ध्वनि) अर्थात् जब भावावेश के कारण अथवा किसी विशेष उद्देश्य से कण्ठ की ध्वनि में विशेष प्रकार का परिवर्तन हो जाता है, तो उसे 'काकु' कहते हैं (**भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते**)। काकु की विशेषता के कारण भी विशेष अर्थ की प्रतीति होती है। प्रस्तुत उदाहरण में भीम सहदेव से कह रहे हैं कि 'युधिष्ठिर अब भी मेरे ऊपर ही क्रोध कर रहे हैं, कौरवों पर क्रोध नहीं करते' यहवा च्यार्थ है; यहाँ काकु के द्वारा यह बात प्रकट होती है कि 'गुरू (युधिष्ठिर) को मुझ पर क्रोध करना उचित नहीं है, अपितु कौरवों पर क्रोध करना चाहिए'। यही व्यंग्यार्थ है और इसकी प्रतीति काकु के द्वारा होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि मम्मट ने गुणीभूतव्यंग्य के आठ भेद बताये हैं। उनमें वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यंग्य और काक्वाक्षिप्तव्यंग्य ये भेद भी स्वीकार किये गये हैं। वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यंग्य व्यंग्य वहाँ होता है जहाँ पर वाच्यार्थ अपनी सिद्धि के लिए व्यंग्यार्थ की अपेक्षा रखता है, अर्थात् जहाँ पर व्यंग्यार्थ वाच्यसिद्धि का अंग (साधन) होता है वहाँ वाच्यसिद्ध्यङ्ग नामक गुणीभूत व्यंग्य होता है। यहाँ पर (प्रस्तुत उदाहरण में) वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए व्यंग्यार्थ की अपेक्षा की गई है; क्योंकि काकु के द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर ही वाच्यार्थ की सिद्धि होती है। यहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि का अंग होने से गुणीभूत हो गया है। अतः यहाँ पर वाच्यसिद्धि का अंग होने से गुणीभूतव्यंग्य होना चाहिए। काक्वाक्षिप्त व्यंग्य वहाँ होता है जहाँ काकु के द्वारा आक्षिप्त व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के बाध को दूर करता है। प्रस्तुत उदाहरण में काकु के द्वारा व्यंग्यार्थ से आक्षिप्त होने से वह गुणीभूत (अप्रधान) हो गया है। इस प्रकार यहाँ पर काकु के द्वारा आक्षिप्त होने काक्वाक्षिप्त गुणीभूत-व्यंग्य होना चाहिए।

इस शङ्का का समाधान करते हुए मम्मट कहते हैं कि प्रस्तुत उदाहरण में व्यंग्यार्थ को वाच्यसिद्धि का अंग नहीं माना जा सकता; क्योंकि यहाँ प्रश्नमात्र से ही काकु की विश्रान्ति हो जाती है। तात्पर्य यह कि काकु के द्वारा प्रश्न की उद्भावना होने से 'क्या गुरू (युधिष्ठिर) मुझ पर क्रोध करते हैं, कौरवों पर नहीं ?' यह वाच्यार्थ सिद्ध होता है। तत्पश्चात् काकु के द्वारा 'गुरू (युधिष्ठिर) का मुझ पर क्रोध करना उचित नहीं, किन्तु कौरवों पर क्रोध चाहिए' यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है। इसलिए इसे वाच्यसिद्धि का अंग नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार काकु की विश्रान्ति प्रश्नमात्र में होने से व्यंग्यार्थ आक्षिप्त भी नहीं होता। इस प्रकार यहाँ काकु के द्वारा व्यंग्यार्थ के आक्षिप्त न होने से इसे काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यहाँ व्यंग्यार्थ काक्वाक्षिप्त नहीं है, अपितु प्रधान है। अतः इसे ध्वनिकाव्य का उदाहरण मानना चाहिए।

४. तइआ मह गंडत्थलणिमिअं दिट्ठि ण णेसि अण्णत्तो।
एण्हि सच्चेअ अहं ते अ कवाला ण सा दिट्ठी ॥१६॥

[तदा मम गण्डस्थलनिमग्ना दृष्टिं नानैषीरन्यत्र।
इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न सा दृष्टिः ॥१६॥]

अत्र मत्सखीं कपोलप्रतिबिम्बितां पश्यतस्ते दृष्टिरन्यैवाभूत्। चलितायांतु तस्यां अन्यैव जातेत्यहो प्रच्छन्नकामुकत्वं ते, इति व्यज्यते।

---

४. वाक्यवैशिष्ट्य का उदाहरण

अनुवाद—'उस समय मेरे कपोलों पर पड़ी हुई' (गड़ायी हुई) दृष्टि को अन्यत्र (दूसरी ओर) नहीं ले जा रहे थे। इस समय मैं वही हूँ, मेरे कपोल भी वही हैं किन्तु तुम्हारी वह दृष्टि नहीं है ॥१६॥

(वृत्ति) यहाँ पर 'मेरे कपोलों पर प्रतिबिम्बित मेरी सखी को देखते हुए तुम्हारी दृष्टि कुछ और ही थी, किन्तु उसके चले जाने पर कुछ और हो गई, इसलिए तुम्हारी प्रच्छन्न कामुकता विलक्षण है'। यह अर्थ ध्वनित (व्यक्त) हो रहा है।

विमर्श—यह वाक्य वैशिष्ट्य का उदाहरण है। जहाँ पर वाक्य की विशेषता के कारण **विशेष अर्थ** की प्रतीति होती है वहाँ 'वाक्वैशिष्ट्य' आर्थी-व्यंजना होती है। किसी नायक की दो प्रियतमाएँ एक स्थान पर हैं, नायक एक नायिका के भय से दूसरी नायिका को देखने में डर रहा है, किन्तु नायिका के स्वच्छ कपोलों पर दूसरी नायिका के प्रतिबिम्ब को देखकर उस पर (कपोल पर) नायक अपनी दृष्टि गड़ाये हुए है, किन्तु नायिका के चले जाने पर कपोलों पर उसका प्रतिबिम्ब न दिखाई देने पर नायक अपनी दृष्टि फेर लेता है, तब नायिका दृष्टि विकार से उसके भाव (प्रच्छन्नानुराग के रहस्य) को जानकर नायक को उलाहना देती हुई कहती है कि तब तक, जब तक तुम्हारी प्रच्छन्न प्रियतमा मेरे पास थी, और उसका प्रतिबिम्ब मेरे कपोलों पर पड़ रहा था, तुम्हारी दृष्टि मेरे कपोलों पर लगी हुई थी और तुम दूसरी ओर नहीं देख रहे थे; उस समय तुम्हारी दृष्टि निर्निमेष और स्निग्ध थी, किन्तु उसके जाते ही तुम्हारी दृष्टि बदल गई, मैं वही हूँ और मेरे कपोल भी वही हैं, किन्तु तुम्हारी दृष्टि वह नहीं रही, इस समय तुम्हारी दृष्टि सनिमेष और विषण्ण हो गई। इतने समय तक तुमने इस बात को छिपाया यह आश्चर्य है। यहाँ पर 'तदा' और 'इदानीम्' इन दोनों पदों के द्वारा नायिका की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति का प्रकट होना वाक्यवैशिष्ट्य है। इसी वाक्यवैशिष्ट्य के कारण 'तुम्हारी प्रच्छन्नकामुकता विलक्षण' है' यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है।

५. उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी,
कुंजोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदायाः,
किंचैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाताः।
येषामग्रे सरति कलिताऽकाण्डकोपो मनोभूः ॥१७॥

अत्र रतार्थं प्रविशेति व्यङ्ग्यम्।

---

५. वाच्यवैशिष्ट्य का उदाहरण

अनुवाद—**हे तन्वि ! नर्मदा का यह ऊँचा प्रदेश हरे-भरे केलों की पंक्तियों से सुशोभित और कुंजों (लता गृहों) के उत्कर्ष के कारण रमणियों के विभ्रम (हाव-भाव) को अंकुरित करने वाला है। यहाँ सुरत के मित्र (सहायक) वे हवाएं चलती हैं जिनके आगे अवसर न होने पर (अनवसर में) भी कोप करने वाला कामदेव चला करता है ॥१७॥**

(वृत्ति) अतः 'सुरत के लिए (कुञ्ज में) प्रवेश करो' यह व्यंग्य है।

विमर्श—यह वाच्य-वैशिष्ट्य का उदाहरण है। जहाँ पर वाच्यार्थ की विशेषता के कारण विशेष अर्थ (व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ पर वाच्यवैशिष्ट्य आर्थी-व्यंजना होती है। यहाँ पर रति का इच्छुक किसी नायक अथवा दूती का नायिका के प्रति कथन है। नायक नायिका से कहता है कि हे तन्वि ! नर्मदा का यह उच्च प्रदेश रमण के लिए अत्यन्त रमणीय है, क्योंकि यह स्थान नर्म रतिसुख को प्रदान करने वाली नर्मदा का (नर्म रतिसुखं ददाति इति नर्मदा) का उच्च प्रदेश है। ऊँचा होने से यहाँ से दूर से आने वाले को देखा जा सकता हे किन्तु दुर्गम होने से स्खलन के भय से वे ऊपर नहीं देख सकते, अतः यह स्थान रमण के लिए उपयुक्त है, निर्जन है। 'सरस' पद से कदली दल के हरे-भरे होने से मर्मर ध्वनि नहीं होगी और सरस कदली दलों से घिरा (कुञ्जायित) होने से सञ्चरण करने में कोई देख नहीं सकता और छाया अति सुखद एवं रति योग्य है। कुञ्जोत्कर्षादि पद से प्रतीत होता है कि यह स्थान कामोद्दीपक है। यही नहीं यहाँ पर सुरत का सहायक (मित्र) रजिजन्य श्रम को हरने वाली हवाएं चलती हैं जिसके बिना बसन्त ऋतु आये ही बिना अवसर के कामदेव धनुष पर बाण चढ़ाकर यहाँ विचरण करता है जो कामिनीजन की कामपीड़ा को बढ़ाने वाला है, सुरत के लिए प्रेरित कर रहा है, यदि उसकी आज्ञा नहीं मानोगी तो वह कामदेव कुपित (नाराज) हो जायगा, इससे महान् अनिष्ट हो सकता है। इस प्रकार उक्त विशेषणों के द्वारा एक विशेष अर्थ की प्रतीति होती है कि 'सुरत के लिए प्रवेश करो'। अतः यहाँ वाच्य वैशिष्ट्य के कारण 'सुरत के लिए प्रवेश करो' यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है।

६. णोल्लेइ अणोल्लमणा अत्ता मं घरभरम्मि सअलम्मि ।
खणमेत्तं जइ संझाइ होइ ण व होइ वीसामो ॥१८॥
[नुदत्यार्द्रमनाः श्वश्रूर्मां गृहभरे सकले ।
क्षणमात्रं यदि संध्यायां भवति न वा भवति विश्रामः ॥१८॥
अत्र संध्या संकेतकाल इति तटस्थं प्रति कयाचिद् द्योत्यते ।

७. सुब्वइ समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेतेण ।
एमे अ कित्ति विट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जम् ॥१९॥
[श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण ।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तत् सखि सज्जय करणीयम् ॥१९॥
अत्रोपपति प्रत्यभिसर्त्तुं प्रस्तुता, न युक्तमिति कयाचिन्निवार्यते ।

वाच्यवैशिष्ट्य और वाक्यवैशिष्ट्य में अन्तर

दोनों में समानता होने पर भी अन्तर यह है कि वाक्यवैशिष्ट्य में वाक्य की विशेषता के कारण विशेष अर्थ (व्यंग्यार्थ) की प्रतीति होती है। इसमें वाक्य की प्रधानता रहती है और वाच्यवैशिष्ट्य में वाच्य की विशेषता के कारण विशेष अर्थ (व्यंग्यार्थ) की प्रतीति होती है। इसमें वाच्य की प्रधानता होती है। दोनों में विवक्षा-गत भेद है। वाक्य के प्राधान्य की विवक्षा होने पर वाक्यवैशिष्ट्य और वाच्य के प्राधान्य की विवक्षा होने पर वाच्यवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है।

६. अन्यसन्निधि-वैशिष्ट्य का उदाहरण

अनुवाद—निर्दयी सास मुझ से घर का सारा काम कराती है। अतः संध्या के समय तो क्षणभर का (थोड़ा सा) विश्राम मिल जाता है अथवा कभी वह भी नहीं मिलता ॥१८॥

(वृत्ति) यहाँ 'संध्या का समय संकेतकाल है' यह बात किसी अन्य (तटस्थ) के प्रति कोई नायिका द्योतित (प्रकट) कर रही है।

विमर्श—जहाँ पर किसी दूसरे व्यक्ति के सान्निध्य से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ अन्यसन्निधि-वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना होती है। प्रस्तुत उदाहरण में कोई नायिका गुरुजनों के समक्ष उपनायक से बात करने में असमर्थ संकेतकाल को सूचित करने के लिए पड़ोसिन से सास की बुराई करती हुई कहती है कि मेरी निर्दयी सास तो मुझ से दिन भर काम करवाती है, इसलिए मुझे क्षणभर भी समय नहीं मिलता, यदि शाम को थोड़ा मिल गया तो मिल गया। यहाँ पर वक्ता और श्रोता (बोद्धव्य) से भिन्न उपपति तटस्थ व्यक्ति है, अतः 'संध्या का समय संकेत का काल है'

८. अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥२०॥

अत्र विविक्तोऽयं देश इति प्रच्छन्नकामुकस्त्वयाऽभिसार्य्यतामिति आश्वस्तां प्रति कयाचिन्निवेद्यते।

यह बात तटस्थ के प्रति नायिका व्यंजना के द्वारा प्रकट कर रही है। अतः यह अन्य-सन्निधि-वैशिष्ट्य आर्थी-व्यंजना का उदाहरण है।

७. प्रस्ताव-वैशिष्ट्य का उदाहरण

अनुवाद—हे सखि ! सुनते हैं कि आज पहर भर में तुम्हारा प्रियतम आ जायगा, तो तुम इस प्रकार क्यों बैठी हो, करने योग्य (शृंगारादि) कार्यों की तैयारी करो ॥१९॥

(वृत्ति)—यहाँ पर 'उपपति के साथ अभिसार के लिए जाने को तैयार (अभिसारिका) को कोई सखी रोक रही है कि यह समय अभिसार के उचित नहीं है'।

विमर्श—यह प्रस्ताव-वैशिष्ट्य आर्थी-व्यंजना का उदाहरण है। जहाँ पर प्रस्ताव-प्रकरण की विशेषता से अर्थ विशेष (व्यंग्य अर्थ) की प्रतीति होती है वहाँ पर प्रस्ताव-वैशिष्ट्य आर्थी-व्यंजना होती है। प्रस्तुत उदाहरण में उपपति के साथ अभिसार करने के लिए तैयार सखी से कोई सखी कह रही है कि 'अरे सखि ! तुम्हारा प्रियतम तो आज ही पहर भर में आ जायगा तो तुम उसके स्वागत,सामग्री की चिन्ता न कर इस प्रकार क्यों बैठी हो, अतः उसके स्वागत की तैयारी करो' 'इस समय तुम्हारा उपपति के साथ रमण करना' उचित नहीं है। यहाँ पर 'अभिसार के लिए मना करना (रोकना)' यह व्यंग्य है।

८. देशवैशिष्ट्य का उदाहरण

अनुवाद—'हे सखियो ! तुम लोग कहीं अन्यत्र (जाकर) फूल तोड़ो, यहाँ मैं फूल तोड़ रही हूँ, क्योंकि मैं दूर तक चलने में असमर्थ हूँ' मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, मुझ पर प्रसन्न हो जाओ' ॥२०॥

वृत्ति--यहाँ यह एकान्त स्थान है, इसलिए प्रच्छन्न कामुक (उपपति) को यहाँ भेज दो, यह अपनी विश्वस्त सखी से कोई सखी कह रही है।

९. गुरु अण परवस पिअ किं भणामि तुह मंदभाइणी अहकम्।
अज्ज पवासं वच्चसि वच्च सअं जेव्व सुणसि करणिज्जम् ॥२१॥

[गुरुजनपरवश प्रिय किं भणामि तव मन्दभागिनी अहकम्।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम् ॥२१॥]

अत्राद्य मधुसमये यदि व्रजसि तदाहं तावन्न भवामि, तव तु न जानामि गतिमिति व्यज्यते।

विमर्श—यह देशवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना का उदाहरण है। जहाँ पर देश (स्थान) की विशेषता के कारण विशेष अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) की प्रतीति होती है वहाँ पर देशवैशिष्ट्य आर्थी-व्यंजना होती है। प्रस्तुत उदाहरण में प्रच्छन्न वेष में अपने उपपति के साथ आई हुई प्रिय सखी को देखकर कोई नायिका सखियों से कह रही है कि तुम लोग अन्यत्र फूल तोड़ो, यहाँ मैं तोड़ रही हूँ, क्योंकि दूर जाने में मैं असमर्थ हूँ। इस प्रकार सखियों के दूसरी ओर चले जाने से यह स्थान निर्जन (एकान्त) है, अतः प्रच्छन्न कामुक उपपति को अभिसरण के लिए भेज दो, इस प्रकार कोई नायिका अपनी विश्वस्त सहेली से कह रही है। यहाँ सखियों को अन्यत्र भेजकर रमण-स्थान को निर्जन बना देना, यह देशवैशिष्ट्य से ध्वनित होता है। अतः 'प्रच्छन्न कामुक को रमण के लिए भेज दो' यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है ॥२०॥

९. कालवैशिष्ट्य उदाहरण

अनुवाद—हे गुरुजनों के परवश प्रियतम! मैं अभागिनी तुमसे क्या कहूँ? आज तुम परदेश जा रहे हो तो जाओ, मुझे क्या करना है, यह स्वयं सुन लोगे ॥२१॥

(वृत्ति)—यहाँ 'आज वसन्त ऋतु में यदि तुम जा रहे हो तो मैं जीवित नहीं रहूँगी, तुम्हारी क्या दशा होगी, यह मैं नहीं जानती, यह अर्थ व्यञ्जित हो रहा है'।

विमर्श—यह कालवैशिष्ट्य आर्थी-व्यंजना का उदाहरण है। जहाँ पर काल (समय) की विशेषता के कारण विशेष अर्थ व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ कालवैशिष्ट्य आर्थी-व्यंजना होती है। प्रस्तुत उदाहरण में कोई नायिका परदेश जाने के लिए तैयार अपने पति से कह रही है कि हे प्रियतम! इस वसन्त के रमणीय समय पर तुम परदेश जा रहे हो तो जाओ मैं तो तुम्हारे बिना जीवित नहीं रहूँगी, तुम्हारी हालत क्या होगी? यह तुम जानो, मैं नहीं जानती, यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है ॥२१॥

आदि ग्रहणाच्चेष्टादेः । तत्र चेष्टाया यथा—

१०. द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम्,
आनीतं पुरतः शिरोंऽशुकमधः क्षिप्ते चले लोचने
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं सङ्कोचिते दोर्लते ।।२२।।

अत्र चेष्टया प्रच्छन्नकान्तविषय आकूतविशेषो ध्वन्यते ।

निराकांक्षत्वप्रतिपत्तये प्राप्तावसरतया च पुनः पुनरुदाह्रियते । वक्त्रदीनां मिथः संयोगे द्विकादिभेदेन ।

अनेन क्रमेण लक्ष्यव्यङ्ग्ययोश्च व्यञ्जकत्वमुदाहार्यम् ।

---

१०. चेष्टावैशिष्ट्य का उदाहरण

अनुवाद—आदि पद के ग्रहण से चेष्टा आदि का ग्रहण होता है, उनमें चेष्टा का उदाहरण जैसे—

१०. "मेरे दरवाजे के पास में पहुँच जाने पर उस सौन्दर्य की सारभूत नायिका ने अपनी दोनों जाँघों को फैलाकर फिर परस्पर (एक दूसरे से) मिला लिया, शिर के वस्त्र को आगे कर लिया (घूँघट काढ़ लिया), चञ्चल नेत्रों को नीचे कर लिया, बोलना बन्द कर दिया और भुजलताओं को सिकोड़ लिया ।।२२।।

(वृत्ति)—यहाँ पर 'चेष्टा के द्वारा प्रच्छन्न कान्त-विषयक अभिप्राय विशेष व्यक्त हो रहा है।

विमर्श—यह चेष्टावैशिष्ट्य का उदाहरण है। जहाँ पर चेष्टा (हाव-भावादि) की विशेषता से विशेष अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ चेष्टावैशिष्ट्य आर्थी व्यञ्जना होती है। प्रस्तुत उदाहरण में कोई युवक किसी युवती नायिका के स्व-विषयक हाव-भावादि के प्रकटीकरण (चेष्टाओं) को अपने मित्र से कह रहा है कि मित्र ! मेरे दरवाजे पर पहुँचते ही सुन्दरी ने अपनी दोनों जंघाओं को फैलाकर फिर परस्पर मिला लिया। इससे विपरीत सुरत-प्रदान ध्वनित हो रहा है। उद्योतकार इसे 'स्पृष्टक' कहते हैं। (प्रियतम के दूर रहने पर भी अपने ही अङ्गों से अङ्गों को मिलाना 'स्पृष्टक' नामक आलिङ्गन कहा जाता है)। फिर उसने सिर पर घूँघट डाल लिया, इससे 'गुप्त रूप से आवो' यह ध्वनित होता है। 'आँखें नीचे करलीं' इससे 'सूर्यास्त होने पर रात्रि में आना' यह भाव ध्वनित होता है, 'बोलना बन्द कर दिया' इससे 'शोर बन्द हो जाने पर आना' यह अर्थ ध्वनित हो रहा है। 'भुजलताओं सिकोड़ लिया' इससे 'अप्रार्थित आलिङ्गन' द्योतित हो रहा है। इस

(सू० ३८) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥२३॥

शब्देति । नहि प्रमाणान्तरवेद्योऽर्थः व्यंजकः ।

इति काव्यप्रकाशे अर्थव्यंजकतानिर्णयो नाम तृतीय उल्लासः ॥३॥

प्रकार यहाँ पर नायिका का प्रच्छन्न कान्त-विषयक अभिप्राय विशेष यह ध्वनित हो रहा है कि 'सूर्यास्त होने पर रात में छिपकर चुपचाप तुम आवोगे तो मैं अप्रार्थित विपरीत सुरत प्रदान के द्वारा तुम्हारा सत्कार करूँगी'। यहाँ पर यह विशेष अर्थ नायिका की चेष्टाओं से ध्वनित हो रहा है, अतः यहाँ चेष्टावैशिष्ट्य आर्थी व्यञ्जना है।

अब प्रश्न यह है कि 'अतिपृथुलं' इत्यादि में आर्थी-व्यञ्जना के वाच्य, वक्तृ, बोद्धव्य, आदि तथा 'गुरुजन परवश····' इत्यादि काकु-वक्तृ, बोद्धव्य-काल आदि भेदों के एक ही स्थल पर दो-दो, तीन-तीन भेदों के उदाहरण विद्यमान हैं तो अलग-अलग दस भेदों के उदाहरण क्यों दिये हैं ? इस पर कहते हैं—

अनुवाद—आकांक्षा-रहित ज्ञान के लिए (अर्थात् एक साथ निरूपण करने पर किसी की प्रधानता होगी, इस प्रकार शिष्य-जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए) तथा अवसर होने अलग-अलग उदाहरण दिये गये हैं। वक्तृ-बोद्धव्य आदि के परस्पर संयोग से दो-दो, तीन-तीन भेद से उदाहरण समझ समझ लेने चाहिए।"

आर्थी व्यञ्जना के दस उदाहरणों में जिस प्रकार वाच्यार्थ की व्यञ्जकता दिखाई गई है, उसी प्रकार लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थों के भी अर्थव्यञ्जकता के उदाहरण समझ लेने चाहिए।

आर्थी-व्यंजना में शब्द की सहकारिता

अनुवाद—(सू० ३८) क्योंकि शब्द प्रमाण के द्वारा गम्य अर्थ ही अर्थान्तर को व्यक्त करता है। इसलिए अर्थ की व्यंजकता में शब्द की सहकारिता होती है ॥

(वृत्ति)—'शब्दप्रमाण के द्वारा गम्य अर्थ ही अर्थान्तर को व्यक्त करता है, इससे यह ज्ञात होता है कि शब्दप्रमाण से भिन्न अनुमानादि अन्य प्रमाणों से गम्य अर्थ व्यंजक नहीं होता।

विमर्श—काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में शाब्दी-व्यंजना के निरूपण के अवसर पर बताया गया है कि शाब्दी-व्यंजना में शब्द मुख्य रूप से व्यंजक होता है और अर्थ उसका सहकारी होता है। उसी प्रकार यहाँ पर तृतीय उल्लास में आर्थी-व्यंजना के निरूपण के पश्चात् यह बताया गया है कि आर्थी-व्यंजना में अर्थ व्यंजक होता है और शब्द उसका सहकारी होता है। इस प्रकार शाब्दी-व्यंजना में शब्द को व्यंजकता अर्थ की अपेक्षा करती है और आर्थी व्यंजना में अर्थ-व्यंजकता शब्द की अपेक्षा करती है। अर्थात् शब्द की व्यंजकता में अर्थ का सहकारी होना और अर्थ की व्यंजकता में शब्द का सहकारी होना व्यंजना का मौलिक सिद्धान्त है। ध्वनिवादी आचार्यों ने इसी सिद्धान्त की मान्यता को स्वीकार किया है तथा इसी सिद्धान्त की परिपुष्टि की है—

एक दो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः।
एकस्य व्यंजकत्वे तदन्यस्य सहकारिता॥

पण्डितराज जगन्नाथ का मत है कि ध्वनि चाहे शब्द मूलक हो अथवा अर्थ-मूलक, किन्तु बिना शब्द और अर्थ के अनुसन्धान से ध्वनि (व्यंग्य) के स्वरूप को नहीं पहचाना जा सकता। शब्द और अर्थ की परस्पर सहकारिता ही शब्द व्यंजकता और अर्थव्यंजकता का मूल सिद्धान्त है। इस प्रकार शब्द की व्यंजकता में अर्थ और अर्थ की व्यंजकता में शब्द की सहकारिता प्रमाणित है। इन दोनों में किसी एक की प्रधानता के कारण शाब्दी या आर्थी व्यंजना कही जाती है अर्थात् 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के अनुसार शब्द की प्रधानता होने पर शाब्दी-व्यंजना और अर्थ की प्रधानता होने पर आर्थी-व्यञ्जना अभिधान होता है।

इस प्रकार काव्यप्रकाश में अर्थव्यञ्जकता निर्णय नामक तृतीय उल्लास समाप्त हुआ॥३॥

इस प्रकार डा० पारसनाथद्विवेदिकृत काव्यप्रकाश की हिन्दी-व्याख्या में अर्थ-व्यंजकता-निर्णय नामक तृतीय उल्लास समाप्त हुआ॥३॥

अथ चतुर्थ उल्लासः

ध्वनिकाव्य-निरूपणम्

यद्यपि शब्दार्थयोर्निर्णये कृते दोषगुणालङ्कारांणां स्वरूपमभिधानीयं तथापि धर्मिणि प्रदर्शिते धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायत इति प्रथमं काव्य-भेदानाह—

ध्वनिकाव्य-निरूपण

मम्मट ने प्रथम उल्लास में 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' यह काव्य का लक्षण प्रतिपादित किया है। उन्होंने शब्दार्थ युगल को काव्य कहा है और उसके तीन विशेषण दिये हैं—अदोषौ, सगुणौ और अनलङ्कृती पुनः क्वापि। मम्मट ने शब्द और अर्थ के सम्मिलित रूप को काव्य कहा है। इसलिए वे पहिले शब्द और अर्थ के स्वरूप एवं उनके भेदों का निरूपण करते हैं। द्वितीय उल्लास में शब्द और अर्थ के स्वरूप तथा उनके भेदों का निरूपण किया गया है। इसके साथ द्वितीय उल्लास में शाब्दी-व्यंजना और तृतीय उल्लास में आर्थी-व्यंजना का विवेचन किया गया है। अब क्रम प्राप्त होने से उन्हें दोष, गुण, अलङ्कारादि का विवेचन करना चाहिए था, किन्तु उन्होंने क्रमप्राप्त दोषादि का विवेचन न कर पहिले ध्वनि-काव्य का निरूपण किया है। इसका कारण यह है कि दोष, गुण, अलङ्कारादि काव्य के धर्म हैं और काव्य धर्मी। बिना धर्मी ज्ञान के धर्म का ज्ञान नहीं है। अतः जब तक धर्मी (काव्य) का पूर्ण विवेचन न हो जाय तब तक उसके धर्म दोष, गुण, अलङ्कार आदि का ज्ञान अच्छी तरह नहीं हो सकता। इसीलिए उन्होंने पहिले काव्य के प्रकारों का विवेचन किया है—

अनुवाद—यद्यपि शब्द और अर्थ का निर्णय कर लेने के बाद दोष, गुण, अलङ्कारों के स्वरूप का कथन करना चाहिए था, किन्तु धर्मी (काव्य) के निरूपण करने पर ही (दोष, गुण, अलङ्कारादि) धर्मों के हेयोपादेयता का ज्ञान हो सकता है इसलिए पहिले (धर्मी) काव्य के भेदों का निरूपण करते हैं।

(सू० ३९) अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ।
अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥२४॥

लक्षणामूलगूढ़व्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्येव अविवक्षितं वाच्यं यत्र सः 'ध्वनौ' इत्यनुवादात् ध्वनिरिति ज्ञेयः। तत्र च वाच्यं क्वचिदनुपयुज्यमानत्वादर्थान्तरे परिणमितम्। यथा—

प्रथम उल्लास में काव्य के स्वरूप विवेचन के पश्चात् काव्य के तीन भेद बताये गये हैं—(१) ध्वनिकाव्य (२) गुणीभूतव्यंग्य और (३) चित्रकाव्य। इनमें ध्वनिकाव्य को उत्तम काव्य, गुणीभूतव्यंग्य को मध्यमकाव्य और चित्रकाव्य को अधम काव्य कहा गया है। इस प्रकार मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार ध्वनिकाव्य उत्तम काव्य है। ध्वनि के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आनन्दवर्धन ने कहा है कि 'जहाँ पर शब्द अपने अर्थ को अप्रधान (गौण) बनाकर व्यंग्य अर्थ को व्यक्त करता है, उस काव्यविशेष को ध्वनिकाव्य कहा जाता है।

यत्रार्थः शब्दो वा तमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति कथितः सूरिभिः॥

मम्मट ध्वनिकाव्य का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि जहाँ पर वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यग्यार्थ में अधिक चमत्कार पाया जाता है, उसे विद्वानों ने ध्वनिकाव्य कहा है—

इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।

ध्वनिकाव्य के भेद

आचार्य मम्मट ने ध्वनि काव्य के दो भेद किये हैं—(१) अविवक्षितवाच्य और (२) विवक्षितान्यपरवाच्य। इनमें अविवक्षितवाच्य ध्वनि को लक्षणामूलक ध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि को अभिधामूलक ध्वनि भी कहते हैं। लक्षणामूलक ध्वनि में वाच्य की विवक्षा नहीं होती, इसलिए इसे अविवक्षित वाच्य ध्वनि कहते हैं और अभिधामूलक ध्वनि में वाच्य की विवक्षा होती, इसलिए उसे 'विवक्षितवाच्य ध्वनि' कहते हैं। ग्रन्थकार यहाँ लक्षणामूलक ध्वनि के भेद और उनके लक्षणों का सोदाहरण निरूपण कहते हैं—

अनुवाद—(सू० ३९) अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक) जो ध्वनिकाव्य है उस ध्वनि में वाच्य या तो अर्थान्तर में सङ्क्रमित हो जाता है या अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है ॥२४॥

अनुवाद (वृत्ति) - लक्षणामूलक गूढ़व्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर ही जहाँ पर वाच्य अविवक्षित रहता है वह (अविवक्षितवाच्यध्वनि है)। 'ध्वनौ' इस शब्द के द्वारा अनुवाद से 'ध्वनिः (प्रथमान्त पद) का अध्याहार कर लेना चाहिए। वहाँ पर वाच्य (अविवक्षितवाच्य ध्वनि में) वाच्य कहीं अनुपयुक्त होने से अर्थान्तर में परिणत हो जाता है। जैसे—

विमर्श—ध्वनिकाव्य के दो भेद होते हैं—लक्षणामूलक ध्वनि और अभिधामूलक ध्वनि। इनमें लक्षणामूलक ध्वनि को अविवक्षितवाच्य ध्वनि और अभिधामूलक ध्वनि को विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि काव्य कहते हैं। भाव यह कि अविवक्षित वाच्य ध्वनि ही लक्षणामूलक ध्वनि-काव्य कहा जाता है। इसमें वाच्यार्थ अविवक्षित होता है और विवक्षितवाच्यध्वनि को अभिधामूलक ध्वनिकाव्य कहा जाता है, इसमें वाच्यार्थ विवक्षित होता है। इन दोनों ध्वनि भेदों में 'विवक्षित' पद साभिप्राय है। आचार्यों ने 'विवक्षित' शब्द का 'अभिप्राय', तात्पर्य, प्रयोजन आदि अर्थों में व्यवहृत किया है। जैसा कि कहा गया है—

विवक्षितमभिप्रायः फलंभावः प्रयोजनम्।
तात्पर्यमिति पर्यायशब्दाः वाक्यार्थगोचराः॥

अर्थात् विवक्षित पद के अभिप्राय, तात्पर्य, प्रयोजन, फल आदि अनेक अर्थ होते हैं। इनमें अभिप्राय और तात्पर्य एक ही अर्थ के बोधक हैं और इसी प्रकार प्रयोजन और फल एक अर्थ के बोधक हैं। वस्तुतः वक्ता की इच्छा विवक्षा है और विवक्षा के अधीन अर्थ विवक्षित है। वक्ता जिस अभिप्राय या तात्पर्य से जिस शब्द का प्रयोग करता है यदि बोद्धा या पाठक उसी अभिप्राय को ग्रहण करता है तो वह विवक्षित अर्थ हुआ करता है। इस प्रकार वक्ता का अभीष्ट और श्रोता का बुद्धिस्थ अर्थ विवक्षित अर्थ होता है (वक्तुमिष्टं विवक्षितम्)। यहाँ वाच्यार्थ के विवक्षित का तात्पर्य उपर्युक्त अर्थ से अभिप्रेत है।

जैसा कि पहिले बताया जा चुका है कि अविवक्षितवाच्यध्वनि का ही दूसरा नाम लक्षणामूलक ध्वनि है। जहाँ पर लक्ष्यार्थ प्रतीति के बाद व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, उसे लक्षणामूलक ध्वनि या अविवक्षितवाच्यध्वनि कहते हैं। इसमें वाच्य अविवक्षित होता है। इस अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं—**अर्थान्तर-सङ्क्रमित और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य।**

(१) अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि—

जहाँ पर वाच्य के अनुपयुक्त (अविवक्षित) होने के कारण अर्थान्तर (अन्य अर्थ) में परिणत हो जाता है अर्थात् मुख्यार्थ के बाधित हो जाने के कारण वाच्यार्थ की विवक्षा न होने पर वाक्य अपने दूसरे अर्थ में सङ्क्रान्त हो जाता है, उसे अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्य कहते हैं। जैसे—(**अर्थान्तरसङ्क्रमितं वाच्यं यस्य सोऽर्थान्तर-सङ्क्रमितवाच्यः**)।

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥२३॥

अत्र वचनादि उपदेशादिरूपतया परिणमति।

क्वचिदनुपपद्यमानतया अत्यन्तं तिरस्कृतम्। यथा—

अनुवाद—मैं तुमसे कहता हूँ कि यहाँ पर विद्वानों का समुदाय उपस्थित है, इसलिए तुम अपनी बुद्धि का सहारा लेकर (संभलकर) व्यवहार करना ॥२३॥

(वृत्ति)—यहाँ वचन आदि (कहना, वच्मि) प्रकृत में अनुपयुक्त होने से 'उपदेश आदि' के रूप में परिणत हो जाता है।

विमर्श—यहाँ पर विद्वत्सभा में जाने वाले शिष्य के प्रति किसी विद्वान् का कथन है। यहाँ पर 'त्वामस्मि वच्मि' इस वाक्यांश का अर्थ वाधित होकर लक्षणा के द्वारा 'त्वाम्' पद का अर्थ 'उपदेश के योग्य तुम्हें'; तथा 'अस्मि' पद का अर्थ 'मैं, आप्त (तुम्हारा शुभ चिन्तक)' और 'वच्मि' पद का अर्थ 'उपदेश देता हूँ' (उपदिशामि) हो जाता है अर्थात् यहाँ शब्द अपने वाच्यार्थ को छोड़कर लक्ष्यार्थ में सङ्क्रमित हो जाता है। अतः यहाँ अर्थान्तरसङ्क्रमित हुआ। 'हित-साधना' यहाँ पर व्यंग्यार्थ है। इसी प्रकार यहाँ पर 'विदुषाम्' और 'आत्मीयाम्' पद भी यथाक्रम 'सर्वशास्त्रविशारद' और 'प्रमाणपरतन्त्रपरक' रूप अन्य अर्थ में परिणत होकर 'अन्यथा आचरण करने पर उपहसनीयता होगी' इस व्यंग्यरूप अर्थ की प्रतीति कराते हैं। अतः यहाँ 'अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि है'।

(२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि

अविवक्षितवाच्यध्वनि का द्वितीय भेद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि है। जहाँ पर शब्द अपने अर्थ (वाच्यार्थ) का अत्यन्त तिरस्कार (सर्वथा परित्याग) करके अपने से भिन्न अर्थ में परिणत हो जाता है वहाँ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि होता है (**अत्यन्त तिरस्कृतं वाच्यं यत्र स ध्वनिरत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिः, उत वा अत्यन्ततिरस्कृतश्चासौ वाच्यश्चेति अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्तस्य ध्वनिरित्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिरिति**) अर्थात् जहाँ पर वाच्यार्थ अविवक्षित (अनुपयुक्त) होने के कारण अपने स्वरूप (वाच्यार्थ) का सर्वथा परित्याग करके किसी अन्य अर्थ का बोधक होता है, उसे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि कहते हैं। जैसे—

अनुवाद—कहीं वाच्यार्थ अनुपपन्न होने से अत्यन्ततिरस्कृत हो जाता है, उसे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि कहते हैं। जैसे—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ॥२४॥

एतदपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणया कश्चिद्वक्ति।

अनुवाद—'हे मित्र ! आपने मेरा बहुत उपकार किया है' इस विषय में क्या कहा जाय ? आपने तो बड़ी सज्जनता दिखाई है। हे मित्र ! सदा ऐसा ही करते हुए सैकड़ों वर्ष तक सुखपूर्वक जीवित रहो ॥२४॥

(वृत्ति)—यह कोई व्यक्ति अपकारी व्यक्ति के प्रति विपरीत लक्षणा से कह रहा है।

विमर्श—यहाँ पर किसी अपकारी के प्रति उसके अपकार से पीड़ित किसी व्यक्ति का कथन है कि 'हे मित्र ! आपने मेरा बड़ा उपकार किया है, इस विषय में क्या कहना है अर्थात् आपके उपकारातिशय का वर्णन नहीं किया जा सकता। आपने बड़ी सज्जनता दिखाई है। हे मित्र ! इसी प्रकार करते हुए तुम सौ वर्ष तक बने रहो' किन्तु यहाँ पर प्रकरणादि से उस व्यक्ति का अपकारी होना ज्ञात है। अतः यहाँ वाच्यार्थ के वाधित होने से विपरीत लक्षणा के द्वारा वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत (परित्यक्त) होकर अर्थान्तर को वोधित करता है। इस प्रकार वाच्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार करके 'उपकृतम्' आदि पद 'अपकृतम्' तथा सुजनता' पद पद 'दुर्जनता' का 'सुखितम्' पद 'दुःखितम्' आदि अर्थ के बोधक बन जाते हैं। अर्थात् 'आपने मेरा बड़ा उपकार किया है. उसका वर्णन (निन्दा) नहीं किया जा सकता है, आपने अपनी दुर्जनता दिखा दी, इसलिए हे शत्रो ! इस प्रकार दुर्जनता करते हुए तुम सैकड़ों वर्ष दुःखपूर्वक (कष्ट भोगते हुए) बने रहे' यह अर्थ लक्षणा के द्वारा बोधित होता है। 'अपकार की अधिकता' यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ है। अथवा 'तुम्हारे जैसा अपकारी व्यक्ति इस संसार को जितनी जल्दी छोड़ दे, उतना ही अच्छा है' यह व्यङ्ग्यार्थ है। इस प्रकार अपने वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार (परित्याग) करके अन्य अर्थ की प्रतीति कराने के कारण यह 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि' का उदाहरण है।

अर्थान्तरसङ्क्रमित तथा अत्यन्तन्ततिरस्कृत वाच्य में अन्तर

दोनों में ही वाच्यार्थ अविवक्षित (अनुपपद्यमान) होता है और दोनों ही लक्षणा के द्वारा लक्ष्यार्थ का बोध कराते हुए अन्य अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) को अभिव्यक्त करते हैं। किन्तु दोनों में अन्तर भी परिलक्षित होता है। अर्थान्तर संक्रमितवाच्य में वाच्य अपने अर्थ का सर्वथा परित्याग न करता हुआ अन्य अर्थ में परिणत हो जाता है, जबकि 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' में वाच्यार्थ अपने अर्थ का सर्वथा परित्याण करके अन्य अर्थ का बोध कराता है। 'अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य' में उपादानलक्षणा के द्वारा अर्थान्तर का बोध होता है और 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' में विपरीत लक्षणा से

(सू० ४०) विवक्षितं चान्यपर वाच्यं यथापरस्तु सः ।

अन्यपरं व्यंग्यनिष्ठम् । एष च—

(सू० ४१) कोऽप्यसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥२५॥

अलक्ष्येति – न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः, अपितु रसस्तैरित्यस्ति क्रमः । स तु लाघवान्न लक्ष्यते ॥

अर्थान्तर (अन्य अर्थ) का बोध होता है । 'अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य' अजहत्स्वार्थावृत्ति है और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य जहत्स्वार्थावृत्ति है । क्योंकि अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्य अपने अर्थ का सर्वथा परित्याग न करता हुआ अर्थान्तर में संक्रमित होता है, इसलिए यह अजहत्स्वार्थावृत्ति है और अर्थान्तरसङ्क्रमित वाक्य अपने अर्थ का सर्वथा परित्याग कर देता है, इसलिए यह 'जहत्स्वार्थावृत्ति' है ।

२. विवक्षितवाच्यध्वनि (अभिधामूलक ध्वनि)

जैसा कि पहिले बताया जा चुका है कि ध्वनिकाव्य के दो भेद होते हैं—अविवक्षितवाच्यध्वनि और विवक्षितवाच्यध्वनि । इनमें अविवक्षितवाच्यध्वनि का विवेचन किया जा चुका है । अब विवक्षितवाच्यध्वनि का सभेद विवेचन करते हैं ।

विवक्षितवाच्यध्वनि में वाच्य विवक्षित होता है । इसे 'अभिधामूलक-ध्वनि' भी कहते हैं; क्योंकि जहाँ पर वाच्यार्थ की प्रतीति के बाद व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है उसे 'अभिधामूलक ध्वनि' कहते हैं । इसमें वाच्य विवक्षित होता है और वह विवक्षा अन्य परक होती है, इसलिए इसे 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' भी कहते हैं । इसके दो भेद होते हैं—संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इसके भी अवान्तर कई भेद होते हैं । आचार्य उन्हीं का क्रम से विवेचन करते हैं—

अनुवाद—(सू० ४०) जहाँ पर वाच्यार्थ विवक्षित होता हुआ भी व्यङ्ग्यनिष्ठ होता है, वहाँ विवक्षितवाच्य ध्वनि नामक द्वितीय भेद होता है ।

(वृत्ति)—अन्य पर व्यङ्ग्यनिष्ठ है और यह—

अनुवाद—(सू० ४१) यह (विवक्षितवाच्यध्वनि) एक असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य और दूसरा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होता है ॥२५॥

(वृत्ति)—अलक्ष्य पद से सूचित होता है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव ही रस नहीं हैं, अपितु उनसे (विभावादि से) रस (अभिव्यक्त) होता है, इसलिए क्रम तो है, किन्तु शीघ्रता के कारण वह परिलक्षित नहीं होता ।

विमर्श—विवक्षितवाच्यध्वनि में वाच्यार्थ विवक्षित होता है और वह अन्य-परक (व्यङ्ग्यनिष्ठ) होता है, इसलिए इसे 'विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि' कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ-बोध के बाद व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, इसलिए इसे 'अभिधा-मूलक ध्वनि' कहते हैं। इस प्रकार यह अभिधामूलक गूढ़व्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर ही होता है। इस प्रकार यह वाच्य विवक्षित भी होता है और अन्य परक भी होता है। इसकी विवक्षिता और अन्यपरता (व्यङ्ग्यनिष्ठता) में कोई विरोध नहीं, क्योंकि यहाँ पर वाच्यार्थ अन्यपरक अर्थात् व्यङ्ग्यनिष्ठ रूप से ही विवक्षित रहता है (**ननु च विवक्षा चान्यपरत्वं चेति विरुद्धम्। अन्यपरत्वेनैव विवक्षणात् को विरोधः**—अभिनवगुप्त)। अलङ्कारमहोदधिकार का कथन है कि जहाँ पर वाच्यार्थ अपने स्वरूप के प्रदर्शन में उन्मुख न होकर अपने से अतिरमणीय अन्य अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) को प्रकट करता है, वहाँ (उस काव्य में) वाच्य के विवक्षित होने पर भी अन्यपरता व्यङ्ग्यनिष्ठता होती है।

व्यज्यतेऽर्थान्तरं यत्र मुख्यार्थेन स्वनिह्नवात्।
तस्मिन् विवक्षितस्यापि तस्यान्यपरता भवेत्॥

अभिधामूलक ध्वनि के भेद

अभिधामूलक ध्वनि के दो भेद होते हैं—अलक्ष्यक्रमव्यंग्य और लक्ष्यक्रमव्यंग्य। अलक्ष्यक्रमव्यंग्य को रसादिध्वनि भी कहते हैं। इसे अलक्ष्यक्रम इसलिए कहा जाता है कि इसे व्यंग्य के पौर्वापर्य-क्रम का ज्ञान नहीं रहता (**अलक्ष्योऽज्ञेयः क्रमः पौर्वापर्यं यस्य तद् अलक्ष्यक्रमम्, तादृशं व्यंग्यं यस्मिन् सः**)। इसे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य भी कहते हैं। भाव यह कि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में व्यंग्यार्थ की प्रतीति में क्रम का ज्ञान नहीं रहता। लक्ष्यक्रमव्यंग्य वहाँ होता है जहाँ पर व्यंग्य का व्यंजक के साथ पौर्वापर्य क्रम का ज्ञान रहता है (**लक्ष्यो ज्ञेयः क्रमः पौर्वापर्यं यस्मिन् व्यंग्ये स लक्ष्यक्रमव्यंग्यः**)। इसे संलक्ष्यक्रमव्यंग्य भी कहते हैं। क्योंकि इसमें व्यंग्य और व्यंजक (वाच्य) का क्रम स्पष्टतः परिलक्षित होता है। ध्वनिकार का कथन है कि जहाँ पर व्यंग्य में क्रम सम्यक् परिलक्षित नहीं होता है जहाँ असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य होता है और जहाँ पर व्यंग्य में क्रम परिलक्षित होता है वहाँ संलक्ष्यक्रम व्यंग्य होता है। जैसा कि ध्वन्या-लोक में कहा है—

असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ भी ध्वनिकार के मत का अनुसरण करते हुए कहते हैं—

विवक्षिताभिधेयोऽपि द्विभेदः प्रथमं मतः।
असंलक्ष्यक्रमो **यत्र** व्यंग्यो लक्ष्यक्रमस्तथा॥

विवक्षितान्यपरवाच्योऽपि ध्वनिरसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यः संलक्ष्यक्रमव्यंग्यश्चेति द्विविधः।

तत्र--

(सू० ४२) रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः ॥२६॥

इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलक) ध्वनि के दो भेद होते हैं—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य। आचार्य क्रमशः इनका विवेचन करते हैं—

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य--असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य को रसादिध्वनि भी कहते हैं। रसादि को असंलक्ष्यक्रमध्वनि इसलिए कहते हैं कि इसमें विभावादि के द्वारा रस-प्रतीति के पूर्वापर क्रम का ज्ञान नहीं रहता। यद्यपि विभावानुभावव्यभिचारिभाव का क्रम तो रसानुभूति में होता है किन्तु रसानुभूति में यह पूर्वापरक्रम इसलिए प्रतीत नहीं होता कि उसमें व्यंग्य की प्रतीति इतनी जल्दी होती है कि उसका पूर्वापर ज्ञान ही नहीं रहता। भाव यह कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के द्वारा रस की प्रतीति होती है। रसोद्बोधन में पहिले विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव का ज्ञान होता है फिर रस की प्रतीति होती है। इस प्रकार रस और विभावादि (व्यंग्य-व्यंजक) में पौर्वापर्यक्रम तो है किन्तु रस की इतनी शीघ्रता से प्रतीति होती है कि उसका क्रम लक्षित ही नहीं होता। जैसे शतपत्रदल कमल में पंखुड़ियाँ क्रमशः निकलती हैं किन्तु इन पंखुड़ियों का निकलना इतनी शीघ्रता से होता है कि उसमें यह नहीं जाना जा सकता कि कौन-सी पंखुड़ी पहले निकली और कौन-सी बाद में। इसी प्रकार असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में भी व्यंग्य और व्यंजक रूप वाच्य में पूर्वापरक्रम का ज्ञान नहीं रहता।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य—जहाँ पर वाच्यार्थ की प्रतीति के बाद व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है उसे 'संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में पूर्वापरक्रम का ज्ञान बना रहता है। यहाँ पर व्यङ्ग्य वस्तु और अलङ्कार रूप होता है। भाव यह कि संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य में वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति में क्रम स्पष्ट परिलक्षित होता है। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के तीन भेद होते हैं—

(१) शब्दशक्त्युद्भव
(२) अर्थशक्त्युद्भव
(३) उभयशक्त्युद्भव

इनमें शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि ये दो भेद होते हैं। और अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह भेद होते हैं तथा उभयशक्त्युद्भव ध्वनि एक प्रकार का होता है। इस प्रकार संलक्ष्यक्रमध्वनि के पन्द्रह भेद होते हैं।

अनुवाद—**(सू० ४२) रस, भाव, तदाभास (रसाभास और भावाभास), भावशान्ति आदि अलक्ष्यक्रम (अक्रम) अलंकार्य होने के कारण 'रसवत्' आदि अलंकारों से भिन्न होता है ॥२६॥**

आदिग्रहणाद् भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि। प्रधानतया यत्र-स्थितो रसादिस्तत्रालंकार्यः, यथोदाहरिष्यते। अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितादयोऽलङ्काराः। ते च गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधाने उदाहरिष्यते।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के भेद

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ आदि के ग्रहण से भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता (का ग्रहण होता है), जहाँ पर रस आदि प्रधानरूप से स्थित होते हैं वहाँ वह अलङ्कार्य होता है। जैसा कि आगे उदाहरण देंगे। अन्यत्र (अन्य स्थलों पर) वाक्यार्थ के प्रधान होने पर जहाँ रसादि अङ्गरूप होते हैं वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य में रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि समाहित आदि अलङ्कार होते हैं। उनका गुणीभूतव्यङ्ग्य के निरूपणके अवसर पर उदाहरण देंगे।

विमर्श—उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जहाँ पर रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, भावशान्ति आदि प्रधान रूप से स्थित रहते हैं वहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि होता है। इस प्रकार जहाँ पर ये रसादिध्वनि प्रधान होते हैं वहाँ ये अलंकार्य होते हैं, अङ्गी होता है और गुण, अलङ्कारादि इनके चारुत्व के हेतु होते हैं, अङ्ग अप्रधान होते हैं, अतः वहाँ पर रसादि व्यंग्य होते हैं। और वहाँ पर अलंकार्य रूप में स्थित ये रस-भावादि रूप व्यंग्य भामहादि सम्मत रसवदादि अलंकारों से भिन्न होते हैं। किन्तु जब ये अप्रधान रूप में स्थित रहते हैं और अन्य अर्थ वाक्य का अङ्गी (प्रधान) होता है और ये रस-भावादि उसके अङ्ग हो जाते हैं वहाँ ये अलंकार होते हैं (अलंकार्य नहीं)। इनका उदाहरण गुणीभूतव्यंग्य के निरूपण के अवसर पर दिया जायगा।

इस प्रकार वाक्यार्थ के प्रधान होने पर गुणीभूतव्यंग्य में ये रसादि उसके अङ्ग हो जाते हैं, चारुता के प्रयोजक होते हैं तथा रसवदादि अलंकार हो जाते हैं। अर्थात् रस के अंग होने पर रसवत् अलंकार, भाव के अंग होने पर प्रेयस्, रसाभास एवं भावाभास के अंग होने पर ऊर्जस्विन् और भावशान्ति के अंग होने पर समाहित अलंकार होते हैं। जैसा कि आनन्दवर्धनाचार्य का मत है कि जब रसभावादि रूप अर्थ प्रधान रूप से व्यंग्य होते हैं तब ये असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होते हैं और जब व्यंग्य रूप ये रसादि अंग रूप में अवस्थित होते हैं, तब ये गुणीभूतव्यंग्य हो जाते हैं और अंग रूप में स्थित ये रस-भावादि भामहादि सम्मत रसवदादि अलंकार हो जाते हैं।

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥

तत्र रस स्वरूपमाह—

(सू० ४३) कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ।।२७।।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ।।२८।।

इस प्रकार ये रसभावादि जहाँ पर चमत्कार के हेतु होकर प्रधान रूप में अवस्थित रहते हैं वहाँ पर ये अलंकार्य होते हैं और जब ये वाक्यार्थ रूप अन्य अर्थ के प्रधान होने पर वाक्यार्थ के अंग होते हैं वहाँ पर गुणीभूत व्यंग्य होने से रसवत्, श्रेय, ऊर्जस्विन् और समाहित अलंकार हो जाते हैं। वस्तुतः काव्य में शब्द और अर्थ के चमत्कार-हेतु होने से गुणीभूतव्यंग्य होने पर भी ये रसादि काव्य के धर्मी (अङ्गी) होते हैं, अलंकार नहीं होते, यह मम्मट का गूढ़ अभिप्राय है। जैसा कि ध्वनिकार चमत्कार के हेतु गुण, रीति, अलंकार आदि को रसध्वनि में समाविष्ट मानते हैं। यहाँ तक कि उन्होंने वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि को भी रसध्वनि में समाहित कर दिया है।

रस-स्वरूप-विचार

अनुवाद— उन रस, भाव आदि में प्रथम रस के स्वरूप का विवेचन करते हैं—(सू० ४३)— लोक में रति आदि स्थायीभावों के जो कारण, कार्य और सहकारी हैं, वे यदि नाट्य और काव्य में प्रयुक्त होते हैं तो वे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव कहे जाते हैं और उन विभावादि से व्यक्त वह स्थायीभाव रस कहा गया है ।।२७-२८।।

विमर्श—लोक में रति (प्रेम) के जो कारण, कार्य और सहकारी कहे गये हैं, काव्य और नाटक में वे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव कहे जाते हैं। अर्थात रति आदि की उत्पत्ति के कारण विभाव नाम से अभिहित किये जाते हैं, कार्य अनुभाव कहलाते हैं और सहकारी व्यभिचारीभाव कहे जाते हैं। जैसे लोक में रति (प्रेम) के कारण नायक-नायिका हैं अर्थात् लोक-जीवन में नायक-नायिका को देखकर प्रेम अंकुरित होता है, इसलिए वे प्रेम (रति) आदि की उत्पत्ति के कारण कहे गये हैं। काव्य और नाट्य में ये विभाव कहलाते हैं। इत्यादि के कारणभूत ये विभाव दो प्रकार के होते हैं—एक आलम्बन रूप और दूसरा उद्दीपन रूप। नायक-नायिका आदि एक दूसरे के आलम्बन रूप विभाव हैं; क्योंकि नायक को देखकर नायिका के मन में और नायिका को देखकर नामक के मन में प्रेम अंकुरित होता है, उत्पन्न होता

है, इसलिए ये दोनों नायक-नायिका आलम्बन विभाव हैं और ये प्रेम (रति) की उत्पत्ति के कारण हैं। नायक-नायिका में अंकुरित प्रेम (रति) का उद्बोधन करने वाले कारण चाँदनी-रात, उद्यान, एकान्त-स्थान आदि उद्दीपन विभाव कहलाते हैं, क्योंकि ये चाँदनी, उद्यानादि नायक-नायिका में अंकुरित प्रेम (रति) को उद्दीप्त करते हैं। इसलिए रति को उद्दीप्त करने के कारण ये भी रत्युद्बोधन के कारण हैं। इस प्रकार रत्यादि को अंकुरित तथा उद्दीपित करने वाले साधन विभाव हैं।

लोक-जीवन में नायक-नायिका के हृदय में प्रेम (रति) के अंकुरित एवं उद्दीप्त होने पर कटाक्ष, भुजक्षेप आदि जो भाव (चेष्टादि) प्रदर्शित किये जाते हैं वे ही काव्य और नाट्य में अनुभाव कहे जाते हैं। अनुभाव वाचिक, मानसिक और शारीरिक व्यापार हैं। ये अनुभाव नायक-नायिका के हृदय में उद्बुद्ध प्रेम (रति) का प्रकाशन करते हैं। ये विभाव के बाद होते हैं, इसलिए इन्हें अनुभाव कहते हैं। इसी प्रकार लोक में रत्यादि भावों के पोषण अथवा अभिव्यंजन में जो सहायक होते हैं, उन्हें सहकारी कहते हैं। ये सहकारी जब नाटक और काव्य में रत्यादि भावों को अभिव्यक्त कराने में सहायक होते हैं तब संचारीभाव या व्यभिचारीभाव कहलाते हैं। ये व्यभिचारीभाव रसों में विविध-रूप में संचरण (विचरण) करते हैं। इन्हीं विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के द्वारा अभिव्यक्त रत्यादि स्थायीभाव 'रस' कहलाता है।

मम्मट ने विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त रत्यादि स्थायीभाव को 'रस' कहा है। स्थायीभाव क्या है ? भाव मानव-हृदय में विद्यमान मानस-संस्कार या वासना है जो प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में चित्तवृत्ति के रूप में सुषुप्त अवस्था में विद्यमान रहते हैं और अनुकूल अवसर पाते ही जागृत हो उठते हैं। ये प्रयुक्त संस्कार रूप भाव मानव-हृदय में निरन्तर स्थायी रूप से विद्यमान रहते हैं। इसलिए इन्हें स्थायीभाव कहते हैं। ये स्थायीभाव संख्या में आठ होते हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय ये आठ स्थायीभाव हैं। इनके अतिरिक्त 'निर्वेद' नामक नवाँ स्थायीभाव भी होता है। ये रत्यादि स्थायीभाव विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस कहलाते हैं। किसी भाव को उत्पन्न करने के लिए कोई न कोई कारण होता है। वह कारण विभाव कहलाता है। विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। जैसे नायक-नायिका आलम्बन विभाव है। एकान्त-स्थान, उद्यान, चाँदनी आदि उद्दीपन विभाव हैं, कटाक्ष, भुजक्षेप आदि आङ्गिक चेष्टाएँ अनुभाव हैं; निर्वेदादि संचारीभाव हैं जिन कारणों से अनुभाव का स्वरूप बनता है वे संचारीभाव कहलाते हैं। संचरणशील होने से इन्हें संचारीभाव कहा जाता है। इन्हीं विभावादि के द्वारा अभिव्यक्त रत्यादि स्थायीभाव रस कहलाता है; जैसे नायिका को देखकर नायक के हृदय में सुषुप्तावस्था में विद्यमान भाव अंकुरित हो उठता है और

उक्तं हि भरतेन—

विभावानुभावव्यभिचारिभाव संयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

एतद्विवृण्वते—

विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः; व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरूपचितो मुख्यया वृत्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।

उद्यान, चांदनी रात तथा एकान्त स्थान में वह भाव उद्दीप्त हो जाता है। तब रत्यादि भाव के उद्बोधन के पश्चात् कटाक्ष, भुजक्षेप आदि अनुभावन व्यापार रत्यादिभावों को प्रकाशित कर देता है। तब संचारीभाव के द्वारा उसका अभिव्यंजन होता है, तब वह रस रूप में परिणत हो जाता है। यही रसानुभूति की प्रक्रिया है।

जैसा कि भरत ने कहा है—

अनुवाद—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

विमर्श—भरतमुनि के इस सूत्र पर आचार्यों ने व्याख्याएँ की हैं उनमें चार प्रमुख हैं—भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त। आचार्य उनका विवेचन करते हैं—

भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद

अनुवाद—विभावों ललना आदि आलम्बन तथा उद्यान आदि उद्दीपन कारणों से रति आदि भाव (स्थायीभाव) उत्पन्न होता है, अनुभाव कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि कार्यों से प्रतीति के योग्य किया जाता है, व्यभिचारीभाव अर्थात् निर्वेद आदि सहकारी भावों द्वारा परिपुष्ट (उपचित) किया गया मुख्य रूप से राम आदि अनुकार्य में तथा उनके रूप का अनुसन्धान अर्थात् रामादि के रूप का अनुसन्धात के कारण (अनुकर्ता) नर्तक में भी प्रतीयमान (प्रतीत होने वाला) रस है। यह भट्टलोल्लट प्रभृति विद्वानों का मत है।

विमर्श—भरतसूत्र के व्याख्याकारों में भट्टलोल्लट उत्पत्तिवादी आचार्य हैं। भरतसूत्र में दो शब्द व्याख्येय हैं—संयोग और निष्पत्ति। भट्टलोल्लट ने 'संयोग' शब्द के तीन अर्थ किये हैं—उत्पाद्य-उत्पादकभाव, गम्य-गमकभाव और पोष्य-पोषक भाव। इसी प्रकार 'निष्पत्ति' शब्द के भी तीन अर्थ करते हैं—उत्पत्ति, प्रतीति और उपचिति। अर्थात् विभाव के साथ स्थायीभाव का संयोग उत्पाद्य-उत्पादक भाव

सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति (उत्पत्ति) होती है। यहाँ पर निष्पत्ति का अर्थ 'उत्पत्ति' है। अनुभावों के साथ संयोग अर्थात् गम्य-गमक भाव सम्बन्ध के होने पर निष्पत्ति का अर्थ 'प्रतीति' होगा। व्यभिचारीभावों के साथ पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध होने पर निष्पत्ति का अर्थ 'उपचित्ति' होगा। इस प्रकार रत्यादि स्थायीभाव का विभावों (आलम्बन और उद्दीपन) के साथ जन्य-जनक भाव सम्बन्ध होने पर रस की उत्पत्ति होती है और अनुभावों कटाक्षादि अनुभावों के साथ गम्य-गमक भाव सम्बन्ध होने पर रस की प्रतीति होती है तथा सहकारी (व्यभिचारी) भावों के साथ पोष्य-पोषक सम्बन्ध होने पर रस की पुष्टि होती है।

अन्य मत के अनुसार ललना आदि आलम्बन विभावों के द्वारा जन्य-जनक भाव सम्बन्ध से रत्यादि भाव उत्पन्न होता है, उद्यानादि रूप उद्दीपन विभावों से उद्दीप्य-उद्दीपक भाव सम्बन्ध से वह उद्दीप्त होता है, कटाक्ष-भुजाक्षेपादि अनुभावों के द्वारा गम्य-गमक सम्बन्ध से प्रतीति के योग्य होता है और निर्वेदादि व्यभिचारीभावों के द्वारा पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध से परिपुष्ट (उपचित) किया गया रत्यादि स्थायी भाव ही रस है।

वस्तुतः स्थायीभाव ही रस है। मानव-हृदय में रत्यादि भाव प्रसुप्त अवस्था में विद्यमान रहता है जो नायक-नायिकादि आलम्बन कारणों से उत्पन्न होकर, उद्यानादि रूप कारणों से उद्दीप्त होकर तथा कटाक्षादि रूप कार्यों से अभिव्यक्त होकर और व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर रस कहलाता है। इस प्रकार विभावादि के संयोजन से उपचित स्थायीभाव ही रस रूप में उत्पन्न होता है। अन्य आचार्य कहते हैं कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों को संयोग से अर्थात् जन्य-जनक भाव सम्बन्ध से रस की उत्पत्ति होती है और गम्य-गमक भाव सम्बन्ध से रस की अभिव्यक्ति होती तथा पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध से रस की पुष्टि होती है। इस प्रकार उनके मतानुसार विभावादि के संयोजन से रस की ही उत्पत्ति, अभिव्यक्ति या पुष्टि होती है। किन्तु भट्टलोल्लट के मतानुसार विभावादि के द्वारा उपचित स्थायीभाव ही रस रूप में उत्पन्न होता है। यही भट्टलोल्लट का उत्पत्ति-वाद' सिद्धान्त है। भट्टलोल्लट के इस सिद्धान्त के अनुसार मानव-हृदय में वासना रूप में विद्यमान रत्यादि भावों के रस रूप में उत्पन्न होने में विभावादि कारण और अनुभाव कार्य तथा व्यभिचारी सहकारी होते हैं। इस प्रकार कार्य-कारणभाव सम्बन्ध के समान ही विभावादि के संयोग से स्थायीभाव रस रूप में उत्पन्न होता है। अतः उपचित स्थायीभाव ही रस है जो अनुकार्य में रहता है किन्तु अनुसन्धान के बल से अनुकर्त्ता नट में अनुकार्य की तद्रूपता का आरोप कर लिया जाता है। इसलिए इस सिद्धान्त को 'आरोपवाद' भी कहा जाता है। भट्टलोल्लट का यह सिद्धान्त मीमांसा तथा वेदान्त का मतानुगामी सिद्धान्त कहा जाता है।

भट्टलोल्लट के इस मत का अनुसरण दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों ने भी किया है। दण्डी का कथन है कि 'रूप बाहुल्य के योग से रति (स्थायीभाव) ही

'राम एवायम् अयमेव राम इति' न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद्वा न वाऽयमिति, रामसदृशोऽयमिति च सम्यङ्-मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे—

सेयं ममांगेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलालिका दृशोः।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरतां गता ॥२५॥

शृंगार-रसता को प्राप्त करती है।' और 'पराकाष्ठा पर पहुँच कर क्रोध ही रौद्र रस-रूपता को प्राप्त करता है'।

रतिः शृङ्गारतां गता रूपबाहुल्ययोगेन।
अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः ॥

इस मत पर आक्षेप करते हुए भी शंकुक कहते हैं कि आप मुख्य रूप से अनुकार्य राम में और गौण रूप से अनुकर्त्ता नट में रस की उत्पत्ति, प्रतीति और पुष्टि मानते हैं तो सामाजिकों के हृदय में रस की उत्पत्ति कैसे होगी ? दूसरे, अनुकार्य रामादि तो अब इस जगत् में नहीं हैं तो इस समय के अभिनय से उनमें रसानुभूति कैसे होगी ? और इसी प्रकार अनुकर्त्ता नट में भी रसानुभूति कैसे होगी ? तीसरे, अनुकार्य कल्पित होते हैं जिनका अस्तित्व ही प्रामाणिक नहीं, तो उनमें रसानुभूति कैसे ? चौथे, हास्यरस के छः भेद जो आश्रयगत तथा सहृदयगत भी होते हैं तो रस को दोनों में परमित मान लेने पर सहृदय में ये भेद नहीं बनेंगे। पाँचवें, यदि स्थायी के तारतम्य मे रस भेद मान भी लें तो काम की दस अवस्थाओं में असंख्य रस मानने पड़ेंगे। छठे, करुण रस में प्रारम्भ में शोक तीव्र होता है और बाद में मन्द देखा जाता है तथा इसी प्रकार रौद्र, वीर, शृंगार में भी क्रोध, उत्साह, रति आदि का भी ह्रास देखा जाता है। अतः उपचय के स्थान पर अपचय (ह्रास) की स्थिति में 'उपचित स्थायीभाव रस है' यह कहना असंगत होगा। सातवें, स्थायीभाव का विभादि के साथ संयोग न होने मे विभावादि के लिङ्गत्व के अभाव में अनुमान भी नहीं होगा।

श्री शंकुक का अनुमितिवाद

अनुवाद—'यह राम ही है' या 'यह ही राम है' इस प्रकार की (सम्यक् प्रतीति) 'यह राम नहीं है' इस प्रकार उत्तरकाल में बाध होने पर 'यह राम है' इस प्रकार की (मिथ्या-प्रतीति) 'यह राम है अथवा नहीं' इस प्रकार की (संशय-प्रतीति), 'यह राम के समान है' इस प्रकार की (सादृश्य-प्रतीति) इस प्रकार सम्यक् प्रतीति, मिथ्या-प्रतीति, संशय-प्रतीति और 'सादृश्य-प्रतीति' से विलक्षण 'चित्रतुरग-न्याय' से 'यह राम है' इस प्रकार की प्रतीति होने से ग्राह्य नट में—

दैवादहमद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च ।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम् ॥२६॥

इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्त्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः 'संयोगात्' गम्यगमकभावरूपात्, अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशंकुकः ।

'यह मेरे अंगों में अमृत-रस की छटा, आँखों की सुन्दर कपूर की शलाका और मेरे मन की शरीर-धारिणी मनोरथश्री (मनोरथ की शोभा) वह प्राणेश्वरी (प्राणप्रिया) अब दृष्टिगोचर हुई अर्थात् दिखाई दी' ॥२५॥

'दैववश, आज मैं उस चंचल दीर्घ नेत्रों वाली (प्रियतमा) से विमुक्त हुआ और घने चारों ओर छाये हुए बादलों से युक्त यह समय आ गया है' ॥२६॥

इत्यादि काव्यों के अनुसन्धान के बल से तथा शिक्षा और अभ्यास से सम्पादित अपने कार्य के प्रकट न नट के द्वारा ही प्रकाशित होने वाले कृत्रिम होने पर भी वैसा न समझे जाने वाले विभावादि (विभाव, अनुभाव, संचारीभाव) शब्द से व्यवहृत होने वाले (कहे जाने वाले) कारण, कार्य और सहकारी (भावों) के साथ संयोग गम्य-गमक भाव सम्बन्ध से अनुमीयमान होकर भी वस्तु के सौन्दर्य के कारण रसनीय (आस्वाद के योग्य) होने से अन्य अनुमीयमान विषयों से विलक्षण स्थायीभाव रूप में संभाव्यमान (ज्ञायमान) रति आदि भाव वहाँ नट में न रहने पर भी सामाजिकों की वासना के द्वारा आस्वाद्यमान (चर्व्यमाण) होकर 'रस' कहलाता है, यह श्री शंकुक का मत है ॥

विमर्श—श्री शंकुक अनुमितिवादी आचार्य हैं । इनका मत न्यायसिद्धान्त का अनुसरण करता है । इनके मत में भरतसूत्र के 'संयोगात्' का अर्थ अनुमाप्य-अनुमापकभाव सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' है । इस प्रकार इनके मतानुसार रस अनुमेय है, विभावादि रसानुमिति के साधन है, सहृदय (रसिक) अनुमितिकर्त्ता है, रत्यादि स्थायीभाव राम में विद्यमान रहता है । वही विभावादि के द्वारा अनुमित होकर 'रस' कहलाता है । भाव यह कि रस मुख्य रूप से राम में रहता है और

सहृदय नर में उसका अनुमान कर लेता है और वासना के कारण उसका आस्वादन (चर्वणा) करता है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के द्वारा अनुमाप्य-अनुमापक भाव सम्बन्ध से नर में रस की अनुमिति होती है। इसीलिए इस मत को रसानुमितिवाद कहते हैं। इस प्रकार भी शंकुक का मत भट्टलोल्लट के मत पर आधारित प्रतीत होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि लोल्लट के मत में सहृदय नट में रामादि का आरोप करता है जबकि शंकुक के मत में वह अनुमान करता है।

श्री शंकुक ने उक्त अनुमान को लौकिक अनुमान को विलक्षण माना है। उनके मत में लोक में चार प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं—

(१) सम्यक् ज्ञान
(२) मिथ्या ज्ञान
(३) संशय ज्ञान
(४) सादृश्य ज्ञान

श्री शंकुक के उक्त चतुर्विध प्रतीतियों में 'सम्यक् प्रतीति' के उदाहरण के रूप में 'स एवायं रामः' तथा 'अयमेव रामः' ये दो वाक्य प्रयुक्त हुए हैं। इन दोनों वाक्यों में 'एव' शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है। 'एव' शब्द के तीन अर्थ होते हैं—अयोगव्यवच्छेद, अन्ययोगव्यवच्छेद और अत्यन्तायोगव्यवच्छेद।

अयोगमन्ययोगं च अत्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः॥

यह 'एव' शब्द कभी विशेषण के साथ प्रयुक्त होता है, कभी विशेष्य के साथ और कभी क्रिया के साथ प्रयुक्त होता है। इनमें विशेषण के साथ प्रयुक्त 'एव' शब्द अयोगव्यवच्छेद' होता है (विशेषणसङ्गतस्त्वेवकारोऽयोगव्यवच्छेदकः)। 'राम एवायं' तथा 'अयमेव रामः' इन दोनों वाक्यों में 'राम' शब्द विशेषण है और 'अयम्' पद विशेष्य है। इनमें 'राम एवायम्' इस वाक्य में राम (विशेषण) के साथ 'एव' का प्रयोग होने से 'एव' का अर्थ 'अयोगव्यवच्छेद' अर्थात् असम्बन्ध का निवारण होता है। अतः इस वाक्य का अर्थ होगा 'यह राम से भिन्न नहीं है'। दूसरे वाक्य 'अयमेव रामः' में 'अयम्' विशेष्य के साथ 'एव' पद का प्रयोग होने से 'एव' का अर्थ 'अन्ययोगव्यवच्छेदक' होता है। क्योंकि विशेष्य के साथ प्रयुक्त 'एव' शब्द अन्य योग का व्यवच्छेदक होता है (विशेष्यसङ्गतस्त्वेवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः)। इस प्रकार 'अयम्' विशेष्यपद के साथ प्रयुक्त 'एव' पद का अर्थ अन्ययोगव्यवच्छेद अर्थात् 'अयम्' से भिन्न में रामत्व के सम्बन्ध का निवारण होता है। अतः इस वाक्य का अर्थ होगा 'यही राम है, अन्य कोई नहीं'। इस प्रकार ये दोनों पद 'सम्यक् प्रतीति' के उदाहरण हैं।

श्री शंकुक के अनुसार 'रामोऽयम्' इस ज्ञान के बाद 'न रामोऽम्' इस प्रकार का ज्ञान होना मिथ्याज्ञान है। इसी प्रकार 'रामः स्याद्वा न वाऽयमिति' (यह राम है अथवा नहीं ?) इस प्रकार का ज्ञान सदृशज्ञान है। 'रामसदृशोऽयम्' (यह राम के समान है) इस प्रकार का ज्ञान सदृशज्ञान है।

चित्रतुरगादिन्याय—जिस प्रकार चित्रस्थ घोड़े को देखकर लोग 'यह घोड़ा है' इस प्रकार व्यवहार करते हैं किन्तु यह ज्ञान न सम्यग् ज्ञान है, न मिथ्याज्ञान है, न संशयज्ञान है और न सादृश्यज्ञान है। बल्कि यह चित्रस्थ तुरग में होने वाला ज्ञान उक्त चारों प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण है, भिन्न है। इसी प्रकार नट में राम की प्रतीति उक्त चारों प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण है, भिन्न है। इसे हम अनुकृतिजन्य ज्ञान या अनुकृत प्रत्यय कह सकते हैं, क्योंकि यह अनुकृत-प्रत्यय उपर्युक्त चारों प्रत्ययों (प्रतीतियों) से विलक्षण है।[1] यह अनुकृति अनुमिति का पूर्व योग है। यह अनुकृति रत्यादि भाव-प्रतीति का कारण है। इसी अनुकृति रूप साधन से भावानुमिति निष्पन्न होती है, 'कारण, कार्य और सहकारी भाव उसी स्थिति में विभाव, अनुभाव और संचारीभाव कहलाते हैं। जब वे अनुकृत होकर काव्य में आते हैं।'

इस प्रकार शंकुक के अनुसार विभावादि काव्य में अनुकृत होते हैं और भाव अनुमित होने के साथ-साथ अनुकृत भी होता है और तभी अनुकृत विभावादि के माध्यम से अनुकृत अनुमित भाव (स्थायी) रस कहलाता है। इसीलिए अभिनवभारतीकार कहते हैं कि 'कारणरूप विभाव, कार्यरूप अनुभाव तथा सहकारी रूप व्यभिचारी भावों के द्वारा नट के शिक्षा और अभ्यासादि रूप प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम न प्रतीत होने वाले कारण, कार्य, सहकारी रूप विभावादि के द्वारा अनुकर्त्ता नट में स्थित लिंग के द्वारा अनुमान से प्रतीत होने वाला अनुकार्य राम में विद्यमान स्थायीभाव का यह अनुकरण रूप होता है और अनुकरण रूप होने के कारण ही यह स्थायीभाव उससे भिन्न नाम से व्यवहृत होने वाला पदार्थ 'रस' कहलाता है।'

'तस्माद्धेतुर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्त्तृस्थत्वेन लिंगबलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः; अनुकरणत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः'।

इस प्रकार काव्यप्रकाश में शंकुक के मत का विवेचन करते हुए काव्यप्रकाशकार कहते हैं कि रसानुमिति में विभावादि की प्रतीति चित्रतुरगन्याय से होती है अर्थात् रामादि के अनुकारक नट में कटाक्षादि अनुभावों के यथार्थ न होने पर भी नट शिक्षा और अभ्यास के बल से कृत्रिम कटाक्षादि का प्रदर्शन करता है। इस प्रकार कृत्रिम रामादि रूप नट के द्वारा कृत्रिम कटाक्षादि अनुभावों के प्रकाशन से अनुमान के द्वारा रस की अनुभूति होती है। भाव यह कि कृत्रिम रामादि गत रति (रस) का सामाजिक (सहृदय) अनुमान के द्वारा अनुभव करता है। यद्यपि विभावादि सभी

---

१. जैसाकि अभिनवभारती में कहा गया है—

'सम्यङ्‌मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन 'यः सुखी रामः, असावयम्' इति प्रतीतिरस्ति।

उपकरण कृत्रिम हैं किन्तु सहृदय उन्हें कृत्रिम न मानता हुआ काव्य में विभावादि नाम से व्यवहृत करता है।

रस-चर्वणा—अब प्रश्न यह उठता है कि सामाजिक (सहृदय) इस अनुमीयमान रस का आस्वादन कैसे करता है? शंकुक का कहना है कि यद्यपि अनुमीयमान रस न कृत्रिम रामादि रूप नट में रहता है और न सहृदय (सामाजिक) में रहता है किन्तु वासना के बल से, वस्तु-सौन्दर्य के बल से सहृदय दोनों (नट और सहृदय) में अविद्यमान किन्तु अनुमीयमान रस का आस्वादन करता है। वस्तुतः अनुकृत भाव-रूप वस्तु में एक विलक्षण सौन्दर्य होता है, वहाँ प्रबल वस्तु-सौन्दर्य सहृदय में एक विलक्षण आवेग उत्पन्न कर देता है जिसे सामाजिक की रसानुभूति कही जा सकती है। इस प्रकार यह अनुमीयमान रत्यादि भाव कलात्मक सौन्दर्य युक्त वस्तु होने से अन्य अनुमीयमान विषयों से विलक्षण होता है। इसीलिए सामाजिक वासना के बल से उसका आस्वादन करता और वही वासना से चर्व्यमाण रस कहलाता है। (**सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रसः इति श्रीशंकुकः**)।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि शंकुक के अनुसार रस बोध में अनुकृति एक आवश्यक तत्त्व है और सहृदय का रसबोध अनुमित अर्थ है तथा अनुमान का आधार नट है जिसमें स्थायीभाव रूप रस अनुकृत है। नट अनुकारक है। सहृदय नट में अनुमान करके वस्तु-सौन्दर्य के बल से रस बोध प्राप्त करता है। इस प्रकार नट द्वारा अनुकृत और सहृदय द्वारा अनुमित स्थायीभाव रस है, यह श्रीशंकुक का अभिप्राय है।

समीक्षा—श्रीशंकुक के उक्त मत में भट्टतौत आदि आचार्यों ने आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। शंकुक के मत में सहृदय और नट में जो विभावादि हैं वे सब कृत्रिम हैं और कृत्रिम विभावादि के आधार पर रसानुभूति नहीं हो सकती; क्योंकि उन्होंने रसानुभूति का आधार अनुमान माना है। अनुमान से होने वाला ज्ञान परोक्ष होता है, प्रत्यक्ष नहीं। वस्तुतः प्रत्यक्ष ज्ञान से जो चमत्कारपूर्ण रसानुभूति होती है वह अनुमान के द्वारा नहीं हो सकती, क्योंकि अन्य में विद्यमान आनन्द का अनुमान अन्य में कदापि नहीं हो सकता। दूसरे इस अनुमान में सब कुछ कृत्रिम ही कृत्रिम है। अतः कृत्रिम साधन से अनुमान संभव नहीं है।

श्री शंकुक का अनुकरण-सिद्धान्त दर्शक तथा सहृदय की दृष्टि से आदरणीय नहीं है। अनुकरण सादृश्य-प्रतीति पर आधारित है। अनुकार्य रामादि तथा अनुकर्त्ता नट को देखने पर ही अनुकरण की प्रतीति होती है। किन्तु अनुकार्य के रत्यादिभाव दर्शकों में किसी के द्वारा भी प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः नट द्वारा रत्यादि-भाव का अनुकरण तथा अनुक्रियमाण रत्यादि का रस रूप में अनुमान कैसे संभव है? क्योंकि प्रत्यक्षीकरण के अभाव में अनुकार्य (रामादि) का अनुकरण संभव न होने से रस रूप में अनुक्रियमाण में रत्यादि को रस का अनुमाप्य कैसे माना जा सकता है?

'न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते, अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्ति-सतत्त्वेन भोगेन भुज्यते' इति भट्टनायकः।

दूसरे नाट्यशास्त्र कहीं भी इस अनुकरण-सिद्धान्त का कोई संकेत नहीं मिलता, अतः भरतमुनि के द्वारा यह अभिमत भी नहीं है। इस प्रकार उनका अनुकरण सिद्धान्त मान्य नही है।

श्री शंकुक का चित्रतुरगन्याय का सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। क्योंकि चित्रतुरगन्याय सादृश्य-विधान की देन है। सिन्दूरादि के द्वारा तूलिका से रञ्जित गो में वास्तविक गाय की अभिव्यक्ति नहीं होती, केवल गोसदृश अंगों की रचना स्पष्ट होती है और इसीलिए चित्रस्थ गो में गो सादृश्य की प्रतीति होती है किन्तु नट में वैसा सादृश्य विधान नहीं है, और विभावादि में भाव का कोई आकृत्यात्मक अनुकरण नहीं होता अतः यह सिद्धान्त भी मान्य नहीं है।

भट्टनायक का भुक्तिवाद

अनुवाद—'न तटस्थ रूप से और न आत्मगत रूप से रस की प्रतीति होती है, न उत्पत्ति होती है और न अभिव्यक्ति होती है, अपितु काव्य और नाटक में अभिधा से भिन्न विभावादि के साधारणीकरण रूप 'भावकत्व' नामक व्यापार से भाव्यमान (साधारणीकृत) स्थायीभाव सत्त्व के उद्रेक से प्रकाश और आनन्दमयसंविद् (ज्ञान) के विश्रान्त स्वरूप वाला अर्थात् वेद्यान्तर सम्पर्कशून्य भोग से भोगा जाता है अर्थात् भोजकत्व व्यापार द्वारा अनुभव (भोग) किया जाता है' यह भट्टनायक का मत है।

विमर्श—भट्टनायक का मत 'भुक्तिवाद' के नाम से विख्यात है। ये सांख्यवादी आचार्य हैं। इनका सिद्धान्त सांख्य-सिद्धान्त पर आधारित है। इन्होंने भरतसूत्र के 'संयोग' पद का अर्थ भोज्य-भोजकभाव सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'भुक्ति' किया है। इस प्रकार इनके मतानुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के द्वारा भोज्य-भोजक-भाव रूप सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति (भुक्ति) होती है अर्थात् सामाजिक द्वारा रस का भोग (आस्वादन) किया जाता है। भट्टनायक पूर्वोक्त मतों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि रस न प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त होता है, अपितु विभावादि साधारणीकरण रूप भावकत्व व्यापार से भावित होता हुआ सत्त्वोद्रेक, प्रकाशानन्द रूप संविद्विश्रान्तिस्वरूप भोजकत्व (भोग) से आस्वादित होता है।

भट्टनायक प्रथम भट्लोल्लट के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि भट्टलोल्लट जो मुख्यरूप से तटस्थ राम में (अनुकार्य में) और गौणरूप से तटस्थ अनुकर्त्ता नट में रस की उत्पत्ति और प्रतीति मानते हैं वह ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर सामाजिक में रस की प्रतीति कैसे होगी ? अतः रस की निष्पत्ति न अनुकार्य राम में होती है और न अनुकर्त्ता नट में ही होती है; क्योंकि दोनों ही तटस्थ हैं, उदासीन हैं, तटस्थ में रस की निष्पत्ति नहीं होती, वास्तविक निष्पत्ति तो सामाजिक में होती है। श्री शंकुक तटस्थ अनुकर्त्ता नट में रस की अनुमिति मानते हैं किन्तु उनका मत भी समीचीन प्रतीत नहीं होता; क्योंकि उनके मत में अनुमान से होने वाला ज्ञान परोक्ष होता है अतः अनुमिति के परोक्षज्ञान होने से प्रत्याक्षात्मक रसानुभूति नहीं हो सकती; क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान से जो चमत्कारपूर्ण रसानुभूति होती है वह अनुमान के द्वारा संभव नहीं है, क्योंकि अन्य में विद्यमान आनन्दानुभूति का अनुमान अन्य में कैसे हो सकता है ? अतः यह सिद्धान्त भी स्वीकार्य नहीं है। इस प्रकार ताटस्थ्य से (अनुकार्य तथा अनुकर्त्ता) रस की प्रतीति, उत्पत्ति और अनुमिति नहीं हो सकती।

भट्टनायक के अनुसार आत्मगत (स्वगत) रूप से भी रस की प्रतीति नहीं होती; क्योंकि यदि स्वगत (आत्मगत सामाजिकगत) रस की प्रतीति मानते हैं तो करुणरस में सामाजिक को दुःख की और भयानक रस में भय की प्रतीति होने लगेगी, ऐसी स्थिति में तन्मयता न होने से सामाजिक को रसानुभूति नहीं होगी। इसलिए न तो परगत (अनुकार्यगत और अनुकर्तृगत) रस की उत्पत्ति या प्रतीति होगी; क्योंकि अनुकार्य रामादि के वहाँ न रहने से अनुकार्य में उत्पन्न रस से सामाजिक को रस की अनुभूति नहीं हो सकती। अनुकर्त्ता नट में भी उत्पत्ति, प्रतीति या अनुमिति नहीं हो सकती। आत्मगत रूप से रस की उत्पत्ति या प्रतीति नहीं हो सकती, यह भट्टनायक का अभिप्राय है।

नाभिव्यज्यते—अभिनवगुप्त रस की निष्पत्ति अनुकार्य राम तथा अनुकर्त्ता नट में न मानकर सामाजिक में रस की अभिव्यक्ति मानते हैं। किन्तु भट्टनायक उनके मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि स्थायीभाव रूप रस की अभिव्यक्ति न तो अनुकर्त्ता नट में संभव है और न तो सहृदय में ही संभव है। क्योंकि अभिव्यक्ति सदैव विद्यमान वस्तु की ही होती है (**सिद्धस्यैव तत्संभवात्**) और वस्तु की सत्ता अभिव्यक्ति के पूर्व भी रहती है और बाद में भी; किन्तु रस तो अनुभूतिस्वरूप होने से अनुभूतिकाल में ही उसकी सत्ता रहती है, उसके पहिले या बाद में उसका अस्तित्व नहीं रहता, अतः उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार भट्टनायक ने उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद और अभिव्यक्तिवाद तीनों मतों का खण्डन कर भुक्तिवाद की स्थापना की है।

भट्टनायक ने उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद तीनों मतों का खण्डन करके भुक्तिवाद की स्थापना की है। उन्होंने भुक्तिवाद की सिद्धि के लिए अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व नामक दो नवीन व्यापारों को स्वीकार किया है। इस प्रकार भट्टनायक काव्य के तीन व्यापार मानते हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व। इनमें अभिधा व्यापार के द्वारा काव्य का अर्थमात्र समझा जाता है। अर्थात् काव्य में अभिधा द्वारा उत्पन्न अर्थ व्यक्ति-विशेष (नायक-नायिका) के रत्यादि से सम्बद्ध होता है और भावकत्व व्यापार उस अभिधा-जन्य अर्थ को परिष्कृत कर उसका व्यक्ति-विशेष से सम्बन्ध हटाकर साधारणीकरण कर देता है और सामाजिक का उससे सम्बन्ध हो जाता है। इसी भावकत्व व्यापार द्वारा सामाजिक के अन्तःकरण में रामादि रूप विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है। भट्टनायक के अनुसार काव्य और नाटक में अभिधा और लक्षणा से भिन्न एक विलक्षण शक्ति होती है। इस विलक्षण शक्ति को ही भावकत्व व्यापार कहते हैं। इस भावकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीकृत विभावादि व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध से उन्मुक्त होकर सामाजिक से सम्बद्ध हो जाते हैं तब उनमें व्यक्तिगत विशेषताएँ नहीं रह जातीं। इस प्रकार विभावादि का साधारणीकरण हो जाने के बाद रत्यादि स्थायीभाव का भी साधारणीकरण हो जाता है। अर्थात् रामादिगत रत्यादि साधारण रत्यादि के रूप में सामाजिक के समक्ष उपस्थित होते हैं। प्रदीपकार के अनुसार सीतादि का साधारण नायिका के रूप में भासित होना साधारणीकरण है।

इस प्रकार भावकत्व व्यापार द्वारा साधारणीकरण हो जाने पर भोजकत्व व्यापार उस साधारणीकृत रत्यादि स्थायीभाव का रस के रूप में भोग करवाता है। तात्पर्य यह है कि भट्टनायक के अनुसार भाव्यमान (साधारणीकृत) रत्यादि स्थायीभाव सहृदयों के हृदय में रजस् और तमस् को अभिभूत करके सत्त्वगुण का उद्रेक होने से प्रकाशरूप और आनन्दरूपी सद्विश्रान्तिरूप अर्थात् वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य भोजकत्व व्यापार से आस्वादित किया जाता है। भाव यह कि भट्टनायक के अनुसार भोजकत्व व्यापार रस का भोग कराने वाला व्यापार है। भोग—चित्त की वह अवस्था-विशेष है जिसमें रजस् और तमस् का सर्वथा तिरोभाव होकर आनन्दरूप सत्त्वगुण का उद्रेक होता है जो शुद्ध, सात्त्विक, प्रकाश एवं आनन्दरूप तथा वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य होता है। जिसमें विलक्षण आनन्द की अनुभूति होती है, यही रसभोग है। यह आनन्दानुभव साधारण आनन्द से उत्कृष्ट और ब्रह्मास्वाद सहोदर कहा जाता है।

इस प्रकार भट्टनायक के अनुसार काव्य के श्रवण तथा नाटक के दर्शन से पहले उसका अर्थ समझा जाता है, फिर भावकत्व व्यापार द्वारा भावित किया जाता है। उसके बाद सत्त्वगुण के उद्रेक से रजोगुण और तमोगुण के दब जाने पर प्रकाशरूप आनन्द का अनुभव होता है, यह आनन्दानुभव वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य और ब्रह्मास्वादसविध है, यही रसानुभव है।

लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्द-व्यवहार्य्यैर्ममैवैते, शत्रोरेवैते तटस्थस्यैते, न ममैवैते, न शात्रोरेवैते, न ताटस्थ-स्यैवेते, इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरमित-प्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरमितभावेन प्रमात्रा सकल-सहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वीकार इव भिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणैक-प्राणः विभावादिजीविताावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः, पुर इव परि-स्फुरन्, हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्, अन्यत्सर्वमिवतिरोदधत्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्; अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।

समीक्षा—भट्टनायक रस की न उत्पत्ति मानते हैं, न अनुमिति और न अभि-व्यक्ति। वे रस को भावित मानते हैं। उक्त तीनों से अतिरिक्त भावित होना क्या है? उत्पत्ति और अनुमिति का तो ऊपर खण्डन किया जा चुका है अतः यह भावित होना व्यंजना के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? यह तो व्यंजना का ही नामान्तर प्रतीत होता है। भट्टनायक का कथन है कि स्थायीभाव का भावन एक विलक्षण शक्ति है किन्तु व्यंजनावादियों का कथन है कि वासनारूप स्थायी प्रत्येक प्राणी में अव्यक्ता-वस्था में विद्यमान रहता है। और जब काव्य में विभावादि के द्वारा व्यक्त होता है तब रस कहलाता है। इस प्रकार व्यक्त स्थायीभाव वासनारूप होने के कारण स्वतः-साधारणीकृत रहता है अतः पृथक् साधारणीकृत व्यापार की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार भट्टनायक की भुक्ति रस प्रतीति से पृथक् नहीं है। सत्त्वगुण के उद्रेक से चेतना जब आनन्दमय रूप में व्यक्त हो उठती है तो रस प्रतीति कहलाती है और यही रस प्रतीति भुक्ति है। अतः भट्टनायक का भावकत्व और भोजकत्व-व्यापार व्यंजना और रसास्वाद के भिन्न नहीं प्रतीत होते, केवल नामान्तर प्रतीत होते हैं।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

अनुवाद—लोक में प्रमदा आदि के द्वारा (रत्यादि) स्थायीभाव के अनु-मान करने में निपुण सामाजिकों को काव्य और नाटक में उन्हीं कारणत्व आदि (कारण, कार्य, सहकारी आदि) को छोड़कर विभावन आदि व्यापार से युक्त होने से अलौकिक विभाव आदि शब्दों से व्यवहृत किये जाने वाले (व्यवहार्य) उन्हीं से 'ये मेरे ही हैं' 'ये शत्रु के ही हैं', 'ये तटस्थ के ही हैं', 'ये मेरे नहीं हैं', 'ये शत्रु के नहीं हैं', 'ये तटस्थ के भी नहीं हैं' इस प्रकार के

सम्बन्ध विशेष के स्वीकार अथवा परिहार (निषेध) करने के नियम का निश्चय न होने से साधारणरूप से प्रतीत होने वाले (ज्ञायमान) से अभिव्यक्त सामाजिकों में वासनारूप स्थित रत्यादि स्थायीभाव नियत प्रमाता (व्यक्तिगत सामाजिक) के रूप में स्थित होने पर भी साधारण उपायों के बल से उसी समय परमित प्रमातृ भाव के नष्ट हो जाने के कारण आविर्भूत हो गया है वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य अपरिमित प्रमातृभाव जिसका, ऐसे प्रमाता के द्वारा समस्त सहृदयों में समान अनुभव से युक्त सामान्य रूप से अपने आकार के समान अभिन्न रूप से अनुभूत होता हुआ आस्वादमात्र स्वरूप वाला विभाव आदि की स्थिति पर्यन्त रहने वाला, पानक रस के समान आस्वाद्यमान, सामने परिस्फुरित होता हुआ सा हृदय में प्रविष्ट होता हुआ सा, सारे अंगों को स्पर्श करता हुआ सा, अन्य सब को तिरोभूत करता हुआ सा, ब्रह्मास्वाद के समान आनन्द का अनुभव करता हुआ सा, अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न करने वाला शृंगार आदि रस कहा जाता है।

विमर्श—अभिनवगुप्त 'अभिव्यक्तिवादी' आचार्य हैं। उनका मत 'अभिव्यक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है जिसे आलङ्कारिक मत माना गया है। उनके मत में 'संयोग' पद का अर्थ 'व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध' और 'निष्पत्ति' पद का अर्थ 'अभिव्यक्ति' किया है। उनके मतानुसार विभावादि के साथ व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध से रत्यादि स्थायीभाव रस के रूप में अभिव्यक्त होता है।

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के 'भुक्तिवाद' से प्रेरणा लेकर 'अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की है। उनका कहना है कि व्यंजना के द्वारा सकलविघ्नविनिर्मुक्त संविद् की प्राप्ति होती है जिसे भोग का आस्वाद कहते हैं। यही 'भोग' भट्टनायक का भोजकत्व व्यापार या भोगीकरण है। भट्टनायक के अनुसार भावकत्व व्यापार के द्वारा विभावादि का साधारणीकरण होता है। जिसे अभिनवगुप्त व्यंजना व्यापार कहते हैं। इसके द्वारा रस का भोग अर्थात् रस की अभिव्यक्ति या रसास्वादन होता है। इस प्रकार भावकत्व-व्यापार व्यंजनाशक्ति का प्रथम उन्मेष है और द्वितीय उन्मेष है भोगीकरण या रसचर्वणा (रसास्वादन)।

अभिनवगुप्त ने सामाजिक को दृष्टि में रखकर रस का विवेचन किया है। सामाजिक के हृदय में रत्यादि स्थायीभाव वासना के रूप में विद्यमान रहते हैं। यही स्थायी ही सामाजिक के हृदय में अभिव्यक्त या उद्बुद्ध होता है, लोक में प्रमदा आदि के द्वारा अनुमान आदि में निपुण सहृदयों के हृदय में जिस प्रकार रत्यादि की अभि-

व्यक्ति होती है उसी प्रकार काव्य और नाटक में भी सहृदयों के हृदय में उन्हीं प्रमदा आदि के द्वारा रत्यादि भावों की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु काव्य या नाटक में ये प्रमदा आदि कारण, कार्य और सहकारी विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के नाम से अभिहित किये जाते हैं। इन्हीं विभावादि के द्वारा सामाजिकों के हृदय में वासना के रूप में स्थित रत्यादि स्थायीभाव व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध से शृङ्गारादि रस के रूप में अभिव्यक्त होता है। यही रसाभिव्यक्ति या रसचर्वणा है। उस समय रसाभिव्यक्ति होने पर सामाजिक इतना आत्मविभोर हो जाता है कि उसे यह ज्ञान नहीं रहता कि ये विभावादि 'मेरे ही हैं' अथवा 'शत्रु के ही हैं' अथवा 'तटस्थ के ही हैं' अथवा 'न मेरे ही हैं', 'न शत्रु के ही हैं' और 'न तटस्थ के ही हैं'। इस प्रकार सम्बन्ध विशेष का निश्चय न होने से सामान्य रूप से 'यह कामिनी है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। भाव यह कि यदि मान लिया जाय कि ये विभावादि मेरे हैं तो 'अन्य सामाजिकों के समक्ष अपनी रति आदि का प्रकाशन अनुचित है, इस प्रकार लज्जा आदि का अनुभव होगा, रसास्वादनभाव तो दूर रहा।' यदि 'ये मेरे शत्रु के हैं' इस प्रकार की प्रतीति हो तो विद्वेष का आविर्भाव होने से रसास्वादन की संभावना ही नहीं रहेगी। इसी प्रकार यदि तटस्थ में सम्बन्ध की प्रतीति मानते हैं तो अपने में उसके अभाव का ज्ञान होने से रसास्वादन अत्यन्त असंगत होगा। इस प्रकार सामान्य कामिनी के रूप में प्रतीति मानी जाती है।

इस प्रकार सामाजिक के हृदय में वासना के रूप में विद्यमान स्थायीभाव नियत प्रमातृगत अर्थात् व्यक्ति विशेष में स्थित होने पर भी व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध से रहित विभावादि के द्वारा काव्य या नाटक में उनका साधारणीकरण हो जाता है जिससे अन्य वेद्य वस्तुओं के ज्ञान से रहित अर्थात् वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य की स्थिति हो जाती है, उससे स्वगत, परगत तथा तटस्थगत भेद से रहित हो जाता है। उस समय राम और सीता में व्यक्तिगत विशेषताएं हटकर साधारण पुरुष और साधारण स्त्री के रूप में भान होता है; और उसके साथ रत्यादि भावों का भी साधारणीकरण हो जाता है। समस्त सामाजिकों के हृदय में समान अनुभूति होती है। उस समय सामाजिक का व्यक्तित्व अपरिमित हो जाता है, परमित प्रगतिभाव विगलित हो जाता है। उसकी व्यक्तिगत भावना मिट जाती है और तब उसे रस की अनुभूति (आस्वादन) होता है।

अब प्रश्न यह है कि रस आस्वादरूप है और रत्यादि भावों का ही रस के रूप में आस्वादन होता है तो जब रत्यादि का (रस के रूप में) ही आस्वादन होता है तो रस का आस्वादन कैसे कहा जाता है? इस प्रकार आस्वाद्य और आस्वादन के भेद का निराकरण करते हुए कहते हैं कि यद्यपि सामाजिक को रत्यादिभाव आस्वाद रूप में अपने से अभिन्न रूप में अनुभूत होता है तथापि इसे आस्वादन का विषय आस्वाद्यमान कहा जाता है। भाव यह कि रस आस्वाद्य है, उसका आस्वादन होता है, फिर

भी यह आस्वादमात्र रूप कहा जाता है क्योंकि जैसे ज्ञान ज्ञेय से भिन्न होने पर भी ज्ञेय को ज्ञान का स्वरूप होने से ज्ञेय माना जाता है अर्थात् जिस प्रकार योगाचार-मत में ज्ञान स्वरूप विषय को ज्ञेय कहा जाता है उसी प्रकार आनन्दात्मक आस्वाद रूप रस आस्वाद्यमान कहा जाता है अर्थात् जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञानस्वरूप (ज्ञान-विषय) ज्ञेय में कोई तात्त्विक भेद नहीं होता उसी प्रकार रस और रस रूप आस्वाद तथा आस्वाद्यमान में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। इस प्रकार रस का स्वरूप आस्वादनमात्र ही है और रस का आस्वादन उसी समय तक होता है जब तक विभावादि रहते हैं अर्थात् विभावादि के न रहने पर रसास्वादन नहीं होता। इसी प्रकार रस आस्वादन उसी प्रकार होता है जिस प्रकार पानक-रस का आस्वादन होता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार इलायची, कालीमिरच, शक्कर, कपूर आदि के मिश्रण से निर्मित पानक-रस का इलाइची आदि के रस (स्वाद) से विलक्षण आस्वाद होता है उसी प्रकार विभावादि रूप व्यंजक सामग्री से अभिव्यक्त रस का विभावादि से विलक्षण अलौकिक आस्वादन होता है जिसे अनिर्वचनीय रसास्वाद कहा गया है। इस प्रकार रस का आस्वाद पानक-रस के समान विलक्षण, अलौकिक एवं अनिर्वचनीय होता है।

इस प्रकार काव्य और नाटक के द्वारा यह आस्वाद्यमान रस सहृदयों के हृदय के लौकिक जीवन के अनुभवों से विलक्षण रूप में चमत्कृत करते हैं, उस रसानुभव काल में सहृदय को ऐसा लगता है कि मानो वह साक्षात् रूप में सामने परिस्फुटित हो रहा है, उसके हृदय में प्रविष्ट सा हो रहा है, समस्त अंग-प्रत्यंग में आलिंगन करता हुआ सा प्रतीत हो रहा है, और संसार की समस्त वस्तुओं को तिरोभूत सा कर रहा है तथा ब्रह्मसाक्षात्कार के समान आनन्द का अनुभव कर रहा है। इस प्रकार यह रस अलौकिक आनन्द प्रदान करने वाला अलौकिक चमत्कारजनक है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त के मतानुसार मानव के हृदय में रत्यादि स्थायीभाव वासना के रूप में विद्यमान रहते हैं। यह रत्यादि रूप (स्थायीभावात्मक) मनोवृत्ति 'यह मेरे हैं', 'यह दूसरे के हैं', 'यह उदासीन के हैं' इस प्रकार के भावों से रहित काव्य एवं नाट्य की महिमा एवं प्रयोग-परम्परा के प्रभाव से साधारणीकरण की भूमि प्राप्त कर सामाजिकों के हृदय को व्यक्तिविशेष की सीमा से हटकर लौकिक कारणादि से विलक्षण अलौकिक विभावादि के द्वारा सहृदयसंवेद्य, चमत्कारैकप्राण, स्वयंप्रकाश, आनन्द-मात्रस्वरूप अखण्ड रस की अनुभूति होती है। उस समय अन्य किसी ज्ञेय वस्तु का संस्पर्श नहीं रहता (वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य)। यह अनुभूति ही आस्वाद है जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद अवभासित नहीं होता, यह ब्रह्मास्वादसहोदर है, यह लौकिक चमत्कारात्मक आस्वाद है. यह आस्वाद रस से भिन्न नहीं, बल्कि रसरूप है, रस ही आनन्द है, और आनन्द ही रस है, यही आस्वाद है और आस्वाद ही रस है।

स च न कार्यः, विभावादिनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात्। नापि-ज्ञाप्यः, सिद्धस्य तस्यासम्भवात्; अपितु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः।

कारकज्ञापकाभ्यामन्यत्र क्व दृष्टमिति चेन्न क्वचिद् दृष्टमित्यलौकिकत्वसिद्धे र्भू षणमेतन्न दूषणम्।

रस की अलौकिकता

अनुवाद– और वह रस कार्य नहीं है, विभावादि का नाश होने पर भी उसकी स्थिति सम्भव हो जायगी। वह ज्ञाप्य भी नहीं है; क्योंकि वह पूर्वसिद्धि अर्थात् पहिले से विद्यमान नहीं है। अपितु विभावादि से व्यंजित और आस्वादनीय (चर्वणा के योग्य) है।

कारक और ज्ञापक के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ देखे जाते हैं? तो यह भी ठीक नहीं; (ऐसा कहा जाय); क्योंकि 'कहीं नहीं देखे जाते' यह बात अलौकिकता की सिद्धि का भूषण है, दूषण नहीं।

विमर्श—अभिनवगुप्त ने रस को अलौकिक कहा है। क्योंकि यह लौकिक परिस्थितियोंमें बद्ध नहीं होता। लोक में दो प्रकार के कारण होते हैं— कारक और ज्ञापक और उसके कार्य भी दो होते हैं—कार्य और ज्ञाप्य। अभिनवगुप्त का मत है कि रस न कार्य होता है और न ज्ञाप्य होता है। लोक में घट के निर्माण में कुलाल आदि कारण हैं और घट कार्य है; क्योंकि वह कारण से उत्पन्न होता है और उसका कारण 'ज्ञापक' कहलाता है। किन्तु रस कार्य नहीं है। क्योंकि कारण के नष्ट हो जाने पर भी कार्य रहता है। जैसे 'घट' कार्य कुलालादि के नष्ट हो जाने पर भी विद्यमान रहता है किन्तु रस यदि कार्य मानते हैं तो रस के कारण विभावादि के नष्ट हो जाने पर रस का अस्तित्व होना चाहिए, किन्तु विभावादि के नष्ट हो जाने पर रस रूप कार्य नहीं रहता अर्थात् रस की प्रतीति नहीं होती। अतः इस कार्य नहीं है। इसी प्रकार रस 'ज्ञाप्य' भी नहीं है। क्योंकि ज्ञाप्य पदार्थ ज्ञान के पूर्व विद्यमान रहता है और बाद में भी जैसे 'घट' ज्ञान का विषय 'ज्ञाप्य' है और उसका ज्ञापक दीपक का प्रकाश है अर्थात् दीपक के प्रकाश में घट का ज्ञान होता है अतः घट 'ज्ञाप्य' कहा जाता है। यह घट (ज्ञाप्य) ज्ञान पूर्व में विद्यमान रहता है और ज्ञान के बाद में भी विद्यमान रहता है। किन्तु इसका अस्तित्व न तो अनुभव के पूर्व रहता है और न बाद में। अर्थात् प्रकाश के न रहने पर भी घट की स्थिति तो रहती है किन्तु विभावादि ज्ञापक के न रहने पर रस का अस्तित्व नहीं रहता; अतः रस ज्ञाप्य भी नहीं है। भाव यह कि लोक में समस्त पदार्थ कार्य और ज्ञाप्य होते हैं किन्तु रस न कार्य होता है और न ज्ञाप्य होता है; अपितु उससे विलक्षण अलौकिक होना है।

चर्वणानिष्पत्या तस्य निष्पत्तिरूपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम् । लौकिक-प्रत्यक्षादिप्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम् ।

इस प्रकार रस जब कार्य नहीं तो कारक उसका कारण भी नहीं है और रस जब ज्ञाप्य नहीं है तो ज्ञापक उसका कारण भी नहीं हो सकता । यदि यह कह जाय कि कारक और ज्ञापक हेतुओं से भिन्न तीसरा हेतु कहीं देखा गया है तो इसका उत्तर होगा कि 'कहीं नहीं' । यही तो उसकी अलौकिकता है । लोक में कारक और और ज्ञापक हेतुओं से भिन्न तीसरा हेतु नहीं देखा जाता, ये दो ही हेतु देखे जाते हैं किन्तु रस के व्यंजक हेतु विभावादि उक्त दोनों हेतुओं से विलक्षण है, अलौकिक है इसलिए वह अलौकिकता की सिद्धि का भूषण है दूषण नहीं । अतः रस भी अलौकिक है ।

इस प्रकार रस की अलौकिकता का प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि रस विभावादि कारणों से उत्पन्न नहीं होता, अतः वह कार्य नहीं है और विभावादि उसके कारक हेतु नहीं हैं क्योंकि विभावादि ज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी रस की संभावना बनी रहती है । (**अतएव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तद्बोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसङ्गात्**—अभिनवभारती) । इसी प्रकार रस ज्ञाप्य भी नहीं है और न विभावादि रस के ज्ञापक हेतु हैं; क्योंकि पूर्वसिद्ध घट के समान प्रमेयभूत रस का पूर्व अस्तित्व नहीं रहता (**नापि ज्ञप्तिहेतवः, येन प्रमाणमध्ये पतेयुः । सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्**---अभिनव भारती) । इस प्रकार लौकिक विषयों से भिन्नता होना रस की अलौकिकता की सिद्धि का भूषण है ।

अनुवाद—चर्वणा (आस्वाद) की निष्पत्ति होने से उसकी निपष्त्ति भी उपचार से कही जा सकती है, इसलिए रस को कार्य भी कहा जा सकता है । लौकिक प्रत्यक्ष आदि से, प्रमाणों की सहायता के बिना होने वाले (युंजान संज्ञक) मित योगियों के ज्ञान से तथा वेद्यान्तर संस्पर्श (अन्य ज्ञेय वस्तु के संपर्क) से रहित, स्वात्ममात्र में पर्यवसित, परमित से भिन्न योगियों के ज्ञान से विलक्षण अलौकिक स्वसंवेदन (अनुभूति) का विषय है, इसलिए ज्ञेय (प्रत्येय, ज्ञाप्य) भी कहा जा सकता है ।

विमर्श—अभिनवगुप्त का कथन है कि रस न कार्य है और न ज्ञाप्य, बल्कि वह इन दोनों से विलक्षण लोकोत्तर (अलौकिक) पदार्थ है । किन्तु जिस प्रकार चर्वणा (आस्वाद) की उत्पत्ति (निष्पत्ति) हुआ करती है, उसी प्रकार रस को उपचारतः

तद्ग्राहकं च निर्विकल्पकं दिभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सवि-कल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। उभयाभाव-स्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति, न तु विरोध-मिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः।

(गौण रूप से) उत्पन्न (निष्पन्न) कहने में क्या हानि है ? रस के सम्बन्ध में कहा गया है कि रस न कार्य है, न ज्ञाप्य है, और न प्रत्येय है; किन्तु वह अलौकिक, सर्वथा विलक्षण संवेदन का विषय है, अतः एक विशेष रूप में, लोकोत्तर रूप में उसे ज्ञेय (ज्ञाप्य) कहा जा सकता है। लौकिक ज्ञान तीन प्रकार के कहे जाते हैं—प्रथम ज्ञान प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से प्राप्त ज्ञान है जिसके द्वारा लौकिक वस्तुओं का साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है। दूसरा ज्ञान 'प्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञान' है अर्थात् अपरिपक्व समाधि में स्थित युञ्जान नामक योगियों का ज्ञान, जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बिना सविकल्पक समाधि में होता है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद बना रहता है। तीसरा ज्ञान मितेतर अर्थात् परिपक्व युक्त (सिद्ध) योगियों का ज्ञान है जो निर्वि-कल्पक समाधि में स्थित योगियों का ज्ञान होता है। यह ज्ञान वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य अर्थात् अन्य ज्ञेय वस्तुओं के ज्ञान से रहित आत्मानुभूतिमात्र होता है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिट जाता है। किन्तु रस की अनुभूति इन तीन प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण अलौकिक है। क्योंकि रस स्वसंवेदन का विषय है जिसमें किसी भी विषय का सम्पर्क नहीं रहता। यह संवेदन समस्त संवेदनों से विलक्षण है, अलौकिक है और आनन्दरूप है।

अनुवाद—विभावादि के परामर्श (ज्ञान) की प्रधानता होने के कारण निर्विकल्पक ज्ञान उसका ग्राहक नहीं हो सकता है और चर्व्यमाण (आस्वाद्यमान) अलौकिक आनन्द रूप रस के स्वसंवेदन सिद्ध होने के कारण सविकल्पक ज्ञान भी (उसका ग्राहक) नहीं हो सकता तथा उभयाभावरूप रस का उभयात्मक (सविकल्पकत्व और निर्विकल्पकत्व) भी पहिले के समान लोकोत्तरता को प्रकट करता है, विरोध को नहीं। यह श्रीमान् अभिनव-गुप्तपादाचार्य का मत है।

विमर्श—अभिनवगुप्त ने रस को स्वसंवेदन का विषय कहा है और संवेदन-ज्ञानरूप है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञान। जब केवल वस्तुमात्र का ज्ञान होता है तो उसे निर्विकल्प ज्ञान कहते हैं। निर्विकल्पक ज्ञान नाम-जात्यादि से रहित वस्तुमात्र का अवगाहन कराने वाला ज्ञान है। इससे भिन्न सविकल्पक ज्ञान नाम-जाति आदि की योजना से सहित होता है अर्थात्

व्याघ्रदयो विभावा भयानकस्येव वीराद्भुतरौद्राणाम्, अश्रुपातादयोऽनुभावाः शृंगारस्येव करुणभयानकयोः, चिन्तादयो व्यभिचारिणः शृंगारस्येव वीर-करुण-भयानकानामिति पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः ।

उसमें वस्तु के नाम, जाति, रूप आदि की योजना रहती है। किन्तु रस तो न निर्विकल्पक ज्ञान का विषय है और न सविकल्पक ज्ञान का विषय है। वह तो इन दोनों ज्ञान से परे विलक्षण है, अलौकिक है। रस या रसानुभूति को निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं कहा जा सकता; क्योंकि रसानुभूति में विभावादि का परामर्श (ज्ञान) आवश्यक है। इसे सविकल्पक ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सविकल्पक ज्ञान नाम जात्यादि की योजना से विशिष्ट होता है—जैसे घट के स्वरूपज्ञान के साथ नाम, जाति आदि का ज्ञान होना। अतः घट सविकल्पक ज्ञान का विषय है। किन्तु रस तो अनुभूति का विषय है, शब्द व्यवहार का विषय नहीं। अतः यह सविकल्पक ज्ञान भी नहीं है। इस प्रकार यह रसानुभूति निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों ज्ञानों से भिन्न, उभयाभावरूप है। किन्तु उभयाभावरूप रस का उभयात्मकत्व (सविकल्पकत्व और निर्विकल्पत्व) विरोध को सूचित नहीं करता; अपितु रस की लोकोत्तरता को ही बोधित करता है। अतः रस अलौकिक आस्वादरूप है।

विश्वनाथ का कथन है कि रस अलौकिक संवेदनवेद्य तत्त्व है। किन्तु इस संविकल्पक संवेदन का विषय नहीं माना जा सकता है; क्योंकि घटपटादि सविकल्पक संवेदन के विषय हैं और सविकल्पक संवेदन द्वारा वेद्य है, किन्तु रस तो समस्त सविकल्पक संवेद्य पदार्थों से विलक्षण अलौकिक तत्त्व है। यह निर्विकल्पक संवेदन का भी विषय भी नहीं है, क्योंकि निर्विकल्पक संवेदन प्रत्यवमर्श से रहित होता है, रस तो विभावादि प्रत्यवमर्शों से युक्त होता है अतः निर्विकल्पक संवेदन का भी विषय नहीं है। इस प्रकार रस एक अनिर्वचनीय तत्त्व है, यह अलौकिक आनन्दरूप है।

अनुवाद—व्याघ्र आदि विभाव भयानक रस के समान वीर, अद्भुत और रौद्र रस के भी (विभाव हो सकते हैं), अश्रुपात आदि अनुभाव शृंगाररस के समान करुण और भयानक रस के भी अनुभाव तथा चिन्ता आदि व्यभिचारीभाव शृंगार रस के समान वीर, करुण, और भयानक रस के भी (व्यभिचारीभाव) होते हैं। इसलिए विभावादि के अलग-अलग अनैकान्तिक होने से अर्थात् किसी एक रस के साथ निश्चित न होने से सूत्र में सम्मिलित रूप में निर्देश किया गया है ।।

वियद्लिमलिनाम्बुगर्भमेघं मधुकरकोकिलकूजितैर्दिशां श्रीः ।
धरणिरभिनवाङ्कुराङ्कटङ्का प्रणतिपरे दयिते प्रसीद मुग्धे ॥२७॥
इत्यादौ

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः
कथमपि परिवार प्रार्थनाभिःक्रियासु ।
कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी—
अभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तः कपोलः ॥२८॥

इत्यादौ

विमर्श—मम्मट ने काव्यप्रकाश में 'व्यक्तः सः तैः' में बहुवचन के निर्देश के द्वारा यह प्रकट होता है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव तीनों मिलकर ही रस के व्यंजक होते हैं। तात्पर्य यह है कि केवल विभाव, या अनुभाव अथवा व्यभिचारीभाव द्वारा रस की अभिव्यक्ति नहीं होती, बल्कि तीन मिलकर रस के द्योतक (व्यंजक) होते हैं। क्योंकि एक विभाव या अनुभावादि कई रसों के विभावादि हो सकते हैं। जैसे व्याघ्रादि जिस प्रकार भयानक रस का विभाव हो सकता है उसी प्रकार वीर, अद्भुत और रौद्र रस का भी विभाव हो सकता है। इसी प्रकार अश्रुपातादि अनुभाव जैसे शृंगार रस में होते हैं उसी प्रकार करुण और भयानक रस में भी सकते हैं और चिन्ता आदि व्यभिचारीभाव जिस प्रकार शृंगार रस में होते हैं, उसी प्रकार वीर, करुण और भयानक रस में भी हो सकते हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये किसी एक रस से सम्बन्ध नहीं रखते अर्थात् कोई भी विभावादि किसी एक रस की अभिव्यक्ति का कारण नहीं होता, अपितु तीनों मिलकर रसाभिव्यक्ति के कारण होते हैं। इसीलिए भरत सूत्र में इनका सम्मिलित रूप में निर्देश है।

अनुवाद—हे मुग्धे ! आकाश भौरों के समान श्यामल जल से भरे हुए बादलों से घिरा हुआ है, भौंरों की गुञ्जार और कोयलों के कूक-कूजन से दिशाएं शोभायमान हैं और पृथ्वी नवीन अंकुर रूपी टाँकियों को अंक (गोद) में धारण किये हुए है, इसलिए हे मुग्धे ! प्रियतम के प्रणत (विनम्र) होने पर प्रसन्न हो जाओ अर्थात् मान छोड़ दो ॥२७॥

इत्यादि स्थलों पर केवल मुग्धा नायिका रूप आलम्बन विभाव का तथा वर्षा ऋतु के मेघ रूप उद्दीपन विभाव का वर्णन है। अनुभाव और व्यभिचारीभाव तो आक्षेप से बोध होता है।

अनुवाद—इस मालती के अंग मसली हुई मृणाली के समान मलिन हो रहा है, सखियों के द्वारा बहुत प्रार्थना करने पर ही किसी तरह आवश्यक कार्यों में प्रवृत्ति होती है, और इस तुरन्त काटे गये हाथी के दांत के समान सुन्दर गोरे कपोल कलंक-रहित चन्द्रमा को धारण कर रहा है॥२८॥

दूरादुत्सुक भागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यरुणं गृहीतवसने किञ्चाञ्चितभ्रूलतम् ।
मानिन्याश्चरणानति व्यतिकरे वाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ।।२९।।

इत्यादौ च

यद्यपि विभावानामनुभावानामौत्सुक्यव्रीड़ाहर्षकोपाऽसूयाप्रसादानां च व्यभिचारिणां केवलानामत्र स्थितिः,—तथाप्येतेषामसाधारणत्वमित्यन्यतम-द्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वमिति ॥

यह मालतीमाधव नाटक का श्लोक है। माधव अपने मित्र मकरन्द से मालती का वर्णन कर रहा है। यहाँ पर अङ्गग्लानि, पाण्डुता आदि अनुभावों का वर्णन है। शेष विभाव और व्यभिचारीभाव का आक्षेप के द्वारा बोध होता है।

अनुवाद—दूर से (नायक को देखकर) उत्सुक हो गई, समीप आने पर (लज्जा से) झुक गई, बात करने पर खिल उठी, आलिंगन करने पर लाल हो गई, वस्त्र पकड़ने पर भौंहें सिकोड़ लीं, पैरों पर गिरने पर आँखें आँसुओं से भर गईं, इस प्रकार मानिनी नायिका की आँखें प्रियतम के अप-राध करने पर प्रपञ्च-रचना में चतुर हो गईं ।।२९।।

विमर्श—यह अमरुशतक का श्लोक है। किसी मानिनी नायिका का पति रूठकर चला गया है, किन्तु नायक के पुनः लौट आने पर नायिका की आँखें प्रपञ्च-रचना (विचित्र व्यापार) में चतुर हो गई हैं, क्योंकि नायक को दूर से देखकर उसकी आँखें उत्सुक हो गईं, पास आने पर लज्जा से झुक गईं, बात करने पर खिल गईं, आलिंगन करने पर लाल हो गईं, आँचल पकड़ने पर भौंह चढ़ गईं, पैर पर गिरने पर आँखें आँसुओं से भर गईं, इस प्रकार कामिनी की आँखें विचित्र-व्यापार में कुशल हो गईं। यहाँ पर औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भावों का वर्णन है, अन्य दोनों विभाव और अनुभावों का आक्षेप के द्वारा बोध होता है।

अनुवाद—यद्यपि यहाँ पर विभावों का अर्थात् प्रथम श्लोक में केवल विभावों का, दूसरे में केवल अनुभावों का और तीसरे श्लोक 'दूरात्' में केवल औत्सुक्य, व्रीड़ा (लज्जा), हर्ष, क्रोध, असूया, प्रसाद आदि व्यभिचारीभावों की ही स्थिति है, फिर भी इनके असाधारण होने से शेष दोनों का आक्षेप हो जाने पर व्यभिचार (अनैकान्तिक) नहीं होता।

तद्विशेषानाह—

(सू० ४४) शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।।२९।।

विमर्श—इस प्रकार रस की अनुभूति में दण्ड-चक्रादि न्याय से विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारीभावों में संयुक्त कारणता है अर्थात् तीनों मिलकर ही रसानुभूति के कारण हैं।

रस भेद-निरूपण

रस का सामान्य निरूपण करने के बाद अब रस-विशेष (रस के भेदों) का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—(सू० ४४) शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, और अद्भुत नाट्य में ये आठ रस कहे गये हैं ।।२९।।

विमर्श—आचार्य मम्मट ने प्रस्तुत कारिका को भरत नाट्यशास्त्र (६/१६) से अविकल रूप में उद्धृत किया है। मम्मट ने भरतसूत्र की व्याख्या तो की है किन्तु रस विशेष के स्वरूप का विवेचन नहीं किया है केवल नाममात्र परिगणित कर दिये हैं। उनके अनुसार रत्यादि स्थायीभाव ही सामाजिकों के द्वारा आस्वाद्यमान होता हुआ 'रस' कहलाता है।

(१) शृङ्गार—उनमें रति स्थायीभाव, नायक-नायिका आलम्बन विभावों; चाँदनी, एकान्त, उद्यान आदि उद्दीपन विभावों; कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि अनुभावों तथा क्रीड़ा, औत्सुक्य, हर्ष आदि व्यभिचारीभावों से अभिव्यक्त होकर शृङ्गाररस कहलाता है।

(२) हास्य—हास्य स्थायीभाव, विकृतमान आलम्बन विभाव, विकृत क्रिया-युक्त, चेष्टा आदि उद्दीपन विभाव; मुस्कराहट, गाल फुलाना आदि व्यभिचारीभावों से अभिव्यक्त होकर 'हास्य' रस कहलाता है।

(३) करुण—शोक स्थायीभाव, मृत-प्राणि रूप आलम्बन विभाव, मृतक के गुणों के स्मरण आदि उद्दीपन विभावों, रोदन आदि अनुभावों तथा दैन्य आदि व्यभिचारीभावों से अभिव्यक्त होकर 'करुण' रस कहलाता है।

(४) रौद्र—क्रोध स्थायीभाव, शत्रु रूप आलम्बन विभाव, शत्रुकृत अपकार आदि उद्दीपन विभाव; ललकार आदि अनुभाव तथा गर्व आदि व्यभिचारीभावों से अभिव्यक्त 'रौद्र' रस कहलाता है।

(५) वीर—उत्साह स्थायीभाव, विजेतव्य पुरुष रूप आलम्बन, विजेतव्य-व्यवहार पराक्रम आदि उद्दीपन विभाव, शौर्य, आदि अनुभावों तथा गर्व, आवेग, रोमाञ्च आदि व्यभिचारीभावों से परिपुष्ट होकर 'वीर' रस कहलाता है।

(६) **भयानक**—भय स्थायीभाव, व्याघ्र आदि आलम्बन विभाव, व्याघ्रकृत चेष्टाएँ आदि उद्दीपन विभाव, कम्पन, रोमाञ्च, पलायन आदि अनुभावों तथा त्रास, मरण, आदि व्यभिचारीभावों से परिवोषित भय स्थायीभाव 'भयानक' रस कहलाता है।

(७) **बीभत्स**—जुगुप्सा स्थायीभाव, विष्ठा, मूत्र आदि आलम्बन, दुर्गन्ध आदि उद्दीपन विभाव, मुख फेर लेना, थूकना आदि अनुभावों तथा उद्वेग, ग्लानि आदि व्यभिचारीभावों से परिपुष्ट 'बीभत्स' रस कहलाता है।

(८) **अद्भुत**—विस्मय स्थायीभाव, आश्चर्यजनक वस्तुरूप आलम्बन, आश्चर्यजनक चेष्टा आदि उद्दीपन विभाव, स्तम्भ, गद्गद्स्वर आदि अनुभावों तथा आवेग, सम्भ्रम आदि संचारीभावों से पुष्ट 'अद्भुत' रस कहलाता है।

रसक्रम—भरत ने आठ रसों का प्रतिपादन किया है। अभिनवगुप्त ने रस-क्रम का बहुत सुन्दर विवेचन किया है। भरत ने शृंगार रस को प्रथम स्थान दिया है। पुरुषार्थ-चतुष्टय में 'काम' का प्रमुख स्थान है। यह काम समस्त प्राणियों में प्रमुख रूप से पाया जाता है। उसके प्रति समस्त प्राणियों का स्वाभाविक आकर्षण होता है। भोज ने तो शृंगार रस को 'रसराज' कहा है। अतः शृंगार रस को प्रथम स्थान दिया है। शृंगार का अनुगामी होने से 'हास्य' को द्वितीय स्थान दिया है। हास्य के प्रतिकूल होने से 'करुण' रस को तृतीय स्थान दिया है। भवभूति ने तो 'करुण' ही एक रस माना है। करुण से सम्बन्ध होने से 'रौद्र' रस का चतुर्थ स्थान है। रौद्र रस अर्थ प्रधान होता है। उसके बाद काम और अर्थ के धर्ममूलक होने से 'वीर रस' को पंचम स्थान दिया गया है। यह धर्मप्रधान रस है। भय से पीड़ितों को अभय-प्रदान करना वीरों का कार्य है। इसलिए वीर रस के बाद उसके विरोधी भयानक रस का प्रतिपादन किया गया है। भयानक रस के समान ही बीभत्स रस के भी विभावादि होते हैं, इसलिए उसके बाद बीभत्स रस का सातवें स्थान पर विवेचन किया गया है। वीर के बाद अद्भुत रस का आठवाँ स्थान है। आचार्य नारायण ने तो समस्त रसों में अद्भुत की स्थिति मानी है और उसे 'चमत्कारसार' कहा है। अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त आठों रसों के अतिरिक्त निवृत्ति मूलक 'शान्त' नामक नवाँ रस भी स्वीकार किया है।

अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः—भरतमुनि के अनुसार नाट्य में आठ रस स्वीकृत हैं। मम्मट ने उसी मान्यता को स्वीकार किया है। 'नाट्य में आठ रस होते हैं।' इस कथन से यह प्रतीत होता है कि काव्य में शान्त नामक नवाँ रस भी होता है (**काव्ये तु शान्तोऽपि नवमो रसः**)। इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर मम्मट ने भी आठ रसों तथा उनके स्थायीभावों के विवेचन करने के पश्चात् '**निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः**' कहा है। कुछ आचार्यों की मान्यता है कि नाट्य में अवस्था का अनुकरण होता है और शान्त में समस्त विषयों से निवृत्ति होती है। इसलिए अवस्थानुकृतिरूप नाट्य में सर्वविषयोपरक्ति रूप शान्त रस सम्भव नहीं है, क्योंकि नाट्य अभिनय प्रधान होता और शान्त रस निवृत्ति प्रधान और शान्त रस में रोमांच आदि

आदि का अभाव होने से अभिनय नहीं किया जा सकता तथा गीत-वाद्य आदि का शान्त रस के साथ विरोध भी है जैसा कि नाट्यशास्त्र में कहा गया है—

न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः ।
समः सर्वेषु भावेषु सः शान्तः प्रथितो रसः ॥

इसलिए अभिनय के उपयुक्त न होने से अभिनयप्रधान नाट्य में शान्त रस की स्थिति नहीं मानी जा सकती । इसीलिए भरत ने 'अष्टौ नाट्ये रसाः' कहा है ।

अभिनवगुप्त आदि आचार्यों का मत है कि 'अष्टौ नाट्ये रसाः' यह वचन उपलक्षणमात्र है । नाट्य में भी शान्त रस होता है जैसा कि नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में अभिनवगुप्त का 'एवं नव रसा दृष्टाः' यह कथन तथा काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में मम्मट का 'शान्तोऽपि नवमो रसः' यह कथन इस बात को द्योतित करता है कि काव्य और नाट्य में भी शान्त रस की स्थिति मान्य है । अभिनवगुप्त ने शान्त-रस को भी अभिनेय माना है । जैसा कि नागानन्द नाटक में शान्त रस की ही प्रधानता है । शान्त रस विषयक गीत-वाद्य आदि का भी अभिनय से कोई विरोध नहीं है । जैसा कि संगीत-रत्नाकर में कहा गया है—

अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन् ।
तदचारु यतः कश्चिन्न रसं स्वदते नटः ॥

इस प्रकार नाट्य में भी शान्त रस होता है, यह अभिनवगुप्त आदि नाट्याचार्यों की मान्यता है । जैसा कि कहा गया है कि शान्त रस प्रकृति है और रत्यादि भाव विकृति है । विकृति भाव प्रकृति से ही उद्भूत होते हैं और फिर उसी में लीन हो जाते हैं । इस प्रकार नाट्याचार्यों ने नव रसों का प्रतिपादन किया है ।

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥
एवं नव रसा द्रष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः ॥ (ना० शा० ६।८७) ।

कुछ आचार्यों ने स्नेह, भक्ति और वात्सल्य को अलग रस माना है किन्तु ये इनका भाव में अन्तर्भाव देखा जाता है, अतः रसों में इनकी गणना नहीं की जा सकती । जैसा कि अभिनवगुप्त ने कहा है कि 'आर्द्रता नामक स्थायीभाव वाला स्नेह रस है' यह कहना उचित नहीं; क्योंकि स्नेह, भक्ति और वात्सल्य ये रति के ही विशेष नामान्तर हैं । समान व्यक्तियों का परस्पर रति (प्रेम) स्नेह है, छोटे का बड़े के प्रति रति (प्रेम) भक्ति है, बड़े का छोटे के प्रति रति (प्रेम) वात्सल्य है, इस प्रकार ये सब रति के प्रकारान्तर है । इसी प्रकार 'प्रेयान्' तथा 'लौल्य' को भी अलग रस नहीं माना जा सकता । क्योंकि इनका भी भाव में अन्तर्भाव हो जाता है ।

'आर्द्रता स्थायिकः स्नेहो रस इति त्वसत् ।' (अभिनवगुप्त) स्नोहो भक्तिर्वात्सल्यमिति रतेरेव विशेषाः । तेन तुल्ययोरन्योऽन्यं रतिः स्नेह । अनुत्तमस्योत्तमे रतिर्भक्तिः । उत्तमस्यानुत्तमे रतिर्वात्सल्यमित्येवमादौ भावस्यैवास्वाद्यत्वमिति । (काव्यानुशासन) । प्रयांस-लौल्यादित्रयस्तु भावान्तर्गता एव (बालबोधिनी) ।

तत्र शृंगारस्य द्वौ भेदौ, सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्राद्यः परस्परावलोकनालिङ्गनाधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तभेदत्वादपरिच्छेद्य इत्येक एव गण्यते।

एकरसवाद—भोज ने श्रृंगार प्रकाश में श्रृंगार को एकमात्र रस माना है। उनका कहना है कि रस एक ही है, जिसे शृंगार, अभिमान या अहंकार कहते हैं, अग्निपुराण के अनुसार अहंकार का दूसरा नाम शृंगार है, रस्यमान होने से यही 'रस' है। इसी से हास्यादि अनेक रस अभिव्यक्त होते हैं। अहंकार या शृंगार रजोगुण से उत्पन्न राग से परिपुष्ट रति शृंगार है, वही रति तमोगुण से उत्पन्न उग्रता से परिपुष्ट होकर 'रौद्र' रस है, रजस् और तमस् दोनों गुणों के उद्रेक से उत्पन्न उत्साह से 'परिपुष्ट रति 'वीर' रस है तथा सत्त्व तथा तमस् के उद्रेक से उत्पन्न संकोच से परिपोषित रति वीभत्स रस है। इसी प्रकार इन चारों रसों से अन्य चार रस उत्पन्न होते हैं। शृंगार से हास, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक रस की निष्पत्ति (अभिव्यक्ति) होती है। इन आठों से भिन्न परब्रह्म का सहजरूप शान्त रस है। अभिनवगुप्त ने शान्त रस को ही सब रसों में प्रमुख माना है। विश्वनाथ ने 'अद्भुत' को एकमात्र रस माना है। भवभूति ने करुण को ही एक रस माना है अन्य रसों को उसका विवर्त्त कहा है (एको रसः करुण एव)।

रसों की सुखदुःखात्मकता—रस सुखात्मक है, आनन्द रूप है तो शोक स्थायीभाव दुःखमय करुण रस को रस कैसे कहेंगे? क्योंकि करुण में सुख का अनुभव नहीं होता। इस पर कहते हैं कि करुण रस में भी आनन्दात्मक अनुभव होता है। क्योंकि यदि करुणरस सुखात्मक न होता, दुःखात्मक होता तो कोई भी व्यक्ति उसकी ओर उन्मुख न होता। यदि यह मान लिया जाय कि करुणरस आनन्दरूप है सुखात्मक है, तो उसमें सामाजिकों के नेत्र से आँसू क्यों बहने लगते हैं? कहते हैं कि काव्य और नाटक में करुण दृश्यों को देखकर या सुनकर सहृदयों का हृदय पिघल जाता है और उनके नेत्रों से आनन्द के आँसू बहने लगते हैं। यदि यह कहा जाय कि जब करुण आनन्दरूप है तो सभी लोगों को आनन्द क्यों नहीं मिलता है? इस पर कहते हैं, कि जिसके हृदय में जन्म-जन्मान्तर से सञ्जित प्राक्तनी वासना रहती है उसे ही रसास्वादन होता है। अतः रसास्वादन के लिए वासना का होना आवश्यक है। इस प्रकार करुण दृश्य को देखकर भी सामाजिक के हृदय में अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है।

(१) शृंगाररस के भेद

अनुवाद—उन रसों में शृङ्गार के दो भेद होते हैं—सम्भोग शृङ्गार और विप्रलम्भ शृङ्गार। उनमें पहिला (सम्भोग शृङ्गार) परस्पर अवलोकन, आलिंगन, अधरपान, चुम्बन आदि अनन्त प्रकार का होने से असंख्येय है, किन्तु वह एक ही प्रकार का गिना जाता है। जैसे—

यथा—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै—
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जा नम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥३०॥

यथा—

त्वं मुग्धाक्षि बिनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीनजनः ॥३१॥

अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः ।
क्रमेणोदाहरणम्—

अनुवाद—कोई नायिका शयन-गृह को सूना देखकर धीरे से शय्या (पलंग) से थोड़ा सा उठकर नींद का बहाना बनाकर सोए-हुए प्रियतम के मुख को बड़ी देर तक देखकर निःशंक होकर चुम्बन करके तब पति के कपोलों को रोमांच (पुलकित) देखकर लज्जा से नम्र मुख वाली बाला का हँसते हुए प्रियतम ने चिरकाल तक चुम्बन किया ॥३०॥

विमर्श—यहाँ पर नायक आलम्बन विभाव है, सूना घर उद्दीपन विभाव है, मुखावलोकन, चुम्बन आदि अनुभाव हैं, और लज्जा, हास आदि व्यभिचारीभाव हैं, रति स्थायीभाव है, इन विभावादि के द्वारा सहृदय के हृदय में शृंगाररस की अनुभूति हो रही है। अतः यहाँ सम्भोगशृंगार है।

और—

अनुवाद—हे मुग्धाक्षि ! (सुन्दर नेत्रों वाली) 'तुम तो बिना चोली के ही मन को हरण करने वाली शोभा धारण कर रही हो, अर्थात् तुम बिना चोली धारण किये ही बड़ी सुन्दर लग रही हो' इस प्रकार प्रियतम के कहने पर और उसकी गाँठ (खोलने के लिए) छूने पर शय्या के पास बैठी हुई मुस्कराती हुई सखी के नेत्रों की उत्फुल्लता से आनन्दित हुई अन्य सखियाँ झूठी बात बनाकर धीरे-धीरे निकल गईं अर्थात् वहाँ से खिसक गईं ॥३१॥

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया—
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि।
यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा—
दाशंसा परिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ॥३२॥

विमर्श—यह श्लोक अमरुशतक से लिया गया सम्भोग श्रृंगार का उदाहरण है। यहाँ आलिंगन में प्रवृत्त किसी नायक की नायिका के प्रति उक्ति है। यहाँ पर नायिका आलम्बन विभाव, नेत्र सौन्दर्य आदि उद्दीपन विभाव, अभाषण, बीटिका-संस्पर्श आदि अनुभाव, उत्कण्ठा, मुस्कान आदि व्यभिचारीभाव और रति स्थायी-भाव है। यहाँ पर विभावादि के द्वारा सहृदय को श्रृंगार रस की अनुभूति हो रही। है अतः यहाँ सम्भोग श्रृंगार है।

अनुवाद—दूसरा विप्रलम्भ श्रृङ्गार अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास तथा शाप—इन हेतुओं से पाँच प्रकार का होता है।

विमर्श—अग्निपुराण में विप्रलम्भ श्रृंगार के चार भेद बताये गये हैं—पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण—

विप्रलम्भाभिधानो यः श्रृंगारः स चतुर्विधः।
पूर्वानुरागो मानाख्यः प्रवासकरुणात्मकः॥

भोज, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भी अग्निपुराण के समान विप्रलम्भ के उपर्युक्त चार भेद स्वीकार किये हैं। मम्मट ने पूर्वानुराग को 'अभिलाष' के नाम से अभिहित किया है। (अभिलाषः पूर्वरागमात्रम्—बालबोधिनी)। काम की दस अवस्थाओं में 'अभिलाष' एक अवस्था है। अभिलाष का अर्थ स्त्री और पुरुष, (नायक और नायिका) का पारस्परिक स्पृहा। यह स्पृहा (अभिलाष) रूप, सौन्दर्य आदि गुणों के श्रवण से होती है।

मान कोप को कहते हैं जो सम्भुक्ता के प्रेम से उत्पन्न होता है। मम्मट ने इसे 'ईर्ष्या' नाम से अभिहित किया है। इसमें समीप में रहने पर भी मान के कारण समागम नहीं होता। प्रवास का अर्थ विदेश-गमन है। इसमें संभुक्ता नायिका का वियोग परदेश-गमन से होता है। करुण विप्रलम्भ शोक से उत्पन्न होता है। इसमें नायक-नायिका की एक दूसरे के प्रति विरक्ति होती है। मम्मट ने करुण विप्रलम्भ के स्थान पर शापविप्रलम्भ स्वीकार किया है। इसमें शाप के कारण नायक-नायिका का परस्पर मिलन नहीं होता। मम्मट ने 'विरह' नामक पाँचवाँ विप्रलम्भश्रृंगार स्वीकार किया है। इसमें गुरुजन की लज्जावश अथवा अन्य कारणों से मिलन का अभाव रहता है।

अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृग् सुहृद्
यो मां नेच्छति नागतश्च हहहा कोऽयं विधेः प्रक्रमः ।
इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
बाला वृत्तविवर्त्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि ॥३३॥

एषा विरहोत्कण्ठिता ।

अब इनका क्रमशः उदाहरण देते हैं। प्रथम अभिलाष का उदाहरण—

अनुवाद—उस मुग्धाक्षी (भोली चितवन वाली मालती) की प्रेम से आर्द्र (प्रेममयी) प्रणय से भरी तथा परिचय के कारण प्रगाढ़ अनुराग से भरी हुई वे-वे स्वभाव से रमणीय श्रृंगार-चेष्टाएँ (हाव-भाव आदि) मेरे प्रति होवें, जिनमें कल्पना मात्र से ही अन्तःकरण आनन्दमय होकर उसी में डूब जाता है ॥३२॥

विमर्श—यह मालती माधव से उद्धृत है। यहाँ पर मालती आलम्बन विभाव है, इसके विलासादि का स्मरण उद्दीपन विभाव है, आशंसा अनुभाव है और उत्कण्ठा आदि व्यभिचारीभाव है, रति स्थायीभाव है। यहाँ पर नायक माधव का मालती के प्रति अभिलाष है।

विरहविप्रलम्भ का उदाहरण

अनुवाद—वे अन्यत्र कहीं दूसरी ओर चले गये, इस बात की सम्भावना ही नहीं, (यदि यह कहा जाय कि किसी मित्र के यहाँ चले गये तो उनका कोई वैसा मित्र भी नहीं है, वे मुझे नहीं चाहते, यह बात भी नहीं; फिर भी नहीं आये। अहह ! दैव (भाग्य) का यह कैसा प्रारब्ध (खेल, उद्योग) है ? इस प्रकार की अनेक कल्पनाओं से ग्रसित (कवलित) हृदय-वाली बाला (मुग्धा) नायिका शयनगृह के भीतर करवटें बदलती रहती रात में नींद नहीं ले पाती ॥३३॥

विमर्श—यहाँ पर अनागत नायक आलम्बन विभाव है, अनागमन आदि उद्दीपन विभाव है, विवर्त्तन (करवटें बदलना) आदि अनुभाव है और चिन्ता, दैन्य आदि व्यभिचारीभाव है। यहाँ पर विरहोत्कण्ठिता नायिका की दशा का वर्णन है। विरहोत्कण्ठिता नायिका का लक्षण निम्न प्रकार बताया गया है—

आगन्तुं कृतचित्तोऽपि दैवान्नायाति मत्प्रियः ।
तदनागमनदुःखार्त्ता विरहोत्कण्ठिता मता ॥

सा प्रत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम् ।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः ॥३४॥

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रिय सखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित, प्रिय सुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ॥३५॥

ईर्ष्याहेतुक विप्रलम्भशृंगार का उदाहरण

अनुवाद—वह पति के प्रथम अपराध के समय सखियों के सिखाये बिना ही हाव-भाव के द्वारा अंगों (भृकुटि आदि) को चलाना तथा वक्रोक्तियों के द्वारा भाव प्रकट करना नहीं जानती है। इसलिए बिखरे हुए चंचल बालों (अलकों) से युक्त आँखों को चारों ओर घुमाती हुई भोली बाला स्वच्छ कपोलों पर टपकते हुए स्वच्छ आँसुओं के द्वारा केवल रो रही है ॥३४॥

विमर्श—कोई मुग्धा नायिका अपने प्रियतम के परस्त्री के सम्बन्ध को जानकर ईर्ष्या से दुःखी है। वह हाव-भाव प्रकट न कर और उलाहना आदि दिये बिना रो रही है। यहाँ पर पति आलम्बन विभाव है, पति का अपराध उद्दीपन विभाव है, रोदन आदि अनुभाव हैं और असूया आदि व्यभिचारीभाव हैं तथा रति स्थायीभाव है। यहाँ पर विभावादि के द्वारा सामाजिकों को ईर्ष्याजनित विप्रलम्भशृंगार रस अभिव्यक्त हो रहा है। अतः यह ईर्ष्याहेतुक विप्रलम्भशृंगार का उदाहरण है।

प्रवासहेतुक विप्रलम्भशृंगार का उदाहरण

अनुवाद—कोई नायिका पति के विदेश जाते समय अपने जीवन को सम्बोधित करती हुई कह रही है कि हे जीवन (प्राणों) प्रियतम के परदेश जाने का निश्चय कर लेने पर कंकण ने पहिले ही प्रस्थान कर दिया, प्रियतम के मित्र आँसू भी निरन्तर निकल रहे हैं, धृति (धैर्य) क्षण भर भी नहीं ठहर सका और चित्त तो उनके आगे-आगे (पहिले ही) जाने को तैयार है। अरे प्राण ! तुम इन प्रिय मित्रों का साथ क्यों छोड़ रहे हो ? अर्थात् तुम्हें भी इनके साथ चला जाना चाहिए ॥३५॥

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया—
यात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्त्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ।।३६।।

हास्यादीनां क्रमेणोदाहरणम्—

आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या—
मन्त्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे ।
तारस्वरं प्रथितथूत्कमदात् प्रहारं
हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा ।।३७।।

विमर्श—यह अमरुशतक का श्लोक है। यहाँ पर कोई नायिका पति के परदेश जाते समय अपने प्राणों को उलाहना दे रही है। यहाँ पति आलम्बन विभाव है, उसका विदेश-गमन (प्रस्थान) उद्दीपन विभाव है, कृशता, अश्रु आदि अनुभाव है, चिन्ता आदि व्यभिचारीभाव है और रति स्थायीभाव है, यहाँ पर विभावादि के द्वारा सामाजिक में प्रवास-जनित विप्रलम्भश्रृंगार का अनुभाव हो रहा है, अतः यहाँ प्रवास-हेतुक विप्रलम्भश्रृंगार का उदाहरण है।

शापहेतुक विप्रलम्भश्रृंगार का उदाहरण

अनुवाद—हे प्रिये ! शिला पर गेरू (धातु) आदि से प्रेम में कुपित तुम्हारा चित्र बनाकर मैं जब तक अपने को तुम्हारे चरणों पर गिरा हुआ करना (बनाना) चाहता हूँ, तब तक बार-बार बढ़ते हुए आँसुओं से मेरी दृष्टि आच्छादित हो जाती है। हाय, उस निष्ठुर विधाता को चित्र में भी हम दोनों का मिलन सहन नहीं है ।।३६।।

विमर्श—यह मेघदूत का श्लोक है। यहाँ पर कुबेर के शाप के वियुक्त यक्ष का यक्षिणी के प्रति कथन है। यहाँ यक्षिणी आलम्बन विभाव है, उसका प्रणयकोप उद्दीपन विभाव है, चरणपात आदि अनुभाव है, दैवविषय असूया व्यभिचारीभाव है और रति स्थायीभाव है, यहाँ पर विभावादि के द्वारा सामाजिकों के हृदय में शाप-जनित विप्रलम्भश्रृंगार रस की अनुभूति होती है, अतः यह शापहेतुक विप्रलम्भश्रृंगार-रस का उदाहरण है।

अब हास्य आदि रसों का उदाहरण देते हैं—

(२) हास्यरस का उदाहरण

अनुवाद—वेश्या ने अपने अपवित्र हाथ को सिकोड़कर अर्थात् मुट्ठी बाँधकर मन्त्रों से पवित्र जल के बिन्दुओं से प्रतिपद पवित्र मेरे सिर पर जोर

हा मातस्त्वरिताऽस्ति कुत्र किमिदं हा देवता क्वाशिषः
धिक् प्राणान् पतितोऽशनिर्हुतवहस्तेऽङ्गेषु दग्धे दृशौ ।
इत्थं घर्घरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर—
श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि ।।३८।।

से थूत्कार करते हुए (थू-थू करते हुए) प्रहार कर दिया। 'हाय हाय मैं मर गया' इस प्रकार कहता हुआ विष्णुशर्मा रो रहा है ।।३७।।

विमर्श—यहाँ पर विष्णुशर्मा आलम्बन विभाव है, रोदन उद्दीपन विभाव है, मुस्कराना, हँसना आदि अनुभाव है, द्रष्टा का आवेग, चपलता आदि व्यभिचारीभाव है, हास स्थायीभाव है। यहाँ पर विभावादि के द्वारा सामाजिकों के हृदय में वासना के रूप में विद्यमान हास स्थायीभाव हास्य रस के रूप अभिव्यक्त हो रहा है। अतः यह हास्यरस का उदाहरण है।

भरत ने हास्य रस के दो भेद किये हैं—आत्मस्थ हास्य और परस्थ हास्य। अपने ही विकृत वेषादि को देखकर स्वयं हँसना 'आत्मस्थ' हास्य होता है और परगत विकृत वेषादि को देखकर हँसना 'परस्थ' हास्य होता है। अग्निपुराण में हास्यरस के छः भेद बताये गये हैं—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, अतिहसित अभिनय की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक।

(२) करुण रस रस का उदाहरण

अनुवाद—हे मातः! इतनी शीघ्रता से कहाँ चली? यह क्या हो गया? हाय देवताओं! (और ब्राह्मणों के) आशीर्वाद कहाँ चले गये? प्राणों को धिक्कार है। तुम्हारे अंगों पर वज्रपात के समान अग्नि गिर गई और नेत्र भी जल गये, इस प्रकार उच्च स्वर से चिल्लाने से (घरघराती) बीच में रुँधी हुई पौरांगनाओं (पुरवासिनी नारियों) के करुण-क्रन्दन से चित्र में लिखित नर-नारियों को भी रुला रही हैं और भित्तियों को शतधा विदीर्ण कर रही हैं ।।३८।।

विमर्श—यहाँ पर मृत राजमाता आलम्बन विभाव है, दाह आदि उद्दीपन विभाव है, क्रन्दन आदि अनुभाव है। दैन्य, ग्लानि आदि व्यभिचारीभाव है और शोक स्थायीभाव है। यहाँ पर विभावादि के द्वारा सामाजिकों के हृदय में शोक स्थायीभाव करुणरस के रूप अभिव्यक्त हो रहा है। अतः यह करुणरस का उदाहरण है।

अग्निपुराण में करुणरस के तीन भेद बताये गये हैं—धर्मोपघातजन्य, वित्त-विनाशजन्य और शोकजन्य। इन तीनों प्रकार के करुणरस में शोक ही स्थायीभाव

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निमर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा सार्द्धं तेषां सभीमकिरीटिना—
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ।।३९।।

होता है । अभिनय की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्य-क्रियात्मक ।

करुण और विप्रलम्भ में भेद—करुणरस और करुणविप्रलम्भ शृंगार रस दोनों परस्पर भिन्न-भिन्न रस हैं; क्योंकि करुणरस का स्थायीभाव 'शोक' है और करुण विप्रलम्भशृंगार का स्थायीभाव 'रति' है करुणविप्रलम्भ शृंगाररस में पुनर्मिलन की सम्भावना नहीं रहती । जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा गया है—

शोक स्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः ।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः संभोगहेतुकः ।।

करुण और विप्रलम्भ दोनों में वियोग होता है किन्तु करुणरस में स्थायी-वियोग होता है और करुणविम्प्रलम्भशृंगार में अस्थायी वियोग होता है, उसमें पुन-र्मिलन की सम्भावना बनी रहती है । इस प्रकार वियोग दो प्रकार का होता है—(१) स्थायी वियोग और (२) अस्थायी वियोग । जहाँ पर दो प्रेमियों में एक की मृत्यु हो जाय और पुनर्मिलन की सम्भावना नहीं रहती वहाँ स्थायी वियोग होता है और वहाँ करुण रस होता है । जहाँ दो प्रेमियों में जीवनकाल में वियोग होता है और पुन-र्मिलन की सम्भावना बनी रहती है वहाँ करुणविम्प्रलम्भशृंगार रस होता है । इनके अतिरिक्त संस्कृत काव्यों एवं नाटकों में कुछ ऐसे प्रसंग भी हैं जहाँ दो प्रेमियों में एक की मृत्यु हो जाने पर भी पुनर्मिलन की सम्भावना रहती है वहाँ करुण रस होता है । जैसे—कादम्बरी के पुण्डरीक-महाश्वेता वृत्तान्त में पुण्डरीक की मृत्यु के बाद आकाश-वाणी के द्वारा पुण्डरीक के पुनर्मिलन की आशा में महाश्वेता के हृदय में जो रति (प्रेम) का उद्बोधन होता है, वह करुणविप्रलम्भशृंगार रस है । किन्तु मम्मट आदि आचार्य वहाँ करुणविप्रलम्भ न मानकर उससे विप्रलम्भशृंगार मानते हैं और उसे करुण रस की सीमा के अन्तर्गत मानते हैं । भरतमुनि करुण को निरपेक्ष और विप्र-लम्भ को साक्षेप मानकर दोनों में भेद स्थापित करते हैं ।

(४) रौद्र रस का उदाहरण

अनुवाद—**नर पशुओं के सदृश मर्यादा का पालन न करने वाले, हाथ में हथियार लिए हुए आप लोगों ने यह महान् (गुरुहत्या रूप) पातक किया है, करने की अनुमति दी है अथवा देखा है । यह मैं नरकासुर के शत्रु कृष्ण, भीम तथा अर्जुन के साथ उनके (धृष्टद्युम्न आदि के) रक्त, चर्बी और मांस से दिशाओं को बलि प्रदान करता हूँ ।।३९।।**

क्षुद्राः संत्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।
सौमित्रे ! तिष्ठ पात्रं त्वमसि नहि रुषां नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद् भ्रूभंगलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ॥४०॥

विमर्श—यहाँ पर अश्वत्थामा के क्रोध का अभिव्यंजन है। यह श्लोक वेणीसंहार से उद्धृत किया गया है। यहाँ पर अपकारी भीम, अर्जुन आदि आलम्बन विभाव हैं, पितृहत्या, अस्त्रादि का धारण उद्दीपन विभाव है, प्रतिज्ञा करना अनुभाव है, गर्व व्यभिचारीभाव है, और क्रोध स्थायीभाव है। यहाँ विभावादि के द्वारा सामाजिक के हृदय में क्रोध स्थायीभाव रौद्र रस के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है, अतः यह रौद्र रस का उदाहरण है।

अग्निपुराण में रौद्र रस के तीन भेद बताये गये हैं—आङ्गिक, वाचिक और वेश-भूषा-जन्य। इन तीनों के द्वारा रौद्र रस का प्रदर्शन किया जाता। (**अङ्गनेपथ्यवाक्यैश्च रौद्रोऽपि त्रिविधो रसः**)। रौद्र रस और युद्धवीर में समानता होने पर भी परस्पर भेद है; क्योंकि रौद्ररस में मोह-विस्मय की प्रधानता होती है जबकि युद्धवीर में मोह-रहित अध्यवसाय होता है।

५—वीर रस का उदाहरण

अनुवाद—**अरे क्षुद्र वानरो ! तुम भय को छोड़ दो, क्योंकि इन्द्र के हाथी ऐरावत के गण्डलस्थल को विदीर्ण करने वाले ये बाण तुम्हारे शरीर पर गिरने में लज्जा को धारण करते हैं। हे लक्ष्मण ! ठहरो, तुम भी मेरे क्रोध के पात्र नहीं हो, जानते हो, मैं मेघनाद हूँ, मैं तो भौंहों को थोड़ा वक्र करने मात्र से समुद्र को वश कर लेने वाले राम को खोज रहा हूँ ॥४०॥**

यह श्लोक हनुमन्नाटक से उद्धृत किया गया है। लङ्का में युद्ध के अवसर पर वानरों के प्रति मेघनाद की यह उक्ति है। यहाँ पर राम आलम्बन-विभाव है, उनके द्वारा समुद्र-बन्धन उद्दीपन विभाव है, क्षुद्र वानरों के प्रति उपेक्षा और राम के प्रतिस्पर्धा आदि अनुभाव है, ऐरावत के गण्डस्थल के भेदन की स्मृति तथा गर्व आदि व्यभिचारीभाव है और उत्साह स्थायीभाव है। यहाँ पर विभावादि के द्वारा सामाजिकों के हृदय में उत्साह स्थायीभाव वीर रस के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है। अतः यह वीर रस का उदाहरण है।

अग्निपुराण में वीर रस के तीन भेद बताये गये हैं—दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर (**दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीर इति त्रिधा**); अभिनय की दृष्टि से इसके दो

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ।।४१।।
उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा—
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरंकः करंका—
दंकस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ।।४२।।

भेद होते हैं—काव्य में वाक्क्रियात्मक और नाट्य में नेपथ्यक्रियात्मक । धनञ्जय तथा शारदातनय दानवीर, दयावीर और युद्धवीर ये तीन भेद मानते हैं । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने वीररस के चार भेद स्वीकार किये हैं—दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर । नाट्यदर्पणकार ने तो वीर रस के अनेक भेद किये हैं ।

६—भयानक रस का उदाहरण

अनुवाद—देखो, पीछे दौड़ते हुए रथ पर गरदन मोड़ने से सुन्दर बार-बार दृष्टि डालता हुआ, बाण लगने के भय से शरीर के पिछले आधे भाग को अगले भाग में प्रविष्ट हुआ सा, थकावट के कारण खुले हुए मुख से गिरने वाले आधे चबाये हुए कुशोंको मार्ग में बिखेरता हुआ यह मृग ऊँची छलांग लगाने के कारण आकाश में अधिक और भूमि पर कम चलता है ।।४१।।

विमर्श—यह श्लोक अभिज्ञान-शाकुन्तल से उद्धृत है । इसमें मृग के भय का वर्णन है । यहाँ पर राजा से अधिष्ठित्त रथ आलम्बन विभाव है, शरपतन उद्दीपन विभाव है, गरदन मोड़ना, भागना आदि अनुभाव है, श्रम, त्रास आदि व्यभिचारी भाव है और मृगगत भय स्थायीभाव है । यहाँ पर विभावादि के द्वारा सामाजिक के हृदय में वासना के रूप में विद्यमान भय स्थायीभाव भयानक रस के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है, अतः यह भयानक रस का उदाहरण है ।

अग्निपुराण में कहा गया है कि जिस रस के प्रारम्भ में भय वीर रस का अनुसरण करता है वह भयानक रस है, उसका स्थायीभाव भय है और उसके तीन भेद होते हैं—कृत्रिमभय, अपराधजन्यभय और विभासिकभय । अभिनय की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक ।

७—बीभत्स रस का उदाहरण

अनुवाद—पहिले चमड़े को उधेड़-उधेड़ कर तब कन्धे, जाँघों, पीठ, पिडली आदि अवयवों में सुलभ ऊँचे उठने से पुष्कल और उग्र दुर्गन्धयुक्त

चित्रं महानेष बतावतारः क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः ।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥४३॥

मांस को खाकर चारों ओर देखता हुआ, दाँत निकाले हुए भूखा दरिद्र प्रेत अपनी गोद में रखे हुए मुर्दे के अस्थि-पञ्जर में से हड्डियों के ऊँचे-नीचे भागों में लगे हुए कच्चे मांस को धीरे-धीरे खा रहा है ॥४२॥

विमर्श—यह श्लोक मालती माधव से उद्धृत है। श्मशान में मांस-भक्षण में संलग्न किसी प्रेत को देखकर माधव उसकी बीभत्स चेष्टाओं का वर्णन कर रहा है। यहाँ पर दरिद्र प्रेत अथवा मुर्दा आलम्बन विभाव है, मुर्दे को काटना और मांस खाना उद्दीपन विभाव है, दर्शक का नाक-भौं सिकोड़ना, मुख फेरना, थूकना आदि अनुभाव है, उद्वेग आदि व्यभिचारीभाव है और जुगुप्सा स्थायीभाव है। यहाँ विभावादि के द्वारा सामाजिक के हृदय में वासना के रूप में विद्यमान जुगुप्सा स्थायी-भाव बीभत्स रस में अभिव्यक्त हो रहा है। अतः यह बीभत्स रस का उदाहरण है।

अग्निपुराण में बीभत्स रस के दो भेद बताये गये हैं—उद्वेजन और क्षोभण। उद्वेजन कृमि, विष्ठा आदि घृणित वस्तुओं को देखकर अभिव्यक्त होता है और क्षोभण बीभत्स रुधिर मांस आदि देखने से उत्पन्न होता है। भरत 'शुद्ध' नामक एक तीसरा भेद भी मानते हैं किन्तु अग्निपुराणकार शुद्ध नामक भेद स्वीकार नहीं करते। अभिनय की दृष्टि से उसके दो भेद होते हैं—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्य क्रियात्मक।

अन्य आचार्य बीभत्स के कायिक, वाचिक और मानसिक तीन भेद मानते हैं। हास और जुगुप्सा में आश्रय तथा आलम्बन का अलग-अलग बोध नहीं होता, आलम्बन मात्र का ही बोध होता है। यहाँ पद्य के श्रोता को लौकिक हास और जुगुप्सा का आश्रय नहीं माना जाता, बल्कि उसके आश्रय रूप में देखने वाले पुरुष विशेष का आक्षेप कर लिया जाता है अथवा उसके आक्षेप के बिना ही श्रोता को रस-चर्वणा हो जाती है। इसी प्रकार यहाँ आश्रय का पृथक् कथन न होने पर भी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं होती। रसगंगाधर में इसका बृहद् वर्णन है।

८—अद्भुत रस का उदाहरण

अनुवाद—अरे यह महान् अवतार तो विचित्र (अद्भुत) है, यह कान्ति और कहाँ ? इसकी भङ्गिमा (गतिविधि) बिलकुल नई सी है। इसका धैर्य भी लोकोत्तर है अहो ! इसका प्रभाव भी अलौकिक है और आकृति भी अनिर्वचनीय है। यह एक नवीन सृष्टि है ॥४३॥

विमर्श—यह वामनावतार को लक्ष्य कर कही गई बलि की उक्ति है। यहाँ पर वामन आलम्बन विभाव है, कान्ति आदि उद्दीपन विभाव है, स्तुति आदि

एवं स्थायिभावानाह—

(सू० ४५) रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥३०॥

स्पष्टम्—

अनुभाव है, धृति, हर्ष आदि व्यभिचारीभाव है और विस्मय स्थायीभाव है। यहाँ पर विभावादि के द्वारा सामाजिक के हृदय में विद्यमान विस्मय स्थायीभाव अभिव्यक्त होकर अद्भुत रस के रूप में परिणत होता है, अतः यह अद्भुत रस का उदाहरण है।

अग्निपुराण में वस्तुओं के अतिशय चमत्कार को अद्भुत रस कहा गया है। अभिनय की दृष्टि से यह दो प्रकार का होता है—वाक्क्रियात्मक और नेपथ्यक्रियात्मक। रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ यहाँ अद्भुत रस नहीं मानते, उनका कहना है कि यहाँ पर विस्मय स्तुति का अङ्ग होने से अप्रधान है, अतः यहाँ रसवदलङ्कार है।

स्थायीभाव

इस प्रकार स्थायीभावों का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—(सू० ४५) रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय ये आठ स्थायीभाव कहे गये हैं ॥३०॥

कारिका का अर्थ स्पष्ट है।

विमर्श—मम्मट ने शृंगारादि आठ रसों के रत्यादि आठ स्थायीभावों का उल्लेख किया है। किन्तु उनका लक्षण नहीं बतलाया है। केवल नाम गिना दिये हैं। अग्निपुराणकार ने आठ प्रकार के स्थायीभावों का निरूपण किया है। उनके अनुसार स्थायीभावों के लक्षण निम्न प्रकार हैं—

रति—मनोऽनुकूलोऽनुभवः सुखस्य रतिरिष्यते।
हास—हर्षादिभिश्च मनसो विकासो हास उच्यते।
शोक—मनोवैक्लव्यमिच्छन्ति शोकमिष्टक्षयादिभिः।
क्रोध—क्रोधस्तैक्ष्ण्यप्रबोधश्च प्रतिकूलार्थकारिणे।
उत्साह—पुरुषार्थसमाप्त्यर्थो यः स उत्साह उच्यते।
भय—चित्रादिदर्शनाच्चेतो वैक्लव्यं ब्रुवते भयम्।
जुगुप्सा—जुगुप्सा च पदार्थानां निन्दा दौर्भाग्यवाहिनाम्।
विस्मय—विस्मयोऽतिशयेनार्थदर्शनाच्चित्तविस्मृतिः।

(अग्निपुराण ४/२९-३३)

व्यभिचारिणो ब्रूते—

(सूत्र ४६) निर्वेदग्लानिशंकाख्यास्तथाऽसूयामदश्रमाः ।
आलस्यञ्चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥३१॥
व्रीड़ा चपलता हर्ष आवेगो जड़ता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च ॥३२॥
सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥३३॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥३४॥

अर्थात् सुख का मनोऽनुकूल अनुभव 'रति' है। हर्षादि से मन का विकास होना 'हास' है। प्रिय वस्तुओं के विनाश से उत्पन्न मन की विकलता 'शोक' है। प्रतिकूल (विरोधियों) के प्रति उत्पन्न तीक्ष्णता 'क्रोध' है। पुरुषार्थ की समाप्ति के लिए किया गया उद्योग (आरम्भ) 'उत्साह' है, चित्र आदि भयानक दृश्य देखने से उत्पन्न चित्त की विकलता 'भय' है। घृणास्पद वस्तुओं की निन्दा 'जुगुप्सा' है। लोकातिशायि (अद्भुत) वस्तुओं के देखने से उत्पन्न चित्त की विस्मृति 'विस्मय' है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने उपर्युक्त आठ स्थायीभावों के बतलाने के बाद 'शम' नामक नवाँ स्थायीभाव का भी उल्लेख किया है। कुछ आचार्य निर्वेद को नवाँ स्थायीभाव मानते हैं (निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः)।

व्यभिचारीभाव

अब व्यभिचारीभाव को कहते हैं—

(सू० ४६)—**निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़ा, चपलता, हर्ष आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, प्रबोध, क्रोध, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास, वितर्क ये ३३ व्यभिचारीभाव कहे गये हैं ॥३१-३४॥**

विमर्श—मम्मट ने इन चारों कारिकाओं को नाट्यशास्त्र से उद्धृत किया है। ये ३३ व्यभिचारीभाव रत्यादि स्थायीभावों को संचारित करते है, भावों की अभिव्यक्ति में सहकारी होते हैं, इसलिए इन्हें संचारीभाव तथा सहकारीभाव भी कहते हैं। नाट्यशास्त्र में व्यभिचारीभाव की व्युत्पत्ति बताते हुए कहा गया है (**विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः**)। अर्थात् ये विविध प्रकारों से अभिमुख होकर (अभिनयादि के द्वारा) रत्यादि भावों को रसों में संचार करते हैं, इसलिए व्यभिचारी-

भाव कहे जाते हैं। ये संख्या में ३३ होते हैं। मम्मट ने काव्यप्रकाश में इनके नाम तो गिना दिये हैं किन्तु लक्षण नहीं बताये हैं। अग्निपुराण, नाट्यशास्त्र, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में इनके लक्षण बताये गये हैं जिनका विवरण अग्निपुराण के अनुसार निम्न प्रकार है—

वैराग्यादेर्मनःखेदो निर्वेद इति कथ्यते।
मनःपीडादिजन्मा हि सादो ग्लानिः शरीरगा ॥३८॥
शङ्कानिष्टागमोत्प्रेक्षा स्यादसूया च मत्सरः।
मदिराद्युपयोगोत्थं मनः सम्मोहनं मदः ॥३९॥
क्रियातिशयजन्मान्तः शरीरोत्थक्लमः श्रमः।
शृङ्गारादिक्रियाद्वेषश्चित्तस्यालस्यमुच्यते ॥४०॥
दैन्यं सत्त्वादपभ्रंशश्चिन्तार्थपरिभावनम्।
इतिकर्त्तव्यतोपायदर्शनं मोह उच्यते ॥४१॥
स्मृतिः स्यादनुभूतस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।
मतिरर्थपरिच्छेदस्तत्त्वज्ञानोपनायितः ॥४२॥
व्रीडानुरागानुभवः सङ्कोचः कोऽपि चेतसः।
भवेच्चपलताऽस्थैर्यं हर्षश्चित्तप्रसन्नता ॥४३॥
आवेगश्च प्रतीकाराशया वैधुर्यमात्मनः।
कर्त्तव्ये प्रतिभाभ्रंशो जड़तेत्यभिधीयते ॥४४॥
इष्टाप्राप्तिरपचितिः सम्पदाऽभ्युदयो धृतिः।
गर्वः परेष्ववज्ञानमात्मन्युत्कर्षभावना ॥४५॥
भवेद्विषादो दैवादेर्विघातोऽभीष्टवस्तुनः।
औत्सुक्यमीप्सितप्राप्तेर्वाञ्छया तरला स्थितिः ॥४६॥
चित्तेन्द्रियाणां स्तैमित्यमित्यपस्मारोऽचला स्थितिः।
अङ्गव्याध्यादिभिस्त्रासो वीप्सा चित्तचमत्कृतिः ॥४७॥
क्रोधस्याप्रशमोऽमर्षः प्रबोधश्चेतनोदयः।
अवहित्था भवेद् गुप्तिरिङ्गिताकारगोचरा ॥४८॥
रोषतो गुरुवाग्दण्डं पारुष्यं विदुरुग्रताम्।
अहो वितर्कः स्याद् व्याधिर्मनो वपुरवग्रहः ॥४९॥
अनिबद्धप्रलापादिरुन्मादो मदनादिभिः।
तत्त्वज्ञानादिना चेतः कषायः परमः शमः ॥५०॥

निर्वेदस्यामङ्गलप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽप्युपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताभिधानार्थम्। तेन—

(सू० ४७) निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित् पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥४४॥

इस प्रकार अग्निपुराण में ३३ व्यभिचारीभाव बताये गये हैं किन्तु उनके क्रमों में अन्तर है। कुछ व्यभिचारीभावों के नामों में भी अन्तर है। अग्निपुराण में 'शम' को व्यभिचारीभाव कहा गया है किन्तु यह शान्तरस का स्थायीभाव भी है। काव्यप्रकाश में शम को व्यभिचारीभाव नहीं माना गया है। इसी प्रकार काव्यप्रकाश में 'निर्वेद' की व्यभिचारीभावों में भी गणना है और उसे शान्तरस का स्थायीभाव भी कहा गया है।

९—शान्तरस

अनुवाद—निर्वेद के प्रायः अमङ्गल रूप होने से सर्वप्रथम उसका कथन उपादेय न होने पर भी (उसका) प्रथम उपादान (ग्रहण) 'व्यभिचारीभाव होने पर भी उसके स्थायीभावत्व के बतलाने के लिए' किया गया है।

अनुवाद—(सू० ४७) जिसका निर्वेद स्थायीभाव है वह 'शान्त' नामक नवम रस है।

अनुवाद—सर्प में अथवा हार में, फूलों की शय्या पर या पत्थर की शिला में, मणि में या ढेले में, बलवान् शत्रु अथवा मित्र में, तिनके में या स्त्रियों के समूह में समदृष्टि रखते हुए किसी तपोवन में 'शिव' 'शिव' 'शिव' इस प्रकार प्रलाप करते हुए मेरे दिन बीत रहे हैं ॥४४॥

विमर्श—यह श्लोक भर्तृहरि के वैराग्यशतक से उद्धृत है। यहाँ पर मिथ्याजगत् आलम्बन विभाव है, तपोवन उद्दीपन विभाव है, सर्प और हारादि में समदृष्टि अनुभाव है। मति, धृति, हर्ष आदि व्यभिचारीभाव है और निर्वेद स्थायीभाव है। यहाँ पर विभावादि के द्वारा सामाजिक के हृदय में वासना के रूप में स्थित निर्वेद स्थायीभाव शान्तरस के रूप में अभिव्यक्त होता है। अतः यह शान्तरस का उदाहरण है।

(सू० ४८) रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः ॥३५॥
भावः प्रोक्तः

आदिशब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया, कान्ता विषया तु व्यक्ता शृङ्गारः।

शान्त रस नाट्य में स्वीकार नहीं किया गया है। अभिनवगुप्त तो नाट्य में शान्त रस की स्थिति मानते हैं। अग्निपुराण में भी शान्त को नवाँ रस माना गया है। मम्मट ने भी कहा है कि निर्वेद स्थायीभाव वाला शान्त नवाँ रस है। इस प्रकार शान्त को नवम रस स्वीकार करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं दिखाई देती, किन्तु इसके स्थायीभाव के सम्बन्ध में मतभेद दिखाई देता है। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने निर्वेद को शान्तरस का स्थायीभाव माना है और उनका निर्वेद, निर्धनता आदि से उत्पन्न निर्वेद नहीं है, अपितु तत्त्वज्ञान-प्रभव निर्वेद है। क्योंकि तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद स्थायी हो सकता है और रत्यादि स्थायीभावों का उपमर्दक भी। अतः निर्वेद ही शान्तरस का स्थायीभाव है। किन्तु अग्निपुराणकार, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ आदि आचार्य 'शम' को शान्त का स्थायीभाव मानते हैं। उनका कहना है कि निर्वेद चित्त-वृत्तियों का अभाव रूप है और स्थायीभाव चित्तवृत्ति के भाव रूप होते हैं अतः अभाव रूप निर्वेद को स्थायीभाव कैसे कहा जा सकता है? अग्निपुराण में शान्तरस का स्थायीभाव 'शम' कहा गया है। अभिनवभारती के अनुसार शान्त 'शम' स्थायीभाव वाला है। 'शम' चित्तवृत्ति है और यही शान्तरस का स्थायीभाव है।

भाव-ध्वनि

अनुवाद—(सू० ४८)--देव आदि विषयक रति और (प्राधान्य रूप से) व्यञ्जित व्यभिचारी को भाव कहा गया है ॥३५॥

आदि शब्द से मुनि, गुरु, नृप, पुत्र आदि विषयक रति का ग्रहण होता है और कान्ताविषयक रति व्यक्त होकर शृङ्गार कहलाती है।

विमर्श—मम्मट ने देवादि विषयक रति तथा प्रधान रूप से अभिव्यंग्य व्यभि-चारीभाव को 'भाव' कहा है। तात्पर्य यह कि काव्य और नाट्य में व्यभिचारीभाव रस के सहकारी रूप में रहते हैं किन्तु यदि वे व्यभिचारी कहीं पर रस की अपेक्षा प्रधान रूप से अभिव्यक्त होने लगते हैं तो उन्हें 'भाव' कहा जाता है। इसी प्रकार जहाँ पर रत्यादि स्थायीभाव विभावादि के द्वारा सम्यक् परिपुष्ट न होकर रसास्वादन के विषय नहीं होते; वहाँ वे 'भाव' कहलाते हैं। इस प्रकार भाव दो प्रकार के होते हैं—देवादि विषयक रति और व्यञ्जित व्यभिचारीभाव। रति के दो रूप होते हैं—(१) कान्ताविषयक रति और तद्भिन्न रति। इनमें कान्ताविषयक रति जहाँ पर विभावादि के द्वारा पूर्णतया परिपुष्ट न होकर रसावस्था को नहीं प्राप्त होती, वहाँ

उदाहरणम्—

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम् ।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते ।।४५।।

पर उसे 'भाव' कहते हैं और जहाँ पर कान्ताविषयक रति विभावादि के द्वारा पूर्ण रूप से परिपुष्ट होकर रसावस्था को प्राप्त हो जाती है, वहाँ वह 'श्रृंगार' कहलाती है। इसके अतिरिक्त जहाँ पर कान्ताविषयक रति से भिन्न देवविषयक, मुनिविषयक, गुरुविषयक, नृपविषयक, पुत्रादिविषयक रति होती है वहाँ उसे 'भाव' कहते हैं। व्यञ्जित व्यभिचारीभाव भी भावध्वनि कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ पर व्यभिचारीभाव रस की सहकारिता से ऊपर उठकर विभावादि के द्वारा पोषित होकर प्रधानतया व्यंग्य होते हैं, वहाँ उन्हें 'भाव' कहा जाता है।

रसध्वनि और भावध्वनि— जहाँ पर रत्यादि स्थायीभाव विभावादि के द्वारा प्रधानयता रस रूप में ध्वनित (अभिव्यक्त) होता है वहाँ रसध्वनि होती है। और जहाँ पर रत्यादि स्थायीभाव या व्यभिचारीभाव विभावादि के द्वारा व्यक्त होकर प्रधान रूप से व्यंग्य होता हे वहाँ 'भावध्वनि' होता है। भाव यह कि व्यभिचारी-भावों में किसी एक का चमत्कार अधिकाधिक प्रतीत हो वहाँ 'भावध्वनि' होता है।

देवविषयक रति का उदाहरण—

अनुवाद—हे महादेव ! तुम्हारे कण्ठ के कोण में संलग्न (लगा हुआ) कालकूट (विष) भी मेरे लिए महामृत है और आपके शरीर से अलग स्थित प्राप्त अमृत भी मुझे अच्छा नहीं लगता ।।४५।।

विमर्श—यह उत्पलाचार्य का श्लोक है। यहाँ पर महादेव आलम्बन विभाव हैं, 'ईश' पद से प्रतिपाद्य ऐश्वर्य उद्दीपन विभाव है, स्तवन अनुभाव है, धृति, स्मृति आदि व्यभिचारीभाव है। यहाँ पर सामाजिक के हृदय में शिव-विषयक रतिभाव अभिव्यक्त हो रहा है और उसमें सामाजिक भावमग्न है, अतः यह भाव-ध्वनि का उदाहरण है।

यहाँ पर 'रसध्वनि' इसलिए नहीं मानी जा सकती कि सामाजिक को विभावादि के द्वारा परिपुष्ट न होने के कारण रतिरूपता को प्राप्त नहीं होती, क्योंकि कान्ताविषयक रति से सामाजिक को जिस उत्कट आनन्द की प्राप्ति होती है वह देवादि-विषयक रति से नहीं होती।

अपरिपुष्ट (उद्बुद्धमात्र) रति (भाव) का उदाहरण—

हरस्तु किञ्चित् परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे विम्बफलाधरोष्ठे व्यापरयामास विलोचनानि ।।

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥४६॥

एवमन्यदुदाहार्य्यम्।

अञ्जितव्यभिचारी यथा—

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मां संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः।
नो यावत् परिरभ्य चाटुशतकैराश्वासयामि प्रियां
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः ॥४७॥

अत्र विधिं प्रतिसूया

अर्थात् भगवान् शंकर चन्द्रोदय होने पर उमड़ते समुद्र के समान थोड़ा अधीर होकर विम्बाफल के समान अधरोष्ठ वाली पार्वती के मुख पर अपनी दृष्टि गड़ा दी।

यहाँ शिव का पार्वती-विषयक रतिभाव अभिव्यक्त हो रहा है किन्तु वह विभावादि के द्वारा परिपुष्ट न होने से रस रूप में अभिव्यक्त नहीं हो रहा है, अतः यहाँ रसध्वनि नहीं है, बल्कि भावध्वनि है।

मुनिविषयक रति का उदाहरण—

अनुवाद—हे मुने ! आपका दर्शन शरीरधारियों को भूत, भविष्य वर्तमान तीनों कालों में योग्यता को व्यक्त करता है। वर्तमान काल में पाप का हरण करता है, भविष्य में होने वाले कल्याण का हेतु है और भूतकाल में पूर्वजन्म में किये शुभ कर्मों के कारण किसे प्राप्त हुआ है ॥४६॥

विमर्श—यह श्लोक शिशुपालवध से उद्धृत है। यहाँ पर, मुनि-विषयक रतिभाव अभिव्यक्त हो रहा है। इसी प्रकार गुरु, राजा, पुत्रविषयक रतिभाव के उदाहरण भी समझ लेने चाहिए।

अञ्जित व्यभिचारी का उदाहरण। जैसे—

अनुवाद—हे भाई ! आज, मैंने स्वप्न में कोप से पराङ्मुख हुई अपनी प्रियतमा को देखा। 'मुझे हाथ से मत छुओ' इस प्रकार कहकर रोती हुई आगे चलने लगी। जब तक उसका आलिंगन करके सैकड़ों (अनेक) चाटुकार वचनों से उसे मनाना चाहा कि तब तक दुष्ट विधाता ने मेरी नींद भंग कर दी ॥४७॥

विमर्श—यहाँ पर 'विधि' आलम्बन विभाव है, विधि की दुर्जनता उद्दीपन विभाव है, उसे शठ कहना अनुभाव है और असूया व्यभिचारीभाव है। यहाँ पर विधाता के प्रति प्रधान रूप से व्यक्त 'असूया' व्यभिचारीभाव व्यंग्य है। अतः यह अञ्जित व्यभिचारी का उदाहरण है।

(सू० ४९) तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः ।

तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च ।

रसाभास और भावाभास

अनुवाद—(४९) उनका (रस और भावों का) अनुचित रूप में प्रवृत्त होना रसाभास और भावाभास है।

तदाभास का तात्पर्य रसाभास और भावाभास है।

विमर्श—मम्मट का कथन है कि रसों का अनुचित रूप में वर्णन 'रसाभास' और भावों का अनुचित रूप में वर्णन 'भावाभास' कहलाता है। यह अनौचित्य शास्त्र तथा लोक मर्यादा का अतिक्रमण करने वाला प्रतिषिद्ध विषयक वर्णन है जो सहृदय व्यक्तियों द्वारा संवेद्य है। अनौचित्य अनेक प्रकार के होते हैं। उस औचित्य का निश्चय सहृदय व्यक्तियों द्वारा ही किया जाता है। जैसे शृंगार में नायक के प्रति रत्यादि का वर्णन उचित है किन्तु यदि उपनायक विषयक रति का वर्णन हो तो वहाँ रसाभास होगा। इस प्रकार रस और भावों का अनुचित रूप में प्रवर्त्तन होता है तो रसाभास तथा भावाभास कहलाता है। उद्योतकार का कथन है कि शृंगार में उपनायक के प्रति रति का वर्णन, गुरु अथवा मुनि की पत्नी के प्रति रति का वर्णन अनुचित प्रवृत्ति हैं, अतः वहाँ रसाभास होगा। इसी प्रकार नायिका की एक नायक के प्रति रति उचित मानी गयी है किन्तु यदि एक नायिका का अनेक नायकों के साथ रति-प्रसंग वर्णित हो तो रसाभास हो जायगा। उद्योतकार आदि आचार्य पशु-पक्षि-विषयक रति को रसाभास ही मानते हैं।

भरतमुनि प्रभृति नाट्याचार्यों के अनुसार रस और भावों की अभिव्यंजना हेतु सम्पूर्ण अभिव्यंजना सामग्री का प्रतिपादन किया है किन्तु रस और भावों की अभिव्यक्ति में यदि समस्त अभिव्यंजना-सामग्री का उपयोग न हो, केवल कुछ ही अभिव्यंजन-सामग्री से रस और भाव अभिव्यक्त हों तो उसे रसाभास एवं भावाभास की कोटि में समझा जायेगा।

अभिनवगुप्त का कथन है कि जिस प्रकार शुक्ति में रजताभास और रज्जु में सर्पाभास होता है। दोनों में भेद-प्रतीति होने पर भी आभाशांस में भेद नहीं प्रतीत होता; इसी प्रकार रस और रसाभास तथा भाव एवं भावाभास परस्पर भिन्न प्रतीत होते हुए भी चर्वणा (आस्वाद) अंश में भेद नहीं है। किन्तु अन्य आचार्य इस कथन को सहन नहीं करते। उनका कथन है कि रस और रसाभास तथा भाव एवं भावाभास में चर्वणांश में भी भेद-प्रतीति होती है जिसका अनुभव सहृदय ही कर सकता है।

तत्र रसाभासो यथा—

> स्तुमः कं वामाक्षि ! क्षणमपि विना यं न रमसे
> विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे।
> सुलग्ने को यातः शशिमुखि ! यमालिङ्गसि बलात्
> तपःश्रीः कस्यैषा मदननगरि ! ध्यायसि नु यम् ।।४८।।

अत्रानेककामुकविषयमभिलाषं तस्याः 'स्तुमः' इत्याद्यनुगतं बहुव्यापारोपादानं व्यनक्ति।

यदि दोनों में चर्वणांश में अभेद मानेंगे तो दोनों 'रस' कहलाने लगेंगे। इस प्रकार उनके पार्थक्य में कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता है। वस्तुतः रस और रसाभास तथा भाव एवं भावाभास दोनों की स्थिति पृथक्-पृथक् है। तभी सामाजिक दोनों का अलग-अलग अनुभव करते हैं। क्योंकि काव्य और नाटक में विभावादि के द्वारा परिपुष्ट कान्ताविषयक रति रस कहलाती है और वही अपरिपुष्ट होने पर रसाभास हो जाती है। इसी प्रकार परिपुष्ट देवादिविषयक रति-भाव भाव है और अपरिपुष्ट अवस्था में भावाभास है।

इसी प्रकार रौद्र रस में गुरु तथा पितृ विषयक क्रोध का वर्णन अनुचित होने से 'रौद्र रसाभास' होता है। वीर····में अधमपात्रनिष्ठ उत्साह का अभिव्यंजन, भयानक में उत्तम प्रकृतिगत भय का वर्णन, हास्य में गुरु आदि के आलम्बन से हास का अभिव्यंजन, बीभत्स में यज्ञीय पशु के आलम्बन से जुगुप्सा की अभिव्यक्ति, अद्भुत में ऐन्द्रजालिक विषयक चमत्कार की प्रतीति तथा शान्त रस में चाण्डालादिनिष्ठ शमभाव का अभिव्यंजन अनुचित है, अतः ये सब रसाभास की श्रेणी में आते हैं।

रसाभास का उदाहरण

उनमें रसाभास जैसे—

अनुवाद—हे सुन्दर नेत्रों वाली ! हम किस की प्रशंसा करें ? जिसके बिना तुम क्षण भर भी प्रसन्न नहीं रहती (ऐसा भाग्यशाली कौन है ?)। किसने युद्ध रूपी यज्ञ में प्राणों की आहुति दी है जिसे तुम खोज रही हो ? हे चन्द्रमुखि ! कौन ऐसे शुभ मुहूर्त्त में पैदा हुआ है, जिसका तुम बलात् आलिंगन करती हो ? हे कामदेव की नगरी ! किसकी यह तपःसम्पत्ति है, जिसका तुम ध्यान करती हो ? ।।४८।।

अनुवाद—यहाँ पर 'स्तुमः' इत्यादि से अनुगत अनेक व्यापारों का ग्रहण उस नायिका के अनेक कामुक-विषयक अभिलाष को व्यक्त करता है।

भावाभासो यथा—

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी
सा स्मेरयौवनतरंगितविभ्रमांगी ।
तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं
तत् स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥४९॥

अत्र चिन्ता अनौचित्यं प्रवर्त्तिता । एवमन्येऽप्युदाहार्य्याः ।

विमर्श— यहाँ पर किसी कामुक की वेश्या के प्रति चाटु उक्ति है। सुधासागर-कार का मत है कि यहाँ अनौचित्य प्रतिपादन के लिए परकीया नायिका के प्रति किसी कामुक नायक की उक्ति है। यहाँ पर नायिका के अनेक कामुक-विषयक रमण, अन्वेषण, आलिंगन, चिन्तन (ध्यान) आदि व्यापारों का वर्णन किया गया है। वह स्पष्ट रूप से नायिका की अनेक कामुक-विषयक अभिलाष को प्रकट कर रहा है। इस प्रकार यहाँ पर अनेक नायक-निष्ठ रति का वर्णन अनुचित होने से सहृदय को रसानुभूति नहीं हो रही है। अतः यह रसाभास का उदाहरण है।

भावाभास का उदाहरण

अनुवाद—वह (सीता) पूर्णचन्द्र के समान मुख वाली, चञ्चल एवं दीर्घ नेत्रों वाली, तथा अभिनव यौवन से तरंगित हाव-भावादि विलास युक्त अंगों से सुशोभित है, सो मैं क्या करूँ? उसके साथ मित्रता किस प्रकार करूँ? उसकी प्रणय-स्वीकृति प्राप्त करने का क्या उपाय है? ॥४९॥

यहाँ चिन्ता अनौचित्य रूप में प्रवर्त्तित होने से भावाभास है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझने चाहिए।

विमर्श—यह सीता को लक्ष्य कर रावण की उक्ति है। यहाँ पर रावण के हृदय में चिन्ता रूप व्यभिचारीभाव की प्रधानता है किन्तु यहाँ चिन्ता अनुचित रूप में वर्णित है। अतः यह भावाभास का उदाहरण है। कामशास्त्र में बताया गया है कि पहिले स्त्री के अनुराग का वर्णन होना चाहिए, बाद में पुरुष के राग का। किन्तु यहाँ पर उसके विपरीत अनुरागहीन सीता में प्रथम रावण के अनुराग का वर्णन अनुचित है, अतः रति के अनुचित प्रवृत्त होने से उसका व्यभिचारीभाव 'चिन्ता' भी अनुचित रूप में प्रवृत्त है अतः यहाँ भावाभास है। उद्योतकार का कथन है कि 'मैत्रीं कथं विदधे' इस वचन से मैत्री का अभाव सिद्ध है। अतः यहाँ पर अननुरक्ता सीता के प्रति रावण का रतिभाव प्रकट करना अनौचित्यपूर्ण है और तद्विषयक चिन्ता भी अनौचित्य-प्रवृत्त है। अतः यहाँ भावाभास है।

(सू० ५०) भावस्य शान्तिरुदयः, सन्धिः शबलता तथा ॥३६॥

क्रमेणोदाहरणम्—

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रश्लेषमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणानतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते ।
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत्सम्प्रमार्ष्टुं मया
साऽऽश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तन्व्या च तद्विस्मृतम् ॥५०॥

अत्र कोपस्य ।

इसी प्रकार अन्य रस एवं भावों के रसाभास एवं भावाभास के उदाहरण समझने चाहिए ।

भावशान्त्यादि

अनुवाद—(सूत्र ५०) भाव की शान्ति, भावोदय, भाव सन्धि और और भाव शबलता (ये चार ध्वनियाँ भी होती हैं) ॥३६॥

विमर्श – अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि में रस, भाव, रसाभास और भावाभास के साथ भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता का भी परिगणन किया गया है । उनमें रस, भाव, रसाभास तथा भावाभास का सोदाहरण निरूपण ऊपर किया जा चुका है । अब यहाँ भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता का सोदाहरण निरूपण करते हैं—

भावशान्ति का उदाहरण

अनुवाद—उस (सौत) के घने (चन्दनादि) लेप वाले स्तन-प्रदेश के गाढ़ आलिंगन के मुद्रा (चिह्न) से अंकित वक्षःस्थल (छाती) को चरणों पर झुकने के बहाने से क्यों छिपा रहे हो ? नायिका के इस प्रकार कहने पर मैंने वह (मुद्रा, चिह्न) कहाँ हैं ? यह कहकर सहसा उसको मिटाने के लिए शीघ्रता से (वेग से) उसका आलिंगन कर लिया और उसके सुख के कारण वह कृशांगी उसको भूल गई ॥५०॥

यहाँ पर कोपरूप भाव की शान्ति है ।

विमर्श—यह श्लोक अमरुशतक से उद्धृत है । यहाँ पर कोई शठ नायक अपनी खण्डिता नायिका के कोप तथा कोपशान्ति का वर्णन अपने मित्र से कर रहा है । यहाँ पर खण्डिता का कोपरूप भाव की शान्ति ही अधिक चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्त हो रहा है । अतः यह भावशान्ति का उदाहरण है ।

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यो मानपरिग्रहग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणं
माभूत्सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥५१॥

अत्रौत्सुक्यस्य।

उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः
सत्संगप्रियता च वीररभसोत्कालश्च मां कर्षतः।
वैदेही परिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामीलयन्
आनन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरः स्निग्धो रुणद्ध्यन्यतः ॥५२॥

अत्रावेगहर्षयोः।

भावोदय का उदाहरण

अनुवाद—एक ही शय्या पर लेटे हुए नायक के द्वारा सौत का नाम लेने पर तुरन्त ही मान धारण कर खिन्न हुई उस मुग्धा नायिका ने चाटुकारिता (खुशामद) करते हुए प्रियतम को भी क्रोधावेश में झटक दिया (फटकार दिया)। तब नायक चुपचाप हो गया, उसी समय 'कहीं सो न जाय' इसलिए गरदन को खूब मोड़कर फिर उसे देखने लगी ॥५१॥

यहाँ पर औत्सुक्य का वर्णन है।

विमर्श— यह श्लोक अमरुशतक से उद्धृत किया गया है। यहाँ पर मुग्धा नायिका का औत्सुक्य रूप व्यभिचारीभाव प्रधान रूप से अभिव्यक्त होकर सहृदय को चमत्कृत कर रहा है। अतः यह भावोदय का उदाहरण है। यद्यपि यहाँ पर कोपशान्ति भी है, किन्तु उसके अनुभावों का वर्णन न होने के कारण इसे कोपशान्ति के परिपुष्ट न होने से भावशान्ति का उदाहरण नहीं कहा जा सकता।

भावसन्धि का उदाहरण

अनुवाद—गर्वयुक्त, तप और पराक्रम के निधि परशुराम के आगमन से एक ओर तो उनके सत्संग का प्रेम और वीरोचित उत्साह का उद्रेक मुझे खींच रहा है तथा दूसरी ओर हरिचन्दन और चन्द्रमा के समान शीतल, आनन्ददायक स्निग्ध सीता का यह आलिंगन चैतन्य (चेतनता) को व्यावृत्त (विलुप्त सा) करता हुआ बार-बार मुझे रोक रहा है ॥५२॥

यहाँ पर आवेग और हर्ष भावों की सन्धि है।

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषा, कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ।।५३।।

अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यधृतिचिन्तानां शबलता । भावस्थितिस्तूक्ता उदाहृता च ।

विमर्श—यह श्लोक महावीरचरित से उद्धृत है । यह परशुराम के आने पर राम की उक्ति है । यहाँ पर पूर्वार्द्ध में आवेग रूप व्यभिचारीभाव गम्य है और उत्तरार्द्ध में 'हर्ष रूप व्यभिचारीभाव गम्य है । दोनों का एक साथ ही विशिष्ट चमत्काररूप में आस्वादन हो रहा है । अतः दोनों का मिलनरूप सन्धि होने से यह भावसन्धि का उदाहरण है ।

भावशबलता का उदाहरण

अनुवाद—कहाँ तो यह अनुचित कार्य और कहाँ चन्द्रवंश में जन्म ? क्या वह फिर कभी दिखाई देगी ? दोषों के निवारण के लिए ही मेरा शास्त्रज्ञान है। अरे ! क्रोध में भी उसका मुख सुन्दर था ! पुण्यात्मा और विद्वान् लोग मुझे क्या कहेंगे ? वह तो स्वप्न में भी दुर्लभ है । हे चित्त ! धैर्य धारण करो, अरे ! कौन भाग्यशाली युवक उसके अधर का पान करेगा ? ।।५३।।

यहाँ पर वितर्क, औत्सुक्य, मति, स्मरण, शङ्का, दैन्य, धृति, चिन्ता इन (आठ) भावों की शबलता है ।

भावस्थिति का ऊपर वर्णन किया जा चुका है और उदाहरण भी दिया जा चुका है ।

विमर्श—यह श्लोक विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अङ्क से उद्धृत है । इसमें उर्वशी को देखकर राजा पुरूरवा का कथन है । कुछ लोग इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हैं । कुछ लोग इसे देवयानी के प्रति ययाति की उक्ति मानते हैं । वस्तुतः यह किसी प्राचीन की उक्ति प्रतीत होती है, ऐसा कम लाकर, वैद्यनाथ, भीमसेन आदि विद्वान् कहते हैं । यहाँ पर अनेक भावों का एक साथ वर्णन होने से भावशबलता है । भावशबलता का तात्पर्य है— भावों का परस्पर सम्पर्क । अर्थात् पूर्व-पूर्व भावों का उत्तरोत्तर भावों के द्वारा उपमर्दन होता है जिससे एक विशिष्ट चमत्कार उत्पन्न होता है, जिसे भावशबलता कहते हैं । यहाँ पर पूर्व-पूर्व भावों का उत्तरोत्तर भावों के द्वारा सम्मर्दन किया गया है । जैसे—

१. कहाँ मेरा यह अनुचित कार्य और कहाँ चन्द्र कुल ?—**वितर्क**
(क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम् ?)
२. क्या वह फिर दिखाई देगी ? (भूयोऽपि दृश्येत सा)—**औत्सुक्य**
३. हमारा शास्त्रज्ञान दोषों के परिमार्जन के लिए है (दोषाणां प्रशमाय न श्रुतम्) —**मति**
४. क्रोध में भी उसका मुख सुन्दर है (कोपेऽपि कान्तं मुखम्)—**स्मरण**
५. पुण्यात्मा जन मुझे क्या कहेंगे ? (किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः) —**शङ्का**
६. वह स्वप्न में भी दुर्लभ है (स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा)—**दैन्य**
७. हे चित्त ! धैर्य धारण करो (चेतः स्वास्थ्यमुपैहि)—**धृति**
८. कौन युवक उसके अधर का पान करेगा ? (कः युवा धन्योऽधरं धास्यति) —**चिन्ता।**

इस प्रकार यहाँ पर वितर्कादि आठ भावों का एक साथ वर्णन होने से भाव-शबलता है। भाव यह कि यहाँ पर पूर्व-पूर्व वितर्क आदि भावों का उत्तरोत्तर भावों के द्वारा सम्मर्दन करके उत्तरोत्तर औत्सुक्यादि भाव सामाजिकों के हृदय में अद्भुत चमत्कार उत्पन्न करते हैं, अतः यहाँ पर भावशबलता है।

ध्वनिकार का कथन है कि यहाँ पर औत्सुक्य, स्मरण, दैन्य और चिन्ता ये चार शृंगाररस के व्यभिचारीभाव हैं और वितर्क, मति, शंका और धृति ये चार शान्तरस के व्यभिचारीभाव हैं। इस प्रकार दो विरोधी रसों का एक साथ वर्णन होने से दोनों के आलम्बनैक्य और नैरन्तर्य रूप दोष भी होगा। इस पर ध्वनिकार कहते हैं कि जहाँ पर दो विरोधी रसों का बाध्यत्वेन वर्णन होता है, वहाँ पर आश्रयैक्य एवं नैरन्तर्य रूप दोष नहीं होता। यहाँ पर शान्तरस के व्यभिचारीभावों वितर्क, मति, शंका और धृति का क्रमशः शृंगाररस के व्यभिचारीभावों के द्वारा उत्तरोत्तर बाध हो जाता है, अतः यहाँ पर आलम्बनैक्य और नैरन्तर्य रूप दोष नहीं है।

भावशान्त्यादि के समान व्यभिचारीभावों की एक पाँचवीं अवस्था भावस्थिति भी है, अतः यहाँ भावस्थिति का भी उदाहरण देना चाहिए था। इस पर काव्य-प्रकाशकार कहते हैं कि भावस्थिति का वर्णन पहिले 'व्यभिचारी तथाञ्जितः—सू० ४८' में किया जा चुका है और वहीं पर 'जाने कोपपराङ्मुखी.....४६' द्वारा उसका उदाहरण भी दिया जा चुका है। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में भावस्थिति का उदाहरण निम्न प्रकार दिया है—

तिष्ठेत् कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति,
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्त्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः।

(सू० ५१) मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ।

ते भावशान्त्यादयः। अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत् ।

अनुवाद—(सू० ५१) मुख्य रस के होने पर भी ये भावशान्त्यादि कभी-कभी प्रधानता को प्राप्त हो जाते हैं।

अनुवाद—वे भावशान्ति आदि राजा के द्वारा अनुगत विवाह के लिए जाते हुए भृत्य के समान प्रधानता को प्राप्त हो जाते हैं।

विमर्श—यहाँ पर मम्मट का अभिप्राय यह है कि रस के मुख्य होने पर भी कभी-कभी भावादि अङ्गी (प्रधान) रूप में प्रदर्शित किये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जब ये भावादि रस की अपेक्षा विशेष चमत्कारजनक होते हैं तब ये अङ्गी प्रधान हो जाते हैं। जैसे—राजा के किसी भृत्य का विवाह हो और वह भृत्य सज-धज कर वर रूप में आगे-आगे चल रहा है और राजा आदि उसके पीछे-पीछे चल रहे हों, वहाँ पर भृत्य की ही प्रधानता होती है, राजा की नहीं। उसी प्रकार ये भावादि रस के अङ्ग होते हैं और रस अङ्गी (प्रधान) होता है; किन्तु कभी-कभी ये भावादि प्रधान रूप में व्यङ्ग्य होते हैं अर्थात् इन भावादि के उद्रेक से आस्वाद (चमत्कार) होता है वहाँ पर भावादि प्रधान होते हैं। अतः वहाँ भावध्वनि होती है। वस्तुतः यह प्रधानता 'आपाततः' कुछ समय के लिए होती है, और अन्तिम प्रधानता तो रस की रहती है। उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जहाँ पर विभावादि के द्वारा अभिव्यक्ति स्थायीभाव के उद्रेक से रसास्वादन होता है वहाँ रसध्वनि होती है और जहाँ पर अनुभावों के द्वारा अभिव्यक्त व्यभिचारीभावों के उद्रेक से आस्वादन होता है वहाँ भावध्वनि होती है। इनके अतिरिक्त जहाँ पर विभाव और अनुभाव ही चमत्कारजनक होते हैं वहाँ वस्तुध्वनि एवं अलंकारध्वनि होती है।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि

काव्यप्रकाश में ध्वनि के दो भेद बताये गये हैं—अविवक्षितवाच्यध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि। इनमें अविवक्षितवाच्यध्वनि को लक्षणामूलक ध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि को अभिधामूलक ध्वनि कहते हैं। अविवक्षितवाच्यध्वनि (लक्षणामूलक ध्वनि) के दो भेद होते हैं—अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य। विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि (अभिधामूलक ध्वनि) के भी दो भेद होते हैं—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य। इनमें असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य को रसादिध्वनि कहते हैं। यहाँ तक असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (रसादिध्वनि) के आठ प्रकारों का विवेचन किया जा चुका है। अब संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के भेदों का निरूपण करते हैं—

(सू० ५२) अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ॥३७॥
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः ॥

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः, अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः, उभयशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यश्चेति त्रिविधः ।

अनुवाद (सू० ५२)—अनुस्वानाभ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक जो ध्वनि है वह शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ भेद से तीन प्रकार की होती है ॥३७॥

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्य, अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्य तथा उभयशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्य इस प्रकार (संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) तीन प्रकार का होता है ।

विमर्श—अनुस्वान का अर्थ 'अनुरणन' होता है । घण्टा बजाने के बाद प्रधान शब्द की प्रतीति के अनन्तर जो प्रति ध्वनि होती है उसे अनुरणन या अनुस्वान कहते हैं, इसी के समान संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भी होता है । (अनु पश्चात् स्वानं रणनं प्रति-ध्वनिर्वा, तदाभः तत्सदृशोऽनुस्वानाभः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः मुख्यार्थप्रतीत्यनन्तरं हि घण्टानुरणनप्रतिमः ।) जिस प्रकार घण्टा बजाने पर मुख्य शब्द और अनुरणन ध्वनि में क्रम का स्पष्ट अवबोध होता है उसी प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में भी वाच्य और व्यङ्ग्य के पूर्वापर क्रम का बोध रहता है इसीलिए उसे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहते हैं । **(संलक्ष्यो ज्ञेयः क्रमः पौर्वापर्यं यस्मिन् व्यङ्ग्ये स संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः)** । अर्थात् जहाँ पर वाच्य और व्यङ्ग्य के पूर्वापर क्रम का स्पष्टतः ज्ञान (भान) होता है उसे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहते हैं । यह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तीन प्रकार का होता है (१) शब्दशक्त्युद्भव, (२) अर्थशक्त्युद्भव, और (३) उभयशक्त्युद्भव । यतश्च यह अनुरणनमूलकध्वनि है अतः इसे क्रमशः शब्दशक्तिमूलानुरणनध्वनि, अर्थशक्तिमूलानुरणन ध्वनि तथा शब्दार्थोभयशक्तिमूलानुरणन ध्वनि भी कहते हैं ।

ध्वन्यालोककार ने संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के केवल दो भेदों का निरूपण किया है—शब्दशक्तिमूलक ध्वनि और अर्थशक्तिमूलक ध्वनि । उन्होंने उभयशक्तिमूलकध्वनि को स्वीकार नहीं किया है—

क्रमेण प्रतिभात्यात्मा योऽनुस्वानसन्निभः ।
शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेधा व्यवस्थितः ॥२।२०॥

मम्मट ने शब्दपरिवृत्त्यसह को शब्दशक्तिमूलक, शब्दपरिवृत्तिसह को अर्थशक्तिमूलक और शब्दपरिवृत्त्यसहत्व-सहत्व को उभयशक्तिमूलक कहा है । अर्थात् जहाँ जिस

तत्र—

(सू० ५३) अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते ।।३८।।
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ।

वस्त्वेति अनलङ्कारं वस्तुमात्रम् । आद्यो यथा—

उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहं
देवेन येन जठरोर्जितगर्जितेन ।
निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां
धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः ।।५४।।

शब्द से जो व्यङ्ग्यार्थ निकलता है उस शब्द के हटा देने पर उसके स्थान पर उसका दूसरा पर्यायवाची शब्द रख देने पर वह व्यङ्ग्यार्थ नहीं निकलता, शब्द परिवर्तन को सहन न करने के कारण उसे शब्दपरिवृत्यसह कहते हैं। जहाँ पर जिस शब्द से जो व्यङ्ग्यार्थ निकलता है, उसके स्थान पर उस शब्द का पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी वही अर्थ निकलता है। इस प्रकार शब्द परिवर्तन को सहन करने के कारण उसे शब्दपरिवृत्तिसह कहते हैं। जहाँ पर शब्दपरिवृत्यसह और शब्दपरिवृत्तिसह दोनों का व्यङ्ग्यार्थ के प्रतिपादन में समान प्रधानता रहती है, वहाँ शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव ध्वनि होती है। (**परिवृत्यसहशब्दप्राचुर्ये शब्दशक्तिमूलत्वम्, परिवृत्तिसहशब्दप्राचुर्ये त्वर्थशक्तिमूलत्वम्, तत्साम्ये तूभयशक्तिप्राधान्यादुभयशक्तिमूलत्वम्**)। प्रदीपकार का भी यही अभिप्राय है कि जहाँ पर जिस शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उसके पर्याय से उस अर्थ की प्रतीति नहीं होती, वहाँ शब्द शक्त्युद्भवध्वनि है और जहाँ पर पर्यायवाचक शब्द से उसी अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि होती है।

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि—

अनुवाद—(सू० ५३) (उनमें) जहाँ पर शब्द से वस्तु अथवा अलङ्कार प्रधान रूप से अभिव्यक्त (प्रतीत) होते हैं, वह शब्दशक्त्यद्भवध्वनि दो प्रकार की होती है ।।३८।।

विमर्श—संलक्ष्यक्रम के उपर्युक्त तीन भेदों में से शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के दो भेद होते हैं—वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि। भाव यह कि जिस ध्वनि में अलङ्कार अथवा वस्तु मात्र शब्दपरिवृत्यसह रूप शब्द से प्रधान रूप में अवभासित होता है, उसे शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहते हैं। वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि दो प्रकार की होती है—अलंकारध्वनि और वस्तुध्वनि। इनमें प्रथम अलंकार ध्वनि का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—(प्राकरणिक-राज पक्ष में)—कठोर एवं बलवत् गर्जन करने वाले जिस राजा ने (देवेन-राजा) काल रूप खड्ग की महती धारा रूप जल के प्रवाह को अतिशय करके (उल्लास्य) अर्थात् पानीदार तलवार को उठाकर

अत्र वाक्स्यासम्बद्धार्थाविधायकत्वं मा प्रसाङ्क्षीदितिप्राकरणिकाप्राकरणिकयोरूपमानोपमेयभावः कल्पनीय इत्यत्रोपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः।

तीनों लोक में प्रज्वलित समस्त प्रताप (शौर्यातिशय रूप तेज को) खड्ग की धारा रूप जल से युद्ध में शान्त कर दिया ॥५४॥

(अप्राकरणिक-इन्द्र पक्ष में)—जिस इन्द्र ने गम्भीर गर्जन से युक्त वर्षाकाल के सूचक नवीन मेघ को प्रकट करके जलपात रूप कोलाहल के मध्य (अथवा) रण-रण शब्द करने पर) धारा-जल से तीनों लोक में जल के शत्रु सूर्य आदि प्रकृष्ट समस्त तेज (उष्णता) को शान्त कर दिया ॥५४॥

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ पर वाक्य के असम्बद्ध अर्थ का कथन अर्थात् अविवक्षित अर्थ का प्रसंग न आ जाय, इसलिए प्राकरणिक (राजपक्ष) और अप्राकरणिक (इन्द्रपक्ष) में उपमानोपमेय भाव की कल्पना की जाती है, अतः यहाँ पर उपमा अलङ्कार व्यंग्य है।

विमर्श—यहाँ पर प्राकरणिक राजा का प्रताप-वर्णन और अप्राकरणिक इन्द्र का प्रताप-वर्णन रूप दोनों अर्थों में पारस्परिक सम्बन्ध न मानने पर वाक्य असम्बद्ध (अविवक्षित) अर्थ का अभिधायक (बोधक) हो जायगा अथवा यदि यह कहा जाय कि 'करवालमुल्लास्य' इतना ही कहने पर प्राकरणिक अर्थ का बोध हो जायगा तो 'काल' आदि विशेषण निरर्थक हो जायगा, इसलिए असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होगी। इस दोष के परिहार के लिए यहाँ पर प्राकरणिक और अप्राकरणित राजा और इन्द्र में सादृश्य सम्बन्ध मानना चाहिए, इसलिए यहाँ प्रधान रूप से उपमा अलंकार ही व्यङ्ग्य है।

प्रदीपकार का कथन है कि यहाँ पर 'करवालमुल्लास्य' एतावन्मात्र कथन करने पर जो इस प्रकार का शब्द प्रयोग किया गया है, वह असम्बद्ध अर्थ का अभिधायक न हो, इसलिए अप्राकरणिक इन्द्र, मेघ आदि के साथ प्राकरणिक राजा, करवाल आदि का उपमानोपमेय भाव सम्बन्ध है, इसलिए उपमा अलंकार व्यङ्ग्य है और वह शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि है। क्योंकि यहाँ पर 'देव' के पर्याय 'भूप' आदि शब्दों के रख देने पर उस अर्थ की प्रतीति नहीं होती।

उद्योतकार का कथन है कि यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ से अभिन्न श्लिष्ट शब्द के प्रयोग से विशेषण-कृत सादृश्य की प्रतीति होती है। किन्तु यहाँ द्वितीय अर्थ की प्रतीति के बिना उपमा का बोध नहीं होगा और उसके बोध होने पर ही शब्दशक्ति-मूलक ध्वनि होती है। यद्यपि उपमानभूत द्वितीय अर्थ के वस्तुरूप होने पर भी व्यंग्यत्व है, तथापि उपमान के द्वारा ही उपमेय के उत्कर्ष से अलंकार-ध्वनि होती है। प्रकरण के द्वारा अभिधाशक्ति प्रथम अर्थ (राजा पक्ष में) नियन्त्रित हो जाने से श्लिष्ट शब्द के प्रयोग से द्वितीय अर्थ की व्यङ्ग्यता होती है।

तिग्मरुचिरप्रतापो विधुरनिशाकृद्विभो ! मधुरलीलः ।
मतिमानतत्त्ववृत्तिः प्रतिपदपक्षाग्रणीर्विभाति भवान् ॥५५॥

अत्रैकैकस्य पदस्य द्विपदत्वे विरोधाभासः ।

भाव यह कि यहाँ पर किसी राजा के प्रताप का वर्णन है जो प्राकरणिक (वाच्य) अर्थ है, किन्तु यहाँ एक अर्थ इन्द्र के पक्ष में भी होता है जो अप्राकरणिक (प्रतीयमान) अर्थ है। यहाँ 'देवेन' इस शब्द के माहात्म्य से प्राकरणिक राज-प्रताप-वर्णन रूप अर्थ का बोध कराकर अभिधाशक्ति के नियन्त्रित हो जाने पर द्वितीय इन्द्र प्रताप वर्णन रूप अप्राकरणिक (प्रतीयमान) अर्थ की प्रतीति व्यंजना के द्वारा होती है। यहाँ पर श्लिष्ट शब्द के प्रयोग से विशेषणों के द्वारा दोनों अर्थों में सादृश्य होने से उपमानोपमेयभाव सम्बन्ध की कल्पना की जाती है अतः यहाँ उपमा अलंकार व्यङ्ग्य है, क्योंकि उपमा के द्वारा ही यहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है।

अनुवाद—हे विभो ! आप दुष्टों पर कठोर और सज्जनों पर रुचिर (मनोहर) प्रताप वाले, शत्रुओं के संहार करने वाले, मधुर चेष्टा करने वाले, बुद्धि (मति) और प्रमाण के द्वारा तत्त्व (यथार्थ-वस्तु) में व्यवहार वाले, पग-पग पर अपने लोगों के मुखिया (अग्रणी, प्रधान) होकर शोभित हैं ॥५५॥

यहाँ पर एक-एक पद के दो-दो पद बना देने पर विरोधाभास है।

विमर्श—यहाँ पर पदभंगमूलक विरोधाभास अलंकारध्वनि है। यहाँ एक-एक पद के विच्छेद द्वारा दो-दो पद बना देने पर विरोधाभास होता है। जैसे—हे विभो ! आप 'तिग्मरुचिरप्रतापः' अर्थात् तीक्ष्ण (कठोर) एवं रुचिर प्रताप वाले हैं, अथवा तिग्मरुचिः (सूर्यः)+अप्रतापः (प्रतापरहित, अनुष्ण) अर्थात् सूर्य होते हुए भी प्रतापरहित (तेज-हीन) हैं; यह विरोध प्रतीत हो रहा है। इसी प्रकार आप विधुरनिशाकृत् (शत्रुओं के संहारकर्त्ता) हैं, यद्वा विधुः+अनिशाकृत् अर्थात् चन्द्रमा होकर भी निशाकृत् (निशाकर) नहीं हैं, यह विरोध है। जो चन्द्रमा है वही निशाकर है, किन्तु आप चन्द्रमा होकर भी निशाकर नहीं हैं, यह विरोध प्रतीत हो रहा है। विरोध परिहार विधुर (शत्रु) के निशाकृत् (नाशक) हैं। आप मधुरलीलः (मधुर चेष्टा वाले) हैं। यद्वा मधुः (वसन्त) +अलीलः (क्रीड़ाशून्य) हैं अर्थात् वसन्त होकर भी लीलाशून्य हैं, यह विरोध है। किन्तु मधुर लीला (चेष्टा) से युक्त अर्थ होने पर लीला का परिहार हो जाता है। आप मतिमानतत्त्ववित् हैं। अर्थात् मतिमान् (बुद्धिमान्) होने पर भी अतत्त्ववित् (तत्त्व को ग्रहण न करने वाले) हैं, यह विरोध है; किन्तु मति (बुद्धि) और मान (प्रमाण) से तत्त्ववित् (तत्त्व-याथार्थ्य को जानने वाले हैं; यह अर्थ होने पर विरोध का परिहार हो जाता है। आप प्रतिपदपक्षाग्रणी हैं अर्थात् प्रतिपद् (प्रतिपदा की तिथि)+अपक्षाग्रणी (पक्ष-शुक्ल या कृष्ण पक्ष

अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद प्रभो ।
अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ।।५६।।

अत्रापि विरोधाभासः ।

अग्रणी—प्रथम तिथि नहीं हैं), यह विरोध प्रतीत हो रहा है, किन्तु प्रतिपद (पग-पग पर) पक्ष (अपने पक्ष में) अग्रणी (अग्रगण्य, मुखिया) हैं। यह अर्थ करने पर विरोध का परिहार हो जाता है। इस प्रकार यहाँ पर प्रकरण से अभिधाशक्ति के प्राकरणिक (प्रकृत) अर्थ में नियन्त्रित हो जाने से अप्राकरणिक (अप्रकृट द्वितीय) अर्थ और उससे सम्बद्ध विरोध का आभास यहाँ पर व्यङ्ग्य है। अर्थात् यहाँ पर विरोधाभास अलंकार व्यङ्ग्य है।

अनुवाद—हे हर्षद विभो। आप संग्राम (युद्ध) से प्राप्त उत्कर्षों से असीमित (अमित) हैं, सुन्दर यशोराशि से सम्पन्न (सहित) दुष्टों के शत्रु (अहित) हैं ।।५६।।

यहाँ पर भी विरोधाभास अलंकार व्यङ्ग्य है।

विमर्श—यह असङ्गपलमूलक विरोधाभास अलङ्कारध्वनि का उदाहरण है। यहाँ पर किसी राजा की प्रशंसा की गई है। हे राजन्! आप हर्षद हो अर्थात् शत्रुओं के हर्ष को खण्डित करने वाले (हर्षं द्यति खण्डयति इति) तथा मित्रों को हर्ष देने वाले (हर्षं ददाति इति हर्षदः) हो। यहाँ पर 'अमितः'—'समितः' तथा 'अहितः', 'सहिदः' पदों में विरोधाभास अलङ्कार व्यङ्ग्य है। जो अमित है वह समित कैसे हो सकता है? और जो अहित (हित रहित) है वह सहित (हित-सहित) कैसे हो सकता है? यह विरोध है; किन्तु 'समितः' को 'समित्' शब्द का पञ्चमी विभक्त्यन्त रूप मानकर 'समितः' अर्थात् युद्ध से प्राप्त उत्कर्ष रूप अर्थ करने पर विरोध का परिहार हो जाता है। इसी प्रकार 'अहितः-सहितः' में 'साधु यशोभिः सहितः असतांमहितः' अन्वय करने पर विरोध का परिहार हो जाता है। इस प्रकार यहाँ पर प्रकरणादि से अभिधाशक्ति के राजवर्णन रूप प्राकरणिक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर अप्राकरणिक द्वितीय अर्थ (विरुद्ध अर्थ) का आभास व्यङ्ग्यार्थ है।

काव्यप्रदीपकार का कथन है कि जहाँ कहीं भी विरोधाभास प्रतीत हो, वहाँ सर्वत्र व्यङ्ग्य नहीं होता। जब 'अपि'- 'च' आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं तो विरोधाभास वाच्य होता है, व्यङ्ग्य नहीं और यदि 'अपि', 'च' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता तो वहाँ पर विरोधाभास व्यङ्ग्य होगा (**ननु विरोधस्य किं सर्वत्र व्यङ्ग्यत्वमेव? नेत्युच्यते। तत्कियतो सीमा? अपि शब्दादेर्विरोध—व्यञ्जकस्य भावे वाच्यत्वं, तदभावे व्यङ्ग्य त्वमिति।** यहाँ पर 'अमितः-समितः' 'अहितः-सहितः' के बीच में 'अपि' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, अतः यहाँ विरोधाभास व्यङ्ग्य है।

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥५७॥
अत्रव्यतिरेकः।

अलंकार्यस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेनालंकारता।

अनुवाद—तूलिका आदि उपकरण के बिना और आधारभित्ति के बिना ही अनेकविध जगत् रूप चित्र का निर्माण करने वाले कला में श्लाघ्य (चन्द्रकला से श्लाघ्य) उस शिव को नमस्कार है ॥५७॥

यहाँ व्यतिरेक अलंकार व्यंग्य है।

विमर्श—यहाँ पर व्यञ्जना के द्वारा चित्र शब्द का अर्थ 'आलेख्य' और कला शब्द का अर्थ आलेख्य क्रिया कौशल होता है। यह श्लोक व्यतिरेकालंकार ध्वनि का उदाहरण है। जहाँ पर उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य (उत्कर्ष) वर्णित होता है वहाँ पर व्यतिरेक अलंकार होता है (**उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः**)। सामान्यतः चित्रकार तूलिका आदि उपकरणों से आधारभित्ति पर चित्र रचना करता है किन्तु महादेव शिव बिना किसी उपकरण के तथा बिना किसी आधार के ही संसार रूप चित्र का निर्माण करता है। अतः तूलकादि उपकरण से आधारभित्ति पर चित्र निर्माण करने वाले उपमानभूत कलाकारों की अपेक्षा बिना उपकरण और बिना आधार के जगचित्र का निर्माण करने वाले उपमेय भूत शिव का आधिक्य (उत्कर्ष) वर्णित होने से यहाँ पर व्यतिरेकालंकार व्यङ्ग्य है।

अनुवाद—(यद्यपि अलंकार ध्वनि के इन उदाहरणों में) उपमालंकार ध्वनि आदि अलंकार्य हैं, तथापि ब्राह्मणश्रमणन्याय से उन्हें अलंकार कहा जाता है।

विमर्श—अलंकार ध्वनि के उदाहरणों में व्यङ्ग्य उपमा आदि अलंकारों की प्रधानता होने से वे अलंकार्य होंगे, अलंकार नहीं, क्योंकि जो प्रधान होता है वह अलंकार्य होता है। यहाँ पर उपमा आदि व्यङ्ग्य होने से प्रधान हैं, अतः वे अलंकार्य होंगे, अलंकार नहीं। यहाँ अलंकार व्यङ्ग्य है। इस पर कहते हैं कि यद्यपि व्यङ्ग्यार्थ के प्रधान होने से वह अलंकार्य होगा, अलंकार नहीं होगा, फिर भी 'ब्राह्मणश्रमण न्याय' से अलंकार्य रूप अर्थ को अलंकार कहा जा सकता है। जैसे कोई ब्राह्मण बौद्ध धर्म में दीक्षित हो जाने से 'श्रमण' हो जाता है। बौद्धभिक्षु हो जाने पर वह ब्राह्मणत्व-जाति से मुक्त हो जाता है, अतः उसे ब्राह्मण कहना उचित नहीं है, किन्तु बौद्धभिक्षु होने के पूर्व वह ब्राह्मण था, इसलिए उसे 'ब्राह्मण-श्रमण' कह दिया जाता है। उसी प्रकार व्यङ्ग्य (अलंकार्य) रूप अर्थ को उसके पूर्वकालिक अलंकारत्व को ध्यान में रखकर अलंकार कह दिया जाता है।

वस्तुमात्रं यथा—

पंथिण ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे।
उण्णअपओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु ॥५८॥

पथिक ! नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तदा वस ॥५८॥

(इतिसंस्कृतम्)।

अत्र यद्यप्युपभोगक्षमोऽसि, तदाऽऽस्वेति व्यज्यते।

शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र ! यस्मै त्वम्।
यत्र प्रसीदसि पुनः भात्युदारोऽनुदारश्च ॥५९॥

अत्र विरुद्धावपि त्वदनुवर्त्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति ध्वन्यते।

वस्तुमात्र का उदाहरण—

अनुवाद—हे पथिक ! इस पत्थर वाले गाँव में (पहाड़ी गाँव में) तनिक भी बिस्तर (बिछौना) नहीं है, किन्तु उठे हुए पयोधरों (मेघ या स्तनों) को देखकर यदि ठहरना चाहो तो ठहर जाओ ॥५८॥

यहाँ पर यदि तुम उपभोग के लिए समर्थ हो तो ठहर जाओ, यह व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त होता है।

विमर्श—यहाँ पर कोई नायिका किसी पथिक से कह रही है कि हे पथिक ! इस पहाड़ी गाँव में बिछौना नहीं है अर्थात् सोते समय बिछाने के लिए बिछावन नहीं है, किन्तु उमड़ते हुए बादलों को देखकर यदि रुकना चाहो तो रुक लो। यहाँ पर नायिका के ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि इस पहाड़ी गाँव में पत्थर के समान जड़ (मूर्ख) लोग रहते हैं, मूर्खों के इस गाँव में शास्त्र (परस्त्री के सम्भोग का निषेध करने वाला शास्त्र अथवा कामशास्त्र), कहीं भी नहीं है, किन्तु यदि सम्भोग करने में समर्थ हो तो उठे हुए स्तनों को देखकर यहाँ ठहर सकते हो। यह व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित हो रहा है। अतः यह वस्तुध्वनि का उदाहरण है।

अनुवाद—हे राजन् ! आप जिस पर क्रुद्ध हो रहे हैं उसे शनि (ग्रह) और अशनि (वज्र) जोर से मारता है और जिस पर प्रसन्न होते हैं, वह पुरुष महान् दाता (उदार) और स्त्री से अनुगत (अनुकूल स्त्रियों से युक्त) शोभित होता है ॥५९॥

यहाँ पर विरुद्ध होते हुए भी (शनि और अशनि) तुम्हारा अनुसरण करने के लिए एक कार्य करते हैं; यह अर्थ ध्वनित होता है।

विमर्श—यहाँ पर पूर्वार्द्ध में वस्तुध्वनि और उत्तरार्द्ध में विरोधालंकारध्वनि है। यहाँ पर पूर्वार्द्ध में 'नञ्' पद के विरोधार्थक होने से 'अशनि' पद का शनि-विरोधी (न+शनि) रूप अर्थ प्रकट होता है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध होते हुए भी शनि और अशनि दोनों एक ही कार्य करते हैं, इस प्रकार वस्तु रूप अर्थ ध्वनित होता है (विरुद्धावपि त्वदनुवर्त्तनार्थमेकं कार्यं कुरुतः)। भाव यह कि शनि और अशनि परस्पर विरुद्धार्थ-वाचक भी आपके आदेश-पालन के लिए 'हवन' रूप एक कार्य करते हैं तात्पर्य यह कि हे राजन्! आपके विरोधी भी आपकी प्रसन्नता के लिए एकमत होकर एक कार्य करते हैं, अतः पूर्वार्द्ध में वस्तु व्यङ्ग्य होने के कारण वस्तु-ध्वनि है। उत्तरार्द्ध में एक कार्य करने की प्रतीति नहीं होती, अपितु विरोध प्रतीत हो रहा है, अतः यहाँ विरोधालंकार व्यङ्ग्य है।

प्रदीपकार का कथन है कि यहाँ पर पूर्वार्द्ध में शनि और अशनि परस्पर विरुद्ध होने पर भी आपकी अनुकूलता के लिए एक कार्य करते हैं, यह वस्तु रूप अर्थ ध्वनित होता है। यहाँ पर विरोधालंकार नहीं है; क्योंकि 'शनि' और 'अशनि' दोनों सामानाधिकरण्य नहीं है, विरोध की वहीं विश्रान्ति हो जाती है। उत्तरार्द्ध वाक्य वस्तुध्वनि का उदाहरण नहीं है; क्योंकि उत्तरार्द्ध वाक्य में 'च' (चकार) पद 'अपि' अर्थ का वाचक है, अतः वहाँ विरोधालंकार वाच्य हो जाता है. जैसा कि विरोधाभास अलंकार ध्वनि के द्वितीय उदाहरण के निरूपण के अवसर पर बताया गया है कि जहाँ पर 'अपि', 'च' आदि शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ पर विरोधालंकार वाच्य हो जाता है (**अपि शब्दादेर्विरोध-व्यञ्जकस्य भावे वाच्यत्वम्, तदभावे व्यङ्ग्य-त्वमिति**)। यदि यहाँ पर 'च' पद समुच्चय अर्थ का वाचक होगा तो विरोधालंकार ही व्यङ्ग्य होगा।

टिप्पणी—आनन्दवर्धन शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि की मीमांसा करते हुए कहते हैं कि जहाँ पर कोई ऐसा अलंकार रूप अर्थ चमत्काराधायक होता है जो शब्दतः उपात्त (कथित) नहीं होता, बल्कि आक्षिप्त होता है, वहाँ पर शब्द शक्त्युद्भव ध्वनि होती है—

आक्षिप्त एवालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्द शक्त्युद्भवो हि सः॥

मम्मट ने इसी आधार पर शब्द शक्त्युद्भव ध्वनि का विवेचन किया है।

अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि

इस प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के अलंकारध्वनि और वस्तुध्वनि इन दो भेदों के निरूपण करने के पश्चात् अब अर्थशक्ति मूलानुरणन-ध्वनि अर्थात् अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के भेदों का निरूपण करते हैं—

(सू० ५४) अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः सम्भवी स्वतः ।।३९।।
प्रौढ़ोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेः तेनोम्भितस्य वा ।
वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ।।४०।।
वस्तत्वलंकारमथ वा तेनायं द्वादशात्मकः ।

स्वतःसम्भवी न केवलं भणितिमात्रनिष्पन्नो यावद्बहिरप्यौचित्येन सम्भाव्यमानः । कविना प्रतिभामात्रेण वहिरसन्नपि निर्मितः, कविनिबद्धेन वक्त्रेति वा द्विविधोऽपर इति त्रिविधः । वस्तुवाऽलङ्कारो वाऽसाविति षोढ़ा व्यञ्जकः । तस्य वस्तु वा अलङ्कारो वा व्यङ्ग्य इति द्वादशभेदोऽर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः ।

अनुवाद—(सू० ५४) अर्थशक्त्युद्भव व्यञ्जक अर्थ भी (१) स्वतः सम्भवी (२) कवि की प्रौढ़ोक्तिमात्र से सिद्ध अथवा (३) कवि निबद्ध वक्ता की प्रौढ़ोक्तिमात्र से सिद्ध ये तीन वस्तुरूप और अलंकाररूप भेद से छः प्रकार के होते हैं और वह छः प्रकार भी वस्तु और अलंकार दोनों को व्यक्त करता है, इसलिए वह बारह प्रकार का है ।।३९-४०।।

विमर्श—संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के तीन भेद बताये गये हैं—शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव और उभयशक्त्युद्भव। इनमें शब्दशक्त्युद्भव के भेदों का निरूपण किया जा चुका है । अब अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमध्वनि के भेदों का निरूपण किया जा रहा है। मम्मट ने अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य या अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह भेद बताये हैं । प्रथम स्वतःसम्भवी, कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृ प्रौढ़ोक्तिसिद्ध भेद से अर्थशक्त्युद्भवध्वनि तीन प्रकार की होती है । ये तीनों वस्तुरूप और अलंकार रूप भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं इस प्रकार छः भेद हुए। ये छः भेद वस्तुमात्र अथवा अलंकार को व्यक्त करते हैं । इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह भेद होते हैं—

अनुवाद—स्वतःसम्भवी अर्थ केवल कवि की उक्ति (कथन) मात्र से निष्पन्न नहीं होता, अपितु बाहर (लोक में) भी उचित रूप में पाया जाता है । जो बाहर (लोक में) न होने पर भी कवि द्वारा अपनी प्रतिभा मात्र से निर्मित अथवा कवि निबद्ध वक्ता के द्वारा प्रतिभामात्र से निर्मित दो प्रकार का और इस प्रकार कुल तीन प्रकार का होता है। वह तीनों प्रकार का व्यञ्जक अर्थ रूप अथवा अलङ्कार रूप होता है, इसलिए व्यञ्जक अर्थ छः प्रकार का हुआ । उस व्यञ्जक अर्थ का भी वस्तु अथवा अलङ्कार रूप व्यङ्ग्य अर्थ होता है, इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि बारह प्रकार की होती है ।

विमर्श—आचार्य मम्मट ने अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थ अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह भेद बताये हैं। उसका निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रथम व्यञ्जक रूप अर्थ तीन प्रकार का होता है—(१) स्वतःसिद्ध या स्वतःसम्भवी (२) कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध (३) कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध। इनमें स्वतःसम्भवी या स्वतःसिद्ध व्यञ्जक अर्थ केवल कवि के वर्णन का ही विषय नहीं होता, अपितु लोक-व्यवहार में भी वह पाया जाता है। द्वितीय कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध व्यञ्जक अर्थ केवल कवि की प्रतिभा से निर्मित होता है. लोक-व्यवहार में वह नहीं पाया जाता है अर्थात् लोक में उसका होना आवश्यक नहीं, वह हो कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से निर्मित अर्थ है। तृतीय कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध व्यञ्जक अर्थ कविनिबद्ध वक्ता की प्रतिभा से कल्पित होता है। इस प्रकार ये तीन प्रकार के व्यञ्जक अर्थ वस्तुरूप अर्थ अलंकार-रूप भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार कुल छः भेद हुए। इस प्रकार यह षड्विध व्यञ्जक अर्थ वस्तु और अलंकार रूप व्यङ्ग्य अर्थ का प्रतिपादक होने से बारह प्रकार का होता है। जैसा कि निम्न विवरण से स्पष्ट है—

१. स्वतःसम्भवी वस्तु व्यञ्जक वस्तुध्वनि
२. स्वतःसम्भवी वस्तु व्यञ्जक अलंकारध्वनि
३. स्वतःसम्भवी अलंकार व्यञ्जक वस्तुध्वनि
४. स्वतःसम्भवी अलंकार व्यञ्जक अलंकारध्वनि
५. कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु व्यञ्जक वस्तुध्वनि
६. कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु व्यञ्जक अलंकारध्वनि
७. कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार व्यञ्जक वस्तुध्वनि
८. कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार व्यञ्जक अलंकारध्वनि
९. कविनिबद्ध वक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु व्यञ्जक वस्तुध्वनि
१०. कविनिबद्ध वक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु व्यञ्जक अलंकारध्वनि
११. कविनिबद्ध वक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार व्यञ्जक वस्तुध्वनि
१२. कविनिबद्ध वक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार व्यञ्जक अलंकारध्वनि

साहित्यदर्पणकार ने अर्थशक्युद्भवध्वनि का विश्लेषण निम्न प्रकार किया है—

वस्तु वाऽलंकृतिर्वापि द्विधार्थः सम्भवती स्वतः।
कवेः प्रौढोक्ति सिद्धो वा तन्निबद्धस्य वेतिषट्॥
षड्भिस्तैर्व्यज्यमानस्तु वस्त्वलङ्कारारूपकः।
अर्थशक्त्युद्भवो व्यङ्ग्यो याति द्वादशभेदताम्॥

इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के बारह भेद होते हैं। अब क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं—

क्रमेणोदाहरणम्—

अलस शिरोमणि धुत्ताणं अग्गिमो पुत्ति धणसमिद्धिमओ।
इअ भणिएण णअङ्गी पप्फुल्लविलोअणा जाआ ॥६०॥
[अलसशिरोमणिर्धूर्त्तानामग्रिमः पुत्रि धनसमृद्धिमयः।
इति भणितेन नताङ्गी प्रफुल्लविलोचना जाता ॥६०॥]

इति संस्कृतम्

अत्र ममैवोपभोग्य इति वस्तुना वस्तु व्यज्यते।

धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि
विस्रब्धचाटुशतकानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ॥६१॥

---

(१) स्वतःसम्भवी वस्तु व्यञ्जक वस्तुध्वनि

अनुवाद—हे पुत्रि ! यह वर आलसियों का शिरोमणि, धूर्त्तों में अग्रगण्य और धन समृद्धि से पूर्ण है, ऐसा कहने से उस नताङ्गी की आँखें प्रफुल्लित हो गई ॥६०॥

यहाँ पर 'यह मेरे ही उपभोग के योग्य है' यह वस्तु अभिव्यक्त होती है।

विमर्श—यहाँ पर कोई धात्री नायिका से कह रही है कि हे पुत्रि ! तुम्हारा यह वर तो महा आलसी, धूर्त्त और धनी है, यह बात सुनकर नायिका का चेहरा खिल उठा। यहाँ पर वर (पति) के विशेषणों को सुनकर नायिका की आँखें खिल उठीं, इस कथन से 'यह मेरे उपभोग के योग्य है' यह बात ध्वनित होती है। नायिका के खिल उठने का कारण यह है कि पति आलसी होने से बाहर नहीं जायगा, दूसरी नायिका में आसक्त नहीं होगा, अतः उसके साथ रहने का अच्छा अवसर मिलेगा। धूर्त्त होने से सम्भोगकाल में अतृप्ति और धनसमृद्धि से युक्त होने से जीविका की चिन्ता न होने से सुख मिलेगा, यह सब सोचकर नायिका की आँखें खिल उठती हैं। यहाँ पर नायक के गुणश्रवण से उत्पन्न विकसित नेत्र रूप वस्तु के द्वारा 'यह केवल मेरे ही उपभोग' के योग्य है ? यह वस्तु सामाजिकों में अभिव्यक्त होती है। अतः यह स्वतः-सम्भवी वस्तुव्यञ्जक वस्तुध्वनि का उदाहरण है।

(२) स्वतःसम्भवी वस्तु व्यञ्जक अलंकारध्वनि

अनुवाद—अरी सखी ! तुम धन्य हो, जो प्रिय-सङ्गम के समय सुरत-काल के बीच में भी विश्वास के साथ सैकड़ों चापलूसी की बातें कर लेती हो। हे सखि ! कसम खाकर कहती हूँ कि प्रियतम के द्वारा नीवी की ओर हाथ बढ़ाते ही मुझे कुछ भी स्मरण नहीं रहता ॥६१॥

अत्र त्वमधन्या अहं तु धन्येति व्यतिरेकालङ्कारः।

दर्पान्धगन्धगजकुम्भकपाट कूट—
सङ्क्रान्तिनिघ्नघनशोणितशोणशोचिः।
वीरैर्व्यलोकि युधि कोपकषायकान्तिः
कालीकटाक्ष इव यस्य करे कृपाणः॥६२॥

अत्रोपमालंकारेणसकलरिपुबलक्षयः क्षणात् करिष्यते इति वस्तु।

यहाँ पर 'तुम धन्य नहीं हो, मैं धन्य हूँ' यह व्यतिरेकालंकार व्यङ्ग्य है।

विमर्श— यह श्लोक 'शार्ङ्गधर पद्धति' से उद्धृत है। यह स्वतःसम्भवी वस्तुरूप व्यञ्जक अलंकारध्वनि का उदाहरण है। यहाँ पर सुरत-विषयक बात-चीत के प्रसंग में कोई सखी अपने पति के सुरतकालीन प्रियालाप की चर्चा करने वाली किसी दूसरी सखी का उपहास करती हुई कहती है कि हे सखि! तुम धन्य हो, जो प्रिय-समागम के समय सुरत के मध्य में भी पति से मीठी-मीठी बातें कर लेती हो, मैं तो कसम खाती हूँ कि प्रियतम के नीवी की ओर हाथ बढ़ाते ही सुध-बुध खो बैठती हूँ, उस समय मुझे कुछ भी याद नहीं रहता, बात करना तो दूर रहा। यहाँ पर 'तुम धन्य हो' इस वाच्य-वस्तु से यह ध्वनित होता है कि 'तुम अधन्य हो' क्योंकि सुरत में अधिक तल्लीन न होने से तुम इधर-उधर की बातें कर लेती हो, वस्तुतः मैं धन्य हूँ, क्योंकि संभोगकाल के समय मैं इतना आनन्द विभोर हो जाती हूँ कि मुझे कुछ भी नहीं याद रहता। अतः तुम से मैं अधिक सौभाग्यशालिनी हूँ, यह व्यतिरेकालंकाररूप अर्थ वस्तु द्वारा व्यङ्ग्य है।

स्वतः सम्भवी अलंकार व्यञ्जक वस्तु ध्वनि

अनुवाद—युद्ध-भूमि में जिसके हाथ में स्थित मदोन्मत्त गन्धयुक्त हाथियों के कपाट सदृश विशाल गण्डस्थल पर प्रहार करने के कारण लगे हुए गाढ़ रक्त से रञ्जित कान्तियुक्त कृपाण (तलवार) को वीरों ने क्रोध से रक्त वर्ण दुर्गा के कटाक्ष के समान देखा॥६२॥

यहाँ पर उपमा अलङ्कार के द्वारा 'क्षणभर में समस्त शत्रु-सेना का विनाश कर देगा' यह वस्तु रूप अर्थ ध्वनित होता है।

विमर्श—यहाँ पर 'काली के रक्त कटाक्ष के समान रक्त-रञ्जित तलवार को देखा' यह उपमा अलंकार है। यह उपमालंकार स्वतःसम्भवी व्यञ्जक अर्थ है, क्योंकि यह उपमा-साहश्य लोक में भी पाया जाता है। उस उपमा के द्वारा यह व्यङ्ग्यार्थ निकल रहा है कि 'क्षणभर में यह समस्त शत्रु-सेना का विनाश कर देगा'। यहाँ वस्तुरूप अर्थ व्यङ्ग्य है।

गाढ़कान्तदशनक्षतव्यथासंकटादरिवधूजनस्य यः ।
ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन् युधि रुषा निजाधरम् ॥६३॥

अत्र विरोधालङ्कारेणाधरनिर्दशनसमकालमेव शत्रवो व्यापादिता इति तुल्ययोगिता मम क्षत्याऽप्यन्यस्य क्षतिर्निवर्त्ततामिति तद्बुद्धिरुत्प्रेक्ष्यते इत्युत्प्रेक्षा च ॥

एष्दाहरणेषु स्वतः सम्भवी व्यञ्जकः ॥

---

(४) स्वतःसम्भवी अलंकार-व्यञ्जक अलंकारध्वनि

अनुवाद—जिस राजा ने युद्धभूमि में क्रोध से अपने ओठों को चबाते हुए शत्रुओं की स्त्रियों के प्रवाल-सदृश (पल्लव अथवा विद्रुमदल सदृश) ओठों को उनके पतियों के गाढ़ दन्तक्षत (दाँत से काटने) की व्यथा (पीड़ा) के संकट से बचा लिया ॥६३॥

अनुवाद—यहाँ पर विरोधालङ्कार के द्वारा 'ओठ चबाने के साथ ही शत्रु मार दिये गये' यह तुल्ययोगिता अलङ्कार और मेरी क्षति से अर्थात् 'मेरे दाँत चबाने से अन्य वैरि-वनिताओं की दन्त-क्षति रूप कष्ट दूर हो जाय' इस प्रकार राज-बुद्धि की उत्प्रेक्षा होने से उत्प्रेक्षा अलङ्कार भी व्यक्त होता है। इन उदाहरणों में स्वतःसम्भवी व्यञ्जक है।

विमर्श—यहाँ पर 'ओठ के दशन (काटने) और मोचन (रूप क्रिया) में विरोध होने से विरोध या विरोधाभास अलंकार है क्योंकि जो अपने ओठ (ओष्ठ) को काटता है वह दूसरे ओठ (अधर) को कैसे बचा सकता है? इस प्रकार दशन और मोचन में विरोध है। अथवा अधर-दशन के द्वारा अधर-दशन-जन्य व्यथा का निवारण कैसे हो सकता है? यह विरोध प्रतीत होता है, अतः यहाँ विरोधाभास अलंकार व्यञ्जक अर्थ है। इसके द्वारा यह अर्थ ध्वनित होता है कि 'राजा ने ओठ चबाते (काटते) ही समस्त शत्रुओं का नाश कर दिया' इस प्रकार निज अधरदशन और शत्रुव्यापादन इन दोनों के एक समय में होने रूप एक धर्म का सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता अलंकार व्यङ्ग्य है। यहाँ पर विरोधालंकार के द्वारा यह अर्थ भी ध्वनित होता है कि 'मेरी क्षति हो जाने से वैरि-वनिताओं की क्षति (दन्त-क्षति) बच जायगी' मानो राजा के इस विचार की उत्प्रेक्षा होने से उत्प्रेक्षा अलंकार भी व्यङ्ग्य है।

प्रदीपकार का कथन है कि यहाँ पर विरोध अलंकार का तात्पर्य विरोधाभास अलंकार नहीं; अपितु विरोधमूलक अतिशयोक्ति अलंकार है। क्योंकि यहाँ पर स्वाधर-दशन रूप कारण और वैरि-वनिता के अधरदशनव्यथा निवारण रूप कार्य के समकालिक निर्दिष्ट होने से कार्य और कारण में पौर्वापर्य सम्बन्ध नहीं बनता, अतः यहाँ कार्य और कारण के पौर्वापर्य-विपर्यय रूप अतिशयोक्ति अलंकार है। इसी प्रकार यहाँ पर तुल्ययोगिता अलंकार भी नहीं है। तुल्ययोगिता अलंकार का लक्षण निम्न प्रकार है—

कैलासस्य प्रथमशिखरे वेणुसम्मूर्च्छनाभिः
श्रुत्वा कीर्त्ति विबुधरमणीगीयमानां यदीयाम् ।
त्रस्तापाङ्गाः सरसबिसिनीकाण्डसञ्जातशंका—
दिङ्मातङ्गाः श्रवणपुलिने हस्तमावर्त्तयन्ति ॥६४॥

अत्र वस्तुना येषामप्यर्थाधिगमो नास्ति तेषामप्येवमादिबुद्धिजननेन चमत्कारं करोति त्वत्कीर्त्तिरिति वस्तु व्यज्यते ।

नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ।

अर्थात् नियत अर्थात् प्रकृत (प्राकरणिक) और अप्रकृत (अप्राकरणिक) अनेक धर्मों में एक धर्म का सम्बन्ध तुल्ययोगिता अलंकार है । किन्तु यहाँ पर तुल्ययोगिता अलंकार का विषय नहीं है । यहाँ पर तुल्ययोगिता पद का अर्थ 'जैसे ही राजा ने ओठ चबाया वैसे ही शत्रु नष्ट हो गये' इस प्रकार दोनों क्रियाओं का एककालिक सम्बन्ध होना है। अतः यहाँ पर समुच्चयालंकार है। विश्वनाथ के अनुसार यहाँ पर समुच्चयालंकार व्यङ्ग्य है (**अत्र स्वतःसंभविना विरोधालंकारेणाधरो निर्दष्टः शत्रवो व्यापादिताश्चेति समुच्चयालंकारो व्यङ्ग्यः**) ।

किन्तु ग्रन्थकार को यह मत अभीष्ट नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यदि उन्हें कार्य-कारण के पौर्वापर्यविपर्यय रूप अतिशयोक्ति अलंकार के द्वारा समुच्चयालंकार का व्यङ्ग्यत्व अभीष्ट होता तो उसका वे स्पष्ट रूप से उल्लेख करते; किन्तु ऐसा उन्होंने नहीं किया, इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार उक्त मत से सहमत नहीं हैं । इसलिए यहाँ अधर दशन और अधर दशन-मोचन रूप क्रियाओं के विरोध होने से विरोधालंकार व्यञ्जक और स्वाधरदशन और शत्रुव्यापादन रूप वीर रस के दोनों अनुभावों एककालिक रूप एक धर्म का सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता अलंकार व्यङ्ग्य है ।

(५) कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध वस्तु व्यङ्ञ्जक वस्तुध्वनि

अनुवाद- कैलास पर्वत के प्रथम शिखर पर बाँसुरी की मूर्च्छनाओं के साथ देवांगनाओं के द्वारा गायी जाने वाली जिस राजा की कीर्त्ति को सुनकर कोमल (सरस) कमलनाथ की शंका हो जाने से दिग्गज अपनी आँखें तिरछी करके अपने कानों के पास कर (सूंड़) को घुमा रहे हैं ॥६४॥

अनुवाद —यहाँ पर वस्तु से जिनको अर्थ का ज्ञान नहीं है, उनको भी इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न करके तुम्हारी कीर्त्ति चमत्कार उत्पन्न करती है, यह वस्तु ध्वनित होती है ।

केसेसु बलामोडिअ तेण अ समरम्मि जअसिरी गहिआ।
जह कन्दराहि विहुरा तस्स दढं कंठ अम्मि संठविआ ॥६५॥
केशेषु बलात्कारेण तेन च समरे जयश्रीर्गृहीता।
यथा कन्दराभिर्विधुरास्तस्य दृढं कण्ठे संस्थापिताः ॥६५॥
(इति संस्कृतम्)

अत्र केशग्रहणावलोकनोद्दीपितमदना इव कन्दरास्तद्विधुरान् कण्ठे गृह्णन्ति इत्युत्प्रेक्षा। एकत्र संग्रामे विजयदर्शनात्तस्यारयः पलाय्य गुहासु तिष्ठन्तीति काव्यहेतुरलङ्कारः। न पलाय्य गतास्तद्वैरिणोऽपितु ततः पराभवं सम्भाव्य तान् कन्दरा न त्यजन्तीत्यपह्नुतिश्च।

विमर्श—यहाँ पर किसी राजा की कीर्त्ति का वर्णन है। कीर्त्ति का वर्ण श्वेत होता है। देवाङ्गनाओं द्वारा कीर्त्ति-गान किये जाने पर दिग्गजों के कानों में भी गीत-ध्वनि पहुँच रही है, जिसे 'कोई श्वेत वस्तु कान में प्रवेश कर रही है', यह समझकर अथवा (श्वेत कीर्त्ति के रूप में) 'श्वेत कमलनाल तो कानों में कहीं न चिपक गये हों ?' यह समझकर दिग्गज अपने करों (सूड़ों) को श्रवण-प्रदेश में ले जाकर घुमा रहे हैं। यहाँ पर 'देवाङ्गनाओं द्वारा राजा की कीर्त्ति का गाया जाना; दिग्गजों द्वारा उसका सुना जाना तथा दिग्गजों द्वारा उसमें कमलनाल भ्रान्ति-होना' यह कवि कल्पनाप्रसूत व्यञ्जक अर्थ है। इसके द्वारा यह व्यङ्ग्यार्थ निकलता है कि 'राजा की कीर्त्ति ने अर्थज्ञानशून्य प्राणियों में भी संवेदना उत्पन्न कर दी' इस प्रकार यह वस्तु-रूप व्यङ्ग्य अर्थ है।

६—कविप्रौढोक्ति वस्तुव्यञ्जक अलंकारध्वनि

अनुवाद--**उस राजा ने युद्ध में (सुरतभूमि में) विजयलक्ष्मी (जयश्री) के केशों को पकड़कर इस प्रकार खींचा कि जैसे (मानो) पर्वत-कन्दराओं ने (छिपे हुए) शत्रुओं को गले को दृढ़ता से पकड़कर रोक लिया ॥६५॥**

अनुवाद—यहाँ पर (राजा के द्वारा विजयलक्ष्मी के) केश-ग्रहण के अवलोकन से कामोन्मत्त सी कन्दराएँ (मानो) उस राजा के शत्रुओं को गले लगा रही हैं अर्थात् आलिङ्गन कर रही हैं' इस प्रकार उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। अथवा 'एक स्थान पर संग्राम में राजा की विजय देखकर उसके शत्रु भागकर कन्दराओं (गुफाओं) में रहने लगे' इस प्रकार काव्यहेतु (काव्यलिङ्ग) अलंकार

है, अथवा उस राजा के शत्रु भागकर नहीं गये, अपितु उसके हार जाने के भय से (पराजय की आशङ्का से) कन्दराएँ ही उन्हें नहीं छोड़ रही हैं' इस प्रकार अपह्नुति अलङ्कार है।

विमर्श—यहाँ पर कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध 'शत्रुओं को कन्दराओं ने गले लगा लिया' इस प्रकार कवि-कल्पना-प्रसूत वस्तुरूप अर्थ व्यञ्जक है। इससे अलंकाररूप अर्थ ध्वनित हो रहा है। यहाँ पर वस्तु के द्वारा उत्प्रेक्षा, काव्यलिंग और अपह्नुति ये तीन अलंकार व्यङ्ग्य माने जाते हैं।

प्रकृत उपमेय का उपमान के साथ सम्भावना होने पर उत्प्रेक्षा अलंकार होता है (सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्)। यहाँ 'राजा के भय से शत्रु भागकर कन्दराओं में घुसे हुए हैं' इस प्रकृत अर्थ में 'कन्दराओं ने मानो शत्रुओं को गले लगा लिया' इस प्रकार अप्रकृत (उपमान) की सम्भावना होने से उत्प्रेक्षा अलंकार व्यङ्ग्य है।

इसी प्रकार जहाँ पर वाक्यार्थ या पदार्थ को अन्य के हेतु-रूप में वर्णित किया जाय वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है (काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता)। यहाँ पर 'राजा ने विजयलक्ष्मी को पकड़ लिया' इस कारण 'शत्रु भागकर कन्दराओं में रहने लगे' इस प्रकार पूर्व वाक्यार्थ को उत्तर वाक्यार्थ के हेतु के रूप में प्रस्तुत किया गया है, अतः यहाँ केशग्रहणरूप वस्तु से काव्यलिंग अलंकार व्यङ्ग्य है।

इसी प्रकार जहाँ पर उपमेय को असत्य बतलाकर उपमान को सत्य सिद्ध किया जाता है (प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः) वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है। यहाँ पर 'पराजय की आशंका से शत्रु कन्दराओं में छिप गये' इस प्रस्तुत अर्थ को छिपाकर (असत्य बताकर) 'कन्दराएँ छिपे हुए शत्रुओं को बाहर नहीं जाने दिया' इस अप्रस्तुत अर्थ की स्थापना होने से अपह्नुति अलंकार व्यङ्ग्य है।

प्रदीपकार का कथन है कि 'जो विजयलक्ष्मी के केशग्रहण के अवलोकन से कामोद्दीप्त हुई सी कन्दराओं ने मानो राजा के शत्रुओं के गले में लिपट गई' इस प्रकार उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य है। यहाँ पर कन्दरा पर नायिका का आरोप किया गया है, तभी तो राजा के द्वारा विजयलक्ष्मी के आलिगन को देखकर कन्दरा रूपी नायिका भी कामोद्दीप्त हो गई और शत्रुओं के गले से लिपट गई। इस प्रकार कन्दरा पर नायिका का आरोप होने से प्रस्तुत में अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप रूप समासोक्ति अलंकार है। किन्तु मम्मटाचार्य का अभिप्राय यह है कि यहाँ पर समासोक्ति अलंकार का विषय नहीं है; क्योंकि विशेष्य पद श्लिष्ट न होने पर ही समासोक्ति अलंकार होता है **(परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः)**। अर्थात् (श्लिष्ट) श्लेषयुक्त विशेषणों के द्वारा

गाढालिगणरहसुज्जुअम्मि दइए लहुं समोसरइ।
माणंसिणीण माणो पीलणभीअ व्व हिअआहि ॥६६॥

गाढालिङ्गनरभसोद्यतेदयिते लघु समपसरति ।
मनस्विन्या मानः पीड़नभीत इव हृदयात्॥६६॥

(इति संस्कृतम्)

अत्रोत्प्रेक्षया प्रत्यालिङ्गनादि तत्र विजृम्भते इति वस्तु ।

जा ठेरं व हसन्ती कइवअणंबुरुहबद्धविणिवेसा ।
दावेइ भुअणमण्डलमण्णं तिअ जअइ सा वाणी ॥६७॥

या स्थविरमिव हसन्ती कविवदनाम्बुरुहबद्धविनिवेशा ।
दर्शय तिभुवनमण्डलमखिलमन्यदिव जयति सा वाणी ॥६७॥

(इति संस्कृतम्)

अत्रोत्प्रेक्षया चमत्कारैककारणं नवं नवं जगद् अजडासनस्था निर्मिभीते इति व्यतिरेकः।

एषु कविप्रौढ़ोक्तिमात्र निष्पन्नो व्यञ्जकः।

अप्रकृत अर्थ का कथन समासोक्ति है। यहाँ पर 'तेन' और 'कन्दराभिः, दोनों पद विशेष्यवाची और श्लिष्ट हैं, तथा विशेषण श्लिष्ट हो और विशेष्य अश्लिष्ट हो तो समासोक्ति अलंकार होता है। यहाँ पर विशेष्य श्लिष्ट है अतः समासोक्ति अलंकार नहीं होगा। यहाँ पर श्लेष अलंकार भी नहीं है क्योंकि विशेषण तथा विशेष्य दोनों के श्लिष्ट होने पर श्लेष अलंकार होता है, यहाँ पर 'जयश्री' पद अश्लिष्ट है। अतः श्लेष अलंकार भी नहीं है। इस प्रकार यहाँ पर उपर्युक्त उत्प्रेक्षा, काव्यलिंग और अपह्नुति इन अलंकारों में कोई भी अलंकार व्यङ्ग्य हो सकता है, इस प्रकार साधक-बाधक प्रमाण न होने से 'सन्देहसंकर' अलंकार चकार से सूचित होता है। सारबोधिनीकार एवं उद्योतकार के अनुसार यहाँ पर चकार के द्वारा एकव्यञ्जकानुप्रवेश संकर सूचित होता है।

(७) कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार-व्यञ्जक वस्तुध्वनि

अनुवाद—प्रियतम के गाढ़ आलिगन के लिए वेग से उद्यत होते ही दब जाने के भय से मानिनी नायिका का मान हृदय से तुरन्त निकल गया॥६६॥

यहाँ पर उत्प्रेक्षा अलंकार के द्वारा प्रत्यालिगन आदि वस्तु ध्वनित हो रही है।

विमर्श—मानिनी नायिका के प्रति कोई सखी कह रही है कि हे सखि ! गाढ़ आलिगन के लिए वेग से प्रियतम के उद्यत होते ही 'कहीं इन दोनों के दृढ़ आलिगन के समय मैं बीच में ही पिस जाऊँ' इस डर के कारण मानिनी नायिका का मान पहिले ही हृदय से निकल गया। इस प्रकार यहाँ पर कविप्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध उत्प्रेक्षा अलंकार व्यञ्जक अर्थ है। इसके द्वारा यह व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त होता है कि 'मानिनी नायिका स्वयं गाढ़ालिगन आदि रतिक्रीड़ाओं में लग गई' इस प्रकार यहाँ पर कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध व्यञ्जक अर्थ के द्वारा वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित होता है।

जे लंकागिरिमेहलासु खलिआ सम्भोगखिण्णोरई
फारुप्फुल्लफणावलीकवलणे पत्ता दरिद्दत्तणम् ।
ते इण्हि मलअनिला विरहणीणीसाससंपक्किणो
जादा झत्ति सिसुत्तणे वि वहला तारुण्णपुण्णा विअ ॥६८॥
ये लङ्कागिरिमेखलासु स्खलिताः संभोगखिन्नोरगी -
स्फारोत्फुल्लफणावलीकवलने प्राप्ता दरिद्रत्वम् ।
त इदानीं मलयानिला विरहिणीनिःश्वाससम्पर्किणोः
जाता झटिति शिशुत्वेऽपि बहलास्तारुण्य पूर्णा इव ॥६८॥
(इति संस्कृतम्)

अत्र निःश्वासैः प्राप्तैश्वर्या वायवः किं किन्न कुर्वन्ति इति वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

---

(८) कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार-व्यञ्जक अलंकार-ध्वनि

अनुवाद—कवि के मुख कमल में बैठी हुई जो वाणी (सरस्वती) वृद्ध ब्रह्मा का उपहास करती हुई सी समस्त भुवनमण्डल को अन्य प्रकार अर्थात् विलक्षण सी दिखलाती है, वह वाणी सर्वोत्कृष्टा है अथवा उसकी जय हो ॥६७॥

यहाँ पर उत्प्रेक्षा के द्वारा 'जड़ आसन (कमल पर) पर न बैठा हुइ सरस्वती चमत्कारजनक नये-नये जगत् का निर्माण करती है, यह व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

इन चारों उदाहरणों में व्यञ्जक अर्थ कविप्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध है।

विमर्श—यहाँ पर पूर्वार्द्ध में 'हसन्ती इव' और उत्तरार्द्ध में 'अन्यदिव' में उत्प्रेक्षा अलंकार है। यहाँ पर 'हसन्ती इव' इस उत्प्रेक्षा से 'चमत्कारैककारणत्व' और 'अन्यदिव' इस उत्प्रेक्षा से 'जगत् की क्षण-क्षण नवीनता' रूप अर्थ का बोध होता है और 'कविवदनाम्बुरुहेत्यादि' के द्वारा 'अजड़ासनस्था' यह अर्थ प्राप्त होता है। इस प्रकार यहाँ उत्प्रेक्षा रूप अर्थ व्यंजक है और वह कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध है, उस उत्प्रेक्षा रूप व्यंजक अर्थ के द्वारा व्यतिरेक अलंकार रूप व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त होता है। जहाँ पर उपमान की अपेक्षा उपमेय में अधिक चमत्कार (उत्कर्ष) पाया जाता है वहाँ 'व्यतिरेक' अलंकार होता है। यहाँ पर 'हसन्तीव' और 'अन्यदिव' इन दोनों उत्प्रेक्षाओं के द्वारा ब्रह्मा और ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि भारती तथा सरस्वती की सृष्टि (काव्यजगत् की सृष्टि) का आधिक्य (उत्कर्ष) बताया गया है यह व्यङ्ग्यार्थ है। यहाँ दोनों उत्प्रेक्षाएँ कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध हैं। अतः यहाँ कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकार द्वारा अलंकारध्वनि व्यक्त होता है।

(९) कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु-व्यंजक वस्तुध्वनि

अनुवाद—जो वायु लङ्कागिरि (हेमकूट) की मेखलाओं पर गिरकर,

सहि विरइऊण माणस्य मज्झ धीरत्तणेण आसासम् ।
पियदंसणाविहलंखलखणम्मि सहसत्ति तेण ओसरिअम् ॥६८॥

सखि ! विरचय्य मानस्य मम धीरत्वेमाश्वासम् ।
प्रियदर्शनविशृङ्खलक्षणे सहसेति तेनापसृतम् ॥६९॥

(इति संस्कृतम्)

अत्र वस्तुनाऽकृतेऽपि प्रार्थने प्रसन्नेति विभावना, प्रियदर्शनस्य सौभाग्यबलं धैर्येण सोढुं न शक्यते इत्युत्प्रेक्षा वा ।

सम्भोग से थकी हुई नागिनों के फैली हुई (स्फारा) और ऊपर उठी हुई (उत्फुल्ल) फणावली के द्वारा भक्षण किये जाने के कारण क्षीणता को प्राप्त हो गये थे, इस समय वे मलयानिल विरहिणी नारियों के निःश्वासों का सम्पर्क पाकर शैशवकाल में ही शीघ्र ही तारुण्यपूर्ण हुए के समान पुष्ट हो गये हैं ॥६८॥

यहाँ पर 'निःश्वासों के द्वारा ऐश्वर्य से प्राप्त कर मलयवायु क्या-क्या नहीं करते' इस प्रकार वस्तु से वस्तु व्यक्त (ध्वनित) होती है ।

विमर्श—यह श्लोक कर्पूरमञ्जरी से उद्धृत है । यहाँ पर व्यंजक अर्थ कवि निबद्ध कर्पूरमञ्जरी की सखी विचक्षणा की कल्पना से प्रसूत है और 'निःश्वासों से ऐश्वर्य को प्राप्त होकर ये मलयानिल के झोंके क्या-क्या नहीं करते हैं'। यह वस्तुरूप व्यङ्ग्य अर्थ है । इस प्रकार यह कविनिबद्धवक्तृ प्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तुव्यंजक वस्तुध्वनि का उदाहरण है । यहाँ 'उरगी' स्त्रीलिंग का निर्देश होने से नारी का दुगुना आहार, संभोगखिन्ना होने से अधिक भूख, स्फारोत्फुल्ल विशेषणों से भक्षण में स्थूलता ध्वनित होती है । इसी प्रकार वायु से लङ्कागिरि से मलय पर आने में समुद्र पार करने के कारण शीतलता, मलय के संसर्ग से गन्धता और स्खलनादि के द्वारा मन्दता आदि अर्थ ध्वनित होता है । इस प्रकार कविनिबद्ध महारानी कर्पूरमञ्जरी की सखी दक्षिणा की प्रौढ़ोक्ति से सिद्ध वाच्यार्थ रूप वस्तु के द्वारा विरहणियों के निःश्वासों से परिपुष्ट मलयवायु क्या-क्या नहीं करते अर्थात् सब कुछ कर सकते हैं, यह व्यङ्ग्यार्थ रूप वस्तु ध्वनित होती है ।

(१०) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुव्यंजक अलंकार-ध्वनि

अनुवाद—**हे सखि ! (तुम्हारे द्वारा दिलाया गया) धैर्य मेरे मान को आश्वासन देकर भी प्रिय के दर्शन से उत्सुकता से तरल (चञ्चल) हो जाने के समय वह (धैर्य) सहसा भाग गया ।।६९।।**

ओल्लोल्लकरअरअणक्खएहिं तुह लोअणेसु मह दिण्णम् ।
रत्तंसुअं पआओ कोवेण पुणो इमे ण अक्कमिआ ।।७०।।

आर्द्रार्द्रं करजरदनखक्षतैस्तव लोचनयोर्मम दत्तम् ।
रक्तांशुकं प्रसादः कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते ।।७०।।
(इति संस्कृतम्)

अत्र किमिति लोचने कुपिते वहसि इत्युत्तरालङ्कारेण न केवलमार्द्रनखक्षतानि गोपायसि यावत्तेषामहं प्रसादपात्रं जातेति वस्तु ।

यहाँ पर वस्तु से 'प्रार्थना न करने पर भी वह प्रसन्न हो गई' इस प्रकार विभावना अलङ्कार रूप अर्थ और 'प्रियदर्शन के सौभाग्य-बल (शक्ति) को धैर्य सहन नहीं कर सकता' इस प्रकार उत्प्रेक्षा अलङ्कार रूप अर्थ व्यङ्ग्य है ।

विमर्श—यह गाथासप्तशती से उद्धृत है । यहाँ पर किसी सखी ने मानिनी नायिका को मान धारण किये रहने के लिए उसे धैर्य का सहारा दिया था; किन्तु प्रियतम के दर्शन होने से उसका धैर्य खो गया, तब सखी के 'क्या तुमने मान छोड़ दिया ?' यह पूछे जाने पर नायिका कहती है कि हे सखि ! तुम्हारे द्वारा प्राप्त धैर्य ने मेरे मान को 'मैं तुम्हारी सहायता करूँगा, तुम डटे रहना' इस प्रकार आश्वासन देकर ही प्रियतम के दर्शन होने पर कौतुक से तरलित काल में धैर्य ने 'मैंने पहिले जो तुम्हारी सहायता के लिए प्रतिज्ञा की थी, उसका इस समय निर्वाह नहीं कर सकूँगा' यह कहकर सहसा कहीं भाग गया । यहाँ पर कविनिबद्ध वक्त्री के प्रौढ़ उक्ति से सिद्ध वाच्यार्थ रूप वस्तु के द्वारा विभावना और उत्प्रेक्षा अलंकार ध्वनित होते हैं ।

कारण के न होने पर कार्य का होना विभावना अलंकार है (कारणाभावे कार्योत्पत्तिर्विभावना) । यहाँ पर 'प्रियतम के बिना मनाये ही नायिका प्रसन्न हो गई' इस प्रकार विभावना अलंकार गम्य (व्यङ्ग्य) है और जहाँ पर उपमेय के साथ उपमान की सम्भावना हो, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है (सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्) । यहाँ पर 'मानो प्रियदर्शन की सौभाग्य-शक्ति को सहन करने में असमर्थ धैर्य भाग गया' अर्थात् प्रिय दर्शन के सौभाग्य-बल को धैर्य सहन नहीं कर सका, इसलिए वह भाग गया, इस प्रकार यहाँ पर उत्प्रेक्षा अलंकार व्यङ्ग्य है ।

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती।
अणुदिणमणण्णकम्मा अंगं तणुअं वि तणुइए ॥७१॥
महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग सा अमान्ती।
अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तन्वपि तन्वति ॥७१॥
(इति संस्कृतम्)

अत्र हेत्वलङ्कारेण तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तते इति विशेषोक्तिः।
एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो व्यञ्जकः।
एवं द्वादशभेदाः ॥

---

(११) कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकारव्यंजक वस्तुध्वनि

अनुवाद—हे प्रिय ! तुम्हारे (शरीर में) अत्यन्त आर्द्र (बिल्कुल ताजे) नखक्षत और दन्तक्षत ने मेरे नेत्रों को लाल रंग का अंशुक (आवरण-पट) प्रसाद रूप में प्रदान किया है, किन्तु ये क्रोध से आक्रान्त नहीं हैं ॥७०॥

यहाँ पर 'तुम्हारे नेत्र क्रुद्ध क्यों हैं ?' इस प्रकार उत्तरालङ्कार के द्वारा 'तुम केवल नवीन (ताजे) नखक्षतों को ही नहीं छिपा रहे हो, अपितु मैं भी उनकी कृपा का पात्र बन गई' ? यह वस्तुरूप अर्थ ध्वनित होता है।

विमर्श—यह श्लोक गाथासप्तशती से उद्धृत है। यहाँ पर 'पति के शरीर पर सौत के द्वारा किये गये ताजे नखक्षतादि को देखकर क्रोध से लाल नेत्रों वाली कोई विदग्धा नारी पति के द्वारा 'तुम्हारे नेत्र क्यों क्रुद्ध हो रहे हैं' इस प्रकार पूछे जाने पर, उसके प्रश्नों का उत्तर देती है। 'तुम्हारे नेत्र क्यों क्रुद्ध हो रहे हैं ?' इस प्रश्न के उठने से यहाँ उत्तरालंकार रूप अर्थ व्यंजक है। इसके द्वारा 'तुम केवल ताजे नखक्षत और दन्तक्षत को ही नहीं छिपा रहे हो, बल्कि मैं भी उनके प्रसाद का भाजन हो गई'। यह वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित होता है। इस प्रकार कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति-सिद्ध उत्तरालंकार रूप व्यंजक अर्थ के द्वारा वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित होता है।

(१२) कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलंकारव्यंजक अलंकार-ध्वनि

अनुवाद—हे सुभग ! वह नायिका हजारों महिलाओं से भरे हुए तुम्हारे हृदय में न समाती हुई (प्रवेश न पाती हुई) प्रतिदिन सब कामों को छोड़कर केवल अपने क्षीण शरीर को और क्षीण कर रही है ॥७१॥

यहाँ पर हेतु अलङ्कार के द्वारा 'शरीर को क्षीण' (दुबला-पतला) करने पर भी वह तुम्हारे हृदय में स्थान नहीं पाती' यह विशेषोक्ति अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

विमर्श—यह श्लोक गाथासप्तशती से उद्धृत है। यहाँ पर 'नायक के हृदय में न समाने (प्रवेश न पाने) का हेतु है 'हजारों स्त्रियों का उसके हृदय में भरा

(सू० ५५) शब्दार्थोभयभूरेका—

यथा—

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा ।
तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥७२॥

अत्रोपमा व्यङ्ग्या ।

होना' और 'दुर्बल शरीर को और दुर्बल करने का हेतु 'प्रिय के हृदय में न समा सकना' है। ये दोनों हेत्वलंकार कविनिबद्ध वक्ता के कल्पना-प्रसूत है। इन दोनों हेत्वलंकारों के द्वारा 'नायिका दुर्बल शरीर के और दुर्बल करने पर भी नायक के हृदय में स्थान नहीं पा सकी' इस प्रकार 'कारण के होने पर भी कार्य का अभाव रूप' विशेषोक्ति अलङ्कार रूप व्यङ्ग्यार्थ यहाँ ध्वनित हो रहा है। इस प्रकार कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध हेत्वलंकार (काव्यलिङ्ग अलंकार) रूप व्यंजक अर्थ के द्वारा विशेषोक्ति अलंकार रूप व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनित होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त चारों उदाहरणों में कविनिबद्धप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अर्थ व्यंजक होता है। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के बारह भेद होते हैं जिनका सोदाहरण निरूपण किया जा चुका है। अब शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि (शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का निरूपण करते हैं—

अनुवाद—(सू० ५५) शब्द और अर्थ उभय शक्ति से उद्भव (शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव) ध्वनि एक प्रकार का होता है।

जैसे—

अनुवाद—(रात्रि-पक्ष में) चमकते हुए चन्द्रमा से अलंकृत, कामदेव को उद्दीप्त करने वाली और चंचल या स्वल्प ताराओं से युक्त श्यामा रात्रि किसे आनन्दित नहीं करती ॥७२॥

(नायिका-पक्ष में) आलस्य-रहित और चन्द्रक नामक आभूषण को धारण करने वाली, काम-वासना को बढ़ाने वाली, चंचल नेत्रों वाली श्यामा नायिका किसे आनन्दित नहीं करती ॥७२॥

यहाँ पर उपमा अलंकार व्यङ्ग्य है।

विमर्श—यहाँ पर 'श्यामा नायिका के समान रात्रि है' अथवा 'चाँदनी रात के समान नायिका है' इस प्रकार उपमा अलंकार ध्वनित होता है; इस प्रकार श्यामा नायिका और रजनी (रात्रि) दोनों में उपमा अलंकार व्यङ्ग्य है। यहाँ पर चन्द्र, तारका, तरल और श्यामा शब्द 'शब्दपरिवृत्यसह' है जिनके स्थान पर उनके

(सू० ५६) भेदा अष्टादशास्य तत् ॥४१॥

अस्येति ध्वनेः ।

पर्यायवाची शब्दों के रख देने पर ध्वनि ही नहीं रहती, किन्तु अतन्द्र, आभरण, समुद्दीपित और मन्मथ शब्द शब्दपरिवृत्तिसह होने से अर्थात् इन्हें बदलकर इनके स्थान पर उनके पर्यायवाची अनिद्र, आभूषण, समुत्तेजित और काम शब्दों का प्रयोग किये जाने पर भी ध्वनि बनी रहती है । इस प्रकार यहाँ पर शब्द और अर्थ उभय-शक्तिसमुद्भव संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य है ।

यहाँ 'श्यामा' शब्द श्लिष्ट है । इसके दो अर्थ होते हैं—प्रथम अर्थ है श्यामा रात्रि (**श्यामा रात्रिर्निशीथिनी**) और श्यामा शब्द का द्वितीय अर्थ है षोडशवर्षीया नायिका । श्यामा नारी का लक्षण निम्न प्रकार प्रतिपादित है—

''शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला ।
सर्वावयवशोभाढ्या सा श्यामा परिकीर्त्तिता ॥

अनुवाद (सूत्र ५६)— इस ध्वनि के अठारह भेद होते हैं ॥४१॥

इसके अर्थात् ध्वनि के ।

विमर्श—इस प्रकार यहाँ तक मम्मट ने ध्वनि के अठारह भेद बताये हैं । इनमें अविवक्षितवाच्यध्वनि के दो भेद—(१) अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य । विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के प्रथम भेद—असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य का रसादिध्वनि रूप एक भेद तथा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि के दो भेद, अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के बारह भेद और शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव ध्वनि के एक भेद इन सब को मिलाकर अठारह (२+१+२+१२+१=१८) भेद होते हैं ।

अभिनवगुप्त ध्वनि के सोलह भेद मानते हैं । इनके अनुसार ध्वनि के मूलतः दो भेद हैं—(१) अविवक्षितवाच्य और (२) विवक्षितान्यपरवाच्य । इनमें अविवक्षित-वाच्यध्वनि के दो भेद हैं–(१) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और (२) अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य। द्वितीय विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भी दो भेद होते हैं—(१) अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और (२) लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य । इनमें प्रथम अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के अनन्त भेद होते हैं। और लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के दो भेद होते हैं—(१) शब्दशक्तिमूलक और (२) अर्थशक्ति-मूलक इनमें शब्दशक्तिमूलक ध्वनि एक प्रकार का होता है और अर्थशक्तिमूलक ध्वनि बारह प्रकार के होते हैं । इनके मत में शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि भेद नहीं होता । इस प्रकार अभिनवगुप्त के मतानुसार ध्वनि के सोलह भेद होते हैं—

ननु रसादीनां बहुभेदत्वेन कथमष्टादशेत्यत आह–

(सू० ५७) रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते ।

अनन्तत्वादिति । तथा हि नव रसाः, तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ संभोगो विप्रलम्भश्च । सम्भोगस्यापि परस्परावलोकनालिङ्गनपरिचुम्बनादिकुसुमोच्चयजलकेलिसूर्यास्तमयचन्द्रोदयषड्ऋतुवर्णनादयो बहवो भेदाः । विप्रलम्भस्य अभिलाषादय उक्ताः । तयोरपि विभावानुभावव्यभिचारिवैचित्र्यम् । तत्रापि नायकयोरुत्तममध्यमाधमप्रकृतित्वम् । तत्रापि देशकालावस्थादिभेदाः । इत्येकस्यैव रसस्यानन्त्यम्, का गणना त्वन्येषाम् । अलक्ष्यक्रमत्वन्तु सामान्यमाश्रित्य रसादिध्वनिभेद एक एव गण्यते ।

'अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च' इति द्वौ मूलभेदौ । आद्यस्य द्वौ भेदौ—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यश्च–'द्वितीयस्य द्वौ भेदौ—अलक्ष्यक्रमोऽनुरणनरूपश्च' । प्रथमोऽनन्तभेदः । द्वितीयो द्विविधः – शब्दशक्तिमूलोऽर्थ शक्तिमूलश्च । ...... द्वादशविधोऽर्थशक्तिमूलः, आद्याश्चत्वारो भेदा इति षोडशमुख्यभेदाः । (ध्वन्यालोकलोचन २-३१) ।

अब प्रश्न यह है कि जब रसादि के बहुत से भेद हैं तो ध्वनि के अठारह ही भेद क्यों माने जाते है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—

अनुवाद (सू० ५७)—रसादि (ध्वनि) के अनन्त भेद होने से वह एक प्रकार का ही गिना जाता है ।

अनुवाद – अनत्वादिति– 'अनन्त होने के कारण' इसका अभिप्राय यह है कि जैसा कि रस नव प्रकार का होता है । उनमें शृङ्गार के दो भेद होते हैं—सम्भोगशृङ्गार और विप्रलम्भशृङ्गार। सम्भोग के भी परस्पर अवलोकन, आलिङ्गन, चुम्बन आदि, पुष्पचयन, जलक्रीड़ा, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, षट् ऋतु वर्णन आदि अनेक भेद होते हैं। विप्रलम्भ के अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास, शाप आदि पाँच भेद बताये गये हैं । इन दोनों के भी विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के वैचित्र्य (अनेक भेद) हैं । उनमें भी नायक-नायिका के उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृतियों के भेद होते हैं; उनमें भी देश, काल, अवस्था आदि से अनेक भेद होते हैं । इस प्रकार एक ही रस के अनन्त भेद होते हैं तो अन्य रसों की क्या-क्या गणना है ? इसलिए असंलक्ष्यक्रमत्व रूप सामान्य धर्म को लेकर रसादिध्वनि को एक ही प्रकार का गिना जाता है ।

(सू० ५८) वाक्ये द्व्युत्थः

द्व्युत्थ इति शब्दार्थोभयशक्तिमूलः ।

(सू० ५९) पदेऽप्यन्ये

अपिशब्दाद्वाक्येऽपि ।

एकावयवस्थितेन भूषणेन कामिनीव पदद्योत्येन व्यङ्ग्येन वाक्यव्यङ्ग्यापि भारती भासते ।

तत्र पदप्रकाश्यत्वे क्रमेणोदाहरणनि—

१—यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा ।
अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति ॥७३॥[१]

अत्र द्वितीयमित्रादिशब्दा आश्वस्तत्वनियन्त्रणीयत्वस्नेहपात्रत्वादिसंक्रमितवाच्याः ।

विमर्श—यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि जब रस, भाव आदि अनेक प्रकार के होते हैं तो उन्हे एक ही क्यों गिना जाता है ? इस शंका का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि रस, भाव आदि के अनन्त होने से रस, भावादि ध्वनियों के समस्त भेदों की गणना नहीं की जा सकती, इस प्रकार रसादिध्वनि के अनन्तभेद होने पर भी असंलक्ष्यक्रमस्वरूप साधारण धर्म के आधार पर 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' को एक प्रकार की ही माना गया है । विश्वनाथ का भी यही अभिप्राय है—

> तत्राद्यो रसभावादिरेक एवात्र गण्यते ।
> एकोऽपि भेदोऽनन्तत्वात् संख्येयस्तस्य नैव यत् ॥ (साहित्यदर्पण ४।५)

अनुवाद—(सू० ५८) द्वयुत्थ अर्थात् शब्दार्थोभयशक्तिमूलध्वनि वाक्य में होती है ।

द्वयुत्थ अर्थात् शब्दार्थोभयमूलक ध्वनि केवल वाक्य में ही होती है ।

अनुवाद— (सू० ५९) अन्य ध्वनि भेद पद में भी होते हैं ।

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ पर अपि' शब्द से (अन्य १७ भेद) वाक्य में भी होते हैं, (यह अभिप्राय है) ।

जैसे एक अवयव में स्थित (धारण किये हुए) आभूषण से कामिनी शोभित होती है, उसी प्रकार पद से द्योत्य (प्रकाश्य) व्यङ्ग्य से वाक्यव्यङ्ग्य कवि-भारती भी शोभित होती है ।

विमर्श—यहाँ पर 'अन्य' पद से तात्पर्य है अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि के १७ भेद । इस प्रकार अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि के सत्तरह भेद वाक्य में और

२--खलववहारा दीसन्ति दारुणा जहवि तहवि धीराणम् ।
हिअअवअस्सबहुमआ ण हु ववसाआ विमुज्झन्ति ॥७४॥
खलव्यवहारा दृश्यन्ते दारुणा यद्यपि तथापि धीराणाम् ।
हृदयवयस्यबहुमता न खलु व्यवसाया विमुह्यन्ति ॥७४॥

(इति संस्कृतम्)

अत्र विमुह्यन्तीति ।

पद में भी होते हैं। इस प्रकार ये सत्तरह भेद पदगत और वाक्यगत भेद से ३४ प्रकार के हो जाते हैं।

इसी को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार नायिका के एक अवयव नासिका आदि में स्थित (मौक्तिकादि) आभूषण से कामिनी शोभित होती है उसी प्रकार पद से प्रकाश्य (द्योत्य) व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा वाक्य-व्यङ्ग्य कवि-भारती अर्थात् काव्यरूपा वाणी भी शोभित होती है। जैसाकि ध्वनिकार ने कहा है कि—

एकावयवसंस्थेन भूषणेनेव कामिनी ।
पदव्यङ्ग्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती ॥

पदध्वनि के उदाहरण

उनमें से पद-प्रकाश्य ध्वनि के सत्तरह भेदों के क्रमशः उदाहरण देते हैं—

(१) अनुवाद—जिसके मित्र, मित्र अर्थात् विश्वासपात्र हैं, जिसके शत्रु वस्तुतः शत्रु (दमन के योग्य) हैं और जिसके कृपापात्र वस्तुतः स्नेह के पात्र हैं, वही मनुष्य (वास्तव में) जन्म लिया है और जीता है। अर्थात् उसी का जीवन श्लाघ्य (प्रशंसनीय) है ॥७३॥

यहाँ पर पुनः प्रयुक्त द्वितीय मित्र, शत्रु और अनुकम्प्य शब्द क्रमशः आश्वस्त (विश्वासपात्र) नियन्त्रण (दमन योग्य) और स्नेहपात्र रूप अर्थ में सङ्क्रान्त हो जाते हैं, इसलिए यह पद-प्रकाश्य अर्थान्तरसङ्क्रमित-वाच्य ध्वनि का उदाहरण है।

२–अनुवाद यद्यपि धूर्तों के व्यवहार अत्यन्त दुःखदायी (दारुण) दिखाई देते हैं तथापि हृदयरूप मित्र के द्वारा अनुमोदित धीर पुरुषों के व्यवसाय (उद्योग) रुकते नहीं हैं ॥७४॥

यहाँ पर 'विमुह्यति' पद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य है।

विमर्श—यह अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूला) ध्वनि के अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य-ध्वनि का उदाहरण है। यहाँ पर अचेतन व्यवसाय में 'विमोह' का मुख्यार्थ 'किंकर्त्तव्य

३— लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं च वचःक्रमः।
तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान् ॥७५॥ (३ क)

अत्र तदादिपदैरनुभवैकगोचरा अर्थाः प्रकाश्यन्ते।

यथा वा—

मुग्धे ! मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते,
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना,
नीचैः शंस हृदिस्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥७६॥

अत्र भीताननेति। एतेन हि नीचैःशंसनविधानस्य युक्तता गम्यते।

विमूढ़ होना' बाधित है, अनुपपन्न है; क्योंकि विमोहित होना चेतन का धर्म है, इसलिए कार्य (व्यवसाय) के साथ विमोह का सम्बन्ध बाधित (अनुपपन्न) होने से यहाँ पर विमोह (विमुह्यन्ति) शब्द विराम (रुक जाना) रूप अर्थ को लक्षित करता है कि धीर पुरुष अपने व्यवसाय (उद्योग, कार्य) से नहीं रुकते।

यहाँ पर 'विमुह्यन्ति' पद व्यंजक है 'पद-प्रकाश्य' यह व्यंग्यार्थ है और 'उपकृतं बहु तत्र विमुच्यते' यहाँ पर सभी पद अर्थात् वाक्य व्यङ्ग्यार्थ को द्योतित करते हैं, यही दोनों में अन्तर है।

अनुवाद—(३७ क)— वह लावण्य (सौन्दर्य), वह कान्ति, वह रूप और वह बोलने का ढंग ये सब उस समय (संयोग के समय) अमृत के समान थे, किन्तु इस समय (वियोग में) वे अत्यन्त संतापदायक ज्वर से प्रतीत हो रहे हैं ॥७५॥

यहाँ पर 'तत्' आदि पदों से अनुभवैकगोचर (एकमात्र अनुभव के विषय वाणी के अगोचर) अर्थ (लावण्यातिशय रूप अर्थ) अभिव्यक्त हो रहे हैं।

विमर्श—यह पद-प्रकाश्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का उदाहरण है। यहाँ पर वाक्य के द्वारा विप्रलम्भ शृङ्गार की अभिव्यक्ति हो रही है। किन्तु यहाँ 'तत्', 'असौ', 'तत्' आदि पद अनुभवगम्य लावण्यातिशय आदि को द्योतित करते हैं, अतः यहाँ 'तत्' आदि पदों की प्रधानता है; क्योंकि अनुभवैकगोचर लावण्यादि का स्मरण विप्रलम्भशृङ्गार का पोषक है; अतः यह पद-प्रकाश्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का उदाहरण है।

अथवा जैसे—

अनुवाद—(३ ख)—हे मुग्धे ! तुम इस मुग्धावस्था (भोलेपन) में ही सारा समय (यौवन) क्यों बिताने जा रही हो ? तुम मान करो, धीरज धारण

भावादीनां पद प्रकाश्यत्वेऽधिकं न वैचित्र्यमिति न तदुदाह्रियते ।

४—रुधिरविसरप्रसाधितकरवालकरालरुचिरभुजपरिघः ।
झटितिभृकुटिविटङ्कितललाटपट्टो विभासि नृप ! भीम ।।७७।।

अत्र भीषणीयस्य भीमसेन उपमानम् ।

करो और प्रियतम के प्रति सरलता दूर कर दो । सखी के द्वारा इस प्रकार समझाये जाने पर भयभीत मुख वाली नायिका ने उससे (सखी) को इस प्रकार उत्तर दिया—हे सखि ! धीरे से बोलो, नहीं तो मेरे हृदय में बैठा हुआ मेरा प्राणप्रिय (प्राणेश्वर) सुन लेगा ।।७६।।

यहाँ पर 'भीतानना' यह पद व्यंजक है। इससे 'धीरे-धीरे बोलने के विधान' की युक्तता (औचित्य) प्रतीत होती है।

विमर्श—यह पद-प्रकाश्य असंलक्ष्यक्रमध्वनि का उदाहरण है। यह श्लोक 'अमरुशतक' से लिया गया है। इसमें सम्भोगशृङ्गारव्यङ्ग्य है। यहाँ पर 'भीता-नना' पद प्रधान रूप से व्यंजक है, अतः यह पद-प्रकाश्य ध्वनि का उदाहरण है। 'शून्यं वासगृहम्' इस श्लोक में कोई एक प्रधान रूप से व्यंजक नहीं है, बल्कि सभी पद व्यंजक हैं, अतः वाक्य-व्यङ्ग्य ध्वनि का उदाहरण है।

अनुवाद—भावादीनामिति—भाव, भावाभास आदि के पद-प्रकाश्यत्व होने में अधिक चमत्कार (वैचित्र्य) नहीं होता, इसलिए उसके उदाहरण नहीं दिये गये हैं।

अनुवाद—(४) हे भीम (भयङ्कर) नृप ! रक्त-प्रवाह (खून की धारा) से रञ्जित तलवार (खड्ग) से भयङ्कर और सुन्दर भुजा रूपी परिघ (अर्गला) वाले और तुरन्त ही भृकुटि (भ्रूलता, भौंहें) से तरङ्गित ललाट-पट वाले आप (भीम के समान) शोभित हो रहे हैं ।।७७।।

यहाँ पर भीषण (राजा) भीमसेन उपमान है।

विमर्श—यह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में पद-प्रकाश्य वस्तु से अलङ्कारध्वनि का उदाहरण है। यहाँ पर 'भीम' शब्द राजा का विशेषण है, है, जिसका वाच्यार्थ है—भीषण या भयङ्कर। उसके द्वारा पाण्डव भीमसेन उपमान-रूप में व्यङ्ग्य है और राजा तथा भीम की उपमा भी व्यङ्ग्य है। इस प्रकार यहाँ पर 'भीम' पद की शक्ति महिमा से 'भीमसेन' यह उपमा ध्वनित होती है (व्यङ्ग्य है)। अतः यह पद-प्रकाश्य ध्वनि का उदाहरण है। 'उल्लास्य कालकरवाल' इस उदाहरण में तो उपमा वाक्य-व्यङ्ग्य है, अतः यहाँ वाक्य-प्रकाश्य ध्वनि है।

५—भुक्तिमुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्पर ।
कस्य नानन्दनिष्यन्दं विदधाति सदागमः ॥७८॥

काचित् संकेतदायिनमेवं मुख्यया वृत्या शंसति ।

अनुवाद (५) (वाच्यार्थ) भुक्ति (स्वर्गादि भोग) तथा मुक्ति प्रदान करने वाला नियम (एकान्त) से सम्यक् हितोपदेश देने में तत्पर सदागम (श्रेष्ठ वेदशास्त्र) किसके हृदय में आनन्द का प्रवाह नहीं करता ? (व्यङ्ग्यार्थ)—भुक्ति (सुरतभोग) मुक्ति (विरहदुःख का त्याग) दिलाने वाला तथा एकान्त संकेतस्थान के बतलाने में तत्पर (सदागम) सुन्दर प्रिय का आगमन (सदागम) किसके हृदय में आनन्द का स्रोत नहीं बहाता ? ॥७८॥

कोई नायिका संकेत देने वाले उपनायक की इस प्रकार मुख्यवृत्ति से प्रशंसा कर रही है ।

विमर्श · यह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के पद-प्रकाश्य शब्दशक्तिमूलक वस्तु के द्वारा वस्तुध्वनि का उदाहरण है। यहाँ पर कोई नायिका अन्य जनों की सन्निधि में उपनायक के आ जाने पर अप्रस्तुतप्रशंसा के व्याज से उसके आगमनजन्य हर्ष को प्रकट (व्यक्त) करती हुई कहती है कि सदागम (वेदशास्त्र अथवा सुन्दर प्रियतम का आगमन) किसे आनन्द प्रदान नहीं करता ? अर्थात् सभी के हृदय में आनन्द का स्रोत बहा देता है । अतः यहाँ पद-प्रकाश्य वस्तुध्वनि है ।

सुधासागरकार का कथन है कि कोई कुलटा नायिका शिष्ट वेष धारण करने वाले धूर्त नायक के प्रति और श्रोताओं के प्रति अपनी साधुता (स्वच्छता) प्रकट करने के लिए वेदशास्त्र की स्तुति के व्याज से कहती है कि स्वर्गादि भोग और संभोग तथा मुक्ति (मोक्ष एवं कामसंताप का त्याग), परमात्मरूप एवं एकान्तस्थान नियोग और आह्वान सदागम (सन्मन्त्रशास्त्र) और सुन्दर युवक का आगमन किसे आनन्द नहीं देता ? अर्थात् सकाम-निष्काम सभी को आनन्दमग्न कर देता है ।

यहाँ पर वक्ता और बोद्धव्य के वैशिष्ट्य के बल से 'सदागम' पद के द्वारा प्रधानतः उपनायक की स्तुति रूप वस्तु की व्यंजना होती है । इसलिए यहाँ पर वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य होने से इसे पद-प्रकाश्य ध्वनि का उदाहरण माना गया है । 'पथिक नात्र' इस उदाहरण में अनेक पदों से वस्तु-व्यङ्ग्य होने से वाक्य-व्यङ्ग्य ध्वनि माना गया है ।

६ सायं स्नानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपितं
यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विस्रब्धमत्रागतिः ।
आश्चर्यं तव सौकुमार्यमभितः क्लान्ताऽसि येनाधुना,
नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ।।७९।।

अत्र वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया क्लान्ताऽसीति वस्तु अधुनापद-द्योत्यं व्यज्यते ।

७ – तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ।।८०।।
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका ।।८१।।

अत्र जन्मसहस्रैरुपभोक्तव्यानि दुष्कृतसुकृतफलानि वियोगदुःखचिन्त-नाह्लादाभ्यामनुभूतानीत्युक्तम् । एवं चाशेष-चयपद द्योत्ये अतिशयोक्ती ।

अनुवाद (६) – हे सखि ! यद्यपि तुमने सायंकाल स्नान किया, शरीर में चन्दन का लेप किया, सूर्य भगवान् अस्ताचल के शिखर पर चले गये अर्थात् सूर्य अस्त हो गया और तुम बेखटके धीरे-धीरे यहाँ आयी हो, फिर भी तुम जिस सुकुमारता के कारण ऐसी थक गई हो कि तुम्हारे नेत्र युगल पलक झपाये बिना ठहर नहीं पा रहे हैं, अतः तुम्हारी सुकुमारता अद्भुत (विचित्र) है ।।७९।।

यहाँ पर वस्तु से 'परपुरुष के समागम (परिचय, संभोग) से तुम थक गई हो' यह वस्तु (बात) 'अधुना' पद से द्योत्य (प्रकाशन) वस्तुरूप व्यक्त हो रही है ।

विमर्श—यह अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के बारह भेदों में पद-प्रकाश्य स्वतःसम्भवी वस्तु से वस्तुध्वनि का उदाहरण है । यहाँ पर नायक के साथ रमण करने के बाद थकावट को दूर करने के लिए स्नान करके आयी हुई नायिका के प्रति उसके चौर्यरत के रहस्य को समझ लेने वाली विदग्धा सखी कहती है कि 'हे सखि ! तुम उपपति के साथ सम्भोग कर चुकी हो, तभी इतनी थकी सी लग रही हो' । यहाँ पर 'अधुना' पद से यह व्यङ्ग्यार्थ निकलता है कि 'तुम परपुरुष के साथ सम्भोग करने से थक गई हो' । इस व्यङ्ग्यार्थ के प्रकाशन में 'अधुना' पद की प्रधानता है, अतः यहाँ पद-प्रकाश्य वस्तुरूप ध्वनि है ।

अनुवाद—(७) उन श्रीकृष्ण के न मिलने के महादुःख के कारण जिसके समस्त पाप नष्ट हो गये थे और उनके चिन्तन से उत्पन्न महान्

८—क्षणदाऽसावक्षणदा वनभवनं व्यसनमव्यसनम् ।
बत वीर ! तव द्विषतां पराङ्मुखे त्वयि पराङ्मुखं सर्वम् ।।८२।।

अत्र शब्दशक्तिमूलविरोधाङ्गेनार्थान्तरन्यासेन विधिरपि त्वामनुवर्त्तते इति सर्वपदद्योत्यं वस्तु ।

आनन्द के द्वारा जिसके समस्त पुण्य-समूह नष्ट हो गये थे। जगत् के स्रष्टा (उत्पादक) परब्रह्मरूप भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन करती हुई कोई गोपी प्राणवायु के रुक जाने से अथवा प्राणायाम (समाधि) के कारण मुक्ति को प्राप्त हो गई ।।८०-८१।।

अनुवाद—यहाँ पर 'हजारों जन्मों में भोगने योग्य पाप और पुण्य के फलों का वियोग-दुःख और चिन्तन के आनन्द द्वारा ही अनुभव कर लिया गया' यह कहा गया है। इस प्रकार 'अशेष' (समस्त) एवं 'चय' (समूह) पद से द्योत्य दो अतिशयोक्ति अलंकार व्यंग्य है।

विशेष—यह अर्थशक्तिमूलक स्वतःसम्भवी वस्तु द्वारा पद-प्रकाश्य अलङ्कार-व्यङ्ग्य का उदाहरण है। ये दोनों श्लोक विष्णुपुराण से उद्धृत हैं। यहाँ पर 'अशेष' पद के द्वारा सहस्र जन्मों में भोग्य पापों के फल का भगवद्विरह रूपी दुःख के साथ तादात्म्याध्यवसाय अभिव्यक्त हो रहा है और 'चय' पद के द्वारा जन्म-जन्मान्तर में भोग्य 'पुण्य-फल' का भगवच्चिन्तन के परमाह्लाद (परमानन्द) के साथ तादात्म्याध्यवसाय (अभेदाध्यवसाय) अभिव्यक्त हो रहा है। इस प्रकार यहाँ पर 'अशेष' और 'चय' पद के द्वारा निगीर्याध्यवसानरूपा अतिशयोक्तिद्वय द्योतित हो रहा है। अतः पद-प्रकाश्य अर्थशक्तिमूलक स्वतःसम्भवी वस्तुध्वनि का उदाहरण है।

अनुवाद—(७) हे वीर ! तुम्हारे प्रतिकूल (विमुख) हो जाने पर तुम्हारे शत्रुओं के लिए सभी कुछ विमुख (प्रतिकूल) हो गया है। क्षणदा आनन्ददायिनी रात्रि 'अक्षणदा' आनन्द न देने वाली हो गई है, वन भवन अर्थात् रक्षक (रक्षास्थान) हो गया है और व्यसन (द्यूतादि) अव्यसन अर्थात् भेड़-बकरी चराना (अवीनाम् असनम् अव्यसनम्) हो गया है अर्थात् भेड़-बकरी चराना उनका व्यसन जीविका साधन का पेशा बन गया है ।।८२।।

यहाँ पर शब्दशक्तिमूलक विरोध के उपपादक अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के द्वारा 'विधि (विधाता) भी तुम्हारा अनुसरण करता है' यह 'सर्व' पद-प्रकाश्य वस्तु व्यङ्ग्य है।

९— तुह वल्लहस्स गोसम्मि आसि अहरो मिलाणकमलदलो ।
इअ णववहुआ सोऊण कुणइ वअण महिसंमुहम् ।।८३।।
[तव वल्लभस्य प्रभाते आसीदधरो म्लानकमलदलम् ।
इति नववधूः श्रुत्वा करोति वदनं महीसम्मुखम् ।।८३।।]
(इति संस्कृतम्)

अत्र रूपकेण त्वयाऽस्य मुहुर्मुहुः परिचुम्बनं तथाकृतं येन म्लानत्व-मिति मिलणादिपदद्योत्यं काव्यलिङ्गम् । एषु स्वतःसम्भवी व्यञ्जकः ।

विमर्श—यह अर्थशक्तिमूलक स्वतःसम्भवी अलङ्कार के पद-प्रकाश्य वस्तु-ध्वनि का उदाहरण है । यहाँ पर 'क्षणदा' आदि के 'अक्षणदा' आदि हो जाने की उपपत्ति के रूप में प्रस्तुत होने से अर्थान्तरन्यास-अलङ्कार रूप अर्थ व्यङ्ग्य है । 'हे राजन् ! आपके पराङ्मुख हो जाने पर आपके शत्रुओं के लिए सब कुछ पराङ्मुख हो गया' यह अर्थान्तरन्यास अलङ्कार रूप व्यञ्जक अर्थ स्वतःसम्भवी अर्थ है । 'सर्वं' पद की प्रधानता होने से यह पद-प्रकाश्य ध्वनि है ।

अनुवाद (९)—'प्रातःकाल तुम्हारे प्रियतम (पति) का अधरोष्ठ मुरझाए हुए कमलदल के समान था' इस बात को सुनकर नववधू ने अपना मुख भूमि की ओर अर्थात् नीचे कर लिया ।।८३।।

यहाँ पर रूपक अलङ्कार द्वारा 'तुमने बार-बार इसका (अधर का) ऐसा चुम्बन किया कि जिससे वह मलिन हो गया' यह 'मिलण' आदि पद से प्रकाश्य (द्योत्य) काव्यलिङ्ग अलङ्कार व्यङ्ग्य है ।

इन चारों उदाहरणों में स्वतःसम्भवी अर्थ व्यञ्जक है ।

विमर्श—यह अर्थशक्तिमूलक स्वतःसम्भवी अलङ्कार से पद-प्रकाश्य वस्तु-ध्वनि का उदाहरण है । यहाँ पर कोई सखी किसी नवोढ़ा-नायिका के प्रति कह रही है कि 'तुमने इसके अधर का बार-बार ऐसा चुम्बन किया कि जिससे उसमें मलिनता आगई' । यहां 'मलिनता' में 'परिचुम्बन' हेतु होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार व्यङ्ग्य है और रूपक अलङ्कार रूप अर्थ व्यञ्जक है । यह व्यङ्ग्यार्थ 'म्लान' आदि पद द्वारा प्रधानरूप से द्योत्य होने से 'पदप्रकाश्य ध्वनि का उदाहरण है । 'गाढ़कान्त' इत्यादि उदाहरण में वाक्य-ध्वनि है ।

१०—राईसु चंदधवलासु ललिअमप्फालिऊण णो चावम् ।
एकच्छत्तं विअ कुणइ भुअणरज्जं विजंभंतो ।।८४।।
[रात्रीषु चन्द्रधवलासु ललितमास्फाल्य यश्चापम् ।
एकच्छत्रमिव करोति भुवनराज्यं विजृम्भमाणः ।।८५।।]
(इति संस्कृतम्)

अत्र वस्तुना येषां कामिनामसौ राजा स्मरस्तेभ्यो न कश्चिदपि तदादेश पराङ्मुख इति जाग्रद्भिरुपभोगपरैरिति तैर्निशातिवाह्यते इति भुअणरज्ज-पदद्योत्यं वस्तु प्रकाश्यते ।

अनुवाद (१०)—जो कामदेव चांदनी रात में (चन्द्रमा से धवलवर्ण रात्रियों में) सुकुमार धनुष की टङ्कारमात्र से समस्त संसार पर एकच्छत्र राज्य करता है वह कामदेव इस समय गर्व के साथ विजृम्भण (विचरण) कर रहा है ।।८५।।

अनुवाद—यहाँ पर वस्तु के द्वारा 'जिन कामीजनों (कामी-कामिनियों) का राजा यह कामदेव है, उनमें से कोई भी उसकी आज्ञा से विमुख (पराङ्मुख) नहीं हो सकता' इस प्रकार जागते हुए उपभोग (भोग-विलास) में ही तत्पर रहते हुए ही सारी रात बिताते हैं, यह बात (वस्तु) 'भुवनराज्य' (भुअणरज्ज) पद से ध्वनित होती है ।

विमर्श—यह अर्थशक्तिमूलक कवि प्रौढोक्तिसिद्ध पद-प्रकाश्य वस्तु द्वारा वस्तु-ध्वनि का उदाहरण है । यहाँ पर किसी मानिनी नायिका से उसकी सखी कह रही है कि हे सखि ! इस चांदनी रात में मान करना कठिन है; क्योंकि कामदेव धनुष की टंकार करता हुआ और गर्व से निर्द्वन्द्व विचरण हुआ तीनों लोक में एकच्छत्र राज्य कर रहा है । अतः मान करना दुर्वह है । यहाँ पर 'कामदेव चापस्फालन द्वारा त्रिलोकी (संसार) पर एकच्छत्र राज्य कर रहा है' यह कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप अर्थ व्यञ्जक है और 'राजा कामदेव की आज्ञा का पालन करते हुए कामीजन द्वारा जागते हुए ही रात बिता दी जाती है' यह वस्तुरूप अर्थ व्यङ्ग्य है। यह बात (व्यङ्ग्यार्थ) 'भुवनराज्य' पद के द्वारा प्रधान रूप से प्रकाशित (ध्वनित) होती है । अतः यह पद-प्रकाश्य ध्वनि का उदाहरण है । 'कैलासस्य प्रथमशिखरे' इत्यादि श्लोक में इस प्रकार का कोई पद न होने से वाक्य द्वारा प्रकाश्य होने से वाक्य-ध्वनि है ।

११—निशितशरधियाऽर्पयत्यनङ्गो दृशि सुदृशः स्वबलं वयस्यराले।
दिशि निपतति यत्र सा च तत्र व्यतिकरमेत्य समुन्मिषन्त्यवस्थाः ॥८५॥

अत्र वस्तुना युगपदवस्थाः परस्परविरुद्धा अपि प्रभवन्तीति व्यतिकर-पदद्योत्यो विरोधः।

१२—**वारिज्जन्तो वि पुणो सन्दावकदत्थिएण हिअएण।**
थणहरवअस्सएण विसुद्धजाई ण चलइ से हारो ॥८६॥
[वार्यमाणोऽपि पुनः सन्तापकदर्थितेन हृदयेन।
स्तनभरवयस्येन विशुद्धजातिर्न चलत्यस्या हारः ॥८६॥]

(इति संस्कृतम्)

अत्र विशुद्धजातित्वलक्षणहेत्वलङ्कारेण हारोऽनवरतं कम्पमान एवास्ते इति 'ण चलइ' पदद्योत्यं वस्तु।

अनुवाद (११)—कामदेव अभिनव यौवन की अवस्था में कामिनियों के कटाक्ष में अपने तीक्ष्ण बाणों की बुद्धि से अर्थात् कामिनियों के कटाक्ष को अपना तीक्ष्ण बाण समझकर उसमें अपना बल (सामर्थ्य) अर्पित कर देता है। इसलिए वह अर्पितदृष्टि (कामिनियों का कटाक्ष) जिस ओर पड़ती है, वहाँ एक साथ ही काम की सारी अवस्थाएँ प्रकट हो जाती हैं ॥८५॥

यहाँ पर वस्तु के द्वारा 'परस्पर विरुद्ध, (हँसना, रोना आदि) अवस्थाएँ एक साथ प्रकट होती हैं' यह 'व्यतिकर' पद के द्वारा प्रकाश्य (द्योत्य) विरोधालङ्कार व्यङ्ग्य है।

विमर्श—यह कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध पद-प्रकाश्य वस्तु के द्वारा अलङ्कार-व्यङ्ग्य का उदाहरण है। यहाँ 'नेत्र रूपी बाण पर शक्त्यर्पण, उसका पतनस्थान, कामदशोत्पत्ति आदि कवि प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप अर्थ व्यञ्जक है और 'परस्पर विरुद्ध भी हसित, रुदित आदि काम की दशाओं का एक साथ प्रकट होना' विरोधालङ्कार रूप अर्थ व्यङ्ग्यार्थ है और उसका प्रकाशन-सामर्थ्य रखने वाला पद 'व्यतिकर' है अर्थात् 'व्यतिकर' पद के द्वारा प्रधान रूप से व्यङ्ग्यार्थ प्रकाशित होता है, अतः यहाँ पद-प्रकाश्य ध्वनि है। 'केशेषु' इत्यादि उदाहरण में वाक्य द्वारा व्यङ्ग्यार्थ द्योतित होता है, अतः यहाँ वाक्य-ध्वनि है।

अनुवाद (१२)—(गाढ़ आलिङ्गन में बाधक होने के कारण अर्थात् नायिका वक्षःस्थल पर स्तन-स्पर्श में प्रतिबन्धक हार के कारण) सन्ताप से पीड़ित (कदर्थित) हृदय द्वारा बार-बार हटाये जाने पर भी विशुद्ध जाति की मोतियों का बना हुआ (नायिका का) हार अपने मित्र स्तनों से नहीं हटता है अर्थात् बराबर स्तनों के ऊपर हिल रहा है ॥८६॥

१३ सो मुद्धसामलंगो धम्मिल्लो कलिअललि अणिअदेहो ।
तीए संधाहि वलं गहिअ सरो सुरअसंगरे ,जअइ ।।८७।।
[स मुग्धश्यामलांगो धम्मिल्लः कलितललितनिजदेहः ।
तस्याः स्कन्धाद्दलं गृहीत्वा स्मरः सुरतसंगरे जयति ।।८७।।]
(इति संस्कृतम्)

अत्र रूपकेण मुहुर्मुहुराकर्षणेन तथा केशपाशः स्कन्धयोः प्राप्तः यथा रतिविरतावप्यनिवृत्ताभिलाषः कामुकोऽभूदिति 'खंध' पदद्योत्या विभावना । एषु कविप्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः ।

यहाँ पर विशुद्ध जातित्वरूप हेतु (काव्यलिङ्ग) अलङ्कार के द्वारा, 'हार निरन्तर हिल रहा है' यह अर्थ 'न चलति' पद के द्वारा द्योतित (ध्वनित) होने वाला वस्तुरूप अर्थ अभिव्यक्त हो रहा है।

विमर्श—यह कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध पद-प्रकाश्य अलङ्कार से वस्तु-व्यङ्ग्य का उदाहरण है। यहाँ पर 'स्तनों को छोड़कर हार के अलग न हटने का कारण 'विशुद्धजातित्व' रूप हेतु होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार व्यञ्जक अर्थ है; क्योंकि 'विशुद्ध जाति में उत्पन्न कुलीन व्यक्ति महान् सङ्कट में भी मित्र को नहीं छोड़ते' यह बात कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध है; क्योंकि मुक्ता की शुद्धता और कुल की शुद्धता में तादात्म्याध्यवसाय बताया गया है। यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार के द्वारा 'विपरीत रति में नायिका के गले का मुक्ताहार निरन्तर हिल रहा है' यह वस्तु रूप व्यङ्ग्यार्थ 'न चलति' इस पद के द्वारा द्योतित हो रहा है। अतः यहाँ पदप्रकाश्य ध्वनि है। 'गाढ़ालिङ्गन' इत्यादि उदाहरण में कोई पद व्यञ्जक नहीं है, अतः यह वाक्य-प्रकाश्य का उदाहरण है।

अनुवाद (१३)—अपने सुन्दर स्वरूप को प्राप्त मुग्ध (सुन्दर) और श्यामल (सुन्दरी नायिका का) केशपाशरूप कामदेव उस नायिका के स्कन्ध से बल प्राप्त कर (स्कन्धावार से सैन्यशक्ति प्राप्त कर) सुरतरूपी समर में विजय को प्राप्त होता है ।।८७।।

अनुवाद—यहाँ पर रूपक अलङ्कार के द्वारा बार-बार खींचे जाने से केशपाश सुन्दरी नायिका के कन्धों पर इस प्रकार सुन्दर रूप से गिरा है कि 'जिससे सुरत के समाप्त हो जाने पर भी कामुक की (संभोग की) अभिलाषा समाप्त नहीं हुई' यह 'स्कन्ध' पद के द्वारा विभावना अलङ्कार द्योतित होता है।

इन चारों श्लोकों में व्यञ्जक अर्थ कविप्रौढ़ोक्तिमात्र से निष्पन्न होता है।

१४--णवपुण्णिमामिअंकस्स सुहअ कोत्तं सि भणसु मह सच्चम् ।
का सोहग्गसमग्गा पओसरअणि व्व तुह अज्ज ॥८८॥
[नवपूर्णिमामृगाङ्कस्य सुभग कस्त्वमसि भण मम सत्यम् ।
का सौभाग्यसमग्रा प्रदोषरजनीव तवाद्य ॥८८॥]

(इति संस्कृतम्)

अत्र वस्तुना मयीवान्यस्यामपि प्रथममनुरक्तस्त्वं न तत इति णवेत्यादि-पओसेत्यादिपदद्योत्यं वस्तु व्यज्यते ।

विमर्श—यह कवि प्रौढोक्तिसिद्ध पद-प्रकाश्य अलङ्कार से अलङ्कार-व्यङ्ग्य का उदाहरण है। यहाँ पर रूपकालङ्कार के द्वारा विभावना अलङ्कार व्यङ्ग्य है। यहाँ पर 'सुरतसङ्गर' पद में सुरत पर सङ्गर का आरोप, नायिका के केशपाश पर कामदेव का आरोप, स्कन्ध पर स्कन्धावार (छावनी) का आरोप, 'बल' पर सेना का आरोप किया गया है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार युद्ध में पराजित सेनापति अन्य किसी छावनी से सेना मिल जाने पर वह पुनः युद्ध के लिए उद्यत हो जाता है, उसी प्रकार नायिका का सुन्दर या श्यामल केशपाश रूप कामदेव उसके स्कन्ध से बल प्राप्त करके सुरतभोग से निवृत्त भी पुनः सुरत में प्रवृत्त होता है अर्थात् सुरतसङ्ग्राम में विजय प्राप्त करता है। यहाँ परं कविप्रौढोक्तिसिद्ध रूपकालङ्कार व्यञ्जक अर्थ है और 'सुरतकाल में बार-बार खींचे जाने से केशपाश नायिका के स्कन्ध पर इस प्रकार आ गये हैं कि सुरत से निवृत्त हुए भी कामुक की अभिलाषा निवृत्त नहीं होती' यह विभावना अलङ्कार व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनित होता है। यहाँ 'रतिनिष्पत्ति' स्कन्ध पद से ध्वनित होती है अतः यहाँ पद-प्रकाश्य ध्वनि है। 'या स्थविरम्' इत्यादि उदाहरण में वाक्य-प्रकाश्य ध्वनि है।

अनुवाद (१४)—हे सुभग ! (प्रियतम) तुम मुझे सच-सच बतलाओ कि नवोदित पूर्णिमा के चन्द्रमा के तुम कौन हो ? और प्रदोष रजनी के समान आज तुम्हारी कौन (नायिका) पूर्ण सौभाग्यवती है ? ॥८८॥

अनुवाद—यहाँ पर वस्तु के द्वारा 'मेरे समान अन्य (नायिका) में भी पहिले अनुरक्त थे, फिर नहीं रहे' यह 'णव' (नव) आदि तथा 'पओस' (प्रदोष) आदि पद के द्वारा द्योत्य (प्रकाश्य) वस्तु व्यङ्ग्य है।

विमर्श—यह पदप्रकाश्य कविनिबद्ध प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु-व्यङ्ग्य का उदाहरण है। यह किसी खण्डिता नायिका की अन्य नायिका में अनुरक्त नायक के प्रति उक्ति है। यहाँ पर नायक की पूर्णिमा के चन्द्रमा के रूप में और अन्या नायिका का प्रदोष-रजनी के रूप में वर्णन होने से कविनिबद्ध प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप अर्थ

१५—सहि णवणिहुवणसमरम्मि अंकवाली सहीए णिविडाए।
हारो णिवारिओ विअ उच्छेरन्तो तदो कहं रमिअम् ॥८९॥
[सखि नवनिधुवनसमरेऽङ्कपालीसख्या निविडया।
हारो निवारित एवोच्छ्रियमाणस्ततः कथं रमितम् ॥८९॥]
(इति संस्कृतम्)

अत्र वस्तुना हारच्छेदानन्तरमन्यदेवरतभवश्यमभूत् तत्कथय कीदृगिति व्यतिरेकः कहंपदवाच्यः।

व्यञ्जक अर्थ है और 'तुम्हारा क्या पता? तुम कभी मुझे चाहते थे, आज किसी दूसरे को चाह रहे हो, तुम क्षणिकानुरागी हो' यह वस्तुरूप अर्थ व्यङ्ग्यार्थ है। किन्तु यह व्यङ्ग्यार्थ 'नवपूर्णिमामृगाङ्क' और 'प्रदोष-रजनी' इन पदों द्वारा (नवपूर्णिमामृगाङ्क पद के द्वारा अनुराग होना और प्रदोष-रजनी पद द्वारा अनुराग न रहना) द्योतित हो रहा है, अतः यहाँ पद-प्रकाश्य ध्वनि है। 'ये लङ्कागिरिमेखलासु' इत्यादि उदाहरण में अर्थप्रकाशन में किसी पद की प्रधानता न होने से वाक्य-प्रकाश्य ध्वनि है।

अनुवाद (१५)—हे सखि! नवीन सुरत (प्रथम-सुरत) रूपी समर (सङ्ग्राम) में गाढ़ आलिगन (अङ्कपाली) रूप सखी ने तेरे स्तनों पर उछलते हुए (आलिंगन में बाधक) हार को (तोड़कर) हटा दिया, तब तुमने कैसा रमण किया?" ॥८९॥

अनुवाद—यहाँ पर वस्तु के द्वारा 'हार टूट जाने के बाद कुछ अन्य ही प्रकार का सुरत (सम्भोग) अवश्य हुआ होगा, तो बताओ वह कैसा था?' यह व्यतिरेक अलङ्कार 'कहं' (कथं) पद से ध्वनित हो रहा है।

विमर्श—यह पदप्रकाश्य कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध वस्तु से अलङ्कार-व्यङ्ग्य का उदाहरण है। यहाँ पर कोई रतज्ञा नवोढ़ा नायिका अपनी प्रिय सखी से सुरत की चर्चा करते हुए कह रही है कि सखि! नव सम्भोग रूपी समर में गाढ़ आलिङ्गन रूपी प्रियसखी ने तुम्हारे स्तनों पर छलकते हुए हार को तोड़ डाला, तो बताओ सुरत में कैसा आनन्द आया? यहाँ पर कविनिबद्ध रतिरसमर्मज्ञ नवोढ़ा नायिका की प्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुरूप अर्थ व्यञ्जक है और "बताओ, हार टूटने पर जो विचित्र रतिलीला हुई, वह कैसी हुई?" यह व्यतिरेकालङ्कार रूप अर्थ व्यङ्ग्यार्थ है और 'कथं' पद की प्रधानता से यह पद-प्रकाश्य ध्वनि है। 'सखि, विरचय्य' इत्यादि उदाहरण में वाक्य-व्यङ्ग्य होने से वाक्य-प्रकाश्य ध्वनि है।

१६ (क) —पविसन्ती घरतारं विवलिअवअणा विलोइऊण पहम् ।
खंधे घेत्तूण घडं हा हा णट्ठोत्ति रुअसि सहि किं ति ॥९०॥
[प्रविशन्ती गृहद्वारं विवलितवदना विलोक्य पन्थानम् ।
स्कन्धे गृहीत्वा घटं हा हा नष्ट इति रोदिषि सखि किमिति ॥९०॥]
(इति संस्कृतम्)

अत्र हेत्वलङ्कारेण सङ्केतनिकेतनं गच्छन्तं दृष्ट्वा यदि तत्र गन्तुमिच्छसि तदाऽपरं घटं गृहीत्वा गच्छेति वस्तु किं ति पदद्योत्यम् ।

१६ (ख)—विहलंखलं तुमं सहि दट्ठूण कुडेण तरलतरदिट्ठिम् ।
वारप्फंसमिसेण अ अप्पा गुरुओत्ति पाडिअ विहिण्णो ॥९१॥

अनुवाद (१६ क)—हे सखि ! कन्धे पर घड़ा लेकर घर के दरवाजे में घुसती हुई, और मुख फेरकर मार्ग की ओर देखकर 'हाय घड़ा फूट गया' यह कहती हुई क्यों रोरही है ? ॥९०॥

अनुवाद—यहाँ पर 'हेतु अलंकार के द्वारा' संकेतस्थान की ओर जाते हुए कामुक को देखकर 'यदि तू वहाँ जाना चाहती है तो दूसरा घड़ा लेकर जा' यह वस्तु 'किमिति' पद से द्योत्य (प्रकाश्य) है ।

विमर्श—यह पदप्रकाश्य कविनिबद्धप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलङ्कार के द्वारा वस्तु व्यङ्ग्य का उदाहरण है। यहाँ पर किसी नायिका ने घड़ा कन्धे पर लेकर घर के दरवाजे में घुसते ही प्रच्छन्न कामुक को संकेत स्थान की ओर जाते हुए देखकर दुबारा नदी पर जाने के उद्देश्य से घड़े को गिराकर फोड़ दिया और रोने लगी कि हाय मेरा घड़ा फूट गया। तब उसकी बात को ताड़ने वाली उसकी सहेली ने कहा कि सखि ! क्यों रोती है ? दूसरा घड़ा लेकर पानी लेने चली जा। मैं तुम्हारे सास-ससुर आदि घरवालों से तुम्हारे दुबारा पानी लेने जाने का समाधान कर दूँगी' यह व्यङ्ग्यार्थ है। यहाँ हेतु (काव्यलिङ्ग) अलङ्कार के द्वारा वस्तु रूप अर्थ व्यङ्ग्य अर्थ है। यहाँ 'किमिति' पद की प्रधानता होने से 'पद-प्रकाश्य' ध्वनि है।

कुछ आलोचकों का कथन है कि उक्त अर्थ कविकल्पना मात्र से सिद्ध नहीं है, बल्कि लोकव्यवहार सिद्ध है। अतः यह पद-प्रकाश्य स्वतःसम्भवी अलङ्कार से वस्तु व्यङ्ग्य का भी उदाहरण माना जा सकता है, अतः कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अलङ्कार से वस्तु व्यङ्ग्य का दूसरा उदाहरण देते हैं—

[विशृङ्खलां त्वां सखि दृष्ट्वा कुटेन तरलतरदृष्टिम् ।
द्वारस्पर्शमिषेण चात्मा गुरुक इति पातयित्वा विभिन्नः ।।६१।।]

(इति संस्कृतम्)

अत्र नदीकूले लतागहने कृतसंकेतमप्राप्तं गृहप्रवेशावसरे पश्चादागतं दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय द्वारोपघातव्याजेन बुद्धिपूर्वं व्याकुलतया त्वया घटः स्फोटित इति मया चिन्तितम्. तत्किमिति नाश्वसिषि, तत्समीहितसिद्धये व्रज, अहं ते श्वश्रूनिकटे सर्वं समर्थयिष्ये इति द्वारस्पर्शन व्याजेन इत्यपह्नुत्या वस्तु व्यज्यते ।

अनुवाद (१६ ख)—हे सखि ! अत्यन्त भार से व्याकुल और चञ्चल दृष्टि वाली तुम्हें देखकर घड़े ने अपने को भारी मानकर (तुम्हारे लिए कष्टदायक मानकर) द्वार के स्पर्श के बहाने से अपने आपको गिराकर फोड़ दिया ।।६१।।

अनुवाद—यहाँ पर 'नदी के तट पर लताकुञ्ज में सङ्केतस्थान नियत कर समय पर न मिलने वाले और बाद में घर में घुसते समय पीछे से आते हुए नायक को देखकर फिर नदी पर जाने के लिए दरवाजे के टक्कर के बहाने व्याकुल होने कारण चतुराई से (बुद्धिपूर्वक) तुमने घड़े को फोड़ दिया, यह मैंने समझ लिया। तब तुम क्यों आश्वस्त नहीं होती ? तुम अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए निश्चिन्त होकर जाओ, मैं तुम्हारी सास के सामने सब समाधान कर दूँगी' यह वस्तुरूप अर्थ 'द्वार के स्पर्श के बहाने से' इस (पद-प्रकाश्य) अपह्नुति अलङ्कार से अभिव्यक्त (ध्वनित) होता है ।

विमर्श—यहाँ पर अचेतन घट में 'अपने आपको गिराकर फोड़ दिया' इस प्रकार चेतन धर्म का आरोप किया गया है अतः आरोपमूलक अपह्नुति अलङ्कार प्रौढ़ोक्तिसिद्ध होने से कविनिबद्ध वक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध अपह्नुति अलङ्कार रूप व्यञ्जक अर्थ द्वारा वस्तुरूप अर्थ व्यङ्ग्यार्थ है । यहाँ पर 'द्वारस्पर्शव्याजेन' यह पद प्रधान रूप से उपर्युक्त अर्थ का व्यञ्जक है अतः यहाँ पर पद-प्रकाश्य ध्वनि है । 'आर्द्रार्द्रंकर' आदि उदाहरण में वाक्य-प्रकाश्य ध्वनि है ।

१७– जोह्णाइ महुरसेण अ विइण्णतारुण्णउस्सुअमणा सा ।
बुड्ढा वि णवोढव्विअ परवहुआ अहह हरइ तुह हिअअम् ॥९२॥
[ज्योत्स्नया मधुरसेन च वितीर्णतारुण्योत्सुकमनः सा ।
वृद्धाऽपि नवोढेव परवधूरहह हरति तव हृदयम् ॥९२॥]

(इति संस्कृतम्)

अत्र काव्यलिङ्गेन वृद्धां परवधूं त्वमस्मानुज्झित्वाऽभिलषसीति त्वदीयमाचरितं वक्तुं न शक्यमित्याक्षेपः परवधूपदप्रकाश्यः। एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः। वाक्यप्रकाश्ये तु पूर्वमुदाहृतम्। शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवस्तु पदप्रकाश्यो न भवतीति पञ्चत्रिंशद्भेदाः।

अनुवाद (१७)—अहो ! चांदनी और मधु (वसन्त या मद्य) के रस से जिसमें तारुण्य (सुरत) की उमंग आगई है, वह वृद्धा परवधू (परकीया नायिका) भी नवोढ़ा के समान तुम्हारे हृदय को हरण करती है ॥९२॥

अनुवाद—यहाँ पर काव्यलिंग अलंकार के द्वारा 'तुम हमको छोड़कर बूढ़ी परनारी को चाह रहे हो, यह तुम्हारा आचरण कहने योग्य नहीं है' यह आक्षेप अलंकार 'परवधू' पद से द्योतित (ध्वनित) हो रहा है।

विमर्श—यह पदप्रकाश्य कविनिबद्ध प्रौढोक्ति सिद्ध अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य का उदाहरण है। यह वृद्धा परवधू पर आसक्त नायक के प्रति किसी कुलवधू की उक्ति है। 'परवधू होने के कारण वह तुम्हारे हृदय को हरती है' यहाँ पर परवधूत्व हृदय-हरण में हेतु है, यह उद्योतकार का कथन है। चक्रवर्त्ती के अनुसार 'चांदनी और मधुरस द्वारा प्राप्त तारुण्य हृदय-हरण का हेतु है' यह हेतु कविनिबद्ध नायिका की प्रौढोक्तिमात्र सिद्ध है। यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार व्यञ्जक अर्थ है। इस काव्यलिङ्ग अलङ्कार के द्वारा 'तुम मुझे छोड़कर वृद्धा परवधू को चाहते हो, इसलिए तुम्हारा आचरण कहने योग्य नहीं है' यह निषेध रूप आक्षेप अलङ्कार व्यङ्ग्य अर्थ है। यहाँ पर 'परवधू' पद प्रधान रूप से उक्त अर्थ को द्योतित करता है, अतः यह 'पदप्रकाश्य' ध्वनि है। 'महिला सहस्रभरिते' इत्यादि उदाहरण में वाक्य-प्रकाश्य ध्वनि है।

अनुवाद—पदप्रकाश्य ध्वनि के इन उदाहरणों में कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्र से निष्पन्न अर्थ ही व्यञ्जक अर्थ है। (इस प्रकार पद-प्रकाश्य ध्वनि के सत्रह उदाहरण यहाँ दिये गये हैं) वाक्यप्रकाश्य ध्वनि के सत्तरह भेदों के उदाहरण पहिले दिये जा चुके हैं (इस प्रकार ध्वनि के कुल चौंतीस भेद हुए) और शब्दार्थोभयशक्तिमूलक ध्वनि पदप्रकाश्य नहीं होता, वह एक प्रकार का होता है। इस प्रकार सङ्कलनया उपर्युक्त ध्वनि के ३४ भेदों में उभयशक्तिमूलक ध्वनि के एक भेद को मिला देने से ध्वनि के पैंतीस (३५) भेद होते हैं।

(सू० ६०) प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥४२॥

यथा गृध्रगोमायुसंवादादौ—

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्गृध्रगोमायुसङ्कुले ।
कङ्कालबहले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥९३॥
न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥९४॥

इति दिवा प्रभातो गृध्रस्य पुरुषविसर्जनपरमिदं वचनम् ।

विमर्श—आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्यविशेष को ध्वनि कहा है। उनके मतानुसार ध्वनि एक काव्यविशेष है और शब्दार्थ साहित्य विशेष काव्य है तो ध्वनि-काव्य के 'पदगत' या 'पदप्रकाश्य' कहने का क्या अभिप्राय है? इस पर कहते हैं कि वस्तुतः काव्य की कल्पना एक शरीरी के रूप में की गई है (शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्)। जिस प्रकार शरीरी का सौन्दर्य शरीर का सौन्दर्य होता है किन्तु उसके अवयवगत अवयव के सौन्दर्य की भी कल्पना की जाती है उसी प्रकार शब्दार्थ-समुदाय का ही सौन्दर्य काव्य का भी सौन्दर्य है किन्तु उसके अवयवगत सौन्दर्य की भी कल्पना की जाती है। ध्वनि को पदप्रकाश्य कहने का तात्पर्य यह है कि स्मरणीय वाक्य (शब्दार्थ-सन्दर्भ) रूप काव्य में पद का सौन्दर्य पृथक् पहिचाना जा सकता है। जिस प्रकार किसी रमणी के मुख का सौन्दर्य पृथक् भी आंका जा सकता है, उसी प्रकार ध्वनि-काव्य में पद में भी सौन्दर्य पृथक् प्रतीत होता है। दूसरे जिस प्रकार काव्य में श्रुतिकटु दोष होने पर भी पद में श्रुतिकटु दोष माना जाता है उसी प्रकार ध्वनि-काव्य में भी पद को ध्वनि (पदगत ध्वनि) माना जा सकता है।

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के प्रबन्धगत भेद

ध्वनिकाव्य के ३५ भेद दिखाये जा चुके हैं, अब प्रबन्धगत (प्रबन्ध-प्रकाश्य) बारह भेदों का निरूपण करते हैं—

अनुवाद (सू० ६०)—अर्थशक्त्युद्भव में ध्वनि के प्रबन्ध में भी बारह भेद होते हैं ॥४२॥

विमर्श—अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के बारह भेद केवल पदगत और वाक्यगत ही नहीं होते, बल्कि प्रबन्धगत भी बारह भेद होते हैं। प्रबन्ध का अभिप्राय महावाक्य से है अर्थात् अनेक विधि वाक्य समुदाय को प्रबन्ध कहते हैं (**संघटितवाक्यसमुदायः प्रबन्धः**)। सरस्वती-कण्ठाभरण में भोजराज ने प्रबन्ध का लक्षण निम्न प्रकार बताया गया है—

पदं चैव पदार्थश्च वाक्यं वाक्यार्थं एव च ।
विषयोऽस्याः प्रकरणं प्रबन्धश्चाभिधीयते ॥

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
बहुविघ्नो मुहूर्त्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥९५॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात् कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥९६॥

इति निशि विजृम्भमाणस्य गोमायोर्जनव्यावर्त्तननिष्ठं च वचनमिति प्रबन्ध एव प्रथते । अन्ये त्वेकादशभेदा ग्रन्थविस्तारभयान्नोदाहृताः । स्वयन्तु लक्षणतोऽनुसर्त्तव्याः अपिशब्दात् पदवाक्ययोः ।

अब प्रबन्धगत अर्थशक्युद्भव ध्वनि का उदाहरण देते हैं। जैसे, महाभारत में गृध्रगोमापुसंवाद---

अनुवाद—(गृध्र कहता है) हे मनुष्यों ! गिद्ध और सियारों से भरे हुए अस्थि-कङ्काल से परिपूर्ण, भयानक और सब प्राणियों के लिए भयङ्कर इस स्मशान में ठहरना व्यर्थ है ॥९३॥

(अरे, इस संसार में) काल धर्म (मृत्यु) को प्राप्त हुआ कोई भी व्यक्ति, वह चाहे किसी का प्रिय हो अथवा शत्रु हो, फिर जीवित नहीं होता; क्योंकि प्राणियों की गति ऐसी ही होती है। अर्थात् कोई मरकर जीवित नहीं होता ॥९४॥

इस प्रकार दिन में सामर्थ्य रखने वाले गिद्ध का पुरुषों के घर लौट जाने के अभिप्राय से यह वचन (कहा गया है)।

विमर्श—यहाँ पर गिद्ध के वचन का अभिप्राय यह है कि दिन में मांस भक्षण में समर्थ गिद्ध यह चाहता है कि 'मृत बालक को घेरकर बैठे हुए सगे-सम्बन्धी दिन में ही स्मशान छोड़कर चले जायँ जिससे वह यथेष्ट मांस का भक्षण करे' इस वस्तु-रूप वाच्यार्थ द्वारा पुरुषविसर्जन रूप वस्तु व्यङ्ग्यार्थ है।

गिद्ध से विपरीत सियार चाहता है कि ये लोग सूर्यास्त तक यहाँ बैठे रहें और सूर्यास्त होने बाद चले जायँ तब सूर्यास्त के बाद गिद्ध मांस-भक्षण में असमर्थ हो जाने से मैं निश्चित होकर सारा मांस भक्षण करूँ, इसलिए सियार लोगों से कहता है—

अनुवाद—अरे मूर्खो ! अभी यह सूर्य स्थित है अर्थात् सूर्यास्त नहीं हुआ है, अतः अभी इससे स्नेह (प्रेम) कर लो। यह मुहूर्त (संध्याकाल) बहुत से विघ्नों से पूर्ण है, (अतः इस विघ्नमय मुहूर्त्त के चले जाने पर) शायद यह बालक जीवित हो जाय ॥९४॥

हे मूर्खो ! सुवर्ण के समान कान्ति वाले यौवन (युवावस्था) को

(सू० ६१) पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः।

तत्र प्रकृत्या यथा—

रइकेलिहिअणिअसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स।
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वईपरिचुम्बिअं जअइ॥९७॥

[रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति॥९७॥]

(इति संस्कृतम्)

अत्र जयतीति न तु शोभते इत्यादि। समानेऽपि हि स्थगनव्यापारे लोकोत्तरेणैव व्यापारेणास्य विधानमिति तदेवोत्कृष्टम्।

प्राप्त न हुए इस बालक को गिद्ध के कहने से निःशङ्क छोड़कर निःशङ्क होकर कैसे चले जा रहे हो॥९५॥

अनुवाद—इस प्रकार में (मांसभक्षण आदि में) समर्थ सियार का (मृतक-सम्बन्धी) मनुष्यों के रोकने का यह वचन प्रबन्ध में ही प्रतीत होता है। अर्थात् यह ध्वनि प्रबन्ध में ही अर्थ व्यञ्जना में समर्थ है।

यहाँ पर प्रबन्धगत बारह भेदों में केवल एक भेद का ही उदाहरण दिया गया है, अन्य ग्यारह भेदों के उदाहरण ग्रन्थ के विस्तार के भय से नहीं दिये गये हैं। लक्षण के अनुसार स्वयं समझ लेना चाहिए। सूत्र में 'अपि' शब्द के प्रयोग से यह सूचित होता है कि अर्थशक्त्युद्भवध्वनि पद और वाक्य में भी होता है।

इस प्रकार यहाँ तक ध्वनिकाव्य के ३५ + १२ = ४७ भेद दिखाये गये हैं। इनमें प्रबन्धगत १२ भेद सम्मिलित हैं। ध्वनिकाव्य के मुख्य ५१ भेद होते हैं। शेष रसादि-ध्वनि के चार भेदों का निरूपण आगे करते हैं।

रसादिध्वनि की व्यञ्जकता

अनुवाद (सू० ६१)—१. पद के एकदेश (प्रकृति-प्रत्यय आदि) २. रचना अर्थात् वैदर्भी रीति में अथवा दीर्घ समास आदि शब्द विन्यास में, ३. विशेष प्रकार के अक्षरों तथा 'अपि' शब्द से, ४. प्रबन्ध में भी रसादि रूप असंलक्ष्यक्रम ध्वनि होती है।

उनमें प्रकृति के द्वारा (रस की व्यञ्जकता)। जैसे—

अनुवाद—रति क्रीड़ा के समय हृतवसना पार्वती के करपल्लव द्वारा बन्द की गई दोनों आंखों वाले शिव का पार्वती द्वारा चुम्बित तृतीय नेत्र (सर्वोत्कृष्ट है)॥९७॥

यथा वा—

प्रेयान् सोऽयमाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद् यावन्न यात्युन्मनाः ।
तावत् प्रत्युत पाणिसंपुटगलन्नीवीनिबन्धं धृतो
धावित्वैव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः ॥९८॥

अत्र पदानीनि, न तु द्वाराणि ।

अनुवाद—यहाँ पर 'जयति' (जि धातुरूप प्रकृति का प्रयोग रस का विशेष रूप से व्यञ्जक है, इसलिए कवि ने जयति) का प्रयोग किया गया है, 'शोभते' आदि का नहीं; (क्योंकि वह रस का व्यञ्जक नहीं है) । यहाँ नेत्र बन्द करने का व्यापार समान होने पर भी (चुम्बनरूप) लोकोत्तर (अलौकिक) व्यापार से जो इस तृतीय नेत्र का बन्द करना है, वही उसका उत्कृष्टत्व है ।

विमर्श—यह पद्य गाथासप्तशती से लिया है। यह धातुरूप प्रकृति की व्यञ्जकता का उदाहरण है । यहाँ पर 'जयति' पद के प्रयोग के द्वारा विशिष्ट रूप बन्द किये गये शिव के तृतीय नेत्र की उत्कृष्टता अभिव्यक्त होती है और चुम्बन के द्वारा नेत्र का बन्द करना रसोत्कर्षक है। यहाँ 'जि' धातु का प्रयोग ही रसव्यञ्जक है, 'शोभने' आदि के प्रयोग की उत्कृष्टता तो वाच्य में ही समाप्त हो जाती है ।

अथवा, जैसे—

अनुवाद- (पूर्वापराध के समापन के लिए) शपथपूर्वक नायिका के पैरों पर झुके हुए अत्यन्त प्रिय नायक को नायिका ने हटा दिया (फटकार दिया), तब खिन्न हृदय वाला वह वास-स्थान से जब तक दो-तीन पग भी नहीं जा पाया था कि तब तक प्रणाम के लिए जोड़े हुए हाथों से खुली हुई नीवी को पकड़े हुए दौड़कर प्रणामपूर्वक उसे पकड़ लिया। अहो, प्रेम की बड़ी विचित्र गति है ॥९८॥

यहाँ पर कवि ने 'पदानि' (पद प्रकृति) का प्रयोग किया है, द्वाराणि का नहीं ।

विमर्श—यह प्रातिपदिक रूप प्रकृति (पदैकदेश) के द्वारा सम्भोगश्रृंगार की अभिव्यक्ति का उदाहरण है । यहाँ पर 'पद' शब्द के द्वारा 'द्वार तक न जाने देकर दो-तीन पग चलने पर ही पकड़ लिया' इस प्रकार उत्कण्ठातिशय द्योतित हो रहा है और इस उत्कण्ठातिशय के द्वारा सम्भोग श्रृंगार की अभिव्यञ्जना होती है ।

तिङ्सुपोर्यथा—

पथि पथि शुकचञ्चूचारुरामाङ्कुराणां
दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च ।
नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा
पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा ॥९९॥

अत्र किरतीति किरणस्य साध्यमानत्वम्, निवृत्तेति निवर्त्तनस्य सिद्धत्वं तिङा सुपा च । तत्रापि क्तप्रत्ययेनाऽतीतत्वं द्योत्यते ।

यथा वा—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः ।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै—
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना ॥१००॥

अत्र लिखन्निति न तु लिखतीति तथा आस्ते इति, न त्वासित इति अपि तु प्रसादपर्यन्तमास्ते इति भूमिमिति न तु भूमाविति न हि बुद्धिपूर्वकं परं किञ्चिल्लिखतीति तिङ्सुब्विभक्तीनां व्यङ्ग्यम् ।

तिङ् और सुप् प्रत्ययों की व्यंजकता का उदाहरण; जैसे—

अनुवाद—(वसन्त ऋतु में) प्रत्येक मार्ग में तोतों की चोंच के समान अंकुरों की आभा (कान्ति) सुन्दर दिखाई दे रही है, प्रत्येक दिशा में (चारों ओर) लताओं को नचाने वाला वायु बह रहा है, पुष्प का धनुष धारण करने वाला कामदेव प्रत्येक मनुष्य पर बाणों का प्रहार कर रहा है और प्रत्येक नगर में मानिनी नायिकाओं के मान की चर्चा समाप्त हो गई है ॥९९॥

अनुवाद—यहाँ पर 'किरति' इस क्रियापद में तिङ्प्रत्यय द्वारा विक्षेप रूप व्यापार (किरण) की साध्यता और 'निवृत्ता' इस सुबन्त पद में सुप् प्रत्यय द्वारा (सुपा) निवर्त्तन (मानिनी के मान-समाप्ति) की सिद्धता और उसमें भी (विनिवृत्ता पद में) 'क्त' प्रत्यय के द्वारा अतीतता द्योतित होती है।

विमर्श—यह सुप्तिङ् प्रत्यय द्वारा सम्भोग शृंगार की व्यंजकता का उदाहरण है। यहाँ पर 'किरति' का तिङ् प्रत्यय और 'विनिवृत्ता' सुप् प्रत्यय विशेषकर 'क्त' प्रत्यय विशेष अर्थ से व्यंजक हैं और वसन्त के समय कामदेव के द्वारा बाण चलाने के पूर्व ही मानिनी नायिकाओं का मान भंग हो गया' यह व्यङ्ग्यार्थ द्योतित होता है। अतः यहाँ सम्भोग शृंगार की अभिव्यक्ति होती है।

अथवा जैसे—

अनुवाद—हे मानिनि ! तुम्हारा प्राणप्रिय बाहर शिर झुकाये हुए भूमि को कुरेद रहा है, सखियों ने खाना-पीना छोड़ दिया है और निरन्तर रोते रहने से आँखें सूज गई हैं पिंजड़े में बन्द तोता (शुक, सुग्गे) ने भी हँसना-पढ़ना सब कुछ छोड़ दिया है और तुम्हारी यह अवस्था है । हे कठिन-हृदये ! अब तो अपना मान छोड़ दो ॥१००॥

अनुवाद—यहाँ पर 'लिखन्' (लिखता हुआ—शतृ (अन्) प्रत्यय) कहा गया है, न कि 'लिखति' । और उसी प्रकार 'आस्ते (बैठा हुआ है) यह कहा है, न कि 'आसितः' (बैठाया) यह कहा है । अतः (नायिका के) प्रसन्न होने तक वह इसी प्रकार बैठा रहेगा, यह तिङ् प्रत्यय से ध्वनित होता है (यह तिङ् का व्यङ्ग्य है) इसी प्रकार 'भूमिम्' (भूमि को) यह कहा है, न कि 'भूमौ' (भूमि पर) और यह बुद्धिपूर्वक और (अन्य) कुछ नहीं लिख रहा है। यह सुप् विभक्ति से द्योतित हो रहा है (यह सुप् विभक्ति का व्यङ्ग्य है) ।

विमर्श—यह 'सुप्तिङ्-प्रत्यय' द्वारा विप्रलम्भशृंगार की व्यंजकता का उदाहरण है । इस उदाहरण में 'सुप्' और 'तिङ्' विभक्तियों के द्वारा विप्रलम्भ-शृंगार रस की अभिव्यक्ति होती है । जैसे—'लिखन्' में 'शतृ' प्रत्यय के द्वारा लेखन-क्रिया की अप्रधानता द्योतित होती है और उससे यह अभिव्यक्त हो रहा है कि वह लिख नहीं रहा है, बल्कि किंकर्तव्यविमूढ़ होकर जमीन कुरेदता हुआ समय बिता रहा है । 'लिखति' क्रिया के द्वारा यह भाव अभिव्यक्त नहीं होता । इसी प्रकार 'आस्ते' क्रिया वर्तमानकालिक 'तिङ्' प्रत्यय के प्रयोग के द्वारा यह अभिव्यक्त हो रहा है कि, 'जब तक तू प्रसन्न न होगी, तब तक तुम्हारा प्रियतम ऐसे ही बैठा रहेगा' । यह भाव 'आसितः' में भूतकालिक तिङ् प्रत्यय के प्रयोग से अभिव्यक्त नहीं होता । इसी प्रकार 'भूमिम्' में द्वितीया विभक्ति का 'अम्' प्रत्यक्ष के द्वारा यह अर्थ अभिव्यक्त हो रहा है कि 'मानिनी नायिका प्रियतम बुद्धिपूर्वक कुछ लिख नहीं रहा है, बल्कि किंकर्तव्यविमूढ़ होकर यों ही समय बिताने के लिए भूमि को कुरेद रहा है' । 'भूमौ' इस सप्तम्यन्त पद के प्रयोग से यह अर्थ (अभिप्राय, भाव) अभिव्यक्त नहीं होता । इस प्रकार 'तिङ्' और 'सुप्' विभक्तियों के व्यङ्ग्यार्थ द्वारा नायक का मोहातिशय द्योतित हो रहा है और उसके द्वारा विप्रलम्भ शृंगार रस का उत्कर्ष अभिव्यक्त होता है ।

सम्बन्धस्य यथा—

गामारुहम्मि गामे वसामि णअरट्ठिइं ण जाणामि।
णा अरि आणं पइणो हरेमि जा होमि सा होमि ॥१०१॥

[ग्रामरुहास्मि ग्रामे वसामि नगरस्थितिं न जानामि।
नागरिकाणां पतीन् हरामि या भवामि सा भवामि ॥१०१॥]
(इतिसंस्कृतम्)

अत्र नागरिकाणामिति षष्ठ्याः।

'रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीत्' इति कालस्य। एषा हि भग्नमहेश्वरकार्मुकं दाशरथिं प्रति कुपितस्य भार्गवस्योक्तिः।

सम्बन्ध का अर्थात् षष्ठी विभक्ति की रसव्यंजकता का उदाहरण; जैसे—

अनुवाद—मैं गाँव में ही पैदा हुई हूँ, गाँव में रहती हूँ और नगर की स्थिति (रहन-सहन) नहीं जानती हूँ, किन्तु नगर की युवतियों के (नागरिकाओं के) पतियों को वश में कर लेती हूँ मैं जो हूँ वह हूँ ही ॥१०१॥

यहाँ पर 'नागरिकाणाम्' इस पद में सम्बन्ध षष्ठी विभक्ति रसव्यञ्जकता है।

विमर्श—यह सम्बन्ध षष्ठीविभक्ति की रसव्यंजकता का उदाहरण है। यह किसी ग्रामीण कुलटा नारी की नागरिक नारी के प्रति उक्ति है। ग्रामीण नारी कहती है कि मैं गँवार हूँ किन्तु नागरिक नारियों के पतियों को वश में कर लेती हूँ। (नागरिकाणां पतीन् हरामि वशीकरोमि)। यहाँ पर 'नागरिकान्' पद का प्रयोग न करके 'नागरिकाणाम्' पद का प्रयोग किया गया है, यहाँ 'नागरिकाणाम्' में सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति है (**शेषे षष्ठी**)। उसके द्वारा नागरिकाओं के सम्बन्ध से पतियों में चातुर्यातिशय द्योतित होता है और उसको भी अपने वश में कर लेने के कारण अपने (ग्रामीणा के) चातुर्यातिशय का बोधन व्यङ्ग्य है।

कुछ आचार्यों के मतानुसार 'नागरिकाणाम्' में अनादर अर्थ में षष्ठी विभक्ति है (**षष्ठी चानादरे**)। इस पक्ष में यह व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित होता है कि 'उनके (नागरिक नारियों के) देखते-देखते उनके सामने ही (अनादर करके) उनके पतियों को अपने वश में कर लेती हूँ'। यहाँ अपना उत्कर्ष व्यङ्ग्य है। इस प्रकार दोनों पक्षों में ही पार्यन्तिक रूप से रस ही व्यङ्ग्य है (**पर्यन्ते सर्वव्यङ्ग्यो रस इति बोध्यम्**)

अनुवाद—'यह क्षत्रियकुमार (राम) बहुत ही सुन्दर था' यहाँ पर काल की (कालवाचक लङ्लकार की रौद्ररस व्यञ्जकता है)। यह महादेव

वचनस्य यथा

ताणं गुणग्गहणाणं ताणुक्कंठाणं तस्य पेम्मस्स।
ताणं भणिआणं सुन्दर ! एरिसिअँ जाअमवसाणम् ॥१०२॥

[तेषां गुणग्रहणानां तासामुत्कण्ठानां तस्य प्रेम्णः।
तासां भणितीनां सुन्दर, ! ईदृशं जातमवसानम् ॥१०२॥]

(इति संस्कृतम्)

अत्र गुणग्रहणादीनां बहुत्वं प्रेम्णश्चैकत्वं द्योत्यते।

शिव के धनुष को तोड़ने वाले राम (दाशरथि राम) के प्रति क्रुद्ध (कुपित) भार्गव (भृगुपुत्र परशुराम) का कथन है।

विमर्श—यह कालार्थक लङ् लकार की व्यञ्जकता का उदाहरण है, यहाँ पर 'आसीत्' पद में भूतकालार्थक लङ् लकार के प्रयोग के द्वारा यह व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित होता है कि 'पहिले यह राम रमणीय था, अब नहीं है। अतः क्षणभर में मैं मार डालूँगा'। इस व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा परशुराम का क्रोधातिशय द्योतित होता है। इस प्रकार यहाँ रौद्ररस का उत्कर्ष व्यङ्ग्य है।

वचन की व्यञ्जकता का उदाहरण, जैसे—

अनुवाद—हे सुन्दर ! उन गुणवर्णनाओं का, उन उत्कण्ठाओं का उस प्रेम का और उन वचनों का (आज) इस प्रकार का अवसान (अन्त) हो गया ॥१०२॥

यहाँ पर 'गुणग्रहण' आदि में बहुत्व (बहुविधता) और 'प्रेम' पद में एकत्व (एकविधता) द्योतित हो रही है।

विमर्श—यह वचन के द्वारा विप्रलम्भ शृंगार की व्यंजना का उदाहरण है। यह श्लोक गाथासप्तशती से उद्धृत है। कोई नायिका पहिले अतिशय गुण प्रकट करने वाले और बाद में अन्यत्र आसक्त रहने वाले नायक से कह रही है—'हे सुन्दर ! पहिले तुम्हारे द्वारा की गई मेरे गुणों की प्रशंसा, मेरे प्रति तुम्हारी उत्सुकता और मेरे सामने 'तुम मेरे जीवन का सर्वस्व हो' इस प्रकार प्रेम-पगी बातें तथा उस प्रकार के प्रेम का आपने अन्त कर दिया अर्थात् भुला दिया।

यहाँ पर 'गुणग्रहणानाम्', 'उत्कण्ठानाम्', 'भणितीनाम्' इन पदों में बहुवचन के प्रयोग से और 'प्रेम्णः' में एकवचन के प्रयोग से यह व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित होता है कि 'गुणग्रहण' आदि प्रेम-हेतुओं में विविधता होने पर भी 'प्रेम' में एकरूपता (एकविधता) ही बनी रही अर्थात् प्रेम में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इस प्रकार यहाँ पर विप्रलम्भशृंगार रस का उत्कर्ष व्यङ्ग्य है।

पुरुषव्यत्यस्य यथा—

रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे चेतः प्रमुच्य स्थिर—
प्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि।
किं मन्ये विहरिष्यसे बत हृतां मुञ्चान्तराशामिमा—
मेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारान्निधौ ॥१०३॥

अत्र प्रहासः।

पूर्वनिपातस्य यथा—

येषां दौर्बलमेव दुर्बलतया ते सम्मतास्तैरपि
प्रायः केवलनीतिरीतिशरणैः कार्यं किमुर्वीश्वरैः।

पुरुषव्यत्यय की रसव्यञ्जकता का उदाहरण, जैसे—

अनुवाद—अरे चञ्चल नेत्रों वाली सुन्दरियों में रुचि रखने वाले मेरे मन ! तुम स्थिर प्रेम से युक्त (भगवान् की) महिमा को छोड़कर इस मृगनयनी को देखकर क्यों नाच रहे हो ? क्या तू सोचता है कि मैं इसके साथ विहार करूँगा ? अरे तू इस कुत्सित (निन्दित) आन्तरिक अभिलाषा (अन्तराशाम्) अर्थात् दुराशा को छोड़ दे, इस संसार-सागर में यह (मृगनयनी) तेरे गले में बँधी पत्थर की शिला है ॥१०३॥

यहाँ पर पुरुष-व्यत्यय से प्रहास व्यङ्ग्य है।

विमर्श—यह श्लोक पुरुष-व्यत्यय द्वारा शान्तरस की व्यञ्जना का उदाहरण है। यहाँ पर 'त्वं मन्यसे' इस प्रकार मध्यम पुरुष का और 'अहं विहरिष्ये' इस प्रकार उत्तम पुरुष का प्रयोग होना चाहिए था, किन्तु यहाँ पुरुष (मध्यमपुरुष और उत्तम पुरुष) का विपर्यय कर 'त्वं' इस मध्यम पुरुष के साथ 'मन्ये' इस उत्तम पुरुष का और 'अहम्' इस उत्तम पुरुष के साथ 'विहरिष्यसे' इस मध्यमपुरुष का प्रयोग उपहास को द्योतित करता है। जैसा कि पाणिनि ने **'प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तमैकवच्च'** इस सूत्र के द्वारा विधान किया है कि 'प्रहास द्योत्य होने पर 'मन्' धातु के उपपद होने पर पुरुष व्यत्यय अर्थात् मध्यम पुरुष के स्थान पर उत्तम पुरुष और उत्तम पुरुष के स्थान पर मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है'। तदनुसार यहाँ पुरुष का व्यत्यय किया गया गया है और उस पुरुष व्यत्यय के द्वारा प्रहास अभिव्यक्त होता है और उसके द्वारा शान्त रस का उत्कर्ष व्यक्त होता है।

ये क्ष्माशक्र पुनः पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमा—
स्ते स्युर्नैव भवादृशास्त्रिजगति द्वित्राः पवित्राः परम् ॥१०४॥

अत्र पराक्रमस्य प्राधान्यमवगम्यते ।

विभक्ति-विशेषस्य यथा—

प्रधनाध्वनि धीरधनुर्ध्वनिभृति
विधुरैरयोधि तव दिवसम् ।
दिवसेन तु नरप भवानयुद्ध
विधिसिद्ध साधुवादपदम् ॥१०५॥

अत्र दिवसेनेत्यपवर्गतृतीया फलप्राप्तिं द्योतयति ।

पूर्वनिपात की व्यंजकता का उदाहरण, जैसे—

अनुवाद—हे राजन् (पृथ्वीन्द्र) ! जिन राजाओं के पास केवल बाहुबल है (नीति बल नहीं है) वे दुर्बल माने जाते हैं और जो केवल नीति मार्ग (नीति रीति) का आश्रय लेते हैं, ऐसे राजाओं से भी क्या लाभ ? किन्तु हे पृथ्वी के इन्द्र (पृथ्वीन्द्र) ! जो पराक्रम और नीति दोनों को स्वीकार कर सुन्दर (कान्त) आचरण करने वाले हैं, ऐसे राजा नहीं हैं और इस संसार में आप के समान पवित्र राजा दो-तीन से अधिक नहीं हैं ॥१०४॥

यहाँ पूर्वनिपात से पराक्रम की प्रधानता ध्वनित होती है ।

विमर्श—यह श्लोक पूर्वनिपात द्वारा भाव-व्यंजना का उदाहरण है । यहाँ पर 'पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमाः' इस समस्त पद में 'पराक्रम-नय' पदों में 'अल्पाच्तरम्' इस सूत्र से 'नय' पद का पूर्वनिपात होकर 'नयपराक्रम' होना चाहिए था, किन्तु 'अभ्यर्हितञ्च' इस वार्तिक से पराक्रम को अभ्यर्हित (श्रेष्ठ) मानकर उसका पूर्वनिपात किया गया है । इससे 'पराक्रम' पद की प्रधानता द्योतित होती है और पराक्रम की प्रधानता से नीति का स्वीकार करना राजा का उत्कर्ष द्योतित करता है और राजविषयक रतिभाव को पुष्ट करता है । इस प्रकार यहाँ राजविषयक रतिभाव व्यंग्य है।

विभक्ति-विशेष की व्यंजकता का उदाहरण, जैसे—

अनुवाद— हे नृप ! धीर (वीर) पुरुषों के धनुष की टङ्कार ध्वनि से युक्त युद्ध मार्ग (समरमार्ग) में तुम्हारे शत्रुओं ने दिन भर युद्ध किया (फिर भी विजय नहीं मिली); किन्तु ब्रह्मा और सिद्धों के साधुवाद (आशीर्वाद) के पात्र आपने एक दिन में ही युद्ध समाप्त कर दिया ॥१०५॥

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्
गाढोत्कण्ठालुलितलुलितैरंगकैस्ताम्यतीति ।।१०६।।

अत्र अनुकम्पावृत्तेः क-रूपतद्धितस्य।

यहाँ पर 'दिवसेन' इस पद में 'अपवर्ग' (फलप्राप्ति अर्थ) में तृतीया विभक्ति फलप्राप्ति को द्योतित करती है।

विमर्श—यह विभक्तिविशेष द्वारा भाव-व्यंजना का उदाहरण है। यहाँ पर पूर्वार्द्ध में 'दिवसम् अयोधि' और उत्तरार्द्ध में 'दिवसेन अयुद्ध' प्रयोग किया गया है। 'दिवसम्' में 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इस सूत्र से अत्यन्त संयोग में द्वितीया विभक्ति हुई है। जिससे यह द्योतित होता है कि सारे दिन युद्ध में लगा रहा किन्तु सफलता न मिली। किन्तु 'दिवसेन' में 'अपवर्गे तृतीया' इस सूत्र से अपवर्ग (फलप्राप्ति) अर्थ में तृतीया विभक्ति हुई है इससे युद्ध रूप क्रिया का फल विजय-प्राप्ति रूप अर्थ अभिव्यक्त होता है और इसके द्वारा राजा विषयक रतिभाव द्योतित होता है। अतः यहाँ भाव-ध्वनि व्यंग्य है।

तद्धितप्रत्यय की व्यंजकता का उदाहरण—

अनुवाद—अपने भवन के छज्जे के ऊँची खिड़की में स्थित मालती बार-बार समीप की नगर वीथी (राजमार्ग) से घूमते हुए माधव को रति नवीन देह धारण किये हुए साक्षात् कामदेव को बार-बार देख-देखकर गाढ़ उत्कण्ठा से अत्यन्त खिन्न अर्थात् मलिन एवं दयनीय अङ्गों से अत्यन्त क्षीण होती जा रही है ।।१०६।।

यहाँ पर अनुकम्पार्थक (अनुकम्पा-द्योतक) 'क'-रूप तद्धित प्रत्यय विप्रलम्भश्रृंगार का व्यञ्जक है।

विमर्श—यह क-रूप तद्धित प्रत्यय की रस व्यंजकता का उदाहरण है। यह श्लोक मालतीमाधव नाटक से उद्धृत है। इस श्लोक के अन्त में 'अङ्गकैः' पद में 'अनुकम्पायाम्' इस सूत्र से अनुकम्पा अर्थ में 'क' तद्धित प्रत्यय है। यहाँ पर 'क' रूप तद्धित प्रत्यय से अनुकम्पातिशय द्योतित होता है, मालती के अङ्गों की सुकुमारता द्योतित होती है और उससे दुःख की असहिष्णुता की अभिव्यक्ति के द्वारा विप्रलम्भश्रृंगार का उत्कर्ष अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार यहाँ विप्रलम्भश्रृंगार व्यंग्य है।

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान्।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥१०७॥

अत्र प्र-शब्दस्योपसर्गस्य।

कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया
किमन्यदेवं निहताश्च नो द्विषः।
तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्
न यावदायात्युदयाद्रिमौलिताम् ॥१०८॥

उपसर्ग की व्यंजकता का उदाहरण—

अनुवाद—(माधव अपने मित्र मकरन्द से कह रहा है कि हे मित्र मकरन्द!) कोई अद्भुत विकार (कामजभाव) जो इयत्ता अर्थात् इतना ही है, इस परिमाण से रहित है तथा समस्त (वाचिक, लाक्षणिक और व्यंजक) वचनों से अगोचर है (अर्थात् जिसे वाणी से नहीं कहा जा सकता) और जो इस जन्म में कभी भी अनुभव में नहीं आया (अनुभव-शून्य) तथा विवेक का नाश हो जाने से जिसमें अज्ञानान्धकार बढ़ गया है, इस प्रकार का कोई अनिर्वचनीय कामज विकार मेरे अन्तःकरण को जड़ (विवेक शून्य) बना रहा है और विरह-सन्ताप उत्पन्न कर रहा है ॥१०७॥

यहाँ पर प्रध्वंस पद में 'प्र' उपसर्ग विप्रलम्भश्रृंगार का व्यंजक है।

विमर्श—यह 'प्र' उपसर्ग के द्वारा विप्रलम्भश्रृंगार रस की व्यंजकता का उदाहरण है। यहाँ पर 'प्रध्वंसात्' पद में 'प्र' उपसर्ग प्रकृति (प्रध्वंस) का एकादेश होने से विवेक का समूल उन्मूलन (विनाश) रूप ध्वंस का उत्कर्ष (ध्वंस प्रकर्ष) द्योतित होता है। उसके द्वारा मोह का प्रकर्ष और उसके द्वारा रागातिशय तथा रागातिशय के द्वारा माधव के विप्रलम्भ श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार यहाँ विप्रलम्भश्रृंगार रस का उत्कर्ष व्यंग्य है।

निपात की व्यंजकता का उदाहरण—

अनुवाद—हे राजन्! आपने गर्व की ओर मन किया और हमारे शत्रु मारे गये। ऐसा होने पर और क्या? (अर्थात् शस्त्रादि ग्रहण निष्फल हैं) क्योंकि अन्धकार तभी तक रहता है जब तक सूर्य उदयाचल के शिखर पर नहीं आता ॥१०८॥

अत्र तुल्ययोगिता द्योतकस्य 'च' इति निपातस्य।

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धि परा—
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि त्वं देवो न जानाति तम्।
बन्दीवैष यशांसि गायति मरुद् यस्यैकबाणाहति—
श्रेणीभूतविशालतालविवरोगीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥१०९॥

अत्रावसाविति भुवनेष्विति गुणैरिति सर्वनाम-प्रातिपदिकवचनानां न त्वदिति न मदिति अपितु अस्मदित्यस्य सर्वाक्षेपिणः भाग्यविपर्ययादित्यन्यथासंपत्तिमुखेन न त्वभावमुखेनाभिधानस्य।

यहाँ पर तुल्ययोगिता अलङ्कार के द्योतक 'च' इस निपात की वीररस की व्यञ्जकता है।

विमर्श—यह निपात के द्वारा वीररस की व्यंजकता का उदाहरण है। यहाँ पर 'कृते च' 'निहताश्च' इन चकारद्वय के द्वारा मनोगर्वाभिमुखीकरण और अरिहनन की एककालता रूप समुच्चय द्योतित होता है। अर्थात् 'च' इस निपात के द्वारा मनोगर्वाभिमुखी और शत्रुहनन दोनों का तुल्यकालता रूप समुच्चयालंकार द्योतित होता है और उसके द्वारा (समुच्चय अलंकार के द्वारा) वीररस का उत्कर्ष (प्रकर्ष) ध्वनित होता है। इस प्रकार यहाँ पर वीररस का प्रकर्ष व्यंग्य है।

अनेक प्रत्ययांशों से वीररसव्यंकता का उदाहरण—

अनुवाद—वह राम अपने पराक्रम के गुणों से चतुर्दश भुवनों में परम प्रसिद्धि को प्राप्त हो चुके हैं, और जिसके एक बाण के प्रहार से उत्पन्न पंक्तिबद्ध विशाल सात ताल वृक्षों के सात छिद्रों से निकले हुए (उद्भूत) सात स्वरों से वायु बन्दीगण (भाट, चारण) के समान जिसके (राम के) यश का गान करता है, आप (देव) उनको नहीं जानते हो, तो हमारे भाग्य के विपर्यय (विपरीतता) के कारण (न कि अन्य कारणों से) ॥१०९॥

अनुवाद—यहाँ पर 'असौ' में सर्वनाम की, 'भुवनेषु' इस पद में प्रातिपदिक की और 'गुणैः' इस पद में बहुवचन की (व्यञ्जकता) है। इसी प्रकार (अस्माद्भाग्यविपर्ययात् में 'त्वत्' और 'यत्' पद न कहकर 'अस्मत् पद के प्रयोग से) न तुम्हारे, न मेरे अपितु सबका (समस्त राक्षस कुल का) 'सूचक 'अस्मद्' पद का और 'भाग्यविपर्ययात्' इस पद से सम्पत्ति के अन्यथाभाव (दुर्भाग्य) रूप से न कि अभाव रूप से अभिधान (कथन) की (व्यञ्जकता है)।

तरुणिमनि कलयति कलामनुमदनधनुर्भ्रुवोः पठत्यग्रे ।
अधिवसति सकलललनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना ॥११०॥

अत्र इमनिज्-अव्ययीभाव-कर्मभूताधाराणां स्वरूपस्य। तरुणत्वे इति धनुषः समीपे इति मौलौ वसतीति त्वदिभिस्तुल्ये एषां वाचकत्वे अस्ति कश्चित् स्वरूपस्य विशेषो यश्चमत्कारकारी स एव व्यञ्जकत्वं प्राप्नोति।

विमर्श—यहाँ पर सर्वनाम, प्रातिपदिक, वचन, अस्मद् शब्द तथा भाग्य-विपर्यय आदि अनेक प्रकार के व्यञ्जक हैं और इनके द्वारा अनेक प्रकार के अर्थ ध्वनित होते हैं और ये सभी ध्वनित अर्थ वीररस के व्यञ्जक हैं। अतः यहाँ अनेक व्यञ्जकों द्वारा वीररस व्यङ्ग्य है।

अनेक प्रत्ययांशों से शृंगार-व्यंजकता का उदाहरण—

अनुवाद—नव यौवन के उदय होने पर नायिका की भौंहें (शिष्यरूप में) गुरुरूप कामदेव के धनुष के समीप कटाक्ष-कला की शिक्षा लेने पर चकित) हरिण के समान नेत्र वाली नायिका समस्त ललनाओं के ऊपर (शिर पर) अधिष्ठित है अर्थात् संसार की समस्त सुन्दरियों में मुकुटमणि के समान श्रेष्ठ है ॥११०॥

अनुवाद--यहाँ पर इमनिच् प्रत्यय, अव्ययीभाव समास और कर्म-भूत आधार इन (तीनों) के स्वरूप की (शृङ्गार-व्यञ्जकता है) यहाँ पर (तरुणिमनि के स्थान पर) 'तरुणत्वे' इस (प्रयोग में) (अनुमदनधनुः के स्थान पर) 'धनुषः समीपे' इस (प्रयोग में) और (मौलिमधिवसति के स्थान पर) 'मौलौ अधिवसति' इस (प्रयोग में) 'त्व' आदि के समान ही वाचकता है, फिर भी इमनिच् आदि के प्रयोग में स्वरूप की कुछ विशेषता है, जो अधिक चमत्कारजनक है, वही (स्वरूप की विशेषता ही) व्यञ्जकत्व को प्राप्त होता है।

विमर्श—यद्यपि 'तरुणत्वे' के 'त्व' और 'तरुणिमनि' के 'इमनिच्' प्रत्यय के वाच्यार्थ के एक होने पर भी 'इमनिच्' प्रत्यय के प्रयोग द्वारा सहृदयों के हृदय में एक विशेष माधुर्य का अनुभव होता है जिससे नायिका के यौवन (तारुण्य) में सुकुमारता की अभिव्यक्ति होती है। 'तरुणत्व' का प्रयोग होने पर तो 'त्व' प्रत्यय की प्रौढ़ता के कारण नायिका के यौवन (तारुण्य) में कठोरता की अभिव्यक्ति होने लगती है। इस प्रकार सुकुमारताधिक्य के बोधन के लिए इमनिच् प्रत्ययान्त शब्द का प्रयोग किया गया है।

एवमन्येषामपि बोद्धव्यम् ।

वर्णरचनानां व्यंजकत्वं गुणस्वरूपनिरूपणे उदाहरिष्यते ।

अपिशब्दात् प्रबन्धेषु नाटकादिषु ।

एवं रसादीनां पूर्वगणितभेदाभ्यां सह षड्भेदाः ।

(सू० ६२) भेदास्तदेकपञ्चाशत् ।

व्याख्याताः

इसी प्रकार 'अनुमदनधनुः' इस पूर्वपदार्थ प्रधान अव्ययीभाव समास में उत्तर-पद (मदनधनुष्) की अप्रधानता के कारण 'भ्रूलता' के वशीकरणसामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार 'मौलिमधिवसति' इस कर्मविभक्ति के प्रयोग से समस्त ललनाओं में व्यापकता की प्रतीति द्वारा नायिका के सौन्दर्यातिशय की अभिव्यक्ति होती है। 'मौलौ' इस प्रकार सप्तम्यन्त का प्रयोग करने पर एकदेश में आधारता का सम्भव होने से भी 'सकल ललनाओं की मौलिभूत' इस प्रकार की व्याप्ति नहीं हो सकती। इसलिए यह उनकी व्यञ्जकता है।

अनुवाद--इसी प्रकार अन्यों (पदैकदेश आदि) की भी व्यंजकता समझ लेनी चाहिए।

वर्ण तथा रचना आदि की व्यंजकता के उदाहरण गुण-स्वरूप निरूपण के अवसर पर देंगे। 'अपि' शब्द के प्रयोग से नाटक आदि प्रबन्धों में भी (रसादि-व्यंजकता समझनी चाहिए)।

इस प्रकार रसादिध्वनि के पहिले गिनाये गये (पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य) भेदों के साथ छः भेद होते हैं।

(सू० ६२) अनुवाद—इस प्रकार ध्वनि के इक्यावन भेद होते हैं। इन भेदों की व्याख्या की जा चुकी है।

विमर्श—ध्वनिकाव्य के मुख्यतः ५१ भेद होते हैं। प्रथम ध्वनि काव्य के दो भेद होते हैं—(१) अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलकध्वनि) और (२) विवक्षितान्यपर-वाच्यध्वनि (अभिधामूलाध्वनि)। इनमें अविवक्षितवाच्यध्वनि के भी दो भेद होते हैं—(१) अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। विवक्षितान्य-परवाच्य ध्वनि के भी दो भेद होते हैं—(१) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और (२) संलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य। इनमें असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के एक ही भेद माना गया है और संलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य के पहिले तीन भेद किये गये हैं—(१) शब्दशक्त्युद्भव (२) अर्थ-शक्त्युद्भव (३) उभयशक्त्युद्भव। इनमें शब्दशक्त्युद्भवध्वनि के दो भेद होते हैं—वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि। अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के स्वतः सम्भवी ४ भेद,

(सू० ६३)...... तेषां चान्योन्ययोजने ॥४३॥

संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया।

न केवलं शुद्धा एवैकपंचाशद्भेदा भवन्ति, यावत्तेषां स्वप्रभेदै-रेकपंचाशतां संशयास्पदत्वेन, अनुग्राह्यानुग्राहकतया, एकव्यंजकानुप्रवेशेन चेति त्रिविधेन सङ्करेण, परस्परनिरपेक्षरूपया एकप्रकारया संसृष्ट्या चेति चतुर्भिर्गुणने—

(सू० ६४) वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः (१०४०४)

शुद्धभेदैः सह—

कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध ४ भेद और कविनिबद्धवक्तृ प्रौढ़ोक्तिसिद्धध्वनि के ४ भेद इस प्रकार कुल १२ भेद होते हैं। उभयशक्त्युद्भवध्वनि के एक भेद होता है। इस प्रकार कुल २+१२+१=१५ भेद हुए। इनमें पहिले का तीन भेद मिला देने से १८ भेद हो जाते हैं। इनमें उभयशक्त्युद्भव केवल वाक्य में होता है और शेष १७ भेद पदगत और वाक्यगत दो प्रकार के होने से १७×२=३४ और उभयशक्त्युद्भव के एक भेद मिला देने से ३४+१=३५ भेद हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के १२ भेद प्रबन्धगत भी होते हैं। इस प्रकार मिला देने पर ३५+१२=४७ भेद होते हैं। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (१) पदगत (२) वाक्यगत (३) पदांश (४) वर्ण (५) रचना तथा (६) प्रबन्ध में भी होता है। इनमें पदगत और वाक्यगत इन दोनों भेदों की गणना पहिले की जा चुकी है। शेष चार भेदों के मिला देने पर ध्वनि के ४७+४=५१ भेद होते हैं।

संसृष्टि और संकर से ध्वनिभेद

अनुवाद—(सू० ६३) उन (५१ भेदों) को एक दूसरे के साथ मिला देने से तीन प्रकार के सङ्कर तथा एक प्रकार की संसृष्टि से (और भी भेद हो सकते हैं।**

अनुवाद—ध्वनिकाव्य के उपर्युक्त केवल शुद्ध ५१ भेद ही नहीं होते अपितु उनके ५१ अपने भेदों के साथ (१) संशयास्पद (सन्देहात्मक) होने से (सन्देह सङ्कर) (२) अनुग्राह्य-अनुग्राहकरूप से (अङ्गाङ्गिभावसङ्कर) और (३) एक व्यंजक में अनुप्रवेश होने (एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर) इन तीन प्रकार के सङ्कर तथा परस्पर निरपेक्ष रूप से रहने वाले एक प्रकार की संसृष्टि इस प्रकार चार से गुणा करने पर—

अनुवाद—(सू० ६४) वेद (४) ख (०) अब्धि (४) वियत (०) चन्द्र (१) अर्थात् १०४०४ भेद होते हैं।

(सू० ६५) शरेषुयुगखेन्दवः (१०४५५) ।।४४।।

तत्र दिङ्मात्रमुदाह्रियते ।

खणपाहुणिआ देअर जाआए सुहअ किंपि दे भणिआ ।
रुअइ पड़ोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जऊ वराई ।।१११।।

**[क्षणप्राघुणिका देवर जायया सुभग किमपि ते भणिता ।
रोदिति गृहपश्चाद्भागवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी ।।१११।।]**

(इति संस्कृतम्)

अत्रानुनयः किमुपभोगलक्षणेऽर्थान्तरे सङ्क्रमितः किमनुरणनन्यायेनोपभोगे एव व्यंग्ये व्यंजक इति सन्देहः ।

अनुवाद -(सू० ६५)- शुद्ध ५१ भेदों के साथ मिलकर शर (५) इषु (५) गुण (४) ख (०) और इन्दु (१) अर्थात् (१०४०४ + ५१ = १०४५५) १०४५५ भेद होते हैं ।।४४।।

विमर्श—ध्वनि काव्य के उपर्युक्त ५१ भेदों में प्रत्येक के ५१ भेद होते हैं। इस प्रकार ध्वनि के ५१ × ५१ = २६०१ भेद हो जाते हैं । इनमें प्रत्येक के चार-चार भेद होते हैं । सङ्कर के तीन भेद ।. (१) सन्देहसङ्कर (२) अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर और (३) एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर तथा एक प्रकार की संसृष्टि इन चार भेदों के गुणन से २६०१ × ४ = १०४०४ भेद होते हैं । इनमें ५१ शुद्ध भेदों के जोड़ देने पर ध्वनि के कुल १०४५५ भेद होते हैं ।

अनुवाद—उनमें केवल दिङ्मात्र का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद-हे सौभाग्यशाली देवर ! तुम्हारी पत्नी ने उत्सव के अवसर पर आयी हुई अतिथिरूप उस स्त्री को कुछ कह दिया है और वह एकान्त घर के पिछवाड़े में स्थित छज्जे पर बैठी रो रही है । उस विचारी को मना लो ।।१११।।**

अनुवाद—यहाँ पर अनुनय शब्द क्या उपभोगरूप अर्थान्तर में सङ्क्रमित है ? अथवा अनुरणन अर्थात् संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य की रीति से उपभोग रूप व्यङ्ग्य में व्यंजक है, यह सन्देह अर्थात् सन्देहालङ्कार है ।

विमर्श—यहाँ पर देवर को 'अनुनय' के लिए कहा गया है । यहाँ अनुनय' शब्द का अर्थ मनाना है । यहाँ पर घर के पिछवाड़े छज्जे पर बैठी रोती हुई उपनायिका को मनाने के लिए प्रयुक्त अनुनय शब्द अपने अर्थ में अनुपपन्न होकर अपने

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥११२॥

अत्र लिप्तेति पयोदसुहृदामिति च अत्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोः संसृष्टिः। ताभ्यां सह रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्यानुग्राह्यानुग्राहकभावेन, रामपदलक्षणैकव्यंजकानुप्रवेशेन चार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यरसध्वन्योः संकरः।

एवमन्यदुदाहार्यम्।

इति काव्यप्रकाशे ध्वनिनिर्णयो नाम चतुर्थोल्लासः ॥४॥

अर्थ से भिन्न मिलन रूप अर्थ को लक्षणा के द्वारा बोध कराता है। अथवा अनुनय शब्द का अर्थ रोदन-निवारण है। अर्थात् रोना-धोना बन्द करने के लिए अनुनय करो। किन्तु इसके द्वारा 'उपभोग व्यङ्ग्य है' यह सन्देह होता है। वस्तुतः यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ के सन्देह से अविवक्षितवाच्यध्वनिरूप अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्यध्वनि और विवक्षितान्यपरवाच्यसंलक्ष्यक्रमध्वनि इन दोनों ध्वनियों में सन्देह होने से एक अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो रहा है। अतः दोनों ध्वनियों में सन्देह होने से ध्वनि-साङ्कर्य है।

अनुवाद – स्निग्ध एवं श्यामल कान्ति से आकाश को व्याप्त (लिप्त) करने वाले तथा विलास (क्रीड़ा) करती हुई वकपंक्तियों से शोभित मेघ (भले ही उमड़े रहें)। शीकर छोटे-छोटे जलकणों से युक्त पवन (भले ही चले), मेघों के मित्र मयूरों की आनन्दभरी मधुर केका-ध्वनि (मयूर-वाणी) भले ही हों, मैं तो कठोर हृदय वाला राम हूं, सब कुछ सह लूँगा। किन्तु हाय सीता कैसे रहेगी ? हे देवि ! धैर्य धारण करो ॥११२॥

अनुवाद – यहाँ पर 'लिप्त' और 'पयोदसुहृदाम्' दोनों में ही अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यों की संसृष्टि है। इन दोनों अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनियों के साथ 'रामोऽस्मि' इस अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्य का अनुग्राह्य-अनुग्राहक (अङ्गाङ्गिभाव) भाव से तथा 'राम' पदरूप (लक्षण) एकव्यंजका-नुप्रवेश होने से अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्यध्वनि तथा रसध्वनि का एका-श्रयानुप्रवेशरूप संकर है।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझने चाहिए।

विमर्श—'लिप्त' शब्द का वाचक अर्थ 'लीपना' (लेप करना) होता है, किन्तु कान्ति के द्वारा आकाश का लीपना (लेपन) असम्भव है, अतः 'लिप्त' पद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य होकर 'व्याप्त' अर्थ को द्योतित करता है। इसी प्रकार अचेतन मेघ में चेतनधर्म 'सौहार्द्र' सम्भव न होने से अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य रूप से 'सुहृद्' शब्द उपकारिता को लक्षित करता है। यह उपकारातिशय का व्यञ्जना द्वारा बोध होता है। यहाँ पर 'लिप्त' और 'सुहृद्' दोनों का वाच्य अत्यन्त तिरस्कृत है। अतः अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यवाच्यरूप ध्वनि (व्यङ्ग्य) के दो स्थानों पर परस्पर निरपेक्ष रूप से स्थित होने से दोनों ध्वनियों की संसृष्टि है।

'रामोऽस्मि' में 'राम' पद अत्यन्त दुःखासहिष्णुत्वरूप अर्थान्तर में सङ्क्रमित है। 'राम' शब्द का लक्ष्यार्थ 'सकलदुःखपात्र राम' है और इसके द्वारा स्वावधीरण रूप व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित होता है। यहाँ स्वावधीरण (आत्मनिन्दन) व्यङ्ग्यार्थ का 'लिप्त' और 'सुहृद्' शब्दों की ध्वनियों के साथ अनुग्राह्य-अनुग्राहक-भाव सम्बन्ध है। 'लिप्त' और 'सुहृद्' पदों की अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनियाँ अनुग्राहक हैं और स्वावधीरणरूप व्यङ्ग्यार्थ (ध्वनि) अनुग्राह्य है। इस प्रकार उन दोनों ध्वनियों के साथ 'राम' पद की ध्वनि (अर्थान्तरसङ्क्रमितध्वनि) का अङ्गाङ्गिभाव (अनुग्राह्य-अनुग्राहकभाव) सङ्कर है।

यहाँ पर 'राम' पद के द्वारा स्वावधीरण रूप व्यंग्य के समान विप्रलम्भ-शृङ्गार रस भी व्यंग्य है और यह रसध्वनि है। इस प्रकार 'रामोऽस्मि' में 'राम' पदरूप व्यञ्जक में स्वावधीरण और विप्रलम्भशृंगार ये दो व्यंग्य हैं और इन दोनों में (स्वावधीरण और विप्रलम्भ शृंगाररस में) 'राम' पद रूप एकव्यञ्जकानुप्रवेशरूप सङ्कर है। इस प्रकार स्वावधीरण में अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्यध्वनि का विप्रलम्भ में रसध्वनि के साथ एकाश्रयानुप्रवेशरूप सङ्कर है।

इस प्रकार इन दोनों श्लोकों में तीन प्रकार के सङ्कर और एक प्रकार की संसृष्टि इन चार भेदों के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

इसप्रकार डा० पारसनाथद्विवेदिकृत काव्यप्रकाश की हिन्दी-व्याख्या में ध्वनि-निर्णय नामक चतुर्थ उल्लास समाप्त हुआ ॥४॥

अथ पचम उल्लासः

एवं ध्वनौ निर्णीते गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदानाह—

(सू० ६६) अगूढ़मपरस्याङ्गं वाच्यसिध्द्यङ्गमस्फुटम्।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥४५॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः।

कामिनीकुचकलशवद् गूढ़ं चमत्करोति, अगूढ़ं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव।

पञ्चम उल्लास

गुणीभूतव्यंग्यकाव्य

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में काव्य के तीन भेद बतलाये हैं—

(१) ध्वनिकाव्य (उत्तमकाव्य)
(२) गुणीभूतव्यंग्यकाव्यं (मध्यमकाव्य)
(३) चित्रकाव्य (अवदकाव्य)।

इनमें जहाँ पर वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारजनक होता है, उसे 'ध्वनिकाव्य' कहते हैं और जहाँ पर व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान (गौण) होता है तथा वाच्यार्थ अधिक चमत्कारजनक होता है, उसे गुणीभूतव्यंग्य (मध्यमकाव्य) कहते हैं। गुणीभूतव्यंग्यकाव्य में व्यंग्य-सौन्दर्य की अपेक्षा वाच्य-सौन्दर्य अधिक प्रबल होता है। मम्मट ने गुणीभूतव्यंग्यकाव्य को मध्यमकाव्य के रूप में निरूपित किया है। अब गुणीभूतव्यंग्य के भेदों का निरूपण करते हैं। गुणीभूतव्यंग्य के आठ भेद होते हैं—

अनुवाद इस प्रकार चतुर्थ उल्लास में ध्वनिकाव्य का निरूपण करने के पश्चात् अब गुणीभूतव्यंग्य के भेदों का निरूपण करते हैं—

अगूढ़ यथा—

> यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्य तप्त-
> सूचीव्यधव्यतिकरेण युनक्ति कर्णौ ।
> काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेष सोऽस्मि
> जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि ॥११३॥

अत्र 'जीवन्' इत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य ।

अनुवाद—(सू० ६६)—(१) अगूढ़ (२) अपराङ्ग (३) वाच्यसिद्ध्यंग (४) अस्फुट (५) सन्दिग्धप्राधान्य (६) तुल्यप्राधान्य (७) काक्वाक्षिप्त (८) असुन्दर इस प्रकार गुणीभूतव्यंग्य के आठ भेद बताये गये हैं।

अनुवाद—(वृत्ति) कामिनी के कुचकलश के समान गूढ़ व्यङ्ग्य चमत्कारजनक होता है। अगूढ़ व्यङ्ग्य तो अत्यन्त स्पष्ट होने से वाच्यार्थ के समान प्रतीत होने के कारण गुणीभूत (अप्रधान) हो जाता है।

विमर्श—मम्मट ने 'कामिनीकुचकलशन्याय' से गुणीभूतव्यंग्य का निरूपण किया है। गुणीभूतव्यंग्य ध्वनिकाव्य नहीं होता है क्योंकि कामिनीकुचकलशन्याय से व्यंग्य सहृदयैकसंवेद्य होता है और सहृदय से भिन्न असहृदय के द्वारा वेद्य तथा सहृदयों के द्वारा कष्ट से संवेद्य व्यंग्य गुणीभूतव्यंग्य कहलाता है। जैसाकि कहा गया है—

> नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो
> नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः ।
> अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्
> सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः ॥

अर्थात् व्यंग्य न तो आन्ध्र देश की नारियों के कुचकलश के समान अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रकाशित अगूढ़ रूप में शोभित होता है और न तो गुजरात की नारियों के स्तन के समान अत्यन्त अप्रकाशित गूढ़ रूप में शोभित होता है, बल्कि महाराष्ट्र देश की नारियों के कुच के समान कुछ गूढ़ और कुछ अगूढ़ (सहृदयसंवेद्य) शोभित होता है। इसलिए आचार्य मम्मट ने महाराष्ट्र की कामिनी के कुचकलश के समान गूढ़ व्यंग्य चमत्कारजनक होता है और अगूढ़ व्यंग्य तो स्पष्ट रूप से वाच्यार्थ के समान प्रतीत होने के कारण गुणीभूत हो जाता है।

इसके बाद अगूढ़गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण देते हैं। जैसे—

अनुवाद—जिस मेरे शत्रुओं द्वारा की जाने वाली तिरस्कृति (तिरस्कार, अनादर) (कानों में) आकर तपाये हुए सुई (शलाका) से बिंधे

उन्निद्रकोकनदरेणुपिशाङ्गिताङ्गा
गायन्ति मञ्जु मधुपाः गृहदीर्घिकासु ।
एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव
पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बि बिम्बम् ॥११४॥

अत्र चुम्बनस्यात्यन्ततिरस्कृत वाच्यस्य ।

हुए के समान मेरे कानों को विद्ध करते थे वही मैं आज करधनी गूंथने का कार्य कर रहा हूँ । इस समय तो मैं जीवित होते हुए भी मरे हुए के समान हूँ, मैं क्या करूँ ? ॥११३॥

यहाँ पर 'जीवन्' यह पद अर्थान्तर में सङ्क्रमितवाच्य का उदाहरण है ।

विशेष—यह अर्थान्तरसंङ्क्रमितवाच्य अगूढ़ व्यंग्य का उदाहरण है । बृहन्नला के रूप में अर्जुन की यह उक्ति है । यहाँ पर 'जीवन्' शब्द का जीवनाभाव रूप अर्थ बोधन में बाध होने से श्लाघ्य-जीवन रूप अर्थान्तर में सङ्क्रमित हो जाता है । यहाँ श्लाघ्य-जीवन का अभाव रूप अर्थ अर्थात् 'मर जाना ही श्रेयस्कर है' यह व्यंग्य है । यह अर्थ असहृदय को भी वाच्य के समान सरलता से बोध होता है अतः यहाँ गुणीभूतव्यंग्य है । अथवा 'अनुतापातिशय' व्यंग्य है, क्योंकि वह वाच्यार्थ के समान स्फुट प्रतीत हो रहा है । अतः यह अगूढ़ गुणीभूत व्यंग्य है ।

अगूढ़व्यंग्य का द्वितीय उदाहरण

अनुवाद—**विकसित लाल कमल के पराग से पीले अंग वाले भौंरे घर की बावड़ियों (गृहवापियों) में मधुर गुञ्जार कर रहे हैं और नवीन बन्धुजीव (गुड़हल का फूल) नामक पुष्प के समान रक्तवर्ण उदयाचल का का स्पर्श करने वाला सूर्य का बिम्ब शोभित हो रहा है ॥११४॥**

यहाँ पर अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य 'चुम्बन' का (व्यङ्ग्य अगूढ़ है) ।

विमर्श—यह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य अगूढ़व्यंग्य का उदाहरण है । यहाँ पर 'चुम्बन' (मुख चूमना) रूप अर्थ अचेतन रतिबिम्ब में सर्वथा बाधित होकर संयोगमात्र को लक्षित कर करता है और अत्यन्त तिरस्कृत होकर प्रातःकाल के आरम्भ का द्योतक है । अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य 'चुम्बन' का प्रातःकाल का आरम्भरूप व्यंग्य अगूढ़ है अतः अगूढ़ गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण है ।

अत्रासीत् फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवेद्देवरे
गाढं वक्षसि ताड़िते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः।
दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः
केनाप्यत्र मृगाक्षि राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥११५॥

अत्र 'केनाप्यत्र' इत्यर्थशक्तिमूलानुरणनरूपस्य। 'तस्याप्यत्र' इति युक्तः पाठः।

अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा वाक्यार्थीभूतस्याङ्गं रसादि अनुरणनरूपं वा।

तृतीय उदाहरण —

अनुवाद—(हे सीते !) यहाँ पर नागपाश से (मुझे तथा लक्ष्मण को) बांधा गया था। यहाँ पर शक्ति के द्वारा तुम्हारे देवर (लक्ष्मण) के वक्षः-स्थल में घोर आघात होने पर हनुमान् जी द्रोणाचल को लाये थे। यहाँ पर लक्ष्मण के दिव्य बाणों के द्वारा मेघनाद को परलोक में पहुँचा दिया गया था और हे मृगाक्षि ! यहाँ पर किसी ने रावण के कण्ठ-वन (कण्ठरूपी वन) को काटा था ॥११५॥

यहाँ पर 'केनापि' (किसी ने) इस अर्थशक्तिमूलक (अनुरणनरूप) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का (अगूढ़ होने से गुणीभाव है)। यहाँ पर 'तस्याप्यत्र' (उसका भी यहाँ) यह पाठ उचित था।

विमर्श—यह अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम अगूढ़ व्यंग्य का उदाहरण है। यह श्लोक राजशेखरकृत बालरामायण से उद्धृत है। यहाँ पर 'केनापि' इस पद के द्वारा 'मया' (मेरे द्वारा) यह अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यंग्य द्योतित हो रहा है और वह वाच्यार्थ के समान स्पष्ट रूप से प्रकट है (अगूढ़ है), अतः यहाँ अगूण गुणीभूत व्यंग्य है।

यहाँ पर 'केनाप्यत्र' के स्थान पर यदि 'तस्याप्यत्र' यह पाठ रख दिया जाता तो सर्वथा उपयुक्त होता। किन्तु इस प्रकार का पाठ होने पर 'तस्य' पद के द्वारा पराक्रमी रावण का बोध होगा और उसका भी संहार करने वाले राम के पराक्रमोत्कर्ष की गूढ़ रूप से अभिव्यक्ति होगी तब यहाँ व्यंग्यार्थ की गूढ़ता होने से ध्वनि-काव्य होगा।

अपराङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्य—

अनुवाद—अन्य (अपर) रसादि का अथवा वाक्य के तात्पर्य विषयीभूत वाच्य का अंग रस-भावादि (असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य) अथवा वस्तु एवं अलङ्काररूप संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ही अपरांगगुणीभूतव्यंग्य है।

विमर्श—जहाँ पर रस-भावादिरूप असंलक्ष्यक्रम अथवा वस्तु-अलंकाररूप संलक्ष्यक्रम व्यंग्य वाक्य के तात्पर्यविषयीभूत अन्य रसादि (रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि) रूप असंलक्ष्यक्रम अथवा वस्तु-अलंकार रूप संलक्ष्यक्रम व्यंग्यार्थ का अङ्ग अथवा उपकारक होता हैं, उसे अपराङ्गगुणीभूतव्यंग्य कहते हैं। अपराङ्गगुणीव्यंग्य के आठ भेद होते हैं। क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं —

यथा —

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥११६॥

अत्र शृङ्गारः करुणस्याङ्गम् ।

कैलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्त्तितालक्तक—
व्यक्तिः पादनखद्युतिर्गिरिभुवः सा वः सदा त्रायताम् ।
स्पर्द्धाबन्धसमृद्धयेव सुदृढं रूढा यया नेत्रयोः
कान्तिः कोकनदानुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते ॥११७॥

अत्र भावस्य रसः ।

प्रथम उदाहरण —

अनुवाद—यह वही करधनी को खींचने वाला, पीन स्तनों का मर्दन करने वाला, नाभि, ऊरु और जंघाओं का स्पर्श करने वाला तथा नीवी को खोलने वाला हाथ है ॥११६॥

यहाँ पर शृंगार करुण का अंग है ।

विमर्श—यह श्लोक महाभारत के स्त्रीपर्व के २४ वें अध्याय से लिया गया है । यहाँ पर युद्धभूमि में कटकर गिरे हुए भूरिश्रवा के हाथ को देखकर उसकी पत्नी विलाप कर रही है । इसलिए इस श्लोक में मुख्य रस करुण है और भूरिश्रवा की पत्नी का पूर्वानुभूत (शृङ्गार) रसनोत्कर्षित्व आदि स्मर्यमाण शृङ्गार करुण रस का अङ्ग हो गया है । अतः यह अपराङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है ।

द्वितीय उदाहरण—.

अनुवाद—कैलासवासी शिवजी के ललाट के नेत्र (तृतीय नेत्र) की कान्ति से जिसमें (नखद्युति में) अलक्तक (महावर) की शोभा सम्पादित (निर्वर्त्तित) है, इस प्रकार की पार्वती के चरणों की नख-द्युति (नख की शोभा) आप लोगों की सदा रक्षा करे । स्पर्द्धा के कारण और अधिक बढ़ी हुई जिस नखद्युति के द्वारा लाल कमल के समान आरक्त नेत्रों की सरस कान्ति (लाली) तुरन्त दूर कर दी जाती है । (इस प्रकार पार्वती की नख-द्युति की कान्ति आप लोगों की रक्षा करे) ॥११७॥

यहाँ पर शृङ्गार रस भाव (भक्तिरूप भाव) का अंग है ।

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधय—
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्तासि तुभ्यं नमः।
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद्भुवस्—
तावद् बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥११८॥

अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयस्य रतिभावस्य।

बन्दीकृत्य नृप द्विषां मृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसां
श्लिष्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः।
अस्माकं सुकृतैर्दृशोनिपतितोऽस्यौचित्यवाराम्निधे
विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयते ॥११९॥

अत्र भावस्य रसाभास-भावाभासौ प्रथमार्धद्वितीयार्धद्योत्यौ।

विमर्श—इस श्लोक में पार्वती के मानभङ्ग के लिए शिवजी का जो (पाद-प्रणत) रूप व्यापार है वह सम्भोग-शृङ्गार रस का द्योतक है और 'त्रायताम्' इस पद के द्वारा कविनिष्ठ पार्वती विषयक भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ पर पार्वती-विषयक शिवनिष्ठ सम्भोग-शृङ्गार रस कविनिष्ठ पार्वती विषयक भक्ति-भाव का अङ्ग है अतः यहाँ पर अपराङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य है।

तृतीय उदाहरण—

अनुवाद—(हे पृथ्वि !) चारों ओर अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे पहाड़ और विस्तीर्ण (स्फारः) सागर, दिखाई दे रहे हैं, उन इन सबको धारण करती हुई भी तुम कुछ भी थकी नहीं हो, तुम्हें नमस्कार है। इस प्रकार आश्चर्य में जब तक बार-बार स्तुति करता हूँ, तब तक इस पृथ्वी को धारण करने वाली तुम्हारी भुजाओं का स्मरण हो गया और इससे (स्तुतिपरक मेरी) वाणी संकुचित हो गई ॥११८॥

यहाँ पर पृथ्वीविषयक (कविनिष्ठ) रतिरूप भाव राजविषयक रति-भाव का अंग है।

विमर्श—यह श्लोक भोजदेव की स्तुति में लिखा गया है। यहाँ पर पृथ्वी विषयक कविनिष्ठ जो रतिभाव है वह कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव का पोषक है। अतः पृथ्वीविषयक कवि का रतिभाव राजविषयक कवि का रति भाव राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है अतः यह अपराङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है।

चतुर्थ उदाहरण—

अनुवाद—हे राजन् ! आपके सैनिक शत्रुओं की मृगनयनी नारियों को बन्दी बनाकर उनके पतियों के देखते हुए उनका आलिंगन करते हैं,

अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वपि तवेक्षणे क्षणात् ॥१२०॥

अत्र भावस्य भावप्रशमः ।

साकं कुरंगकदृशा मधुपानलीलां
कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते ।
अन्याभिधायि तव नाम विभो गृहीतं
केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम् ॥१२१॥

अत्रत्रासोदयः ।

(उन्हें प्रसन्न करने के लिए) प्रणाम करते हैं, उन्हें बलात् पकड़ लेते हैं और सर्वतः (सर्वांग रूप से) चुम्बन करते हैं। फिर भी 'हे औचित्य के सागर ! हमारे पुण्यों से आपके दर्शन हुए हैं और (आप के दर्शन से) हमारी सारी विपत्तियाँ नष्ट हो गईं' ! इस प्रकार आपके शत्रुओं द्वारा आपकी स्तुति की जाती है ॥११९॥

यहाँ पर पूर्वार्द्ध में द्योत्य रसाभास और उत्तरार्द्ध में द्योत्य भावाभास दोनों रतिरूप भाव के अंग हैं।

विमर्श—इस श्लोक में कवि की राजविषयक स्तुति है। यहाँ पर पूर्वार्द्ध में सैनिकनिष्ठ परस्त्रीविषयक शृंगार रसाभास है और उत्तरार्द्ध में शत्रुनिष्ठ स्तूयमान राजविषयक प्रेम-वर्णन रूप भावाभास है। दोनों ही अनौचित्य के प्रवर्त्तक होने से रसाभास एवं भावाभास है। दोनों ही कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव के अङ्ग हैं। अतः यह अपराङ्गगुणीभूत व्यङ्ग्य का उदाहरण है।

पञ्चम उदाहरण—

अनुवाद—हे राजन् ! निरन्तर तलवार चलाने (कंपाने) से, भौंहें तानकर ललकारने और बार-बार गर्जन के द्वारा आपके शत्रुओं का मद (गर्व) आपके देखते ही क्षणभर में पता नहीं कहाँ चला गया ॥१२०॥

यहाँ पर (मदरूप) भाव की शान्ति (राजविषयक) भाव का अंग है।

विमर्श—यहाँ पर शत्रुओं का मद नामक गर्वरूप भाव का प्रशम (शान्ति) वर्णित है। वह कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है। अतः यहाँ अपराङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग्य है, इसलिए यह अपराङ्गगुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण है।

षष्ठ उदाहरण—

अनुवाद—हे प्रभो ! तुम्हारा शत्रु मित्रों सहित मृग के समान नेत्र वाली मृगनयनी नारियों के साथ जैसे ही मधुपान की लीला (क्रीड़ा) में

असोढ़ा तत्कालोल्लसदसहभावस्य तपसः
कथानां विश्रम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः।
प्रमोदं वो दिश्यात् कपटवटुवेषापनयने
त्वराशैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ॥१२२॥
अत्रावेगधैर्ययोः सन्धिः।

प्रवृत्त हुआ कि अन्य किसी अभिप्राय से (अन्य अर्थ के वाचक) किसी के द्वारा लिये गये आपके नाम ने वहाँ पर विषम अवस्था उत्पन्न कर दी ॥१२१॥

यहाँ पर भास रूप भाव का उदय (राजविषयक रतिभाव का) अङ्ग है।

विमर्श—यहाँ पर कवि राजा की स्तुति करते हुए कहता है कि हे राजन्। आपके शत्रुओं के मित्रों और मृगनयनी नारियों के साथ मद्यपान की लीला में प्रवृत्त होते ही किसी के द्वारा किसी अन्य अभिप्राय से लिए गये आपके नाम ने वहाँ विषम अवस्था उत्पन्न कर दी अर्थात् किसी ने मधुपान गोष्ठी में जैसे ही आपका नाम लिया कि आपका नाम सुनकर शत्रु घबड़ाकर भागने लगे। यहाँ पर त्रास रूप भाव का उदय व्यङ्ग्य है और वह कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव के अङ्ग के रूप में उपनिबद्ध है। अतः यह अपराङ्गगुणीभूत व्यङ्ग्य का उदाहरण है।

सप्तम उदाहरण—

अनुवाद—पार्वती की उस समय (बाल्यावस्था में) स्पष्ट प्रकट होती हुई तप की असहयनीयता (असहभाव, कठोरता) को सहन करने में असमर्थ (असोढ़ा) तथा पार्वती की विश्वासपूर्वक की जाने वाली बातों (कथाओं) में रस लेने वाले (रसिक) कपट रूप से धारण किये हुए ब्रह्मचारी के वेष को छोड़ने में एक साथ 'त्वरा' (शीघ्रता) और शिथिलता से अभिभूत शिवजी (स्मरहर) आप लोगों को आनन्द प्रदान करें ॥१२२॥

यहाँ पर आवेग (त्वरा) और धैर्य (शिथिलता) की सन्धि शिवविषयक रतिभाव का अंग है।

विमर्श—यहाँ पर शिवनिष्ठ 'त्वरा' और 'शैथिल्य' पदों द्वारा गम्य (द्योत्य) 'आवेग' और 'धैर्य' रूप व्यभिचारीभावों की सन्धि है। और वह भाव सन्धि कविनिष्ठ शिवविषयक रतिभाव का अङ्ग है अतः यह अपराङ्गगुणीभूत व्यङ्ग्य का उदाहरण है।

पश्येत् कश्चिच्चल चपल रे का त्वराऽहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर ह ह हा व्युत्क्रमः क्वासि यासि।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ़ ! भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कञ्चित्फलकिसलयान्यादादानाऽभिधत्ते ॥१२३॥

अत्र शङ्कासूयाधृतिस्मृतिशमदैन्यविबोधौत्सुक्यानां शवलता।

एते च रसवदाद्यलङ्काराः। यद्यपि भावोदय-भावसन्धि-भावशबलत्वानि नालंकारतया उक्तानि, तथापि कश्चित् ब्रूयादित्येवमुक्तम्।

अष्टम उदाहरण—

अनुवाद—हे पृथ्वीपते ! राजन् ! वन में वास करने वाले आपके शत्रु की कन्या फल और किसलयों (कोमल पल्लवों) को ग्रहण करती हुई किसी कामुक से इस प्रकार कहती है—"अरे ! कोई देख लेगा, अरे चंचल हट जा, अरे (इतनी) शीघ्रता (जल्दी) क्या है ? मैं कुमारी हूँ, हाथ का सहारा दो, ह ह हा (हाय) ! यह विपरीत आचरण है, कहाँ जा रहे हो," ॥१२३॥

यहाँ पर शङ्का, असूया, धृति, स्मृति, शम, दैन्य, विबोध और औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भावों की शवलता (कविनिष्ठ राजविषयक रति-भाव का अंग है)।

विमर्श—यहाँ पर कोई कवि राजा की प्रशंसा करता हुआ कहता है कि हे राजन् ! वन में रहने वाले आपके शत्रु की कन्या जंगल में फल-फूल लेने के लिए गई वहाँ किसी कामुक युवक को देखकर कहती है कि 'अरे कोई देख लेगा।' (शङ्का) 'अरे चंचल जा' (असूया) 'अरे जल्दी क्या है' (धृति) 'मैं कुमारी हूँ' (अतः कुमारी का स्वतन्त्राचरण उचित नहीं है), (स्मृति) 'अरे हाथ का सहारा दो' (श्रम) हह। (दैन्य), (कुमारी कन्या का यह आचरण कुलमर्यादा का) अतिक्रमण है (विबोध) और 'तुम कहाँ जा रहे हो?' (औत्सुक्य), इन आठ भावों की शवलता कविनिष्ठ स्तूयमान राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है। अतः यह अपराङ्गगुणीभूत का उदाहरण है।

अनुवाद—ये ही रसवत् आदि अलङ्कार भी कहे गये हैं। यद्यपि भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता को अलङ्कार रूप नहीं कहा गया है, तथापि कोई कह सकता है, इसलिए ऐसा कहा गया है।

विमर्श—ये गुणीभूत रस-भावादि 'रसवत्' आदि अलङ्कार के नाम से अभिहित किये जाते हैं। जैसाकि प्राचीन आचार्यों का कथन है कि गुणीभूत रस 'रसवत्' अलङ्कार, गुणीभूत भाव 'प्रेयस्' अलङ्कार, गुणीभूत रसाभास एवं भावाभास 'ऊर्जस्विन्' अलङ्कार और गुणीभूत भावशान्ति 'समाहित' अलङ्कार के नाम से व्यवहृत होते हैं—

यद्यपि स नास्ति कश्चिद्विषयः यत्र ध्वनि-गुणीभूतव्यंग्ययोः स्वप्र-प्रभेदादिभिः सह संकरः संसृष्टिर्वा नास्ति, तथापि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति क्वचित्केनचिद्व्यवहारः।

"गुणीभूतो रसो रसवत्, भावस्तु प्रेयः, रसाभास-भावाभासौ ऊर्जस्वि, भाव-शान्तिः समाहितः।"

महिमभट्ट ने यद्यपि भावसन्धि, भावोदय और भावशवलता को अलङ्कार के रूप में स्वीकार नहीं किया है फिर भी जिस प्रकार रसादि का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए रसवदादि को अलङ्कार माना जाता है उसी प्रकार भावोदय, भावसन्धि और भावशवलता को अलङ्कार के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसी आधार पर मम्मट ने भावोदय आदि की यहाँ अलंकार के रूप में गणना की है। अलंकार-सर्वस्वकार रुय्यक ने तो भावोदय, भावसन्धि, भावशवलता को भी पृथक् अलंकार के रूप में प्रतिपादित किया है—

"रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धनेन रसवत्प्रेय-ऊर्जस्वि-समाहितानि भावोदयो भावसन्धि-भावशवलता च पृथगलंकाराः।

(अलंकारसर्वस्व)

आचार्य मम्मट का कथन है कि रस-भाव आदि प्रधान अथवा अप्रधान चाहे जिस रूप में प्रतिपादित हों, उन्हें अलंकार की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। इसीलिए उन्होंने रस-भाव आदि के अप्रधान रूप में प्रतिपादित होने पर रसवदादि को गुणीभूत व्यङ्ग्य के 'अपराङ्ग' नामक भेद में अन्तर्भाव किया है।

अनुवाद—यद्यपि ऐसा कोई विषय नहीं है जहाँ ध्वनि और गुणी-भूतव्यङ्ग्य का अपने अवान्तर प्रभेदों के साथ (नीर-क्षीरन्याय से) संकर अथवा (तिलतण्डुन्याय से) संसृष्टि न हो, तथापि 'प्रधानता के अनुसार नामकरण किया जाता है' इस न्याय के अनुसार कहीं किसी (विशेष नाम) से व्यवहार होता है।

विमर्श—गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य के 'अयं स रशनोत्कर्षी०' इस उदाहरण में प्रकरण-गम्य करुण रस की प्रधानता के कारण 'ध्वनि-काव्य' कहा जा सकता है फिर इसे गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण कैसे माना जा सकता है? इस पर कहते हैं कि 'अयं स रशनोत्कर्षी०' उदाहरण में श्रृंगार रस की दृष्टि से गुणीभूतव्यङ्ग्य भी माना जा सकता है। इसी प्रकार रसध्वनि में भाव-ध्वनि अवश्य होगी। इस प्रकार अंगी को लेकर ध्वनिकाव्य और अङ्ग को लेकर गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है। इस प्रकार सर्वत्र ही ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यङ्ग्य तथा इनके भेद-प्रभेदों का कहीं संकर और कहीं संसृष्टि होती है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए मम्मट कहते हैं कि

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचोवैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम् ।
कृतालङ्काभर्त्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ॥१२४॥

अत्र शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सहोपमानोपमेयभावो वाच्याङ्गतां नीतः ।

यद्यपि कोई ऐसा उदाहरण नहीं है कि जहाँ ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य का परस्पर अथवा उनके भेदों के साथ अङ्गाङ्गिभाव रूप से संकर अथवा संसृष्टि न हो, फिर भी 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' अथवा 'प्रधानता के आधार पर नाम आदि का व्यवहार होता है' इस सिद्धान्त के अनुसार जहाँ पर रसादि प्रधान रूप से व्यङ्ग्य होगा अर्थात् अतिशय चमत्कार जनक होगा वहाँ ध्वनि-काव्य का व्यवहार होता है और जहाँ पर रसादि अप्रधान होकर अङ्गरूप में व्यवहृत होते हैं वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य होगा। इस प्रकार 'अयं स रशनोत्कर्षी०' इस उदाहरण में करुण रस अङ्गी है और शृंगार उसका अंग है किन्तु यहाँ पर शृंगार अतिशय चमत्कारजनक है अतः इसे गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

अपरांगगुणीभूत व्यङ्ग्य का उदाहरण —

अनुवाद—स्वर्ण (धन) की मृगतृष्णा (निष्फल आशा) से (रामपक्ष में—कनकमृग-सोने के हिरण की तृष्णा-आशा से) विवेकशून्य (अन्धिता=विवेकशून्य) बुद्धिवाला मैं जनस्थान-नगरवस्तियों में (रामपक्ष में-दण्डकवन में) घूमता रहा और पग-पग पर आँसू बहाता हुआ वै+देहि- 'निश्चय ही कुछ दो' (राम पक्ष में हे वैदेहि)। इस प्रकार व्यर्थ प्रलाप करता रहा, तथा कुत्सित (नीच) धनी-मानी लोगों की (काभर्त्तुः) मुख की भाव-भङ्गिमाओं—उनके आशय के समर्थन में (वदनपरिपाटीषु) क्या-क्या (चापलूसी) नहीं की (रामपक्ष में—'लङ्काभर्त्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना कृता=लङ्कापति रावण के मुखमण्डल (वदन परिपाटी) पर बाणों का प्रयोग (इषुघटना किया)। इस प्रकार मैंने रामत्व (रामरूपता) तो प्राप्त कर लिया, किन्तु कुशल-वसुता (कुशलं-प्रचुरं वसु धनं यस्य तस्य भावः) प्रचुर धन प्राप्त नहीं किया (रामपक्ष में—कुशलव-सुता (कुश-लवौ सुतौ पुत्रौ यस्याः सा सीता-जानकी को प्राप्त नहीं कर सका) ॥१२४॥

यहाँ पर राम के साथ (कवि का) उपमानोपमेय रूप शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य को वाच्यार्थ का अंग बना दिया गया है।

आगत्य सम्प्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गी—
मम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः।
एनां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते
तन्वङ्गि ! पादपतनेन सहस्ररश्मिः ॥१२५॥

अत्र नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरविकमलिनी-वृत्तान्ताध्यारोपेणैव स्थितः।

विमर्श—यह अपरांग गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है। यहाँ पर कवि का (अथवा किसी याचक का) राम के साथ उपमानोपमेयभाव शब्दशक्ति मूलक संलक्ष्य-क्रम व्यङ्ग्य का वाच्यार्थ का अंग बन गया है। अर्थात् यहाँ पर शब्दशक्ति के द्वारा राम के साथ कवि का उपमानोपमेयभाव व्यङ्ग्यरूप से प्रतीत हो रहा है किन्तु यहाँ पर 'मयाप्तं रामत्वम्' कहकर उपमानोपमेयभाव रूप व्यङ्ग्य को 'मयाप्तं रामत्वम्' वाच्य का अंग बन गया है। इस प्रकार यहाँ अपरांगगुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण बन गया है।

ध्वनिकार का कथन है कि 'महाकवि परस्पर विरुद्ध रसों की भी योजना किया करते हैं कि वे इतनी विचित्रता से करते हैं कि उनमें विरोध प्रतीत नहीं होता बल्कि परस्पर सहभाव प्रतीत होता है, क्योंकि वहाँ मुख्य (अंगी) रस के विरोधी दूसरे रस को उपकारक (अंग) के रूप में चित्रित किया जाता है। 'अयं स०' इस उदाहरण में ध्वनिकार ने रस-योजना की उक्त विचित्रता देखी है। उनका कथन है कि भले ही शृंगार और करुण परस्पर विरोधी रस हों, किन्तु कवि ने यहाँ शृंगार रस को करुण के अंग के रूप में चित्रित कर अधिक चमत्कारजनक बना दिया है—

"...... वाक्यार्थीभूतस्यापि कस्यचित् करुणरसविषयस्य तादृशेन शृङ्गार-वस्तुना भङ्गिविशेषाश्रयेण संयोजनं रसपरिपोषायैव जायते। ...... यथा-अयं सः ......करः इत्यादौ।" (ध्वन्यालोक)

अनुवाद—हे तन्वङ्गि ! यह सूर्य (सहस्र किरणों वाला) कहीं और जगह रात बिताकर अब प्रातःकाल धीरे से आकर वियोग से संकुचित शरीर वाली इस कमलिनी को पादपतन (पाद-किरणों के संस्पर्श, पाद-पैरों पर गिरकर) के द्वारा प्रसन्न कर रहा है (मना रहा है) ॥१२५॥

यहाँ पर अर्थशक्तिमूलक वस्तुध्वनिरूप नायक-नायिका का व्यवहार निरपेक्ष सूर्य तथा कमलिनी के व्यवहार पर अध्यारोप द्वारा स्थित है।

विमर्श—यह अपरांगगुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है। यहाँ पर मुग्धा नायिका के प्रति सखी के द्वारा उपालम्भ कथन है। यहाँ पर 'सहस्ररश्मि' पद से

वाच्यसिद्ध्यंगं यथा—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् ।
मरणञ्च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ।।१२६।।

अत्र हालाहलं व्यङ्ग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत् ।

बहुनायिकात्व तथा 'अम्भोजिनी' पद के द्वारा नायिका का पद्मिनीत्व होना आदि द्योतित हो रहा है । इसी प्रकार यहाँ 'नायक स्वयं आकर पाद-पतन के द्वारा अनुनय कर रहा है' इस प्रकार नायक-नायिका का व्यवहार व्यंग्य है और सूर्य-कमलिनी का व्यवहार वाच्य है । यहाँ पर अर्थशक्ति के सामर्थ्य से अभिव्यक्त होने वाला नायक-नायिका का वृत्तान्त वस्तु रूप संलक्ष्यक्रम व्यंग्य है अतः यह गुणीभूतव्यंग्य है और यह निरपेक्ष (व्यंग्यार्थ की अपेक्षा न रखने वाले) सूर्य-कमलिनी के वृत्तान्तरूप वाच्यार्थ पर आरोपित होकर स्थित है अतः यह वस्तुरूप व्यंग्यार्थ वाच्य का अंग हो गया है । इसलिए यह अपरांगगुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण है ।

निरपेक्षरविकमलिनीवृत्तान्तेत्यादि—यहाँ पर वाच्यांग (अपरांग गुणीभूत व्यंग्य) और वाच्यसिद्ध्यंग में अन्तर बतलाने के लिए ही 'निरपेक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है । वस्तुतः दोनों का अन्तर वाच्यार्थ की निरपेक्षता और सापेक्षता पर निर्भर है । जहाँ पर वाच्यार्थ निरपेक्ष अर्थात् किसी की अपेक्षा न होने पर भी व्यंग्यार्थ उसका अंग बनकर उसे अधिक चमत्कार-जनक बना देता है वहाँ वाच्यांग व्यंग्य (अपरांग गुणीभूत व्यंग्य) होता है और जहाँ पर वाच्यार्थ सापेक्ष है अर्थात् अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ (व्यंग्यार्थ) की अपेक्षा रखता है वहाँ वाच्यसिद्धि का अंग होने से वाच्यसिद्ध्यंग गुणीभूत व्यंग्य होता है ।

मम्मट ने वाच्यांग व्यंग्य का उदाहरण 'आगत्य सम्प्रति०' (उदा० १२५) इत्यादि दिया है । इस उदाहरण में सूर्य और कमलिनी का वृत्तान्त वाच्यार्थ है और नायक-नायिका के वृत्तान्त की प्रतीति व्यंग्यार्थ है । यहाँ पर वाच्यार्थ को अपनी सिद्धि के लिए अन्य अर्थ (व्यंग्यार्थ) की अपेक्षा नहीं है फिर भी व्यंग्यार्थ उस वाच्यार्थ में उत्कर्ष की वृद्धि करता है, इसलिए वाच्यार्थ के निरपेक्ष होने से यह वाच्यांगव्यंग्य का उदाहरण है ।

वाच्यसिद्ध्यंगव्यंग्य का उदाहरण आगे देते हैं—

३—वाच्यसिद्ध्यंगव्यंग्य का उदाहरण—

अनुवाद—मेघरूपी भुजंग (सर्प) से उत्पन्न विष (जल या हालाहल) वियोगिनी स्त्रियों में बलपूर्वक चक्कर (भ्रमि), विषयों में अरुचि-बेचैनी (अरति) उदासीनता (अलसहृदयता), निश्चेष्टता (प्रलयः नष्टचेष्टता),

यथा वा--

गच्छाम्यच्युत ! दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते
किन्त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः सम्भावयत्यन्यथा ।
इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसा—
माश्लिष्यन् पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपीं हरिः पातु वः ।।१२७।।

अत्राच्युतादिपदव्यङ्ग्यमामन्त्रणेत्यादिवाच्यस्य ।

एतच्चैकत्र एकवक्तृगतत्वेन, अपरत्र भिन्नवक्तृगतत्वेन इत्यनयोर्भेदः ।

मूर्च्छा, सर्वत्र अन्धेरा (तमः), देह की दुर्बलता (शरीरसादम्), और मरण को उत्पन्न कर देता है ।।१२६।।

यहाँ पर 'हालाहल' व्यङ्ग्य भुजङ्गरूप वाच्यार्थ की सिद्धि का अंग (उपकारक) है ।

विमर्श—जहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ वाच्य अर्थ की सिद्धि में अङ्ग या सहायक (उपकारक) रहता है, उसे वाच्यसिध्द्यङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग्य कहते हैं । अर्थात् जहाँ पर वाच्यार्थ अपनी सिद्धि के लिए व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा रखता है और व्यंग्यार्थ उसका अंग या सहायक होता है वहाँ वाच्यसिध्द्यंग गुणीभूत व्यंग्य होता है । वाच्यसिध्द्यंग गुणीभूत व्यंग्य दो प्रकार का होता है—एकवक्तृगतवाच्यसिध्द्यंग और भिन्नवक्तृगतवाच्यसिध्द्यंग ।

प्रस्तुत उदाहरण (भ्रमि० इत्यादि) एकवक्तृगतवाच्यसिध्द्यंग का उदाहरण है । इसमें वाच्य और व्यंग्य दोनों के वक्ता एक ही (कवि) है । यहाँ पर 'विष' पद से 'हालाहल' रूप व्यंग्यार्थ निकलता है, तथापि यहाँ 'ध्वनि' नहीं है, बल्कि गुणीभूत व्यंग्य है । क्योंकि यहाँ पर वाच्यार्थ 'जलदभुजग' में रूपक सिद्धि का कारण बन गया है (भुजगभिन्नजलद) यदि व्यंग्यार्थ को यहाँ पर रूपक का निश्चायक नहीं मानते हैं तो 'जलद इव भुजगः' इस प्रकार उपमा अलंकार का प्रसंग उपस्थित हो जायगा, जो यहाँ विवक्षित नहीं है । अतः यहाँ हालाहल रूप व्यंग्यार्थ रूपक का निश्चायक है ।

वाच्यसिध्द्यंग का द्वितीय उदाहरण— जैसे—

अनुवाद—हे अच्युत ! मैं जाती हूँ, क्या आपके दर्शनमात्र से तृप्ति हो सकती है ? किन्तु हम दोनों के एकान्त स्थान में स्थित होने पर दुष्ट लोग अन्य प्रकार की सम्भावनाएँ करते हैं । इस प्रकार के सम्बोधन की भावभङ्गिमा के द्वारा सूचित व्यर्थ में ठहरने की खिन्नता (खेद) से अलसाई हुई गोपी का आलिंगन करते हुए रोमाञ्चित देह वाले श्रीकृष्ण आप लोगों की (वः = युष्माकं) रक्षा करें ।।१२७।।

(४) अस्फुटं यथा—

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता ।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम् ॥१२८॥

अत्राहष्टो यथा न भवसि वियोगभयं च यथा नोत्पद्यते, तथा कुर्या इति क्लिष्टम् ।

यहाँ पर 'अच्युत' आदि पदों का व्यंग्यार्थ 'आमन्त्रण आदि की सिद्धि का अंग है ।

इस प्रकार वाच्यसिध्द्यंग गुणीभूतव्यङ्ग्य एक जगह एकवक्तृगत और दूसरी जगह भिन्नवक्तृगत है। यही दोनों (उदाहरणों) का अन्तर है।

विमर्श—यह भिन्नवक्तृगत वाच्यसिध्द्यंग गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण है । यहाँ पर वाच्य और व्यंग्य दोनों के वक्ता अलग-अलग हैं । पूर्वार्द्ध में वक्ता गोपी है और उत्तरार्द्ध में वक्ता कवि है अतः भिन्नवक्तृगत होने से यह प्रथम उदाहरण से भिन्न है । यहाँ पर 'अच्युत' पद के द्वारा 'मेरे विषय में तुम विरस हो अथवा धैर्यच्युत नहीं होते, इसलिए यहाँ ठहरना व्यर्थ है' यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है । इसी प्रकार 'दर्शनेन' इस पद के द्वारा 'संभोग से ही तृप्ति होगी' यह व्यंग्यार्थ और 'किन्त्वेवं' इस पद के द्वारा 'दोनों की अकीर्त्ति (अयश) हो ही गई तो आत्म-वञ्चना व्यर्थ है, यह खेद' यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है । यह वृथावस्थान, सम्भोग से तृप्ति तथा खेद रूप व्यंग्यार्थ के द्वारा ही 'इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसाम्' इस वाच्य की सिद्धि होती है । इस प्रकार यहाँ वाच्यसिध्द्यंग गुणीभूत व्यंग्य है ।

(४) अस्फुट व्यङ्ग्य का उदाहरण जैसे—

अनुवाद—(आपका) दर्शन न होने पर दर्शन की उत्कण्ठा और दर्शन होने पर वियोग का भय रहता है, अतः आपके दर्शन न होने अथवा होने पर (दोनों अवस्थाओं में) आपसे सुख नहीं मिलता ॥१२८॥

यहाँ पर 'जिस प्रकार आप अदृष्ट न हों और जिस प्रकार वियोग का भय न हो, वैसा ही (उपाय) करिये' यह व्यङ्ग्यार्थ क्लिष्ट (अस्फुट) है ।

विमर्श—जहाँ पर व्यंग्यार्थ स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देता, वहाँ अस्फुट व्यंग्य गुणीभूत व्यंग्य होता है । प्रस्तुत उदाहरण में व्यंग्यार्थ अस्पष्ट है । यहाँ पर कोई नायिका अपने प्रियतम से कहती है कि आप कोई ऐसा उपाय करें कि जिससे न तो आप अहष्ट रहें और न आपके वियोग का भय रहे' यह व्यंग्यार्थ स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, अतः यह अस्फुट गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण है ।

(५) सन्दिग्धप्राधान्यं यथा—

हरस्तु किञ्चित् परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापरयामास विलोचनानि ॥१२९॥

अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं किं वा विलोचन-व्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः ।

(६) तुल्यप्राधान्यं यथा—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥१३०॥

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्रियाणामिव राक्षसां क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम् ।

---

(५) सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण जैसे—

अनुवाद—चन्द्रोदय के आरम्भ में समुद्र के समान कुछ अधीर (धैर्यच्युत) होकर शिवजी ने बिम्बाफल के समान रक्त ओठों से युक्त पार्वती के मुख पर अपनी दृष्टि गड़ा दी ॥१२९॥

अनुवाद—यहाँ पर 'चुम्बन करना चाहते थे' यह व्यङ्ग्यार्थ (प्रतीयमान अर्थ) प्रधान है ? अथवा 'नेत्रों का व्यापार' यहाँ वाच्यार्थ प्रधान है ? यह सन्देह है। (अतः यह सन्दिग्धप्रधान गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है ।

विमर्श—जहाँ पर 'वाच्यार्थ अधिक चमत्कारजनक है अथवा व्यंग्यार्थ ? यह निर्णय न हो सके, वहाँ सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य होता है । मम्मट ने प्रस्तुत उदाहरण कुमारसम्भव से उद्धृत किया है। यहाँ पर वाच्यप्राधान्य और व्यंग्य-प्राधान्य में सन्देह है । प्रदीपकार ने इसका विवेचन इस प्रकार किया है—'यहाँ पर अधर चूमना चाहता था' यह व्यङ्ग्य है, और एक साथ तीनों नेत्रों को गड़ा देना वाच्यार्थ है इन दोनों की प्रधानता में साधक-बाधक प्रमाण का अभाव होने से सन्देह है, क्योंकि वाच्य के अलौकिक चमत्कारजनक होने से तथा उत्कण्ठातिशय रूप व्यंजना के होने से यहाँ सन्दिग्धप्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य है ।

(६) तुल्यप्राधान्य का उदाहरण यथा—

अनुवाद—ब्राह्मणों के अपमान करने का त्याग आपके ही कल्याण के लिए है, अन्यथा (वैसा न करने पर) आपका वैसा (जन्मकाल से समस्त रहस्य को जानने वाला) मित्र परशुराम नाराज हो जायगा ॥१३०॥

(७) काव्याक्षिप्तं यथा—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ।।१३१।।

अत्र मथ्नाम्येवेत्यादि व्यङ्ग्यं वाच्यनिषेधसहभावेन स्थितम् ।

यहाँ पर 'परशुराम समस्त क्षत्रियों के समान समस्त राक्षसों का भी नाश कर देगा' इस व्यङ्ग्यार्थ की तथा (नाराज हो जायेंगे) वाच्यार्थ की समान प्रधानता है (अतः यह तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण है)।

विमर्श—जहाँ पर वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों का काव्य-सौन्दर्य समान प्रतीत होता है, वहाँ तुल्यप्राधान्य गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है, जैसे महावीरचरित नाटक से उद्धृत प्रस्तुत उदाहरण में रावण को लक्ष्य करके उसके अमात्य माल्यवान् के पास परशुराम के द्वारा भेजे गये पत्र में यह पद्य है। यहाँ पर 'परशुराम क्षत्रियों के समान समस्त राक्षसों का भी क्षणभर में सर्वनाश कर देगा' यह व्यंग्यार्थ है और 'कल्याणोपदेश तथा मित्रता-कथन' रूप साम-वचन वाच्यार्थ है और दोनों ही समान रूप से चमत्कारजनक हैं, अतः यहाँ तुल्यप्राधान्य नामक गुणीभूत व्यंग्य है।

कुछ आचार्यों के अनुसार प्रस्तुत उदाहरण का अर्थ है कि 'हे राक्षसराज ! ब्राह्मणों के अपमान का त्याग आपके ही कल्याण के लिए है, ऐसा करने पर (अर्थात् ब्राह्मणों का अपमान करना छोड़ देने पर) जामदग्न्य-परशुराम आपका मित्र है, अन्यथा वह तुमसे क्षुब्ध नाराज हो जायगा' ।।१३०।।

यहाँ 'परशुराम ने जिस प्रकार क्षत्रियों का संहार कर दिया था, उसी प्रकार राक्षसों का भी नाश कर देगा' यह व्यंग्यार्थ और 'नाराज हो जायगा' यह वाच्यार्थ दोनों ही समान चमत्कार-जनक हैं अर्थात् विग्रह रूप व्यंग्यार्थ और सन्धि (साम) रूप वाच्यार्थ दोनों ही समान रूप से चमत्कारजनक हैं क्योंकि दोनों ही अनर्थ निवारक हैं। अतः यहाँ तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग्य है।

(७) काव्याक्षिप्त व्यंग्य का उदाहरण—

अनुवाद—क्या मैं क्रोध से सङ्ग्राम (युद्धभूमि) में समस्त (सौ) कौरवों का नाश न करूँ ? क्या मैं दुःशासन के वक्षःस्थल (उरस्तः) से उसका रक्तपान न करूँ ? क्या मैं गदा से दुर्योधन की जङ्घाएँ नहीं तोड़ूँ ? (संचूर्णयामि=चूर्ण करूँ ?) आपके राजा (युधिष्ठिर) किसी शर्त के साथ (पणेन) भले ही सन्धि करलें (मैं तो कौरवों का वध अवश्य करूँगा) ।।१३१।।

यहाँ पर 'अवश्य ही नाश करूँगा' यह व्यङ्ग्य (काकु से आक्षिप्त होने के कारण) वाच्य-निषेध (न मथ्नामि) के साथ-साथ स्थित है।

विमर्श—'काकु' का अर्थ है—'ध्वनि-विकार' अर्थात् उच्चारण-सम्बन्धी स्वर-विकार। जहाँ पर व्यंग्यार्थ काकु (उच्चारण सम्बन्धी स्वर-विकार) से आक्षिप्त (शीघ्र प्रत्यायक) होता है, उसे 'काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यंग्य कहते हैं। 'मथ्नामि' इत्यादि उदाहरण वेणीसंहार से उद्धृत है। यहाँ पर काकु से आक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य है; क्योंकि यहाँ पर 'न' की काकु विशिष्ट उच्चारण-क्रिया से एक अन्य 'नञ्' की प्रतीति होती है तथा 'न मथ्नामि' अर्थात् 'अवश्य मारूँगा' (मथ्नाम्येव) इस प्रकार व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है। यह व्यंग्यार्थ 'नञ्' काकु के द्वारा आक्षिप्त है और 'न मथ्नामि' अर्थात् मथन-निषेध रूप वाच्यार्थ के साथ ही शीघ्रता से प्रतीत होता है। क्योंकि काकु के बिना वाच्यार्थ की अबाधित रूप से प्रतीति नहीं होती, किन्तु यह वाच्यसिध्द्यंग से भिन्न है; क्योंकि वाच्यसिध्द्यंग तो पदार्थ की सिद्धि कराता है और काकु से आक्षिप्त व्यंग्य सिद्धरूप वाच्यार्थ के बाध को दूर करता है। अतः यहाँ काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य है और जहाँ पर काकु के द्वारा व्यंग्यार्थ की विलम्ब से प्रतीति होती है वहाँ ध्वनिकाव्य होता है।

ध्वनिकार का कथन है कि काकु के द्वारा आक्षिप्त व्यंग्यार्थ के अप्रधान होने के कारण काक्वाक्षिप्त व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य ही अधिक रमणीय होता है अतः वहाँ व्यंग्य गुणीभूत हो जाता है। जैसा कि अभिनवगुप्त ने 'मथ्नामि कौरवशतम्' आदि उदाहरण में काक्वाक्षिप्त व्यंग्य के गुणीभूत होने पर वाच्यार्थ में अधिक चमत्कार देखा है। उक्त उदाहरण में काकु—(दीप्त, तार, गद्गद् उच्चारण) के द्वारा 'न मथ्नामि' में मथनादि-निषेध रूप वाच्यार्थ का निषेध 'मथ्नाम्येव' अर्थात् 'अवश्य मारूँगा' अभिव्यक्त हो रहा है। और उस व्यंग्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्योपस्कृत वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कारजनक प्रतीत हो रहा है। अतः यहाँ काक्वाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य है।

''अत एव मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्'' इत्यादौ विपरीतलक्षणामाहुस्ते न सम्यक् परामम्रुशुः। यतोऽत्रोच्चारणकाल एव ''न कोपात् इति दीप्ततारगद्गदसाकांक्षकाकुबलान्निषेधस्य निषिध्यमानतयैव युधिष्ठिराभिमतसन्धिमार्गाक्षमारूपत्वाभिप्रायेण प्रतिपत्तिरिति मुख्यार्थबाधाद्यनुसरण विघ्नाभावात् को लक्षणाया अवकाशः।''

(ध्वन्यालोकलोचन—तृतीय उद्योत)

(८) असुन्दरं यथा—

वाणीरकुडंगुड्डीणसउणिकोलाहलं सुणंतीए।
घरकम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अंगाइं ॥१३२॥

वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यंगानि ॥१३२॥

(इति संस्कृतम्)

अत्र दत्तसंकेतः कश्चिल्लतागहनं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यात् सीदन्त्यांनीति वाच्यं सचमत्कारम्।

---

(८) असुन्दरगुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण—

अनुवाद—वेतस-लता-कुञ्ज में उड़ते हुए पक्षियों के कोलाहल को सुनकर घर के काम में लगी हुई वधू (बहू) के अंग शिथिल (व्याकुल) हो रहे हैं ॥१३२॥

अनुवाद—यहाँ पर 'दत्तसंकेत (संकेत देने वाला) कोई लतागृह में प्रविष्ट हुआ है' इस व्यङ्ग्य से 'वधू के अंग शिथिल (व्याकुल) हो रहे हैं' यह वाच्यार्थ अधिक चमत्कार-जनक है। (अतः यहाँ असुन्दर नाम का गुणीभूत व्यङ्ग्य है।

विमर्श—जहाँ पर वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कार-जनक नहीं होता, बल्कि व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाक्यार्थ अधिक चमत्कार जनक होता है, वहाँ असुन्दर नामक गुणीभूत काव्य होता है। जैसे 'वानीर कुञ्जोड्डीन०' आदि उदाहरण में 'कोई नायक अपनी प्रेमिका नायिका को वेतसलता कुञ्ज में मिलने का सङ्केत देकर समय से लताकुञ्ज में पहुँच गया है' यह जानकर वधू के अङ्ग, व्याकुल हो रहे हैं, यहाँ पर 'वेतसलताकुञ्ज में नायक का पहुँचना' व्यङ्ग्यार्थ है और 'अङ्ग में सिहरन होगा' (सीदन्त्यङ्गानि) यह वाच्यार्थ है 'अङ्गानि सीदन्ति' (अङ्ग शिथिल हो रहे हैं) इस वाच्यार्थ की अपेक्षा 'दत्तसङ्केतो लतागहनं प्रविष्टः' (दत्तसङ्केत कोई लता कुञ्ज में प्रविष्ट हुआ है) यह व्यङ्ग्यार्थ चमत्कार-जनक नहीं है बल्कि वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कार-जनक है। भाव यह कि यहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा किये बिना ही अङ्गावसाद रूप वाच्यार्थ ही विप्रलम्भ शृङ्गार का पोषक है; 'क्योंकि 'अङ्गावसाद' से 'उत्कण्ठातिशय' की प्रतीति होती है अतएव वाच्यार्थ में ही चमत्कार की विश्रान्ति होने से व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत तथा असुन्दर हो जाता है) अतः यहाँ पर असुन्दर नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य है।

काव्यप्रदीपकार मम्मट उक्त अभिप्राय का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि 'वानीरकुञ्ज में कोई प्रेमी प्रतीक्षा में आ पहुँचा है' यह व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित होता है, किन्तु इस व्यङ्ग्यार्थ प्रेमिका की उत्कण्ठा को अभिव्यक्त करने की उतनी शक्ति (सामर्थ्य) नहीं है जितनी 'अङ्गावसाद' रूप वाच्यार्थ में है। यदि वाक्यार्थ अधिक चमत्कार-जनक होता है तो व्यङ्ग्यार्थ असुन्दर रह जाता है।

(सू० ६७) एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥४६॥

यथायोगमिति—

'व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलंकृतयस्तदा
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ॥'

इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालंकारो व्यज्यते, न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ।

'अत्र दत्तसङ्केत कश्चिल्लतागहनं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यम् । तस्माद् वाच्यं चमत्कारकारि ।

ध्वनिकार उक्त उदाहरण में गुणीभूत व्यङ्ग्य ही मानते हैं। इसी विचार-धारा का समर्थन करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि 'वानीरकुञ्ज०' आदि उदाहरण में व्यङ्ग्योपस्कृत वाच्य-सौन्दर्य का ही दर्शन होता है; क्योंकि व्यङ्ग्योपस्कृत वाच्य-सौन्दर्य (वाच्य-चमत्कार) ध्वनि का विषय नहीं होता, बल्कि गुणीभूतकाव्य का विषय हो जाता है। जैसाकि उन्होंने कहा है—

'अत्र (वानीरकुञ्ज इत्यादौ) दत्तसङ्केतचौर्यकामुकरतसमुचितस्थानप्राप्ति ध्वन्यमाना वाच्यमेवोपस्कुरुते । तथाहि गृहकर्मव्यापृतया इत्यन्यपराया अपि, वध्वा इति सातिशयलज्जापारतन्त्र्यबद्धाया अपि, अङ्गानीत्येकमपि न तादृगङ्गं यद्गाम्भीर्यावहित्थवशेन संवरीतुं पारितम् । सीदन्तीत्यास्तां गृहकर्मसम्पादनं स्वात्मानमपि धर्तुं न प्रभवन्तीति गृहकर्मयोगेन स्फुटं तथा लक्ष्यमाणानीति । अस्मादेव वाच्यात् सातिशयमदनपरवशताप्रतीतेश्चारुत्वसम्पत्तिः (ध्वन्यालोकलोचन)

गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के भेद

अनुवाद (सू० ६७)—इन (गुणीभूतव्यंग्य) के भेद भी (ध्वनि के) पूर्व भेदों के समान यथासम्भव समझ लेना चाहिए ॥४६॥

अनुवाद—(वृत्ति)—यथा योग (का अभिप्राय यह है कि)—

"जब वस्तुमात्र से अलंकारों की अभिव्यक्ति होती है, तब उनकी (अलंकारों की) ध्वन्यङ्गता (ध्वनिव्यवहारप्रयोजकता) निश्चित है, क्योंकि काव्य का व्यवहार उन (अलंकारों) के आश्रित होता है।"

इस प्रकार ध्वनिकार के द्वारा प्रतिपादित (कथित) रीति से जहाँ वस्तुमात्र से अलंकार अभिव्यक्त होता है, वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्यता नहीं होती।

विमर्श—आचार्य मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के मुख्य आठ भेद बतलाये हैं। उनके अनुसार गुणीभूतव्यङ्ग्य के मुख्य भेदों के अवान्तर भेद ध्वनि के भेदों के

(सू० ६८) सालंकारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसंकरैः।

सालङ्कारैरिति तैरेवालङ्कारैः अलङ्कारयुक्तैश्च तैः। तदुक्त ध्वनिकृता—

'स गुणीभूतव्यंग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः।
संकरसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा ।।इति।।

समान ही होते हैं। मम्मट ने ध्वनि काव्य के ५१ भेद बतलाये हैं, अतः गुणीभूत-व्यङ्ग्य के भी ५१ भेद होने चाहिए। किन्तु ध्वनिकार के मतानुसार जहाँ वस्तु से अलङ्कारों की व्यञ्जना होती है वहाँ वस्तु की अपेक्षा अलङ्कार की प्रधानता होने के कारण उसे गुणीभूतव्यंग्य नहीं माना जा सकता है, अपितु उसे ध्वनिकाव्य माना जाता है, क्योंकि वहाँ काव्य-व्यवहार अलङ्कार पर निर्भर रहता है। इस प्रकार अलङ्कार व्यङ्ग्य के ९ भेद ध्वनि-काव्य के ५१ भेदों में से कम कर देने पर ५१—९=४२) गुणीभूतव्यङ्ग्य के ४२ भेद होते हैं।

मम्मट के अनुसार गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद यथासम्भव ध्वनि-काव्य के भेदों के समान होते हैं। मम्मट के ६७ वें सूत्र में आये 'यथायोग' पद का अभिप्राय यह है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य के जिन भेदों के बनने में कोई बाधा न हो तो उन्हें ध्वनिकाव्य के भेदों के समान बना लेने चाहिए, किन्तु जिन भेदों के बनने में कठिनाई उपस्थित हो, उन्हें छोड़ देना चाहिए। ध्वनिकार 'यथायोग' पद का आशय प्रकट करते हुए कहते हैं कि जहाँ पर वस्तुमात्र से अलङ्कार व्यङ्ग्य हो, वहाँ गुणीभूत नहीं होता। अतएव वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य के स्वतःसम्भवी, कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध, कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति सिद्ध ये तीन भेद पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत रूप से प्रत्येक के तीन भेद होकर कुल ९ भेद होते हैं। इस प्रकार ध्वनि-काव्य के ५१ भेदों में से इन ९ भेदों के कम कर देने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य के कुल ५१—९=४२ भेद होते हैं) इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य से आठ शुद्ध भेदों में प्रत्येक के ४२ भेद होने से गुणीभूतव्यङ्ग्य के कुल ४२×८=३३६ भेद होते हैं। इनके अतिरिक्त संसृष्टि और संकर के द्वारा उनके और भी भेद होते है जिनका वर्णन आगे किया जा रहा है।

अनुवाद (सू० ६८)—अलंकार रूप, तथा वाच्यालंकारों से युक्त (सालंकारैः) उन्हीं गुणीभूतव्यंग्य के भेदों के साथ ध्वनि का (ध्वनि के भेदों को) संसृष्टि और संकर रूप से मिश्रण (योग) होता है।

अनुवाद—(वृत्ति)—'सालंकारैः अर्थात् अलंकार रूप में स्थित उन गुणीभूत व्यङ्ग्यों के साथ तथा उपमा आदि अलंकारों से युक्त (ध्वनि भेदों का संसृष्टि और संकर रूप से योग होता है। जैसाकि ध्वनिकार ने कहा है—

(सू० ६९) अन्योन्ययोगादेवं स्याद्भेदसंख्यातिभूयसी ॥४७॥

एवमनेन प्रकारेण अवान्तरभेदगणनेऽतिप्रभूततरा गणना। तथाहि—
शृंगारस्यैव भेद-प्रभेदगणनायामानन्त्यम्, का गणना तु सर्वेषाम् ॥

'वह (ध्वनि) अलंकारों सहित गुणीभूतव्यङ्ग्य के (भेदों के) साथ और अपने अवान्तर भेदों के साथ संकर तथा संसृष्टि के द्वारा फिर अनेक प्रकार से प्रकाशित होता है।'

अनुवाद (सू० ६९)— इस प्रकार परस्पर एक दूसरे के मिश्रण से भेदों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है ॥४७॥

अनुवाद—(वृत्ति)—इस प्रकार अवान्तर भेदों की गणना करने पर (ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेदों की) संख्या (गणना) बहुत अधिक हो जाती है। जैसे—शृंगार के ही भेद-प्रभेदों की गणना करने पर अनन्त संख्या हो जाती है, तो फिर सबकी गणना की बात ही क्या है?

विमर्श—यहाँ पर 'सालङ्कारैः' पद दो अर्थों (गुणीभूतव्यङ्ग्य और वाच्यालङ्कार) का वाचक है। भिन्नार्थक दोनों पदों में यहाँ एकशेष द्वन्द्व समास हुआ है (सालङ्काराश्च सालङ्काराश्च इति सालङ्काराः तैः सालङ्कारैः) तथा 'सरूपाणामेकशेष एक विभक्तौ' इस सूत्र से एक पद का लोप होकर 'सालङ्कार' पद शेष रह गया है। इसी 'सालङ्कार' (सालङ्कारैः) पद के उक्त दोनों अर्थ निकलते हैं। एक स्थल पर अलङ्कार पद में भाव-प्राधान्य में निर्देश मानकर 'अलंङ्कार' का अर्थ अलङ्कारत्व या अलङ्कृति (शोभा) होता है। इस प्रकार अलंकृति (शोभा) सहित अर्थात् रसवद् आदि अलङ्कार रूप में स्थित गुणीभूतव्यङ्ग्यों के साथ—यह अर्थ होगा (अलङ्कृतिरलङ्कारः, अलङ्कारेण शोभया सहिताः सालङ्काराः, तैः सालङ्कारैः शोभाजनकैः गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदैः सह)।

दूसरे स्थल पर 'सालङ्कारैः' पद का अर्थ उपमादि वाच्यालङ्कारों सहित हो जाता है (अलंक्रियतेऽनेनेत्यलङ्कारः उपमादिः तेन सहिता सालङ्काराः, तैः सालङ्कारैः उपमादिवाच्यालङ्कारसहितैः)। इस प्रकार ध्वनि के भेदों की रसवादादि अलङ्कार के रूप में स्थित तथा उपमादि वाच्यालङ्कारों सहित वस्तुरूप गुणीभूतव्यङ्ग्य के साथ संसृष्टि के रूप में (तिलतण्डुलन्याय से) और त्रिविध सङ्कर के रूप में (नीरक्षीरन्याय से) मिश्रण होता है। इस प्रकार इनकी संख्या बहुत अधिक हो जाती है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन से भी अन्योऽन्य मिश्रण से ध्वनि की प्रभूततम संख्या स्वीकार की है और लोचनकार अभिनवगुप्त ने भी स्पष्ट प्रतिपादन किया है।
'तस्य च ध्वनेः स्वप्रभेदैर्गुणीभूतव्यंग्येन वाच्यालङ्कारैश्च संकरसंसृष्टिव्यवस्थायां क्रियमाणायां बहुप्रभेदता लक्ष्ये दृश्यते।' (ध्वन्यालोक ३।१४)

संकलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः, व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्। तथा हि किञ्चिद्वाच्यतां सहते, किञ्चित्त्वन्यथा। तत्र वाच्यतासहमविचित्रं विचित्रं चेति। अविचित्रं वस्तुमात्रम्, विचित्रं त्वलंकाररूपम्। यद्यपि प्राधान्येन तदलंकार्यम्, तथापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेन तथोच्यते।

व्यञ्जना की सिद्धि

अनुवाद—संक्षेप में (संकलनं संक्षेपः) इस ध्वनि (काव्य) के तीन भेद होते हैं, क्योंकि व्यङ्ग्य तीन प्रकार का होता है। जैसे कि कोई (व्यङ्ग्य) वाच्यता को सहन कर सकता है और कोई अन्य प्रकार का अर्थात् वाच्यता को सहन न करने वाला होता है। इनमें से वाच्यतासह अविचित्र और विचित्र (दो प्रकार का) होता है। अविचित्र वस्तुमात्र और विचित्र अलङ्कार रूप होता है। यद्यपि प्रधान होने से वह (व्यंग्य) अलङ्कार्य होता है, तथापि ब्राह्मणश्रमणन्याय से वैसा—उस प्रकार (अलङ्कार) कहा जाता है।

विमर्श—आचार्य मम्मट ध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेदों का निरूपण करने के पश्चात् व्यञ्जना की सिद्धि के लिए संक्षेप में उनके भेदों का पुनः निरूपण करते हैं। यहाँ संकलन का अर्थ संक्षेप है (सङ्कलनं संक्षेपः) मम्मट ध्वनि के प्रथमतः दो भेद करते हैं—वाच्यतासह और वाच्यता-असह। इनमें वाच्यतासह दो प्रकार का होता है—अविचित्र और विचित्र। इनमें अविचित्र को वस्तुध्वनि तथा विचित्र को अलङ्कार-ध्वनि कहा जाता है। इसे वाच्यतासह इसलिए कहते हैं कि यह वाच्यता को सहन करने वाला होता है। वाच्यता-असह रसादिध्वनि रूप एक प्रकार का होता है। यह कभी भी वाच्यता को सहन नहीं करता अर्थात् यह कभी भी वाच्य नहीं होता, सदा व्यङ्ग्य ही होता है। इस प्रकार ध्वनि के संक्षेप में तीन भेद होते हैं—

(१) वस्तुध्वनि।
(२) अलङ्कारध्वनि।
(३) रसादिध्वनि।

मम्मट ने ध्वनि के वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि और रसादिध्वनि ये तीन भेद किये हैं। मम्मट का यह विवेचन ध्वनिकार आनन्दवर्धन की समीक्षा पर आधारित प्रतीत होता है, ध्वनिकार के अनुसार प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ वाच्य सामर्थ्य से आक्षिप्त होकर वस्तुमात्र, अलङ्कार और रसादि रूप से तीन प्रकार का होता है। जो अर्थ कभी स्ववाच्यता में भी विश्रान्त होता है अर्थात् जो वाच्यता को सहन करने वाला होता है, (कभी-कभी वाच्य भी होता है) वह दो प्रकार का होता

रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। स हि रसादिशब्देन शृंगारादिशब्देन वाभिधीयेत। न चाभिधीयते। तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे तस्याप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वय व्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयते, इति निश्चीयते। तेनासौ व्यङ्ग्य एव। मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः।

है—(१) जो काव्य को सुशोभित करने वाले (शोभावर्द्धक) हैं वे उपमादि अलङ्कार कहलाते हैं। इस प्रकार जो पहिले कभी वाक्य के अर्थ में उपमा आदि के रूप में अलङ्कारभाव को प्राप्त हो चुका है और इस समय अलङ्काररूपता को छोड़कर ध्वनिरूपता को प्राप्त कर लिया है; क्योंकि वह पहिले अलङ्कार था, इसलिए उसे अलङ्कारध्वनि कहते हैं। इस पर कहते हैं कि जब व्यङ्ग्य (ध्वनि) रूप में उपमादि अलङ्कार चमत्कारजनक होते हैं तो प्रधान (मुख्य) होने के कारण वे 'अलङ्कार्य' हुए, फिर उन्हें अलङ्कार क्यों कहते हैं? इस पर ध्वनिवादियों का कहना है कि भूतपूर्व गति का आश्रय लेकर लोकव्यवहारसिद्ध 'ब्राह्मणश्रमणन्याय' से उन्हें अलङ्कार (अलङ्कार-ध्वनि) कह दिया जाता है जिस प्रकार किसी ब्राह्मण के श्रमण (बौद्ध संन्यासी) हो जाने पर तथा ब्राह्मणत्व को छोड़ देने पर भी भूतपूर्व गति के आश्रय से अन्य संन्यासियों से उसका पार्थक्य दिखलाने के लिए उसे 'ब्राह्मणश्रमण' कह दिया जाता है उसी प्रकार किसी अलङ्कार के ध्वनि-रूपता (व्यङ्ग्यता) ग्रहण कर लेने पर भी तथा उसके अलङ्कार्य होने पर भी) वस्तुरूप ध्वनि से पार्थक्य दिखलाने के लिए उसे 'अलङ्कारध्वनि' कह दिया जाता है। वाच्यतासह का द्वितीय भेद वस्तुध्वनि है जो कभी अलङ्कार-रूपता को प्राप्त नहीं हुआ है, उसे वस्तुध्वनि (वस्तुकाव्यध्वनि भी) कहते हैं। यह अलङ्कारध्वनि से भिन्न होता है।

रसादि-ध्वनि में व्यञ्जना की अनिवार्यता

अनुवाद—रसादि रूप अर्थ तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं हो सकता। क्योंकि वह तो रसादि शब्द के द्वारा अथवा शृंगारादि शब्द के द्वारा ही अभिधाशक्ति से (वाच्यरूप में) कहा जा सकता है; किन्तु (अभिधाशक्ति से वाच्यरूप में) कहा नहीं जाता (न चाभिधीयते)। क्योंकि उन (रसादि या शृंगारादि) का प्रयोग होने पर भी विभाव आदि का प्रयोग न होने पर उसकी (रसादि की) अनुभूति (प्रतिपत्ति) नहीं होती तथा उन (रसादि या शृंगारादि शब्दों) का प्रयोग न होने पर भी विभाव आदि का प्रयोग होने पर उसकी (रसादि की) अनुभूति होती है। अतएव 'विभावादि' के कथन के

द्वारा ही (रसादि की) प्रतीति (अनुभूति) होती है; यह अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ही निश्चय किया जाता है। इसलिए वह (रसादि रूप अर्थ) व्यङ्‌ग्य ही होता है (वाच्य कभी भी नहीं होता) और मुख्यार्थ बाध आदि के होने से वह लक्षणीय (लक्षणा का विषय, लक्ष्य) भी नहीं होता।

विमर्श—रसादिध्वनि को वाच्यता-असह कहते हैं; क्योंकि वह कभी भी वाच्यता (वाच्यार्थ) को सहन नहीं करता। अर्थात् रसादिध्वनि रूप अर्थ स्वप्न में भी वाच्य नहीं होता और न कभी लोक व्यवहार में ही आता है; अपितु काव्य-व्यापार में ही आता है (काव्यमार्गैकगोचर होता है)। ध्वनिकार के अनुसार यह वाच्यसामर्थ्य से आक्षिप्त होकर प्रकाशित होता है वह कभी भी साक्षात् स्वशब्दवाच्य नहीं होता और न शब्द-व्यापार का विषय बनता है। अतएव रसादिध्वनि वाच्य से भिन्न होती है—

'रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद्विभिन्न एव।'

(ध्वन्यालोक १-४)

इस प्रकार वस्तु और अलङ्कार ध्वनियों की तो वाच्यता (शब्दाभिधेयता) मानी जा सकती है किन्तु रस-भावादि को तो कभी भी शब्दाभिधेय (वाच्य) नहीं माना जा सकता है अर्थात् वह अभिधा द्वारा बोध्य (वाच्य) नहीं हो सकता, वह तो सदा व्यङ्‌ग्य ही रहता है। क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा यह बात सिद्ध होती है कि यदि रस-भावादि पदों का प्रयोग हो और विभावादि का वर्णन न हो तो रसानुभूति (रस की प्रतीति) नहीं होती, और यदि विभावादि का वर्णन हो और रसादि का प्रयोग न भी हो तो रस की प्रतीति होती है। अन्वय का अर्थ है—तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः अर्थात् उसके रहने पर वह रहे, यह अन्वय है। यहाँ विभावादि के रहने पर रसानुभूति होती (विभावादिसत्त्वे रसानुभूतिसत्ता—अन्वयः)। यह अन्वय है। और उसके न रहने पर वह न रहे वहाँ व्यतिरेक होता है (तदभावे तदभावो व्यतिरेकः)। यहाँ पर विभावादि के न रहने पर रसादि की अनुभूति नहीं होती (विभावाद्यभावे रसानुभूतेरभावः) यह व्यतिरेक है। इस प्रकार रसानुभूति विभावादि-वर्णन पर ही सम्भव है और उसके अभाव में रसानुभूति हो ही नहीं सकती, अतः रसादि रूप अर्थ व्यङ्‌ग्य ही है (वाक्य नहीं)। वह अभिधा का विषय नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि रसादि की प्रतीति में लक्षणा से काम चल जायगा तो व्यञ्जना की क्या आवश्यकता है? इस पर कहते हैं कि लक्षणा के द्वारा भी रसादि की प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि लक्षणा के तीन हेतु बताये गये हैं—(१) मुख्यार्थबाध, (२) मुख्यार्थयोग और (३) रूढ़ि या प्रयोजन। यहाँ पर विभावादि रूप मुख्यार्थ का बाध नहीं है और विभावादिरूप वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) के साथ रसादि रूप लक्ष्यार्थ का ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव सम्बन्ध भी नहीं है तथा रूढ़ि या प्रयोजन भी

अर्थान्तरसङ्क्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्योर्वस्तुमात्ररूपं व्यंग्य विना लक्षणैव न व्यवसीति प्राक् प्रतिपादितम्।

शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यंग्यत्वम्।

सम्भव नहीं है; क्योंकि रूढ़ि लक्षणा में व्यङ्ग्य का सर्वथा अभाव रहता है और प्रयोजन भी नहीं, क्योंकि यदि यहाँ किसी प्रयोजन को लक्ष्य मान भी लिया जाय तो उसके लिए पुनः अन्य प्रयोजन की कल्पना करनी पड़ेगी और उस प्रयोजन के के लिए भी प्रयोजनान्तर की। इस प्रकार यहाँ अनवस्था दोष उत्पन्न होगा, अतः प्रयोजन आदि के बिना यहाँ लक्षणा हो ही नहीं सकती। इसीलिए मम्मट ने कहा है कि मुख्यार्थबाध आदि लक्षणा के प्रयोजक हेतुओं के न होने से यहाँ लक्षणा नहीं हो सकती।

लक्षणामूलकध्वनि में व्यञ्जना की अनिवार्यता—

अनुवाद—अर्थान्तरसंङ्क्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य में वस्तु-मात्र व्यंग्य के बिना लक्षणा ही नहीं हो सकती, यह पहिले (सूत्र २७ में) प्रतिपादित किया जा चुका है।

विमर्श—आचार्य मम्मट ने तीन भेद बताये हैं— वस्तु, अलंकार और रसादि-ध्वनि। इनमें रसादि-ध्वनि अभिधा एवं लक्षणा का विषय नहीं बन सकता, इसका प्रतिपादन पहिले किया जा चुका है। अब वस्तु-ध्वनि एवं अलंकार-ध्वनि की व्यंजना-प्रतिपाद्यता का निरूपण आगे करेंगे।

मम्मट के अनुसार लक्षणामूलक ध्वनि के दो भेद हैं—अर्थान्तरसङ्क्रमित-वाच्य और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य। उन्होंने अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्य का उदाहरण 'त्वामस्मि वच्मि०' इत्यादि दिया है। यहाँ पर 'वच्मि' आदि 'उपदिशामि' (उपदेश) आदि रूप अर्थान्तर में सङ्क्रान्त हो जाता है। इसी प्रकार अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का उदाहरण 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते, आदि दिया है। यहाँ पर 'उपकृत' आदि पद अपने अर्थ को बिल्कुल छोड़कर 'अपकृत' अर्थ को द्योतित करता है। इनमें वस्तुमात्र ध्वनि लक्षणा के प्रयोजन के रूप में प्रतिपादित है। अतः वस्तुमान व्यङ्ग्य के बिना यहाँ लक्षणा ही नहीं हो सकती और उस व्यङ्ग्य रूप प्रयोजन की प्रतीति अभिधा अथवा लक्षणा के द्वारा नहीं हो सकती, जैसा कि मम्मट ने द्वितीय उल्लास में कहा है कि '**नाभिधा समयाभावात्, हेत्वभावान्न लक्षणा।**' अतः लक्षणामूलक ध्वनि के दोनों भेदों में प्रयोजन की प्रतीति के लिए व्यञ्जना मानना आवश्यक है।

अभिधामूलकध्वनि में व्यञ्जना की आवश्यकता—

अनुवाद—(संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के) शब्दशक्तिमूलक (ध्वनि) में अभिधा

अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे संकेतः कर्त्तुं न युज्यत इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकांक्षासन्निधियोग्यतावशात् परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यंग्यस्याभिधेयतायाम् ।

का नियन्त्रण हो जाने से जो अनभिधेय (अभिधेय-वाच्य अर्थ से भिन्न) दूसरा अर्थ (प्रतीत होता है) उसका और उसके साथ उपमा आदि अलंकार की व्यंग्यता निर्विवाद है ।

विमर्श—अभिधामूलक ध्वनि के प्रथम दो भेद होते हैं—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य । इनमें असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के अन्तर्गत रस, भाव आदि का समावेश है । रसादिध्वनि को असंलक्ष्यक्रम इसलिए कहते हैं कि इसमें विभावादि के द्वारा रसावबोध के पूर्वापर क्रम का ज्ञान नहीं रहता । रसादिध्वनि में व्यञ्जना की अनिवार्यता का निरूपण पहिले किया जा चुका है । संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के तीन भेद किये गये हैं—शब्दशक्तिमूलक (शब्दशक्त्युद्भव), अर्थशक्तिमूलक (अर्थशक्त्युद्भव) और उभयशक्तिमूलक (उभयशक्त्युद्भव) । इनमें शब्दशक्तिमूलक भेद में संयोगादि के द्वारा अभिधा के एकार्थ में नियन्त्रण हो जाने से अन्य अर्थ की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती; क्योंकि अभिधा एक अर्थ का बोध कराने के बाद विरत हो जाती है और दूसरा अर्थ बोध नहीं करा सकती । अतः अन्य अर्थ के बोध के लिए व्यञ्जना वृत्ति मानना अनिवार्य है । इसी प्रकार प्राकरणिक (वाच्य) और अप्राकरणिक (अवाच्य) अर्थों का उपमानोपमेयभाव आदि अलंकार भी व्यञ्जना द्वारा बोधित होते हैं, अतः शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में व्यञ्जना मानना अनिवार्य है ।

अभिहितान्वयवाद में व्यञ्जना—

अनुवाद—अर्थशक्तिमूलक ध्वनि में भी (व्यक्तिरूप) विशेष में संकेत करना उचित (सम्भव) नहीं है, इसलिए सामान्य रूप पदार्थों का आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता के कारण होने वाला परस्पर संसर्ग रूप विशेष जो किसी पद का अर्थ नहीं है, ऐसा अपदार्थ भी विशेष रूप वाक्यार्थ होता है, उस अभिहितान्वयवाद में व्यङ्ग्य की अभिधेयता (वाच्यता) की बात ही क्या है ?

विमर्श—मम्मट का कथन है कि अर्थशक्तिमूलक ध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के पहिले वाच्यार्थ का ज्ञान आवश्यक है; क्योंकि वाच्यार्थ-प्रतीति के बाद ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है । वाक्य-विचार में मीमांसकों को प्रधान माना

जाता है, इसलिए उन्हें 'वाक्यज्ञ' कहा जाता है। वाक्यार्थज्ञान के सम्बन्ध में मीमांसकों के दो मत पाये जाते हैं—(१) अभिहितान्वयवाद और (२) अन्विताभिधानवाद। इनमें अभिहितान्वयवाद के प्रतिपादक कुमारिलभट्ट और पार्थसारथि मिश्र आदि हैं और अन्विताभिधानवादके अनुयायी प्रभाकर गुरु और शालिकनाथ मिश्र आदि हैं।

अभिहितान्वयवाद में व्यङ्ग्यार्थ की अभिधेयता का निराकरण करते हुए मम्मट कहते हैं कि अर्थशक्तिमूलक ध्वनि में वाक्य-विशेष में संकेतग्रह मानना उचित नहीं है; क्योंकि वाक्य में संकेतग्रह मानने पर 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' दोष आ जाते हैं। यदि वाक्य में संकेतग्रह मानते हैं तो वाक्य के अनन्त होने से अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार 'आनन्त्य' दोष उत्पन्न होगा। यदि एक वाक्य में संकेत मान लिया जाय और शेष वाक्यों में उसी आधार पर बिना संकेत के अर्थबोध हो जायगा तो नियम का उल्लंघन होने से व्यभिचार दोष होता है, इस प्रकार 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' दोष आ जाने से वाक्य-विशेष में संकेतग्रह मानना उचित नहीं है।

अभिहितान्वयवाद के अनुसार पहिले अभिधाशक्ति के द्वारा पद से पदार्थ का ज्ञान होता है। बाद में उनका (पदार्थों का) आकाङ्क्षा, योग्यता, सन्निधि के आधार पर परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) होता है और परस्पर अन्वित (सम्बद्ध) पदार्थ विशिष्ट अर्थ को सम्पन्न करते हैं जिसे वाक्यार्थ कहते हैं। तात्पर्य यह कि आकाङ्क्षा, योग्यता, सन्निधि के आधार पर जब एक पद के अर्थ के साथ दूसरे पदों के अर्थ का परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) होता है, तभी विशिष्ट अर्थ का ज्ञान होता है। इस प्रकार पदों के सामान्य अर्थ के अभिहित (कथित) होने के बाद परस्पर अन्वय होने पर जो सम्बद्ध रूप विशिष्ट अर्थ होता है, वही वाक्यार्थ ज्ञान है, उसी को 'तात्पर्यार्थ' भी कहते हैं। इस विशेष रूप वाक्यार्थ की प्रतीति 'तात्पर्या शक्ति' से होती है।

इस प्रकार अभिहितान्वयवाद के अनुसार पहिले अभिधाशक्ति से केवल पदार्थों की उपस्थिति होती है, उसके बाद वक्ता के तात्पर्य के अनुसार उन पदार्थों का परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) होता है जिससे वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। इन अन्वित पदार्थों के परस्पर संसर्ग रूप वाक्यार्थ (विशेष अर्थ) की प्रतीति 'तात्पर्याख्या' वृत्ति से होती है। तत्पश्चात् व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार अभिहितान्वयवाद में जब वाक्यार्थ ज्ञान भी अभिधाशक्ति से बोध्य नहीं होता और इसके लिए 'तात्पर्याख्या' शक्ति माननी पड़ती है तब वाक्यार्थ ज्ञान के बाद प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अभिधा से कैसे हो सकती है ? अतः व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जना वृत्ति मानना अनिवार्य है।

येऽप्याहुः—

शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥१॥
अन्यथानुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम् ।
अर्थापत्त्यावबोधेत सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥२॥

इति प्रतिपादितदिशा—

'देवदत्त गामानय' इत्याद्युत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगाद्देशाद्देशान्तरं सास्नादिमन्तमर्थं मध्यमवृद्धे नयति सति 'अनेनास्माद्वाक्यादेवंविधोऽर्थः प्रतिपन्नः' इति तच्चेष्टयाऽनुमाय, तयोरखण्डवाक्यवाक्यार्थयोरर्थापत्त्या वाच्यवाचकभावलक्षणं सम्बन्धमवधार्य बालस्तत्र व्युत्पद्यते ।

परतः 'चैत्र गामानय, देवदत्त अश्वमानय, देवदत्त गां नय' इत्यादिवाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्य तं तमर्थमवधारयतीति, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारिवाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव संकेतो गृह्यते इति विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थो न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम् ।

अन्विताभिधानवाद में व्यञ्जना—

अनुवाद—जो (अन्विताभिधानवादी) भी कहते हैं—

'यहाँ पर बालक शब्द को (देवदत्त गामानय शब्द को) श्रोत्र से सुनता है और (मध्यम) वृद्ध तथा अभिधेय (गवानयन रूप क्रिया) को प्रत्यक्ष रूप से देखता है और श्रोता (मध्यम वृद्ध) के ज्ञान को चेष्टा (गवानयनादि रूप क्रिया) के द्वारा अनुमान से वह समझ लेता है । तब अन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति के द्वारा द्वयात्मिका अर्थात् दोनों प्रकार की (वाच्य-वाचक रूप) शक्ति को जानता है । इस प्रकार (प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति रूप) तीन प्रमाणों से संकेत रूप सम्बन्ध को जानता है ॥१-२॥

इस प्रकार कारिकाद्वय में प्रतिपादित रीति (मार्ग) से—

'देवदत्त गाय लाओ' इस प्रकार उत्तम वृद्ध के इस वाक्य के प्रयोग से मध्यमवृद्ध के सास्नादिमान् अर्थ (वस्तु, गाय) को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हुए (देखकर बालक) 'इसने इस वाक्य से यह अर्थ समझा' इस प्रकार उसकी (मध्यमवृद्ध की) चेष्टा से अनुमान करके उन दोनों अखण्ड वाक्य और वाक्यार्थ के वाच्य-वाचक भाव रूप सम्बन्ध का

अर्थापत्ति के द्वारा निर्णय करके बालक उस वाक्य का ज्ञान प्राप्त करता है।

इसके बाद 'चैत्र गाय को लाओ' 'देवदत्त घोड़े को लाओ' 'देवदत्त गाय को ले जाओ' इत्यादि वाक्यों के प्रयोग होने पर उस-उस शब्द के उस-उस अर्थ का निश्चय करता है, इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्ति कराने वाला वाक्य ही प्रयोग के योग्य होता है, इसलिए वाक्य में स्थित (अन्वित) पदों का ही अन्वित पदों के साथ संकेत-ग्रह होता है, इसलिए विशिष्ट (परस्पर सम्बद्ध या अन्वित) पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है, पदार्थों (बाद में प्रतीत होने वाला) वैशिष्ट्य (वाक्यार्थ) नहीं होता है।

विमर्श—यहाँ पर अभिहितान्वयवाद में व्यञ्जना की अनिवार्यता का प्रतिपादन करने के बाद अब अन्विताभिधानवाद में व्यञ्जना की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया जा रहा है, किन्तु उसके पहिले अन्विताभिधानवाद को समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है। यहाँ प्रथम **'येऽप्याहुः'** से लेकर **'नतु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्'** यहाँ तक 'अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है (विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थः) इस प्रकार अन्विताभिधानवाद का प्रतिपादन तथा 'अनन्वित पदार्थों का बाद में होने वाला सम्बन्ध (वाक्यार्थ) नहीं होता है' (न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्) इस प्रकार अभिहिता-न्वयवाद का खण्डन किया गया है।

अन्विताभिधानवाद के अनुसार अभिधाशक्ति के द्वारा अन्वित पदार्थों की ही उपस्थिति होती हैं, उसके लिए 'तात्पर्याख्या' शक्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके मत में पदार्थ-बोध सङ्केतग्रह से होता है और सङ्केतग्रह का आधार 'व्यवहार' है। यहाँ दो कारिकाओं द्वारा सङ्केतग्रह का प्रकार दिखलाते हुए 'अन्वित पदार्थ, में ही सङ्केतग्रह होता है' इसका प्रतिपादन किया जायगा। 'सङ्केतग्रह' का प्रमुख साधन 'व्यवहार' है। बालक के लिए तो सङ्केतग्रह का एकमात्र साधन 'व्यवहार' है। जैसे—कोई उत्तमवृद्ध मध्यमवृद्ध (युवक) से कहता है कि 'गामानय' अर्थात् 'गाय लाओ'। समीप में बैठा हुआ बालक 'गामानय' इस वाक्य को सुनता है और मध्यम वृद्ध के द्वारा सास्नादिविशिष्ट पशुविशेष (गाय) को लाते हुए देखता है तो पदार्थ-ज्ञान न होने पर भी अर्थात् पदों का अलग-अलग अर्थ मालूम न होने पर भी वह 'गामानय' इस अखण्ड वाक्य द्वारा सास्नादिविशिष्ट गो व्यक्ति के आनयन रूप क्रिया को देखकर 'वाक्यार्थ' का ग्रहण करता है। इसके बाद बालक फिर **'गां नय, अश्वमानय'** अर्थात् 'गाय ले जाओ, घोड़ा लाओ' इस वाक्य को सुनता है तो 'गां नय' में आनय स्थान पर 'नय' का प्रयोग और 'अश्वमानय' में 'आनय' पद को सुनकर और प्रवृत्ति-निवृत्ति के द्वारा (अवापोद्वाप) के द्वारा प्रवर्तन

और निवर्तन रूप क्रिया को देखकर 'नय' का अर्थ 'ले जाना' और 'आनय' का अर्थ 'लाना' समझने लगता है। इस प्रकार प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार को देखकर बालक सोचता है कि उसने इस शब्द का अर्थ यह समझा और अमुक शब्द का अर्थ यह समझा' इस प्रकार पृथक्-पृथक् पदों का अर्थ समझने लगता है। यही सङ्केतग्रह की प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया का वर्णन अगली दोनों कारिकाओं और उनकी व्याख्या में किया गया है।

इसके बाद कारिकाद्वय में सङ्केतग्रह में प्रमाणत्रय की उपयोगिता का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—'**शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति**' इस प्रथम श्लोकार्द्ध में 'प्रत्यक्ष' शब्द से 'चाक्षुष' प्रत्यक्ष तथा 'श्रावण' प्रत्यक्ष तथा उनके कारणरूप 'चक्षु' और 'श्रोत्र' इन्द्रिय का ग्रहण होता है। इस प्रकार 'पश्यति' शब्द से 'सुनना' एवं 'देखना' दोनों का ग्रहण होता है। व्यवहार में बालक उत्तम वृद्ध के द्वारा कहे हुए 'गामानय' वाक्य को अपने कानों से सुनता है। यहाँ 'पश्यति' पद से 'शृणोति' (सुनना) अर्थ गृहीत होता है, क्योंकि 'शब्द' का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय से होता है। फिर मध्यम वृद्ध गाय को लाता है तो बालक 'वृद्ध' तथा 'अभिधेय' (गाय) को चक्षुरिन्द्रिय में देखता है। यहाँ 'पश्यति' शब्द से 'देखना' अर्थ गृहीत होता है।

इसी प्रकार 'श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया' इस प्रथम श्लोक के उत्तरार्द्ध में अनुमान प्रमाण की उपयोगिता का वर्णन है। यहाँ पर उत्तम वृद्ध के 'गामानय' वाक्य को सुनकर मध्यम वृद्ध उत्तम वृद्ध के वाक्य का अर्थ समझ कर ही गावानयन रूप कार्य में प्रवृत्त होता है' इस प्रकार मध्यम वृद्ध की चेष्टा को देखकर बालक अनुमान करता है। इस प्रकार बालक चेष्टा रूप लिङ्ग से श्रोता (मध्यम वृद्ध) के ज्ञान का अनुमान करता है।

इसके बाद द्वितीय कारिका में अर्थापत्ति प्रमाण तथा प्रमाणत्रय का सङ्केतग्रह में उपयोगिता का वर्णन किया गया है। कारिका के '**अन्यथानुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम्, ।। अर्थापत्त्या**' इस अंश में अर्थापत्ति प्रमाण का प्रतिपादन है। है। 'अनुपपद्यमानार्थदर्शनात्तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनमर्थापत्तिः' अर्थात् अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादकीभूत अर्थ की कल्पना करना 'अर्थापत्ति' प्रमाण है। जैसे—'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' अर्थात् 'देवदत्त मोटा है, किन्तु दिन में नहीं खाता' यहाँ पर देवदत्त का बिना खाये मोटा रहना असम्भव (अनुपपद्यमान अर्थ) है अतः रात्रि भोजन की कल्पना की जाती है, यही 'कल्पना' अर्थापत्ति है। इस प्रकार 'बिना खाये मोटा होना' अनुपपद्यमान अर्थ है और 'रात्रि-भोजन' उपपादकीभूत अर्थ है। अतः अन्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति रात्रि-भोजन में प्रमाण है।

जहाँ पर अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा वाक्य और वाक्यार्थ के वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध का ज्ञान होता है। यहाँ पर 'अर्थावबोध' 'अनुपपद्यमान' अर्थ है और वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध उसका उपपादकीभूत अर्थ है। इस प्रकार अनुपपद्यमान

यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः संकेतगोचरः तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वादित्यन्विताभिधानवादिनः ।

'अर्थावबोध' को देखकर उसके उपपादकीभूत अर्थ (वाच्य-वाचक-भाव रूप अर्थ) की कल्पना अर्थापत्ति के द्वारा होती है। अतः संकेतग्रह में अर्थापत्ति प्रमाण भी सहायक होता है, यह बात सिद्ध होती है। इस प्रकार तीनों प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति) संकेतग्रह में सहायक होते हैं।

इस प्रकार अन्विताभिधानवाद में अन्वित पदार्थ में ही संकेतग्रह होता है, यह बात 'विशिष्टा एव पदार्था: वाक्यार्थः' इस कथन से सिद्ध होती है। इस सम्बन्ध में जैसाकि न्यायमञ्जरीकार का कथन है कि किसी पद का पृथक् प्रयोग नहीं होता वाक्य के रूप में ही उसका प्रयोग होता है, अतः वाक्यान्तर्गत पद परस्पर अन्वित अर्थ का ही अभिधान करते हैं। अतः तात्पर्यशक्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है इस प्रकार अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ के रूप में उपस्थित होते हैं, पदार्थों की उपस्थिति के बाद उसका अन्वय नहीं होता (न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्)। अतः अन्विताभिधानवाद ही उचित प्रतीत होता है।

अनुवाद—यद्यपि दूसरे वाक्यों में प्रयुज्यमान (प्रयुक्त हुए 'आनय' आदि) पद प्रत्यभिज्ञा (पहचान) के बल से 'ये वे ही पद हैं' यह निश्चित हो जाता है, इसलिए सामान्यतः अन्य पदार्थ के साथ अन्वित पदार्थ ही संकेत का विषय है, फिर भी सामान्य से आच्छादित विशेष रूप में ही वह संकेत होता है, क्योंकि परस्पर सम्बद्ध पदार्थों के तथाभूत –विशेष रूप होने से (विशेषरूप में ही संकेतग्रह होता है) यह अन्विताभिधानवादियों का मत है।

विमर्श—'येऽप्याहुः' से लेकर 'न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्' तक अन्विताभिधानवाद का स्थूल रूप से विवेचन किया गया है। इसके बाद 'यद्यपि' से लेकर 'इत्यन्विताभिधानवादिनः' यहाँ तक अन्विताभिधानवाद का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। जैसाकि बताया जा चुका है कि संकेतग्रह का मुख्य साधन 'व्यवहार' है। तदनुसार 'गामानय' इस वाक्य को सुनकर 'गवानयन' रूप व्यवहार के द्वारा परस्पर अन्वित पदार्थ में ही संकेतग्रह होता है, केवल पदार्थ में संकेतग्रह नहीं होता है, अब प्रश्न यह उठता है कि 'गामानय' में भी जो 'आनय' पद है वही 'आनय' पद 'अश्वमानय' में भी है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा के बल से दो जगह एक ही 'आनय' पद है, यह निश्चित होता है। यदि हम विशेष के साथ अन्वित अर्थ में संकेतग्रह मानते हैं तो

तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः संकेतविषयः इत्यतिविशेष-भूतो वाक्यार्थान्तर्गतोऽसंकेतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते, तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य निःशेषच्युतेत्यादौ विध्यादेश्चर्चा ।

'गामानय' में 'गोविशिष्ट आनयन' में संकेतग्रह मानने पर उससे 'अश्वमानय' में अर्थबोध नहीं होगा। क्योंकि किसी एक अर्थ के साथ अन्वित अर्थ में संकेतग्रह मानने पर अन्य वाक्यों में प्रयुक्त उसी शब्द से अर्थबोध नहीं होता। अतः विशेष के साथ अन्वित अर्थ में संकेतग्रह नहीं होगा। यदि सामान्य रूप से अन्वित अर्थ में संकेतग्रह मानते हैं तो अन्विताभिधानवाद सिद्ध नहीं होता; क्योंकि अन्विताभिधानवाद में विशेष के साथ अन्वित अर्थ में संकेतग्रह होना चाहिए। इस पर कहते हैं कि जिस प्रकार नैयायिक मत में 'गोत्व' में सामान्यतः शक्तिग्रह होने पर आकाङ्क्षादि के बल से 'गो' शब्द से 'गोविशेष' का बोध होता है, उसी प्रकार सामान्य रूप से अन्वित पदार्थ में ही संकेतग्रह होगा, फिर भी '**निर्विशेषं न सामान्यम्**' अर्थात् बिना विशेष के सामान्य नहीं रहता (भाव यह कि सामान्य (जाति) बिना विशेष (व्यक्ति) के नहीं रह सकता) अतः सामान्य से अन्वित अर्थ का पर्यवसान विशेष में होता है। अतः परस्पर अन्वित (सम्बद्ध) पदार्थों के विशेष रूप होने से सामान्य से अन्वित विशेष में ही संकेतग्रह होता है। इस प्रकार सामान्य विशिष्ट व्यक्ति में संकेतग्रह मानना चाहिए। यह अन्विताभिधानवादियों का मत है।

अनुवाद—उनके मत में भी सामान्य-विशेष रूप पदार्थ संकेत का विषय होता है, इसलिए जहाँ (यत्र) वाक्यार्थ के अन्तर्गत 'अतिविशेष' रूप अर्थ संकेत का विषय न होने से (असंकेतित होने से) अवाच्य (अनभिधेय) ही पदार्थ रूप में प्रतीत होता है, वहाँ 'निःशेषच्युत' इत्यादि में तदन्तिक गमन रूप (अर्थान्तरभूतस्य) विध्यादि अर्थ के वाच्य होने की बात तो दूर ही है।

विमर्श—यहाँ ग्रन्थकार अन्विताभिधानवाद में विधि-निषेध रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जना की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि अन्विताभिधानवादियों के मत में भी सामान्य-विशेष में संकेतग्रह मानने पर उसके बाद प्रतीत होने वाले 'अतिविशेष' रूप अर्थ संकेत का विषय न होने से (असंकेतित होने से) अभिधा के 'द्वारा बोध्य नहीं होगा' अतः उसके बोध के लिए कोई अन्य शक्ति माननी पड़ेगी। इस प्रकार जब वाक्यार्थ बोध के लिए ही अन्य शक्ति (अभिधा से भिन्न) की आवश्यकता है तो उसके बाद प्रतीत होने वाले व्यंग्यार्थ के बोध के लिए अभिधा से भिन्न कोई शक्ति माननी पड़ेगी।

इसके पहिले अनुच्छेद में यह बताया जा चुका है कि अन्विताभिधानवाद में

सामान्य रूप से अन्वित अर्थ में संकेतग्रह नहीं माना जा सकता, अतः सामान्य-विशेष रूप से अन्वित अर्थ में संकेतग्रह माना गया है। यहाँ ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि यदि सामान्य रूप से अन्वित अर्थ में संकेतग्रह मानते हैं तो 'घटमानय' के स्थान पर 'वस्तु आनय' कहने पर 'वस्तु' शब्द से 'घट' का ग्रहण नहीं होता। यद्यपि 'घट' भी वस्तुत्व रूप से वस्तु पद वाच्य है, किन्तु घटत्वरूप से वस्तु पद वाच्य नहीं है। इसलिए 'वस्तु' शब्द से 'घट' का ग्रहण नहीं होता, उसके लिए 'घट' शब्द का ही प्रयोग करना पड़ेगा। अतः सामान्य रूप से अन्वित अर्थ में संकेतग्रह न मानकर सामान्य विशेष से अन्वित अर्थ में संकेतग्रह माना जाता है।

यहाँ 'सामान्य-विशेष' शब्द विचारणीय है। अन्विताभिधानवादियों का कहना है कि '**निर्विशेषं न सामान्यम्**' अर्थात् 'सामान्य बिना विशेष के नहीं रहता' इस सिद्धान्त के अनुसार सामान्य विशेष में संकेतग्रह मानना उचित है। यहाँ 'सामान्यविशेष' का अभिप्रांय यह है कि 'गामानय' वाक्य में 'आनय' पदार्थ का कर्मत्व रूप सामान्य-विशेष से अन्वित अर्थ में संकेतग्रह होता है। यहाँ पर 'गामानय' वाक्य में कर्मत्व रूप से अन्वित (कर्मत्वविशिष्ट) 'गाम्' पद सामान्यविशेष है, अतः 'आनय' पद उस सामान्यविशेष 'गो' से अन्वित अर्थ का बोधक होता है। इसी प्रकार 'अश्वमानय' वाक्य में कर्मत्वरूप से अन्वित 'अश्वम्' पद ही सामान्यविशेष है। अतः यहाँ पर 'आनयपद कर्मत्व विशिष्ट (कर्मत्वरूप) 'अश्व' से अन्वित अर्थ का बोधक होता है। इस प्रकार यहाँ दोनों वाक्यों में (गामानय, अश्वमानय) में 'गाम्' और 'अश्वम्' पद आनयन रूप क्रिया के साथ कर्मत्वरूप से अन्वित होते हैं; क्योंकि 'आनय' क्रिया सकर्मक होने से कभी 'गाम्' कभी 'अश्वम्' कभी 'घटम्' आदि के कर्मरूप में अन्वित होते हैं। यहाँ पर 'गाम्', 'अश्वम्' आदि पद विशेष होते हुए भी 'कर्मत्व' रूप सामान्य सम्बन्ध से अन्वित होते हैं। अतः इनके लिए सामान्य-विशेष शब्द का प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार 'गामानय' और 'अश्वमानय' वाक्यों में 'गाम्' और 'अश्वम्' पद विशेष होते हुए भी कर्मत्व रूप सामान्य सम्बन्ध से 'आनय' क्रिया के साथ अन्वित होते हैं। इस प्रकार कर्मत्वरूप से अन्वित सामान्य-विशेष में संकेतग्रह मानने पर सामान्य-विशेष का बोध तो अभिधा के द्वारा हो जायगा; किन्तु 'अतिविशेष' (अर्थात् गो, अश्व आदि व्यक्ति-विशेष) अर्थ का बोध अभिधा से कैसे होगा ? क्योंकि व्यक्ति विशेष रूप अतिविशेष अर्थ असंकेतित होने से अभिधा का विषय नहीं बनता। अतः उसके लिए अन्य शक्ति माननी पड़ेगी। इस प्रकार जब अतिविशेष रूप अर्थ का बोध भी अभिधाशक्ति से नहीं हो सकता, उसके लिए अन्य शक्ति माननी पड़ेगी तो व्यंग्यार्थ का बोध अभिधा से कैसे हो सकता है ? अतः उसके लिए व्यंजनाशक्ति माननी पड़ेगी, 'नि.शेषच्युत' इत्यादि श्लोक में तो वाच्यार्थ (तुम उसके पास नहीं गई थीं) निषेध रूप है और व्यंग्यार्थ (तुम उसके (नायक) के पास रमण करने गई

अनन्वितोऽर्थोऽभिहितान्वये पदार्थान्तरमात्रेणान्वितस्त्वन्विताभिधाने अन्वितविशेषस्त्ववाच्य एव इत्युभयनयेऽप्यपदार्थ एव वाक्यार्थः ।

थीं) यह विधिरूप है। (तदन्तिकमेव रन्तुं गतासि)। अतः यहाँ व्यंग्यार्थ विधिरूप अर्थ के वाच्य होने की बात ही दूर है। अर्थात् यहाँ विधि रूप व्यंग्यार्थ अभिधा द्वारा बोध नहीं है।

अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद

अनुवाद –अभिहितान्वयवाद में अनन्वित (असंसृष्ट या संसर्ग रहित) अर्थ और अन्विताभिधानवाद में अन्य पदार्थ मात्र से अन्वित अर्थ वाच्य होता है, किन्तु अन्वितविशेष (अतिविशेष) अर्थ तो दोनों मतों (अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद) में अवाच्य ही रहता है अर्थात् वाच्य नहीं होता। इसलिए दोनों ही मतों में पदार्थ वाच्यार्थ से भिन्न ही वाक्यार्थ होता है। (वाक्यार्थ पदार्थ नहीं होता)।

विमर्श—ग्रन्थकार यहाँ पर अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद दोनों मतों में समानता दिखाते हुए कहते हैं कि अभिहितान्वयवाद में पहिले अभिधा शक्ति से पदार्थों की उपस्थिति होती है और उसके बाद वक्ता के तात्पर्य के अनुसार पदार्थों का अन्वय होता है, उसे ही वाक्यार्थ कहते हैं। इस अन्वित अर्थ (वाक्यार्थ) का बोध 'तात्पर्याख्या' शक्ति से होता है। इस प्रकार इस मत में जब वाक्यार्थ की प्रतीति ही अभिधा से नहीं होती और उसके लिए 'तात्पर्याख्या' शक्ति माननी पड़ती है तो वाक्यार्थ के बाद होने वाले व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा के द्वारा कैसे हो सकती है?

अन्विताभिधानवाद में 'नहि निर्विशेषं सामान्यम्' इस सिद्धान्त के अनुसार कर्मत्व रूप से अन्वित सामान्यविशेष में संकेतग्रह माना जाता है। इस प्रकार सामान्यविशेष में संकेतग्रह मानने पर सामान्यविशेष का बोध तो अभिधा से हो जायगा, किन्तु अतिविशेष (गो, अश्व आदि व्यक्ति विशेष) अर्थ का बोध अभिधा से कैसे होगा? क्योंकि व्यक्ति विशेष रूप अर्थ असंकेतित होता है, अतः उसके लिए अन्य शक्ति माननी पड़ेगी।

इस प्रकार दोनों मतों में (अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद) अपदार्थ ही वाक्यार्थ है, वाक्यार्थ पदार्थ (वाच्यार्थ) नहीं होता। इस प्रकार जब वाक्यार्थ ही अभिधेय (वाच्य, अभिधा द्वारा बोध्य) नहीं होता तो व्यंग्यार्थ अभिधा द्वारा कैसे बोध्य हो सकता है। अतः दोनों मतों में वाक्यार्थ अनभिधेय (अपदार्थ) ही होता है। इस प्रकार दोनों मतों में वाक्यार्थ अभिधा द्वारा बोधित नहीं होता तो व्यंग्यार्थ के अभिधेय होने की बात ही कहाँ हो सकती है? अतः दोनों पक्षों में व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए व्यंजनावृत्ति मानना आवश्यक है।

यदप्युच्यते 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इति, तत्र निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा ? शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वम्, ज्ञापकत्वन्तु अज्ञातस्य कथम् ? ज्ञातत्वं तु संकेतेनैव, स चान्वितमात्रे । एवं च निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथमिति 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इत्यविचारिताभिधानम् ।

मीमांसकैकदेशी नैमित्तिकवादी मीमांसक का मत

अनुवाद—(मीमांसकों द्वारा) जो यह कहा जाता है कि 'नैमित्तिक (कार्य) के अनुसार निमित्त (कारण) की कल्पना की जाती है' उस मत में निमित्तत्व कारकत्व रूप होता है या ज्ञापकत्व रूप ? शब्द अर्थ का प्रकाशक होता है अतः कारकत्व नहीं हो सकता, और ज्ञापकत्व भी (शब्द से अर्थ का) ज्ञान हुए बिना कैसे हो सकता है ? तथा ज्ञान भी संकेत-ग्रह से ही होता है और वह (संकेत) भी केवल अन्वितमात्र में ही होता है। इस प्रकार निमित्त का नियतरूप से निमित्तता (विशेष के साथ संकेत) जब तक निश्चय न हो जाय तब तक नैमित्तिक (विशेष अर्थ) की प्रतीति ही कैसे हो सकती है ? इस प्रकार 'नैमित्तिक के अनुसार निमित्त (कारण) की कल्पना की जाती है' यह कथन अविचारित [विचारपूर्ण नहीं] है।

विमर्श—मीमांसकैकदेशी मीमांसकों का कहना है कि नैमित्तिक के अनुसार निमित्त की कल्पना की जाती है अर्थात् कार्य के अनुसार कारण की कल्पना की जाती है। तदनुसार व्यंग्यार्थ (नैमित्तिक) की प्रतीति किसी निमित्त से होती है और शब्द के अतिरिक्त उसका कोई निमित्त होता ही नहीं, क्योंकि शब्द श्रवणानन्तर ही उस अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ बोध्य है और शब्द बोधक तथा दोनों का सम्बन्ध बोध्य-बोधक भाव (नैमित्तिक-निमित्त भाव) है। यह बोध्य-बोधक-भाव रूप निमित्तत्व किसी वृत्ति के द्वारा ही सम्भव है और वह वृत्ति अभिधा ही है। भाव यह कि शब्द श्रवण के अनन्तर जितने भी अर्थों (वाच्य या व्यंग्य अर्थों) की प्रतीति होती है, सभी अर्थों का निमित्त शब्द ही होता है। इस प्रकार वाच्यार्थ के समान व्यंग्यार्थ का भी बोध (वाच्यार्थ या व्यंग्यार्थ का बोध) अभिधा के द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि शब्द के अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा ही है, अतः वृत्त्यन्तर की कल्पना अनावश्यक है। इसलिए व्यंग्यार्थ बोध के लिए व्यंजना शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। यह मीमांसकों का पूर्व पक्ष है।

ये त्वभिदधति 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति च विधिरेवात्र वाच्य इति ।

व्यंजनावादी इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि कार्य के अनुसार कारण (निमित्त) की कल्पना का सिद्धान्त ठीक नहीं है; क्योंकि आपके मत में सामान्य रूप से अन्वित मात्र में संकेतग्रह होता है, विशेष में नहीं। अतः जब तक निमित्त रूप शब्द का व्यंग्य रूप विशेष के साथ निश्चित सम्बन्ध (संकेतग्रह) नहीं होगा, तब तक अभिधा से उस नैमित्तिक व्यंग्यार्थ की प्रतीति कैसे होगी ? इसी को लक्ष्य कर मम्मट कहते हैं कि निमित्त दो प्रकार का होता है—कारक और ज्ञापक। चूँकि शब्द अर्थ का प्रकाशक (ज्ञापक) होता है अतः कारक नहीं हो सकता और ज्ञापक भी नहीं हो सकता; क्योंकि जो वस्तु अज्ञात है उसकी ज्ञापकता कैसी ? ज्ञान तो संकेतग्रह से होता है और संकेतग्रह अन्वितमात्र में होता है विशेष में नहीं। अतः जब तक शब्द-रूप निमित्त का विशेष के साथ संकेतग्रह नहीं होगा तब तक नैमित्तिक व्यंग्यार्थ (विशेष अर्थ) की प्रतीति कैसे हो सकती है ? इस प्रकार केवल अन्वितमात्र में संकेत-ग्रह मानने पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा नहीं हो सकती, अतः उसके लिए व्यंजना की आवश्यकता है। अतः मीमांसकों का नैमित्तिक (कार्य) के अनुसार निमित्त (कारण) की कल्पना का सिद्धान्त सर्वथा अविचारित कथन है अर्थात् मीमांसकों ने बिना विचारे बिना सोचे-समझे कह दिया।

अन्विताभिधानवादी भट्टलोल्लट का मत—

अनुवाद—जो (भट्टलोल्लट आदि) यह कहते हैं कि—'वह यह बाण के समान दीर्घ दीर्घतर व्यापार ही है' और 'यत्परक शब्द होता है, वह शब्द का अर्थ होता है' इसलिए यहाँ (निःशेषच्युतचन्दनम् इत्यादि में) विधि रूप अर्थ ही वाच्य है।

विमर्श—अन्विताभिधानवादी भट्टलोल्लट आदि मीमांसकों का कहना है कि 'यह शब्द का व्यापार बाण के समान दीर्घ-दीर्घतर होता है' अर्थात् जिस प्रकार धनुर्धर द्वारा छोड़ा हुआ एक ही बाण पहिले शत्रु के कवच का भेदन करता है, फिर उसके मर्मस्थान को विदीर्ण करता है और फिर उसके प्राणों का हरण करता है उसी प्रकार सुकवि प्रयुक्त एक ही शब्द अभिधा व्यापार के द्वारा पहिले पदार्थ की उप-स्थिति करता है, फिर अन्वयबोध कराता है, फिर व्यंग्यार्थ का बोध कराता है। भाव यह कि 'एक अर्थ का बोध कराने के अनन्तर शब्दशक्ति का तब तक विराम नहीं होता जब तक विवक्षित अर्थ की प्रतीति नहीं हो जाती'। यहाँ पर दीर्घ-

दीर्घतर व्यापार का यह अभिप्राय है कि एक ही अभिधाशक्ति के द्वारा वाच्य, लक्ष्य, तात्पर्यार्थ और व्यंग्यार्थ सभी का बोध होता है।

दूसरे 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' अर्थात् जिस तात्पर्य से (यत्परः) शब्द का प्रयोग किया जाता है वह शब्द अर्थ होता है। अतः वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य सभी अर्थों का बोध अभिधा से होगा। इस प्रकार व्यंग्यार्थ भी शब्द का ही अर्थ है, इसलिए व्यंग्यार्थ का भी बोध अभिधाशक्ति से होगा। भाव यह कि जहाँ पर वाच्यार्थ के बोध के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है वहाँ वाच्यार्थ ही उस शब्द का अर्थ होता है और यदि व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए शब्दों का प्रयोग है तो व्यंग्यार्थ ही उन शब्दों का अर्थ होगा, अतः व्यंग्यार्थ अभिधा से बोध होगा। उसके लिए व्यंजनाशक्ति मानने की क्या आवश्यकता है?

कुछ अभिधावादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'जो शब्द का मुख्य अर्थ होता है वही वाक्यार्थ होता है'। इस प्रकार व्यंग्यार्थ भी मुख्य (प्रधान) अर्थ होता है अतः वह व्यंग्यार्थ वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) से भिन्न नहीं माना जा सकता; क्योंकि शब्द उसी में तत्पर होता है अतः वह तात्पर्य ही है। अतः व्यञ्जनाशक्ति की क्या आवश्यकता है।

इसलिए निःशेषच्युतेत्यादि स्थल पर विधिरूप अर्थ ही वाच्य है उसके लिए व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है।

आचार्य अभिनवगुप्त का कहना है कि जो अन्वितामिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह हृदय में ग्रहण करके बाण के समान दीर्घ दीर्घतर अभिधा व्यापार को स्वीकार करता है उसका यह एक रूप है अथवा भिन्न-भिन्न रूप का? इसे 'एक' कैसे कहा जा सकता है; क्योंकि उसके विषय भिन्न-भिन्न हैं और उसके सहकारी भी भिन्न होते हैं। इसे भिन्न-भिन्न रूप (अनेक) भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि तब इस व्यापार में विषय भेद तथा सहकारियों के भेद से एक जातीय (सजातीय) नहीं रहेंगे और भिन्न जातीय हो जायेंगे। इस प्रकार भिन्न जातीय दीर्घ दीर्घतर व्यापार तो हमारे ही (व्यञ्जनावाद के) सिद्धान्त का समर्थन करता है कि शब्द की अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना नामक वृत्तियाँ अलग-अलग नाम से अभिहित की जाती हैं।

"योऽप्यान्वितामिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छन्ति तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽसाविति कुतः? भिन्नविषयत्वात्। अथानेकोऽसौ तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः। सजातीये च कार्ये विरम्य व्यापारः शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविद्भिर्निषिद्धः। असजातीये चास्मन्मत एव।"

तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानां प्रियाः ।

तथाहि—'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति कारक-पदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानः प्रधानक्रियानिवर्त्तक-स्वक्रियाभिसम्बन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति । ततश्चादग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद्विधीयते । यथा ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरात्सिद्धे 'लोहितोष्णीषाः प्रचरन्ति' इत्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयम् । हवनस्यान्यतः सिद्धेः 'दध्ना जुहोति' इत्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्रंविधेयम् ।

भट्टलोल्लट के मत का खण्डन—

अनुवाद जो (भट्टलोल्लट प्रभृति मीमांसक) ऐसा कहते हैं, वे तात्पर्य विषयक वाणी की युक्ति के तात्पर्य को ही नहीं समझते हैं, इसलिए वे देवानांप्रिय अर्थात् मूर्ख हैं ।

अनुवाद—जैसे कि—सिद्ध (भूत) और साध्य (भव्य) का एक साथ उच्चारण होने पर सिद्ध (भूत) को साध्य (क्रिया) के लिए कहा जाता है, इस प्रकार कारक पदार्थ क्रिया पदार्थ के साथ अन्वित होकर प्रधान क्रिया के निर्वर्तक (निर्वाहक) अपनी क्रिया के सम्बन्ध में साध्यरूप हो जाते हैं । तब 'अदग्ध-दहन-न्याय से जितना अप्राप्त होता है उतने का ही विधान किया जाता है । जैसे 'लाल पगड़ी वाले ऋत्विक् घूमते हैं' इसमें ऋत्विक् प्रचरण (घूमना) के प्रमाणान्तर (अन्य प्रमाण) से सिद्ध होने के कारण यहाँ 'लोहितोष्णीषत्वमात्र' विधेय है । इसी प्रकार 'दध्ना जुहोति' अर्थात् 'दही से हवन करता है' इत्यादि में हवन के अन्य प्रमाण से सिद्ध होने से दधि आदि के करणत्वमात्र का विधान किया जाता है ।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार भट्टलोल्लट के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं—कि जो मीमांसक 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस वाक्य का आधार लेकर व्यञ्जनावृत्ति का निषेध करने की चेष्टा करते हैं वे बेचारे मीमांसकों के 'तात्पर्य-वाचोयुक्ति' (तात्पर्य विषयक वाणी) का तात्पर्य ही नहीं समझते, इस प्रकार वे लोग सर्वथा 'देवानांप्रिय' अर्थात् मूर्ख हैं । वार्तिककार कात्यायन ने **'देवानांप्रिय इति च मूर्खे'** यह वार्तिक लिखकर इस शब्द को 'मूर्ख' अर्थ में रूढ़ कर दिया है । किन्तु इसके पूर्व यह शब्द गर्हित अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता रहा है । व्याकरण के अनुसार 'देवानां प्रियः' का अर्थ 'देवताओं का प्रिय' है और पहिले इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता रहा है, इसीलिए सम्राट् अशोक के नाम के सामने 'उपाधि' के रूप में इस शब्द का प्रयोग होता था । बाद में धार्मिक द्वेष के कारण 'मूर्ख' अर्थ में इसका

प्रयोग होने लगा और कात्यायन ने इसे मूर्ख अर्थ में रूढ़ कर दिया। वस्तुतः भट्ट-लोल्लट आदि जो मीमांसक **'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'** इस तात्पर्यवाचोयुक्ति के आधार पर व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ सिद्ध करना चाहते हैं वे वास्तव में उक्त वाक्य का अर्थ तक नहीं समझते, इसलिए अपने शास्त्र के वचनों का अभिप्राय (भाव) न समझने के कारण उन्हें **'देवानां प्रियः'** अर्थात् देवताओं का प्रिय (बलिभूत) पशु कहा गया है।

वस्तुतः मीमांसकों की 'तात्पर्यवाचोयुक्ति' का अभिप्राय यह है कि जब वाक्य में विद्यमान पदों की उपस्थिति होती है तो उसमें कुछ पद सिद्ध (कारकरूप) होते हैं और कुछ साध्य (क्रियारूप) होते हैं। वाक्य में जो अंश अन्य प्रमाणों से सिद्ध (प्राप्त) नहीं होता, (अज्ञात रहता है) वही विधेय है। उसी में वक्ता का तात्पर्य होता है और वही साध्य है। क्योंकि साध्य में ही वक्ता का तात्पर्य होता है और उसी का विधान किया जाता है और उसी के बोध के लिए वाक्य का प्रयोग किया जाता है। जैसा कि कहा गया है कि **'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते'**[1] अर्थात् 'सिद्ध' (भूत) और साध्य (क्रिया, भव्य) दोनों का वाक्य में एक साथ उच्चारण होने पर सिद्ध पदार्थ साध्य क्रिया के अंगरूप में उपदिष्ट होता है। यहाँ पर सिद्ध शब्द का साधारण अर्थ 'कारक' है और साध्य का अर्थ 'क्रिया' है। किन्तु जब कारक पद क्रियापद के साथ अन्वित होते हैं तब कारक पद प्रधान क्रिया के निर्वाहक अपनी क्रिया के सम्बन्ध से साध्यरूप हो जाते हैं। जैसे 'गामानय' इस वाक्य में 'गाम्' (गाय) पद आनयन रूप क्रिया के साथ अन्वित होता है और 'आनय' रूप प्रधान क्रिया के निर्वाहक 'गो' के चलन (गमन) रूप क्रिया के सम्बन्ध से 'गो' रूप सिद्ध शब्द साध्यरूप हो जाता है। और इसी प्रकार 'घटमानय' इस वाक्य में आनयन (समीपदेशसंयोग) रूप प्रधान क्रिया के हेतुभूत (निर्वर्तिका) घट की पूर्व संयोग नाशरूप स्पन्द क्रिया के आश्रय (सम्बन्ध) से स्वरूपता सिद्ध घट शब्द साध्यरूप हो जाता है। भाव यह कि यहाँ सिद्ध पदार्थ कभी भी प्रधान क्रिया (साध्य) नहीं होता

---

१. **टिप्पणी**—ग्रन्थकार ने यहाँ पर **'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'** तथा **'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते'** ये वाक्य उद्धृत किये हैं। ये दोनों मीमांसा के वाक्य हैं। वैदिक वाक्यों में सदैव क्रिया (साध्य) भाग की प्रधानता रहती है, **'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्'** इस मीमांसासूत्र द्वारा यह बताया गया है कि समस्त वेद भाग क्रियार्थक है और जो क्रियार्थक नहीं है, वह अनर्थक है। इसी बात का कथन **'भूतं भव्यायोपदिश्यते'** इस वाक्य में हुआ है। यास्क ने भी कहा है कि **'भावप्रधानमाख्यातम्'** अर्थात् आख्यात' (तिङन्त) में क्रिया (भाव) का प्राधान्य होता है और जहाँ नाम और आख्यात दोनों हों वहाँ क्रिया का प्राधान्य होता है।

है, बल्कि वह सिद्धशब्द स्वक्रिया के सम्बन्ध से साध्य जैसा प्रतीत होता है, इसलिए उसे गौण (साध्य) कहते हैं।

इस प्रकार जब सभी शब्द (सिद्ध) शब्द साध्यरूप हो जाते हैं तो 'अदग्ध दहन' न्याय से जितना अंश अप्राप्त होता है उसी का विधान होता है। भाव यह कि जिस प्रकार अग्नि दग्ध अर्थात् जले हुए अंश का दहन नहीं करता, अदग्ध बिना जले हुए भाग को ही जलाता है, उसी प्रकार वाक्य में जितना भाग अन्य प्रमाणों से अप्राप्त (अज्ञात) होता है, उतने अंश का ही विधान किया जाता है और जो अंश प्रमाणान्तर से प्राप्त (ज्ञात) होता है, उसका विधान नहीं होता। जैसे ज्योतिष्टोम याग के विकृतिभूत जैसे श्येनयाग प्रकरण में एक वाक्य आया है 'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति'[1] अर्थात् 'लाल पगड़ी वाले ऋत्विज विचरण कर रहे हैं'। और ज्योतिष्टोम रूप प्रकृतयाग प्रकरण में कहा गया है—**'सोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति'** अर्थात् 'पगड़ी धारण करने वाले ऋत्विज विचरण कर रहे हैं' 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' अर्थात् 'प्रकृति याग के समान ही विकृति याग में भी क्रियायें करनी चाहिए' इस नियम के अनुसार ज्योतिष्टोमरूप प्रकृतियाग के **'सोष्णीषाः'** आदि वाक्य में ऋत्विक्-प्रचरण तथा उष्णीष का विधान प्राप्त है, अतः श्येनयाग में उसके विधान की आवश्यकता नहीं है। किन्तु ज्योतिष्टोम याग में 'लोहितोष्णीषा' का विधान प्रतिपादित (प्राप्त) नहीं है अतः श्येनयाग में **'लोहितोष्णीषाः'** आदि वाक्य में केवल उष्णीष का लौहित्य (पगड़ी की लाली) का विधान अभिप्रेत है यही विधेय है। क्योंकि अदग्ध-दहन न्याय से अप्राप्त का ही विधान होता है, अतः यहाँ **'लोहितोष्णीषाः'** वाक्य में उष्णीष का लौहित अप्राप्त है अर्थात् पूर्ववाक्य में सिद्ध नहीं है, अतः केवल उतने अंश का (पगड़ी के लौहित्य का) ही विधान होता है। वही विधेय है।

इसी प्रकार **'दध्ना जुहोति'** अर्थात् 'दही से हवन करता है' इस वाक्य में केवल दधिरूप साधन (करण) ही विधेय है। भाव यह कि **'दध्ना जुहोति'** यह वाक्य अग्निहोत्र प्रकरण में आया है। इस प्रकरण के **'अग्निहोत्रं जुहोति'** इस उत्पत्ति-वाक्य में हवन तो प्रकरण से ही सिद्ध (प्राप्त) है और 'दधि' का साधन द्रव्य होने से आक्षेप कर लिया जाता है। इस प्रकार 'दही' भी प्राप्त (सिद्ध) है, अतः यहाँ केवल करणत्व मात्र विधेय है। इस प्रकार 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य में केवल दधि रूप करण कारक का ही विधान होता है, क्योंकि वही अप्राप्त है।

---

१. **'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति'** यह वाक्य श्येनयाग प्रकरण में आया है। 'श्येनयाग' एक विकृतियाग है और ज्योतिष्टोम याग उसका प्रकृतियाग है। जहाँ पर यज्ञ के समस्त अंगों का वर्णन होता है उसे 'प्रकृतियाग' कहते हैं। प्रकृतियाग के साथ अनेक विकृतियाग होते हैं जिनमें यज्ञ-सम्बन्धी सारे विधि-विधानों का वर्णन नहीं होता केवल यज्ञ के कुछ विशेष अंगों का वर्णन होता है। शेष विधान प्रकृतियाग के समान होते हैं।

क्वचिदुभयविधिः, क्वचित् त्रिविधिरपि यथा 'रक्तं पटं वय' इत्यादौ एकविधिर्द्विविधिस्त्रिविधिर्वा। ततश्च यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यमित्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यं न तु प्रतीतमात्रे। एवं हि 'पूर्वो धा ति' इत्यादावपरार्थेऽपि क्वचित्तात्पर्यं स्यात्।

अनुवाद—कहीं दो का विधान भी होता है, कहीं तीन का भी विधान होता है। जैसे 'लाल कपड़ा बुनो' इस वाक्य में कभी केवल वयन (बुनना) एक का विधान, कभी (पट और वयन=कपड़ा और बुनने का) दो का अथवा कभी (लाल, कपड़ा और बुनने का) तीन का विधान हो सकता है। इसलिए जो विधेय होता है उसी में तात्पर्य होता है, इसलिए उपात्त (पठित या श्रुत) शब्द के ही अर्थ में तात्पर्य रहता है, उपात्त (उच्चरित) न होने पर प्रतीत होने वाले अर्थमात्र में नहीं। इस प्रकार 'पूर्वो धावति' अर्थात् 'पहला (आदमी या घोड़ा) दौड़ता है' इत्यादि में कहीं अपर आदि अर्थ में भी तात्पर्य होने लगेगा।

विमर्श—ग्रन्थकार का कथन है कि वाक्य में कहीं एक, कहीं दो और कहीं तीन विधियाँ होती हैं। आचार्य का कथन है कि किसी वाक्य में दो का विधान होता है। जैसे 'सोमेन यजेत्' इस वाक्य में 'सोम' और 'याग' दोनों अप्राप्त हैं अतः दोनों का विधान होता है। इसी प्रकार कहीं तीन का विधान होता है। जैसे 'रक्तं पटं वय' अर्थात् 'लाल कपड़ा बुनो' इस वाक्य में कभी एक रक्तगुण का अथवा कभी दो रक्तगुण और पट का अथवा कभी रक्त, पट और वयन (बुनना) ये तीनों विधेय होंगे। इसलिए जो विधेय होता है उसी में तात्पर्य होता है। अतएव उपात्त (उच्चरित) शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य होता है, किसी प्रकार प्रतीत होने वाले अर्थ में तात्पर्य नहीं होता। यदि जिस किसी प्रकार से प्रतीतमात्र में (जिस किसी प्रकार से प्रतीत होने वाले अर्थमात्र में) तात्पर्य मानते हैं तो 'पूर्वो धावति' (पहला आदमी या पहला घोड़ा दौड़ता है) इस वाक्य में 'पूर्व' पद का कहीं (क्वचित्) 'अपर' आदि अर्थ में भी तात्पर्य होने लगेगा, इस प्रकार 'पूर्वो धावति' का 'अपरो धावति' इत्यादि तात्पर्य (बोध) होने लगेगा। क्योंकि पूर्व शब्द से विलोम रूप में 'अपर' अर्थ की प्रतीति हो सकती है। अतः उपात्त (उच्चरित) शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य होता है, और अनुपात्त अर्थात् जिस शब्द का वाक्य में कथन (ग्रहण) नहीं होता, उस शब्द के अर्थ में तात्पर्य नहीं होता।

यत्तु 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इत्यत्र 'एतद्गृहे न भोक्तव्यम्' इत्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ इत्युच्यते ।

तत्र चकार एकवाक्यतासूचनार्थः'

न चाख्यातवाक्ययोर्द्वयोरङ्गाङ्गिभाव इति

'विषभक्षणवाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेनाङ्गता कल्पनीयेति 'विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा मास्य गृहे भुङ्क्थाः' इत्युपात्तशब्दार्थे एव तात्पर्यम् ।

'विषं भक्षय' में तात्पर्यनिर्णय

अनुवाद—और जो 'विष खा लो, पर इसके घर मत खाओ' यहाँ पर 'इसके घर भोजन नहीं करना चाहिए' इस अर्थ में तात्पर्य है, इस प्रकार वही वाक्यार्थ कहा जाता है ।

वहाँ पर (उक्त वाक्य में) चकार (च) दोनों वाक्यों की एकवाक्यता के सूचनार्थ है ।

दो तिङन्त वाक्यों में अङ्गाङ्गिभाव (सम्बन्ध) नहीं हो सकता

विषभक्षण वाक्य के सुहृद्वाक्य (मित्र-वचन) होने के कारण अङ्गता की कल्पना करनी चाहिये, इस प्रकार 'इसके घर में भोजन करना विष खाने से भी अधिक भयानक है' इसलिए 'इसके घर में किसी प्रकार (सर्वथा) भोजन मत करो' यह उपात्त (प्राप्त) शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य है ।

विमर्श—ग्रन्थकार आचार्य मम्मट का कथन है कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियम के अनुसार वाक्य में उपात्त शब्द के अर्थ में तात्पर्य होता है, और जहाँ पर शब्द उपात्त नहीं होता, किसी अन्य प्रकार से अर्थ की प्रतीति हो जाती है वहाँ उक्त नियम लागू नहीं होगा । इस प्रकार यदि 'वाक्य में उपात्त शब्दार्थ में ही वाक्य का तात्पर्य माना जाता है' तो 'विष खा लेना, पर इसके घर भोजन मत करना' यहाँ पर 'शत्रु के घर' भोजन करना विषभक्षण से भी अधिक भयंकर है' इसलिए 'इसके घर भोजन नहीं करना चाहिए' इस अर्थ में तात्पर्य है, और यही वाक्यार्थ है, किन्तु इस अर्थ का कोई वाचक शब्द 'विषभक्षय आदि' वाक्य में उपात्त नहीं है तो 'वाक्य में उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य होता है' इस बात को कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? इस शंका का समाधान करते हुए मम्मट कहते हैं कि 'विषं भक्षय, मा

चास्य गृहे भुङ्क्थाः' (विष खा लो, पर इसके घर मत खाना) इन दोनों वाक्यों में मध्य 'मा चास्य' में चकार का प्रयोग दोनों वाक्यों की एकता सूचित करता है। इस प्रकार दोनों वाक्यों की एकवाक्यता के आधार पर यह मान लिया जाता है कि 'विषं भक्षय' वाक्य का तात्पर्य 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस उपात्त शब्द के अर्थ में ही होता है, अनुपात्त शब्द के अर्थ में नहीं, अतः कोई दोष नहीं आता।

अब प्रश्न यह है कि 'एकतिङ् वाक्यम्' अर्थात् जहाँ पर एक तिङ् (क्रिया) हो, उसे एक वाक्य कहते हैं' इस नियम के अनुसार 'विषं भक्षय, मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इसमें 'भक्षय' और 'भुङ्क्थाः' ये दो क्रिया होने से (दो तिङन्त पद से युक्त होने से) यह एक वाक्य नहीं बल्कि दो स्वतन्त्र वाक्य हैं। अतः इन दोनों वाक्यों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। इसलिए दोनों की एकवाक्यता नहीं बन सकती, इस प्रकार 'मा चास्य' में आया हुआ 'च' (चकार) एकवाक्यता का सूचक नहीं है। जिस प्रकार समान होने के कारण दो गुणों का परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता (गुणानां परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्), इसी प्रकार दो प्रधान अर्थों का भी परस्पर अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि दोनों समान रूप होते हैं। इस प्रकार दो तिङन्त वाक्यों में एकवाक्यता सम्भव न होने से एकवाक्यता के आधार पर 'विषं भक्षय' वाक्य में उपात्त शब्द के अर्थ में तात्पर्य होता है, यह युक्ति संगत नहीं है। यह व्यञ्जनाविरोधियों का पूर्वपक्ष है।

इस शंका का समाधान करते हुए मम्मट कहते हैं कि 'विषं भक्षय' इस वाक्य को अलग वाक्य नहीं माना जा सकता क्योंकि यह 'सुहृद्वाक्य' है। भला कोई मित्र अपने मित्र को विष खाने की सलाह दे सकता है? अर्थात् नहीं। इस प्रकार विष-भक्षणरूप मुख्यार्थ का बाध होने से लक्षणा द्वारा यह लक्ष्यार्थ निकलता है कि 'इसके घर में भोजन करना विषभक्षण से भी अधिक हानिकर है' इस प्रकार विषभक्षण रूप वाक्यार्थ के संगत न होने से 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' (इसके घर भोजन मत करना) इस वाक्य के साथ उसका सम्बन्ध मानना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार विष-भक्षणरूप अर्थ स्वयं अनुपपन्न होने से दूसरे वाक्य का अंग बन जाता है। इस प्रकार दोनों वाक्यों में परस्पर अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होने से दोनों की एकवाक्यता बन जाती है और दोनों वाक्यों में एकवाक्यता होने से उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य होता है (उपात्तस्यैव शब्दार्थे तात्पर्यम्) यह कथन संगत हो जाता है।

इस प्रकार 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियम के अनुसार वाक्य में उपात्त (प्राप्त) शब्द के अर्थ में तात्पर्य होता है और वाक्य में अनुपात्त शब्द के अर्थ में तात्पर्य नहीं होता। व्यङ्ग्यार्थ के बोधस्थल में वाक्य में कोई उपात्त शब्द नहीं होता, इसलिए 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियम के अनुसार तात्पर्यार्थ नहीं माना जा सकता। अतः उसके लिए व्यञ्जनावृत्ति मानना अनिवार्य है।

यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः। ततः कथं 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः, ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' इत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम् ? कस्माच्च लक्षणा ? लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः। किमिति च 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम्' ? इत्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि सिद्धं व्यङ्ग्यम् ।

अनुवाद—और यदि (यह कहा जाय कि) शब्द श्रवण के अनन्तर जितना अर्थ उपलब्ध होता है, उतने में शब्द का केवल अभिधा व्यापार ही है। तो 'हे ब्राह्मण ! तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है' और 'हे ब्राह्मण ! तुम्हारी कन्या गर्भिणी है' इत्यादि वाक्यों में हर्ष तथा शोक आदि को भी वाच्य क्यों न माना जाय ? और लक्षणा को भी क्यों मानते हो ? क्योंकि लक्षणीय अर्थ में भी दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापार से ही लक्ष्यार्थ की प्रतीति सिद्ध हो जायगी और फिर भी श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या—में पूर्व पूर्व को बलवत्तर क्यों माना जाता है ? इसलिए अन्विताभिधानवाद में भी 'निःशेषच्युतेत्यादि' में विधि की व्यङ्ग्यता सिद्ध होती है।

विमर्श—ग्रन्थकार का कथन है कि यदि शब्द के श्रवण (सुनने) के बाद जितना भी अर्थ (ज्ञान) प्राप्त होता है वह सब केवल अभिधाव्यापार द्वारा ही गम्य है, तो 'हे ब्राह्मण ! तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है, और 'हे ब्राह्मण' तुम्हारी कुमारी कन्या गर्भवती हो गई है इन वाक्यों के सुनने के पश्चात् हर्ष, शोक आदि को वाच्यार्थ क्यों नहीं माना जाता ? यदि 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' इस नियम के अनुसार प्रमाणान्तर से अप्राप्त शब्द के (अनन्यलभ्य) अर्थ में ही अभिधा होती है, तो हर्ष-शोक आदि का तो श्रोता के मुख की प्रसन्नता एवं मलिनता आदि लिङ्ग के द्वारा अनुमान कर लिया जाएगा। इस प्रकार हर्ष-शोकादि की प्रतीति में अभिधा की आवश्यकता नहीं है और न वह वाच्य होगा। दूसरे यदि शब्द श्रवण के अनन्तर जितना भी अर्थ प्राप्त होता है उन सब में शब्द की अभिधा का ही व्यापार है, ऐसा मानते हैं तो तुम्हारे गुरु मीमांसक लक्षणा किसलिए मानते हैं ? क्योंकि लक्ष्यार्थ की प्रतीति भी दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापार से हो जायगी, अतः व्यञ्जना के समान लक्षणा भी नहीं माननी चाहिए। भट्टलोल्लट प्रभृति मीमांसक व्यञ्जना तो नहीं मानते, किन्तु लक्षणा को तो मानते हैं। अतः उनके मत में भी व्यञ्जना के समान लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं है। और इसके अतिरिक्त यदि शब्द का अभिधा व्यापार ही मानते हैं तो मीमांसा

दर्शन के 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' इस सूत्र में पूर्व-पूर्व की बलीयत्ता और उत्तर-उत्तर की दुर्बलता के स्वीकार में अर्थ-विप्रकर्षत्व रूप निमित्त असंगत हो जायगा, क्योंकि सभी अर्थों की प्रतीति अभिधा से मानने पर श्रुति आदि प्रमाणों के अभिधेय होने से एक साथ ही उपस्थित होने से पूर्वापर बलीयता-दुर्बलता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता और न लक्षणा की आवश्यकता रहती। इसलिए अन्विताभिधानवाद में भी 'निःशेषच्युतचन्दनम्' आदि में निषेधरूप वाच्यार्थ से प्रतीत होने वाले (तदन्तिकगमन रूप) विधि की व्यङ्ग्यता सिद्ध होती है।

मीमांसादर्शन में वेद को पाँच भागों में विभक्त किया गया है--विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद। इनमें विधि के चार भेद बताये हैं—उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, अधिकारविधि और प्रयोगविधि। इनमें से अङ्गाङ्गिभाव की बोधक विधि को 'विनियोगविधि' कहते हैं। इस विधि में द्रव्य, देवता, मन्त्र आदि अंगों का किस प्रधान क्रिया (विधि, यज्ञविधि) के साथ सम्बन्ध होगा ? इस प्रकार की आशङ्का होने पर श्रुति, लिंग आदि प्रमाणों के द्वारा (परस्पर विरुद्ध प्रमाणों से) एक प्रमाण से किसी एक की प्रधानता और दूसरे प्रमाण से किसी दूसरे की प्रधानता का प्रसंग उपस्थित होने पर एक के द्वारा दूसरे का बाध होता है और वह बाध बलवान् के द्वारा दुर्बल का होता है (बाधश्च बलवता दुर्बलस्य क्रियते)। इनमें बलाबल का निर्णय किस आधार पर किया जाय ? इसका प्रतिपादन करने के लिए महर्षि जैमिनि ने निम्न सूत्र लिखा है—

'श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्।'
(मीमांसादर्शन ३।३।१४)

महर्षि के अनुसार यह विनियोजक सूत्र है। श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समस्या—ये छः अङ्गाङ्गिभाव रूप विनियोगविधि के बोधक प्रमाण हैं। इन छः प्रमाणों के परस्पर विरोध रूप में एक स्थान पर उपस्थित होने पर सूत्र में उपात्त (कथित, प्राप्त) क्रम के अनुसार उत्तरोत्तर एक के बाद दूसरे के विलम्ब से अर्थ उपस्थित करने के कारण क्रमशः उत्तर-उत्तर को दुर्बल और पूर्व-पूर्व को प्रबल समझना चाहिए। अर्थात् श्रुति आदि छः प्रमाणों में जिसकी अपेक्षा जो पर होता है उसकी अपेक्षा वह दुर्बल होता है। यहाँ इन छः विनियोजक प्रमाणों का अर्थ समझ लेना आवश्यक है—

१. **श्रुति**--'श्रुति' सबसे प्रबल प्रमाण है। श्रुति का लक्षण है—'**प्रमाणान्तर-निरपेक्षो रवः श्रुतिः**' अर्थात् अपने प्रमाण के बोधन में किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखने वाले शब्द को 'श्रुति' कहते हैं। यह 'श्रुति' लिङ्ग आदि प्रमाणों की अपेक्षा बलवती होती है; क्योंकि यह अपने अर्थ के बोधन में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखती। अथवा अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध के बोधन में अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखने

वाला शब्द 'श्रुति' प्रमाण है। जैसे—'व्रीहीन् प्रोक्षति' इस वाक्य में द्वितीयाविभक्ति-रूप श्रुति' प्रमाण से व्रीहि प्रोक्षण के अंग के रूप में बोधित होता है, और **'व्रीहिभिर्यजेत'** इस वाक्य में 'तृतीया विभक्ति रूप श्रुति' के द्वारा व्रीहि के याग के प्रति अंगता सिद्ध होती है। इसी प्रकार अग्निहोत्र प्रकरण में पठित **'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे'** इस ऋचा का, **'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते'** इस श्रुति के द्वारा इन्द्र शब्द के इन्द्ररूप अर्थप्रकाशन सामर्थ्य रूप लिङ्ग को बाधकर गार्हपत्य के उप-स्थापन में विनियोग होता है।

२. **लिङ्ग**—किसी शब्द के अर्थविशेष के प्रकाशन सामर्थ्य को 'लिङ्ग' कहते हैं (**शब्दस्यार्थप्रकाशनसामर्थ्यं लिंगम्**)। यहाँ सामर्थ्य का अर्थ 'रूढ़ि' है इस प्रकार रूढ़ि शब्द अथवा अर्थ के अर्थविशेष के प्रकाशन को 'लिंग' प्रमाण कहते हैं। यह प्रमाण वाक्य, प्रकरण आदि प्रमाणों की अपेक्षा अधिक बलवान् होता है और 'श्रुति' की अपेक्षा दुर्बल है। उदाहरण जैसे—'बर्हिर्देवसदनं दामि' अर्थात् 'देवताओं के बैठने योग्य कुशाओं (बर्हि) को काटता हूँ' यहाँ पर 'दामि' इस श्रुत शब्द सामर्थ्यरूप लिंग से 'बर्हि' शब्द 'लवन' (काटना) का अंग हो गया है। यहाँ 'बर्हि' शब्द का रूढ़ कुश अर्थ लिया जाता है। बर्हि शब्द के अन्य अर्थ का ग्रहण नहीं होता।

३—**वाक्य**—परस्पर आकाङ्क्षा के कारण किसी एक अर्थ में पर्यवसित होने वाले 'पदों' को 'वाक्य' कहते हैं (**परस्पराकाङ्क्षावशात्क्वचिदेकस्मिन्नर्थे पर्यव-सितानि पदानि वाक्यम्**)। यह प्रमाण उत्तरवर्त्ती प्रकरण, स्थान आदि प्रमाणों की अपेक्षा प्रबल और श्रुति तथा लिंग प्रमाणों की अपेक्षा दुर्बल होता है। जैसे—'अग्नीषोमाविदं हविरजुषेताम्' तथा 'इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेताम्' इत्यादि वाक्यद्वय दर्शपौर्णमास याग प्रकरण में आया है। यहाँ पर प्रकरण के द्वारा पौर्णमास याग में 'इन्द्राग्नी' पद को छोड़कर दोनों मन्त्रों के पाठ का और दर्शयाग में अग्नीषोम पद को छोड़कर दोनों मन्त्रों के पाठ का विधान प्राप्त होता है। किन्तु प्रकरण की अपेक्षा वाक्य के बलवत्तर होने के कारण 'अग्नीषोमाविदं हविः' मन्त्र का पौर्णमास-याग में और 'इन्द्राग्नी इदं हविः' मन्त्र का दर्शयाग में विनियोग होता है।

४. **प्रकरण**—परस्पर आकाङ्क्षा को प्रकरण कहते हैं (**परस्पराकाङ्क्षा प्रकरणम्**)। यह प्रमाण उत्तरवर्त्ती स्थान और समाख्या प्रमाणों से प्रबल और श्रुति, लिंग, वाक्यों की अपेक्षा दुर्बल होता है। जैसे—राजसूययाग प्रकरण में अभि-षेचनीय नामक सोमयाग की सन्निधि में देवन आदि सुना जाता है—'अक्षैर्दीव्यति राजन्यं जिनाति, शौनश्शेपमाख्यापयति'। यहाँ पर 'देवन' आदि पाठ सान्निध्यरूप स्थान (प्रमाण) के कारण 'अभिषेचनीय' नामक सोमयाग का अंग है, किन्तु 'स्थान' प्रमाण से 'प्रकरण' प्रमाण के प्रबल होने के कारण राजसूययाग प्रकरण में होने से वे राजसूययाग के अंग माने जाते हैं।

५. **स्थान**—समान देश में होना 'स्थान' कहा जाता है (समानदेशत्वं स्थानम्)। इसी को 'क्रम' भी कहते हैं (यह 'समाख्या' नामक प्रमाण से प्रबल होता

किञ्च 'कुरु रुचिम्' इति पदयोर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्त्तिनि कथं दुष्टत्वम् ? नह्यत्रासभ्योऽर्थः पदार्थान्तरैरन्वित इत्यनभिधेय एवेति एवमादि अपरित्याज्यं स्यात् ।

है) । यहाँ देश की समानता दो प्रकार की होती है—पाठ समानदेशता और अनुष्ठान समानदेशता । इनमें पाठ भी दो प्रकार का होता है—यथासंख्यपाठ और सन्निधिपाठ) इस प्रकार यथासंख्यपाठ या सन्निधिपाठ अथवा अनुष्ठान के द्वारा कृत (प्राप्त) सन्निधिविशेष 'स्थान' प्रमाण है । जैसे—'शुन्धत्वं दैव्याय कर्मणे' यह मन्त्र पौरोडाशिक है, किन्तु 'स्थान' प्रमाण के बल से पाठसमानदेशता के कारण सन्नाय्यपात्रों (अर्थात् दूध-दही के पात्रों) के शोधन में इसका विनियोग होता है ।

६. **समाख्या**—यौगिक शब्द को 'समाख्या' कहते हैं (**समाख्या यौगिको रवः**) । यह प्रमाण अन्य प्रमाणों की अपेक्षा दुर्बल होता है । यह समाख्या दो प्रकार की होती है—वैदिकी और लौकिकी । इनमें वैदिकी समाख्या का उदाहरण जैसे—'होतृचमसः' इस वैदिकी समाख्या (यौगिक शब्द) से 'होता' चमसभक्षण का अंग होता है । लौकिकी समाख्या याज्ञिकों द्वारा परिकल्पित होती है । जैसे—'अध्वर्युः' (अध्वरं युनक्ति) यजुर्वेद सम्बन्धी कर्म करने वाला 'अध्वर्यु' है अतः यजुर्वेद सम्बन्धी कर्म में 'अध्वर्यु' का विनियोग होता है ।

इन्हीं छ तत्त्वों द्वारा यह निर्णय किया जाता है कि किस मन्त्र का विनियोग कहाँ पर होगा । यदि इनमें विरोध हो तो पूर्व प्रमाण की अपेक्षा पर को दुर्बल कहा गया है, इसलिए पर की अपेक्षा पूर्व को प्रबल मानना चाहिए । क्योंकि प्रमाणों में अर्थ बोधन उत्तरोत्तर जितना-जितना विलम्ब होता है, उसी क्रम से उन्हें उत्तरोत्तर दुर्बल कहा गया है । यदि मीमांसकों के अनुसार शब्द श्रवण के अनन्तर जितना भी अर्थ प्राप्त होगा, उन सब में अभिधा ही होगी अर्थात् वह सब अभिधा व्यापार से ही बोधित होगा तो उसकी अर्थ की प्रतीति में पूर्वापर का प्रश्न ही नहीं उठता तो मीमांसा दर्शन के 'श्रुति' आदि प्रमाणों के पूर्वपूर्व की बलवत्ता और उत्तरोत्तर की दुर्बलता मानकर जो बलाबल का निर्णय किया जाता है वह असंगत हो जायगा ।

नित्यानित्य दोष व्यवस्था

अनुवाद—और भी 'कुरु रुचिम्' इन दोनों पदों को उलट देने पर ('रुचिङ्कुरु' इस पाठ में) काव्य के अन्तर्गत दोष क्यों माना जाता है ? क्योंकि यहाँ पर असभ्य (अश्लील) अर्थ अन्य पदार्थों के साथ अन्वित नहीं है, इसलिए अनभिधेय अर्थात् वाच्यार्थ नहीं है । इसलिए इस प्रकार के पद परित्याग के योग्य (परित्याज्य) नहीं माने जायेंगे ।

यदि च वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नाभ्युपेते तदासाधुत्वादीनां नित्यदोषत्वं कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्वमितिविभागकरणमनुपपन्नं स्यात् । न चानुपपन्नं सर्वस्यैव विभक्ततया प्रतिभासात् । वाच्य-वाचक-भावव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यंजकताश्रयणे तु व्यङ्ग्यस्य बहुविधत्वात् क्वचिदेव कस्यचिदेवौचित्येनोपपद्यत एव विभाग-व्यवस्था ।

विमर्श—ध्वनिवादी आचार्यों का कहना है कि यदि आप केवल अभिधा व्यापार को ही मानते हैं और व्यञ्जना व्यापार को स्वीकार नहीं करते तो 'कुरु रुचिम्' इस वाक्य को उलट देने पर 'रुचिकुरु' इस प्रकार पाठ हो जाने पर काव्यान्तर्वर्त्ती अश्लीलता दोष किस प्रकार बन सकेगा ? भाव यह कि 'रुचिकुरु' में 'चिकु' पद लाटी भाषा में स्त्री की योनि के अन्तर्वर्त्ती अंकुर (योन्यंकुर) के लिए प्रयुक्त होता है और कश्मीरी भाषा में अश्लील अर्थ का वाचक है। अन्विताभिधानवादियों के मतानुसार अन्वित पदार्थ में ही शक्ति मानी जाती है, यहाँ पर 'चिकु' यह (अश्लील) शब्द किसी भी पदार्थ के साथ अन्वित नहीं है, अतः अनभिधेय ही है अर्थात् अभिधा द्वारा गम्य (बोध्य) नहीं है। किन्तु इस अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार अभिधा का विषय (वाच्यार्थ) न होने से काव्य में इसे वर्जित नहीं किया जा सकेगा, जबकि सभी सहृदय आलोचक इस प्रकार के असभ्य अर्थ के व्यञ्जक शब्द को काव्य में त्याज्य मानते हैं। अतः यदि आप व्यञ्जनाशक्ति को नहीं मानते हैं तो अभिधा का विषय न होने से यह अर्थ अवाच्य हो जायगा और दोष की सीमा में नहीं आ सकेगा, और दोष न होने से परित्याज्य कैसे माना जायगा, अतः व्यंजना वृत्ति माननी ही पड़ेगी।

अनुवाद- **और यदि वाच्य-वाचक भाव से भिन्न व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव नहीं माना जायगा तो असाधुत्व आदि नित्य दोष हैं तथा कष्टत्व आदि अनित्य दोष हैं, इस प्रकार विभाग करना अनुपपन्न होगा। किन्तु यह विभागीकरण अनुपपन्न नहीं है; अतः समस्त सहृदयों को विभक्त रूप से प्रतीत होने (उक्त विभाग को मानना ही पड़ेगा) वाच्यवाचकभाव से भिन्न व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव को स्वीकार करने पर तो व्यङ्ग्य के अनेक विध होने से कहीं पर किसी के औचित्य के कारण (नित्यानित्य) विभाग-व्यवस्था बन ही जाती है।**

विमर्श - ध्वनिवादी आचार्यों का कहना है कि यदि वाच्य-वाचक-भाव के अतिरिक्त व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया जायगा तो काव्यशास्त्र में नित्यानित्य दोष की व्यवस्था नहीं बन सकेगी; क्योंकि काव्यशास्त्र में कुछ दोष नित्य माने गये हैं और कुछ अनित्य। जैसे—व्याकरणशास्त्र के नियमों के

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।

इत्यादौ पिनाक्यादिपदवैलक्षण्येन किमिति कपाल्यादिपदानां काव्यानुगुणत्वम् ?

विपरीत असाधुत्व आदि दोष रसापकर्षक होने से 'नित्यदोष' माने गये हैं। इसके अतिरिक्त कुछ दोष जो सर्वत्र नहीं रहते, वे अनित्य दोष माने गये हैं। जैसे—श्रुतिकटुत्व आदि दोष शृंगार, करुण आदि रसों में तो दोष माने गये हैं किन्तु रौद्र, वीर, भयानक आदि रसों में वे दोष नहीं माने जाते। इसलिए ये अनित्य दोष कहे जाते हैं। इस प्रकार व्यंग्यव्यंजकभाव को स्वीकार न करने पर उपर्युक्त नित्यानित्य दोष का विभाग नहीं बन सकेगा और यदि व्यंग्य-व्यंजकभाव सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं तो व्यंजना व्यापार के बल से दोषों की नित्यानित्यविभागव्यवस्था संगत हो जायगी। क्योंकि व्यंग्यार्थ के व्यंजक शब्दों के अनेक अर्थ हो सकते हैं। अतः व्यंजनावृत्ति मानना आवश्यक है।

अनुवाद—कपाल धारण करने वाले शिव के समागम की प्रार्थना (इच्छा) के कारण इस समय दोनों (दो जन) शोचनीय हो गये।

इत्यादि श्लोक में 'पिनाकी' आदि पदों की विलक्षणता के कारण 'कपाली' आदि पदों की काव्यानुगुणत्व (काव्यानुकूलता) कैसे माना जाता है।

विमर्श—प्रस्तुत श्लोक 'कुमारसम्भव' से उद्धृत है—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥

भाव यह कि ब्रह्मचारी का वेष धारण किये हुए शिव तपस्या करती हुई पार्वती से शिव की (अपनी) निन्दा करते हुए कहते हैं कि हे पार्वती! कपाल धारण करने वाले उस शंकर के समागम की इच्छा से इस समय दोनों शोचनीय हो गये हैं—एक तो चन्द्रमा की कला और दूसरे तुम। यहाँ पर शिव के लिए 'कपाली' शब्द का प्रयोग किया है। यद्यपि 'कपाली' और 'पिनाकी' दोनों शिव के पर्यायवाचक शब्द हैं किन्तु शिव के प्रति घृणा का भाव अभिव्यक्त करने के लिए यहाँ 'कपाली' शब्द का प्रयोग उचित प्रतीत होता और कामदेव को भस्म करने के अवसर पर वीर रस की व्यंजना के कारण 'पिनाकी' शब्द का प्रयोग समीचीन है, इस दृष्टि से यहाँ पर कवि ने 'कपाली' शब्द का विशेष रूप से प्रयोग किया है। यदि व्यङ्ग्य-व्यंजक भाव को स्वीकार नहीं करते हैं और केवल अभिधाव्यापार को ही मानते हैं तो दोनों शब्दों का अभिधेयार्थ (वाच्यार्थ) एक ही होगा फिर यहाँ 'कपाली' शब्द का प्रयोग प्रकरण के अनुकूल है, 'पिनाकी' शब्द नहीं, यह विभाग-व्यवस्था कैसे बन सकेगी, अतः यहाँ व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव मानना आवश्यक है।

अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तॄन् प्रति एकरूप एवेति नियतोऽसौ। नहि 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति। प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते। तथा च 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यत्र सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसर इति, अभिसरणमुपक्रम्यतामिति, प्राप्तप्रायस्ते प्रेयानिति, कर्मकरणान्निवर्त्तामहे इति, सान्ध्यो विधिरुपक्रम्यतामिति, दूरं मा गा इति, सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति' सन्तापोऽधुना न भवतीति, विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्तामिति, नागतोऽद्यापि प्रेयानित्यादिरनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थस्तत्र तत्र प्रतिभाति।

वाच्य-व्यङ्ग्य का भेद

अनुवाद -और भी वाच्यार्थ सब बोद्धाओं के प्रति एक रूप ही होता है, इसलिए वह नियत है। 'सूर्य अस्त हो गया' (गतोऽस्तमर्कः) इत्यादि में वाच्यार्थ कहीं भी भिन्न रूप नहीं होता अर्थात् सब जगह एक रूप ही रहता है; किन्तु उस-उस (भिन्न-भिन्न) प्रकरण के वक्ता एवं श्रोता (बोद्धा) आदि की विशेष सहायता से प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ अनेक प्रकार का हो जाता है। जैसे 'सूर्योऽस्तं गतः' इस वाक्य का 'सूर्य अस्त हो गया' यह वाच्यार्थ सबके लिए एक समान (एक रूप) है किन्तु यदि युद्ध के समय सेनापति 'सूर्य अस्त हो गया' इस वाक्य का प्रयोग करता है तो इसका अर्थ होगा—'शत्रु पर बलात् आक्रमण करने का यही अवसर है'। यह व्यङ्ग्यार्थ है। इसी प्रकार सन्ध्या के समय यदि कोई दूती नायिका से 'सूर्य अस्त हो गया' यह वाक्य कहती है तो 'अभिसरण के लिए तैयारी करो' यह व्यङ्ग्यार्थ होगा। इसी प्रकार यदि कोई सखी वासकसज्जा नायिका से कहती है तो इसका अर्थ होगा कि 'तुम्हारा प्रियतम आने ही वाला है (प्राप्तप्रायस्ते प्रेयानिति)। यदि कोई मजदूर अपने साथियों से कहता है तो इसका अर्थ होगा कि 'हम लोग काम बन्द करें'। यदि कोई सेवक धार्मिक से यह वचन कहता है तो इसका अर्थ 'सन्ध्योपासन आदि सान्ध्य कार्य का समय हो गया' यह अर्थ होगा। यदि कोई बाहर जाने वाले व्यक्ति से यह वाक्य कहता है तो 'दूर मत निकल जाना' यह वाक्यार्थ होगा (दूरं मा गा इति)। यदि कोई चरवाहे से यह बात कहता है तो इसका यह अर्थ होगा कि 'गायें घर ले जाओ' (सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति) यदि दिन की गर्मी से संतप्त कोई

वाच्यव्यंग्ययोः निःशेषेत्यादौ निषेधविध्यात्मना,
'मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु ।
सेव्या नितम्बा किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥१३३॥
इत्यादौ संशय-शान्त-श्रृंगार्यन्यतरगतनिश्चयरूपेण,

व्यक्ति कहता है तो इसका अर्थ होगा कि 'अब धूप तेज नहीं है' (सन्तापोऽधुना न भवतीति)। यदि सन्ध्या के समय कोई दूकानदार अपने नौकरों से यह बात कहता है तो 'बेचने की वस्तुओं को समेट लो' यह वाक्यार्थ होगा, यदि कोई प्रोषितपतिका नायिका अपनी सखी से यह बात कहती है तो इसका अर्थ होगा कि 'शाम हो गई, किन्तु अभी तक प्रियतम नहीं आये' (नागतोऽद्यापि प्रेयानिति)। इस प्रकार 'गतोऽस्तमर्कः' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो एक ही होगा, किन्तु भिन्न-भिन्न अवसर पर इसका व्यङ्ग्यार्थ अनन्त (असंख्य) होगा अर्थात् भिन्न-भिन्न वक्ता एवं श्रोता के अनुसार अनन्त (निःसीम) व्यङ्ग्यार्थ प्रकाशित होता है।

स्वरूपभेद से वाच्य-व्यङ्ग्य का भेद—

अनुवाद—(१) 'निःशेषच्युतचन्दनं' इत्यादि में वाच्य और व्यंग्य के क्रमशः निषेध और विधि रूप होने से (स्वरूप का भेद होने से वाच्य और व्यङ्ग्य अलग-अलग हैं)।

अनुवाद—(२) हे आर्यो! आप मत्सरता (असूया, पक्षपात) को छोड़कर और विचार करके मर्यादापूर्वक (प्रमाणसहित) कर्त्तव्य (करणीय) का कथन करें कि क्या पर्वतों के नितम्बों (उपत्यकाओं) का सेवन करना चाहिए अथवा काम-वासना से मुस्कराती हुई कामिनी नायिकाओं के नितम्बों का सेवन करूँ? ॥१३३॥

यहाँ पर (वाच्यार्थ के) संशयरूप तथा (व्यङ्ग्यार्थ के) शान्त रूप और श्रृंगारी (पुरुष) किसी एक के निश्चय रूप से (स्वरूपभेद होने से वाच्य-व्यङ्ग्य पृथक्-पृथक् हैं)।

कथमवनिप ! दर्पो यन्निशातासिधारा—
दलनगलितमूर्ध्ना विद्विषां स्वीकृता श्रीः।
ननु तव निहतारेरप्यसौ किं न नीता
त्रिदिवमपगतांगैर्वल्लभा कीर्त्तिरेभिः ॥१३४॥
इत्यादौ निन्दास्तुतिवपुषा स्वरूपस्य,

अनुवाद—(३) हे राजन् ! आपको यह अभिमान क्यों है कि तेज तलवार की धारा से काटे गये शिर वाले शत्रुओं की लक्ष्मी आपने अपना ली है ? क्योंकि जिसके सारे शत्रु मारे जा चुके हैं, ऐसे आपकी प्रियतमा कीर्त्ति को क्या इन अंगहीन (सिर कटे) पुरुषों के द्वारा स्वर्ग नहीं ले जाया गया ? ॥१३४॥

इत्यादि में (वाच्य के) निन्दारूप और (व्यङ्ग्य के) स्तुतिरूप होने से स्वरूप का भेद होने से (वाच्य-व्यंग्य अलग-अलग है)।

विमर्श—ग्रन्थकार का कहना है कि स्वरूप भेद से भी वाच्य और व्यङ्ग्य अलग-अलग हैं। यहाँ पर वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के स्वरूप भेद के तीन उदाहरण दिये गये हैं—

(१) प्रथम उदाहरण 'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरः' इत्यादि श्लोक है। यहाँ पर वाच्यार्थ निषेध रूप है (कि तुम उस अधम के पास नहीं गई थीं) और व्यङ्ग्यार्थ विधि रूप है (कि उसके पास रमण करने के लिए ही गई थीं)। इस प्रकार वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के निषेध रूप एवं विधि रूप स्वरूप भेद होने से वाच्य-व्यङ्ग्य अलग-अलग हैं।

(२) दूसरा उदाहरण 'मात्सर्यमुत्सार्य०' इत्यादि श्लोक है। यहाँ पर 'क्या पर्वतों के नितम्बों का सेवन करूँ या कामिनी नायिकाओं के नितम्बों का ? यह संशय है। और 'शान्त' लोगों (शमप्रधान लोगों) को पर्वत के नितम्बों का सेवन करना चाहिए तथा शृंगारप्रधान लोगों को कामिनी के नितम्बों का सेवन करना चाहिए, यह व्यङ्ग्यार्थ निश्चय रूप है। इस प्रकार संशय रूप वाच्यार्थ और निश्चय रूप व्यंग्यार्थ के स्वरूप भेद होने से दोनों अलग-अलग हैं।

(३) तीसरा उदाहरण 'कथमवनिप०' इत्यादि श्लोक है। यहाँ पर वाच्यार्थ यह है कि "क्या आपने तलवार से शत्रुओं के सिर काटकर उनकी लक्ष्मी हड़प ली ?" किन्तु इससे आपको गर्व नहीं करना चाहिए; क्योंकि सदेह (जीवित) आपने शत्रुओं के मर जाने पर उनकी लक्ष्मी (सम्पत्ति) छीनी है; किन्तु आपके शत्रु तो सिर कट जाने पर (मर जाने पर) भी आपके जीवित रहते ही आपकी प्रियतमा कीर्त्ति को आप से छीन कर अपने साथ स्वर्ग ले गये" श्लोक का यह वाच्यार्थ निन्दा रूप है। किन्तु 'आपने

'पूर्वपश्चाद्भावेन प्रतीतेः कालस्य, शब्दाश्रयत्वेन शब्द-तदेकदेश-तदर्थवर्ण-संघटनाश्रयत्वेन च आश्रयस्य, शब्दानुशासनज्ञानेन प्रकरणादि-सहाय-प्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेन चावगम इति निमित्तस्य, बोद्धृमात्रविदग्ध व्यपदेशयोः, प्रतीतिमात्रचमत्कृत्योश्च करणात् कार्यस्य, 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ प्रदर्शितनयेन संख्यायाः,

कस्य ण होइ रोसो दट्ठूण पिआइ सव्वणं अहरं ।
सभमरपडमग्घाइणि वरिअवामे सहसु एण्हि ॥१३५॥

[कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् ।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥१३५॥]
(इति संस्कृतम्)

इत्यादौ सखीतत्कान्तादिगतत्वेन विषयस्य च भेदेऽपि यद्येकत्वं तत्क्वचिदपि नीलपीतादौ भेदो न स्यात् ।

शत्रुओं का संहार कर दिया और आपकी कीर्त्ति स्वर्ग तक पहुँच गई' यह व्यङ्ग्यार्थ प्रशंसा रूप है । यहाँ पर वाच्य और व्यङ्ग्य के क्रमशः निन्दा एवं स्तुति रूप होने से स्वरूप भेद है ।

वाच्य और व्यङ्ग्य के भेद साधक कारण—

अनुवाद—पहिले और पीछे होने से काल का भेद, (वाच्य के) शब्दाश्रित होने से (तथा व्यङ्यार्थ के) शब्द, शब्दैकदेश, शब्दार्थ, वर्ण तथा संघटना पर आश्रित होने से आश्रयभेद, (वाच्यार्थ के) शब्दानुशासन के ज्ञान से तथा (व्यङ्ग्य का) प्रकरण आदि की सहायता, प्रतिमा की निर्मलता के साथ शब्दानुशासन (व्याकरण-कोशादि) के ज्ञान से प्रतीति (अवगम) होती है, इसलिए निमित्त का भेद, 'यह केवल बोद्धा है' इस प्रकार के व्यवहार तथा 'विदग्ध अर्थात् सहृदय हैं' इस प्रकार का व्यवहार करने से (वाच्य के) प्रतीतिमात्र (तथा सहृदयों के) प्रतीति के साथ चमत्कार भी करने से कार्य का भेद, 'सूर्य अस्त हो गया' इत्यादि में पूर्वप्रदर्शित रीति से संख्या का भेद ।

'प्रिया के व्रण (दन्तक्षत) से युक्त अधर को देखकर किसे क्रोध नहीं होता, इसलिए भौंरे के सहित कमल के फूल को सूंघने वाली और मना करने पर भी न मानने वाली (वामे) अब फल भोगो' ॥१३५॥

इत्यादि में सखीविषयक तथा उसके पति विषयक होने से विषय का भेद, यदि विषय का भेद होने पर भी दोनों में एकता (अभेद) माना जायगा, तो कहीं भी नील, पीत आदि का भेद ही नहीं रहेगा ।

विमर्श—ग्रन्थकार ने यहाँ वाच्य और व्यङ्ग्य में भिन्नता प्रतिपादन करने के लिए भेद-साधक सात कारणों का उल्लेख किया है, जो वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में भेद सिद्ध करते हैं। जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

(१) **स्वरूपभेद**—इसके तीन उदाहरण पहिले दिये जा चुके हैं। जहाँ पर स्वरूपभेद का स्पष्ट विवरण है।

(२) **कालभेद**—वाच्य व्यंजक होने से कारण होता है और व्यंग्यार्थ कार्य, कारण कार्य से पहिले होता है, इसलिए वाच्य की प्रतीति पहिले होती है और व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ के बाद होती है। इस प्रकार काल का भेद होने से वाच्य और व्यंग्यार्थ अलग-अलग हैं।

(३) **आश्रयभेद**—वाच्य का आश्रय केवल शब्द या वाक्य होता है किन्तु व्यंग्यार्थ का आश्रय वाक्य, शब्द, पद, वर्ण, संघटना आदि होता है। यही आश्रय-भेद है।

(४) **निमित्तभेद**—व्याकरण, कोश आदि शब्दानुशासन के ज्ञान से वाच्यार्थ का बोध होता है, इसलिए शब्दानुशासन वाच्यार्थ-बोध के निमित्त हैं और व्यंग्यार्थ के बोध में व्याकरण-कोशादि शब्दानुशासन का ज्ञान प्रकरण आदि का ज्ञान, प्रतिभा की निर्मलता आदि निमित्त होते हैं। यही निमित्त-भेद है।

(५) **कार्यभेद**—वाच्यार्थ का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को हो सकता है, इसलिए उसे 'बोद्धा' कहते हैं, किन्तु व्यंग्यार्थ का ज्ञान केवल सहृदयों को ही होता है। इसके अतिरिक्त वाच्यार्थ-बोध से केवल अर्थ की प्रतीति होती है किन्तु व्यंग्यार्थ तो चमत्कार को भी उत्पन्न करता है। इस प्रकार वाच्यार्थ केवल बोधमात्र का उत्पादक है किन्तु व्यंग्यार्थ का कार्य आनन्दाभिव्यक्ति चमत्कार भी है। यही कार्यभेद है।

(६) **संख्याभेद**—वाच्यरूप अर्थ एकविध होता है और व्यंग्यरूप अर्थ अनेक प्रकार का होता है। यह भेद पहिले 'गतोऽस्तमर्कः' उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा चुका है।

(७) **विषयभेद**—विषयभेद से भी वाच्य और व्यंग्य में भेद होता है। क्योंकि वाच्यार्थ तो सभी श्रोताओं के लिए समान (एक) होता है, व्यंग्यार्थ वक्ता और श्रोता आदि के भेद से भिन्न होता है। जैसे—किसी नायिका के अधर पर-पुरुष कृत दन्त-क्षत को देखकर नायिका के पति का नाराज होना स्वाभाविक है। किन्तु सखी इस बात को ताड़ गई और नायक, नायिका, पड़ोसिन, सौत आदि को सुनाकर कहती है कि 'कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो अपनी प्रिया के अधर पर दन्तक्षत को देखकर क्रुद्ध नहीं होगा? हे भ्रमर-सहित कमल का फूल सूँघने वाली और मना करने पर भी न मानने वाली वामे अब अपने किये का फल भोग।' यहाँ पर वाच्यार्थ का विषय

उक्तं हि—"अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारण-भेदश्च" इति।

पुंश्चली नायिका है किन्तु इसके व्यंग्यार्थ का विषय नायक आदि अनेक हैं। नायक के प्रति इसका व्यंग्यार्थ होगा—इसका अधरक्षत भ्रमर के काटने से हुआ है, उसी का चिह्न है, परपुरुषकृत दन्तक्षत का चिह्न नहीं है। पड़ोसियों के प्रति व्यंग्यार्थ होगा—'नायिका के भ्रमरदंश को देखकर नायक को क्रोध है, वस्तुतः नायिका निरपराध है।' सौतों के प्रति व्यंग्यार्थ होगा—'नायिका नायक की प्रेयसी है अतः उसके अधर पर भ्रमरदंशकृत क्षत (व्रण) को देखकर पति का क्रोधित होना स्वाभाविक है, अतः तुम्हें ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए।' नायिका के प्रति उसके सौभाग्य का ख्यापन व्यंग्य है। सास आदि के प्रति 'इस नायिका के अधर को भौंरे ने काट खाया, अतः परपुरुषकृत दन्तक्षत मत समझना' व्यंग्य है। इस प्रकार अन्य के प्रति भी व्यंग्यार्थ हो सकते हैं। अतः यहाँ वाच्य एवं व्यंग्य का विषय भेद है।

अनुवाद—कहा भी है—"यही भेद अथवा भेद का हेतु है जो दो विरुद्ध धर्मों का अध्यास (प्रतीति) और कारणों का भेद है।"

विमर्श—ग्रन्थकार का कहना है कि यदि इतने भेद होते हुए भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ को एक ही माना जायगा और उसमें भेद नहीं माना जायगा तो संसार में नील-पीत पदार्थों में नीले-पीले का भेद भी नहीं प्रतिपादित किया जा सकेगा। वस्तुतः समस्त दर्शनों का सार अभेदवाद है, किन्तु अभेद में भेद देखना ही व्यवहार का एकमात्र कारण होता है। जैसाकि पुराने लोग कहते हैं कि 'एक वस्तु का दूसरे वस्तु से जो भेद है अथवा भेद का हेतु (कारण) है वह यही है कि उनमें दो विरुद्ध धर्मों का अध्यास हो और कारणों का भेद हो'। भाव यह कि दो भिन्न वस्तुओं में एक वस्तु का धर्म दूसरी वस्तु में नहीं देखा जा सकता और एक वस्तु का कारण दूसरी वस्तु का कारण नहीं बन सकता। जैसे घट, पट आदि पदार्थों में घट-पटत्व रूप जो भिन्न-भिन्न धर्मों की प्रतीति होती है वह उन दोनों के कारणों से भेद होने के कारण ही दोनों पदार्थों में भेद होता है। इस प्रकार कारण भेद ही कार्यभेद का हेतु है।

प्रस्तुत उदाहरण में नायिका के मुख पर दन्तक्षत का कारण नायक है किन्तु सखी उस दन्तक्षत (व्रण) का कारण भ्रमर का काटना बता रही है। आठ कारणभेद से कार्य का भेद बताते हुए व्रण का कारण भ्रमर-दंश बताया जा रहा है। इस प्रकार वाच्य और व्यंग्य में विषय भेद से भी भिन्नता सिद्ध होती है।

वाचकानामर्थापेक्षा व्यंजकानान्त न तदपेक्षत्वमिति न वाचकत्वमेव व्यंजकत्वम् ।

किञ्च 'वाणीरकुडंग्वित्यादौ प्रतीयमानमर्थमभिव्यज्य वाच्यं स्वरूपे एव यत्र विश्राम्यति तत्र गुणीभूतव्यंग्येऽतात्पर्यभूतोऽप्यर्थः स्वशब्दानभिधेयः प्रतीतिपथमवतरन् कस्य व्यापारस्य विषयतामालम्बतामिति ।

वाचक-व्यञ्जक शब्दभेद

अनुवाद—वाचक शब्दों को (संकेतित) अर्थ की अपेक्षा होती है किन्तु व्यंजक शब्दों को उसकी अपेक्षा नहीं होती है, इसलिए वाचकत्व ही व्यंजकत्व नहीं है ।

अनुवाद—और भी 'वानीरकुंजोड्डीन' इत्यादि में प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त कराकर वाच्य अपने स्वरूप में ही जहाँ विश्राम लेता है । वहाँ गुणीभूतव्यंग्य (काव्य) में अतात्पर्यविषयीभूत (अर्थात् जो तात्पर्य का विषय नहीं है) अर्थ भी स्वशब्द से अवाच्य (अनभिधेय) प्रतीतिपथ में अवतरित होता हुआ (प्रतीतिगोचर होता हुआ) किस व्यापार का विषय होगा ?

विमर्श—ग्रन्थकार का कहना है कि केवल वाच्य और व्यंग्य अर्थों में ही भेद नहीं होता, अपितु उसके वाचक शब्द तथा व्यंजक शब्द भी अलग-अलग होते हैं । वाचक शब्दों को तो संकेतित अर्थ की अपेक्षा होती है; किन्तु व्यंजक शब्द के लिए किसी अर्थ की अपेक्षा नहीं रहती, अपितु निरर्थक शब्द भी व्यंजक होते हैं । कभी-कभी तो अवाचक (शब्द के अभाव में चेष्टा आदि) भी व्यंजक होते हैं । इस प्रकार वाचक और व्यंजक शब्द भिन्न-भिन्न होते हैं, इसलिए वाचकत्व को व्यंजकत्व (व्यंजनाव्यापार) नहीं माना जा सकता है अर्थात् अभिधाव्यापार को व्यंजना से पृथक् मानना पड़ेगा ।

विमर्श—अब प्रश्न यह है कि जब तक वाचकता और व्यंजकता को अलग-अलग नहीं माना जायगा तब तक व्यंग्यार्थ जो तात्पर्य का विषयीभूत अर्थ नहीं होता, उसकी प्रतीति किस व्यापार से होगी ? जैसे 'वानीरकुञ्जाड्डीन' असुन्दर-व्यंग्य के इस उदाहरण में प्रेमिका के अंगशैथिल्य रूप वाच्यार्थ (तात्पर्य विषयीभूत अर्थ) लताकुंज में प्रवेश रूप व्यंग्यार्थ (अतात्पर्य विषयीभूत अर्थ) की अपेक्षा अधिक चमत्कार जनक है । इसलिए चरम आस्वाद का विषय वाच्य ही होता है, व्यंग्य नहीं । अतः यहाँ पर व्यंग्यार्थ को तात्पर्य विषयीभूत अर्थ नहीं कहा जा सकता, अतः उसके लिए व्यंजना वृत्ति मानना आवश्यक है । यदि व्यंजनावृत्ति को स्वीकार नहीं किया जायगा तो बाद में प्रतीत होने वाले व्यंग्यार्थ की प्रतीति किस व्यापार से होगी, अतः उसके लिए व्यंजना मानना आवश्यक है ।

ननु—

'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति,

'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्' इति,

'रामोऽसौ विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धि पराम्'

इत्यादौ लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते विशेषव्यपदेशहेतुश्च भवति तदवगमश्च शब्दार्थायत्तः प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम ?

लक्षणा और व्यञ्जना का भेद

आचार्य मम्मट ने यहाँ तक अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा द्वारा कथमपि नहीं हो सकती और व्यंग्यार्थ का बोध कराने वाली व्यंजना शक्ति का किसी भी प्रकार अभिधा में समावेश नहीं किया जा सकता है। किन्तु लक्षणावादी आचार्यों का कहना है कि व्यंग्य अर्थ वस्तुतः कोई विलक्षण अर्थ नहीं है, बल्कि वह तो वैचित्र्ययुक्त लक्षणा ही है; क्योंकि व्यंजना में जो वैलक्षण्य पाया जाता है वह लक्षणा में भी उपलब्ध होता है। जैसे—व्यंग्यार्थ एक नहीं अनेक होता है, उसी प्रकार लक्ष्यार्थ भी एक नहीं अनेक होता है। जिस प्रकार व्यंजना नानार्थ का ज्ञान कराती है उसी प्रकार लक्षणा भी नानार्थ का ज्ञान कराती है। व्यंजना के समान लक्षणा में भी अर्थान्तर सङ्क्रमण आदि हो सकता है, तीसरे व्यंग्यार्थ के समान लक्ष्यार्थ की प्रतीति भी शब्द और अर्थ दोनों से ही होती है और लक्ष्यार्थ भी व्यंग्यार्थ के समान प्रकरण आदि की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार व्यंजना के सभी तत्त्व लक्षणा में भी पाये जाते हैं तो लक्षणा से ही काम चल जायगा, व्यंजना को अलग वृत्ति मानने की आवश्यकता ही क्या है ? इसी अभिप्राय को लक्ष्य कर मम्मट कहते हैं—

अनुवाद—(१) 'मैं राम हूँ सब कुछ सह लूंगा'

(२) हे प्रिये ! जिसे अपना जीवन प्रिय है, ऐसे राम ने प्रेम के अनुकूल नहीं किया।

(३) इस राम ने अपने पराक्रम के गुणों से भुवनों में (समस्त लोकों में) परम प्रसिद्धि प्राप्त करली है।

इत्यादि में लक्षणीय अर्थ भी नाना प्रकार का हो सकता है, और विशेष व्यवहार का हेतु होता है और उसकी प्रतीति भी शब्द और अर्थ के अधीन होती है तथा वह भी प्रकरण आदि की अपेक्षा रखता है, इसलिए यह प्रतीयमान (व्यंग्यार्थ) कौनसी नई वस्तु है ?

उच्यते—लक्षणीयार्थस्य नानात्वेऽपि अनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नियतत्वमेव। न खलु मुख्येनार्थेन नियतसम्बन्धो लक्षयितुं शक्यते। प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविशेषवशेन नियतसम्बन्धः अनियतसम्बन्धः सम्बद्धसम्बन्धश्च द्योत्यते।

कहते हैं कि—लक्षणीय अर्थ के नानाविध होने पर भी अनेकार्थक (अनेकविध अर्थ वाले) शब्दों के वाच्यार्थ के समान नियतरूप ही है, क्योंकि मुख्यार्थ के साथ नियत सम्बन्ध न रखने वाला अर्थ लक्षणा से बोधित नहीं किया जा सकता। व्यंग्यार्थ तो प्रकरण आदि की विशेषता के कारण नियतसम्बन्ध, (कहीं) अनियत सम्बन्ध और (कहीं) परम्परित सम्बन्ध से अभिव्यक्त होता है।

विमर्श—लक्षणावादी आचार्यों का कहना है कि व्यंजना का अन्तर्भाव लक्षणा में किया जा सकता है, अतः व्यंजना वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने इसके लिए तीन उदाहरण दिये हैं—

(१) 'रामोऽस्मि सर्वं सहे'

(२) रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्।

(३) रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्।

इन तीनों उदाहरणों में राम शब्द का वाच्यार्थ एक ही 'दाशरथि राम' है। किन्तु लक्ष्यार्थ तीनों जगह अलग-अलग है। जैसे प्रथम उदाहरण में राम शब्द का वाच्यार्थ 'दशरथ पुत्र राम' है किन्तु लक्षणा द्वारा 'राम' शब्द अर्थान्तर में संक्रान्त होकर 'अत्यन्तदुःसहिष्णुत्वधर्मविशिष्ट राम' का बोधक हो गया है। यहाँ पर राम शब्द का लक्ष्यार्थ अत्यन्त दुःखसहिष्णुत्व राम है जो वाच्यार्थ से भिन्न है। दूसरे उदाहरण में 'राम' शब्द का वाच्यार्थ तो 'दाशरथि राम है' किन्तु लक्ष्यार्थ तो 'निष्करुणत्वादिधर्मविशिष्ट राम' है। इस लक्ष्यार्थ का बोध लक्षणा के द्वारा होता है। इसी प्रकार तीसरे उदाहरण में भी राम शब्द लक्षणा के द्वारा अर्थान्तर में संक्रमित होकर 'खरदूषणादिहन्ता राम' रूप लक्ष्यार्थ का बोध कराता है। इस प्रकार इन तीनों उदाहरणों में राम शब्द का वाच्यार्थ तो 'दशरथपुत्र राम' ही है किन्तु तीनों के लक्ष्यार्थ अलग-अलग है। इस प्रकार यहाँ लक्ष्यार्थ भी व्यंग्यार्थ के समान अनेकार्थक है। अतः व्यंजना को अलग शक्ति मानने की क्या आवश्यकता है?

इसके अतिरिक्त व्यंग्यार्थ के समान लक्ष्यार्थ भी अर्थान्तरसंक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य रूप विशेष व्यपदेश का हेतु हो सकता है। तीसरे व्यंजना के समान लक्षणा भी शब्द और अर्थ दोनों के अधीन होती है। चौथे जिस प्रकार व्यंजना प्रकरण आदि की अपेक्षा रखती है, उसी प्रकार लक्षणा भी प्रकरण आदि की अपेक्षा रखती है। इस प्रकार लक्षणा और व्यंजना दोनों की समान स्थिति होने से लक्षणा

तत्र 'अत्ता एत्थ' इत्यादौ नियतसम्बन्धः, 'कस्स वा ण होई रोसो' इत्यादावनियतसम्बन्धः।

विपरीअरए लच्छी बम्हं दठ्ठूण णाहिकमलठ्ठं।
हरिणो दाहिणणअणं रसाउला झत्ति ढक्केई ॥१३६॥

[विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्यम्।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति स्थगयति ॥१३६॥]

(इतिसंस्कृतम्)

इत्यादौ सम्बद्धसम्बन्धः। अत्रहि हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकता व्यज्यते। तन्निमीलनेन सूर्यास्तमयः, तेन पद्मस्य संकोचः, ततो ब्रह्मणः स्थगनम्, तत्र सति गोप्याङ्गस्यादर्शनेन अनियन्त्रणं निधुवन-विलसितमिति।

के द्वारा काम चल जायगा, इसलिए व्यंजना नामक नया व्यापार मानने की क्या आवश्यकता है ? यह पूर्वपक्ष हुआ।

मम्मट उपर्युक्त युक्तियों का खण्डन करते हैं कि यद्यपि लक्ष्यार्थ भी व्यंग्यार्थ के समान अनेकार्थक होता है तथापि वह अनेकार्थकता व्यंग्यार्थ की अनेकार्थकता के समान नहीं होती, अपितु अनेकार्थक शब्द के वाच्यार्थ के समान प्रायः नियतरूप होता है अर्थात् अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने से वह नियत रूप होता है। दूसरे मुख्यार्थ से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति लक्षणा के द्वारा हो ही नहीं सकती जबकि व्यंजना के द्वारा मुख्यार्थ से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति भी हो जाती है। इसलिए लक्षणा वाच्य के समान नियत सम्बन्ध होता है और व्यंग्यार्थ कहीं नियतरूप, कहीं अनियत सम्बन्ध और कहीं सम्बद्ध सम्बन्ध वाला होता है। इन तीन प्रकार के नियत सम्बन्ध, अनियत सम्बन्ध और सम्बद्ध सम्बन्ध का सोदाहरण स्पष्ट विवेचन अगले अनुच्छेद में किया जा रहा है।

अनुवाद—उन (तीन प्रकार के व्यंग्यों) में 'अत्ता अत्र निमज्जति' (उदाहरण सं० १२७) में नियत सम्बन्ध वाला (व्यंग्य है) और 'कस्य न भवति रोषो' (उदाहरण सं० १२५) में अनियत सम्बन्ध वाला (व्यंग्य है)।

'विपरीत रति के समय (विष्णु के) नाभिकमल पर स्थित ब्रह्मा को देखकर लक्ष्मी सुरत से आकुल (सुरत से निवृत्त होने में असमर्थ) भगवान् विष्णु के दाहिने नेत्र को तुरन्त बन्द कर देती है ॥१३६॥

इत्यादि में सम्बद्धसम्बन्ध अर्थात् परम्पराकृत सम्बन्ध है। यहाँ पर 'हरि' पद से विष्णु के दाहिने नेत्र का सूर्य रूप होना व्यक्त होता है। उसके बन्द करने से सूर्य का अस्त होना और उससे कमल का बन्द होना

न च--

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअहए पलोएहि।
मा पहिअ ! रत्तिअन्धअ ! सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥१३७॥

[श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसके प्रलोकय।
मा पथिक राज्यन्ध शय्यायां मम निसंक्ष्यति ॥१३७॥]
(इतिसंस्कृतम्)

और उससे ब्रह्मा का ढक जाना (व्यङ्ग्य है)। इस प्रकार ब्रह्मा के कमल के अन्दर बन्द हो जाने पर (तत्र सति) गोपनीय अंगों के दिखाई न देने से अबाध रूप से सुरत-विलास (निधुवन-विलास) (व्यङ्ग्य) है।

विमर्श—यहाँ ग्रन्थकार का कथन है कि व्यंग्यार्थ प्रकरण आदि के बल से कहीं नियतसम्बन्ध वाला, कहीं अनियत-सम्बन्ध वाला और कहीं सम्बद्ध सम्बन्ध वाला होता है। तीनों का क्रमशः उदाहरण देते हैं—जैसे—'अत्ता अत्र निमज्जति' इत्यादि श्लोक में वाच्यार्थ के द्वारा पथिक को खाट पर आने का निषेध किया जा रहा है किन्तु व्यंजना के द्वारा 'खाट पर आने का निमन्त्रण' रूप व्यंग्यार्थ ध्वनित हो रहा है। इस प्रकार यहाँ पर दोनों वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में परस्पर विरोध के अत्यन्त प्रसिद्ध होने से नियतसम्बन्ध व्यंग्यार्थ है। इसके अतिरिक्त 'कस्य वा न रोषो भवति' इत्यादि उदाहरण में वाच्यार्थ का सम्बन्ध तो नायिका से है किन्तु व्यंग्यार्थ का सम्बन्ध नायक, पड़ोसिन, सौत, सास आदि अनेक से हो सकता है। इस प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का विषय भेद होने से यहाँ अनियतसम्बन्ध व्यंग्यार्थ है।

सम्बद्धसम्बन्ध अर्थात् परम्पराकृत सम्बन्ध का उदाहरण 'विपरीत रते' इत्यादि है। यहाँ पर वाच्यार्थ के साथ व्यंग्यार्थ का परम्पराकृत सम्बन्ध है। जहाँ पर वाच्यार्थ के साथ सम्बद्ध परम्परा के कारण एक सम्बन्ध से एक अर्थ की प्रतीति हो और सम्बद्ध अर्थ के सम्बन्ध से दूसरे अर्थ की प्रतीति और उसके सम्बन्ध तीसरे, चौथे आदि अनेक अर्थों की प्रतीति हो, वहाँ परम्पराकृत सम्बन्ध होता है। जैसे प्रस्तुत उदाहरण में 'हरि' पद से विष्णु के दक्षिणनेत्र का (शशिसूर्य नेत्रम् के अनुसार सूर्य का) तथा उसके बन्द होने से सूर्यास्त होना और सूर्यास्त होने से कमल का मुँदना और कमल के मुँदने से ब्रह्माजी का कमल के अन्दर बन्द हो जाना तथा ब्रह्मा के कमल के अन्दर छिप जाने से गोपनीय अंगों के न दिखाई देने से अबाध सुरतविलास आदि परम्परागत व्यंग्य है।

लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ का द्वितीय भेद—
और न—

अनुवाद—अरे रतौंधी वाले पथिक ! यहाँ (मेरी) सास लेटती है और यहाँ मैं (लेटती हूँ), दिन में ही अच्छी तरह देख लो, हे पथिक ! रात में कहीं मेरी खाट पर न गिर पड़ना ॥१३७॥

इत्यादौ विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ मुख्यार्थबाधः, तत्कथमत्र लक्षणा ?

लक्षणाश्रमपि व्यञ्जनमवश्यमाश्रयितव्यमिति प्रतिपादितम्। यथा च समयसव्यपेक्षाऽभिधा। तथा मुख्यार्थबाधादित्रयसमयविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा, अतएवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः।

इत्यादि विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलक) ध्वनि में मुख्यार्थ हो है, तो यहाँ लक्षणा कैसे हो सकती है ?

विमर्श—यहाँ पर ग्रन्थकार का कथन है कि मुख्यार्थबाध के होने पर ही लक्षणा होती है, बिना मुख्यार्थबाध के लक्ष्यार्थ का बोध हो ही नहीं सकता। यहाँ कोई कुलटा स्त्री बटोही से कह रही है कि 'हे बटोही ! तुम दिन में ही अच्छी तरह देख लो, यहाँ मैं सोती हूं, यहाँ मेरी सास सोती है, तुम्हें रतौंधी है, अतः कहीं भूल से रात में तुम मेरी खाट पर न गिर पड़ना' यह वाच्यार्थ हैं और निषेधरूप वाच्यार्थ है, किन्तु वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) का यहाँ बाध नहीं होता, वह कुलटा तो रात में अपने खाट पर आने के लिए पथिक को निमन्त्रण दे रही है कि हे बटोही ! रात में तुम मेरी खाट पर ही आ पड़ना। यह व्यंग्यार्थ विधिरूप है। इस प्रकार यहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न है, और उसकी प्रतीति बिना मुख्यार्थ बाध के हो रही है, अतः व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ से भी भिन्न है। अतः उसकी प्रतीति के लिए व्यंजनावृत्ति मानना आवश्यक है।

तृतीय भेद—

अनुवाद—लक्षणा में भी व्यञ्जना का आश्रय अवश्य लेना पड़ता है, यह बात पहिले द्वितीय उल्लास में प्रतिपादित की जा चुकी है।

विमर्श—यदि यह कहा जाय कि लक्षणा की बीज अन्वयानुपपत्ति ही नहीं, अपितु नागेशभट्ट के अनुसार 'तात्पर्यानुपपत्ति' भी है। उपर्युक्त प्रकृत उदाहरण (अत्ताअत्र आदि) में तात्पर्यानुपत्ति के कारण मुख्यार्थ का बाध माना जा सकता है और इस प्रकार यहाँ द्वितीय अर्थ की प्रतीति लक्षणा के द्वारा मानी जा सकती है ? इस आशंका का समाधान करते हुए मम्मट कहते हैं कि जिस प्रयोजन विशेष की प्रतीति कराने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, किन्तु केवल शब्द से गम्य उस प्रयोजन के विषय में व्यंजना के अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं होता, अतः लक्षणा में भी प्रयोजन को बोध कराने के लिए व्यंजना का आश्रय (सहारा) लेना अनिवार्य होगा।

न च लक्षणात्मकेव ध्वननम्, तदनुगमेन तस्य दर्शनात्। न च तदनुगतमेव, अभिधावलम्बनेनापि तस्य भावात्। नचोभयामुसार्येव, अवाचकवर्णानुसारेणपि तस्य वृष्टेः। न च शब्दानुसार्येव, अशब्दात्मकनेत्रविभागावलोकनादिगतत्त्वेनापि तस्य प्रसिद्धेरिति अभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्त्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापरोऽनपह्नवनीय एव।

चतुर्थ भेद—

अनुवाद—और जैसे अभिधा संकेतग्रह की अपेक्षा रखती है, इसी प्रकार लक्षणा भी मुख्यार्थबाध आदि तीन प्रकार के सम्बन्ध विशेष की अपेक्षा रखती है। इसलिए वह लक्षणा अभिधा की पुच्छरूप है, ऐसा कहते हैं।

विमर्श—उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अभिधा में संकेतग्रह आवश्यक माना गया है उसी प्रकार लक्षणा में भी मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ से सम्बन्ध और रूढ़ि या प्रयोजन इन तीन हेतुओं की आवश्यकता है। मुख्यार्थबाधादि हेतुओं के बिना लक्षणा अपने अर्थ (लक्ष्यार्थ) का बोध नहीं करा सकती। इसीलिए लक्षणा को अभिधा का पुच्छभूत कहा गया है। इस प्रकार लक्षणा सदा अभिधा के पीछे चलती है, किन्तु, व्यंजना सदा लक्षणा के पीछे नहीं चलती, क्योंकि अभिधामूला व्यंजना भी होती है जिसमें लक्षणा का कोई स्थान नहीं होता, अतः वह व्यंजना लक्षणा से भिन्न है। इसी प्रकार लक्षणा मुख्यार्थबाधादि हेतुओं की अपेक्षा रखती है और व्यंजना मुख्यार्थबाधादि हेतुओं की अपेक्षा नहीं रखती, अतः वह व्यंजना लक्षणा से भिन्न है, उसका लक्षणा में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।

अनुवाद—और व्यञ्जना लक्षणात्मक (लक्षणारूप) नहीं है; क्योंकि उस (लक्षणा) के पश्चात् उस (व्यञ्जना) का (व्यापार) देखा जाता है। और यह लक्षणानुगत भी नहीं है; क्योंकि अभिधा के अवलम्बन से भी वह विद्यमान रहता है। यह (व्यञ्जन-व्यापार) दोनों अभिधा और लक्षणा का अनुसरण करने वाला भी नहीं है, क्योंकि अवाचक (निरर्थक) वर्णों के द्वारा भी वह देखा जाता है और वह व्यञ्जना शब्दानुगामिनी भी नहीं है, क्योंकि शब्द से भिन्न नेत्र प्रान्त के अवलोकन (कटाक्षपात) आदि से भी व्यञ्जना-व्यापार प्रसिद्ध है। इस प्रकार अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा इन

तीनों व्यापारों से भिन्न ध्वनन, व्यञ्जन आदि पर्यायवाचक (नामक) व्यापार का अपलाप नहीं किया जा सकता।

विमर्श—आचार्य मम्मट का कहना है कि व्यंजना लक्षणा रूप नहीं है अर्थात् लक्षणा को व्यंजना नहीं माना जा सकता; क्योंकि लक्षणा की प्रतीति हो जाने के बाद व्यंजना की प्रतीति होती है। व्यंजना लक्षणा का अनुसरण नहीं करती, क्योंकि व्यंजना तो अभिधामूला भी होती है, जहाँ लक्षणा का कोई स्थान भी नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह भी नहीं कहा जा सकता कि व्यंजना सदा अभिधा या लक्षणा दोनों में किसी एक का अनुसरण करने वाली है, क्योंकि व्यंजना तो अवाचक (निरर्थक) वर्णों के द्वारा भी देखी जाती है और वर्णमात्र में भी होती है तथा कोमल, परुष आदि वर्णों से माधुर्यादि गुणों की व्यंजना होती है और उसके द्वारा रसादि की भी व्यंजना हो जाती है। इसके अतिरिक्त यह भी नहीं कहा जा सकता कि व्यंजना सदा शब्द का अनुसरण करने वाली होती है। अर्थात् व्यंजना सदा शब्दानुगामिनी नहीं होती, अपितु अशब्द रूप भ्रूकटाक्ष आदि से भी व्यंग्य अर्थ की प्रतीति दिखाई देती है जैसा कि कहा जाता है कि नायिका ने नेत्र के इशारे से मनोगत भाव को प्रकट कर दिया। यह व्यंजना का ही व्यापार है। इस प्रकार अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्यशक्ति इन तीनों शक्तियों से भिन्न ध्वनन, व्यञ्जन, द्योतन, प्रकाशन, प्रत्यायन, बोधन आदि पर्याय (नाम) वाला व्यंजना व्यापार का अपलाप नहीं किया जा सकता अर्थात् व्यंजना व्यापार को स्वीकार करना अत्यावश्यक है।

मम्मट ने 'व्यंजना लक्षणा से भिन्न है और उसका अन्तर्भाव लक्षणा में नहीं किया जा सकता' इस प्रकार लक्षणा और व्यंजना के भेद-साधक छः युक्तियों का संक्षेप में निम्न प्रकार विवेचन किया है—

१—लक्षणा में मुख्यार्थ-बाध होना आवश्यक है किन्तु व्यंजना में मुख्यार्थ बाध होना आवश्यक नहीं है।

२—लक्षणा मुख्यार्थबाधादि हेतुओं के बिना नहीं हो सकती, इसलिए उसे अभिधा का पुच्छभूत कहा गया है किन्तु व्यंजना में इसकी कोई आवश्यकता नही है।

३—अभिधा और लक्षणा में एक शब्द से अनेक अर्थों की प्रतीति नियत-सम्बन्ध वाली होती है। जबकि व्यंजना में अर्थ नियतसम्बन्ध, अनियतसम्बन्ध और परम्परित सम्बन्ध वाला होता है।

४—व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ के साथ नहीं, अपितु उसके पीछे होता है।

५—व्यंजना केवल लक्षणामूलक ही नहीं; बल्कि अभिधामूलक भी होती है।

६—व्यंजना कहीं निरर्थक वर्णों से कही कटाक्षादि संकेतों से भी होती है।

'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः, वाक्यमेव च वाचकम्' इति येऽप्याहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पना कर्त्तव्यैवेति तत्पक्षेऽवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव'।

अखण्डार्थवाद और व्यञ्जना

यहाँ तक आचार्य ने अभिहितान्वयवादी कुमारिलभट्ट, अन्विताभिधानवादी प्रभाकरगुरु, दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापारवादी भट्टलोल्लट तथा मुकुलभट्ट प्रभृति व्यंजना विरोधी मीमांसकों के मतों का खण्डन कर व्यंजना की स्थापना का सफल प्रयास किया है। इसके बाद ग्रन्थकार वेदान्ती, वैयाकरण और नैयायिक के मतों को उपस्थित कर तथा समीक्षा के साथ उनके मतों का खण्डन कर व्यंजना की स्थापना का प्रयास करेंगे।

वेदान्ती और वैयाकरण दोनों ही अखण्डार्थवाद को स्वीकार करते हैं और दोनों ही व्यंजनावाद के विरोधी हैं। यहाँ पर ग्रन्थकार ने अखण्डार्थवाद का प्रतिपादन कर वेदान्ती और वैयाकरण दोनों के मतों की समीक्षा की है। वे ग्रन्थकार के अनुसार वेदान्ती और वैयाकरण दोनों ही अखण्डार्थवाद को स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि तात्त्विक दृष्टि से वाक्य अखण्ड हैं और ये अखण्डवाक्य पद-पदार्थ के विभाग की कल्पना के बिना अखण्ड स्फोटरूप वाक्यार्थ के बोध के हैं, अखण्डबुद्धि से निर्ग्राह्य परब्रह्म ही वाक्यार्थ है और यही वाच्यार्थ है तथा अखण्ड वाक्य ही वाचक है तथा अखण्डवाक्यार्थ ही वाच्य है। इसी की समीक्षा मम्मट ने अगले अनुच्छेद में की है।

अनुवाद—जो (वेदान्ती या वैयाकरण) यह कहते हैं कि अखण्डबुद्धि से ग्राह्य वाक्यार्थ ही वाच्य है और अखण्डवाक्य ही वाचक है उन्हें भी अविद्या (अज्ञान) की स्थिति में व्यवहार की दशा में पद-पदार्थ की कल्पना करनी ही पड़ेगी, अतः उनके मत में भी 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि उदाहरण में विधि आदि व्यङ्ग्य ही है।

विमर्श—ब्रह्मवादी वेदान्ती 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस श्रुति के आधार एकमात्र अखण्ड ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं और बाह्य-जगत् की सत्ता का निषेध करते हैं। उनके मतानुसार अखण्ड बुद्धि के द्वारा ग्राह्य परब्रह्मरूप वाक्यार्थ को वाच्य कहा जाता है और अखण्डवाक्य को वाचक कहते हैं। इस प्रकार वेदान्ती वाक्य को अखण्ड मानते हैं। उनके मत में संसर्गगोचर प्रमिति का जनक वाक्य 'अखण्डार्थ' कहलाता है **(संसर्गगोचरप्रमितिजनकत्वमखण्डार्थत्वम्)** तदनुसार समस्त लक्षण वाक्य संसर्गगोचर प्रमिति के जनक होने से 'अखण्डार्थ' वाच्य कहलाते हैं। इस प्रकार उनके मत में **'तत्त्वमसि'** वाक्य भी अखण्डार्थ वाक्य कहा जाता है।

कुछ वेदान्ती 'अखण्डार्थ' वाक्य की व्याख्या दूसरे प्रकार से करते हैं। उनके मतानुसार जहाँ पर वाक्य का क्रिया-कारक भाव रूप खण्डों में विभाजन न किया जा सके, उसे 'अखण्डवाक्य' कहते हैं। उनके मत में एकमात्र ब्रह्म सत्य है और नानारूप से दृश्यमान जगत् मिथ्या है (ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या)। अतः उनके मत में धर्म-धर्मिभाव तथा क्रियाकारकभाव आदि सम्बन्ध भी मिथ्या है। इस प्रकार वेदान्त में परब्रह्म को छोड़कर सभी कुछ असत् (मिथ्या) है। अतः उनके मतानुसार वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ, वाचक, लक्षक और व्यंजक शब्द तथा अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि तथा अखण्ड और सखण्ड वाक्य भी असत्, मिथ्या हैं; किन्तु व्यवहारकाल में उन्हें भी अखण्डवाक्य की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। अतः वेदान्त के अनुसार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' 'तत्त्वमसि' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि वाक्यों से 'अखण्डबुद्धि' ही उत्पन्न होती है। उस अखण्डबुद्धि से ग्राह्य परब्रह्म ही वाक्यार्थ है, वही वाच्यार्थ है और वही वाचक शब्द भी है। इसी को ग्रन्थकार ने निम्न पंक्तियों में कहा है—

'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाच्यार्थ एव वाच्यः' वाच्यमेव वाचकम्

वेदान्तियों के समान वैयाकरण भी 'अखण्ड वाक्य' को मानते हैं, किन्तु वे वेदान्तियों के ब्रह्म के स्थान पर स्फोटरूप शब्द ब्रह्म को स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार वाक्य में पदों का अलग-अलग कोई अर्थ नहीं होता और पदों में वर्ण को अलग-अलग नहीं माना जा सकता। पूरा वाक्य (अखण्ड वाक्य) ही अर्थवान् होता है— जैसा कि भर्तृहरि ने वाक्पदीय में कहा है—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥

(वाक्पदीय १।७३)

जिस प्रकार 'ब्राह्मणकम्बलः' इस वाक्य में 'ब्राह्मण का कम्बल' यह पूरे वाक्य का अर्थ है। ब्राह्मण या कम्बल पद का कोई अलग अर्थ नहीं होता। इसी प्रकार वाक्य में पदों का अलग-अलग कोई अर्थ नहीं होता। यही अखण्डवाक्यार्थ है। उनके मतानुसार प्रकृति-प्रत्यय आदि का विभाग तो बालकों की शिक्षा के लिए है। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति पहिले असत्य मार्ग पर चलकर फिर सत्य को प्राप्त कर सकता है—

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥

इस प्रकार दोनों मतों में समानता है और दोनों अखण्ड वाक्य को मानते हैं। इसलिए ग्रन्थकार ने दोनों मतों की समीक्षा एक साथ निम्न प्रकार की है—

ग्रन्थकार का कहना है कि जो वेदान्ती या वैयाकरण अखण्ड बुद्धि के ग्राह्य वाक्यार्थ को वाच्य और अखण्ड वाक्य को वाचक मानते हैं उन्हें भी संसार में व्यवहार दशा में पद-पदार्थ की कल्पना करनी ही होगी। भाव यह कि वेदान्ती लोग जिस

ननु वाच्यादसम्बद्धं तावन्न प्रतीयते। यतः कुतश्चिद् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसङ्गात्। एवं च सम्बन्धाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवतीति व्याप्तत्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानं यत्तद्रूपः पर्यवस्यति।

प्रकार अखण्ड ब्रह्म को मानते हुए भी व्यवहारदशा में दृश्य जगत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं उसी प्रकार अखण्ड वाक्य को स्वीकार करने पर भी उन्हें भी पद-पदार्थ की कल्पना करनी ही पड़ती है। इसी प्रकार वैयाकरणों को भी पद, वर्ण आदि के विभाग की कल्पना करनी ही पड़ेगी अर्थात् वैयाकरण लोग अखण्ड वाक्य स्फोट को स्वीकार करते हैं किन्तु परमार्थतः वे उसमें वर्ण, पद आदि के विभाग को स्वीकार नहीं करते; किन्तु व्यवहार काल में उन्हें भी प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना तो करनी ही पड़ती है, इस प्रकार व्यवहारकाल में वैयाकरणों को भी व्यंजना-व्यापार स्वीकार करना ही पड़ता है, क्योंकि वाक्य के अवयवभूत पद या वर्ण में भी तो व्यंजना तो रहती ही है, कभी-कभी वाक्य में एक पद या एक वर्ण भी व्यंग्यार्थ को प्रकट करता ही है।

इस प्रकार 'निःशेषच्युतचन्दनं' इत्यादि उदाहरण में निषेध वाक्य से जो विधिरूप अर्थ प्रतीत (ध्वनित) होता है वह व्यंजना का ही विषय है। इसलिए विधिरूप अर्थ ही व्यंग्य है।

अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक लोचन में वेदान्ती और वैयाकरणों के उपर्युक्त सिद्धान्त को निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है, उनका कहना है कि जो विद्वान् अविभक्त स्फोट, वाक्य तथा अविभक्त अर्थ (अखण्ड अर्थ) को मानते हैं उन्हें भी व्यवहार दशा में (अविद्या के मार्ग में) इन समस्त प्रक्रिया का अनुसरण करना होगा। व्यवहार मार्ग को छोड़ देने पर अर्थात् जागतिक व्यवहार से ऊपर उठ जाने पर 'सभी कुछ अद्वैत ब्रह्म ही है' इस बात को तत्त्वालोक ग्रन्थ के रचयिता शास्त्रकार नहीं जानते थे, यह बात नहीं है अर्थात् यह बात हमारे शास्त्रकार आनन्दवर्द्धन जानते थे, अतः सांसारिक दशा में पद-पदार्थ की कल्पना व्यंग्य अर्थ (व्यंजना वृत्ति) को तो मानना ही पड़ेगा।

'येऽप्यविभक्तं स्फोटं वाक्यं तदर्थं चाहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः सर्वेयमनुसरणीया प्रक्रिया। तदुत्तीर्णत्वे तु सर्वं परमेश्वराद्वयं ब्रह्मेत्यस्मच्छास्त्रकारेण न न विदितं तत्त्वालोकं ग्रन्थं विरचयतेत्यास्ताम्।'

महिमभट्ट का अनुमितिवाद और व्यञ्जना—

ग्रन्थकार ने यहाँ तक व्यञ्जना विरोधी मीमांसक, वेदान्ती और वैयाकरणों के मत के उपस्थान के साथ खण्डन कर व्यञ्जनावाद की स्थापना की है। अब व्यञ्जना-विरोधी नैयायिक महिमभट्ट के मत को उपस्थित कर उसकी समालोचना करते हैं।

महिमभट्ट नैयायिक थे। उन्होंने ध्वनि को अनुमान में अन्तर्भाव कर ध्वनिवाद का खण्डन किया है। उन्होंने व्यंजना, व्यङ्ग्य, अभिव्यक्ति, व्यंजक आदि को अनुमान के क्षेत्र में समाहित माना है। आचार्य उनके मत की समीक्षा इस प्रकार करते हैं—

अनुवाद—(पूर्वपक्ष) वाच्य से असम्बद्ध अर्थ की तो प्रतीति नहीं होती। क्योंकि (वाच्य से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति मानने पर) जिस किसी भी शब्द से जिस किसी भी अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। इस प्रकार सम्बन्ध से होने वाला व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव व्याप्ति के बिना (अप्रतिबन्धे) अवश्य ही नहीं हो सकता। इसलिए व्याप्तियुक्त अर्थात् व्याप्त (सपक्ष में रहने से पक्षसत्त्व) और नियत (अर्थात् विपक्ष में न होना विपक्षव्यावृतत्व) तथा धर्मिनिष्ठ (पक्षसत्त्व) तीनों रूप वाले लिंग से लिंगी (साध्य) का जो ज्ञानरूप अनुमान है उसी रूप में पर्यवसित होता है।

विमर्श—आचार्य महिमभट्ट व्यंजना को अनुमान में अन्तर्भाव मानते हैं। उनका कहना है कि वाच्यार्थ से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती; क्योंकि यदि वाच्य से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति मानते हैं तो जिस किसी भी शब्द से जिस किसी भी अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। इस प्रकार इसकी एक व्याप्ति बन जाती है कि 'जहाँ-जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है वहाँ-वहाँ वाक्य का सम्बन्ध अवश्य रहता है (**यत्र यत्र व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिः तत्र तत्र वाच्यसम्बन्धत्वम्**)। यह अन्वय व्याप्ति है। इसी प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति भी होती है—'जहाँ-जहाँ वाच्य का सम्बन्ध नहीं होता, वहाँ-वहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति नहीं होती (**यत्र यत्र वाच्य सम्बन्धाभावस्तत्र तत्र व्यंग्यार्थप्रतीतेरभावः**) यह व्यतिरेक व्याप्ति है। अनुमान में पक्ष-धर्मता का होना भी आवश्यक है **लिङ्ग** (हेतु) का पक्ष में रहना 'पक्षधर्मता' है। अनुमान में लिङ्ग के तीन रूप होते हैं—पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृतत्त्व। ये तीनों जिसमें होते हैं वह शुद्ध हेतु कहलाता है। जो शुद्ध होता है उसे पक्ष रूप तथा सपक्ष में अवश्य रहना चाहिए और विपक्ष में उसका अभाव रहना चाहिए। इनमें से एक भी रूप की न्यूनता होने पर हेत्वाभास हो जाता है। यहाँ पर वाच्य का सम्बन्ध लिङ्ग है और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति साध्य (लिङ्गी) है। व्याप्ति के साथ पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृतत्त्व रूप त्रिविध लिङ्ग से लिङ्गी (साध्य व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति) का जो ज्ञान होता है, उसे 'अनुमान' कहते हैं। इस प्रकार व्यङ्ग्य व्यंजक भाव की प्रतीति भी अनुमान का विषय है। इस प्रकार जब अनुमान के द्वारा व्यंग्य-व्यंजकभाव गतार्थ होता है तो उसके लिए व्यंजना वृत्ति मानने की क्या आवश्यकता है?

तथाहि--

भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।
गोलाणईकच्छकुडंगवासिणा दरिअसीहेण ॥१३८॥

[भ्रम धार्मिक ! विश्वस्तः स श्वाद्यमारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥१३८॥]

(इतिसंस्कृतम्)

अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धे-रभ्रमणमनुमापयति । यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धि-पूर्वकम्, गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः ।

जैसे कि—

अनुवाद—हे धार्मिक ! आप विश्वस्त होकर (निर्भयपूर्वक) यहाँ घूमें; क्योंकि गोदावरी नदी के कछार के कुंज में रहने वाले उस उद्धत सिंह ने उस कुत्ते को आज मार डाला ॥१३८॥

अनुवाद--(वृत्ति) यहाँ पर कुत्ते के न रहने से घर में भ्रमण का विधान किया गया है, जो गोदावरी नदी के तट पर सिंह की स्थिति के ज्ञान से भ्रमण-निषेध का अनुमान कराता है । जो जो भीरुओं का भ्रमण है वह वह भय के कारण के अभाव के ज्ञानपूर्वक है और गोदावरी नदी के तट पर सिंह की उपलब्धि (उपस्थिति) है, इसलिए व्यापकविरुद्ध (व्यतिरेकव्याप्ति) की प्रतीति होती है ।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण गाथासप्तशती से लिया गया है । गोदावरी नदी के तट पर किसी उद्यान में कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका के साथ रमण करने आया करता था । उसी समय कोई धर्मात्मा साधु वहाँ पूजा के लिये फूल चुनने आया करता था। साधु के आने से उन दोनों की प्रणय लीला में बाधा पड़ती थी । इसलिए उस चतुर नायिका ने उस साधु को वहाँ (गोदावरी के तट पर) आने से रोकने के लिए साधु से इस प्रकार कहा कि हे साधु ! अब तुम निश्चिन्त होकर घूमो, क्योंकि उस कुत्ते को, जो तुम्हें देखकर भूँका करता था, उसे देखकर गोदावरी के कछार में रहने वाले खूँखार सिंह ने मार डाला । यहाँ पर नायिका के इस प्रकार कहने का अभिप्राय यह था कि पहिले तो यहाँ एक कुत्ता रहता था जो तुम्हें देखकर भूँका करता था, और तुम उससे डरते रहते थे, किन्तु अब तो यहाँ सिंह रहने लगा, इसलिए तुम्हें अब फूल तोड़ने या घूमने नहीं जाना चाहिए, नहीं तो शेर तुम्हें भी मार डालेगा ।

यहाँ पर 'अब तुम निश्चिन्त होकर घूमो', क्योंकि उस खूँखार शेर ने उस कुत्ते को मार डाला जो तुम्हें देखकर भूँकता था। भाव यह कि अब तुम निर्भीक होकर घूमो, अब तुम्हें कुत्ते का भय नहीं है, क्योंकि कुत्ते को शेर ने मार डाला है। यह वाच्यार्थ है। 'अभी तक तो वहाँ कुत्ता ही रहता था, किन्तु अब तो वहाँ शेर आ गया, अतः अब तुम वहाँ भूलकर भी मत जाना, नहीं तो शेर खा जायगा' यह व्यङ्ग्यार्थ है। यहाँ पर वाच्यार्थ विधिपरक है और व्यंग्यार्थ निषेधपरक। व्यंजनावादियों के मतानुसार यहाँ पर 'भ्रमण करना' विधिरूप वाच्यार्थ है और 'भ्रमण-निषेध' निषेध रूप व्यंग्यार्थ है। इस प्रकार दोनों में साध्य-साधन भाव होने से अनुमान का विषय है। महिमभट्ट के अनुसार यहाँ अनुमान के द्वारा भ्रमण-निषेध रूप व्यंग्यार्थ की सिद्धि हो जायगी, उसके लिए व्यंजना मानने से क्या लाभ? इस प्रकार व्यंजना विरोधी आचार्य महिमभट्ट के अनुसार अनुमान के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की सिद्धि हो जाती है, उसके लिए व्यंजना की आवश्यकता नहीं है।

प्रस्तुत उदाहरण अनुमान का विषय किस प्रकार है, इसका विवेचन करने के पूर्व अनुमान के तत्त्वों को समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है। अनुमान के मुख्यतः दो तत्त्व हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता। हेतु (धूम) और साध्य (अग्नि) के साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं। यह व्याप्ति भी दो प्रकार की होती है—अन्वय-व्याप्ति और व्यतिरेक-व्याप्ति। 'यत्र यत्र वह्निः तत्र तत्र धूमः' यह अन्वय व्याप्ति है और 'यत्र यत्र वह्न्यभावः तत्र तत्र धूमाभावः' यह व्यतिरेक व्याप्ति है। अनुमान का दूसरा तत्त्व है—पक्षधर्मता। पक्ष में साध्य का होना पक्षधर्मता है (पक्षे साध्यसिद्धिः पक्षधर्मता)। अनुमान में तीन हेतु होते हैं—पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपयव्यावृतत्व। इनमें प्रथम हेतु पक्षसत्त्व है। जिसमें साध्य सन्दिग्ध अवस्था में रहता है, उसको पक्ष कहते हैं (संदिग्धसाध्य-वान् पक्षः)। और जिसमें साध्य निश्चित अवस्था में रहे, उसे सपक्ष कहते हैं निश्चितसाध्यवान् सपक्षः)। जहाँ पर साध्य का अभाव निश्चित हो, विपक्षव्यावृतत्त्व कहते हैं (**निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः**)। जैसे पर्वत (पक्ष) में अग्नि रूप साध्य सन्दिग्ध अवस्था में है और जिसमें साध्य निश्चित अवस्था में रहता है उसे सपक्ष कहते हैं। (निश्चितसाध्यवान् सपक्षः)। जैसे महानस में अग्नि अवश्य रहती है। इन तीनों रूपों से युक्त हेतु शुद्ध हेतु कहलाता है। अनुमान में इन तीनों हेतुओं का होना आवश्यक है। इसमें से किसी एक भी धर्म के न रहने पर हेत्वाभास हो जाता है। इस प्रकार पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृतत्त्व रूप हेतुत्रय (लिङ्ग) इस साध्य (लिङ्गी) का अनुमान होता है। इस प्रकार भ्रमण-निषेध रूप व्यंग्यार्थ का भी बोध भी अनुमान के द्वारा हो जायगा। अनुमान का रूप निम्न प्रकार होगा—

इदं गोदावरीतीरं (पक्षः)
भीरुभ्रमणायोग्यं (साध्यः)
भयहेतुसिंहत्वात् (हेतुः)
कान्तारवत् (दृष्टान्त)

अत्रोच्यते—भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन, प्रियानुरागेण, अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः। शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि। गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः अपितु वचनात्। न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च। तत्कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः।

यहाँ पर गोदावरी का तट 'पक्ष' है, भीरु-भ्रमण की अयोग्यता 'साध्य' है, भय का हेतु सिंह का होना 'हेतु' है और कान्तार (जंगल) दृष्टान्त है। इसकी व्याप्ति निम्न प्रकार होगी—

(क) यत्र यत्र भयकारणं तत्र तत्र भीरुभ्रमणा योग्यत्वम्, यथा वनम् (अन्वय-व्याप्ति)

(ख) यत्र यत्र भीरुभ्रमणायोग्यत्वं न (भीरुभ्रमणं) तत्र तत्र भयकारणाभाव-ज्ञानपूर्वकम्, यथा गृहम् (व्यतिरेकव्याप्तिः)

इस प्रकार यहाँ पर गोदावरीतट 'पक्ष' है, भ्रमणाभाव 'साध्य' है, भय का कारण 'सिंह' हेतु है और वन उदाहरण (सपक्ष) तथा 'घर' उदाहरण (विपक्ष) है। यहाँ पर गोदावरी नदी के तट पर भ्रमण का निषेध अनुमान प्रमाण से सिद्ध हो जाता है, इसलिए व्यंजना वृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, यह पूर्वपक्ष हुआ।

अनुवाद—इस पर (पूर्वपक्ष के खण्डन) कहते हैं—भीरु पुरुष भी गुरु अथवा स्वामी (प्रभु) की आज्ञा से, प्रिया के अनुराग से अथवा इसी प्रकार के अन्य कारण से (हेतुना) भय का कारण होने पर घूमता है, इसलिए हेतु 'अनैकान्तिक' है। 'कुत्ते से डरता हुआ भी वीर होने से सिंह से नहीं डरता' इस प्रकार 'विरुद्ध' (हेत्वाभास) है। गोदावरी नदी के तट पर सिंह का होना प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा निश्चित नहीं है किन्तु केवल स्त्री के वचन से ही, (उसका ज्ञान होता है) और अर्थ के साथ (वचन का) प्रतिबन्ध न होने से वचन का प्रामाण्य नहीं है, इसलिए 'असिद्ध' (हेत्वाभास भी) है। तो इस प्रकार दोषग्रस्त हेतु से साध्य की सिद्धि कैसे हो सकती है?

विमर्श—यहाँ व्यंजना-विरोधी महिमभट्ट के मत का खण्डन करते हुए आचार्य मम्मट कहते हैं कि महिमभट्ट ने अपने साध्य की सिद्धि के लिए जो हेतु दिये हैं वे हेतु नहीं, बल्कि हेत्वाभास हैं। यहाँ पर ग्रन्थकार अनैकान्तिक, विरुद्ध और असिद्ध नामक हेत्वाभास प्रस्तुत करते हैं।

(१) **अनैकान्तिक हेत्वाभास**—जैसाकि पहिले बताया जा चुका है कि प्रत्येक शुद्ध हेतु में पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृतत्त्व इन तीनों रूपों का होना आवश्यक है, यदि इनमें से किसी एक रूप का अभाव होता है तो वह हेतु नहीं, अपितु 'हेत्वाभास' हो जाता है। यहाँ पर भय के कारण सिंहोपलब्धि को भीरू के अभ्रमण (भ्रमणनिषेध रूप साध्य) का हेतु बतलाया गया है, किन्तु व्यभिचार दोष युक्त होने से यह 'अनैकान्तिक' हेतु है (**सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः**) अर्थात् जहाँ पर शुद्ध हेतु के तीन रूपों में से 'विपक्षव्यावृत्त्व' रूप धर्म का अभाव पाया जाता है, उसे 'अनैकान्तिक' हेत्वाभास कहते हैं। यहाँ पर शुद्ध हेतु न होने से 'जहाँ जहाँ भय का कारण होता है वहाँ वहाँ भीरुभ्रमण नहीं होता' और 'जहाँ जहाँ भीरुभ्रमण होता है वहाँ वहाँ भय के कारण का अभाव हो' इस प्रकार की कोई व्याप्ति ही नहीं बनती। क्योंकि भय के कारण होते हुए भी गुरु की आज्ञा से, प्रभु (स्वामी) के आदेश से अथवा प्रिया के अनुराग से भीरु भी गोदावरी के तट पर घूम सकता है, इस प्रकार यहाँ पर 'अनैकान्तिक' हेत्वाभास है।

(२) **विरुद्ध हेत्वाभास**—साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाले हेतु को विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं (**साध्यविपर्यासव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः**)। भाव यह कि जहाँ पर हेतु साध्य के अभाव को सिद्ध करे, वहाँ 'विरुद्ध' हेत्वाभास होता है। जैसे यहाँ पर 'भ्रमण-निषेध' साध्य है और उसका हेतु सिंहोपलब्धि है। यहाँ पर सिंहोपलब्धि रूप हेतु 'भ्रमण-निषेध' (अभ्रमण) के अभाव (अर्थात् भ्रमण) को भी सिद्ध कर रहा है; क्योंकि कुत्ते से डरने वाला होने पर भी वीरपुरुष शेर से नहीं डरता। अथवा कुत्ते के मारने से कोई यश नहीं मिलेगा, और शेर के मारने पर यश की प्राप्ति होगी, इसलिए शेर के होने पर भी वह वहाँ घूम सकता है। अतः भय का कारण सिंहोपलब्धि (सिंहसद्भाव) अभ्रमण (भ्रमण-निषेध) का हेतु नहीं हो सकता। इसलिए यहाँ विरुद्ध हेत्वाभास है।

(३) **असिद्ध हेत्वाभास**—जो हेतु पक्ष (आश्रय) में न हो, उसे 'असिद्ध' हेत्वाभास कहते हैं (**यो हेतुराश्रये नावगम्यते, स स्वरूपासिद्धः**)। यहाँ पर 'सिंहोपलब्धिरूप हेतु गोदावरी के कछाररूपी पक्ष (आश्रय) में होना असिद्ध है; क्योंकि गोदावरी के कछार में सिंह का होना न तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात है और न अनुमान प्रमाण से ही निश्चित है अर्थात् किसी ने (धार्मिक ने) वहाँ पर न सिंह को देखा है और न अनुमान के द्वारा ही निश्चय किया है। बल्कि एक कुलटा नारी के कथन से सिंह का होना ज्ञात हो रहा है और उस कुलटा नारी के वचन में प्रामाणिकता ही क्या है? इसलिए गोदावरी के कछार में शेर का होना निश्चित नहीं है। इस प्रकार सिंहोपलब्धिरूप हेतु के गोदावरी-कच्छरूप 'पक्ष' में निश्चित रूप से गृहीत न होने से 'असिद्ध' हेत्वाभास है।

इस प्रकार उक्त अनुमान का हेतु (सिंहोपलब्धि) अनैकान्तिक, विरुद्ध तथा

तथा निःशेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति, अतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोगे एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि।

व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेषां व्यञ्जकत्वमुक्तम्। न चात्राधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम्। एवंविधादर्थादेवंविधोऽर्थ उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तद्दूषणम्।

इति काव्यप्रकाशे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णभेदनिर्णयो नाम पञ्चम उल्लासः ॥५॥

असिद्ध नामक हेत्वाभास रूप दोष से दूषित होने के कारण साध्य (भ्रमण-निषेध) की सिद्धि नहीं कर सकता। अतः अनुमान की उक्त प्रक्रिया से गोदावरी-कच्छ पर धार्मिक के भ्रमण-निषेध का अनुमान नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अनुमान का हेतु दोष-पूर्ण है। इस प्रकार जो अनुमानवादी महिमभट्ट अनुमान द्वारा भ्रमण-निषेध की प्रतीति कराकर व्यंजना का खण्डन करते हैं उनका अनुमान ही हेत्वाभास दोष से दूषित होने के कारण भ्रमण-निषेध रूप साध्य की सिद्धि नहीं करा सकता। अतः भ्रमण-निषेध रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए व्यंजना-वृत्ति को स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। अभिनवगुप्त के अनुसार यहाँ पर 'भ्रम' का वाच्यार्थ है—तुम्हें अनुमति दे दी गई, तुम्हारे घूमने का समय आ गया है और व्यङ्ग्यार्थ है—फूल-फल लेने के लिए तुम्हारा भ्रमण उचित नहीं है। इसी प्रकार 'विश्रब्धः' पद का वाच्यार्थ है—"तुम्हारे भय का हेतु कुत्ता नष्ट हो गया, अब विश्वस्त हो जाओ और व्यङ्ग्यार्थ है—"अभी तक तो तुम्हें केवल कुत्ते से भय था, किन्तु अब वहाँ शेर भी आ गया है, अतः तुम्हे आश्वस्त नहीं रहना चाहिए। 'स शुनकोऽद्य मारितस्तेन' का वाच्यार्थ है—जिसके भय से तुम काँपते थे, उस कुत्ते को आज ही उद्धत शेर ने मार डाला है, और व्यंग्यार्थ है—शेर ने आज ही कुत्ते को मारा है, इसलिए अभी कहीं गया नहीं है, वहीं पर है। अतः अब तुम्हें वहाँ नहीं जाना चाहिए, नहीं तो वह उद्धत शेर तुम्हें भी मार डालेगा। इस प्रकार यहाँ वाच्यार्थ विधिपरक है और व्यङ्ग्यार्थ निषेधपरक।

अनुवाद—इस प्रकार 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि में जो चन्दन-च्यवन (चन्दन का छूटना) आदि को सम्भोग के ज्ञापक (गमक) के रूप में कहे गये हैं, वे अन्य कारणों से भी हो सकते हैं। इसलिए यहाँ (निःशेषेत्यादि उदाहरण में) ही ये स्नान के कार्यरूप में कहे गये हैं, इसलिए उपभोग में ही व्याप्त (सम्बद्ध) नहीं हैं, इसलिए अनैकान्तिक है।

अनुवाद—और व्यञ्जनावादी ने 'अधम' पद की सहायता से इन चन्दन-च्यवनादि की व्यञ्जकता बतलाई है। किन्तु वह 'अधमत्व' प्रमाणों

से सिद्ध नहीं है, तो इससे अनुमान कैसे हो सकता है? व्याप्ति आदि की अपेक्षा किये बिना ही 'इस प्रकार के अर्थ से इस प्रकार का अर्थ प्रकाशित होता है' यह मानने वाले व्यञ्जनावादी के मत में वह दोष नहीं होता।

विमर्श—'भ्रम धार्मिक' इत्यादि उदाहरण में महिमभट्ट द्वारा प्रतिपादित अनुमान प्रमाण का खण्डन करने के पश्चात् ग्रन्थकार अब 'निःशेषच्युत०' इत्यादि उदाहरण में अनुमान का निराकरण करते हुए ध्वनि (व्यञ्जना) की सिद्धि की गई है। अनुमितिवादी आचार्य महिमभट्ट ने 'निःशेषच्युत' इत्यादि उदाहरण में चन्दन-च्यवन (चन्दन का छूटना) आदि को उपभोग का गमक (अनुमापक) माना है अर्थात् अनुमान के गमक में चन्दन-च्यवन आदि के हेतु माना है, किन्तु चन्दन-च्यवन (चन्दन-छूटना) आदि केवल उपभोग से ही नहीं होते अर्थात् केवल सम्भोग से ही चन्दन, कुङ्कुमलेप आदि नहीं छूटते, बल्कि स्नान आदि अन्य कारणों से भी छूट सकते हैं। इसलिए 'निःशेषच्युत' इत्यादि उदाहरण में चन्दन-च्यवनादि स्नान कार्य के रूप में प्रतिपादित हैं। इसलिए उपभोग के साथ तो चन्दन-च्यवनादि की व्याप्ति ही नहीं बनती (यत्र यत्र चन्दन-च्यवनादीनि, तत्र तत्र उपभोगः)। इस प्रकार चन्दन-च्यवन आदि को साध्य (उपभोग) के हेतु नहीं, बल्कि अनैकान्तिक हेत्वाभास रूप हैं। इसलिए 'निःशेषच्युत' इत्यादि उदाहरण में अनुमान के द्वारा विधिरूप (सम्भोग रूप) अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः उसके लिए व्यञ्जना शक्ति माननी पड़ेगी।

अब प्रश्न यह है कि यदि यह कहा जाय कि चन्दन-च्यवनादि सम्भोग रूप व्यङ्ग्यार्थ के हेतु नहीं हैं तो वे उपभोग की प्रतीति कैसे करा सकते हैं? इस पर कहते हैं कि 'निःशेषच्युत' इत्यादि उदाहरण में व्यञ्जनावादी ने 'अधम' पद की सहायता से चन्दन-च्यवनादि को व्यंजकत्व बतलाया है। इसी प्रकार अनुमानवादी महिमभट्ट के मत में भी 'अधम' पद की सहायता से चन्दन-च्यवनादि को सम्भोग के अनुमान में हेतु मान लिया जायगा और 'अधम' पद की सहायता से अनुमान की सिद्धि हो जायगी, तब व्यंजना की क्या आवश्यकता? इस पर व्यंजनावादी कहते हैं कि यहाँ पर नायक का 'अधमत्व' किसी प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है, यह तो एक कुलटा का वचन होने से अप्रमाणिक है और नायक अधम है या नहीं, इस प्रकार पक्षधर्मता का सन्देह है अतः यह हेतु सन्दिग्धासिद्ध है। इस प्रकार सन्दिग्धासिद्ध हेतु होने के कारण अनुमान के द्वारा साध्य की सिद्धि कैसे हो सकती है?

अब प्रश्न यह है कि 'यदि 'अधम' पद सन्दिग्धासिद्ध होने से अनुमान नहीं करा सकता तो व्यंजना पक्ष में भी उस 'अधम' पद से 'सम्भोग' रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति कैसे होगी? और चन्दन-च्यवनादि उपभोग में व्यंजक कैसे हो सकते हैं? इस प्रश्न का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि व्यंजना में किसी व्याप्ति आदि

की आवश्यकता नहीं होती। यही तो व्यंजनावाद की विशेषता है कि बिना किसी उपपत्ति के (उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि) ही सहृदयों के अनुभव के आधार पर इस प्रकार के वाक्यार्थ से इस प्रकार का व्यंग्यरूप अर्थ प्रकाशित होता है। अर्थात् नायिका के द्वारा नायक को 'अधम' कह देने से तथा दूती के द्वारा चन्दन-च्यवन आदि के उद्-घाटन रूप वाक्यार्थ से दूती का नायक के साथ रमणरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

सुधासागरकार का कथन है कि वक्तृ-बोद्धव्य आदि के वैशिष्ट्य के कारण उपपत्ति के अभाव में भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है, उसके लिए किसी व्याप्ति आदि की आवश्यकता नहीं है, वह तो सहृदय-संवेद्य है, इसलिए यहाँ कोई दोष नहीं है। इस प्रकार वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट द्वारा स्वीकृत व्यंजना का अपलाप ब्रह्मा भी नहीं कर सकते—

न चोपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि व्यंग्यप्रतीतावतिप्रसंग इति वाच्यम्, वक्त्रादि-वैशिष्ट्यस्य नियामकत्वात्। एवं चावागगोचरब्रह्मबोधिकेयमलौकिकीवृत्तिर्वाग्देवताऽ (मम्मटाऽ) ङ्गीकृता व्यंजना ब्रह्मणाऽप्यपालयितुमशक्येति सुधीभिर्मन्तव्यम्।"

आचार्य विश्वनाथ ने काव्यप्रकाशदर्पण में मम्मट के व्यंजनावाद का समर्थन करते हुए लिखा है—

"प्रतीतावन्यथोपपत्तेरेव व्यक्ति (व्यंजना) कल्पनादिति काव्यपुरुषावतारस्य निखिलशास्त्रतत्त्ववेदिनः श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यस्य पृथक् व्यंजनाव्यापारस्थापनमिति सर्वमवदातमिति।"

इस प्रकार डा० पारसनाथद्विवेदिकृत काव्यप्रकाश की हिन्दी व्याख्या का पंचम उल्लास समाप्त हुआ ॥५॥

अथ षष्ठ उल्लासः

(सू० ७०) शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।
गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिश्चित्रार्थशब्दयोः ॥४८॥

न तु शब्दचित्रेऽर्थस्याचित्रत्वम्, अर्थचित्रे वा शब्दस्य ।

षष्ठ उल्लासः

चित्र-काव्य निरूपण—

काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लासः में काव्य के तीन भेद बताये गये हैं—

(१) उत्तमकाव्य (ध्वनिकाव्य) (२) मध्यमकाव्य (गुणीभूतव्यंग्यकाव्य) (३) अवर या अधम काव्य (चित्रकाव्य)। इनमें व्यंग्य प्रधान ध्वनिकाव्य का विवेचन चतुर्थ उल्लास में किया गया है और गुणीभूतव्यंग्य काव्य का निरूपण पंचम उल्लास में किया गया है। क्रमप्राप्त चित्र-काव्य का विवेचन अब षष्ठ उल्लास में करेंगे। चित्र काव्य के दो भेद होते हैं—शब्दचित्र और अर्थचित्र। शब्दचित्र और अर्थ चित्र रूप दो भेद प्रथम उल्लास में वर्णित हैं किन्तु उनके अन्य भेद नवम एवं दशम-उल्लास में शब्दालंकार और अर्थालंकार के निरूपण के अवसर पर दिखाये जायेंगे। चित्रकाव्य के विषय में वहीं पर विवेचन करना चाहिए था, यहाँ षष्ठ उल्लास में उनके प्रदर्शन की क्या आवश्यकता है ? तथापि शब्दचित्र और अर्थचित्र के सम्बन्ध में विशेष रूप जो कहना चाहिए था, प्रथम उल्लास में उसका विवेचन नहीं किया जा सका है, उसी का विवेचन षष्ठ उल्लास में किया जायगा। वस्तुतः शब्दचित्र में शब्द की प्रधानता और अर्थ की गौणता रहती है और अर्थचित्र में अर्थ की प्रधानता और शब्द की गौणता होती है, दोनों का दोनों जगह अभाव नहीं रहता, अर्थात् न केवल शब्द चित्र ही चित्र काव्य है और न केवल अर्थचित्र ही चित्रकाव्य है, बल्कि परस्पर एक का दूसरे में गौण-प्राधान्य भाव रहता है, यह बताने के लिए तथा शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही अभीष्ट हैं, कोई एक नहीं, यह बताने के लिए षष्ठ अध्याय का आरम्भ किया गया है।

अनुवाद—(सू० ७०)—शब्दचित्र और अर्थचित्र नामक जो दो प्रकार के काव्य पहिले (प्रथम उल्लास में) कहे गये हैं उनमें शब्दचित्र और अर्थचित्र की स्थिति गुण-प्राधान्य भाव से होती है ॥४८॥

ऐसा नहीं कि, शब्दचित्र में अर्थचित्र का अभाव और अर्थचित्र में शब्दचित्र का अभाव रहता है।

तथा चोक्तम्—

"रूपकादिरलङ्कारस्तथान्यैर्बहुधोदितः ।

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ।

रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे ।

सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम् ।

तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।

शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ।।" इति ।।

विमर्श—प्रथम उल्लास में चित्र काव्य के दो भेद बताये गये हैं—शब्दचित्र और अर्थचित्र। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि शब्दचित्र में अर्थचित्र का और अर्थचित्र में चित्र शब्द का अभाव होता है। इन दोनों काव्यों में चित्र शब्द अथवा अर्थ का गुण रूप अथवा प्रधान रूप से स्थिति रहती है। इस प्रकार शब्द-चित्र में चित्र अर्थ की गौणता और चित्र शब्द की प्रधानता होती है और अर्थचित्र में चित्र शब्द की गौणता और चित्र अर्थ की प्रधानता होती है। केवल शब्दचित्र अथवा केवल अर्थचित्र चित्र काव्य नहीं कहलाता, बल्कि दोनों में दोनों की गुण-प्रधानभाव से स्थिति होती है, जैसा कि 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छ०' इत्यादि को जो शब्द चित्र कहा गया है उसका यह अर्थ नहीं है कि वहाँ पर अर्थ वैचित्र्य नहीं है। उसमें गंगा की अन्य नदियों से उत्कृष्टता वर्णित होने के कारण वहाँ व्यतिरेक अलंकार के रूप में अर्थवैचित्र्य विद्यमान है। इसी प्रकार 'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्' इत्यादि उदाहरणों में अनुप्रास अलंकार रूप में शब्द वैचित्र्य विद्यमान है, किन्तु अर्थवैचित्र्य की प्रधानता होने के कारण उसे 'अर्थचित्र' कहा जाता है। यहाँ 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस नियम के अनुसार प्रधानता के आधार पर नामकरण किया जाता है। इसी आधार पर चित्रकाव्य के दोनों भेदों—शब्दचित्र और अर्थचित्र का नामकरण हुआ है वस्तुतः शब्द चित्र में चित्र अर्थ की और अर्थ चित्र में चित्र शब्द की प्रधानता तो रहती ही है, किन्तु शब्द-सौष्ठव की प्रधानता के आधार पर शब्दचित्र और अर्थ-सौष्ठव की प्रधानता होने से अर्थचित्र कहा जाता है।

और कहा भी है—

अनुवाद—रूपक आदि (अर्थालङ्कार) ही अलङ्कार हैं, ऐसा कुछ आलङ्कारिकों ने अनेक प्रकार का कहा है। (क्योंकि) सुन्दर होने पर अलङ्काररहित स्त्रियों का मुख शोभित नहीं होता।

दूसरे लोग रूपक आदि अलङ्कारों को बाह्य अलङ्कार कहते हैं और सुबन्त तथा तिङन्त पदों की व्युत्पत्ति को वाणी का अलङ्कार मानते हैं।

इसी को वे 'सौशब्द्य' (शब्द-सौन्दर्य) कहते हैं अर्थ सौन्दर्य (अर्थ-व्युत्पत्ति) तो ऐसा (चमत्कारजनक) नहीं होता। शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के भेद से हमें तो दोनों अभीष्ट हैं।

शब्दचित्रं यथा—

प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रभः
तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः।
उदयति ततो ध्वान्तध्वंसक्षमः क्षणदामुखे
सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥१३९॥

विमर्श—'शब्दचित्र और अर्थचित्र दोनों ही काव्य में चमत्कारजनक होते हैं' इस कथन की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए आचार्य ने भामह के काव्यालङ्कार से तीन कारिकाएँ उद्धृत की हैं। इनमें यह बताया गया है कि कुछ आलङ्कारिकों के अनुसार रूपक आदि अर्थालङ्कार ही काव्य-शोभा के निष्पादक होने के कारण आदरणीय हैं (अर्थालङ्कार एवादरणीयो न तु शब्दालङ्कारः) दूसरे आलङ्कारिकों का कहना है कि शब्द श्रवण के अनन्तर शब्दालङ्कार द्वारा चित्त के आकृष्ट हो जाने पर अर्थ-प्रतीति के बाद ही रूपकादि अलंकारों की प्रतीति होती है। इस प्रकार काव्यास्वादन में शब्द का चमत्कार प्रमुख होता है अतः शब्दालंकार की प्रधानता है और अर्थालंकार की प्रतीति बाद में होती है, इसलिए उसे बाह्य या गौण कहते हैं अर्थात् वे काव्य के बहिरंग हैं। क्योंकि मधुर शब्द के सुनते ही चित्त आकृष्ट हो जाता है, अर्थ की प्रतीति तो बाद में होती है। इस प्रकार काव्यास्वादन में पहिले शब्दालंकार अपना चमत्कार दिखलाता है, तब रूपकादि अलंकारों पर दृष्टि जाती है। इस प्रकार काव्य में शब्दालंकार की ही प्रधानता है और अर्थालंकार की नहीं (शब्दालंकार एवादरणीयो न त्वर्थालंकारः)। सुबन्त और तिङन्त पदों (शब्दों) का चमत्कार विशिष्ट सन्निवेश ही शब्दालंकार है और वही काव्य में सौन्दर्य-वर्द्धक होता है और अर्थ-सौन्दर्य तो शब्द-सौन्दर्य के समान उतना चमत्कारजनक नहीं होता। इसलिए शब्दश्रवण से ही चमत्कारजनक होने के कारण शब्दालंकार की ही प्रधानता है।

आचार्य भामह का कथन है कि शब्दालंकार और अर्थालंकार हमें तो दोनों ही इष्ट हैं। क्योंकि न तो केवल शब्द ही काव्य है और न केवल अर्थ ही, अपितु दोनों का साहित्य काव्य है (शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्)। अतः शब्दार्थोभयरूप काव्य शरीर में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही समान उपादेय हैं; और कवि के लिए दोनों ही समान उपजीव्य हैं इसलिए कवि का दोनों के निर्माण में समान प्रयत्न होना चाहिए। क्योंकि दोनों ही आस्वादोपकारक और सहृदयसंवेद्य हैं।

शब्दचित्र का उदाहरण, जैसे—

अनुवाद—रात्रि के प्रारम्भ में (चन्द्रमा) पहिले लाल रंग का, फिर सोने के समान कान्ति युक्त और उसके बाद विरह-क्लान्त कामिनी के

अर्थचित्रं यथा—

ते दृष्टिमात्रपतिता अपि कस्य नात्र
क्षोभाय पक्ष्मलदृशामलकाः खलाश्च ।
नीचाः सदैव सविलासमलीकलग्नाः
ये कालतां कुटिलतामिव न त्यजन्ति ॥१४०॥

कपोल फलक के समान कान्ति वाला उसके बाद स्निग्ध कमलिनी के विसपत्र के समान कान्ति वाला अन्धकार को नाश करने में समर्थ चन्द्रमा उदय हो रहा है।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में यद्यपि स्वभावोक्ति एवं उपमा आदि अर्थालंकार भी हैं तथापि यहाँ पर म, त, क, ल, स, छ आदि वर्णों के सुष्ठु विन्यास से अनुप्रास अलंकार का सौन्दर्य जितना चमत्कारजनक प्रतीत हो रहा है, उतना स्वभावोक्ति आदि अर्थालंकारों का सौन्दर्य चमत्कारजनक नहीं प्रतीत हो रहा है, किन्तु कवि की दृष्टि तो विशेष रूप से शब्द-विन्यास के सौष्ठव पर गड़ी हुई है, वह तो शब्दचित्र के विन्यास की ओर अधिक उन्मुख दिखाई देता है, वर्ण-विन्यास की विचित्रता में वह निमग्न है। अतः यह शब्दचित्र नामक चित्रकाव्य का उदाहरण है।

अर्थचित्र का उदाहरण, जैसे—

अनुवाद—सुन्दर पक्ष्मयुक्त नेत्रों वाली रमणियों के बाल (केश) और खल जो नीच (केशपक्ष में—नीचे तक लहराते हुए, तथा खलपक्ष में अधम), विलासपूर्वक हमेशा अलीक (ललाट तथा मिथ्याभाषण) में लगे हुए, कुटिलता (वक्रता तथा दुष्टता) के समान कालेपन को नहीं छोड़ते, वे (केशपाश तथा खल) दिखाई पड़ते ही किसके क्षोभ के लिए नहीं होते अर्थात् वे किसके चित्त को क्षुब्ध (व्याकुल) नहीं करते ॥१४०॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'समुच्चय' अलंकार है। यद्यपि यहाँ पर श्लेष और उपमा आदि अलंकारों की छटा भी दर्शनीय है, किन्तु ये दोनों अलंकार 'चित्त को क्षुब्ध करने वाले 'अलक' और 'खल' के दोनों के एक साथ कथन रूप' समुच्चय अलंकार को ही पुष्ट करते हैं। इस प्रकार उक्त दोनों अलंकारों के समुच्चय अलंकार के अंग रूप होने से समुच्चय-अलंकार प्रधान है। यहाँ पर कवि की दृष्टि समुच्चया-लङ्कार के अर्थ-सौन्दर्य पर टिकी हुई है, इसलिए यहाँ अर्थचित्र का ही सौन्दर्य चमत्कारजनक प्रतीत हो रहा है, अतः यह 'अर्थचित्र' नामक चित्रकाव्य का उदाहरण है।

यद्यपि सर्वत्र काव्येऽन्ततो विभावादिरूपतया पर्यवसानम्, तथापि स्फुटस्य रसस्यानुपलम्भादव्यङ्ग्यमेतत्काव्यद्वयमुक्तम्। अत्र च शब्दार्थालङ्कारभेदाद् बहवो भेदाः। ते चालङ्कारनिर्णये निर्णेष्यन्ते।

इति काव्यप्रकाशे शब्दार्थचित्रनिरूपणं नाम षष्ठ अध्यायः ॥६॥

अनुवाद- यद्यपि सभी प्रकार के काव्यों में अन्ततः विभावादि रूप में पर्यवसान होता है तथापि स्फुट रस की प्रतीति न होने के कारण इन दोनों प्रकार के काव्यों को व्यङ्ग्य रहित (अधम काव्य) कहा गया है। इनमें भी शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के भेद से अनेक भेद हैं, उनका निर्णय अलङ्कार-निर्णय के अवसर पर किया जायगा।

विमर्श—उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि काव्य में जो वर्णन किया जाता है, अन्त में वह विभावादि-योजना के रूप में पर्यवसित होता जाता है। इसलिए सभी वाक्यों में कुछ न कुछ व्यंग्य अवश्य रहता है, किन्तु वह व्यंग्य कहीं-कहीं स्पष्ट रूप में प्रतिभासित नहीं होता। चित्रकाव्य में उसकी स्पष्ट प्रतीति नहीं होती, इसीलिए उसे **'अव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्'** कहा गया है। यहाँ पर 'अव्यंग्यं' का अर्थ सर्वथा व्यङ्ग्य रहित नहीं, अपितु स्फुट व्यङ्ग्य रहित है। अर्थात् व्यङ्ग्य (रस) की स्पष्टता नहीं रहती, इसलिए उसे 'अवर (अधम) काव्य कहा गया है। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की चारुता के आधार पर ही काव्य को उत्तम, मध्यम, और अधम काव्य कहा जाता है। जहाँ व्यङ्ग्यार्थ का चमत्कारातिशय स्पष्ट होता है, उसे उत्तम काव्य कहते हैं और जहाँ व्यङ्ग्यार्थ के कारण चमत्कार न पाया जाय, अपितु शब्द या अर्थ के वैचित्र्य के कारण चमत्कार हो, उसे 'अधम' या चित्रकाव्य कहते हैं। मध्यम काव्य इन दोनों के बीच की कड़ी है जिसमें व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक नहीं होता।

इस प्रकार डा० पारसनाथद्विवेदिकृत काव्यप्रकाश की हिन्दी-व्याख्या का षष्ठ उल्लास समाप्त हुआ ॥६॥

अथ सप्तम उल्लासः

सप्तम उल्लास

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में **'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'** यह काव्यलक्षण निर्दिष्ट किया है। वहाँ 'शब्दार्थों' के तीन विशेषण दिये गये हैं—'अदोषौ', 'सगुणौ', 'अनलंकृती पुनः क्वापि'। इनमें 'अदोषौ' पद का दोष-रहित अर्थ होता है अर्थात् शब्दार्थयुगल रूप काव्य को दोष रहित होना चाहिए। आचार्य भामह ने कहा है—

सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्षमणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते ॥

(काव्यालंकार १।११)

इस प्रकार काव्य में एक भी दोष नहीं होना चाहिए। दण्डी ने भी काव्य में दोष-निरास को आवश्यक बतलाते हुए कहा है कि काव्य में थोड़ा भी दोष उपेक्षणीय नहीं है, क्योंकि सुन्दर शरीर भी थोड़े से कुष्ठ से दूषित हो जाता है।

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥

(काव्यादर्श १।६-७)

दोष क्या है ? रसानुभूति अथवा आनन्दानुभूति में विघातक तत्त्व को 'दोष' कहते हैं। रसानुभूति में उद्वेगजनक तत्त्वों का होना 'दोष' है (**उद्वेगजनको दोषः**)। सहृदयों को रसानुभूति काल में जिससे उद्विग्नता हो, उस तत्त्व को दोष कहते हैं। इस प्रकार रस-प्रतीति के विघातक, उद्वेजक तत्त्व ही दोष हैं इसी अर्थ को मन में रखकर मम्मट ने **'मुख्यार्थहतिः'** को दोष कहा है। उनके मत में **'मुख्य'** का अर्थ रस और 'हति' का अर्थ अपकर्ष है। इस प्रकार रस का अपकर्षक तत्त्व दोष हुआ।

काव्यस्वरूपं निरूप्य दोषाणां सामान्यलक्षणमाह—

(सू० ७१) मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥४९॥

हतिरपकर्षः । शब्दाद्या इत्याद्यग्रहणाद् वर्णरचने ।

विश्वनाथ ने इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए 'रसापकर्षक को दोष कहा है (रसापकर्षकाः दोषाः) । वस्तुतः काव्य का मुख्य उद्देश्य है आनन्दोपलब्धि और आनन्दोपलब्धि में बाधा पहुँचाने वाला तत्त्व दोष है । ये दोष केवल आनन्दोपलब्धि अथवा रसानुभूति में ही बाधा नहीं पहुँचाते, अपितु उद्देश्य-प्रतीति के भी विघातक हैं ।

अनुवाद—काव्य के स्वरूप का निरूपण करके अब दोषों का सामान्य लक्षण कहते हैं—

अनुवाद—(सू० ७१)—जिससे मुख्यार्थ का अपकर्ष (हतिः) होता है, उसे दोष कहते हैं । और रस मुख्य (अर्थ) है, उसका आश्रय होने से वाच्य (अर्थ) भी मुख्य (अर्थ) है । शब्दादि इन दोनों के उपकारक होते हैं, अतएव उनमें भी वह (दोष) रहता है ॥४९॥

यहाँ पर 'हति' का अर्थ 'अपकर्ष' है । 'शब्दाद्याः' में आदि पद के ग्रहण से वर्ण और रचना का ग्रहण होता है ।

विमर्श—मम्मट ने 'मुख्यार्थहति' को दोष कहा है । यहाँ पर हति का अर्थ अपकर्ष है और काव्य में रस ही मुख्यार्थ है । इस प्रकार मुख्यार्थ 'रस' के अपकर्षक तत्त्व को 'दोष' कहते हैं । यहाँ पर 'रस' को मुख्य कहा गया है और उसके आश्रय से (रस के लिए अपेक्षित होने से) वाच्य भी मुख्यार्थ कहलाता है (तदाश्रयाद्वाच्यः) । इसलिए वाच्य अर्थ के अपकर्षक तत्त्व को दोष कहते हैं । भाव यह कि मम्मट के अनुसार मुख्यार्थ विघातक तत्त्व को दोष कहा गया है और मुख्यार्थविघात का अर्थ मुख्यार्थ का अपकर्ष है । इस प्रकार वे मुख्य अर्थ (अभीष्ट अर्थ) की प्रतीति में बाधा पहुँचाते हैं । सरस काव्य में तो वे रस की अविलम्ब अथवा उत्कट अनुभूति में तथा चित्रकाव्य में अर्थ (वाच्यार्थ) की अविलम्ब तथा चमत्कारपूर्ण प्रतीति में बाधक होते हैं । यही मम्मट का अभिप्राय है और मम्मट के इसी अभिप्राय को ग्रहण कर विश्वनाथ ने रस के अपकर्षक तत्त्व को दोष कहा है (रसापकर्षकाः दोषः) । इस दिशा में विश्वनाथ मम्मट से प्रभावित जान पड़ते हैं ।

विशेषलक्षणमाह—

(सू० ७२) दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम् ।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम् ॥५०॥
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत् क्लिष्टम् ।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत् समासगतमेव ॥५१॥

(१) श्रुतिकटु परुषवर्णरूपं दुष्टं यथा—

अनङ्गमङ्गलगृहापाङ्गभङ्गितरङ्गितैः ।
आलिङ्गितः स तन्वङ्ग्या कार्त्तार्थ्यं लभते कदा ॥१४१॥

अत्र कार्त्तार्थ्यमिति ।

(२) च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनं यथा—

एतन्मन्दविपक्वतिन्दुकफलश्यामोदरापाण्डर—
प्रान्तं हन्त पुलिन्दसुन्दरकरस्पर्शक्षमं लक्ष्यते ।
तत् पल्लीपतिपुत्रि ! कुञ्जरकुलं कुम्भाभयाभ्यर्थना—
दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतं मा कृथाः ॥१४२॥

अनुवाद – अब दोषों का विशेष लक्षण कहते हैं—

(सू० ७२)—श्रुतिकटु, च्युतसंस्कृति, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहतार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, तीन प्रकार का अश्लील, सन्दिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्य, नेयार्थ, क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश और विरुद्धमतिकृत् ये सोलह दोष हैं ॥५०-५१॥

विमर्श—श्रुतिकटु आदि ये सोलह दोष गिनाये गये हैं । इनमें क्लिष्टदोष, अविमृष्टविधेयांश और विरुद्धमतिकृत् ये तीन दोष समासगत होते हैं । शेष श्रुतिकटु से नेयार्थ तक तेरह दोष पदगत और समासगत दोनों होते हैं ।

(१) श्रुतिकटुदोष

अनुवाद—परुष (कठोर) वर्ण रूप पद 'श्रुतिकटु' दोष है । अर्थात् जिस पद के श्रवण से चित्त में उद्विग्नता हो अथवा जिसके सुनने से कान (श्रवणेन्द्रिय) को कष्ट हो, उसे 'श्रुतिकटु' दोष कहते हैं । जैसे—

कामदेव के मंगलगृह रूपी कटाक्षों की भंगिमा की तरंगों से युक्त उस कृशांगी रमणी से आलिंगित होकर वह युवक कब कृतार्थ को प्राप्त होगा ?" ॥१४१॥

यहाँ पर 'कार्त्तार्थ्य' पद श्रुतिकटु है ।

विमर्श—'श्रुतिकटु' को ही भामह 'श्रुतिदुष्ट'; वामन तथा भोज 'कष्ट' तथा विश्वनाथ 'दुःश्रवत्व' नाम से अभिहित करते हैं । यहाँ पर 'कार्त्तार्थ्य' पद में कठोर वर्ण हैं जो सुनने पर कानों को कष्ट देते हैं और श्रोताओं को उद्विग्न करते हैं । यह अनित्यदोष है; क्योंकि रौद्र रस में यह गुण हो जाता है ।

अत्रानुनाथते इति, 'सर्पिषो नाथते' इत्यादाविवाशिष्येव नाथतेरात्मनेपदं विहितम्—'आशिषिनाथः' इति। अत्र तु याचनमर्थः। तस्मात् 'अनुनाथति स्तनयुगम्' इति पठनीयम्।

---

(२) च्युतसंस्कृति

अनुवाद—व्याकरण के संस्कार से हीन अर्थात् व्याकरणशास्त्र के नियमों के विरुद्ध पद 'च्युतसंस्कृति' दोषयुक्त होता है (च्युता स्खलिता संस्कृतिः (संस्कारः) व्याकरणलक्षणानुमो यत्र तदित्यर्थः)। जैसे—

"हे पल्लीपति की पुत्रि! यह थोड़े पके हुए (अधपके) तेंदू के फल के समान श्यामवर्ण मध्यभाग वाला तथा शेषभाग गौर वर्णवाला और किसी शबर-युवक के करस्पर्श के (मर्द्न) के सर्वथा उपयुक्त तुम्हारा स्तनयुगल दिखाई दे रहा है। इसलिए हे पल्लीपतिपुत्रि! अपने कुम्भस्थल (गण्डलस्थल) की रक्षा की प्रार्थना से अत्यन्त दीन कुञ्जरवृन्द (हाथियों का समूह) तुमसे याचना करता है (भीख माँगता है) कि तुम अपने स्तन-युगल को पत्तों से मत ढको।

यहाँ पर 'अनुनाथते' यह पद 'च्युतिसंस्कृति' दोष से दूषित है; क्योंकि 'सर्पिषो नाथते' इत्यादि उदाहरण में 'आशीः' अर्थ में ही 'आशिषि नाथः' इस वार्त्तिक से नाथ् धातु से आत्मनेपद का विधान किया गया है। यहाँ पर तो 'याचना' अर्थ है। इसलिए 'अनुनाथति स्तनयुगम्' यह पाठ होना चाहिए। अतः यहाँ 'अनुनाथते' पद व्याकरण-विरुद्ध होने से 'च्युतसंस्कृति' दोष है।

विमर्श—व्याकरणशास्त्र के नियमों के विरुद्ध पदों का प्रयोग करना 'च्युतसंस्कृति' दोष है। भोज इसे 'असाधु' नाम से अभिहित करते हैं और लक्षण देते हैं—'शब्दशास्त्रविरुद्धं यत्तदसाधु प्रचक्षते'। प्रस्तुत उदाहरण में गज समूह किसी नवयौवना कन्या से प्रार्थना कर रहा है कि हे युवति! तुम अपने दोनों स्तनों को पत्ते से मत ढको; क्योंकि ऐसा करने पर शबर-युवक तुम्हारे खुले स्तनों को देखकर तुम्हारी ओर आकृष्ट हो जायेंगे और गण्डस्थल-भेदन की बात को भूल जायेंगे, इससे हमारे गण्डलस्थलों की रक्षा हो जायगी, इसलिए हे कामिनि! तुम अपने स्तनों को पत्ते से मत ढको।

यहाँ पर 'अनुनाथते' पद का प्रयोग याचना अर्थ में किया गया है 'आशिषि नाथः' इस वार्त्तिक के द्वारा विधान किया गया है कि याचनार्थक 'नाथ्' धातु से 'आशीः' अर्थ में ही आत्मनेपद होता है। जैसे 'सर्पिषो नाथते' यहाँ पर 'आशीः'

(३) अप्रयुक्त' तथाऽऽम्नातमपि कविभिर्नादृतम् । यथा—

यथाऽयं दरुणाचारः सर्वदैव विभाव्यते ।

तथा मन्ये 'दैवतोऽस्य पिशाचो राक्षसोऽथ वा ॥१४३॥

अत्र दैवतशब्दो 'दैवतानि पुंसि वा' इति पुंस्याम्नातोऽपि न केनचित् प्रयुज्यते ।

(४) असमर्थं यत्तदर्थं पठ्यते, न च तत्रास्य शक्तिः । यथा—

तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जितसत्कृतिः ।

सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम् ॥१४४॥

अत्र हन्तीति गमनार्थम् ।

(आशंसा) अर्थ होने से आत्मनेपद हुआ है। किन्तु 'अनुनाथते' का अर्थ यहाँ 'याचना' अभिप्रेत है, आशंसा नहीं। इसलिए यहाँ आत्मनेपद नहीं होना चाहिए और 'अनुनाथति स्तनयुगम्' यह पाठ होना चाहिए। 'अनुनाथते' यह आत्मनेपद प्रयोग व्याकरणशास्त्र के नियमों के विरुद्ध है। अतः यहाँ 'च्युतसंस्कृति' दोष है।

(३) अप्रयुक्त दोष

अनुवाद—(व्याकरणशास्त्र द्वारा) सिद्ध (आम्नात) होने पर भी कवियों के द्वारा उपेक्षित पद 'अप्रयुक्त' दोष कहलाता है। जैसे—

"जिस प्रकार यह व्यक्ति निरन्तर क्रूर आचरण करता हुआ दिखाई देता है उससे मैं समझता हूँ (मानता हूँ) कि इसका उपास्य देवता भी कोई पिशाच या राक्षस होगा।" ॥१४३॥

यहाँ पर 'दैवत' शब्द 'दैवतानि पुंसि वा' इस नियम के अनुसार पुंल्लिग में पठित होने पर भी किसी कवि ने ('पुंल्लिग' में इस शब्द का) प्रयोग नहीं किया है (इसलिए यहाँ अप्रयुक्त दोष है)।

विमर्श—जो शब्द व्याकरणशास्त्र द्वारा सिद्ध हो, किन्तु कवियों द्वारा प्रयुक्त न हो, उसे 'अप्रयुक्त' दोष कहते हैं। यही अर्थ भोज आदि को भी अभिमत है (कविभिर्न प्रयुक्त यदप्रयुक्त प्रचक्षते)। यहाँ पर 'दैवत' शब्द पुलिङ्ग में प्रयुक्त है। यद्यपि, व्याकरण के अनुसार 'दैवतानि पुंसि वा' इस नियम से 'दैवत' शब्द पुल्लिग भी होता है किन्तु किसी कवि ने इसका पुल्लिग में प्रयोग नहीं किया है। इसलिए यहाँ 'अप्रयुक्त' दोष है।

(४) असमर्थ दोष

अनुवाद—जो शब्द जिस अर्थ में (व्याकरण-कोष आदि में) पढ़ा गया हो, किन्तु उस अर्थ के प्रत्यायन (बोध कराने) में उसकी शक्ति न हो तो वहाँ 'असमर्थ' दोष होता है। जैसे—

"अन्य तीर्थों में स्नान के द्वारा पुण्य को प्राप्त करने वाला यह पुरुष अब गंगा में स्नान करने जा रहा है।" ॥१४४॥

यहाँ पर 'हन्ति' पद गमन अर्थ में प्रयुक्त है।

(५) निहतार्थं यदुभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तम् । यथा

यावकरसार्द्रपादप्रहारशोणितकचेन ।

मुग्धा साध्वसतरला विलोक्य परिचुम्बिता सहसा ।।१४५।।

अत्र शोणितशब्दस्य रुधिरलक्षणेनार्थेनोज्ज्वलीकृतत्वरूपोऽर्थो व्यवधीयते ।

विमर्श—यदि कोई शब्द जिस अर्थ में व्याकरण-कोषादि ग्रन्थों में पढ़ा गया हो, किन्तु वह शब्द उस अर्थ के बोध कराने में समर्थ न हो और उस (असमर्थ) अर्थ में उसका प्रयोग हो वहाँ 'असमर्थ' दोष होता है। जैसे 'हन् हिंसागत्योः' इस धातुपाठ में 'हन्' धातु 'हिंसा' और 'गमन' अर्थ में पढ़ा गया है किन्तु किसी अन्य पद के अथवा किसी प्रत्यय विशेष को योग होने पर ही 'हन्' धातु 'गमन' अर्थ का बोधक होता है अर्थात् बिना किसी सहायक के 'हन्' धातु 'गमन' अर्थ का बोध कराने में समर्थ नहीं है; अतएव प्रस्तुत उदाहरण में 'हन्ति' पद 'गमन' अर्थ का बोध कराने में असमर्थ है, इसलिए यहाँ 'असमर्थ' दोष है।

(५) निहतार्थ दोष

अनुवाद—जो शब्द दोनों (प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध) अर्थों का वाचक होने पर भी किसी अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त हो तो वहाँ 'निहतार्थ' दोष होता होता है। जैसे—

"महावर से गीले चरण के प्रहार से कुछ कुछ लाल केश वाले नायक ने भय से व्याकुल उस भोली नायिका को देखकर सहसा उसका चुम्बन कर लिया" ।।१४५।।

यहाँ पर 'शोणित' शब्द 'रुधिर' रूप में प्रसिद्ध अर्थ के द्वारा 'कुछ-कुछ लाल' (ईषदारक्तीकृतस्वरूप) **अप्रसिद्ध अर्थ व्यवहित हो जाता है,** (अतः यहाँ निहतार्थ दोष है ।) ।

विमर्श—जो शब्द प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध दोनों अर्थों का वाचक होता है, किन्तु प्रसिद्ध अर्थ के द्वारा अप्रसिद्ध अर्थ दबा हुआ प्रकाशित नहीं होता, यदि काव्य में उसका प्रयोग हो तो वहाँ 'निहतार्थ' दोष होता है। जैसे प्रस्तुत उदाहरण में 'शोणित' शब्द रुधिर रूप प्रसिद्ध अर्थ और 'कुछ-कुछ लाल' रूप अप्रसिद्ध अर्थ दोनों का वाचक है। यद्यपि शोणित शब्द का रुधिर अर्थ प्रसिद्ध अर्थ है और इसका अप्रसिद्ध अर्थ 'कुछ-कुछ लाल' अर्थ ही यहाँ विवक्षित है। यहाँ प्रसिद्ध अर्थ के द्वारा निहतार्थ होने पर भी अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त 'शोणित' शब्द निहतार्थ दोषयुक्त है।

(६) अनुचितार्थं यथा—

तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते प्रयत्नतः सत्रिभिरिष्यते या।
प्रयान्ति तामाशुगतिं यशस्विनो रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः ॥१४६॥

अत्र पशुपदं कातरतामभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थम्।

(७) निरर्थकं पदपूरणमात्रप्रयोजनं चादिपदम्। यथा—

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते! मम हि गौरि!
अभिवाञ्छितं प्रसिद्ध्यतु भगवति! युष्मत्प्रसादेन ॥१४७॥

अत्र हि शब्दः

---

(६) अनुचितार्थ

अनुचितार्थ दोष का उदाहरण। जैसे-

अनुवाद—जिस गति (मुक्ति) को तपस्वी लोग बहुत देर में प्राप्त करते हैं तथा याज्ञिक लोग जिसे महान् प्रयत्न से प्राप्त करना चाहते हैं, उस गति को युद्धरूपी अश्वमेध यज्ञ में पशुता को प्राप्त (अर्थात् मारे गये) यशस्वी लोग शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं ॥१४६॥

यहाँ पर 'पशु' कातरता (अधीरता) को अभिव्यक्त करता है, इसलिए यहाँ अनुचितार्थ दोष है।

विशेष—जो शब्द विवक्षित अर्थ का तिरस्कार करने वाले किसी अर्थ का व्यञ्जक होता है, उसका प्रयोग होने पर 'अनुचितार्थ' दोष होता है। जैसे प्रस्तुत उदाहरण में 'पशु' पद विवक्षित अर्थ 'शूरता' का तिरस्कार कर 'कातरता' (अधीरता) को अभिव्यक्त कर रहा है। इसलिए यहाँ पर 'अनुचितार्थ' दोष है।

(७) निरर्थक दोष

अनुवाद—जहाँ पर 'च' 'वा' आदि पदों का केवल पादपूर्त्ति मात्र के लिए प्रयोग किया जाता है, उसे 'निरर्थक' दोष कहते हैं। जैसे—

"खिले हुए कमल के केसर के पराग के समान गौर कान्ति वाली, हे भगवति! हे गौरि! (पार्वती), आपकी कृपा से मेरी अभिलाषा पूरी हो ॥१४७॥

यहाँ पर 'हि' शब्द (केवल पादपूर्त्ति के लिए है)।

विमर्श—जहाँ पर च, हि आदि निरर्थक पदों का केवल पादपूर्त्ति के लिए प्रयोग किया जाता है, वहाँ वह 'निरर्थक' दोष कहलाता है। जैसे प्रस्तुत उदाहरण में 'हि' पद निरर्थक है। यह केवल पादपूर्त्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है; निरर्थक पदों के प्रयोग से सहृदयों को विमुखता होती है। यहाँ पर 'हि' पद का 'हेतु' या 'अवधारण' आदि अर्थ विवक्षित नहीं है। क्योंकि यहाँ इसका कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता, इसलिए 'हि' निरर्थक शब्द है अतः यहाँ निरर्थक दोष है।

(८) अवाचकं यथा

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥१४८॥

अत्र जन्तुपदमदातर्यर्थे विवक्षितं तत्र च नाभिधायकम्।

यथा वा—

हा धिक्! सा किल तामसी शशिमुखी दृष्टा मया यत्र सा,
तद्विच्छेदरुजाऽन्धकारितमिदं दग्धं दिनं कल्पितम्।
किं कुर्मः कुशले सदैव विधुरो धाता न चेत्तत्कथं
तादृग्यामवतीमयो भवति मे नो जीवलोकोऽधुना ॥१४९॥

अत्र दिनमिति प्रकाशमयमित्यर्थेऽवाचकम्।

---

(८) अवाचक दोष

(८) अवाचक दोष का उदाहरण, जैसे—

अनुवाद—हे युधिष्ठिर! निष्फल क्रोध वाले और दूसरों की आपत्तियों का नाश करने वाले लोगों के, सभी लोग स्वयं वश में हो जाते हैं और क्रोध-रहित व्यक्ति का न तो मित्र आदर करते हैं और न शत्रु ही भय करते हैं ॥१४८॥

यहाँ पर 'जन्तु' पद 'अदाता' (दान न देने वाला) अर्थ में विवक्षित है, किन्तु उसका वाचक नहीं है।

विमर्श—जहाँ पर कोई शब्द अपनी विवक्षित धर्म रूप अर्थ की वाचकता से रहित होता है, वहाँ 'अवाचक' दोष होता है। जैसे प्रस्तुत उदाहरण में 'जन्तु' पद 'अदाता' अर्थ में विवक्षित होने पर भी यह 'अदाता' अर्थ का वाचक नहीं है। यह तो क्रोधशून्य व्यक्ति की तुच्छता का बोधक है। अतः यह अवाचक दोषपूर्ण है। किन्तु ग्रन्थकार इसे उपयुक्त उदाहरण नहीं समझते, इसलिए अवाचकत्व दोष का दूसरा उदाहरण देते हैं। जैसे—

अवाचक दोष का दूसरा उदाहरण—

अनुवाद—हाय बड़े दुःख की बात है कि जब मैंने उस चन्द्रमुखी को देखा था, वह अंधेरी रात (तामसी) थी। उसके वियोग के दुःख से दग्ध (जले हुए) अन्धकार को प्रकाशमय बना दिया। क्या करूँ? यदि विधाता इष्टकार्य में सदैव प्रतिकूल न रहता तो यह जीवलोक इस समय मेरे लिए अँधेरी रात हो जाता ॥१४९॥

यच्चोपसर्गसंसर्गादर्थान्तरगतम् । यथा

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः ।
भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥१५०॥

अत्र दधदित्यर्थे विदधदिति ।

यहाँ पर दिन पद 'प्रकाशमय' अर्थ में अवाचक है ।

विमर्श—यह श्लोक विक्रमोर्वशीय नाटक से लिया गया है । यह पुरुरवा की उक्ति है । यहाँ पर 'तामसी' का अर्थ 'तमोमयी' है और उससे विपरीत अर्थ के प्रदर्शन के लिए 'दिन' शब्द 'प्रकाशमय' अर्थ का अवाचक है । वस्तुतः 'दिन' शब्द समय सूचक 'दिन' का वाचक है । 'प्रकाशमय' अर्थ में उसकी शक्ति नहीं है, अपितु 'दिनत्व' रूप अर्थ में उसका सामर्थ्य है । अतः यहाँ अवाचक दोष है ।

अवाचक दोष का तीसरा उदाहरण—

अनुवाद—अपने पति शिवजी के नृत्त का अनुकरण करते समय सुन्दर जङ्घाकाण्डरूपी बड़े-बड़े नाल वाला, नख की किरण रूपी केसर की पंक्ति से नतोन्नत, तुरन्त लगाये हुए महावर की कान्ति के विस्तार रूप कोमल किसलयों वाला, सुन्दर नूपुर रूपी भौरों से विभूषित तथा अपने शरीर के स्वच्छ सौन्दर्य रूपी बावड़ी में उत्पन्न कमल की शोभा को धारण करता हुआ पार्वती का ऊपर उठाया हुआ कोमल चरण विजयी है अर्थात् अधिक उत्कर्षशाली है ॥१५०॥

यहाँ 'दधत्' के अर्थ में 'विदधत्' यह अवाचक पद है ।

विमर्श—यहाँ पर 'विदधत्' शब्द का प्रयोग अवाचक है । क्योंकि 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'धा' धातु का प्रयोग (विदधत् शब्द) 'विधान' अर्थ का वाचक होता है, 'धारण करना' अर्थ का वाचक नहीं है । 'दधत्' शब्द ही धारण अर्थ का वाचक है । इसलिए 'दधत्' शब्द के अर्थ (धारण के अर्थ) में 'विदधत्' शब्द का प्रयोग अवाचक है ।

(९) त्रिधेति व्रीडाजुगुप्सामङ्गलव्यञ्जकत्वात् । यथा—

(क) साधनं सुहृद्यस्य यन्नान्यस्य विलोक्यते ।
तस्य धीशालिनः कोऽन्यः सहेतारालितां भ्रुवम् ॥१५१॥

(ख) लीलातामरसाहतोऽन्यवनितानिःशङ्कदष्टाधरः,
कश्चित् केसरदूषितेक्षण इव व्यामील्य नेत्रे स्थितः ।
मुग्धा कुड्मलिताननेन ददती वायुं स्थिता यत्र सा
भ्रान्त्या धूर्ततयाऽथ वा नतिमृते तेनानिशं चुम्बिता ॥१५२॥

---

(९) त्रिविध अश्लील दोष

अनुवाद—व्रीड़ा जुगुप्सा और अमंगल का व्यञ्जक होने के कारण 'अश्लील' तीन प्रकार का होता है। जैसे—

(क) जिस राजा का साधन (सैन्यबल या लिङ्ग) इतना बड़ा है जितना अन्य किसी का नहीं दिखाई देता, उस बुद्धिशाली (राजा या नायक) का भृकुटि-भंग कौन सहन कर सकता है ? ॥१५१॥

विमर्श—यहाँ पर 'साधन' शब्द पुरुष के लिङ्ग का वाचक होने से यहाँ पर उसका प्रयोग व्रीड़ा (लज्जा) का व्यञ्जक होने से 'अश्लील' पद है।

(ख) किसी अन्य नायिका के द्वारा निःशंकभाव से काटे हुए अधरों वाला (अथवा जिसने दूसरी नायिका के अधरों का काट लिया है, ऐसा) कोई नायक प्रिया के लीला कमल से ताड़ित हुआ, कमल पराग से दूषित (भरी हुई) आँखों के समान अपनी आँखें बन्द कर खड़ा हो गया और वह मुग्धा (भोली-भाली) नायिका कमल-कोरक सरीखें गोल मुख से उसकी आँखों को फूंकती हुई खड़ी हो गई। फिर नायक ने भ्रान्ति से अथवा धूर्तता से प्रणत हुए बिना ही (मनाये बिना ही) उसका बार-बार (अनिशं) चुम्बन किया ॥१५२॥

विमर्श—यहाँ 'वायु' शब्द का प्रयोग 'जुगुप्सा' का व्यञ्जक होने से 'अश्लील' पद है। क्योंकि 'वायु' पद का अर्थ 'अपान वायु' का भी वाचक होता है। इसलिए इसका प्रयोग 'अश्लीलता' का व्यञ्जक माना जाता है।

(ग) मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशाद्
धनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽद्य जातः।
रतिविगलित बन्धे केशपाशे सुकेश्याः
सति कुसुमनाथे कं हरेदेष बर्ही ॥१५३॥

एषु साधनवायुविनाशशब्दा व्रीडादिव्यञ्जकाः।

(१०) सन्दिग्धं यथा—

आलिङ्गितस्तत्र भवान् सम्पराये जयश्रिया।
आशीः परम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ॥१५४॥

अत्र वन्द्यां किं हठहृतमहिलायां किं वा नमस्यामिति सन्देहः।

(ग) आज मेरी प्रिया उर्वशी के अदृश्य (विनाश) हो जाने से कोमल पवन के झोंकों से बिखरा हुआ सघन और सुन्दर कलाप (मयूरपिच्छ) बेजोड़ (प्रतिद्वन्द्वी रहित) हो गया है। फूलों से सुसज्जित तथा रति-लीला में खुले हुए बन्ध वाले उर्वशी के केशपाश के रहते हुए यह मयूर किसको आकृष्ट कर सकता था ? ॥१५३॥

विमर्श—यहाँ पर 'विनाश' शब्द अदृश्य अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, किन्तु 'विनाश' शब्द मृत्यु रूप अमङ्गल का व्यञ्जक होने से यहाँ 'अश्लीलता' को प्रकट कर रहा है।

(१०) सन्दिग्ध दोष

सन्दिग्ध दोष का उदाहरण, जैसे—

अनुवाद—समरभूमि में विजयलक्ष्मी से आलिंगित आप वन्दनीय (प्रशंसा से भरी) आशीर्वाद की परम्परा को सुनकर (उन पर) कृपा करें ॥१५४॥

यहाँ पर 'वन्द्यां' पद का क्या 'बलात् हरण की गई महिलाओं' अथवा 'नमस्कार के योग्य' अर्थ अभिप्रेत है, यह सन्दिग्ध है।

विमर्श—जहाँ पर कोई पद एक निश्चित अर्थ का वाचक नहीं होता अर्थात् जब वह दो अर्थों को उपस्थित करता है और यह सन्देह उत्पन्न करता है कि कौन सा अर्थ वस्तुतः तात्पर्य का विषय है, वह पद सन्दिग्ध दोष से युक्त माना जाता है। भोज का भी यही अभिप्राय है। 'सन्दिग्धत्व' को वाक्य दोष मानते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में 'वन्द्यां' पद सन्दिग्ध है। इसके दो अर्थ होते हैं—प्रथम स्त्रीलिङ्ग बन्दी शब्द का सप्तमी एकवचन में 'वन्द्याम्' रूप बनता है जिसका अर्थ होगा—'वन्दी बनाई गई

(११) अप्रतीतं यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम् । यथा—

सम्यग्ज्ञानमहाज्योतिर्दलिताशयताजुषः ।
विधीयमानमप्येतन्न भवेत्कर्मबन्धनम् ।।१५५।।

अत्राशयशब्दो वासनापर्यायो योगशास्त्रादावेव प्रयुक्तः ।

(१२) ग्राम्यं यत्केवले लोके स्थितम् । यथा—

राकाविभावरी कान्तसङ्क्रान्तद्युति ते मुखम् ।
तपनीयशिलाशोभा कटिश्च हरते मनः ।।१५६।।

अत्र कटिरिति ।

महिलाओं में') द्वितीय 'वन्द्या' (वन्दनीया) शब्द से द्वितीया एकवचन में 'वन्द्याम्' रूप बनता है जिसका अर्थ होता है—'वन्दनीय, नमस्कार के योग्य' और दोनों का अर्थ भी भिन्न-भिन्न है । अब यहाँ सन्देह होता है कि इसे सप्तमी एकवचन का रूप माना जाय अथवा द्वितीया का एकवचन का रूप ? यह सन्देह है । इसलिए यहाँ पर 'सन्दिग्ध' दोष माना जाता है ।

(११) अप्रतीत-दोष

अनुवाद—जो पद केवल शास्त्र में प्रसिद्ध है, उसका प्रयोग करना 'अप्रतीत' दोष है । तत्त्वज्ञान की महाज्योति से जिसकी वासनाएँ (कर्म संस्कार) नष्ट हो चुकी हैं । उसके द्वारा किया जाने वाला कार्य बन्ध (बन्धन) का कारण नहीं होता ।

यहाँ पर 'आशय' शब्द 'वासना' का पर्यायवाचक है और योगशास्त्र में ही उसका प्रयोग हुआ है ।

विमर्श—जो शब्द केवल शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं किन्तु लोक सामान्य में उसकी प्रसिद्धि नहीं है, उसे 'अप्रतीत' दोष कहते हैं । वामन, भोज, विश्वनाथ भी अप्रतीतत्व दोष को स्वीकार करते हैं । प्रस्तुत उदाहरण में 'आशय' शब्द अप्रतीत दोष युक्त है । क्योंकि योगशास्त्र में ही यह शब्द वासना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । लोक अथवा काव्य में इस अर्थ में इसका प्रयोग नहीं देखा जाता । अतः यहाँ पर 'आशय' शब्द का प्रयोग 'अप्रतीत' दोष है ।

(१२) ग्राम्य-दोष

अनुवाद—जो शब्द केवल लोक में प्रसिद्ध है (उसका प्रयोग) ग्राम्य दोष है । जैसे—

"हे प्रिये !" पूर्णिमा की रात्रि के प्रियतम चन्द्रमा को कान्ति देने वाला (प्रतिबिम्बित करने वाला) तुम्हारा मुख और सोने की शिला के समान सुन्दर तुम्हारी कमर (कटि) में मन को हरण करती है ।।१५६।।

यहाँ पर 'कटि' यह ग्राम्य शब्द है ।

(१३) नेयार्थम्—

निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत् ।

क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तितः ॥

इति यन्निषिद्धं लाक्षणिकम् । यथा—

शरत्कालसमुल्लासिपूर्णिमाशर्वरीप्रियम् ।

करोति ते मुखं तन्वि ! चपेटापातनातिथिम् ॥१५७॥

अत्र चपेटापातेन निर्जितत्वं लक्ष्यते ।

अथ समासगतमेव दुष्टमिति सम्बन्धः । अन्यत्केवलं समासगतं च ।

विमर्श—जो शब्द केवल असंस्कृत (असभ्य) समाज में प्रयुक्त होता है अर्थात् जिस शब्द का प्रयोग केवल गँवार लोग करते हैं, काव्य में उसका प्रयोग होने पर 'ग्राम्य' दोष होता है। भोज इसे 'देश्य' के नाम से अभिहित करते हैं। विश्वनाथ मम्मट के अनुसार इसे 'ग्राम्य' कहते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में 'कटि' शब्द का प्रयोग 'ग्राम्य' है। विदग्ध समाज में इस अर्थ में 'नितम्ब' शब्द का प्रयोग होता है। यद्यपि 'नितम्ब' शब्द और 'कटि' शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं किन्तु विदग्ध-समाज में 'नितम्ब' शब्द का प्रयोग सम्मानित है, कटि का नहीं। ग्रामीण लोग नितम्ब के अर्थ में 'कटि' शब्द का प्रयोग करते हैं। यदि इस शब्द का प्रयोग काव्य में होता है तो 'ग्राम्य' दोष होता है।

(१३) नेयार्थ दोष

अनुवाद- जो पद निषिद्ध अर्थात् रूढ़ि या प्रयोजन से शून्य लाक्षणिक है, उसे 'नेयार्थ' कहते हैं। जैसा कि कुमारिल ने कहा है कि—'कुछ लक्षणाएँ सामर्थ्य (प्रसिद्धि या शब्द स्वभाव) के कारण अभिधा (वाचक शब्द) के समान अनादि (चिरकाल) से प्रसिद्ध होती हैं और कुछ लक्षणाएँ प्रयोजनवश होती हैं तथा कुछ लक्षणाएँ अशक्ति के कारण (रूढ़ि या प्रयोजन के अभाव में) निषिद्ध हैं। इस प्रकार जो निषिद्ध लाक्षणिक पदों के प्रयोग में 'नेयार्थ' दोष होता है। जैसे—

"हे कृशाङ्गि ! तुम्हारा मुख शरत्काल में समुल्लसित पूर्णिमा की रात्रि के प्रियतम चन्द्रमा चपेटा-पातन (थप्पड़ मारने) का पात्र बना रहा है ॥१५७॥

यहाँ पर 'चपेटा-पातन' से 'पराजित करना' अर्थ लक्षित हो रहा है।

(१४) क्लिष्टं यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता। यथा—

अत्रिलोचनसम्भूतज्योतिरुद्गमभासिभिः।
सदृशं शोभतेऽत्यर्थं भूपाल ! तव चेष्टितम् ॥१५८॥

अत्राऽत्रिलोचनसम्भूतस्य चन्द्रस्य ज्योतिरुद्गमेन भासिभिः कुमुदैरित्यर्थः।

विमर्श—यहाँ पर रूढ़ि या प्रयोजन के अभाव में भी कवि अपनी इच्छा से मुख्यार्थ से सम्बद्ध लाक्षणिक शब्दों की कल्पना कर लेता है, वहाँ 'नेयार्थ' दोष होता है। प्रस्तुत उदाहरण में 'चपेटा-पातन' शब्द मुख्यार्थ को बाधकर लक्षणा के द्वारा 'पराजय' रूप अर्थ को द्योतित कराता है, किन्तु यहाँ कोई रूढ़ि या प्रयोजन नहीं है। इसलिए यहाँ 'नेयार्थ' दोष है।

(सू० ७२ तथा कारिका ५१) में 'नेयार्थ' के बाद प्रयुक्त 'अर्थ' शब्द का 'समासगतमेव' के साथ सम्बन्ध है। भाव यह कि अथ शब्द के पहिले श्रुतिकटु से नेयार्थ तक जो पद दोष गिनाये गये हैं वे समासगत और असमासगत दोनों रूपों में पद दोष होते हैं। किन्तु आगे 'क्लिष्ट, विरुद्धमतिकृत्' और अविमृष्टविधेयांश ये तीनों दोष केवल समासगत पद दोष हैं।

(१४) क्लिष्ट दोष

अनुवाद—जिससे अर्थ की प्रतीति व्यवधान से होती हैं, उसे क्लिष्ट दोष कहते हैं। जैसे—

"हे राजन् ! आपका चरित्र अत्रि ऋषि के लोचन (नेत्र) से उद्भूत चन्द्र-ज्योति के उदय से विकसित होने वाले (कुमुदों) के समान अत्यन्त शोभित हो रहा है ॥१५८॥

यहाँ अत्रि ऋषि के नेत्र से उत्पन्न चन्द्रमा की ज्योति के उद्गम से विकसित होने वाले कुमुदों से यह अर्थ व्यवधान (विलम्ब) से प्रतीत हो रहा है, अतः यहाँ 'क्लिष्टत्व' दोष है।

विमर्श—जिस शब्द के द्वारा विवक्षित अर्थ की प्रतीति अत्यन्त विलम्ब से होती है, उसे 'क्लिष्ट' दोष कहते हैं। भोज ने इसका लक्षण किया है कि जिसका अर्थ बोध विलम्ब से हो, उसे 'क्लिष्ट' दोष कहते हैं, यह दोष सहृदय रसिकों को अभीष्ट नहीं है। प्रस्तुत उदाहरण 'अत्रिलोचनसम्भूतज्योतिसङ्गम भासिभिः' यह समस्त पद क्लिष्ट है। उसके द्वारा (विवक्षित) 'कुमुद' रूप अर्थ की प्रतीति अत्यन्त विलम्ब से होती है। पहिले तो 'अत्रिलोचनसंभूत' शब्द से चन्द्रमा की उपस्थिति ही विलम्ब से होती है, और फिर 'कुमुद' रूप अर्थ की प्रतीति भी तुरन्त नहीं होती; क्योंकि चन्द्रोदय से तो दूसरे फूल भी तो विकसित होते हैं। अतः यह समस्त पद क्लिष्ट है।

(१५) अविमृष्टः प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तत्। यथा—

मूर्ध्नामुद्वृत्ताविरलगलगलद्वक्तसंसक्तधारा—
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम्।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत् फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः॥१५६॥

अत्र मिथ्यामहिमत्वं नानुवाद्यम्, अपितु विधेयम्।

---

(१५) अविमृष्टविधेयांश दोष

अनुवाद—जहाँ पर विधेय अंश का प्रधान रूप से निर्देश नहीं होता वहाँ 'अविमृष्टविधेयांश' दोष होता है।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार मम्मट ने 'अविमृष्टविधेयांश' को महत्त्वपूर्ण दोष के रूप में उल्लेख किया है। इसे ही 'विधेयाविमर्श' भी कहते हैं। वस्तुतः ये दोनों एक ही दोष के दो नाम हैं। जहाँ पर विधेय अंश अविमृष्ट होता है, वहाँ 'अविमृष्ट-विधेयांश' होता है। इसी प्रकार जहाँ पर विधेय रूप अर्थ का 'अविमर्श' होता है, वहाँ 'विधेयाविमर्श' होता है। इस प्रकार दोनों एक अर्थ के वाचक हैं और दोनों एक ही दोष हैं, नाम दो हैं।

वाक्य के दो अंश होते हैं—(१) उद्देश्य और (२) विधेय। 'यत्' शब्द के द्वारा प्रतिपाद्य, सिद्ध रूप में प्रतीयमान पद उद्देश्य है, इसे ही 'अनुवाद्य' कहते हैं। और 'तत्' आदि शब्दों के द्वारा प्रतिपाद्य उद्देश्य से सम्बन्धित साध्य (बोधविषयीभूत) पद 'विधेय' होता है जैसा कि कुमारिलभट्ट ने तन्त्रवार्त्तिक में कहा है—

यच्छब्दयोगः प्राथम्यं सिद्धत्वं चाप्यनूद्यता।
तच्छब्दयोग औत्तर्यं साध्यत्वं च विधेयता॥

जैसे—'यः क्रियावान् स पण्डितः' यहाँ 'क्रियावान्' का उद्देश्य करके अभेद-रूप से 'पाण्डित्य' का विधान किया गया है। किन्तु उद्देश्य-विधेय भाव के लिए 'यत्' एवं 'तत्' शब्द का प्रयोग सर्वत्र नहीं होता, फिर भी उसकी प्रतीति अपेक्षित है जो बिना शब्द प्रयोग के भी गम्य है।

इस प्रकार उद्देश्य और विधेय दोनों का अलग-अलग पदों द्वारा उपस्थिति आवश्यक है, समस्त पद के द्वारा उनका प्रतिपादन नहीं करना चाहिए; क्योंकि उद्देश्य और विधेय का एक समास के अन्तर्गत होने से विधेय की प्रधानता नहीं रहती अतः वह विधेय के रूप में प्रतीत नहीं होता। इसलिए समासरूप में यह 'अविमृष्टविधेयांश' दोष होता है। इसे ही विधेयाविमर्श' दोष भी कहते हैं।

यथा वा

स्रस्तां नितम्बादवरोपयन्ती पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम् ।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य ॥१६०॥

अत्र द्वितीयत्वमात्रमुत्प्रेक्ष्यम् । मौर्वीं द्वितीयामिति युक्तः पाठः ।

अनुवाद—अरे ! इन शिरों का औद्धत्यपूर्वक काटे जाने के कारण कण्ठ से निकलती हुई अविच्छिन्न रक्त की धारा से धोये हुए शिवजी के चरणों की कृपा से प्राप्त विजय के वरदान से संसार में झूठी महिमा को प्राप्त हुए (मेरे इन दश शिरों का) तथा कैलास पर्वत को उठाने की इच्छा की अधिकता के सूचक उत्कट दर्प से उद्धत (गर्वित) इन भुजाओं का क्या यही फल है कि लंका नगरी के रक्षण में प्रयास करना पड़े ? ॥१५९॥

यहाँ पर 'मिथ्या माहात्म्य' पद उद्देश्य नहीं है, 'अपितु विधेय' है। (इस प्रकार विधेय के समासगत होने से उसकी अप्रधानता हो जाने के कारण 'अविमृष्टविधेयांश' दोष है) ।

विमर्श— यहाँ पर मस्तकों और भुजाओं की महिमा मिथ्या है, यह अर्थ विवक्षित है अर्थात् महिमा का मिथ्यात्व ही विधेयक रूप से विवक्षित है, किन्तु इसकी प्रतीति तभी सम्भव थी जब उद्देश्य और विधेय का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन किया गया होता । यहाँ पर विधेयांश का प्रधानरूप से निर्देश नहीं किया गया है, अपितु बहुव्रीहि समास में अन्तर्भूत कर देने से अप्रधान (गुणीभूत) हो गया है जिससे विधेयांश की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती, इसलिए यहाँ अविमृष्यविधेयांश दोष है ।

अथवा जैसे—

अनुवाद—"मौर्वी-स्थापन के उचित स्थान को जानने वाले कामदेव के द्वारा धरोहर के रूप में रखी हुई धनुष की दूसरी प्रत्यञ्चा के समान नितम्बों से बार-बार खिसकने वाली मौलश्री की माला रूप करधनी को बार-बार चढ़ाती हुई पार्वती दिखाई दीं" ॥१६०॥

यहाँ पर 'द्वितीयत्व' मात्र की उत्प्रेक्षा है । 'मौर्वीं द्वितीयाम्' यह पाठ ही उचित है।

विमर्श—यहाँ पर कामदेव के द्वारा अपने धनुष की प्रत्यञ्चा के अतिरिक्त मौलश्री की माला रूप में दूसरी प्रत्यञ्चा के धरोहर रखने की सम्भावना की गई है। यही उत्प्रेक्षित अर्थ यहाँ विवक्षित है । किन्तु उत्तर पद प्रधान कर्मधारय समास में द्वितीयत्व विधेयांश पद गौण हो गया है । जिससे यहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष हो जाता है ।

यथा वा—

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद् बालमृगाक्षि! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥१६१॥

अत्रालक्षिता जनिरिति वाच्यम्।

यथा वा—

आनन्दसिन्धुरतिचापलशालिचित्त—
सन्दाननैकसदनं क्षणमप्यमुक्ता।
या सर्वदैव भवता तदुदन्तचिन्ता—
तान्ति तनोति तव सम्प्रति धिग्धिगस्मान् ॥१६२॥

अत्र न मुक्तेति निषेधो विधेयः।

अथवा जैसे—

अनुवाद—हे मृगशावक के समान नेत्र वाली पार्वति! महादेव का शरीर तीन नेत्रों वाला (विरूपाक्ष) है, जिसके जन्म का कुछ पता नहीं और दिगम्बर (नंगा) होने से जिसके धन का पता चल जाता है, (हे पार्वति!) वरों के सम्बन्ध में (जो रूप, कुल तथा धन) देखा जाता है, उनमें से क्या कोई एक भी गुण त्रिलोचन महादेव में है? ॥१६१॥

यहाँ पर 'अलक्षिता जनिः' यह कहना चाहिए था।

विमर्श—यहाँ पर 'जन्म की अलक्ष्यता' विधेय है; किन्तु उसे समास में रखकर गौण (अप्रधान) बना दिया गया है। यहाँ पर अन्य पदार्थ प्रधान बहुव्रीहि समास है (अलक्ष्यं जन्य यस्य स अलक्ष्यजन्मा) किन्तु वह तद्धितार्थ का अङ्ग बन गया है (अलक्ष्य जन्मनः भावः अलक्ष्यजन्मता)। इसलिए विधेयांश की प्रधानता न होने के कारण यह अविमृष्टविधेयांश दोष है। यदि यहाँ 'अलक्षिता जनिः' पाठ होता तो दोष नहीं रहता।

अथवा जैसे—.

अनुवाद—जो आपके लिए आनन्द का सागर और चंचल चित्त को बाँधने का एकमात्र स्थान था और जिसे आप क्षणभर के लिए भी नहीं छोड़ते थे, आज उसका समाचार जानने की चिन्ता आपको ग्लानि (खेद) उत्पन्न कर रही है। इससे हम लोगों को धिक्कार है ॥१६२॥

यहाँ पर 'न मुक्ता' यह निषेध विधेय है।

यथा—

नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न तस्य शरासनम् ।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाण-परम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥१६३॥

इत्यत्र । न त्वमुक्तानुवादिनान्यदत्र किञ्चिद्विहितम् ।

विमर्श—यहाँ पर 'अमुक्ता' पद से 'मुक्ता न भवति' यह अर्थ विवक्षित है । यहाँ 'न मुक्ता' यह निषेध विधेय है । किन्तु नञ् समास होने के कारण नञर्थ के गौण (अप्रधान) हो जाने से निषेध रूप विधेय की प्रतीति नहीं होती, अतः यहाँ 'अविमृष्ट-विधेयांश' है । निषेधार्थक नञ् दो प्रकार का होता है—प्रसज्यप्रतिषेध और पर्युदास । इनमें प्रसज्यप्रतिषेध निषेध करने के लिए प्रयुक्त होता है और पर्युदास प्रतिषेध को गौण (अप्रधान) बनाकर सदृश पदार्थ का बोध कराता है अर्थात् पर्युदास यदि सदृश का ग्राही है तो प्रसज्यप्रतिषेध निषेध का । जैसा कि कहा गया है—

द्वौ नञर्थौ समाख्यातौ पर्युदासप्रसज्यकौ ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ॥

'नञ्' का किसी अन्य पद के साथ समास होता है, वहाँ 'पर्युदास' होता है । पर्युदास में विधि (विधेय) की प्रधानता होती है और प्रतिषेध की अप्रधानता रहती है अर्थात् पर्युदास में निषेध (नञ्) अप्रधान (विशेषण) हो जाता है और नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ न होकर उत्तरपद के साथ होता है । जैसा कि कहा गया है—

प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधोऽप्रधानता ।
पर्युदास स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥

प्रसज्यप्रतिषेध में निषेध रूप (प्रतिषेध) अर्थ की प्रधानता रहती है और विधि की अप्रधानता हो जाती है तथा नञ् का क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है—

अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ् ॥

इस प्रकार नञ् का अन्य पद के साथ समास होने पर 'नञ्' के गौण (अप्रधान) हो जाने से विधि की प्रधानता होने पर 'पर्युदास' होता है और 'नञ्' का क्रिया के साथ सम्बन्ध होने पर 'नञर्थ की प्रधानता तथा विधि की अप्रधानता होने पर 'प्रसज्यप्रतिषेध' होता है ।

प्रस्तुत उदाहरण में 'अमुक्ता' पद में नञ् का मुक्ता पद के साथ समास होकर 'नञ्' अप्रधान हो गया है और उत्तर पद मुक्ता के साथ सम्बन्ध होने से यह

यथा

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।
अगृध्नुराददे सोऽर्थानासक्तः सुखमन्वभूत् ।।१६४।।

इत्यत्र अत्रस्तत्वाद्यनुवादेनात्मनो गोपनादि ।

स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ पर नञर्थ (प्रतिषेध) विशेषण (अप्रधान) है । वस्तुतः यहाँ समासरहित प्रसज्यप्रतिषेध नञ् का प्रयोग (न मुक्ता) होना चाहिए था, किन्तु पर्युदास नञ् का प्रयोग होने से 'अविमृष्टविधेयांश' दोष हो जाता है । किन्तु यह उचित उदाहरण नहीं माना जाता । जैसे—

अनुवाद—यह तो सन्नद्ध (उमड़ता हुआ अथवा मुझे मारने के लिए (तैयार) नवीन मेघ है, उद्धत निशाचर (राक्षस) नहीं है । यह इन्द्रधनुष है, दूर तक खींचा हुआ राक्षस का धनुष नहीं है । यह तेज मूसलाधार वर्षा है, बाणों की वर्षा नहीं है । यह तो सोने की कषण-रेखा (कसौटी पर खींची गई रेखा) सी दीप्त विद्युत् रेखा है, मेरी प्रिया उर्वशी नहीं है ।।१६३।।

यहाँ पर (अमुक्तत्व विधेय है) क्योंकि अमुक्ता का अनुवाद करके किसी अन्य का विधान नहीं किया गया है ।

विमर्श—यह प्रसज्यप्रतिषेध नञ् का उदाहरण है । प्रसज्यप्रतिषेध में नञर्थ की प्रधानता और नञ् का क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है । यहाँ पर 'नञ्' का किसी अन्य पद के साथ समास न होने से नञ् की प्रधानता है और नञ् का क्रिया के साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है, अतः यहाँ प्रसज्यप्रतिषेध है ।

जैसे— पर्युदास नञ् का उचित उदाहरण

अनुवाद—उस राजा दिलीप ने निर्भीक होकर अपनी रक्षा की, निरोग (अनातुर) रहकर धर्म का आचरण किया, लोभ रहित होकर धन का संग्रह किया और अनासक्त रहते हुए सुख का अनुभव किया ।।१६४।।

यहाँ पर 'अत्रस्तत्व' आदि अनुवाद के द्वारा अपनी रक्षा आदि का विधान किया गया है ।

विमर्श—यह पर्युदास नञ् का उदाहरण है । पर्युदास में 'नञ्' का अन्य पद के साथ समास होने से नञ् अप्रधान (गौण) हो जाता है । यहाँ पर 'नञ्' का 'त्रस्त' पद के साथ नञ् समास हो गया है और समास होने पर नञ् का उत्तरपद 'त्रस्त' साथ सम्बन्ध होने से 'नञ्' पद अप्रधान (गौण) हो गया है । यहाँ पर 'अत्रस्त' आदि पद उद्देश्य हैं और आत्मरक्षण आदि विधेय हैं । समास होने से नञर्थ की अप्रधानता और विधेय की प्रधानता है । इसलिए 'अत्रस्त' आदि पदों में पर्युदास नञ् का प्रयोग उचित है ।

(१६) विरुद्धमतिकृद्यथा –

सुधाकरकराकारविशारदविचेष्टितः ।
अकार्यमित्रमेकोऽसौ तस्य किं वर्णयामहे ॥१६५॥

अत्र कार्यं विना मित्रमिति विवक्षितम्, अकार्ये मित्रमिति तु प्रतीतिः ।

यहाँ पर झलकीकर वामनाचार्य ने बालबोधिनी टीका में एक प्रश्न उठाया है जिस प्रकार 'अश्राद्धभोजी' 'असूर्यपश्या' आदि पदों में नञ् समास होने पर भी प्रसज्यप्रतिषेध रूप नञ् का ग्रहण हो सकता है, उसी प्रकार 'अमुक्ता' आदि पदों में भी नञ् समास होने पर नञ् को प्रसज्यप्रतिषेध नञ् क्यों नहीं मान लिया जाता। इस पर कहते हैं कि 'अश्राद्धभोजी' 'असूर्यपश्या' आदि पदों में भी वस्तुतः पर्युदास नञ् ही है। यहाँ यदि नञ् का सम्बन्ध भोजन आदि क्रिया के साथ होता तो प्रसज्यप्रतिषेध का अवसर उपस्थित होता, किन्तु यहाँ पर तो नञ् का सम्बन्ध विशेष्यरूप तथा प्रधानरूप में स्थित कर्तृरूप अंश के साथ है। जैसाकि कहा गया है—

श्राद्धभोजनशीलो हि यतः कर्त्ता प्रतीयते ।
न तद्भोजनमात्रं तु कर्त्तरीनेर्विधानतः ॥

अर्थात् श्राद्धभोजी पद में 'इनि' प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में है, इसलिए इसका अर्थ 'श्राद्धभोजनशील' होता है, श्राद्धभोजन मात्र नहीं। इसलिए यहाँ नञर्थ पर्युदास है। और नञ् का सम्बन्ध क्रियारूप अंश के साथ नहीं है, इसलिए प्रसज्यप्रतिषेध नहीं है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में इस विषय पर स्पष्ट विवेचन किया है।

(१६) विरुद्धमतिकृत्

विरुद्धमतिकृत् दोष, जैसे—

अनुवाद—चन्द्रमा की किरणों के समान स्वच्छ (निर्मल) आचरण करने वाला निःस्वार्थ मित्र (अकार्य— बिना कार्य के भी मित्र) यह एक ही है, उसका क्या वर्णन किया जाय ॥१६५॥

यहाँ पर 'कार्य के बिना मित्र' यह अर्थ विवक्षित है। किन्तु अकार्य 'बुरे काम में मित्र' यह प्रतीति हो रही है।

विमर्श—जहाँ पर प्रकृत (विवक्षित) अर्थ के प्रतिबन्धक रूप अप्रकृत (अन्य) अर्थ की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है वहाँ 'विरुद्धमतिकृत्' दोष होता है (**प्रकृतार्थधीप्रतिबन्धकीभूताप्रकृतार्थधीजनकं विरुद्धमतिकृत्**)। प्रस्तुत उदाहरण में 'अकार्यमित्र' पद का विवक्षित अर्थ है : बिना किसी प्रयोजन के निःस्वार्थ भाव से मित्रता रखने वाला

यथा वा—

चिरकालपरिप्राप्तलोचनानन्ददायिनः।
कान्ता कान्तस्य सहसा विदधाति गलग्रहम् ॥१६६॥

अत्र कण्ठग्रहमिति वाच्यम्।

यथा वा—

न त्रस्तं यदि नाम भूतकरुणासन्तानशान्तात्मनः।
तेन व्यारुजता धनुर्भगवतो देवाद्भवानीपतेः।
तत्पुत्रस्तु मदान्धतारकवधाद्विश्वस्य दत्तोत्सवः
स्कन्दः स्कन्द इव प्रियोऽहमथ वा शिष्यः कथं विस्मृतः ॥१६७॥

अत्र भवानीपतिशब्दो भवान्याः पत्यन्तरे प्रतीतिं करोति।

मित्र, इसी प्रकार 'अकार्यमित्रम्' पद का यह भी अर्थ निकलता है—'अकार्य-कुकार्ये मित्रम्' अर्थात् बुरे कार्य में मित्र (कुकर्म का साथी)। किन्तु यहाँ यह अर्थ विवक्षित नहीं है। अतः यहाँ पर 'अकार्य' पद विरुद्धमतिकृत् दोष युक्त है। भोज इसे 'विरुद्ध' नाम से अभिहित करते हैं।

अथवा जैसे—

अनुवाद—प्रिया पत्नी बहुत दिनों के बाद आये हुए नेत्रों को आनन्द देने वाले कान्त (प्रियतम) के कण्ठ (गले) में सहसा लिपट जाती है ॥१६६॥

यहाँ पर कण्ठग्रह वाच्य है।

विमर्श—यहाँ पर 'गलग्रह' शब्द का 'आलिङ्गन रूप' अर्थ विवक्षित है, किन्तु 'गलग्रह' शब्द का 'रोग विशेष' (**गलग्रहो रोगविशेषः**) में तथा अर्धचन्द्रदान (गरदनिया देकर निकालना) अर्थ में निरूढ़ है (**गलग्रहशब्देनार्धचन्द्रदानं प्रतीयते**)। और गलग्रह शब्द का आलिङ्गन रूप अर्थ तो उस स्थिति में सम्भव है जबकि इसे यौगिक शब्द माना जाय; किन्तु 'रूढ़िर्योगमपहरति' इस नियम के अनुसार यौगिक शब्द की अपेक्षा रूढ़ शब्द बलवान् होता है अतः यहाँ गलग्रह शब्द का रोगविशेष अथवा अर्धचन्द्रदान रूप रूढ़ अर्थ ही प्रतीत होगा। इसलिए यहाँ विरुद्धमतिकृत् दोष है।

अथवा जैसे—

अनुवाद—उस राम ने भवानीपति भगवान् शिव के धनुष को तोड़ते समय प्राणियों पर दया करने के कारण शान्त स्वरूप वाले महादेव यदि डरे नहीं, तो क्या हुआ? किन्तु तारकासुर वध से समस्त संसार को आनन्दित करने वाले स्कन्द अथवा स्कन्द के समान प्रिय शिष्य मुझ परशुराम को कैसे भुला दिया ॥१६७॥

यथा वा—

गोरपि यद्वाहनतां प्राप्तवतः सोऽपि गिरिसुतासिंहः ।
सविधे निरहङ्कारः पायाद्वः सोऽम्बिकारमणः ॥१६८॥

अत्राम्बिकारमण इति विरुद्धां धियमुत्पादयति ।

श्रुतिकटु समासान्तं यथा—

यहाँ पर 'भवानीपति' शब्द भवानी के दूसरे पति की प्रतीति कराता है।

विमर्श—यहाँ पर 'भवानी' शब्द 'भवस्य शिवस्य पत्नी' इस विग्रह में 'पुंयोगादाख्यायाम्' इस सूत्र से भव शब्द से ङीष् प्रत्यय होकर भवानी शब्द निष्पन्न होता है और 'भवान्याः पतिः' इस विग्रह में समास होकर भवानी शब्द पति शब्द के साथ जुड़कर भवानीपति शब्द बनता है। यहाँ पर भवानीपति शब्द 'देवदत्तपत्न्याः पतिः' इस वाक्य के समान भवानी के दूसरे पति की प्रतीति कराता है। इस प्रकार आराध्या देवी पार्वती के सम्बन्ध में इस प्रकार की प्रतीति उत्पन्न कराने वाले शब्द का प्रयोग अनुचित (अधर्म) है, अतः यहाँ पर विरुद्धमतिकृत् दोष है।

अथवा जैसे—

अनुवाद—जिनका वाहन बने हुए नन्दी बैल के पास पार्वती का वाहन सिंह भी अहङ्कार छोड़ देता है, वे अम्बिकारमण शिवजी आप लोगों की रक्षा करें ॥१६८॥

यहाँ पर 'अम्बिकारमण' शब्द (अम्बिका माता के साथ रमण करने वाला जार रूप) विरुद्ध मति को उत्पन्न करता है।

विमर्श—यहाँ पर 'अम्बिका' शब्द का अर्थ गौरी (पार्वती) तथा माता (अम्बा) दोनों है, किन्तु यहाँ पर 'अम्बिकारमण' का विवक्षित अर्थ गौरीपति शिव है किन्तु इससे 'माता का उपपति (जार)' रूप असभ्य अर्थ भी प्रतीत हो रहा है, किन्तु यहाँ यह अर्थ विवक्षित नहीं है। अतः यहाँ विरुद्धमतिकृत् दोष है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि श्रुतिकटु आदि तेरह दोष पदगत और समासगत दोनों प्रकार के होते हैं। इनमें पदगत दोषों का उदाहरण दिया जा चुका है अब समासगत दोषों का उदाहरण देना चाहिए था, किन्तु केवल एक श्रुतिकटु का ही समासगत दोष का उदाहरण दिया गया है, शेष समासगत दोषों के उदाहरण इसी प्रकार समझ लेने चाहिए।

सा दूरे च सुधासान्द्रतरङ्गितविलोचना ।
बर्हिनिर्ह्रादनार्होऽयं कालश्च समुपागतः ॥१६९॥

एवमन्यदपि ज्ञेयम् ।

(सू० ७३) अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ॥५२॥

केचन न पुनः सर्वे । क्रमेणोदाहरणम्—

सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट पितॄनतार्प्सीत् सममंस्त बन्धून् ।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ समूलघातं न्यवधीदरींश्च ॥१७०॥

स रातु वो दुश्च्यवनो भावुकानां परम्पराम् ।
अनेडमूकताद्यैश्च द्यतु दोषैरसम्मतान् ॥१७१॥

अत्र दुश्च्यवन इन्द्रः, अनेडमूको मूकवधिरः ।

समासगत श्रुतिकटु दोष का उदाहरण

अनुवाद—अमृत की घनी तरंगों से तरंगित नेत्रों वाली वह (सीता) तो दूर है और मयूरों के केकारव का उत्पादक यह वर्षाकाल आ गया है ॥१६९॥

यहाँ पर 'बर्हिनिर्ह्रादनार्ह' यह समस्त पद श्रोताओं को उद्वेजक होने से 'श्रुतिकटु' दोष से दूषित है । इसी प्रकार अन्य समासगत भेदों के उदाहरण भी समझ लेने चाहिए ।

वाक्य दोष

अनुवाद (सू० ७३)—च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक इन तीन दोषों को छोड़कर शेष (तेरह) दोष वाक्य में भी होते हैं और कुछ दोष पदांश में भी होते हैं ॥५२॥

पदांश में कुछ ही दोष होते हैं, सब नहीं । क्रमशः उदाहरण देते हैं—

(१) श्रुतिकटु दोष

अनुवाद—उस (राजा दशरथ) ने वेदों का अध्ययन किया, देवताओं का पूजन किया, पितरों का तर्पण किया, बन्धुओं का सम्मान किया (काम-क्रोधादि) षड्वर्ग पर विजय प्राप्त किया, नीतिशास्त्र में रमण किया और शत्रुओं का समूल नाश कर दिया ॥१७०॥

विमर्श—यहाँ पर पूरा श्लोक श्रुतिकटु पदों से भरा हुआ है । इसलिए यह वाक्यगत श्रुतिकटु दोष का उदाहरण है ।

(२) अप्रयुक्त दोष

अनुवाद—वह इन्द्र (दुश्च्यवन) आप लोगों (सहृदयों) को कल्याणों की परम्परा प्रदान करे और आपके शत्रुओं का मूक-बधिर आदि दोषों के द्वारा नाश करे ॥१७१॥

सायकसहायबाहोर्मकरध्वजनियमितक्षमाधिपतेः ।
अब्जरुचिभास्वरस्ते भातितरामवनिप श्लोकः ॥१७२॥

अत्र सायकादयः शब्दाः खड्गाब्धिभूचन्द्रयशःपर्यायाः शराद्यर्थतया प्रसिद्धाः ।

कुविन्दस्त्वं तावत्पटयसि गुणग्राममभितो
यशो गायन्त्येते दिशि दिशि च नग्नास्तव विभो ।
शरज्ज्योत्स्नागौरस्फुटविकटसर्वाङ्गसुभगा
तथापि त्वत्कीर्त्तिर्भ्रमति विगताच्छादनमिह ॥१७३॥

यहाँ पर दुःश्च्यवन इन्द्र अर्थ में और अनेडमूक मूकवधिर अर्थ में अप्रयुक्त है ।

विमर्श—कोष ग्रन्थों में दुश्च्यवन शब्द इन्द्र अर्थ में और अनेडमूक शब्द मूक-वधिर अर्थ में पठित है; किन्तु कवियों द्वारा इनका प्रयोग नहीं किया गया है अर्थात् कवियों द्वारा दुश्च्यवन और अनेडमूक शब्द इन्द्र और मूकवधिर अर्थ में प्रयुक्त नहीं किये गये हैं । अतः यहाँ वाक्यगत अप्रयुक्त दोष है ।

(३) निहतार्थ दोष

अनुवाद—हे भूपाल ! सायक (खड्ग) से युक्त भुजा वाले तथा समुद्र (मकरध्वज) से वेष्टित पृथिवी (क्षमा) के अधिपति चन्द्रमा की कान्ति के समान दीप्तिमान् आपका यश (श्लोक) अत्यन्त शोभित हो रहा है ॥१७२॥

यहाँ पर सायक आदि शब्द (अर्थात् सायक, मकरध्वज, क्षमा, अब्ज, श्लोक आदि) क्रमशः खड्ग, समुद्र, पृथिवी, चन्द्रमा और यश के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हैं । किन्तु ये शब्द इन अर्थों में प्रसिद्ध नहीं हैं, अपितु क्रमशः बाण, कामदेव, सहनशीलता, कमल तथा पद्य अर्थ में प्रसिद्ध हैं । अतः सायक आदि शब्दों का खड्ग अर्थों में प्रयोग निहतार्थ दोषपूर्ण है ।

(४) अनुचितार्थ दोष

अनुवाद—हे राजन् ! पृथिवी को प्राप्त करने वाले (कुविन्द—कुं पृथ्वीं विन्दति प्राप्नोति इति कुविन्दः) आप शौर्यादि गुण-समूह को सर्वत्र निर्मल कर रहे हैं, और ये वन्दीजन (नग्नाः) प्रत्येक दिशा में आपका यशोगान कर रहे हैं और शरत्कालीन चांदनी के समान गौर दीप्तिमान्, विशाल और सर्वाङ्ग सुन्दरी आपकी कीर्त्ति आच्छादन रहित (निर्द्वन्द्व) होकर लोक में विचरण कर रही है ॥१७३॥

अत्र कुविन्दादिशब्दोऽर्थान्तरं प्रतिपादयन्नुपश्लोक्यमानस्य तिरस्कारं व्यनक्तीत्यनुचितार्थः ।

प्राभ्रभाड्विष्णुधामाप्य विषमाश्वः करोत्ययम् ।
निद्रां सहस्रपर्णानां पलायनपरायणाम् ।।१७४।।

अत्र प्राभ्रभ्राड्विष्णुधामविषमाश्वनिद्रापर्णशब्दाः प्रकृष्टजलदगगन—सप्ताश्वसङ्कोचदलानामवाचकाः ।

(व्यंग्य पक्ष)—हे कुविन्द (जुलाहा) ! तुम गुणग्राम अर्थात् तन्तु समूह का ताना-बाना करके कपड़े बुनते हो, ये वस्त्रहीन (नंगे लोग) तुमसे वस्त्र पाकर चारों ओर यशोगान करते हैं, फिर भी इस प्रकार वस्त्रों से समृद्ध होने पर भी तुम्हारी कीर्त्तिरूपी स्त्री निर्वस्त्र (वस्त्रहीन, नंगी) होकर इधर-उधर घूम रही है ।।१७३।।

यहाँ पर कुविन्द आदि शब्द अन्य अर्थ का प्रतिपादन करते हुए स्तूयमान राजा का तिरस्कार प्रकट करते हैं, इसलिए यह अनुचितार्थ है ।

विमर्श—यहाँ पर प्राकरणिक अर्थ में अभिधा का नियमन होने से व्यंजना के द्वारा द्वितीय अर्थ (कुविन्दरूप अर्थ) अभिव्यक्त होता है । इस प्रकार यहाँ राजारूप अर्थ वाच्य है और कुविन्दरूप अर्थ व्यंग्य है, यह असंगत न हो, इसलिए प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों में उपमानोपमेयभाव है । किन्तु यहाँ पर कुविन्द से राजा की समानता प्रदर्शित करना अनुचित है । क्योंकि यहाँ पर राजपक्ष में जो अर्थ किया गया है वह तो राजा की प्रशंसा का सूचक है किन्तु कुविन्द के पक्ष में जो अर्थ किया गया है उससे राजा का अनादर (अपमान) सूचित होता है, इसलिए यह श्लोक वाक्य अनुचितार्थ दोष से दूषित है ।

(५) अवाचक दोष

अनुवाद—यह विषम संख्यक (सात) अश्वों वाला सूर्य प्रकृष्ट मेघों से शोभित विष्णुधाम आकाश में पहुँचकर सहस्रदल कमलों की निंद्रा को भगाने के लिए तत्पर (मजबूर) कर देता है ।।१७४।।

यहाँ पर प्राभ्रभ्राड्, विष्णुधाम, विषमाश्व, निद्रा, पर्ण आदि शब्द प्रकृष्ट मेघ, आकाश, सप्ताश्व, सङ्कोच, और दल अर्थों के अवाचक हैं (अतः यहाँ अवाचकत्व दोष है) ।

भूपतेरुपसर्पन्ती कम्पना वामलोचना ।
तत्तत्प्रहरणोत्साहवती मोहनमादधौ ॥१७५॥
अत्रोपसर्पणप्रहरणमोहनशब्दा व्रीडादायित्वादश्लीलाः ।
तेऽन्यैर्वान्तं समश्नन्ति परोत्सर्गञ्च भुञ्जते ।
इतरार्थग्रहे येषां कवीनां स्यात् प्रवर्त्तनम् ॥१७६॥
अत्र वान्तोत्सर्ग-प्रवर्त्तनशब्दा जुगुप्सादायिनः ।

विमर्श—यहाँ पर प्राभ्रभ्राड् आदि शब्द प्रकृष्ट मेघ आदि के लिए प्रयुक्त किये गये हैं किन्तु वे शब्द प्रकृष्ट मेघादि के वाचकशब्द नहीं हैं; लक्षणया भले ही वाचक हों, किन्तु साक्षात् अभिधया वाचक नहीं हैं, अतः यहाँ आवचकत्व दोष है।

(६) अश्लीलत्व दोष

ग्रन्थकार ने वाक्यगत अश्लीलता दोष के तीन भेद बताये हैं—(१) व्रीडा-व्यञ्जक अश्लील (२) जुगुप्साव्यञ्जक अश्लील (३) अमङ्गलव्यञ्जक अश्लील। और तीनों दोषों के अलग-अलग उदाहरण दिये हैं। प्रथम व्रीडाव्यञ्जक अश्लीलता का उदाहरण देते हैं---

अनुवाद—शत्रुओं पर वक्र दृष्टि वाली और शत्रुओं की ओर जाती हुई (बढ़ती हुई) उन-उन शस्त्रादि के प्रहार में उत्साहवती राजा की सेना (कम्पना) ने शत्रुओं को मूच्छित (मोहित) कर दिया ॥१७५॥

(दूसरे पक्ष में) रमण के लिए उद्यत (उपसर्पन्ती) कम्पन युक्त, वामलोचना (सुन्दर नेत्रों वाली) उन-उन (कामशास्त्र में प्रसिद्ध जघन-ताड़नादि) प्रहणन में उत्साह युक्ता नायिका ने राजा को मोहित कर लिया (अर्थात् रति-सुख में विभोर कर दिया) ॥१७५॥

यहाँ पर उपसर्पण, प्रहरण, मोहन आदि शब्द व्रीड़ा के व्यञ्जक होने से अश्लील हैं।

विमर्श—यहाँ पर नृप-सेना पक्ष में जो अर्थ किया गया है, वही अर्थ यहाँ विवक्षित है, किन्तु व्यञ्जना के द्वारा सुरतपक्ष में जो व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त है वह लज्जाजनक होने से अविवक्षित है; क्योंकि इसमें प्रहरण, मोहन आदि शब्द सुरत-लीला से सम्बद्ध होने के कारण व्रीड़ाजनक होने से अश्लील हैं।

अनुवाद—जिन कवियों की दूसरे के अर्थ अपहरण (ग्रहण) में प्रवृत्ति होती है, वे दूसरों के वमन को और दूसरों के पुरीष (विष्ठा) को खाते हैं ॥१७६॥

यहाँ पर वान्त, उत्सर्ग, प्रवर्त्तन शब्द जुगुप्साजनक होने से अश्लील हैं।

पितृवसतिमहं व्रजामि तां सह परिवारजनेन यत्र मे ।
भवति सपदि पावकान्वये हृदयमशोषितशोकशल्यकम् ।।१७७।।

अत्र पितृगृहमित्यादौ विवक्षिते श्मशानादिप्रतीतावमङ्गलार्थम् ।

सुरालयोल्लासपरः प्राप्तपर्याप्तिकम्पनः ।
मार्गणप्रवणो भास्वद्भूतिरेष विलोक्यताम् ।।१७८।।

अत्र किं सुरादिशब्दा देवसेनाशरविभूत्यर्था किं मदिराद्यर्था इति सन्देहः ।

विमर्श—यहाँ पर वान्त तथा उत्सर्ग शब्दों का मुख्य अर्थ ही घृणास्पद है और प्रवर्त्तन शब्द का मूत्रोत्सर्ग तथा पुरीषोत्सर्ग रूप अर्थ व्यंजना के द्वारा व्यंग्य है, अतः व्यंग्य के द्वारा घृणास्पद हैं। इसलिए जुगुप्साजनक होने से यहाँ अश्लील दोष है।

अनुवाद—मैं अपने परिवार के लोगों के साथ पितृगृह (पीहर) जाती हूँ जिस पवित्र कुल में पहुँचते ही हृदय तुरन्त शोक रूपी शल्य से रहित हो जायगा ।।१७७।।

यहाँ पर 'पितृगृह' इत्यादि के विवक्षित होने पर भी श्मशान आदि अर्थ की प्रतीति अमंगल-जनक है।

विमर्श—यह ससुराल में पीड़ित किसी नारी का कथन है। यहाँ पर 'मैं अपने परिवार के साथ पीहर (पितृगृह) जा रही हूँ जिस पवित्र कुल में मेरे हृदय का शल्य तुरन्त निकल जायगा' यह अर्थ विवक्षित है, किन्तु पितृवसति, पावकान्वय आदि पदों की व्यंजना के द्वारा "मैं श्मशान (पितृवसति, पितरों के निवास) को जाती हूँ जहाँ चिता की अग्नि से सम्बन्ध होने पर मेरा हृदय भस्म हो जायगा, यह व्यङ्ग्यार्थ प्रकट होता है जो अमंगल सूचक होने से अश्लील है। इस प्रकार यहाँ अमंगल व्यंजक अश्लील दोष है।

(७) सन्दिग्धत्व दोष

अनुवाद—सुरालय (देवगृह या मदिरालय) के उत्सवों में तत्पर; पर्याप्त कम्पन (सेना या नशा का कम्पन) से युक्त, बाण प्रहार में कुशल (या माँगने में तत्पर), भास्वद्भूति (प्रकाशमान ऐश्वर्य से युक्त उज्ज्वल भस्म रमाये) इस राजा या भिक्षुक को देखो ।।१७८।।

यहाँ पर सुरादि शब्द क्या देवता, सेना, बाण, ऐश्वर्य आदि अर्थ के वाचक हैं अथवा क्या मदिरा आदि अर्थों के वाचक हैं? यह सन्देह है।

तस्याधिमात्रोपायस्य तीव्रसंवेगताजुषः ।
दृढभूमिः प्रियप्राप्तौ यत्नः स फलितः सखे ।।१७९।।

अत्राधिमात्रोपायादयः शब्दाः योगशास्त्रमात्रप्रयुक्तत्वादप्रतीताः।

विमर्श—यह सन्दिग्धत्व दोष का उदाहरण है इसके दो अर्थ होते हैं : एक राजपक्ष में दूसरा भिक्षुक के पक्ष में। यहाँ पर 'देवालयों के उत्सवों में तत्पर, (सुरालयोल्लासपरः) पर्याप्त सेना से युक्त (प्राप्तपर्याप्तिकम्पनः), बाण चलाने में कुशल (मार्गणप्रवणः), प्रकाशमान ऐश्वर्य से युक्त (भास्वद्भूतिः) राजा' यह अर्थ विवक्षित है अथवा मदिरागृह (मद्यशाला) में हर्ष-तत्पर (सुरा = मदिरा + आलय सुरालयोल्लासपरः) पर्याप्त कम्पन युक्त (नशे में काँपता हुआ), माँगने में कुशल (मार्गणे = याचने प्रवणः कुशलः) विभूति रमाये (भास्वद्भूति) भिक्षुक' यह अर्थ विवक्षित है ? यह सन्देह है। अतः यहाँ वाक्यगत सन्दिग्धत्व दोष है।

(८) अप्रीतत्व दोष

अनुवाद—**हे मित्र ! उस अधिमात्रोपाय तथा तीव्र संवेग वाले योगी का दृढ़ संस्कार वाला यत्न (अभ्यास) प्रिय प्राप्ति (आत्मसाक्षात्कार) में सफल हो गया ।।१७९।।**

यहाँ पर 'अधिमात्रोपाय आदि शब्द केवल योगशास्त्र में प्रयुक्त होने के कारण अप्रतीतत्व दोष से पूर्ण है।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में आये अधिमात्रोपाय, तीव्रसंवेग, दृढ़भूमि शब्द योगशास्त्र में प्रसिद्ध हैं। योगशास्त्र में नौ प्रकार के योगी बताये गये हैं। उपायों के आधार पर मृदूपाय, मध्योपाय और अधिमात्रोपाय ये तीन प्रकार के योगी होते हैं, इनमें प्रत्येक के मृदुसंवेग, मध्यसंवेग और तीव्रसंवेग भेद से नौ प्रकार के योगी हुए। इनमें तीव्रसंवेग नामक योगी समाधिफल आसन्न होता है। इसी प्रकार चिरकाल-पर्यन्त निरन्तर अत्यन्त आदर के साथ आसेवित योग का अभ्यास 'दृढ़भूमि' है। इस प्रकार अधिमात्रोपाय, तीव्रसंवेग और दृढ़भूमि शब्द योगशास्त्र में प्रसिद्ध हैं, काव्य में इनका प्रयोग अप्रतीत दोषग्रस्त माना जाता है। अतः यहाँ पर वाक्यगत अप्रतीतत्व दोष है।

ताम्बूलभृतगल्लोऽयं भल्लं जल्पति मानुषः ।
करोति खादनं पानं सदैव तु यथा तथा ॥१८०॥

अत्र गल्लादयः शब्दा ग्राम्याः ।

वस्त्रवैदूर्यचरणैः क्षतसत्त्वरजःपरा ।
निष्कम्पा रचिता नेत्रयुध्दं वेदय साम्प्रतम् ॥१८१॥

अत्राम्बररत्नपादैः क्षततमा अचला भूः कृता नेत्रद्वन्द्वं बोधयेति नेयार्थता ।

---

(९) ग्राम्यत्व दोष

अनुवाद—यह मनुष्य खाना-पीना तो जैसे-तैसे (भले ही) करता हो, किन्तु पान से भरे हुए कण्ठ से (गाल में पान भरकर) अच्छा बोलता है ॥१८०॥

यहाँ पर गल्लादि शब्द 'ग्राम्य' हैं ।

विमर्श—यहाँ पर गल्ल, भल्ल, मानुष, खादन, पान आदि शब्द ग्राम्य शब्द हैं । क्योंकि विदग्धजनों के द्वारा (सहृदयों द्वारा) इनका प्रयोग अशिष्ट माना जाता है, इसलिए सहृदय इनका प्रयोग नहीं करते । यहाँ पर गल्ल-भल्लादि शब्दों का प्रयोग ग्राम्यदोष से दूषित है ।

(१०) नेयार्थता दोष

अनुवाद—(हे सखि !) अम्बरमणि सूर्य (वस्त्र-वैदूर्य) की किरणों के द्वारा यह पृथ्वी (निष्कम्पा) अन्धकार-रहित (सत्त्व और रजोगुण से भिन्न-सत्त्वरजःपरा अर्थात् तमस्-अन्धकार का क्षत-नष्ट) कर दी गई, अतः इस समय नेत्रयुगल (नेत्रयुद्ध) को खोलो ॥१८१॥

यहाँ पर 'अम्बर-रत्न (सूर्य) के पादों (किरणों) के द्वारा पृथ्वी (भूः) अन्धकार-रहित कर दी गई, इसलिए नेत्रयुगल खोलो' यह नेयार्थ दोष है ।

विमर्श—यहाँ पर वस्त्रवैदूर्यचरण, सत्वरजःपर, निष्कम्प, युद्ध, वेदय आदि पदों के द्वारा क्रमशः अम्बररत्नपाद, तम, अचला, द्वन्द्व, बोधय आदि पद लक्षित होते हैं तब उक्त अम्बररत्नपाद, तम, अचला, द्वन्द्व, बोधय आदि पदों के द्वारा क्रमशः आकाशमणिकिरण, अन्धकार, भू, युगल, उद्घाटय आदि अर्थ उपस्थित किये जाते हैं । इस प्रकार यह लक्षित लक्षणा हो सकती है । अथवा वस्त्रादि पदों के द्वारा ही स्ववाच्य वस्त्रादिवाचक अम्बर आदि पदों के सम्बन्ध से आकाश आदि लक्षित होते हैं, इस प्रकार यहाँ लक्षणा है । किन्तु दोनों मतों में ही इस प्रकार लक्षणा मानने पर रूढ़ि या प्रयोजन का अभाव होने से यहाँ नेयार्थता दोष है ।

धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्ष्याः।
रज्यत्वपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥१८२॥

अत्र धम्मिलस्य शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं न रज्यतीति सम्बन्धे क्लिष्टत्वम्।

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः,
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः,
धिक् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥१८३॥

अत्रायमेव न्यक्कार इति वाच्यम्। उच्छूनत्वमात्रं चानुवाद्यम्, न बृथात्वविशेषितम्। अत्र च शब्दरचना विपरीता कृतेति वाक्यस्यैव दोषो न वाक्यार्थस्य।

---

(११) क्लिष्टता दोष

अनुवाद—इस मृगशावकनयनी (मृगनयनी) के अपूर्व बन्ध-वैचित्र्य के कारण सुन्दर केशपाश की शोभा को देखकर किसका मन अत्यन्त मुग्ध नहीं होता ? ॥१८२॥

यहाँ पर 'केशपाश की शोभा देखकर किसका मन अनुरक्त नहीं होता' इस सम्बन्ध में क्लिष्टता है।

विमर्श—यहाँ पर 'कुरङ्गशावाक्ष्या धम्मिल्लस्य शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं न रज्यति' इस प्रकार का अन्वय आसत्ति ज्ञान के अभाव में विलम्ब से प्रतीत होता है। इस प्रकार आसत्ति न होने से क्लिष्टता है। अतः यहाँ वाक्यगत क्लिष्टत्व दोष है।

(१२) अविमृष्टविधेयांश दोष

अनुवाद—मेरे लिए यही अपमान का विषय है कि मेरे शत्रु हैं और उनमें भी वह तपस्वी (बेचारा राम), और वह भी यहीं (मेरे सामने) राक्षस कुल का संहार कर रहा है, फिर भी रावण जीवित है। इन्द्र को जीतने वाले मेघनाद को धिक्कार है, कुम्भकर्ण को जगाने से क्या लाभ हुआ ? स्वर्ग रूपी छोटे से गाँव को लूटने के गर्व से व्यर्थ ही फूली हुई इन भुजाओं से क्या ? ॥१८३॥

यहाँ पर 'यही मेरा अपमान है' 'अयमेव न्यक्कारः' यह कहना चाहिए था। उच्छूनत्व मात्र ही उद्देश्य है, बृथात्वविशिष्ट नहीं और यहाँ पर शब्द की रचना उलट दी गई है, इसलिए यह वाक्य का ही दोष है, वाक्यार्थ का नहीं।

यथा वा—

अपाङ्गसंसर्गितरङ्गितं दृशोर्भ्रुवोररालान्तविलासि वेल्लितम् ।
विसारिरोमाञ्चनकञ्चुकं तनोस्तनोति योऽसौ सुभगे तवागतः ॥१८४॥

अत्र योऽसाविति पदद्वयमनुवाद्यमात्रप्रतीतिकृत् ।

विमर्श— यहाँ पर 'अयम्' पद उद्देश्य है और 'न्यक्कार' पद विधेय । '**अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्**' इस नियम के अनुसार प्रथम उद्देश्य का कथन करके तब विधेय का कथन करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ पहिले 'अयम्' इस उद्देश्य का कथन कर तब 'न्यक्कारः' इस विधेय पद को बाद में रखना चाहिए था। ऐसा करने पर ही दोनों में उद्देश्य-विधेय-भाव स्पष्ट होता। जैसाकि कुमारिल ने तन्त्रवार्त्तिक में कहा है—

यच्छब्दयोगः प्राथम्यं सिद्धत्वं चाप्यनूद्यता ।
तच्छब्दयोग औत्तर्यं साध्यत्वञ्च विधेयता ॥

अर्थात् 'यत्' शब्द के सम्बन्ध से सिद्ध पद उद्देश्य होता है और उसका प्रथम प्रयोग होता है और 'तद्' शब्द से प्रतिपाद्य साध्य पद विधेय होता है, विधेय का प्रयोग बाद में होता है। भाव यह कि उद्देश्य का प्रयोग पहिले और विधेय का प्रयोग बाद में करना चाहिए। प्रस्तुत उदाहरण में ('न्यक्कारो ह्ययमेव' में) विधेय 'न्यक्कार' पद का पहिले प्रयोग किया गया है और उद्देश्य 'अयम्' पद बाद में प्रयुक्त है। इस प्रकार विधेय का प्रथम (पहिले) उपादान (कथन) होने से उद्देश्य अप्रधान हो गया है। इस प्रकार उद्देश्य विधेय में विपरीतक्रम होने से 'विधेयाविमर्श' दोष है। प्रस्तुत उदाहरण के चतुर्थ चरण में 'उच्छूनत्व' उद्देश्य है और 'वृथात्व' विधेय, यहाँ पर 'वृथात्व' का प्रयोग अलग करना चाहिए था; किन्तु उच्छूनत्व रूप उद्देश्य के साथ विधेय 'वृथा' पद का समास होने से 'वृथा' पद गौण (अप्रधान) हो गया है। इसलिए यहाँ समासपदगत विधेयाविमर्श पद दोष है। कुछ आचार्यों का मत है कि उद्देश्य-विधेय रूप अर्थों का विपरीतक्रम से कथन होने से यहाँ अर्थदोष है, वाक्यदोष नहीं। इस पर कहते हैं कि रचना शब्दों का धर्म है शब्दों के अन्वय व्यतिरेक से ही यह दोष होता है, इसलिए यह वाक्य दोष है, वाक्यार्थ दोष नहीं।

अथवा जैसे

अनुवाद—हे सुन्दरि ! जो (तुम्हारा प्रियतम) तुम्हारी आँखों में प्रान्त भाग तक कटाक्ष को तरंगित करता है, भौंहों के कुटिल कोने पर विलास पूर्ण नर्त्तन उत्पन्न करता है तथा सारे शरीर में फैला हुआ रोमांच का कञ्चुक (कुर्त्ता) पहना देता है, वह तेरा प्रियतम आगया है ॥१८४॥

यहाँ पर 'यः असौ' ये दोनों पद उद्देश्यमात्र की प्रतीति कराने वाले हैं।

तथाहि प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थं विषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते।
क्रमेणोदाहरणम्—

कातर्यं केवला नीति शौर्यं श्वापदचेष्टितम्।
अतः सिद्धि समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ।।१८५।।

विमर्श— यहाँ पर 'यत्तदोर्नित्यः सम्बन्धः' इस नियम के अनुसार 'यत्' शब्द के साथ 'तत्' शब्द का प्रयोग आवश्यक होता है। किन्तु 'यत्' शब्द का प्रयोग पूर्व वाक्य में होता है और 'तत्' शब्द का प्रयोग उत्तर वाक्य में। इस प्रकार पूर्व वाक्य में प्रयुक्त 'यत्' शब्द 'तत्' शब्द अथवा उसके पर्यायवाचक इदम्, एतद्, अदस् शब्दों की अपेक्षा रखता है; किन्तु यत् शब्द के साथ अव्यवहित रूप में उसका प्रयोग नहीं होना चाहिए। 'यत्' शब्द के साथ अव्यवहित रूप में प्रयुक्त 'तत्' या उसके पर्यायवाचक शब्द केवल उद्देश्य की प्रतीति कराते हैं। इस प्रकार पूर्वनिर्दिष्ट उद्देश्य वाक्यगत 'यत्' शब्द नियत रूप से विधेय वाक्यगत 'तत्' शब्द की आकांक्षा रखता है। यहाँ पर 'योऽसौ' (यः असौ) ये दोनों पद उद्देश्य और विधेय के बोधक नहीं हैं; क्योंकि यहाँ पर 'यत्' शब्द के अव्यवहित 'असौ' शब्द का प्रयोग होने से 'यः' पद को उद्देश्य तथा 'असौ' पद को विधेय नहीं माना जा सकता है, अपितु केवल अनुवाद (उद्देश्य) मात्र के बोधक होने से उद्देश्य रूप में ही उपस्थित होते हैं इसलिए विधेयांश की पूर्णतः उपस्थिति न होने से यहाँ 'अविमृष्टविधेयांश' दोष है।

अनुवाद— जैसा कि—प्रक्रान्त (प्रकरणप्राप्त) प्रसिद्ध लोकप्रसिद्ध तथा अनुभूत अर्थ विषयक 'तत्' शब्द 'यत्' शब्द के ग्रहण की अपेक्षा नहीं रखता।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे स्थल हैं जहाँ 'तत्' शब्द का प्रयोग होने पर 'यत्' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। जैसे प्रक्रान्त अर्थात् प्रकरण से प्राप्त, अर्थ प्रसिद्ध अर्थ तथा अनुभूत अर्थ के द्योतन के लिए जहाँ पर 'तत्' शब्द का प्रयोग होता है वहाँ 'तत्' शब्द 'यत्' शब्द के प्रयोग की आकांक्षा नहीं रखता अर्थात् वहाँ 'यत्' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती।

क्रमशः उदाहरण देते हैं—

अनुवाद— केवल नीति (राजनीति) कायरता है, और केवल पराक्रम (शौर्य) पशुचेष्टा (व्याघ्रादि का व्यापार) है। इसलिए उस राजा ने उन दोनों (नीति और शौर्य) के साथ (मिलाकर) सिद्धि का अनुसन्धान किया ।।१८५।।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'सः' (तत्) शब्द प्रकरण प्राप्त राजा अतिथि के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार यहाँ 'तत्' (सः) शब्द प्रक्रान्त अर्थ विषयक होने से 'यत्' शब्द के उपादान (ग्रहण) की आकाङ्क्षा (अपेक्षा) नहीं करता।

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्यलोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥१८६॥

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती ।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्वितेन दहनेन न वीक्षितासि ॥१८७॥

यच्छब्दस्तूत्तरवाक्यानुगतत्वेनोपात्तासामर्थ्यात्पूर्ववाक्यानुगतस्य तच्छब्दस्योपादानं नापेक्षते । यथा—

साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतं मीलितं यदभिरामताधिके ।
उद्यता जयिनि कामिनी मुखे तेन साहसमनुतिष्ठतं पुनः ॥१८८॥

अनुवाद—कपाल धारण करने वाले शिव के समागम की प्रार्थना से इस समय दोनों शोचनीय हो गये हैं। एक तो चन्द्रमा की वह कान्तिमती कला और दूसरा इस संसार के नेत्रों की कौमुदी (चाँदनी) तुम ॥१८६॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'कला च सा कान्तिमती' यहाँ पर 'सा' (तत्) शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध अर्थ में हुआ है, अतः यहाँ पर 'तत्' (सा) शब्द प्रसिद्धार्थक होने से 'यत्' शब्द की अपेक्षा नहीं करता।

अनुवाद—हे प्रिये ! काँपती हुई, भय से अस्त-व्यस्त वस्त्र वाली, उन कातर (विधुर) नेत्रों को चारों ओर घुमाती हुई तुम्हें धूम से अन्धे हुए क्रूर अग्नि ने निर्दयता से जला डाला और तुम्हें देखा भी नहीं ॥१८७॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'ते लोचने' में 'तत्' (ते) शब्द का प्रयोग उदयन के नेत्र-व्यापार एवं सौन्दर्य की पूर्वानुभूति का सूचक है। इसलिए यहाँ पर 'तत्' शब्द अनुभूतार्थ विषयक होने से 'यत्' शब्द की अपेक्षा नहीं रखता।

अनुवाद—उत्तरवाक्य में अनुगत (अन्वित) रूप से पठित 'यत्' शब्द सामर्थ्य से पूर्व वाक्य में अन्वित 'तत्' शब्द के उपादान की अपेक्षा नहीं करता। जैसे—

"उन कमलों ने बहुत अच्छा किया जो कि अपने से अधिक सुन्दर चन्द्रमा के उदय होने पर बन्द हो गये, किन्तु उसको भी जीत लेने वाले कामिनी मुख के रहते उदय होने वाले चन्द्रमा ने बड़ा साहस किया" ॥१८८॥

प्रागुपात्तस्तु यच्छब्दस्तच्छब्दोपादानं विना साकांक्षः। यथा तत्रैव श्लोके आद्यपदयोर्व्यत्यासे।

द्वयोरुपादाने तु मिराकांक्षत्वं प्रसिद्धम्। अनुपादानेऽपि सामर्थ्यात्कुत्रचिद् द्वयमपि गम्यते। यथा—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥१८९॥

अत्र य उत्पत्स्यते तं प्रति, इति।

यहाँ पर उत्तरवाक्य में 'यन्मीलितम्' में प्रयुक्त 'यत्' शब्द पूर्ववाक्य 'साधुकृतं' के साथ 'तत्साधुकृतं' इस रूप में 'तत्' शब्द के प्रयोग की आकांक्षा नहीं करता।

किन्तु यदि यही 'यत्' शब्द पूर्ववाक्य में प्रयुक्त रहा होता तो 'तत्' शब्द के प्रयोग के विना साकांक्ष रहता। जैसे इसी श्लोक (साधु चन्द्रमसि) में प्रथम और द्वितीय चरणों विपरीतक्रम (उलटा) कर देने पर (साकांक्ष रहता है) जैसे विपरीत क्रम से पढ़ने पर—

"मीलितं यदभिरामताधिकं साधु चन्द्रमसि पुष्करैः कृतम् ॥"

यहाँ पर 'यत्' शब्द पूर्व वाक्य में प्रयुक्त है, अतः वह 'तत्' शब्द की अपेक्षा रखता है।

किन्तु 'यत्' शब्द तथा 'तत्' शब्द दोनों के प्रयुक्त (ग्रहण) होने पर 'यत्' शब्द की निराकांक्षता तो 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः' इस नियम के अनुसार प्रसिद्ध ही है और कहीं-कहीं 'यत्' शब्द तथा 'तत्' शब्द दोनों का प्रयोग (ग्रहण) न होने पर भी सामर्थ्य के कारण (अर्थाक्षेप से) दोनों की प्रतीति होती है। जैसे—

अनुवाद—जो कोई इस संसार में अथवा इस कृति के सम्बन्ध में हमारी अवहेलना करते हैं, वे कुछ जानते भी हैं, उनके लिए यह (ग्रन्थ रचना का) प्रयत्न नहीं है। किन्तु यह तो उनके लिए है जो मेरे समान धर्म वाला (गुणों वाला) कोई कभी उत्पन्न होगा; क्योंकि यह काल (समय) निरवधि (सीमा रहित) और पृथ्वी विशाल है ॥१८९॥

एवं च तच्छब्दानुपादानेऽत्र साकांक्षत्वम्। न चासाविति तच्छब्दार्थमाह।

असौ मरुच्चुम्बितचारुकेसरः प्रसन्नताराधिपमण्डलाग्रणीः।
वियुक्तरामातुरदृष्टिवीक्षितो वसन्तकालो हनुमानिवागतः ॥१९०॥

अत्रहि न तच्छब्दार्थ प्रतीतिः।

यहाँ पर (य=उत्पत्स्यते) (जानन्ति ते) पूर्वार्द्ध वाक्यों में 'ये' तथा 'ते' (यत् और तत्) शब्द दोनों का उपादान (प्रयोग) हुआ है, इसलिए निराकांक्षता है, किन्तु उत्तरार्द्ध में दोनों में किसी का उपादान नहीं है, सामर्थ्यवश जो उत्पन्न होगा उसके प्रति यह प्रयत्न है, यह प्रतीति होती है।

अनुवाद– इस प्रकार 'तत्' शब्द का उपादान (प्रयोग) न होने से यहाँ (अपाङ्गसंसर्गि०) इस उदाहरण में 'यत्' शब्द साकांक्ष रहता है। इसलिए वहाँ (उक्त उदाहरण में) विधेयाविमर्श दोष है। यदि यह कहा जाय कि उक्त उदाहरण में 'योऽसौ' में 'तत्' शब्द के अर्थ में 'अदस्' शब्द (असौ) का प्रयोग होने से 'यत्' निराकांक्षता है, तो कहते हैं कि, यहाँ 'असौ' यह शब्द 'तत्' शब्द के अर्थ को नहीं कहता। क्योंकि—

अनुवाद– **यह वायु जिसके सुन्दर केसरों (वसन्तपक्ष—मौलिश्री के वृक्षों, हनुमानपक्ष में—बालों) का चुम्बन (स्पर्श) कर रहा है, निर्मल चन्द्रमण्डल में अग्रणी (हनुमानपक्ष में—प्रसन्न) सुग्रीव के राष्ट्र के नायक (वसन्तपक्ष में) वियोगिनी स्त्रियों द्वारा कातर दृष्टि से देखा गया, यह वसन्तकाल (हनुमानपक्ष में) वियोगी राम के द्वारा उत्सुक दृष्टि से देखे गये हनुमान के समान आ गया ॥१९०॥**

यहाँ पर प्रयुक्त 'असौ' पद से 'तत्' शब्द के अर्थ की प्रतीति नहीं होती है।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'असौ' में जो 'अदस्' शब्द है वह 'तत्' शब्द के अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकता; क्योंकि अदस् शब्द प्रत्यक्ष अनुभूत विषय (वस्तु) का बोधक है और 'तत्' शब्द परोक्ष अर्थ का वाचक है। अतः प्रत्यक्ष वाचक अदस् शब्द परोक्षवाचक 'तत्' शब्द के अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकता। इसलिए यहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष है।

यदि कोई कहे कि 'अदस्' शब्द परोक्षरूप 'तत्' शब्द के अर्थ का वाचक हो सकता है। इस प्रकार अदस् शब्द के 'तत्' शब्द का पर्याय माने जाने पर—

प्रतीतौ वा—

करवालकरालदोःसहायो युधि योऽसौ विजयार्जुनैकमल्लः ।
यदि भूपतिना स तत्र कार्ये विनियुज्यते ततः कृतं कृतं स्यात् ॥१९१॥

अत्र स इत्यस्यानर्थक्यं स्यात् ।

अथ—

योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीश निखिलं भवद्वपुः ।
आत्मपक्षपरिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिनः कुतो भयम् ॥१९२॥

इति इदं शब्दवद् अदःशब्दस्तच्छब्दार्थमभिधत्ते इति उच्यते । तर्ह्येव वाक्यान्तरे उपादानामर्हति, न तत्रैव । यच्छब्दस्य हि निकटे स्थितस्तच्छब्दः प्रसिद्धि परामृशति ।

अनुवाद—जो वह (कर्ण) करवाल से भयंकर भुजदण्ड ही जिसके सहायक हैं और युद्ध में विजय के लिए अर्जुन के समान एकमात्र वीर है, यदि राजा उसे सेनापति के कार्य पर नियुक्त कर दें तो सब काम सफल हो जायगा ॥१९१॥

यहाँ पर 'सः' इसका प्रयोग अनर्थक हो जायगा ।

विमर्श—भाव यह है कि यदि कोई कहता है कि 'अदस्' शब्द 'तत्' शब्द के अर्थ का वाचक हो सकता है तो इस प्रकार अदस् शब्द से 'तत्' शब्द के अर्थ की प्रतीति मानने पर उपर्युक्त उदाहरण में 'सः' इस पद का प्रयोग निरर्थक हो जायगा। इसलिए 'यत्' शब्द के साथ अव्यवहित रूप में प्रयुक्त अदस् शब्द (योऽसौ) 'तत्' शब्द के अर्थ का वाचक नहीं हो सकता ।

और यदि (कहा जाय कि)—

अनुवाद—हे ईश ! जो व्यक्ति इस समस्त जगद्रूप पदार्थ समूह को निःसन्दिग्ध रूप से आपका शरीर (आपसे अभिन्न) समझता है, नित्य आनन्द-रूप उस व्यक्ति को आत्मस्वरूप से व्याप्त इस संसार में किससे भय है ? ॥१९२॥

यथा—

यत्तदूर्जितमत्युग्रं क्षात्रं तेजोऽस्य भूपतेः ।
दीव्यताक्षैस्तदानेन नूनं तदपि हारितम् ।।१६३।।

इत्यत्र तच्छब्दः ।

ननु कथम्—

कल्याणानां त्वमसि महसां भाजनं विश्वमूर्त्ते !
धुर्यां लक्ष्मीमय मयि भृशं धेहि देव ! प्रसीद ।

इस प्रकार यहाँ पर 'इदम्' शब्द के समान 'अदस्' शब्द भी 'तत्' शब्द के अर्थ का वाचक है ऐसा कहा जाता है तो यहाँ 'योऽविकल्पम्' उदाहरण में भिन्न-भिन्न वाक्यों में प्रयोग है उसी प्रकार वहाँ भी भिन्न-भिन्न वाक्यों में उसका प्रयोग होना चाहिए, उसी वाक्य में नहीं । क्योंकि 'यत्' शब्द के निकट में (अव्यवहित रूप में) प्रयुक्त 'तत्' शब्द भी प्रसिद्धिमात्र का ही बोधक होता है (विधेय रूप का बोधक नहीं) ।

विमर्श—यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि 'योऽविकल्पम्' इत्यादि उदाहरण में जिस प्रकार 'इदम्' शब्द का प्रयोग 'तत्' शब्द के अर्थ में देखा जाता है उसी प्रकार 'अदस्' शब्द का प्रयोग भी 'तत्' शब्द के अर्थ में हो सकता है इस प्रकार 'तनोति योऽसौ सुभगे' इत्यादि उदाहरण में 'असौ' अदस् (असौ) शब्द 'तत्' शब्द (सः) के अर्थ में है, इसलिए यहाँ दोष नहीं है । इस पर कहते हैं कि 'योऽविकल्पम्' इस उदाहरण में यत् (यः) शब्द और 'इदम्' (अस्य) शब्द का भिन्न-भिन्न वाक्यों में प्रयोग है किन्तु 'तनोति योऽसौ' इस उदाहरण में 'यत्' (यः) और अदस् (असौ) शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न वाक्य में न होकर एक ही वाक्य में हुआ है (योऽसौ) । वस्तुतः 'यत्' शब्द के निकट अव्यवहित समान लिंग, समान विभक्ति और समान वचन में प्रयुक्त अदस् शब्द (योऽसौ) प्रसिद्धिमात्र का बोधक है । जैसे—

अनुवाद—इस राजा युधिष्ठिर का जो यह ऊर्जित (व्यापक या प्रसिद्ध) और अत्यन्त उग्र क्षात्र तेज था, उस समय जुआ खेलते हुए इन्होंने उसे भी हरवा दिया ।।१६३।।

यहाँ पर 'यत् तदूर्जितम्' में 'यत्' शब्द के साथ अव्यवहित रूप में समान लिंग-वचन-विभक्ति में प्रयुक्त 'तत्' शब्द केवल प्रसिद्धिमात्र का बोधक है, विधेय रूप का नहीं ।

यद्यत्पापं प्रतिजहि जगन्नाथ ! नम्रस्य तन्मे
भद्रं भद्रं वितर भगवन् ! भूयसे मङ्गलाय ॥१६४॥

अत्र यद्यदित्युक्त्वा तन्मे इत्युक्तम् ?

उच्यते । यद्यदिति येन केनचिद्रूपेण स्थितं सर्वात्मकं वस्त्वाक्षिप्तम् । तथाभूतमेव तच्छब्देन परामृश्यते ।

तो कैसे ?—

अनुवाद—हे विश्वमूर्त्ते ! आप कल्याणकारी तेजों के आश्रय (पात्र) हो, हे देव ! (अभिनय कार्य के प्रारम्भ में) भारवहन करने में समर्थ लक्ष्मी (सम्पत्ति या सामर्थ्य) मुझे दीजिये, हे देव ! प्रसन्न हों, हे जगन्नाथ ! मुझ विनम्र के जो जो पाप हैं, उन्हें दूर करें, हे भगवन् ! भूरि मंगल के लिए (अधिक कल्याण के लिए) अत्यन्त अभीष्ट (अर्थ) कल्याण प्रदान करें ॥१६४॥

यहाँ पर 'यत्, यत्' यह (दोबार) कहकर 'तन्मे' (एक बार कैसे) कहा है ? इस पर कहते हैं कि 'यत्, यत्' इससे जिस किसी रूप में स्थित समस्तवस्तु (एक रूप में) आक्षिप्त है और उसी रूप में 'तत्' शब्द के द्वारा उसका परामर्श किया जाता है।

विमर्श—यहाँ प्रश्न यह उठता है कि प्रस्तुत उदाहरण (कल्याणानां त्वमसि) में 'यत्, यत्' शब्द को दो बार (यद्यत्पापं) और 'तत्' शब्द का एक बार (तन्मे) प्रयोग हुआ है। यदि 'यत्' शब्द का 'तत्' शब्द के साथ नियत सम्बन्ध होता तो दो बार प्रयुक्त 'यत्' शब्द की आकांक्षा-निवृत्ति के लिए 'तत्' शब्द का भी दो बार प्रयोग होना चाहिए था, किन्तु यहाँ एक बार प्रयुक्त 'तद्' शब्द से एक 'यद्' शब्द की आकांक्षा को पूर्ण कर सकता है, किन्तु दूसरा 'यत्' शब्द साकांक्ष ही बना रहेगा, इसलिए यहाँ पर अविमृष्टविधेयाविमर्श दोष है। इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि यहाँ पर 'यद्, यद्' शब्दों के द्वारा समस्त पापों का समष्टि रूप में एक साथ ग्रहण होता है और 'तद्' शब्द के द्वारा पापत्व के रूप में उसका परामर्श होता है, इसलिए यहाँ दूसरे 'तत्' पद की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि 'यत्तदोर्नित्यः सम्बन्धः' का अभिप्राय यह नहीं है कि जितने 'यत्' शब्द प्रयुक्त किये गये हों उतने ही 'तत्' शब्द का भी प्रयोग होना चाहिए; अपितु उसका अभिप्राय यह है कि 'तत्' शब्द के द्वारा 'यत्' शब्द के अर्थ का परामर्श होता है, इसलिए यहाँ पर दोष नहीं है।

यथा वा—

किं लोभेन विलङ्घितः स भरतो येनैतदेवं कृतं
मात्रा स्त्रीलघुतां गता किमथवा मातैव मे मध्यमा ।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु—
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ॥१९५॥

अत्रार्यस्येति तातस्येति च वाच्यम्, न त्वनयोः समासे गुणीभावः कार्यः । एवं समासान्तरेष्वप्युदाहार्यम् ।

विरुद्धमतिकृद्यथा—

श्रितक्षमा रक्तभुवः शिवालिंगितमूर्त्तयः ।
विग्रहक्षपणेनाद्य शेरते ते गतासुखाः ॥१९६॥

अथवा जैसे—

अनुवाद—क्या वह भरत लोभ से आक्रान्त हो गया, जिससे माता (कैकेयी) के द्वारा यह कार्य करा दिया ? अथवा क्या मेरी मझली माता ही स्त्रियों की क्षुद्रता पर पहुँच गयी ? नहीं, मेरे ये दोनों विचार मिथ्या हैं; क्योंकि मेरे बड़े भाई (भरत) तो आर्य राम के अनुज हैं और मेरी माता (कैकेयी) पिता (दशरथ) की धर्मपत्नी हैं, इसलिए मैं मानता हूँ कि यह अनुचित कार्य विधाता ने किया है ॥१९५॥

यहाँ पर 'आर्यस्य' यह और 'तातस्य' यह कहना चाहिए था, इनको समास में रखकर गौण (अप्रधान) नहीं बनाना चाहिए था । इसी प्रकार अन्य समासों में भी समझना चाहिए ।

विमर्श—यहाँ पर 'आर्यानुजः' के स्थान पर 'आर्यस्यानुजः' और 'तातकलत्रम्' के स्थान पर 'तातस्य कलत्रम्' यह कहना चाहिए था । क्योंकि यहाँ पर अनुज (छोटे भाई भरत) के साथ आर्य (राम) का सम्बन्ध और कलत्र (स्त्री, कैकेयी) के साथ तात (पिता, दशरथ) का सम्बन्ध होने से दोनों का उत्कर्ष विधेय रूप में विवक्षित है, किन्तु समास करने से वह गुणीभूत (अप्रधान) हो गया है । अतः यहाँ पर 'विधेयाविमर्श' दोष है ।

(१२) विरुद्धमतिकृत्

विरुद्धमतिकृत् का उदाहरण जैसे—

अनुवाद—क्षमा का आश्रय लेने वाले, अनुरक्त प्रजा वाले तथा कल्याण (शिव) से आलिंगित वे राजा युद्ध का त्याग (विग्रहक्षपणेन) कर देने से आज सुखपूर्वक सो रहे हैं ॥१९६॥

अत्र क्षमादिगुणयुक्ताः सुखमासिते इति विवक्षिते हता इति विरुद्धा प्रतीतिः।

पदैकदेशे यथासम्भवं क्रमेणोदाहरणम्—

अलमतिचपलत्वात् स्वप्नमायोपमत्वात्
परिणतिविरसत्वात् संगमेनांगनायाः।
इति यदि शतकृत्वस्तत्त्वमालोचयाम-
स्तदपि न हरिणाक्षीं विस्मरत्यन्तरात्मा ॥१९७॥

अत्र त्वादिति।

यहाँ पर 'क्षमा आदि गुणों से युक्त राजा सुख से रहते हैं' यह अर्थ विवक्षित है, किन्तु उससे 'मारे गये' (हताः) इस विरुद्ध अर्थ की प्रतीति हो रही है।

विमर्श—यहाँ पर 'क्षमा आदि गुणों से युक्त वे सुखपूर्वक रहते हैं' यह अर्थ विवक्षित है; किन्तु इसके साथ-साथ इससे विरुद्ध अर्थ की भी प्रतीति हो रही है कि 'पृथ्वी पर बड़े हुए, रुधिर से सने हुए, सियारिन (शिवा) के द्वारा आक्रान्त शरीर वाले, तथा शरीर के नाश से प्राणेन्द्रिय से रहित अर्थात् युद्ध में मारे गये वे राजा दुःखों से मुक्त होकर सो रहे हैं'। इसलिए यहाँ पर विरुद्धमतिकृत् दोष है।

४—पदैकदेश श्रुतिकटुदोष

पद के एकदेश में रहने वाले दोषों का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—अत्यन्त अस्थिर, स्वप्न और माया के समान (मिथ्या) तथा परिणाम में दुःखकर होने के कारण स्त्री का संग नहीं करना चाहिए इस प्रकार यदि हम सौ बार (शतकृत्वः) तत्त्व पर विचार करें तो भी अन्तरात्मा उस मृगनयनी को भूल नहीं पाता ॥१९७॥

यहाँ पर 'त्वात्' यह पदांश श्रुतिकटु है।

विमर्श—यहाँ पर पदैकदेशगत श्रुतिकटु दोष है। क्योंकि यहाँ पर प्रत्येक पद के एक देश में 'त्वात्' यह अनेक बार प्रयुक्त हुआ है, इसलिए यहाँ श्रुतिकटु पदैकदेश दोष है।

यथा वा–

तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरलभ्य एव ।
अपेक्षते प्रत्ययमंगलब्ध्यै बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः ।।१९८।।

अत्र द्ध्यै, ब्ध्यै इति कटु ।

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्त्ति ।
वलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ।।१९९।।

अत्र मत्ताशब्दः क्षीबार्थे निहतार्थः

अथवा जैसे—

अनुवाद—हे काम ! इसलिए तुम कार्य सिद्धि के लिए जाओ, देवताओं का कार्य करो। यह कार्य दूसरे कार्य के होने पर ही सम्भव है। इसलिए जैसे बीज से उत्पन्न होने वाला अंकुर उत्पत्ति के पूर्व जल की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार यह कार्य भी अपनी सिद्धि के कारण की अपेक्षा रखता है ।।१९८।।

यहाँ पर 'द्ध्यै' और 'ब्ध्यै' ये दोनों पदांश श्रुतिकटु हैं ।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण कुमारसम्भव से उद्धृत है। यहाँ पर 'सिद्ध्यै' पद के अंशरूप 'द्ध्यै' तथा 'लब्ध्यै' पद के अंशरूप 'ब्ध्यै' ये दो पदांश श्रुतिकटु होने से दोषपूर्ण हैं ।

२—पदांशगत निहतार्थ दोष

अनुवाद—जो हिमालय अप्सराओं के विलास-प्रसाधनों को सम्पादन करने वाली तथा मेघ के टुकड़ों को अपनी लालिमा से सङ्क्रान्त करने वाली सिन्दूर, गैरिक आदि धातु सम्पत्ति को असमय में प्राप्त सन्ध्या के समान शिखरों से धारण करता है ।।१९९।।

यहाँ पर 'मत्ता' पदांश उन्मत्त अर्थ में निहतार्थ है ।

विमर्श—यहाँ पर, 'धातुमत्ता' शब्द के एकदेश 'मत्ता' पदैकदेश उन्मत्त (क्षीव) अर्थ को प्रकट करता है और उसमें मतुप् प्रत्यय का अर्थ निहत हो जाता है इसलिए यहाँ पर उन्मत्त अर्थ का वाचक 'मत्ता' पदैकदेश निहतार्थ है ।

आदावञ्जनपुञ्जलिप्तवपुषां श्वासानिलोल्लासित—
प्रोत्सर्पद्विरहानलेन च ततः सन्तापितानां दृशाम्।
सम्प्रत्येव निषेकमश्रुपयसा देवस्य चेतोभुवो
भल्लीनामिव पानकर्म कुरुते कामं कुरङ्गेक्षणा ॥२००॥

अत्र दृशामिति बहुवचनं निरर्थकम्। कुरंगेक्षणाया एकस्या एवोपादानात्।

न च—

अलसवलितैः प्रेमार्द्रार्द्रैर्मुकुलीकृतैः
क्षणमभिमुखैर्लज्जालोलैर्निमेषपराङ्मुखैः।
हृदयनिहितं भावाकूतं वमद्भिरिवेक्षणैः
कथय सुकृती कोऽयं मुग्धे त्वयाद्य विलोक्यते ॥२०१॥

इत्यादिवद् व्यापारभेदाद्बहुत्वम्, व्यापाराणामनुपात्तत्वात्। न च व्यापारेऽत्र दृक्शब्दो वर्तते। अत्रैव कुरुते इत्यात्मनेपदमप्यनर्थकम्। प्रधान-क्रियाफलस्य कर्त्रसम्बन्धे कर्त्रभिप्रायक्रियाफलाभावात्।

३—पदांशगत निरर्थक दोष

अनुवाद—वह मृगनयनी पहिले अञ्जनपुञ्ज के लेप से (काले किये गये) फिर श्वास वायु प्रज्वलित (प्रवृद्ध) एवं सर्वत्र व्याप्त विरहानल से तपाये हुए नेत्रों का अपने ही अश्रु जल से कामदेव के भल्लियों के पानकर्म के समान सेचन कर रही है ॥२००॥

यहाँ पर 'दृशाम्' में बहुवचन का प्रयोग निरर्थक है। क्योंकि एक ही कुरंगेक्षणा (मृगनयनी) का ग्रहण होने से (बहुवचन निरर्थक है)।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'दृशाम्' पद में बहुवचन का प्रयोग निरर्थक है। क्योंकि यहाँ पर एक ही मृगनयनी का वर्णन है और उसकी दो आँखें हैं, अतः यहाँ द्विवचन का ही प्रयोग होना चाहिए (दृशोः)। इस प्रकार 'दृशां' बहुवचन का प्रयोग निरर्थक है।

और न—

अनुवाद—'हे मुग्धे! अलसाये हुए, प्रेमरस से भीने कुछ मुकुलित क्षणभर के लिए सम्मुख और फिर लज्जा से चञ्चल, अपलक हृदय में निहित गूढ़ भाव को प्रकट करते हुए अपलक नेत्रों से तुम आज किस सौभाग्यशाली को देख रही हो? ॥२०१॥

इत्यादि के समान व्यापारभेद के कारण बहुवचन हुआ है। क्योंकि व्यापारों का ग्रहण न होने से (ऐसा भी नहीं कहा जा सकता) और न व्यापार अर्थ में यहाँ 'दृक्' शब्द का प्रयोग हुआ है और इसी (आदावंजनपुञ्ज०) उदाहरण में 'कुरुते' यह आत्मनेपद भी निरर्थक है। (क्योंकि) प्रधान क्रिया का फल कर्त्ता से सम्बद्ध न होने पर, कर्तृगामी क्रियाफल का अभाव होने से (आत्मनेपद निरर्थक है)।

विमर्श-- यहाँ पर यह बताया गया है कि 'आदावञ्जनपुञ्ज०' उदाहरण में 'दृशाम्' में बहुवचन का प्रयोग निरर्थक है, क्योंकि यहाँ पर 'मृगेक्षणा' पद में एकवचन होने से एक ही नायिका का बोध होता है और उसकी दो ही आँखें हैं, इसलिए यहाँ द्विवचन (दृशोः) का प्रयोग होना चाहिए, किन्तु कहीं-कहीं नेत्रों के विविध व्यापारों के आधार पर भी बहुवचन का प्रयोग होता है। जैसे 'अलसवलितैः' इत्यादि उदाहरण में एक नायिका का वर्णन होने पर भी 'ईक्षणैः' यह बहुवचन प्रयोग-दर्शन के विविध व्यापारों का प्रत्यायक होने से एक ही नायिका के नेत्रों के लिए बहुवचन का प्रयोग दोष नहीं होता, उसी प्रकार 'आदावञ्जन' में भी एक ही मृगनयनी का वर्णन होने पर भी 'दृशाम्' यह बहुवचन का प्रयोग निरर्थक नहीं है। इसका समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि 'अलसवलितैः' इत्यादि उदाहरण में एक ही नायिका के नेत्रों के लिए बहुवचन का प्रयोग नेत्र-व्यापारों को दृष्टि में रखकर किया गया है किन्तु 'आदावञ्जनपुञ्ज०' इत्यादि उदाहरण में 'दृशाम्' में 'दृश्' शब्द दर्शन-व्यापार का वाचक नहीं है और न 'दर्शन के विविध प्रकारों' का अभिप्राय ही विवक्षित है, यहाँ पर तो 'दृक्' शब्द (दृश्यतेऽनया इति दृक्) केवल नेत्रवाचक है। इसलिए यहाँ बहुवचन का प्रयोग निरर्थक है।

और इसी 'आदावञ्जनपुञ्ज०' इत्यादि उदाहरण में 'कुरुते' यह आत्मनेपद का प्रयोग भी निरर्थक है। क्योंकि 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इस सूत्र के अनुसार कर्तृगामी क्रियाफल के विवक्षित रहने पर ही उभयपदी धातुओं से आत्मनेपद होता है। यहाँ पर क्रियाफल के कर्तृगामी न होने से अर्थात् यहाँ पर सकलविलासिजन विजय (या भल्ली पानकर्म से साध्य कामदेव के जगद्विजय) रूप किया फल 'कुरङ्गेक्षणा' रूप कर्तृकारक से सम्बन्धित न होने से उभयपदी 'कृ' धातु से आत्मनेपद नहीं होगा, अतः 'कुरुते' में आत्मनेपद का प्रयोग निरर्थक ही है। क्योंकि यहाँ 'सकलविलासिजनविजय' रूप क्रिया का फल कामदेव से सम्बन्ध रखता है, कुरंगेक्षणा से नहीं। यदि यह कहा जाय कि सकलविलासिजनविजय रूप क्रियाफल 'कुरंगेक्षणा' में आरोप कर लिया जायगा, किन्तु यहाँ पर आहार्यारोप का कोई प्रयोजन न होने से आरोप नहीं किया जा सकता, अतः निरर्थकत्व दोष बना ही रहा।

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयो कार्त्तिकेयो विजेयः
शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः ।
अस्त्येवंतत् किमु कृतवता रेणुका कण्ठबाधां
बद्धस्पर्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ॥२०२॥

अत्र विजेयः इति कृत्यप्रत्ययः क्तप्रत्यार्थेऽवाचकः ।

अतिपेलवमतिपरिमितवर्णं लघुतरमुदाहरति शठः ।
परमार्थतः स हृदयं वहति पुनः कालकूट घटितमिव ॥२०३॥

अत्र पेलव शब्दः ।

४—पदांशगत अवाचक दोष

अनुवाद—'हे परशुराम ! त्रिपुरविजयी शिव (तुम्हारे) धनुर्विद्या के आचार्य हैं' तुमने कार्त्तिकेय को भी जीत लिया, शस्त्र द्वारा उत्क्षिप्त समुद्र तुम्हारा घर है, यह भूमि अतिथि-भिक्षा है (इससे समस्त राजाओं का विजेता ध्वनित होता है) यह सब ठीक है, किन्तु रेणुका का गला काटने वाले तुम्हारे परशु की स्पर्धा करने में मेरी तलवार लज्जित होती है ॥२०२॥

यहाँ पर 'विजेय' में 'यत्' प्रत्यय रूप कृत्य प्रत्यय 'क्त' प्रत्यय के अर्थ में अवाचक है ।

विमर्श—यहाँ पर 'विजेय' पद में वि उपसर्ग 'जि' धातु से 'जीतने योग्य' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय है जो भविष्यकाल विषयक है । यहाँ पर अतीतकाल विषयक 'क्त' प्रत्यय का अर्थ विवक्षित नहीं है । इसलिए 'क्त' प्रत्यय के अर्थ में कृत्य प्रत्यय अवाचक है । **हन्तकार**—मार्कण्डेयपुराण के अनुसार १६ ग्रास की भिक्षा का नाम हन्तकार है—

ग्रासप्रमाणभिक्षा स्यात् अग्रं ग्रासचतुष्टयम् ।
अग्रं चतुर्गुणं प्राहुर्हन्तकारं द्विजोत्तमाः ॥

५—पदांशगत अश्लीलता दोष

अनुवाद—धूर्त्त व्यक्ति अत्यन्त कोमल, अत्यन्त सीमित शब्द और धीरे-धीरे बोलता है किन्तु वस्तुतः वह कालकूट (विष) से भरा हुआ हृदय को धारण करता है ॥२०३॥

यहाँ पर 'पेलव' शब्द का एकदेश (अंश) 'पेल' शब्द अश्लीलता का वाचक है । इसलिए व्रीड़ा-व्यंजक होने से व्रीड़ाजनक अश्लील दोष है ।

य: पूयते सुरसरिन्मुखतीर्थसार्थ-

स्नानेन शास्त्रपरिशीलनकीलनेन।

सौजन्यमान्यजनिरूर्जितभूर्जितानां

सोऽयं दृशोः पतति कस्यचिदेव पुंसः ॥२०४॥

अत्र पूयशब्दः।

विनयप्रणयैककेतनं सततं योऽभवदङ्ग ! तादृशः।

कथमद्य स तद्वीक्ष्यतां तदभिप्रेतपदं समागतः ॥२०५॥

अत्र प्रेतशब्दः।

कस्मिन्कर्मणि सामर्थ्यमस्य नोत्तपतेतराम्।

अयं साधुचरस्तस्मादञ्जलिर्बध्यतामिह ॥२०६॥

अत्र किं पूर्वं साधुः, उत साधुषु चरतीति सन्देहः।

अनुवाद—जो गंगा आदि तीर्थ में स्नान करने से, शास्त्र के परिशीलन और स्थिरीकरण से पवित्र होता है। सौजन्य (सुजनता) से धन्य (मान्य) जीवन वाला और बलवानों में भी बलवान् वह महापुरुष किसी पुण्यशाली मनुष्य को ही दृष्टिगोचर होता है ॥२०४॥

यहाँ पर 'पूय' शब्द (पूयते का एकदेश पूय) घाव के मवाद (पीव) का वाचक होने से जुगुप्सा का व्यञ्जक है। इसलिए यहाँ पर जुगुप्सा व्यञ्जक पदैकदेशगत अश्लील दोष है।

अनुवाद—हे मित्र ! जो व्यक्ति पहले निरन्तर प्रेम और विनय का स्थान था, आज वह अपने अभिप्रेत पद को प्राप्त कर उस प्रकार का कैसे दिखाई दे सकता है ॥२०५॥

यहाँ पर 'अभिप्रेत' शब्द को एकदेश (एक अंश) 'प्रेत' शब्द मृतक या भूत-प्रेत का वाचक होने से अमंगल-जनक अश्लीलता का व्यञ्जक है। अतः यहाँ अमंगलरूप अश्लील दोष है।

६—पदांशगत सन्दिग्धत्व दोष

अनुवाद—इस पुरुष का सामर्थ्य किस कार्य-विशेष में प्रकाशित नहीं होता (नहीं चमकता)। यह साधुओं (सज्जनों) के साथ रहने वाला साधुजन है, इसलिए इसके सामने हाथ जोड़ा जाय ॥२०६॥

किमुच्यतेऽस्यभूपालमौलिमालामहामणेः ।
सुदुर्लभं वचोवाणैस्तेजो यस्य विभाव्यते ।।२०७।।

अत्र वचःशब्देन गीःशब्दो लक्ष्यते। अत्र खलु न केवलं पूर्वपदम्, यावदुत्तरपदमपि पर्यायपरिवर्तनं न क्षमते। जलध्यादावुत्तरपदमेव बड़वानलादौ पूर्वपदमेव।

यहाँ पर 'साधुचरः' पद में 'भूतपूर्वे चरट्' इस सूत्र से 'साधु' शब्द से 'पूर्वं भूतः साधुः' इस अर्थ में 'चरट्' प्रत्यय हुआ है तो इसका अर्थ 'पहिले साधु था' होगा और यदि 'साधुषु चरति' इस विग्रहवाक्य में 'चरेष्टः' सूत्र से 'ट' प्रत्यय होगा तो 'साधुओं में रहने वाला' (सत्संगी) यह अर्थ होगा। इस प्रकार यहाँ सन्देह है कि कौनसा अर्थ होगा, अतः यहाँ 'सन्दिग्धत्व दोष' है।

७—पदैकदेश नेयार्थ दोष

अनुवाद—जिस (राजा) का तेज (प्रताप) देवताओं के द्वारा भी दुर्लभ समझा जाता है, राजाओं की मौलिमाला के महामणि इस राजा का क्या वर्णन (बखान) किया जाय ।।२०७।।

यहाँ पर 'वचः' पद से 'गीः' शब्द लक्षित होता है। यहाँ पर न केवल पूर्वपद ही, अपितु उत्तरपद भी पर्यायशब्द के परिवर्तन को सहन नहीं कर सकता। 'जलधि' आदि में तो उत्तरपद ही और बड़वानले आदि में पूर्वपद ही (पर्यायपरिवर्तन को सहन नहीं करता)।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'वचोवाण' शब्द में 'वचः' पद से 'गीः' शब्द लक्षित होता है। किन्तु वहाँ लक्षणा में कोई प्रयोजन या रूढ़ि रूप हेतु नहीं है, अतः वहाँ पदैकदेश नेयार्थता दोष है।

दूसरे यहाँ देवतावाचक 'गीर्वाण' शब्द में न केवल पूर्वपद ही, अपितु उत्तरपद भी शब्दपरिवर्त्तन को सहन नहीं करता। अर्थात् 'गीर्वाण' शब्द में पूर्वपद 'गीः' के स्थान पर उसके पर्याय 'वचः' रख देने पर 'वचोवाण' शब्द देवता का वाचक नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'गीर्वाण' में उत्तरपद 'बाण' के स्थान पर 'शर' रख देने पर 'गीःशर' शब्द भी देवता का वाचक नहीं हो सकता है। अतः यहां पर नेयार्थता दोष है।

तीसरे कहीं उत्तरपद परिवृत्ति-सह होता है और कही पूर्वपद परिवृत्ति-सह होता है। जैसे 'जलधि' में उत्तरपद 'धि' का परिवर्तन-असह है। अर्थात् जलधि में 'धि' के स्थान पर उसके पर्याय 'धर' आदि शब्दों के रख देने पर 'जलधर' शब्द से 'समुद्र (जलधि) का बोध नहीं हो सकता और पूर्वपद 'जल' को परिवर्त्तित कर उसके स्थान पर पर्यायवाचक नीर आदि रख देने पर भी 'नीरधि' शब्द से 'समुद्र' का बोध होता है। इसी प्रकार 'वड़वानल' शब्द में 'उत्तरपद' (अनल) परिवर्त्तन-सह है अर्थात्

यद्यप्यसमर्थस्यैवाप्रयुक्तादयः केचन भेदाः तथाप्यन्यैरलङ्कारिकैर्विभागेन प्रदर्शिता इति भेदप्रदर्शनेनोदाहर्त्तव्या इति च विभज्योक्ताः ।

(सू० ७४) प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धि हतवृत्तम् ।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम् ॥५३॥
अर्थान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम् ।
अपदस्थपदसमासं सङ्कीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम् ॥५४॥
भग्नप्रक्रममक्रममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा ।

'अनल' पद को परिवर्त्तित कर उसके स्थान पर उसके पर्याय 'अग्नि' के रख देने पर भी (बाड़वाग्नि पद से) अर्थ में बाधा नहीं होती, किन्तु पूर्वपद परिवर्त्तन-असह है अर्थात् पूर्वपद 'बड़व' को बदलकर उसके स्थान पर उसके पर्याय 'अश्व' को रख देने से 'अश्वानल' कहने से उक्त बड़वानल अर्थ का बोध नहीं होता। किन्तु प्रस्तुत उदाहरण 'गीर्वाण' शब्द में पूर्वपद और उत्तरपद दोनों परिवर्तन को सहन नहीं करते। इसलिए 'गीर्वाण' के स्थान पर प्रयुक्त 'वचोवाण' पद देवता अर्थ का बोधक नहीं हो सकता। अतः यहाँ इस शब्द का प्रयोग 'नेयार्थ' है।

अनुवाद—यद्यपि अप्रयुक्तत्व (अवाचकत्व, निहतार्थत्व) आदि कुछ दोष असमर्थत्व दोष के भेद हैं, फिर भी अन्य आलङ्कारिकों ने इन्हें अलग-अलग प्रदर्शित किया है, इसलिए और भेद-प्रदर्शन के साथ इनके उदाहरण भी देने हैं, इसलिए भी विभाग करके उनका निरूपण किया गया है।

विमर्श—यहाँ पर यह प्रश्न उठाया गया है कि प्राचीन आलङ्कारिक रुद्रट ने अप्रयुक्तत्व, अवाचकत्व और निहतार्थत्व आदि दोषों का असमर्थत्व दोष में अन्तर्भाव किया है, फिर इनका अलग से निरूपण क्यों किया गया है? इसका समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि यद्यपि अप्रयुक्तत्वादि का असमर्थत्व दोष में समावेश हो सकता है फिर भी अन्य आलङ्कारिकों ने अप्रयुक्तत्वादि दोषों को पृथक्-पृथक् प्रदर्शित किया है और भेदों के निरूपण के साथ-साथ उनके उदाहरण भी अलग से दिखलाना था, इसीलिए उनका अलग-अलग निरूपण किया है।

वाक्यगत दोष

अनुवाद (सूत्र ७४)—(१) प्रतिकूल वर्ण (२) उपहतविसर्ग (३) लुप्तविसर्ग (४) विसन्धि (५) हतवृत्त (६) न्यूनपद (७) अधिकपद (८) कथितपद (९) पतत्प्रकर्ष (१०) समाप्तपुनरात्त (११) अर्थान्तरैकवाचक (१२) अभवन्मतयोग (१३) अनभिहितवाच्य (१४) अपदस्थपद (१५) अपदस्थसमास (१६) संकीर्ण (१७) गर्भित (१८) प्रसिद्धिहत (१९) भग्नप्रक्रम (२०) अक्रम और (२१) अमतपरार्थ ये इक्कीस वाक्यदोष हैं ॥५३-५४॥

रसानुगुणत्वं वर्णानां वक्ष्यते तद्विपरीतं प्रतिकूलवर्णम् ।

यथा शृङ्गारे—

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठिनाम् ।

कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्त्तिमुद्धर ॥२०८॥

रौद्रे यथा—

देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः ।

क्षत्रादेव तथाविधः परिभवस्तातस्य केशग्रहः ।

तान्येवाहितहेतिघस्मरगुरूण्यस्त्राणि भास्वन्ति मे

यद्रामेण कृतं तदेव कुरुते द्रोणात्मजः कोपनः ॥२०९॥

अत्र हि विकटवर्णत्वं चोचितम् ।

---

(१) प्रतिकूलवर्णता

अनुवाद—वर्णों का रसानुगुणत्व (रसानुकूलता) अष्टम उल्लास में) कहा जायगा। उसके विपरीत प्रतिकूल वर्ण (वाक्यदोष) होता है। शृंगार रस में जैसे—

अनुवाद—**"हे कलकण्ठि ! प्रबल (अप्रतिहत, अबाध) उत्कण्ठा से कण्ठ तक भरे हुए मुझे क्षणभर तो शंख के समान कण्ठ वाली नायिका के कण्ठ से मिला दे और कण्ठ की पीड़ा को दूर कर दे ॥२०८॥**

विमर्श—काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास में शृंगाररस में टवर्ग का प्रयोग वर्जित बताया है किन्तु यहां पर अनेक बार टवर्ग का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार शृंगाररस के प्रतिकूल वर्णों का प्रयोग होने से यहाँ दोष माना गया है।

रौद्ररस में जैसे—

अनुवाद—यह वही देश है जहाँ पर (परशुराम ने) शत्रुओं के रुधिर-रूपी जल से तालाबों को भर दिया था और क्षत्रिय (धृष्टद्युम्न) द्वारा मेरे पिता के केशों का आकर्षण रूप उसी प्रकार का अपमान है और शत्रुओं के अस्त्रों के भक्षक (घस्मर) वे ही देदीप्यमान उत्तम अस्त्र भी मेरे पास हैं। इसलिए परशुराम ने जो कार्य किया था, वही कार्य आज क्रुद्ध द्रोणपुत्र अश्वत्थामा कर रहा है ॥२०९॥

यहाँ पद विकट वर्णों का प्रयोग उचित ही है।

यथा—

प्रागप्राप्तनिशुम्भशाम्भवधनुर्द्वेधाविधाविर्भव—
त्क्रोधप्रेरितभीमभार्गवभुजस्तम्भापविद्धः क्षणात् ।
उज्ज्वालः परशुर्भवत्वशिथिलस्त्वत्कण्ठपीठातिथि—
र्येनानेन जगत्सु खण्डपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते ॥२१०॥

यत्र तु क्रोधस्तत्र चतुर्थपादाभिधाने तथैवशब्दप्रयोगः। उपहत उत्वं प्राप्तो लुप्तो वा विसर्गो यत्र तत् । यथा—

धीरो विनीतो निपुणो वराकारो नृपोऽत्र सः ।
यस्य भृत्या बलोत्सिक्ता भक्ता बुद्धिप्रभाविता ॥२११॥

विमर्श—रौद्ररस में विकट वर्णों एवं दीर्घ समास का बाहुल्य प्रयोग उचित माना गया है किन्तु प्रस्तुत उदाहरण 'देशः सोऽयम्' के चतुर्थचरण में रौद्ररस के विपरीत कोमल वर्णों का प्रयोग हुआ है, इसलिए यहाँ प्रतिकूलवर्णता दोष है ।

जैसे—

अनुवाद- **अरे क्षत्रियकुमार ! पहिले कभी भी न झुकाये जा सकने वाले शिव धनुष के दो टुकड़े कर दिये जाने से उत्पन्न क्रोध से प्रेरित भयंकर परशुराम के भुजस्तम्भ से अपविद्ध (सञ्चालित, प्रक्षिप्त) दीप्तिमान् मेरा परशु (कुठार) क्षणभर में ही तुम्हारे कण्ठपीठ का अतिथि होता है जिस परशु के कारण महादेव खण्डपरशु के नाम से प्रसिद्ध हैं ॥२१०॥**

जहाँ पर क्रोध का वर्णन नहीं है, चतुर्थपाद में उसी प्रकार के शब्दों का प्रयोग उचित है। यहाँ पर चतुर्थ चरण में परशुराम को अपने गुरु शिवजी का स्मरण होने से उनके क्रोध का शमन हो जाता है, अतः यहाँ पर शिथिल वर्णों का प्रयोग उचित ही है।

(२) उपहतविसर्गता एवं लुप्तविसर्गता

अनुवाद—उपहत-उत्व को प्राप्त (विसर्ग) तथा लुप्त विसर्ग जहाँ हो वहाँ उपहतविसर्ग तथा लुप्त विसर्ग दोष होता है। जैसे—

"इस संसार में वही राजा धीर, विनीत, निपुण और सुन्दर आकृति वाला है जिसके भृत्य (नौकर) बल से उत्सिक्त (दर्पित) भक्त और बुद्धि से प्रभावित होते हैं" ॥२११॥

विसन्धि सन्धेर्वैरूप्यम्, विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च। तत्राद्यं यथा—

राजन्! विभान्ति भवतश्चरितानि तानि
इन्दोर्द्युतिं दधति यानि रसातलेऽन्तः।
धीदोर्बले अतितते उचितानुवृत्ती
आतन्वती विजयसम्पदमेत्य भातः ॥२१२॥

यथा वा—

तत उदित उदारहारहारि द्युतिरुच्चैरुदयाचलादिवेन्दुः।
निजवंश उदात्तकान्त कान्तिर्बत मुक्तामणिवच्चकास्त्यनर्घः ॥२१३

विमर्श—यहाँ पर पूर्वार्द्ध में धीरो, विनीतो, निपुणो, वराकारो, नृपोऽत्र पदों में 'हशि च' तथा 'अतोररप्लुतादप्लुते' सूत्र से विसर्ग के स्थान पर उत्व, गुण होकर 'ओ' हो गया है, इसलिए यहाँ पर उपहतविसर्गत्व दोष है। इसी प्रकार उत्तरार्द्ध वाक्य में भृत्या, भक्ता, बलोत्सिक्ता पदों में ससजुषो रुः से रुत्व, 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' से रु को य तथा 'हलि सर्वेषाम्' से य का लोप हो गया है। इस प्रकार यहाँ लुप्तविसर्गत्व है।

(४) विसन्धि

अनुवाद—जहाँ सन्धि होनी चाहिए वहाँ सन्धि का न होना विसन्धि दोष होता है। यह विसन्धि सन्धि वैरूप्य तीन प्रकार का होता है—विश्लेष, अश्लीलता और कष्टत्व।

उनमें प्रथम विसन्धि दोष जैसे—

अनुवाद—हे राजन्! आपके वे चरित जो रसातल के भीतर भी चन्द्रमा की कान्ति को धारण करते हुए शोभित हैं और आपके अत्यन्त विस्तृत एवं उचित का अनुसरण करने वाले बुद्धिबल एवं भुजबल दोनों विजयलक्ष्मी का विस्तार करते हुए शोभित हैं ॥२१२॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में पूर्वार्द्ध में 'तानि इन्दोः' में 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र से दीर्घ सन्धि होनी चाहिए थी, किन्तु सन्धि न होने से यहाँ विसन्धि दोष है। इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में 'दोर्बले + अतितते + उचितानुवृत्ती' में 'एचोऽयवायावः' से अय् आदेश तथा 'उचितानुवृत्ती + आतन्वती' में 'इको यणचि' से यण् सन्धि 'ईदूदेद्-द्विवचनं प्रगृह्यम्' इस सूत्र से तीनों उदाहरणों में प्रगृह्यसंज्ञा और प्रकृतिभाव हो जाने से नहीं हो सकी। अतः यहाँ विसन्धि दोष है।

अथवा जैसे—

अनुवाद—(कोई सखी पतिवंश कन्या से कह रही है कि) अहो! उन्नत उदयाचल से उदित चन्द्रमा के समान उसी राजवंश से उत्पन्न तथा उदार मुक्ताहार से मनोहर और उत्कट रमणीय कान्ति वाला वह राजा अपने वंश में मुक्तामणि के समान सुशोभित है ॥२१३॥

संहितां न करोमीति स्वेच्छया सकृदपि दोषः। प्रगृह्यादिहेतुकत्वे त्वसकृत्।

वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः।
अयमुत्तपते पत्री ततोऽत्रैव रुचिङ्कुरु ॥२१४॥

अत्र सन्धावश्लीलता।

उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः।
नात्रर्जु युज्यते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाक् ॥२१५॥

'मैं सन्धि नहीं करता' इस प्रकार अपनी इच्छा से एक बार भी सन्धि न करना 'विसन्धि' दोष है और प्रगृह्यसंज्ञा आदि निमित्त से अनेक बार सन्धि न करना भी दोष है।

अनुवाद—वेग से उड़कर आकाश में उत्कट चेष्टा से चलता हुआ यह पक्षी (बाज) उत्तप्त हो रहा है अथवा चमक रहा है। इसलिए यहीं पर विहार के लिए रुचि (प्रीति) करो ॥२१४॥

यहाँ पर चलत्+डामर और रुचिम्+कुरु इन पदों में सन्धि करने पर 'चलण्डामर' में 'लण्डा' और 'रुचिङ्कुरु' में 'चिङ्कु' (स्त्री-योनि) का सूचक होने से अश्लीलता विसन्धि दोष है।

अनुवाद—यहाँ इस मरुभूमि के अन्त में (या समीप में) यह विस्तीर्ण पृथ्वी (उर्वी) और सुन्दर स्थिति वाले वृक्षों की कतारें (तर्वाली) हैं, यहाँ पर सीधे चलना ठीक नहीं है, इसलिए थोड़ा सा शिर झुका लो ॥२१५॥

विमर्श—यहाँ पर कष्टसन्धि दोष है यहाँ पर 'उर्वी+असौ=उर्व्यसौ' तरु+आली=तर्वाली, मरु+अन्ते=मर्वन्ते, चारु+अवस्थिति=चार्ववस्थितिः; न+अत्र+ऋजु=नात्रर्जु आदि पदों में सन्धि होकर शब्द कठोर एवं कठिन हो गये हैं। ये पद सुनने में तथा अर्थबोध दोनों में कष्टदायक हैं। अतः यहाँ कष्टसन्धि नामक विसन्धि दोष है।

हतं लक्षणानुसारेणाप्यश्रव्यम्। अप्राप्तगुरुभावान्तलघु, रसानुगुणं च वृत्तं यत्र तत् हतवृत्तम्। क्रमानुसारेणोदाहरणम्—

अमृतममृतं कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात्॥२१६॥

अत्र 'यदिहान्यत्स्वादु स्यात्' इत्यश्रव्यम्।

५—हतवृत्त

अनुवाद—हत (हतवृत्त) लक्षण का अनुसरण करने पर भी अश्रव्य, गुरुभाव को प्राप्त न होने वाला पादान्त लघु वर्ण से युक्त तथा रस के अननुगुण (प्रतिकूल) छन्द है जिसमें वह वाक्य हतवृत्त दोष होता है। क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं—

विमर्श—छन्दःशास्त्र के नियम के अनुसार जहाँ पर 'हत' (निन्दित) वृत्त (छन्द) का प्रयोग होता है, वह हतवृत्त कहलाता है। क्षेमेन्द्र के अनुसार वर्ण्यवस्तु और रस के अनुकूल वृत्त का प्रयोग करना चाहिए; क्योंकि रसानुकूल और वर्णनानुकूल छन्दों का प्रयोग काव्य में गुण माना जाता है। 'हतवृत्त' दोष तीन प्रकार का होता है—अश्रव्य, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु और रसाननुगुण। इनमें छन्दःशास्त्र में प्रतिपादित नियमों का (लक्षण का) अनुसरण करने पर भी सुनने में उद्वेगजनक छन्द 'अश्रव्य' होता है और जहाँ पर पाद के अन्त में प्रयुक्त लघुवर्ण गुरुत्व (गुरुभाव) को प्राप्त नहीं होता, वहाँ अप्राप्त गुरुभावान्त लघु हतवृत्त होता है। तीसरा प्रकृत रस के प्रतिकूल छन्दों का प्रयोग करना रसाननुगुण हतवृत्त दोष होता है। क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—अमृत अमृत ही है, इसमें क्या सन्देह है ? मधु (शहद) भी मीठा ही होता है, अन्य प्रकार का (अर्थात् फीका) नहीं। 'मधुर रस वाला रसाल (आम) का फल भी अधिक मीठा होता है, किन्तु रसों के मर्म (अथवा तारतम्य) को जानने वाला कोई भी व्यक्ति एक बार भी मध्यस्थ (तटस्थ) होकर यह बतला दे कि प्रिया के अधरामृत से बढ़कर संसार में अधिक स्वादु (मधुर) वस्तु क्या है ? ॥२१६॥

यहाँ पर 'वदतु यदिहान्यत्स्वादु स्यात्' यह अश्रव्य है।

विमर्श—भाव यह कि यहाँ पर 'हरिणी' छन्द है। हरिणी छन्द के प्रत्येक चरण के षष्ठ अक्षर पर यति होनी चाहिए; तदनुसार यहाँ चतुर्थ चरण में 'वदतु

यथा वा—

जं परिहरिउं तीरइ मणअं पि ण सुन्दरत्तणगुणेण ।
अह णवरं जस्स दोसो पडिपक्खेहिं पि पडिवण्णो ॥२१७॥
[यत् परिहर्त्तुं तीर्यते मनागपि न सुन्दरत्वगुणेन ।
अथ केवलं यस्य दोषः प्रतिपक्षैरपि प्रतिपन्नः ॥२१७॥]
(इतिसंस्कृतम्)

अत्र द्वितीयतृतीयगणौ सकारमकारौ ।

विकसितसहकारतारहारिपरिमलगुञ्जितपुञ्जितद्विरेफः ।
नवकिसलयचारुचामर श्रीर्हरति मुनेरपि मानसं वसन्तः ॥२१८॥

अत्र हारिशब्दः । 'हारिप्रमुदितसौरभ' इति पाठो युक्तः ।

यदिहा' के बाद यति होनी चाहिए, किन्तु लक्षण का अनुसरण होने पर भी यह षष्ठ अक्षर 'ह' अग्रिम 'अन्यत्' पद के अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है, इसलिए यतिभङ्ग होने से 'अश्रव्य' है ।

अथवा जैसे—

अनुवाद—जो अपनी सुन्दरता के गुण के कारण तनिक भी छोड़ा नहीं जा सकता, यही उसका एक दोष है जिसे प्रतिपक्षी (विरक्त) भी स्वीकार करते हैं ॥२१७॥

इस गाथा में द्वितीय (अन्त गुरु) सगण और तृतीय (आदि गुरु) भगण का प्रयोग (लक्षणानुसार होने पर भी) अश्रव्य है ।

अथवा जैसे—

अनुवाद—विकसित सहकार (आम) के उत्कट और मनोहर सौरभ से गुञ्जार करते हुए भौंरों के झुण्ड से युक्त और नवीन किसलय (नवपल्लव) रूपी सुन्दर चामर (चंवर) की शोभा से युक्त ऋतुराज वसन्त मुनियों के मन को भी हरता है ॥२१८॥

यहाँ पर 'हारि' शब्द (अप्राप्त गुरुभाव) है। यहाँ पर 'हारिप्रमुदितसौरभ' यह पाठ उचित है।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण (विकसितसहकार०) में पुष्पिताग्रा छन्द है। छन्दःशास्त्र के नियम के अनुसार (वा पादान्ते) पाद के अन्त का वर्ण विकल्प से गुरु होता है। यहाँ पर प्रथम चरण 'विकसितसहकारतारहारि' में अन्तवर्ण 'रि' स्वरूपतः लघुवर्ण है किन्तु 'पादान्तस्थं विकल्पेन' इस नियम के अनुसार उसे गुरु माना जाता है। फिर भी यहाँ 'रि' यह लघुवर्ण गुरुस्वरूप कार्य-निर्वहन में असमर्थ है। इसलिए यहाँ लगाशैथिल्य होने से 'हतवृत्त' नामक दोष है।

यथा वा—

अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्यैव सा
सम्भाराः खलु तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा।
श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात् स्त्रीणां नितम्बस्थलात्
दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च ॥२१९॥

अत्र 'वस्त्राण्यपि' इति पाठे लघुरपि गुरुतां भजते।

हा नृप ! हा बुध ! हा कविबन्धो ! विप्र सहस्रसमाश्रय ! देव !
मुग्ध ! विदग्ध ! सभान्तररत्न ! क्वासि गतः क्व वयं च तवैते ॥२२०॥

हास्यरसव्यञ्जकत्वमेतद्वृत्तम्।

अथवा जैसे—

अनुवाद—वह गुणरूपी रत्नों को उत्पन्न करने वाली भूमि कुछ और ही (विलक्षण) है और वह मिट्टी भी कुछ और ही है तथा अन्य सामग्रियाँ (उपकरण) भी कुछ और ही हैं, जिनके द्वारा विधाता ने इस युवक की सृष्टि की जिसके देखते ही मूढ़ (मुग्ध, मोहित) मन वाले समृद्ध एवं कान्तियुक्त शत्रुओं के हाथ से अस्त्र और सौभाग्यवती कान्तियुक्त सुन्दरियों के नितम्ब-स्थल से वस्त्र गिर जाते हैं ॥२१९॥

यहाँ पर 'वस्त्राण्यपि' पाठ होने पर लघु भी गुरु हो जाता है।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण 'अन्यास्ता०' में शार्दूलविक्रीडित छन्द है। छन्दः-शास्त्र के लक्षण के अनुसार उक्त छन्द के प्रत्येक पाद का अन्तिम वर्ण गुरु होना चाहिए; किन्तु चतुर्थ पाद का अन्तिम वर्ण 'च' लघु है। यद्यपि 'पादान्तस्थं विकल्पेन' इस नियम के अनुसार वह गुरु हो सकता है किन्तु 'च' वर्ण-शैथिल्य के कारण गुरुत्व रूप कार्य-निर्वहन में असमर्थ है। इसके स्थान पर यदि 'वस्त्राण्यपि' यह पाठ रख दिया जाता है तो अन्तिम वर्ण 'पि' के लघु होने पर भी संयुक्त अक्षर से परे होने से बन्ध-दार्ढ्य आ जाने के कारण गुरुत्वकार्य निर्वहन में समर्थ हो जाता है और दोष नहीं रहता।

अनुवाद—हा राजन् ! हा बुध ! हा कविबन्धो ! हा हजारों ब्राह्मण के आश्रय ! हा देव ! हा मुग्ध ! हा विदग्ध ! हा सभारत्न ! आप कहाँ चले गये और आपके ही हम कहाँ रह गये हैं ॥२२०॥

यह हास्यरस का व्यञ्जक वृत्त है।

(६) न्यूनपदं यथा---

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ।।२२१।।

अत्रास्माभिरिति, 'खिन्ने' इत्यस्मात्पूर्वमित्थमिति च ।

(७) अधिकं यथा—

स्फटिकाकृतिनिर्मलः प्रकामं प्रतिसङ्क्रान्तनिशातशास्त्रतत्त्वः ।
अविरुद्धसमन्वितोक्तियुक्तः प्रतिमल्लनास्तमयोदयः स कोऽपि ।।२२२।।

अत्राकृतिपदः

विमर्श—इस उदाहरण में करुण रस प्रधान है, अतः करुण रस के अनुकूल मन्दाक्रान्ता आदि छन्दों का प्रयोग होना चाहिए था; किन्तु कवि ने यहाँ पर करुण रस के प्रतिकूल 'दोधक' छन्द का प्रयोग किया है जो हास्य रस का व्यंजक है। अतः यहाँ रसाननुगुण होने से हतवृत्त दोष है ।

६—न्यूनपद

न्यूनपद दोष का उदाहरण जैसे---

अनुवाद---राजसभा में इस प्रकार (दुःशासन द्वारा वस्त्र खींचे जाते हुए) द्रौपदी को देखकर और वन में वल्कल धारण किये हुए व्याधों के साथ चिरकाल तक रहना तथा विराट के घर पाचकादि अनुचित कार्य करते हुए गुप्त आवास (देखकर भी) गुरु युधिष्ठिर आज भी खिन्न मुझ भीम पर क्रोध करते हैं, कौरवों पर नहीं ।।२२१।।

यहाँ पर 'अस्माभिः' यह पद और 'खिन्ने' इससे पहिले 'इत्थं' यह पद (न होने से न्यूनपदत्व दोष है) ।

विमर्श—भाव यह कि यहाँ पर 'वल्कलधरैः' के विशेष्य रूप में तथा 'उषितम्' एवं 'स्थितम्' इन क्रियापदों के कारकरूप में 'अस्माभिः' पद अपेक्षित है और चतुर्थ चरण में 'खिन्ने' के पूर्व 'इत्थम्' पद का प्रयोग भी अपेक्षित है । इस प्रकार यहाँ न्यूनपदत्व दोष है ।

७—अधिकपद दोष

अनुवाद --स्फटिकमणि के समान निर्मल (चित्त) गूढ़ शास्त्र के तत्त्वों से प्रतिबिम्बित (हृदय), (लोक-शास्त्रादि के) अविरुद्ध और समन्वित उक्तियों से युक्त तथा प्रतिवादियों को पराजित करने वाला वह कोई महापुरुष है ।।२२२।।

यहाँ पर 'आकृति' पद अधिकपद है ।

यथा वा—

इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां यदिह जरास्वपि मान्यथा विकाराः ।
यदपि च न कृतं नितम्बिनीनां स्तनपतनावधि जीवितं रहं वा ।।२२३।।

अत्र कृतमिति 'कृतं' प्रत्युत प्रक्रमभङ्गमावहति । यथा 'यदपि च न कुरङ्गलोचनानाम्' इति पाठे निराकांक्षैव प्रतीतिः ।

(८) कथित पदं यथा—

अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापलीला-
परिमिलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली ।
सुतनु ! कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव
स्मरनरपतिलीला यौवराज्याभिषेकम् ।।२२४।।

अत्र लीलेति ।

विमर्श—जहाँ पर अविवक्षित अर्थ के वाचक किसी शब्द का प्रयोग होता है वहाँ अधिकपदत्व होता है (उपात्ताविवक्षितार्थवाचकपदत्वमधिकपदत्वम्) यहाँ पर 'स्फटिकाकृतिनिर्मलः' में 'आकृति' पद अविवक्षित है। यहाँ 'स्फटिकनिर्मलः' इतना ही पर्याप्त है। अतः अविवक्षित अर्थ का वाचक 'आकृति' पद यहाँ अधिक है। अतः 'अधिकपदता' दोष है।

अथवा जैसे—

अनुवाद—इस संसार में मनुष्यों के बुढ़ापे में भी जो कामज विकार होते हैं यह अनुचित और अक्रम (शास्त्रविरुद्ध) हैं और यह भी (अनुचित है) जो रमणियों का जीवन और सुरत स्तनों के शिथिल होने तक ही बनाया है ।।२२३।।

यहाँ पर 'कृतम्' यह पद अधिक है। यहाँ 'कृतम्' पद 'प्रक्रमभङ्ग' दोष भी उत्पन्न कर रहा है। और जैसे—'यदपि च न कुरङ्गलोचनानाम्' यह पाठ रखने पर निराकांक्ष ही प्रतीति होती है।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में तृतीय पाद में 'कृतम्' पद अधिक है, क्योंकि वहाँ इसके न होने पर भी पूर्वार्द्ध की भाँति 'जीवन' और 'सुरत' की प्रतीति निराकांक्ष रूप से हो रही है। इसके अतिरिक्त यहाँ प्रक्रमभङ्ग दोष भी हो जाता है; क्योंकि पूर्वार्द्ध में कामज विकार के अनौचित्य का प्रतिपादन है किन्तु उत्तरार्द्ध में 'जीवन' और 'सुरत' का स्तन-पतन पर्यन्त न बनाने का अनौचित्य कहा गया है। इसलिए यहाँ 'प्रक्रमभङ्ग' दोष है।

८—कथितपद दोष

अनुवाद—हे सुतनु ! यह बताओ कि करतल रूपी शय्या पर शयन-लीला के कारण रगड़ से अपनी पीलिमा (पीलापन, पाण्डुता) का परित्याग करती हुई तुम्हारी कपोलस्थली शीघ्र ही कामदेव रूपी राजा की लीला के यौवराज्य पद पर किस युवक के अभिषेक को अभिव्यक्त करती है ।।२२४।।

यहाँ पर 'लीला' यह कथित पद है।

(९) पतत्प्रकर्षं यथा—

क: क: कुत्र न घुर्घरायितधुरीघोरो घुरेत्सूकर:
क: क: कं कमलाकरं विकमलं कर्त्तुं करी नोद्यत:।
के के कानि वनान्यरण्यमहिषा नोन्मूलयेयुर्यत:
सिंहीस्नेहविलासबद्धवसति: पञ्चाननो वर्त्तते ॥२२५॥

(१०) समाप्तपुनरात्तं यथा—

क्रेङ्कार: स्मरकार्मुकस्य सुरतक्रीड़ापिकीनां रवो
झङ्कारो रतिमञ्जरीमधुलिहां लीलाचकोरीध्वनि:।
तन्व्या: कञ्चुलिकापसारणभुजाक्षेपस्खलत्कङ्कण-
क्वाण: प्रेम तनोतु वो नववयो लास्याय वेणुस्वन: ॥२२६॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'लीला' पद प्रथम और चतुर्थ चरण में बिना प्रयोजन के दो बार प्रयुक्त हुआ है। अत: यहाँ कथितपद या पुनरुक्त दोष है।

९—पतत्प्रकर्ष दोष

अनुवाद—(क्योंकि आज) जब सिंह सिंहिनी के प्रेमविलास में लिप्त रहने से एकस्थान में बँध गया है इसलिए घुर्घुर शब्द करने वाली नाक से भयङ्कर कौन-कौन सुअर कहाँ-कहाँ नहीं घुर्घुरायेगा? कौन-कौन हाथी किस-किस कमलवन को कमलरहित करने को उद्यत नहीं होगा? कौन-कौन से जंगली भैंसे किस-किस वन का उन्मूलन नहीं कर देंगे ॥२२५॥

विमर्श—जहाँ पर अलंकारकृत अथवा बन्ध-विन्यास सम्बन्धी उत्कर्ष का उत्तरोत्तर पतन हो वहाँ पतत्प्रकर्ष दोष होता है। यहाँ पर सूकरवर्णन की अपेक्षा गजवर्णन और गजवर्णन की अपेक्षा सिंहवर्णन में बन्धकृत और अनुप्रासकृत प्रकर्ष का उत्तरोत्तर पतन (ह्रास) प्रतीत हो रहा है। इससे कवि की अशक्ति के उन्नयन के साथ श्रोता (पाठक) में वैरस्य उत्पन्न होना पतत्प्रकर्ष दोष है।

१०—समाप्त पुनरात्त दोष

अनुवाद—जो शब्द कामदेव के धनुष का टङ्कार है, सुरत-क्रीड़ा रूप कोयलों की कूक है, रति रूप मञ्जरी के भौंरों की गुञ्जार है, प्रणयलीला रूप चकोरी की ध्वनि है तथा नवयौवन को नचाने के लिए वंशी की ध्वनि है, कृशाङ्गी रमणी की चोली उतारते समय भुजाओं के हिलने से क्वणित कङ्कणों की वह ध्वनि तुम्हारे प्रेम की वृद्धि करे ॥२२६॥

विमर्श—यहाँ पर 'क्रेङ्कार:' से प्रारम्भ कर 'क्वाण: प्रेम तनोतु व:' यहाँ तक वाक्य समाप्त हो जाता है फिर 'क्वाण:' के विशेषणरूप में 'नववयो लास्याय वेणुस्वन:'

(११) द्वितीयार्धगतैकवाचक शेषप्रथमार्धं यथा—

मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा
विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि धर्मः कठोरः ।
तदिति जनकपुत्री लोचनैरश्रुपूर्णैः
पथि पथिकवधूभिर्वीक्षिता शिक्षिता च ॥२२७॥

(१२) अभवन्मतः (इष्टः) योगः (सम्बन्धः) यत्र तत् । यथा—

येषां तास्त्रिदशेभदानसरितः पीताः प्रतापोष्मभि-
र्लीलापानभुवश्च नन्दनवनच्छायासु यैः कल्पिताः ।
येषां हुङ्कृतयः कृतामरपतिक्षोभाः क्षपाचारिणां
किन्तैस्त्वत्परितोषकारि विहितं किञ्चित्प्रवादोचितम् ॥२२८॥

का कथन मात्र एक विशेषण की वृद्धि करता है जो किसी आकांक्षा की पूर्ति करता नहीं दिखाई देता, इसलिए यह 'समाप्तपुनरात्त' दोष का उदाहरण है ।

११—अर्धान्तरैकपद दोष

अनुवाद—(वन जाते समय) मार्ग में पथिक वधुओं ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से जनकपुत्री सीता को देखा और समझाया कि कुश के अंकुरों से युक्त भूमि पर धीरे-धीरे पैर रखकर चलना और धूप तेज हो रही है, इसलिए अंचल (साड़ी का पल्ला) रख लेना ॥२२७॥

विमर्श—यहाँ पर श्लोक के पूर्वार्द्ध का वाक्य उत्तरार्द्ध के तृतीय चरण में आये हुए 'तद्' पद की आकांक्षा रखता है जिसके बिना वह अपूर्ण लग रहा है। 'कुशपूर्ण कठोर भूमि पर धीरे से चलो और धूप तेज है इसलिए सिर पर आंचल डाल लो' इस प्रकार हेतु रूप 'तत्' पद का प्रयोग पूर्वार्द्ध वाक्य में होना चाहिए था, किन्तु इस पद का उत्तरार्द्ध में प्रयोग होने से यहाँ अर्धान्तरैकपदता दोष है।

१२—अभवन्मतयोग

अनुवाद—जहाँ पर अभीष्ट (इष्ट) सम्बन्ध विद्यमान न हो, वहाँ पर अभवन्मत दोष होता है। अभवन्मतयोग जिन कारणों से होता है वे छः हैं—(१) विभक्तिभेद (२) न्यूनता (३) आकांक्षाविरह (४) वाच्य तथा व्यङ्ग्य में विवक्षित सम्बन्ध का अभाव (५) समासच्छन्नता (६) व्युत्पत्ति-विरोध ।

अनुवाद—हे महाराज ! जिन राक्षसों के प्रताप की ऊष्मा ने देवगज ऐरावत के मद जल की सरिता को पी लिया (सुखा डाला), तथा जिन राक्षसों ने नन्दनवन की छाया में मद्यपान की लीलाभूमि बना डाली और जिन राक्षसों की हुङ्कारों ने सुरपति इन्द्र को भी क्षुब्ध कर दिया, क्या उन राक्षसों ने तुम्हारे लिए सन्तोषजनक तथा कुछ कहने योग्य कार्य को किया ? ॥२२८॥

अत्र 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्' इत्युक्तनयेन यच्छब्दनिर्देश्यानामर्थानां परस्परमसमन्वयेन यैरित्यत्र विशेष्यस्याप्रतीतिरिति। क्षपाचारिभिः' इति पाठे युज्यते समन्वयः।

यथा वा—

त्वमेवं सौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः
कलानां सीमानं परमिह युवामेव भजथः।
अपि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिति सुभगे संवदति वां
अतः शेषं यत्स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया ।।२२९।।

अत्र यदित्यत्र तदिति, तदानीमित्यत्र यदेति वचनं नास्ति चेत्स्यादिति युक्तः पाठः।

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ पर 'गुणों (अप्रधान विशेषण रूप पदार्थों) का 'परार्थ अर्थात् प्रधानापेक्षित होने के कारण दो समान पदार्थों का परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) नहीं होता। इस न्याय के अनुसार 'यत्' शब्द से निर्देश्य अर्थों का परस्पर समन्वय न होने से 'यैः' इस पद में विशेष्य की प्रतीति नहीं होती और 'क्षपाचारिभिः' इस प्रकार का पाठ कर देने पर समन्वय हो जाता है।

विमर्श—यहाँ पर विशेषणरूप 'यैः' इस तृतीयान्त पद का विशेष्यरूप 'क्षपाचारिणाम्' के साथ सम्बन्ध विवक्षित है किन्तु यहाँ विभक्ति भेद के कारण तृतीयाविभक्त्यन्त 'यैः' (विशेषण पद का षष्ठी विभक्त्यन्त) क्षपाचारिणाम् विशेष्य के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार यहाँ पर अभवन्मतयोग नामक दोष है। यदि 'क्षपाचारिणाम् के स्थान पर 'क्षपाचारिभिः' पाठ हो जाता है तो सम्बन्ध बन जाने से दोष नहीं रहेगा।

अथवा जैसे—

अनुवाद—हे सुन्दरि। तुम ऐसी सौन्दर्यशालिनी हो और वह भी सुन्दरता के लिए विख्यात है। तुम दोनों ही कलाओं की चरम सीमा पर पहुँचे हो। सौभाग्य से तुम दोनों की जोड़ी भी अच्छी मिली है। इसलिए जो शेष है यदि वह भी मिल जाय तो तुमने गुणवत्ता से संसार में विजय प्राप्त कर ली ।।२२९।।

'यहाँ पर 'यत्' इसके साथ 'तत्' तथा 'तदानीम्' के साथ 'यदा' का प्रयोग नहीं किया गया है। यदि 'यत्' के स्थान पर 'चेत्स्यात्' पाठ होता तो उचित पाठ होता। इस प्रकार इनका उद्देश्य विधेय भाव रूप सम्बन्ध न बनने से अभवन्मतयोग रूप दोष है।

यथा वा—

सङ्ग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते।
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम्।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं।
तेन त्वं भवता च कीर्त्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥२३०॥

अत्राकर्णनक्रियाकर्मत्वे कोदण्डं शरानित्यादि वाक्यार्थस्य कर्मत्वे कोदण्डः शरा इति प्राप्तम्। न च यच्छब्दार्थस्तद्विशेषणं वा कोदण्डादि। न च केन केनेत्यादि प्रश्नः।

अथवा जैसे—

अनुवाद—हे राजन्! सङ्ग्राम भूमि में आपके आ जाने से और धनुष पर डोरी चढ़ा लेने पर जिस जिसने जो जो प्राप्त किया उसे सुनें। धनुष ने बाणों को, बाण ने शत्रुओं के शिर को, शत्रुओं के शिर ने भूमण्डल को, भूमण्डल ने आपको, आपने कीर्त्ति को और कीर्त्ति ने तीनों लोक को प्राप्त किया ॥२३०॥

यहाँ पर कोदण्ड, शर आदि पदों को 'आकर्णय' क्रिया का कर्म मानने पर उसमें द्वितीया विभक्ति होनी चाहिए (कोदण्डान्, शरानित्यादि) और वाक्यार्थ को कर्म मानने पर प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा विभक्ति होनी चाहिए (कोदण्डः, शराः इत्यादि)। यदि यह कहा जाय कि 'यत्' शब्द को बुद्धिस्थ कोदण्ड आदि समस्त पदार्थों का वाचक मानकर 'यत्' पदार्थ का क्रिया के साथ सम्बन्ध होने से 'यत्' पद से बुद्धिस्थ कोदण्डादि का भी ग्रहण हो जायगा। इस पर कहते हैं कि कोदण्डादि 'यत्' शब्द के अर्थ नहीं हैं क्योंकि उन दोनों के अर्थों में अभेद सम्बन्ध नहीं है।

इसके अतिरिक्त कोदण्डादि को यत् शब्द का विशेषण अथवा 'यत्' शब्द को कोदण्डादि का विशेषण भी नहीं माना जा सकता क्योंकि यदि इनमें विशेषण-विशेष्यभाव माना जायगा तो पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध का सम्बन्ध ही नहीं बनेगा।

इनके अतिरिक्त एक बात और है कि यदि येन येन सहसा यद्यत्समासादितम् के स्थान पर 'केन केन किं किं समासादितम्' पाठ मान लिया जाता है तो दोष हट जाता है; किन्तु ऐसा पाठ न होने से अभवन्मतयोग रूप दोष बना ही रहता है।

यथा वा—

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्त्तिकेयो विजेयः
शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः।
अस्त्येवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां
बद्धस्पर्द्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ॥२३१॥

इत्यादौ भार्गवस्य निन्दायां तात्पर्यम्। 'कृतवता' इति परशौ सा प्रतीयते। 'कृतवतः' इति तु पाठे मतयोगो भवति।

यथा वा—

चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान् कर्मोपदेष्टा हरिः
सङ्ग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः पत्नी गृहीतव्रता।
कौरव्याः पशवः प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलं
राजन्योपनिमन्त्रणाय रसति स्फीतं हतो दुन्दुभिः ॥२३२॥

अत्राध्वरशब्दः समासे गुणीभूत इति न तदर्थः सर्वैः संयुज्यते।

अथवा जैसे—

अनुवाद—हे परशुराम! त्रिपुरविजयी शिव तुम्हारे धनुर्विद्या के आचार्य हैं, तुमने कार्त्तिकेय पर विजय प्राप्त करली है, शस्त्र द्वारा उत्क्षिप्त समुद्र तुम्हारा घर है, यह भूमि षोडशग्रासात्मक अतिथि भिक्षा है, यह सब ठीक है किन्तु रेणुका का गला काटने वाले तुम्हारे परशु की स्पर्धा करने में मेरी तलवार लजा रही है ॥२३१॥

यहाँ पर भृगुवंशी परशुराम की निन्दा में तात्पर्य है, किन्तु 'परशुना' पद के विशेषण रूप 'कृतवता' इस तृतीयान्त पद से 'परशु' की ही निन्दा प्रतीत हो रही है। किन्तु यह अर्थ विवक्षित न होने से अनभिमत है, अतः यहाँ अभवन्मतसम्बन्ध दोष है। किन्तु यदि 'कृतवता' के स्थान पर 'कृतवतः' पाठ हो जाता है तो सम्बन्ध बन जाता है और दोष नहीं रहता।

अथवा जैसे—

अनुवाद—इस समरयज्ञ में हम चारों भाई ऋत्विज हैं, कर्त्तव्य (कर्म) का उपदेश देने वाले भगवान् कृष्ण (ब्रह्मा) हैं, सङ्ग्राम रूपी यज्ञ में दीक्षित महाराज युधिष्ठिर यजमान हैं और पत्नी द्रौपदी व्रतग्रहण करने वाली यजमान-पत्नी है। कौरव पशु हैं, प्रिया द्रौपदी के अपमान रूप क्लेश की शान्ति फल है। राजाओं को निमन्त्रित करने के लिए बजाया गया यह दुन्दुभि (नगाड़ा) शब्द कर रहा है ॥२३२॥

यहाँ पर 'अध्वर' शब्द (सङ्ग्रामाध्वरदीक्षिताः) समास में पड़ जाने से गौण (अप्रधान) हो गया है। इसलिए इसका अर्थ ऋत्विक् आदि के साथ अन्वित (सम्बद्ध) नहीं है, इसलिए यहाँ अभवन्मतयोग दोष है।

यथा वा—

जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकरालः
प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मञ्जुमञ्जीरभृङ्गः।
भर्तुर्नृत्तानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी—
सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः ॥२३३॥

अत्र दण्डपादगता निजतनुः प्रतीयते, भवान्याः सम्बन्धिनी तु विवक्षिता।

(१३) अवश्यवक्तव्यमनुक्तं यत्र यथा—

अप्राकृतस्य चरितातिशयैश्च दृष्टै—
रत्यद्भुतैरपहृतस्य तथापि नास्था।
कोऽप्येष वीरशिशुकाकृतिरप्रमेय—
सौन्दर्यसारसमुदायमयः पदार्थः ॥२३४॥

अत्र 'अपहृतोऽस्मि' इत्यपहृतत्वस्य विधिर्वाच्यः। 'तथापि' इत्यस्य द्वितीयवाक्यगतत्वेनैवोपपत्तेः।

अनुवाद—अपने पति शिवजी के नृत्त का अनुकरण करते समय सुन्दर जङ्घाकाण्ड रूपी बड़े-बड़े नाल वाला, नख की किरणरूपी केसर की पंक्ति से नतोन्नत, तुरन्त लगाये हुए महावर की शोभा के विस्ताररूप कोमल किसलयों वाला, नूपुररूपी भौंरों से विभूषित तथा अपने शरीर के निर्मल सौन्दर्यरूपी बावड़ी में उत्पन्न कमल की शोभा को धारण करता हुआ, ऊपर उठाया हुआ पार्वती का कोमल चरण विजयी है अर्थात् अधिक उत्कर्षशाली है ॥२३३॥

यहाँ पर 'निजतनु' शब्द 'दण्डपाद' से अन्वित प्रतीत हो रहा है। किन्तु भवानी के साथ उसका सम्बन्ध विवक्षित है। इसलिए यहाँ अभवन्मतयोग दोष है।

१३—अनभिहितवाच्य दोष

अनुवाद—जहाँ पर अवश्य कहने योग्य पद अनुक्त (न कहा जाय) वहाँ 'अनभिहितवाच्य' दोष होता है। जैसे—

"असाधारण व्यक्तित्व वाले राम के देखे हुए तथा सुने हुए अद्भुत चरित से वशीभूत होकर भी विश्वास नहीं होता कि (धनुष को राम ने तोड़ा है) वस्तुतः यह कोई वीर बालक के रूप में अद्वितीय सौन्दर्यसार के समुदाय रूप कोई पदार्थ है ॥२३४॥

यहाँ पर 'अपहृतोऽस्मि' इस प्रकार अपहृतत्व की विधि का कथन करना चाहिए था। 'तथापि' इस पद के द्वितीय वाक्यगत रूप से ही उत्पन्न होने से (प्रथम वाक्य को 'अपहृतोऽस्मि' इस प्रकार कहना चाहिए था)।

यथा वा—

एषोऽहमद्रितनयामुखपङ्कजन्मा प्राप्तः सुरासुरमनोरथदूरवर्त्ती ।
स्वप्ने निरुद्धघटनाधिगताभिरूपलक्ष्मीफलामसुरराजसुतां विधाय ॥२३५॥

अत्र मनोरथानामपि दूरवर्त्तीत्यर्थो वाच्यः ।

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणयभङ्गपराङ्मुखचेतसः ।
कमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि मानिनि दासजनं यतः ॥२३६॥

अत्र 'अपराधस्य लवमपि' इति वाच्यम् ।

विमर्श— भाव यह कि 'तथापि' पद का प्रयोग पूर्ववाक्य में 'यद्यपि' या तदर्थवाचक किसी पद की अपेक्षा रखता है। इसलिए यहाँ दो वाक्यों का होना आवश्यक है । अतः यहाँ पर 'यद्यप्यपहृतोऽस्मि तथापि नास्था' इस प्रकार वाक्य रख कर ही 'अपहृतत्व' को विधेय रूप में कहना चाहिए था, ऐसा न होने से यहाँ 'अनभिहितवाच्य' दोष है ।

अथवा जैसे—

अनुवाद— पार्वती के मुखकमल से उत्पन्न और देव तथा दानवों के मनोरथ से भी दूर रहने वाला यह मैं असुरराज (बाणासुर) की कन्या उषा को स्वप्न में अनिरुद्ध के समागम से सौन्दर्य का फल प्राप्त कराकर लौट आया हूँ ॥२३५॥

यहाँ पर मनोरथों के भी 'दूरवर्त्ती यह अर्थ कहना चाहिए था ।

विमर्श—यहाँ पर 'सुरासुरमनोरथदूरवर्त्ती' के स्थान पर 'सुरासुरमनोरथानामपि सुदूरवर्त्ती' यह प्रयोग करना चाहिए था; क्योंकि 'अपि' शब्द के प्रयोग के बिना समुच्चय का अभिप्राय नहीं निकल सकता, यहाँ पर 'अपि' पद का प्रयोग नहीं है इसलिए 'अनभिहितवाच्य' दोष है ।

अनुवाद—हे मानिनि ! तुम पर दृढ़ अनुराग रखने वाले, प्रिय बोलने वाले, तथा प्रणय-भंग में विमुख चित्त वाले मेरे किस लेशमात्र अपराध को देख रही हो जिससे इस दास (सेवक) को छोड़ रही हो ॥२३६॥

यहाँ पर 'अपराधस्य लवमपि' यह कहना चाहिए था ।

विमर्श—यहाँ पर 'क्या मेरा लेशमात्र भी अपराध देखती हो' यह अर्थ विवक्षित है किन्तु यहाँ 'अपि' शब्द का प्रयोग न होने से 'अपराध-लेश को नहीं, बल्कि महान् अपराध को देख रही हो' यह अर्थ ध्वनित हो रहा है । इसलिए यहाँ 'अनभिहितवाच्य' दोष है ।

(१४) अस्थानस्थपदं यथा—

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसन्निधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुषु ।।२३७।।

अत्र 'काचिन्न विजहौ' इति वाच्यम्।

यथा वा—

लग्नः केलिकचग्रहश्लथजटालम्बेन निद्रान्तरे
मुद्राङ्कः शितिकन्धरेन्दुशकलेनान्तः कपोलस्थलम्।
पार्वत्या नखलक्ष्मशङ्कितसखीमर्मस्मितह्रीतया
प्रोन्मृष्टः करपल्लवेन कुटिलाताम्रच्छविः पातु वः ।।२३८।।

अत्र 'नखलक्ष्म' इत्यतः पूर्वं 'कुटिलाताम्र०' इति वाच्यम्।

१४—अस्थानस्थपद दोष

अनुवाद—किसी नायिका ने सौत के सामने प्रियतम के द्वारा गूंथकर स्थूल स्तन वाले वक्षःस्थल पर पहनायी गई माला को (जलक्रीड़ा में) जल से भीग जाने से मलिन होने पर भी फेंका नहीं। क्योंकि गुण तो प्रेम में रहते हैं, वस्तु में नहीं ।।२३७।।

यहाँ पर 'काचिन्न विजहौ' यह कहना चाहिए था।

विमर्श—यहाँ पर 'न काचिद्विजहौ' में 'न' पद का प्रयोग 'काचित्' के साथ होने से 'एक ने नहीं, सबने फेंक दिया' यह अर्थ ध्वनित होता है, किन्तु यह यहाँ विवक्षित नहीं है। वस्तुतः 'नञ्' पद जिसके साथ प्रयुक्त होता है उसी का निषेध करता है। यहाँ पर 'नञ्' का प्रयोग 'काचित्' के बाद होना चाहिए था (काचिन्न विजहौ)। तब इसका अर्थ होता कि 'किसी ने फेंका नहीं' और यही अर्थ यहाँ विवक्षित है, किन्तु यहाँ पर 'न' का 'काचित्' के पूर्व में प्रयोग होने से अस्थानपदता दोष है।

अथवा जैसे—

अनुवाद—काम-क्रीड़ा में केश-ग्रहण के कारण शिथिल जटाजूट लटके हुए नीलकण्ठ महादेव के चन्द्रखण्ड (चन्द्रकला) से सोते समय पार्वती के कपोलस्थल पर मुद्राङ्कित अर्थात् वक्र एवं कुछ लाल छाप को देखकर नख-क्षत समझने वाली सखियों के मुस्कान से लजायी हुई पार्वती के कर पल्लव से मिटाया हुआ (पोंछा गया) चिह्न (छाप) तुम्हारी रक्षा करे ।।२३८।।

यहाँ पर 'नखलक्ष्म' इसके पूर्व 'कुटिलाताम्र०' कहना चाहिए था।

विमर्श—यहाँ पर 'कुटिलाताम्रच्छविः' पद का अनुपयुक्त स्थान पर प्रयोग है। वस्तुतः इसे 'नखलक्ष्म०' के पहिले प्रयुक्त करना चाहिए था, जिसमें 'नखक्षत की शङ्का' और 'वक्र एवं कुछ लाल चन्द्रकला की छाप' में हेतुहेतुमद्भाव की प्रतीति हो जाती। किन्तु यहाँ उक्त प्रकार से प्रयोग न होने से 'अस्थानस्थपदता' दोष है।

(१५) अस्थानस्थसमासम् । यथा—

अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः ।
प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात्
फुल्लत्कैरवकोशनिःसरदलिश्रेणीकृपाणं शशी ॥२३९॥

अत्र क्रुद्धस्योक्तौ समासो न कृतः । कवेरुक्तौ तु कृतः ।

(१६) सङ्कीर्णं यत्र वाक्यान्तरस्य पदानि वाक्यान्तरमनुप्रविशन्ति । यथा—

किमिति न पश्यसि कोपं पादगतं बहुगुणं गृहाणेमम् ।
ननु मुञ्च हृदयनाथं कण्ठे मनसस्तमोरूपम् ॥२४०॥

अत्र 'पादगतं बहुगुणं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि, इमं कण्ठे गृहाण, मनसस्तमोरूपं कोपं मुञ्च' इति । एकवाक्यतायां तु क्लिष्टमिति भेदः ।

१५—अस्थानस्थसमास दोष

अनुवाद—आज भी स्तन रूपी पर्वतों के कारण दुर्गम स्त्रियों के हृदय में यह मान बैठना चाहता है। धिक्कार है, यह सोचकर मानो क्रोध के कारण कुछ लाल सा उदित होता हुआ चन्द्रमा दूर तक करों (किरणों) को फैलाये हुए तुरन्त खिली हुई कुमुदिनी के कोश से निकलती हुई भ्रमर पंक्ति रूपी कृपाण (तलवार) को खींच रहा है ॥२३९॥

यहाँ पर क्रुद्ध चन्द्रमा की उक्ति में समास नहीं किया गया है और कवि की उक्ति में किया है।

विमर्श—यहाँ पर पूर्वार्द्ध में क्रुद्ध चन्द्रमा की उक्ति है इसलिए यहाँ समास करना उचित था, क्योंकि क्रोध के भाव के प्रदर्शन में दीर्घसमासता और विकट बन्धता का औचित्य प्रतिपादित है किन्तु उत्तरार्द्ध में कवि की उक्ति में दीर्घ समास किया गया है जो अनपेक्षित (अनुचित) है। इस प्रकार अनुचित स्थान पर समास का प्रयोग होने से यहाँ पर 'अस्थानस्थसमास' दोष है।

१६—सङ्कीर्णता दोष

अनुवाद—जहाँ पर एक वाक्य के पद दूसरे वाक्य में प्रविष्ट हो जाते हैं वहाँ संकीर्णत्व दोष होता है। जैसे—

"(मानिनी नायिका से उसकी सखी कहती है कि) हे मानिनि ! पैरों पर पड़े हुए, अत्यन्त गुणवान् प्राणनाथ को क्यों नहीं देखती हो। मन के तमोरूप कोप (मान) छोड़ो और हृदयनाथ को गले लगा लो ॥२४०॥

(१७) गर्भितं यत्र वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरमनुप्रविशति। यथा—

परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह सङ्गतिः।
वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन ॥२४१॥

अत्र तृतीयपादो वाक्यान्तरमध्ये प्रविष्टः।

यथा वा—

लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता।
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्त्तिः ॥२४२॥

यहाँ पर 'पादगतं बहुगुणं हृदयनाथं किमिति न पश्यसि' यह एक वाक्य है, 'इसे गले लगाओ' यह दूसरा वाक्य है और 'मन के तमोगुणरूप मान को छोड़ो' यह तीसरा वाक्य है। यहाँ तीनों वाक्यों में एक वाक्य के पद दूसरे वाक्य में चले गये हैं। यहाँ पर 'प्रथम वाक्य का 'हृदयनाथ' पद तीसरे वाक्य में चला गया है और तृतीय वाक्य का 'कोप' पद प्रथम वाक्य में चला आया है। इसी प्रकार दूसरे वाक्य का 'कण्ठे' पद तृतीय वाक्य में चला गया है। इस प्रकार यहाँ एक वाक्य के पद का दूसरे वाक्य में प्रविष्ट होने से 'सङ्कीर्णता' दोष है।

१७—गर्भित दोष

अनुवाद—जहाँ पर एक वाक्य के पद दूसरे वाक्य में प्रविष्ट हो जाते हैं वहाँ संकीर्णत्व दोष होता है। जैसे—

"मैं तुमसे तत्त्व की बात कहता हूँ कि दूसरे के अपकार में रत दुर्जन पुरुषों के साथ कभी भी संगति नहीं करनी चाहिए ॥२४१॥

यहाँ पर तृतीय पाद दूसरे वाक्य के मध्य में प्रविष्ट हो गया है।

विमर्श—यहाँ पर 'परापकारनिरतैः दुर्जनैः सह सङ्गतिर्न विधेया' इस वाक्य के मध्य में 'वदामि भवतस्तत्त्वं' यह वाक्य प्रविष्ट हो गया है, अतः यहाँ सन्देह हो जाता है कि दुर्जन-सङ्गति अश्लाघ्य है या श्लाघ्य ? अतः यहाँ पर गर्भितत्व दोष है।

अथवा जैसे—

अनुवाद—(राजलक्ष्मी ने कीर्ति को दूती बनाकर अपने पिता समुद्र के पास उलाहना देने के लिए भेजा था। कीर्त्ति समुद्र के पास जाकर कहती है कि) हे सागर ! मेरी सौत असियष्टि (तलवार) अनुराग से पूर्ण (दूसरे पक्ष में राग-रक्त से रञ्जित) शत्रुओं के गले में लग जाती है, जिसे पर-पुरुषों ने

अत्र 'विदितं तेऽस्तु' इत्येतत्कृतम्। प्रत्युत लक्ष्मीस्ततोऽपसरतीति विरुद्धमतिकृत्।

(१८) मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजितप्रभृति।
स्तनितमणितादिसुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम्॥

इति प्रसिद्धमतिक्रान्तम्।

महाप्रलय मारुतक्षुभितपुष्करावर्त्तक
प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरुतानुकारी मुहुः।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वः पुरः॥२४३॥

अत्र रवो मण्डूकादिषु प्रसिद्धो न तत्कविशेषे सिंहनादे।

(किसी भले के साथ नहीं, अपितु) मातङ्गों (हाथी या चाण्डाल) के ऊपर गिरते हुए देखा है, उस दुश्चरित्रा सौत तलवार पर आसक्त वह (आपका दामाद) मुझे कुछ नहीं समझता, इसलिए उसने मुझे अपने सेवकों को सौंप दिया है, यह बात कहने के लिए मानो राजलक्ष्मी के आदेश से कीर्ति समुद्र के पास गई थी॥२४२॥

यहाँ पर 'विदितं तेऽस्तु' यह वाक्य दूसरे वाक्य के मध्य में कर दिया गया है, यह गर्भितत्व दोष है। इसके अतिरिक्त 'लक्ष्मी उसे छोड़ रही है' (वहाँ से हट रही है) इस प्रकार विरुद्ध मति के होने से विरुद्धमतिकृत् दोष भी है।

१८—प्रसिद्धि विरुद्धता

अनुवाद—मञ्जीर आदि (नूपुर आदि) में रणित शब्द, पक्षियों में कूजित आदि, सुरत में स्तनित, मणित आदि और मेघ आदि में गर्जित आदि प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार की प्रसिद्धि का अतिक्रमण करने वाला 'प्रसिद्धि-विरुद्धता' दोष कहलाता है। जैसे—

अनुवाद—महाप्रलय की वायु से क्षुभित पुष्करावर्त्तक नामक भयंकर मेघों के गर्जन की प्रतिध्वनि का अनुकरण करने वाला, कानों के लिए भयंकर आकाश और पृथ्वी की कन्दरा को भर देने वाला समर रूपी समुद्र से उत्पन्न अभूतपूर्व यह सिंहनाद कहाँ से हो रहा है॥२४३॥

यहाँ पर 'रव' शब्द मेढ़क आदि के लिए प्रसिद्ध है, न तु उक्त प्रकार से विशिष्ट सिंहनाद के लिए। इसलिए यहाँ 'प्रसिद्धविरुद्धार्थता' दोष है।

(१९) भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावो यत्र । यथा—

नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्तङ्गते हन्त निशाऽपि याता ।
कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति ।।२४४।।

अत्र 'गता' इति प्रक्रान्ते 'याता' इति प्रकृतेः । 'गता निशाऽपि' इति तु युक्तम् ।

ननु 'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण' इत्यन्यत्र, 'कथितपदं दुष्टम्' इति चेहैवोक्तम्, तत्कथमेकस्य पदस्य द्विः प्रयोगः ? उच्यते । उद्देश्यप्रतिनिर्देश्य-व्यतिरिक्तो विषयः एकपदप्रयोगनिषेधस्य । तद्वति विषये प्रत्युत तस्यैव पदस्य सर्वनाम्नो वा प्रयोगं विना दोषः । तथा हि—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ।।२४५।।

अत्र 'रक्त एवास्तमेति' इति यदि क्रियेत तदा पदान्तरप्रतिपादितः एवार्थोऽर्थान्तरतयेव प्रतिभासमाना प्रतीतिं स्थगयति ।

---

(१९) भग्नप्रक्रम दोष

अनुवाद—जहाँ पर प्रस्ताव (उपक्रम) का भङ्ग हो जाता है वहाँ भग्नप्रक्रम दोष होता है जैसे—

'नियति के नियोग से निशापति चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर हाय ! निशा (रात्रि) भी चली गई; किन्तु कुलांगनाओं के (पति की मृत्यु रूप इस) दशा के अनुकूल इससे अधिक और अच्छी बात सम्भव नहीं है ।।२४४।।

यहाँ पर 'गता' के प्रक्रम होने पर 'याता' यह प्रकृति का प्रक्रमभङ्ग है । उसके स्थान पर 'गता निशाऽपि' यह कहना अधिक उपयुक्त था ।

अनुवाद (वृत्ति)—प्रश्न यह है कि 'एक पद का दो बार प्रयोग नहीं करना चाहिए' यह अन्यत्र और 'कथितपद' पुनरुक्त दोष होता है । यह यहाँ पर कहा गया है तो एक पद का दो बार प्रयोग कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्य भाव से एक पद के दो बार प्रयोग के निषेध का विषय भिन्न स्थलों पर होता है । उस उद्देश्य-प्रति-निर्देश्यभाव मुक्त विषय में तो वल्कि उसी पद अथवा सर्वनाम के प्रयोग के बिना ही दोष होता है । जैसे—

"सूर्य उदय होते समय भी लाल रहता है और अस्त होते समय भी लाल ही अस्त होता है । महापुरुष सम्पत्ति और विपत्ति (सुख और दुःख) में एक रूप ही रहते हैं ।।२४५।।

यथा वा —

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्त्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥२४६॥

अत्र प्रत्ययस्य 'सुखमीहितुं वा' इति युक्तः पाठः।

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥२४७॥

अत्र सर्वनाम्नः। 'अनेन विसृष्टाः' इति वाच्यम्।

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम्।
अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥२४८॥

अत्र पर्यायस्य। 'महीभृतोऽपत्यवतोऽपि' इति युक्तम्। अत्र सत्यपि पुंत्रे कन्यारूपेऽप्यपत्ये स्नेहोऽभूदिति केचित्समर्थयन्ते।

यहाँ पर उद्देश्य और प्रतिनिर्देश्य दोनों स्थलों पर 'ताम्र' एक विशेषण का प्रयोग है। यदि इसके स्थान पर प्रतिनिर्देश्य स्थल में ताम्र के स्थान रक्त पद का प्रयोग करते हैं (रक्त एवास्तमेति च) तो अन्य पद से प्रतिपादित वही अर्थ भिन्न अर्थ के रूप में भासित होता हुआ एकरूपता की प्रतीति को बाधित कर देता है। अतः यहाँ भग्नप्रक्रम दोष है।

अथवा जैसे —

अनुवाद—यश प्राप्त करने के लिए अथवा सुख पाने की इच्छा से अथवा मनुष्यों की गणना से परे पहुँचने के लिए उत्सुकता-रहित होते हुए भी सततप्रयत्नशील मनुष्यों की गोद में सिद्धि उत्कण्ठित सी हुई स्वयं पहुँच जाती है ॥२४६॥

यहाँ पर प्रत्यय की भग्नप्रक्रमता है। 'सुखलिप्सया' के स्थान पर 'सुखमीहितुं वा' पाठ उचित है।

अनुवाद—वे (मरीचि आदि ऋषिगण) हिमालय से बात-चीत कर फिर शिव का दर्शन कर और उनसे कार्यसिद्धि का निवेदन कर उनके द्वारा विदा होकर आकाश मार्ग की ओर चले गये ॥२४७॥

यहाँ पर सर्वनाम 'तत्' की भग्नप्रक्रमता है। यहाँ 'तद्विसृष्टाः' के स्थान पर 'अनेन विसृष्टाः' यह कहना चाहिए था।

अनुवाद—पुत्रवान् होने पर भी हिमालय की दृष्टि उस सन्तान (पार्वती) के प्रति तृप्त नहीं हुई; क्योंकि वसन्त में अनेक पुष्पों के होते हुए भी भ्रमर पंक्ति आम्रमञ्जरी पर विशेष आसक्त रहती है ॥२४८॥

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः ।

नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः ॥२४९॥

अत्रोपसर्गस्य पर्यायस्य च । 'तदभिभवः कुरुते निरायतिम् । लघुतां भजते निरायतिर्लघुतावान्न पदं नृपश्रियः' इतियुक्तम् ।

काचित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधौ मन्दवक्त्रेन्दुलक्ष्मी-

रश्रीकाः काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः ।

भ्रेमुर्वात्या इवान्याः प्रतिपदमपरा भूमिवत्कम्पमानाः

प्रस्थाने पार्थिवानामशिवमिति पुरो भावि नार्यः शशंसुः ॥२५०॥

अत्र वचनस्य । 'काश्चित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधुर्मन्दवक्त्रेन्दुशोभा निःश्रीकाः' इति, 'कम्पमानाः' इत्यत्र 'कम्पमापुः' इति च पठनीयम् ।

यहाँ पर 'पर्याय' की भग्नप्रक्रमता है । यहाँ पर 'महीभृतः पुत्रवतः' के स्थान पर 'महीभृतोऽपत्यवतोऽपि' यह पाठ उचित था अर्थात् दोनों स्थान पर 'अपत्य' पाठ होने से भग्नप्रक्रमता दोष नहीं रहता । कुछ विद्वान् यहाँ पर पुत्र के होने पर भी कन्या रूप रत्न में हिमालय का विशेष स्नेह था इस प्रकार अर्थ कर 'पुत्रवतः' प्रयोग का समर्थन करते हैं ।

अनुवाद—पराक्रम-रहित मनुष्यों को आक्रान्त कर लेती हैं और विपद्ग्रस्त व्यक्ति को भविष्य छोड़ देता है जिसका भविष्य ठीक नहीं, उसको लघुता निश्चित है और गौरवहीन व्यक्ति राजलक्ष्मी का पात्र नहीं होता ॥२४९॥

यहाँ पर 'उपसर्ग' और 'पर्याय' दोनों की भग्नप्रक्रमता है । यहाँ पर 'तदभिभवः कुरुते निरायतिम्' इस प्रकार पाठ कर न देने पर भग्नप्रक्रम दोष नहीं रहता । इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में 'लघुतां भजते निरायतिर्लघुतावान्न पदं नृपश्रियः' इस प्रकार का पाठ होने से 'लघुता' और 'अगरीयान्' पद के प्रयोग से होने वाला भग्नप्रक्रम दोष नहीं रहता ।

अनुवाद—कोई स्त्री रजस्वला होने के कारण मुख चन्द्र की शोभा मन्द हो जाने से आकाश का अनुकरण कर रही है, कुछ स्त्रियाँ श्री-हीन (शोभा-रहित) और व्याकुल चित्त वाली होकर दिशाओं के समान हृदय में सन्ताप धारण कर रही हैं । अन्य नारियाँ आँधी-बवंडर के समान चक्कर काट रही थीं और कोई पग-पग पर भूमि के समान काँप रही थी इस प्रकार राजाओं के युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय उनकी स्त्रियों ने भविष्य में होने वाले अशुभ को सूचनाएँ दीं ॥२५०॥

गाहन्तां महिषाः निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यताम् ।
विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रान्ति लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ॥२५१॥

अत्र कारकस्य । 'विश्रब्धा रचयन्तु शूकरवरा मुस्ताक्षतिम्' इत्यदुष्टम् ।

यहाँ पर 'वचन की भग्नप्रक्रमता है। क्योंकि इस पद्य के प्रारम्भ में 'काचित्' एक वचन का प्रयोग है किन्तु बाद में 'काश्चित्' बहुवचन का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार यहाँ वचनकृत भग्नप्रक्रमता है। यदि श्लोक के प्रारम्भ में 'काचित्' के स्थान पर 'काश्चित्' और 'अनुविदधौ' के स्थान पर 'अनुविदधुः' पाठ होता तो 'भग्नप्रक्रम' दोष नहीं रहता। इसी प्रकार प्रथम चरण के अन्त में लक्ष्मीः के स्थान पर शोभाः, 'अश्रीकाः के स्थान पर 'निःश्रीकाः' पाठ रखने पर 'छन्दोभंग' दोष नहीं रहता और इसी प्रकार कम्पमानाः के स्थान पर 'कम्पमापुः' पाठ होना चाहिए।

अनुवाद—आज जंगली भैंसे सींगों से बार-बार ताड़ित जलाशय में अवगाहन करें, छाया में झुण्ड बनाये हुए मृगों का समूह निश्चिन्त होकर जुगाली करें, जंगली सुअर निश्चिन्त होकर तलैयों में मोथा उखाड़कर खायें और आज शिथिल प्रत्यञ्चा वाला हमारा यह धनुष विश्राम करे ॥२५१॥

यहाँ पर कारक की भग्नप्रक्रमता है। इस श्लोक के प्रथम चरण 'महिषाः' बहुवचन, द्वितीय चरण में 'मृगकुलं' एकवचन और तृतीय चरण में 'वराहपतिभिः' तृतीया बहुवचन का प्रयोग होने के कारण प्रक्रमभङ्ग दोष है। इसी प्रकार 'गाहन्ताम्' के प्रक्रम में 'क्रियताम्' कर्मवाच्य क्रिया का प्रयोग होने से भी कारकप्रक्रमभङ्ग दोष है। यहाँ पर यदि 'विश्रब्धा रचयन्तु शूकरवरा मुस्ताक्षतिम्' पाठ कर दिया जाय तो कारकप्रक्रमभङ्ग दोष हट जाता है।

अकलिततपस्तेजोवीर्यप्रथिम्नि यशोनिधा—
ववितथमदाध्माते रोषान्मुनावभिगच्छति।
अभिनवधनुर्विधादर्पक्षमाय च कर्मणे
स्फुरत् रभसात्पाणिः पादोपसङ्ग्रहणाय च ॥२५२॥

अत्र क्रमस्य। पादोपसङ्ग्रहणायेति पूर्वं वाच्यम्। एवमन्यदप्यनुसर्त्तव्यम्।

(२०) अविद्यमानः क्रमो यत्र। यथा--

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥२५३॥

अत्र त्वं शब्दानन्तरं चकारो युक्तः।

अनुवाद—अपरिमित तप, तेज और पराक्रम की महिमा से युक्त यशोनिधि और यथार्थ अहङ्कार से फूले हुए (आध्माते) मुनि के क्रोध पूर्वक आने पर अभिनव (अलौकिक) धनुर्विद्या के गर्व के योग्य कर्म करने के लिए तथा पैरों को छूने (चरणस्पर्श) के लिए मेरा हाथ शीघ्रता से फड़क रहा है ॥२५२॥

यहाँ पर क्रम का प्रक्रमभङ्ग है। यहाँ पर 'पादोपसङ्ग्रहणाय' यह पहिले कहा जाना चाहिए था। यही उचित क्रम था, किन्तु यहाँ क्रम का भङ्ग होने से 'प्रक्रमभंग दोष हो गया है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझ लेने चाहिए।

(२०) अक्रम दोष

अनुवाद—जहाँ पर पदों का क्रम विद्यमान न हो, वहाँ अक्रम दोष होता है। जैसे—"कपाल को धारण करने वाले शिवजी के समागम की प्रार्थना से इस समय दो वस्तुएँ शोचनीय हो गई हैं। एक तो चन्द्रमा की कान्तिमती कला और दूसरी इस लोक की नेत्रकौमुदी तुम।" ॥२५३॥

यहाँ पर 'त्वं' पद के बाद 'च' का प्रयोग उचित था। किन्तु 'त्वम्' के बाद 'च' का प्रयोग न करके 'लोकस्य' इस पद के बाद किया गया है। इस प्रकार यहाँ पर क्रम न होने से अक्रम दोष है।

यथा वा—

शक्तिर्निस्त्रिंशजेयं तव भुजयुगले नाथ ! दोषाकरश्री—
र्वक्त्रे पार्श्वे तथैषा प्रतिवसति महाकुट्टनी खड्‌गयष्टिः ।
आज्ञेयं सर्वगा ते विलसति च पुरः किं मया वृद्धया ते
प्राच्येवेत्थं प्रकोपाच्छसिकरसितया यस्य कीर्त्या प्रयातम् ॥२५४॥

अत्रेत्थं प्रोच्येवेति वाच्यम्

तथा च—

लग्नं रागावृताङ्‌ग्या सुदृढ़मिह यपैवासियष्ट्यारि कण्ठे
मातांगानामपीहोपरि पर पुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद् गणयति विदितं तेस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्‌गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्त्तिः ॥२५५॥

अत्र इति श्रीनियोगादिति वाच्यम् ।

अथवा जैसे—

अनुवाद—हे नाथ ! यह निस्त्रिंशजा शक्ति (पक्षान्तर में शक्ति नाम्नी वेश्या) अब तो आपके भुजयुगल में है, दोषों की खान लक्ष्मी (पक्षान्तर में चन्द्रशोभा) तुम्हारे मुख में है, और महाकुट्टनी खंगयष्टि (असिलता) आपके बगल में रहती है, आपकी सर्वगामिनी (सर्वत्र व्याप्त) यह आज्ञा आपके सामने ही विलास करती है, फिर मुझ वृद्धा से आपका क्या प्रयोजन ? इस प्रकार कहकर चन्द्रकिरण के समान आपकी धवलकीर्त्ति क्रोध से दूर चली गई अर्थात् सब जगह फैल गयी ॥२५४॥

यहाँ पर 'इत्थं प्रोच्य इव' इस प्रकार रहना चाहिए था ।

अनुवाद—और भी राजलक्ष्मी के आदेश से कीर्त्ति रूपी दूती लक्ष्मी के पिता समुद्र के पास जाकर उलाहना देते हुए कहती है कि हे सागर ! मेरी सौत असिलता (तलवार) अनुराग (रक्त) से पूर्ण शत्रुओं के गले लग जाती है, जिसे पर पुरुषों ने मातंगों (हाथी या चाण्डाल) के ऊपर गिरते हुए देखा है, उस व्यभिचारिणी सौत रूप तलवार पर आसक्त वह (आपका दामाद) मुझे कुछ नहीं समझता । इसलिए उसने मुझे अपने सेवकों को सौंप दिया, यह बात कहने के लिए राजलक्ष्मी के आदेश से कीर्त्ति समुद्र के पास गई थी ॥१५५॥

(२१) अमतः प्रकृतविरुद्धः परार्थो यथा—

'राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद् रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥२५६॥

अत्र प्रकृते रसे विरुद्धस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽपरोऽर्थः ।

अर्थदोषानाह—

(सू० ७५) अर्थोऽपुष्टः कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्याः ॥५५॥
सन्दिग्धो निर्हेतुः प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च ।
अनवीकृतः सनियम नियम विशेषाविशेष परिवृत्ताः॥५६॥
साऽऽकाङ्क्षोऽपदयुक्तः सहचरभिन्नः प्रकाशितविरुद्धः ।
विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुनः स्वीकृतोऽश्लीलः ॥५७॥

यहाँ पर 'इति श्रीनियोगात्' यह कहना चाहिए था। किन्तु यहाँ पर गता के बाद 'इति' के प्रयोग में (गता + इति) अक्रमता है। क्योंकि 'इति' शब्द अव्यवहित पूर्व वस्तु का परामर्शक है। अतः यहाँ पर इसका सम्बन्ध 'लग्नं ......भृत्येभ्यः' से रहा है। इस प्रकार यहाँ 'भृत्येभ्यः इति श्रीनियोगात्' यह पाठ उचित था।

(२१) अमत परार्थतादोष

अनुवाद—जहाँ पर दूसरा अर्थ प्रकृत अर्थ के विरुद्ध होता है वहाँ अमतपरार्थता दोष होता है। जैसे -

'वह निशाचरी (ताड़का) रामरूपी कामदेव के दुःसह बाणों से हृदय में आहत होकर गन्धयुक्त रुधिर रूपी चन्दन से लिप्त जीवितेश (यम या प्राणनाथ) के घर चली गई ॥२५६॥

यहाँ पर अन्य अर्थ प्रकृत रस के विरुद्ध शृङ्गार का व्यञ्जक है। इसलिए यहाँ अमतपरार्थ दोष है।

अर्थ दोष

ग्रन्थकार पद, पदांश, तथा वाक्य दोषों का निरूपण करने के पश्चात् अब अर्थ दोषों का निरूपण करते हैं—

अनुवाद (सू० ७५)—अर्थ दोष तेइस हैं-(१) अपुष्ट (२) कष्ट (३) व्याहत (४) पुनरुक्त (५) दुष्क्रम (६) ग्राम्य (७) सन्दिग्ध (८) निर्हेतु (९) प्रसिद्धिविरुद्ध (१०) विद्याविरुद्ध (११) अनवीकृत (१२) सनियमपरिवृत्त (१३) अनियम परिवृत्त (१४) विशेषपरिवृत्त (१५) अविशेष परिवृत्त (१६) साकाङ्क्ष (१७) अपदयुक्त (१८) सहचरभिन्न (१९) प्रकाशितविरुद्ध (२०) विध्ययुक्त (२१) अनुवादायुक्त (२२) त्यक्तपुनः स्वीकृत (२३) अश्लील।

दुष्ट इति सम्बध्यते । क्रमेणोदाहरणम्—

(१) अतिविततगगनसरणिपरिमुक्तविश्रामानन्दः ।
मरुदुल्लासितसौरभकमलाकरहासकृद्रविर्जयति ॥२५७॥

अत्राविततत्वादयोऽनुपादानेऽपि प्रतिपाद्यमानार्थं न बाधन्त इत्यपुष्टाः । न तु असंगताः पुनरुक्ता वा ।

(२) सदा मध्ये यासामियममृतनिष्यन्दसुरसा
सरस्वत्युद्दामा वहति बहुमार्गा परिमलम् ।
प्रसादं ता एव घन परिचिताः केन महतां
महाकाव्यव्योम्नि स्फुरितमधुरा यान्तु रुचयः ॥२५८॥

अत्र यासां कविरुचीनां मध्ये सुकुमारविचित्रमध्यमात्मकत्रिमार्गा भारती चमत्कारं वहति ताः मेघपरिचिताः कथमितरकाव्यवत्प्रसन्ना भवन्तु । यासामादित्यप्रमाणां मध्ये त्रिपथगा वहति ताः मेघपरिचिताः कथं प्रसन्ना भवन्तीति संक्षेपार्थः ।

विमर्श—यहाँ पर दुष्ट पद 'अर्थः' पद के साथ सम्बद्ध है, जहाँ पर अन्य शब्दों द्वारा कथित होने पर भी विवक्षित अर्थ दोष युक्त रहता है वहाँ अर्थ दोष होता है (**यत्र विवक्षित एवार्थोऽन्यथाभिधानेऽपि दुष्यति सोऽर्थदोषः**) । अब अर्थ दोषों का सोदाहरण निरूपण करते हैं—

(१) अपुष्ट दोष

अनुवाद—अत्यन्त विस्तृत आकाश मार्ग में गमनागमन में विश्राम-सुख को छोड़ देने वाले और वायु के द्वारा प्रसारित सौरभ-पूर्ण कमलवन को विकसित करने वाले सूर्य विजयी हैं अर्थात् सर्वोत्कर्षशाली हैं ॥२५७॥

यहाँ पर 'अवितत्व' आदि का ग्रहण न होने पर भी प्रतिपाद्यमान अर्थ (विवक्षित अर्थ) का बाध नहीं होता, इसलिए ये अपुष्ट अर्थ हैं, असंगत और पुनरुक्त नहीं ।

विशेष—भाव यह कि जिस विवक्षित अर्थ का शब्द द्वारा ग्रहण (कथन) न होने पर भी विवक्षित अर्थ के बोधन में बाधा नहीं होती, वह अपुष्ट अर्थ दोष कहलाता है (**यस्यार्थस्य शब्देनानुपादानेऽपि विवक्षितार्थस्य वैकल्यं न भवति, सोऽर्थोऽपुष्ट इत्युच्यते**) । यहाँ पर 'अतिवितत निरवलम्ब आकाश मार्ग में गमनागमन में विश्राम न करना' से सूर्य का उत्कर्ष द्योतित है, यही विवक्षित अर्थ है । यहाँ इसका शब्दतः कथन न होने पर भी विवक्षित अर्थ में कोई बाधा नहीं होती, अतः यहाँ अपुष्टार्थ दोष है ।

(२) कष्टत्व दोष

अनुवाद (प्रकृत अर्थ)—कवियों के काव्य-रूप जिन (रुचियों) के मध्य

(३) जगति जयिनस्ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतमधुराः सन्त्येवान्ये मनो मदयन्ति ये।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ।।२५९।।

अत्रेन्दुकलादयो यं प्रति पश्यशप्रायाः स एव चन्द्रिकात्वमुत्कर्षार्थ-मारोपयतीति व्याहृतत्वम् ।

अमृत के प्रवाह से सुरस (अमृतरस के समान शृंगारादि रसों से युक्त), (सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग से) अनेक मार्गों से प्रवाहित होने वाली यह उद्दाम सरस्वती काव्य-चमत्कार (परिमल) उत्पन्न करती हैं। वे ही प्रयत्न पूर्वक अभ्यस्त (घनपरिचित) और रसानुभव से मधुर (स्फुरितमधुरा) रुचियाँ महाकाव्याकाश में किस प्रकार प्रसादपूर्ण हो सकती हैं ।।२५८।।

(अप्रकृत अर्थ) जिन द्वादश आदित्य की (प्रभाओं, किरणों) के मध्य अमृतमय रस (जल) के प्रवाह से सुरसा, उद्दामा (महती) त्रिपथगामिनी सरस्वती नदी (आकाश गङ्गा) सुन्दर परिमल (सुगन्ध) लेकर बहती है। वे मेघ से सम्बद्ध (घनपरिचिताः) होने से विद्युत्स्फुरण से मधुर (प्रकाशमान) द्वादश आदित्यों की प्रभाएं महाकाव्य सदृश व्योममार्ग (आकाशमार्ग) में किस प्रकार स्वच्छता (प्रसाद) को प्राप्त हो सकती हैं ।।२५८।।

यहाँ पर 'जिन कवियों की रुचियों के मध्य सुकुमार, विचित्र और मध्यम रूप त्रिमार्ग से युक्त भारती चमत्कार को प्राप्त होती है, वे प्रयत्न-पूर्वक अभ्यस्त रुचियाँ किस प्रकार अन्य काव्य के समान सुबोध हो सकते हैं'। जिन आदित्य-प्रभाओं के मध्य त्रिपथगा (आकाश गङ्गा) बहती है, वे मेघ से आच्छादित होने शू कैसे स्वच्छ हो सकती हैं, यह संक्षेप में श्लोक का अर्थ है।

विमर्श—इस प्रकार अप्रकृत अर्थ का प्रकृत अर्थ के साथ उपमानोपमेयभाव रूप व्यंग्य अर्थ क्लेश-साध्य है। अतः यहाँ क्लिष्टत्व दोष है।

(३) व्याहत दोष

अनुवाद—जो नवीन चन्द्रकला आदि भाव (पदार्थ) हैं, वे संसार में उत्कर्षयुक्त हैं और अन्य पदार्थ भी जो मन को आह्लादित करते हैं, वे भी स्वभावतः (सुन्दर) हैं। मेरे लिए तो संसार में यह (मालती) नेत्रों की चाँदनी जो दृष्टिगोचर हुई इस जन्म में वही एकमात्र महोत्सव हैं।।२५९।।

(४) कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुज पशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा सार्धं सभीमकिरीटिना—
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥२६०॥

अत्र अर्जुन अर्जुनेति, भवद्भिरिति चोक्ते सभीमकिरीटिनामिति कीरीटिपदार्थः पुनरुक्तः। यथा,वा—

अस्त्रज्वालावलीढप्रतिबलजलधेरन्तरौर्वायमाणे
सेनानाथे स्थितेऽस्मिन्मम पितरि गुरौ सर्वधन्वीश्वराणाम् ।
कर्णाऽलं सम्भ्रमेण व्रज कृप ! समरं मुञ्च हार्दिक्यशङ्कां
ताते चापद्वितीये वहति रणधुरं को भयस्यावकाशः ॥२६१॥

अत्र चतुर्थपादवाक्यार्थः पुनरुक्तः।

यहाँ पर 'इन्दुकला' आदि जिस माधव के (प्रति) लिए हेय (तुच्छ) है, वही उत्कर्ष के लिए चन्द्रिकात्व का आरोप कर रहा है। इस प्रकार यहाँ व्याहतार्थत्व दोष है।

(४) पुनरुक्तत्व दोष

अनुवाद—जिन मर्यादा-हीन, मानवरूप पशु, अस्त्र हाथ में उठाये हुए आप लोगों ने जो यह महान् पातक किया है या अनुमति दी है (समर्थन किया है) अथवा देखा है, नरकासुर के शत्रु कृष्ण के साथ भीम, अर्जुन सहित उनके (धृष्टद्युम्न आदि के) रक्त, चर्बी और मांस से दिशाओं का बलि (पूजन) करता हूँ ॥२६०॥

यहाँ पर श्लोक के पूर्व अर्जुन को 'अर्जुन ! अर्जुन !' इस प्रकार सम्बोधन से तथा 'भवद्भिः' इस शब्द के कह चुकने के बाद 'सभीमकीरीटिनाम्' में 'कीरीटि' पद का अर्थ पुनरुक्त हो गया है, इसलिए यहाँ 'पुनरुक्त' दोष है।

अनुवाद—अस्त्रों की ज्वाला से व्याप्त शत्रु-सेना रूपी समुद्र के अन्दर बड़वानल के समान समस्त धनुर्धारियों के गुरु मेरे पिता द्रोणाचार्य के सेनापति रहते हुए हे कर्ण ! घबड़ाओ मत, हे कृपाचार्य ! युद्ध (समर) में जाओ, हे कृतवर्मा ! हृदय की शङ्का (भय) छोड़ दो, क्योंकि धनुष-सहित मेरे पिता द्रोणाचार्य के रण (युद्ध) का भार संभाल लेने पर अब भय का अवसर कहाँ है ? ॥२६१॥

यहाँ पर चतुर्थपाद का वाक्यार्थ पुनरुक्त है, अतः यहाँ पर 'पुनरुक्तत्व' नामक दोष है।

(५) भूपालरत्न ! निर्दैन्यप्रदानप्रथितोत्सव !
विश्राणय तुरङ्गं मे मातंगं वा मदालसम् ॥२६२॥

अत्र मातङ्गस्य प्राङ् निर्देशो युक्तः ।

(६) स्वपिति यावदयं निकटे जनः स्वपिमि तावदहं किमपैति ते ।
तदपि ! साम्प्रतमाहरकूर्परं त्वरितमूरुमुदञ्चय कुञ्चितम् ॥२६३॥

एषोऽविदग्धः

(७) मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु ।
सेव्या नितम्बा किमु भूधराणाभुतस्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥२६४॥

अत्र प्रकरणाद्यभावे सन्देहः शान्तशृंगार्यन्तराभिधाने निश्चयः ।

(५) दुष्क्रम दोष

अनुवाद दीनता (कृपणता) छोड़कर दान देने में प्रसिद्ध उत्सव वाले हे नृपश्रेष्ठ ! आज मुझे एक घोड़ा प्रदान कीजिये अथवा मतवाला हाथी दीजिये ॥२६२॥

यहाँ पर 'मातङ्ग' शब्द का पूर्व में निर्देश करना चाहिए ।

विमर्श—भाव यह कि यहाँ पर 'तुरंग और मातंग' में जो याचना अर्थ का क्रम है वह लोकशास्त्र विरुद्ध है । अतः यहाँ पर 'दुष्क्रमत्व' दोष है ।

(६) ग्राम्य दोष

अनुवाद—जब तक यह व्यक्ति सो रहा है तब तक मैं तुम्हारे पास सो लेता हूँ, इसमें तुम्हारी क्या हानि है ? अरे ! तो अब कोहनी जल्दी हटाले और सिकुड़ी हुई जंघाओं को शीघ्र फैला दो ॥२६३॥

यहाँ पर अविदग्ध (नायक) है ।

विमर्श—यहाँ पर कोई अनाड़ी पुरुष रमण करने की इच्छा से नवोढ़ा वधू से कह रहा हैं किन्तु उसका यह कथन सहृदय व्यक्तियों को उद्विग्न करने वाला है । इस प्रकार यहाँ एक अविदग्ध (अनाड़ी) व्यक्ति का फूहड़ कथन होने से 'ग्राम्य' दोष है ।

(७) सन्दिग्ध दोष

अनुवाद—हे आर्य ! मत्सरता (पक्षपात) छोड़कर और विचार कर मर्यादापूर्वक (प्रमाणसहित) कर्त्तव्य (करणीय) बतायें कि क्या पर्वतों के नितम्ब (उपत्यकाओं) का सेवन करना; चाहिए या काम से मुस्कराती हुई कामिनियों के नितम्ब का सेवन करना चाहिए ॥२६४॥

विमर्श- यहाँ पर प्रकरण आदि के अभाव में 'भूधरनितम्ब' (पर्वत की उपत्यकाओं) का सेवन तथा 'कामिनी नितम्ब' सेवन' रूप अर्थों में सन्देह है कि वक्ता शमप्रधान शान्त व्यक्ति है अथवा काम प्रधान कामुक व्यक्ति है । यदि वक्ता का निश्चय हो जाता तो अर्थ का भी निर्णय हो जाता ।

(८) गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि
प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः ।
परित्यक्तं तेन त्वमसि सुतशोकान्न तु भयात्
विमोक्ष्ये शस्त्र! त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥२६५॥

अत्र शस्त्रविमोचने हेतुर्नोपात्तः ।

(९) इदं ते केनोक्तं कथय कमलातङ्कवदने
यदेतस्मिन् हेम्नः कटकमिति धत्से खलु धियम् ।
इदं तद्दुःसाधाक्रमणपरमास्त्रं स्मृतिभुवा
तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम् ॥२६६॥

अत्र कामस्य चक्रं लोकेऽप्रसिद्धम् ।

यथा वा--

उपपरिसरं गोदावर्याः परित्यजताध्वगाः ?
सरणिमपरो मार्गस्तावद्भवद्भिरवेक्ष्यताम् ।
इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया
चरणनलिन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुरकञ्चुकः ॥२६७॥

---

(८) निर्हेतु दोष

अनुवाद—हे शस्त्र ! मेरे पूज्य पिताजी ने अनुचित होने पर भी पराभव के भय से तुझे ग्रहण किया था, और जिनके प्रभाव से संसार का कोई भी अविषय नहीं रहा, उन्होंने पुत्र के शोक के कारण तुम्हारा परित्याग किया है, किसी भय से नहीं। इसलिए हे अस्त्र ! मैं भी तुझे छोड़ रहा हूं, तुम्हारा कल्याण हो ।।२६५।।

यहाँ पर अश्वत्थामा के शस्त्र त्याग का हेतु नहीं बतलाया गया है, इसलिए यहा 'निर्हेतु' दोष है ।

(९) प्रसिद्धिविरुद्ध दोष

अनुवाद—अरे कमल को आतङ्कित करने वाली चन्द्रमुखी ! बतलाओ यह तुमसे किसने कहा था कि तुम हथेली के चक्र को सोने का कंगन समझो। अरे ! यह तो कामदेव का प्रसिद्ध जितेन्द्रिय युवकों के वशीकरण का महान् अस्त्र है जिसे प्रेमपूर्वक तुम्हारी कलाई में स्थापित किया हुआ चक्र है ।।२६६।।

यहाँ पर चक्ररूप अस्त्र का वर्णन किया गया है, किन्तु कामदेव का चक्र लोक में प्रसिद्ध नहीं है, इसलिए यहाँ पर प्रसिद्धिविरुद्धत्व दोष है।

अत्र पादाघातेनाशोकस्य पुष्पोद्गमः कविषु प्रसिद्धो, न पुनरङ्कुरोद्गमः।

यथा वा—

सुसितवदनालङ्कारायां कदाचन कौमुदी—
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विभुः।
तदनु भवतः कीर्त्तिः केनाप्यगीयत येन सा
प्रियगृहमगान्मुक्ताशंका क्व नासि शुभप्रदः ॥२६८॥

अत्रामूर्त्ताऽपि कीर्त्तिः ज्योत्स्नावत्प्रकाशरूपा कथितेति लोकविरुद्धमपि कविप्रसिद्धेर्न दुष्टम्।

(१०) सदा स्नात्वा निशीथिन्यां सकलं वासरं बुधः।
नानाविधानि शस्त्राणि व्याचष्टे च शृणोति च ॥२६९॥

अत्र ग्रहोपरागादिकं विना रात्रौ स्नानं धर्मशास्त्रेण विरुद्धम्।

अथवा जैसे –

अनुवाद—हे पथिको! गोदावरी के तट के समीप वाले रास्ते (मार्ग) को छोड़ दो, अब तुम लोग कोई दूसरा मार्ग खोज लो, क्योंकि यहाँ तो किसी अभागिनी ने अपने चरणकमलों के आघात से रक्ताशोक को अंकुर रूपी कवच वाला कर दिया ॥२६७॥

यहाँ पर 'तरुणी नायिका के पाद-प्रहार से अशोक में पुष्पोद्भव (फूलों का निकलना) कवि-प्रसिद्धि है, अंकुरों का निकलना नहीं। अतः यहाँ पर अंकुरोद्गम का वर्णन प्रसिद्धिविरुद्ध है।

अनुवाद—हे राजन्! कभी चाँदनी के प्रकाश में धवल वस्त्र एवं अलंकारों से सुसज्जित सुनयनी नायिका के अभिसार करते हुए चन्द्रमा अस्त हो गया, तभी किसी ने आपके यश का गान कर दिया जिससे वह निःशंक होकर प्रियतम के घर चली गई। महाराज! आप कहाँ कल्याण नहीं करते ॥२६८॥

यहाँ पर अमूर्त्त कीर्त्ति को चाँदनी के समान शुभ्र बताया गया है यह लोक विरुद्ध होने पर भी कवियों में प्रसिद्धि होने से दोष नहीं है।

(१०) विद्याविरुद्धता दोष

अनुवाद—यह विद्वान् हमेशा रात में स्नान करके सारे दिन अनेक प्रकार के शास्त्रों की व्याख्या करता है और सुनता है ॥२६९॥

अनन्यसदृशं यस्य बलं बाह्वोः समीक्ष्यते ।
षाड्गुण्यानुसृतिस्तस्य सत्यं सा निष्प्रयोजना ॥२७०॥

एतदर्थशास्त्रेण ।

विधाय दूरे केयूरमनङ्गाङ्गणमङ्गना ।
बभार कान्तेन कृतां करजोल्लेखमालिकाम् ॥२७१॥

अत्र केयूरपदे नखक्षतं न विहितमिति, एतत्कामशास्त्रेण ।

अष्टाङ्गयोगपरिशीलनकीलनेन
दुःसाध्यसिद्धिसविधं विदधद्विदूरे ।
आसादयन्नभिमतामधुना विवेक —
ख्यातिं समाधिधनमौलिमणिर्विमुक्तः ॥२७२॥

अत्र विवेकख्यातिस्ततः सम्प्रज्ञातसमाधिः पश्चादसम्प्रज्ञातस्ततो मुक्तिर्न तु विवेकख्यातौ, एतद्योगशास्त्रेण । एवं विद्यान्तरैरपि विरुद्धमुदाहार्यम् ।

यहाँ पर ग्रहण आदि पर्वों के बिना रात्रि में स्नान करना धर्मशास्त्र के विरुद्ध है। अतः धर्मशास्त्र के विरुद्ध होने के कारण यहाँ विद्याविरुद्ध दोष है।

अनुवाद—जिस राजा की भुजाओं में असाधारण बल दिखाई देता है, उसके लिए नीतिशास्त्र प्रयुक्त षड् गुण (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव) का प्रयोग सचमुच निष्प्रयोजन है ॥२७०॥

यह अर्थशास्त्र (राजनीतिशास्त्र) के विरुद्ध होने से विद्याविरुद्ध दोष है।

अनुवाद—कामदेव की लीलाभूमि उस रमणी ने केयूर को दूर करके प्रियतम के द्वारा किये गये नखक्षत की माला धारण की ॥२७१॥

विमर्श—यहाँ पर 'केयूर' के स्थान पर नखक्षत का वर्णन कामशास्त्र के विरुद्ध है; क्योंकि कामशास्त्र में केयूर-स्थान पर नखक्षत का विधान नहीं है।

नखक्षतस्य स्थानानि कक्षौ वक्षस्तथा गलः ।
पार्श्वौ जघनमूरू च स्तनगण्डललाटिका ॥

अनुवाद—समाधि रूप धन वाले योगियों में शिरमौलि वह योगी अष्टांग योग के परिशीलन एवं अभ्यास से दुःसाध्य सिद्धि के समीपस्थ असम्प्रज्ञात समाधि दूर करके अब अभीष्ट विवेकख्याति को प्राप्त करता हुआ मुक्त हो गया ॥२७२॥

(११) प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुधास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
सन्तर्पिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ? ॥२७३॥

अत्र ततः किमिति न नवीकृतम् ।

तत्तु यथा—

यदि दहत्यनलोऽत्र किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किं ततः ।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥२७४॥

यहाँ पर योगशास्त्र के अनुसार पहिले विवेकख्याति, तब सम्प्रज्ञात-समाधि, तदनन्तर असम्प्रज्ञात समाधि तत्पश्चात् मुक्ति होती है, न कि विवेक-ख्याति होते ही (मुक्ति मिलती है) । इस प्रकार विद्याविरुद्ध के अन्य उदाहरण भी समझने चाहिए ।

विमर्श—योगदर्शन में योग के आठ अंग बताये गये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । यहाँ पर विवेकख्याति के बाद जो मुक्ति का वर्णन है वह योगशास्त्र के नियमों के विरुद्ध है । अतः यहाँ विद्याविरुद्ध दोष है ।

(११) अनवीकृतत्व दोष

अनुवाद— **समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली लक्ष्मी को पा लिया तो क्या हुआ ? शत्रुओं के शिर पर पैर रख दिया तो क्या हुआ ? धन से प्रेमियों को तृप्त कर दिया तो क्या हुआ ? शरीर-धारियों के शरीर कल्प पर्यन्त यदि स्थिर रहे तो क्या हुआ ? ॥२७३॥**

यहाँ पर श्लोक के चारों चरणों में 'ततः किम्' आया है जिसमें कोई नवीनता नहीं है, अतः यहाँ अनवीकृत दोष है ।

और वह इस प्रकार है—

अनुवाद—यदि अग्नि जलाती है तो क्या आश्चर्य है ? यदि पर्वतों में गुरुता है, क्या ? समुद्र का जल हमेशा खारा होता है और महापुरुषों में खिन्नता न होना उनका स्वभाव है ॥२७४॥

(१२) यत्रानुल्लिखितार्थमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे-
रुत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा।
याताः प्राणभृतां मनोरथगतीरुल्लंघ्य यत्सम्पद-
स्तस्याभासमणीकृताश्मसु मणेरश्मत्वमेवोचितम् ॥२७५॥

अत्र 'छायामात्रमणीकृताश्मसु मणेस्तस्याश्मतैवोचिता' इति सनियमत्वं वाच्यम्।

(१३) वक्त्राम्भोजं सरस्वत्यधिवसति सदा शोण एवाधरस्ते
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः।
वाहिन्यः पार्श्वमेताः क्षणमपि भवतो नैव मुञ्चत्यभीक्ष्णं
स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन् कथमवनिपते! तेऽम्बुपानाभिलाषः ॥२७६॥

अत्र शोण एव इति नियमो न वाच्यः।

---

(१२) सनियम परिवृत्त

अनुवाद—जिसके रहते ब्रह्मा की सारी रचना निष्प्रयोजन सी है, उत्कर्ष के प्रतियोगी की कल्पना करना भी तिरस्कार की पराकाष्ठा है। जिसकी सम्पत्ति मनुष्यों (प्राणियों) के मनोरथ की गति को पार कर गई, जिसके आभास मात्र से मणि बन जाने वाले पत्थरों के बीच में उसका पत्थर होना ही उचित है ॥२७५॥

यहाँ पर छायामात्र से मणि रूप किये जाने वाले पत्थरों में मणि का पाषण बना रहना ही उचित है। इस प्रकार नियम सहित कहना चाहिए। केवल 'मात्र' शब्द का प्रयोग न करने से यहाँ 'सनियम परिवृत्त' दोष है।

(१३) अनियम परिवृत्त

अनुवाद—हे नृप! आपके मुखकमल में सदा सरस्वती निवास करती है, आपका अधर सदा लाल रहता है, काकुत्स्य (राम) के पराक्रम का स्मरण कराने में तुम्हारी दाहिनी भुजा समुद्र है। ये वाहिनियाँ (सेनाएँ, नदियाँ) आपकी समीपता क्षणभर भी नहीं छोड़तीं इस स्वच्छ मानस (मानसरोवर एवं मन) के रहते आपको जलपान की इच्छा कैसे हो रही है ॥२७६॥

यहाँ पर 'शोण एवाधरस्ते' (आपका अधर शोण ही है) ऐसा नहीं कहना चाहिए था, किन्तु वैसा कहने से यहाँ अनियम परिवृत्त दोष है।

(१४) श्यामां श्याममलिमानमानयत भोः ! सान्द्रैर्मषीकूर्चकैः
मन्त्रं तन्त्रमथ प्रयुज्य हरत श्वेतोत्पलानां श्रियम् ।
चन्द्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः कृत्वा शिलापट्टके
येन द्रष्टुमहं क्षमे दश दिशस्तद्वक्त्रमुद्राङ्किताः ॥२७७॥

अत्र 'ज्यौत्स्नीम्' इति श्यामाविशेषो वाच्यः ।

(१५) कल्लोलवेल्लितदृषत्परुषप्रहारै
रत्नान्यमूनि मकरालय ! मावमंस्थाः ।
किं कौस्तुभेन विहितो भवतो न नाम
याञ्चाप्रसारितकरः पुरुषोत्तमोऽपि ॥२७८॥

अत्र 'एकेन किं न विहितो भवतः स नाम' इति सामान्यं वाच्यम् ।

---

(१४) विशेष परिवृत्त दोष

अनुवाद—अरे ! गाढ़ी काली स्याही की कूँचियों से रात को और काली बना दो, मन्त्र तथा तन्त्र का प्रयोग करके श्वेत कमलों की शोभा को नष्ट कर दो और चन्द्रमा को शिलापट्ट पर पटक कर क्षणभर में कण-कण चूर्ण कर डालो, जिससे मैं उस प्रिया के मुख की मुद्रा से अंकित दशों दिशाओं को देखने में समर्थ हो सकूँ ॥२७७॥

यहाँ पर 'ज्यौत्स्नीम्' (चाँदनी रात) इस प्रकार रात्रि-विशेष का कथन करना चाहिए था, किन्तु ऐसा न करने से यहाँ पर 'विशेष परिवृत्त' दोष है ।

(१५) अविशेष परिवृत्त दोष

अनुवाद—अरे मकरालय ! लहरों के द्वारा फेंके गये पत्थरों के कठोर प्रहार से इन रत्नों का अपमान मत करो । क्या अकेले कौस्तुभ मणि ने ही पुरुषोत्तम विष्णु को आपके सामने हाथ फैलाकर माँगने के लिए प्रेरित नहीं किया ॥२७८॥

यहाँ पर 'एकेन' किन्न विहितो भवतः स नाम' इस प्रकार समान वचन कहना चाहिए था अर्थात् रत्न सामान्य का कथन करना यहाँ उचित था किन्तु यहाँ सामान्य वचन का कथन न कर विशेष 'कौस्तुभ' मणि का कथन किया है । अतः यहाँ अविशेष परिवृत्त दोष है ।

(१६) अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभो प्रत्युत
द्रुह्यन् दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया।
उत्कर्षञ्च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चात्मनः
स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो देवः कथं मृष्यते ॥२७९॥

'अत्र 'स्त्रीरत्नम्' 'उपेक्षितुम्' इत्यकांक्षति। नहि परस्येत्यनेन सम्बन्धो योग्यः।

(१७) आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनीशास्त्राणि चक्षुर्नवं
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लंकेति दिव्या पुरी।
उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावणः क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥२८०॥

अत्र 'स्याच्चेदेष न रावणः' इत्यन्तमेव सामान्यम्।

---

(१६) साकांक्षता दोष

अनुवाद—हे प्रभो! याचकता प्रकट करने पर भी फल की प्राप्ति नहीं हुई, प्रत्युत आपसे द्रोह करने करने वाले तथा विरुद्ध आचरण करने वाले राम को कन्या (सीता) को दे दिया। शत्रु के मान और यश का उत्कर्ष और अपने मान-यश विनाश तथा स्त्रीरत्न (सीता) को जगत्पति दशमुख रावण कैसे सहन कर सकता है ॥२७९॥

यहाँ पर 'स्त्रीरत्नम्' शब्द 'उपेक्षितुन्' इस पद की आकांक्षा रखता है और 'परस्य' के साथ 'स्त्रीरत्नम्' पद का सम्बन्ध भी उचित नहीं है। अतः यहाँ साकाङ्क्षता दोष है।

(१७) अपदयुक्तता

अनुवाद—जिस (रावण) की आज्ञा इन्द्र के मुकुट मणि की प्रणयिनी है, शास्त्र ही नवीन आँखें हैं, भूतनाथ शिव में भक्ति है, दिव्य नगरी लंका वास स्थान है, ब्रह्मा के वंश में जन्म है, इसलिए अहो! ऐसा वर नहीं मिल सकता, यदि वह रावण (प्राणियों का पीड़क) न होता। सब में सब गुण कहाँ होते हैं? ॥२८०॥

यहाँ पर 'स्याच्चेदेष न रावणः' यहीं तक ही समाप्त कर देना चाहिए, क्योंकि इसके बाद 'क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः' कहने की क्या आवश्यकता थी? अतः विवक्षित अर्थ के विरुद्ध प्रतीति कराने से यहाँ 'अपदप्रयुक्तत्व' का दोष है।

(१८) श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन मूर्खता मदेन नारी सलिलेन निम्नगा ।
निशा शशाङ्केन धृतिः समाधिना नयेन चालंक्रियते नरेन्द्रता ।।२८१।।

अत्र श्रुतादिभिरुत्कृष्टैः सहचरितैर्व्यसनमूर्खतयोर्निकृष्टयोर्भिन्नत्वम् ।

(१९) लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह यथैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्त्तिः ।।२८२।।

अत्र 'विदितं तेऽस्तु' इत्यनेन श्रीस्तस्मादपसरतीति विरुद्धं प्रकाश्यते ।

---

(१८) सहचरभिन्नता

अनुवाद—शास्त्र के श्रवण से बुद्धि, व्यसन से मूर्खता, मद से नारी, जल से नदी, चन्द्रमा से रात्रि, समाधि से धैर्य और नीति से नरेन्द्रता (राजत्व) अलंकृत होता है ।।२८१।।

यहाँ पर श्रुति आदि उत्तम पदार्थों के साथ व्यसन, मूर्खता आदि निकृष्ट अर्थों के सहचार होने से यहाँ पर 'सहचरभिन्नता' दोष है ।

(१९) प्रकाशितविरुद्धता

अनुवाद—(राजलक्ष्मी ने कीर्त्ति के द्वारा अपने पिता हिमालय के पास सन्देश भेजा था और कीर्त्ति जाकर हिमालय से लक्ष्मी का सन्देश कहती है) हे सागर ! 'मेरी सौत असियष्टि (तलवार) अनुरागपूर्ण (तलवार के पक्ष में—रक्त रञ्जित) शत्रुओं के गले में लग जाती है जिसे पर पुरुषों ने मातंगों (चाण्डाल अथवा हाथी) के ऊपर गिरते हुए देखा है उस व्यभिचारिणी सौत तलवार पर आसक्त आपका दामाद मुझे कुछ नहीं समझता । इसलिए उसने मुझे अपने सेवकों को सौंप दिया, यह बात कहने के लिए मानो राजलक्ष्मी के आदेश से कीर्त्ति समुद्र के पास गई थी ।।२८२।।

यहाँ पर 'विदितं तेऽस्तु' इस कथन से 'लक्ष्मी उससे दूर हट रही है' इस प्रकार विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होने से यहाँ पर प्रकाशितविरुद्धता दोष है ।

(२०) प्रयत्न परिबोधितः स्तुतिभिरद्य शेषे निशा—
मकेशवमपाण्डवं भुवनमद्य निःसोमकम् ।
इत्थं परिसमाप्यते रणकथाऽद्य दोःशालिना—
मपैतु रिपुकाननातिगुरुरद्य भारो भुवः ।।२८३।।

अत्र 'शयितः प्रयत्नेन बोध्यसे' इति विधेयम् ।

यथा वा—

वाताहारतया जगद्विषधरैराश्वास्य निःशेषितं
ते ग्रस्ताः पुनरभ्रतोयकणिका तीव्रव्रतैर्बर्हिभिः ।
तेऽपि क्रूरचमूरुचर्मवसनैर्नीताः क्षयं लुब्धकै—
र्दम्भस्य स्फुटितं विदन्नपि जनो जाल्मो गुणानीहते ।।२८४।।

अत्र वाताहारादित्रयं व्युत्क्रमेण वाच्यम् ।

---

(२०) विध्ययुक्तता

अनुवाद—(अश्वत्थामा दुर्योधन से कहता है कि) हे राजन् ! आज रात भर सोओगे और प्रातःकाल स्तुति पाठकों द्वारा जगाये जाओगे। क्योंकि आज मैं संसार को केशव (श्रीकृष्ण) और पाण्डवों और सोमवंश से रहित कर दूंगा । बल्कि आज से भुजबल पर गर्व करने वाले क्षत्रियों की रणकथा ही समाप्त हो जायगी ।' आज शत्रु-समुदाय रूप वन से पृथ्वी का महान् भार दूर हो जायगा ।।२८३।।

यहाँ पर 'शयितः प्रयत्नेन बोध्यसे' यह विधेय रूप है जिसे समास में रखकर गौण (अप्रधान) बना दिया है। अतः वह अविधेय हो गया है, इस विवक्षित अर्थ का निर्वाह न होने से यहाँ 'विध्ययुक्तता' दोष है ।

अथवा जैसे—

अनुवाद—विषधर सर्पों ने वायुभक्षण के व्रत से विश्वास दिलाकर संसार का नाश कर दिया और वर्षा जल की बूंदों के पान करने का कठोर व्रत धारण करने वाले मोरों ने उसे ग्रस लिया (अर्थात् सांपों को खा डाला) और कठोर मृग चर्म को धारण करने वाले व्याधों ने उनका भी क्षय कर दिया । इस प्रकार दम्भ (पाखण्ड, ढोंग) की बातें जानते हुए भी मूर्ख व्यक्ति गुणों को चाहता है ।।२८४।।

(२१) अरे ! रामाहस्ताभरण भसलश्रेणिशरण !
स्मरक्रीड़ाव्रीड़ाशमन ! विरहिप्राणदमन !
सरोहंसोत्तंस ! प्रचलदलनीलोत्पलसखे !
सखेदोऽहं मोहं श्लथय कथय क्वेन्दुवदना ।।२८५।।

अत्र 'विरहिप्राणदमन' इति नानुवाद्यम् ।

(२२) लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिव गतेत्यम्बुधिं यस्य कीर्त्तिः ।।२८६।।

अत्र 'विदितं तेऽस्तु' इत्युपसंहृतोऽपि तेनेत्यादिना पुनरूपात्तः ।

यहाँ पर 'वाताहार' आदि को विपरीत क्रम से रखना चाहिए था, अर्थात् पहले मृगचर्मवसन, फिर मेघतोपकणिकापान, पुनः वायुभक्षण इस क्रम से कहना चाहिए था। क्योंकि ये तीनों उत्तरोत्तर कठोर व्रत हैं, किन्तु व्युत्क्रम क्रम से वर्णन किया गया है अतः यहाँ पर 'विध्ययुक्तता' दोष है।

(२१) अनुवादायुक्तता दोष

अनुवाद—हे रमणियों के हस्ताभरण ! हे भ्रमर दल के शरण दाता ! हे कामक्रीड़ा की लज्जा का शमन करने वाले ! हे विरहियों के प्राणों का दमन करने वाले ! हे सरोहंस सुन्दर सरोवर के भूषण ! हे चञ्चल पत्र वाले मित्र नील कमल ! मैं खिन्न हूँ, मेरे मोह को दूर करो, बताओ चन्द्र-मुखी कहाँ है ।।२८५।।

यहाँ पर 'विरहिप्राणदमन' यह उद्देश्य.रूप में नहीं कहना चाहिए था। किन्तु उद्देश्य रूप में कथन करने से यहाँ 'अनुवादायुक्तता' दोष हो गया है।

(२२) समाप्तपुनरात्तत्व दोष

अनुवाद—प्रस्तुत श्लोक 'लग्नं रागावृताङ्ग्या' का अर्थ उदाहरण संख्या २८२ पर देखिये ।।२८६।।

प्रस्तुत उदाहरण में 'विदितं तेऽस्तु' इस प्रकार उपसंहार हो जाने के बाद भी पुनः उसे 'तेनास्मि दत्ता भृत्येभ्यः' इस रूप में कहा गया है, अतः यहाँ 'समाप्तपुनरात्त' दोष है।

(२३) हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः ।
यथास्य जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥२८७॥

अत्र पुंव्यञ्जनस्यापि प्रतीतिः ।

यत्रैको दोषः प्रदर्शितस्तत्र दोषान्तराण्यपि सन्ति, तथापि तेषां तत्राप्रकृतत्वात्प्रकाशनं न कृतम् ।

(सू० ७७) कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः ।
सन्निधानादिबोधार्थम्............ ॥

अवतंसादीनि कर्णाद्याभरणान्येवोच्यन्ते, तत्र कर्णादिशब्दाः कर्णादिस्थितिप्रतिपत्तये ।

---

(२३) अश्लीलता दोष

अनुवाद—दूसरे को मारने के लिए तैयार, उद्धत और परछिद्रान्वेषी अर्थात् दूसरे के दोषों को ढूंढ़ने वाले लोगों का जिस प्रकार पतन होता है उस प्रकार पुनः उत्थान नहीं होता ॥२८७॥

यहाँ पर 'पुरुषलिंग' की प्रतीति हो रही है। इस प्रकार यहाँ पर पुरुष के लिंग की प्रतीति अश्लीलता का जनक होने से दोष है।

उपसंहार—इस प्रकार उक्त समस्त उदाहरणों में जहाँ एक दोष दिखाया गया है वहाँ और भी दोष सम्भव हैं, फिर भी उनका वहाँ प्रसंग न होने से प्रकाशन नहीं किया गया है।

दोषापवाद

भामह का कथन है कि सन्निवेश और आश्रय के वैशिष्ट्य से दोष भी गुण हो जाते हैं। भोज, वामन, दण्डी आदि सभी आचार्यों ने दोषापवादों का उल्लेख करते हुए दोषों की अदूषकता का प्रतिपादन किया है। मम्मट यहाँ पर दोषों के अदोष होने की चर्चा करते हुए कहते हैं कि ऊपर जिन दोषों का विवेचन किया जा चुका है वे सब जगह दोष नहीं रहते, अपितु विषय-विशेष के अनुसार दोष भी गुण बन जाते हैं। ऐसे दोषों को अनित्य दोष कहते हैं। मम्मट ने उन्हें दोषाङ्कुश कहा है। अब दोषांकुशों का निरूपण करते हैं—

अनुवाद (सू० ७७)—कर्णावतंस आदि पदों में कर्ण आदि पदों का प्रयोग (ध्वनिनिर्मितिः) सन्निधान आदि के बोध के लिए होता है।

विमर्श—मम्मट ने यह दोषापवाद प्रकरण आचार्य वामन के दृष्टिकोणों के आधार पर निरूपण किया है। वामन के काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति में यह श्लोक दिया है जिसे मम्मट ने दो सूत्रों के रूप में प्रतिपादित किया है। वामन का श्लोक निम्न प्रकार है—

यथा---

अस्याः कर्णावतंसेन जितं सर्वं विभूषणम् ।
तथैव शोभतेऽत्यर्थमस्याः श्रवणकुण्डलम् ॥२८८॥
अपूर्वमधुरामोदप्रमोदितदिशस्ततः ।
आययुर्भृङ्गमुखराः शिरःशेखरशालिनः ॥२८९॥

अत्र कर्णश्रवणशिरः शब्दाः सन्निधानप्रतीत्यर्थाः ।

विदीर्णाभिमुखारातिकराले सङ्गरान्तरे ।
धनुर्ज्याकिणचिन्हेन दोष्णा विस्फुरितं तव ॥२९०॥

अत्र धनुः शब्द आरूढत्वावगतये ।

कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः
सन्निधानादिबोधार्थं स्थितेष्वेतत् समर्थनम् ।

(काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति २।२।१९)

मम्मट ने इस श्लोक को दो सूत्रों में विभाजित कर दिया है --'**कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः**' सन्निधानादिबोधार्थम् (सू० ७७) तथा '**स्थितेष्वेतत् समर्थनम्**' (सू० ७८) ।

अनुवाद (वृत्ति)-- अवतंस आदि शब्द कर्णाभूषण आदि के लिए कहा जाता है। उनमें कर्ण आदि शब्द कर्ण आदि की स्थिति का बोध कराने के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। जैसे

अनुवाद --इस नायिका के कर्णावतंस (कर्णाभूषण) ने इन समस्त आभूषणों को जीत लिया है और इसी प्रकार उसका कर्ण-कुण्डल अत्यन्त शोभित हो रहा है ॥२८८॥

इसके बाद अपूर्व मधुर सौरभ से दिशाओं को सुगन्धित करते हुए भौंरों के गुन्जार से युक्त शिरोभूषणधारी लोग आ पहुँचे ॥२८९॥

यहाँ पर कर्ण, श्रवण और शिरः शब्द सन्निधान का बोध कराने के लिए हैं। इसलिए यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं है।

अनुवाद --हे राजन् ! पहले क्षत होकर फिर सामने आ जाने वाले शत्रुओं से भयंकर संग्राम के बीच धनुष की प्रत्यञ्चा के व्रण-चिह्न से अंकित तुम्हारी भुजा फड़क उठी ॥२९०॥

यहाँ पर 'धनुष्' शब्द का प्रयोग धनुष् पर प्रत्यञ्जा चढ़े हुए होने का बोध कराने के लिए हुआ है।

अन्यत्र तु—

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिश्वसद्वक्त्रपरम्परेण ।

कारागृहे निर्जितवासवे न लंकेश्वरेणोषितमाप्रसादात् ॥२९१॥

अत्र केवलो ज्या शब्दः ।

प्राणेश्वरपरिष्वङ्गविभ्रमप्रतिपत्तिभिः ।

मुक्ताहारेण लसता हसतीव स्तनद्वयम् ॥२९२॥

अत्र मुक्तानामन्यरत्नमिश्रितत्वबोधनाय मुक्ताशब्दः ।

सौन्दर्यसम्पत् तारुण्यं यस्यास्ते ते च विभ्रमाः ।

षट्पदान् पुष्पमालेव कान् नाकर्षति सा सखे ! ॥२९३॥

अत्रोत्कृष्टपुष्पविषये पुष्पशब्दः । निरुपपदोहि मालाशब्दः पुष्पस्रजमेवाभिधत्ते ।

(सू० ७८) स्थितेष्वेतत्समर्थनम् ॥५८॥

और अन्यत्र —

अनुवाद—धनुष की डोरी से बाँध देने से निश्चेष्ट भुजा वाला दीर्घ साँसें लेते हुए मुख परम्पराओं से युक्त, इन्द्र को जीतने वाले रावण ने जिसके कारावास में कृपा-प्राप्ति पर्यन्त पड़ा रहा ॥२९१॥

यहाँ पर केवल 'ज्या' शब्द का ही प्रयोग है।

अनुवाद—प्रियतम के आलिंगन के हाव-भावों से सम्मानित सुशोभित मोती के हार से युक्त दोनों स्तन मानो हँस रहे हैं ॥२९२॥

यहाँ पर अन्य रत्नों के मिश्रित न होने का बोध कराने के लिए 'मुक्ता' शब्द का प्रयोग है।

अनुवाद—हे मित्र ! जिसके पास सौन्दर्य की सम्पत्ति है, यौवन है, और हाव-भाव के विलास हैं, वह जिस प्रकार पुष्प माला भौंरों को आकर्षित करती है, उसी प्रकार (वह) किसे नहीं आकर्षित करती ? ॥२९३॥

यहाँ पर उत्कृष्ट (उत्तम) पुष्पों के बोधन के लिए पुष्प शब्द का प्रयोग किया गया है। क्योंकि उपपद (विशेषण) से रहित केवल माला शब्द फूलों की माला का ही वाचक है।

अनुवाद (सू० ७८)—महाकवियों के प्रयोग में यह समर्थन होता होता है ॥५८॥

न खलु कर्णावतंसादिवज्जघनकाञ्चीत्यादि क्रियते।

जगाद मधुरां वाचं विशदाक्षरशालिनीम् ॥२९४॥

इत्यादौ क्रियाविशेषणत्वेऽपि विवक्षितार्थप्रतीतिसिद्धौ 'गतार्थस्यापि विशेष्यस्य विशेषणदानार्थं क्वचित् प्रयोगः कार्यः' इति न युक्तम्, युक्तत्वे वा—

चरणत्रपरित्राणरहिताभ्यामपि द्रुतम् ।
पादाभ्यां दूरमध्वानं व्रजन्नेष न खिद्यते ॥२९५॥

इत्याद्युदाहार्यम्

यहाँ पर कर्णावतंस आदि के समान 'जघनकाञ्ची' आदि शब्दों के साथ इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

अनुवाद—'उसने विशद अक्षरों से युक्त मधुर वचन कहा ॥२९४॥

इत्यादि उदाहरण में क्रिया विशेषण होने पर भी विवक्षित अर्थ की प्रतीति सिद्ध हो सकती है, इसलिए 'गतार्थ' विशेष्य का भी विशेषण देने के लिए कहीं प्रयोग करना चाहिए, यह कथन ठीक नहीं है। यदि युक्त माना जाय तो—

'यह मनुष्य जूतों (चरणत्र) रक्षण (परित्राण) से रहित पैरों से भी शीघ्रतापूर्वक दूर मार्ग में चलता हुआ भी खिन्न नहीं होता ॥२९५॥

इस प्रकार उदाहरण देना चाहिए।

विमर्श—भाव यह है कि प्राचीन महाकवियों के काव्यों में कर्णावतंस, श्रवण कुण्डल, मुक्ताहार, पुष्पमाला आदि शब्दों का प्रयोग पाया जाता है, इसलिए केवल प्राचीन काव्यों में स्थित प्रयोगों में ही यह समर्थन प्राप्त है। किन्तु कर्णावतंस आदि प्राचीन प्रयोगों की भाँति जघन काञ्ची आदि नवीन शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। वामन ने काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में 'गतार्थ विशेष्य का भी विशेषण देने के लिए प्रयोग का समर्थन दिया है और 'जगाद मधुरां वाचं विशदाक्षरशालिनीम्' यह उदाहरण प्रस्तुत किया है।

वामन का कथन है कि उक्त उदाहरण में 'जगाद' पद 'गद् व्यक्तायां वाचि' धातु से निष्पन्न है, इस प्रकार 'जगाद' के भीतर ही 'वाचम्' का अर्थ समाविष्ट है (जगाद=वाणी बोला)। अतः 'वाचं जगाद' कहने की क्या आवश्यकता ! किन्तु वाणी के साथ 'मधुरां' विशेषण देने के लिए गतार्थ 'वाचं' का प्रयोग कभी-कभी किया जा सकता है। किन्तु मम्मट इससे सहमत नहीं हैं उनका कहना है कि 'मधुरां'

(सू० ७८) ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टता ।

यथा—

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥२९६॥

अत्र रात्रौ पद्मस्य सङ्कोचः, दिवा चन्द्रमसश्च निष्प्रभत्वं लोकप्रसिद्धमिति 'न भुङ्क्ते' इति हेतुं नापेक्षते ।

(सू० ७९) अनुकरणे तु सर्वेषाम् ।

सर्वेषां श्रुतिकटुप्रभृतीनां दोषाणाम् । यथा—

को 'वाचं' का विशेषण न बनाकर क्रियाविशेषण के द्वारा विवक्षित अन्वय किया जा सकता है (मधुरं जगाद) । अतः प्रयोग दोषयुक्त है ।

इसके अतिरिक्त यदि उक्त सिद्धान्त का समर्थन आवश्यक है तो उसका उदाहरण 'चरणत्र०' इत्यादि देना चाहिए । क्योंकि 'चरणत्र०' इत्यादि व्रजन क्रिया का क्रिया विशेषण नहीं माना जा सकता, इसीलिए विशेषणदानार्थं 'पादाभ्याम्' का प्रयोग करना उचित ही है ।

अनुवाद (सू० ७८)– प्रसिद्ध अर्थ में हेतु न होना (निर्हेतुता) दोष नहीं है ।

जैसे—

अनुवाद—जैसे चञ्चल लक्ष्मी (शोभा, सुन्दरता) चन्द्र के पास पहुंच कर कमल के सौरभ गुणों को प्राप्त नहीं कर सकता और कमल में स्थित होने पर चन्द्रमा की शोभा नहीं प्राप्त कर सकता, किन्तु पार्वती के मुख को पाकर उसने चन्द्र-शोभा और कमल सौरभ दोनों के आनन्द को प्राप्त किया ॥२९६॥

यहाँ पर रात्रि में कमल का बन्द हो जाना और दिन में चन्द्रमा कान्ति-हीन होना लोक में प्रसिद्ध है। इसलिए 'न भुङ्क्ते' इसके लिए हेतु की आवश्यकता नहीं है। अतः यहाँ पर 'निर्हेतुता' दोष नहीं है।

अनुवाद (सू० ७९)—अनुकरण में सभी दोषों की निर्दोषता होती है।

भाव यह कि अनुकरण में श्रुतिकटु आदि सभी दोष निर्दोष हो जाते हैं ।

मृग चक्षुषमद्राक्षमित्यादि कथयत्ययम् ।
पश्यैष च गवित्याह सुत्रामाणं यजेति च ॥२९७॥

(सू० ८०) वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित्
क्वचिन्नोभौ ॥५९॥

वक्तृप्रतिपाद्यव्यङ्ग्यवाच्यप्रकरणादीनां महिम्ना दोषोऽपि क्वचिद् गुणः, क्वचिन्न दोषो न गुणः। तत्र वैयाकरणादौ वक्तरि प्रतिपाद्ये च, रौद्रादौ च रसे व्यङ्ग्ये कष्टत्वं गुणः। क्रमेणोदाहरणम्—

दीधीङ्वेवीङ्समः कश्चिद् गुणवृद्ध्योरभाजनम् ।
क्विप् प्रत्ययनिभः कश्चिद्यत्र सन्निहिते न ते ॥२९८॥

जैसे

अनुवाद—यह मनुष्य 'मैंने मृगनयनी को देखा' इत्यादि वचन कहता है और 'यह गाय देखो' यह भी कहता है तथा 'इन्द्र (सुत्रामाणं) की पूजा करो' (यह भी कहता है) ॥२९७॥

विमर्श—यहाँ पर पूर्वार्द्ध में शृंगाररस के प्रसङ्ग में 'अद्राक्षम्' यह श्रुतिकटु वर्णों का प्रयोग किया है। अतः यहाँ दोष होना चाहिए, इसी प्रकार तृतीय चरण में 'गवित्ति' में यह प्रयोग व्याकरणशास्त्र के विरुद्ध होने से 'च्युतसंस्कार' दोष है और 'सुत्रामा' शब्द का प्रयोग अप्रयुक्त दोष है। किन्तु यहाँ पर अनुकरण में प्रयोग होने से इनमें कोई भी दोष नहीं है।

अनुवाद (सू० ८०)— वक्ता आदि के औचित्य के कारण कहीं दोष भी गुण हो जाता है और कहीं दोनों नहीं होता ॥५१॥

अनुवाद (वृत्ति)—वक्ता, बोद्धा, व्यङ्ग्य, वाच्य, प्रकरण आदि की महिमा से दोष भी कहीं गुण हो जाता है और कहीं न दोष होता है न गुण। उनमें वैयाकरण आदि के वक्ता और श्रोता (बोद्धा) होने पर तथा रौद्र आदि रस के व्यङ्ग्य होने पर कष्टत्व दोष गुण हो जाता है। क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—कोई व्यक्ति दीधीङ् तथा वेवीङ् धातु के समान गुण (पाण्डित्य, दया, दान, शौर्यादि) तथा वृद्धि (समृद्धि) का पात्र नहीं होता और कोई क्विप् प्रत्यय के समान (सर्व लुप्त) है जिसके पास आ जाने पर (सन्नि-हिते) अन्य में भी गुण-वृद्धि नहीं हो पाती ॥२९८॥

यदा त्वामहमद्राक्षं पदविद्याविशारदम् ।
उपाध्यायं तदाऽस्मार्षं समस्प्राक्षं च सम्मदम् ॥२९९॥
अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कंकण—
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम् ।
पीतच्छर्दितरक्तकर्दम घन प्राग्भारघोरोल्लस—
द्व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति ॥३००॥

विमर्श—गुण और वृद्धि ये दोनों व्याकरणशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। व्याकरणशास्त्र में 'दीधीवेवीटां' सूत्र से दीधीङ् और वेवीङ् धातुओं में गुण-वृद्धि का निषेध किया गया है। इसी प्रकार 'क्विप्' प्रत्यय होने पर 'क्विपि च' सूत्र से गुण-वृद्धि का निषेध किया गया है। यहाँ पर प्रस्तुत पद्य का वक्ता वैयाकरण है। वह कहता है कि जिस प्रकार दीधीङ्-वेवीङ् धातुओं में गुण-वृद्धि नहीं होती, उसी प्रकार कुछ व्यक्ति गुण (पाण्डित्य, शौर्यादि गुणों के) तथा वृद्धि (समृद्धि) के पात्र नहीं होते हैं और जैसे क्विप् प्रत्यय का सर्वापाहारि लोप हो जाता है, और उसके लोप होने पर गुण-वृद्धि नहीं होती, उसी प्रकार कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो क्विप् प्रत्यय के समान सर्वलुप्त होते हैं अर्थात् उनके पास न गुण रहता है और न वृद्धि (समृद्धि) ही होती है, यही नहीं, बल्कि उनके सम्पर्क अन्य में भी गुण-वृद्धि नहीं होती। इस प्रकार वैयाकरण वक्ता होने से यहाँ कष्टत्व दोष गुण हो गया है।

वस्तुतः यहाँ अप्रतीतत्व दोष है क्योंकि शास्त्रविशेष में प्रसिद्ध शब्दों का काव्य में प्रयोग करने पर अप्रतीत्व दोष होता है। यहाँ पर व्याकरणशास्त्र के पारिभाषिक-शब्दों का प्रयोग होने से अप्रतीतत्व दोष होना चाहिए था, किन्तु वैयाकरण वक्ता होने से यहाँ उक्त दोष गुण हो गया है।

अनुवाद—जब मैंने पदविद्या (व्याकरण शास्त्र) के विद्वान् आपको देखा तब मैंने अपने उपाध्याय (गुरु) का स्मरण किया और हर्ष को प्राप्त किया ॥२९९॥

विमर्श—यहाँ वैयाकरण बोद्धा है। यहाँ अद्राक्षम्, अस्मार्षम्, समस्प्राक्षम् आदि शब्द श्रुतिकटु हैं किन्तु वैयाकरण बोद्धा (श्रोता) होने से यह गुण हो गया है।

अनुवाद—अंतड़ियों में पिरोये हुए बड़े-बड़े कपाल (खोपड़ियाँ) और जाँघ की हड्डियों के बने हुए, भयंकर रूप खनखनाते हुए कंगन आदि नाना प्रकार के आभूषणों की ध्वनि से आकाश को प्रतिध्वनित करती हुई और पीने के बाद उगले गये रक्त (खून) के कीचड़ में सने हुए ऊपरी भाग पर भयंकर रूप से दिखाई देने वाले, हिलते हुए स्तनों के बोझ से भयावने शरीर वाली अभिमान से उद्धत यह कौन दौड़ रही है? ॥३००॥

वाच्यवशाद्यथा—

मातङ्गाः किमु वल्गितैः किमफलैराडम्बरैर्जम्बुकाः
सारङ्गा महिषा मदं व्रजथ किं शून्येषु शूरा न के।
कोपाटोपसमुद्भटोत्कटसटाकोटेरिभारेः पुरः।
सिन्धुध्वानिनि हुङ्कृते स्फुरति यत् तद्गर्जितं गर्जितम् ॥३०१॥

अत्र सिंहे वाच्ये परुषा शब्दाः।

प्रकरणवशाद्यथा—

रक्ताशोक ! कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनं
नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वाताबधूतं शिरः।
उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासङ्घट्टदष्टच्छद—
स्तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः ॥३०२॥

अत्र शिरोधूननेन कुपितस्य वचसि।

विमर्श—यहाँ पर कठोर शब्दों के प्रयोग से श्रुतिकटु दोष है किन्तु यहाँ बीभत्स रस के व्यंग्य होने से परुषवर्ण और दीर्घसमास युक्त वाक्य बीभत्स रस के व्यंजक होने से गुण हो गये हैं।

वाच्य के कारण, जैसे—

अनुवाद—**अरे हाथियो ! तुम्हारे झूमने (या चिंग्घाड़) से क्या ? अरे शृंगालो ! तुम्हारे व्यर्थ के आडम्बरों (चिल्लाने) से क्या ? अरे मृगो ! और भैंसो ! क्यों गर्व करते हो ? बलवान् के न होने पर कौन शूर नहीं होता ? क्रोध के उद्रेक से भयंकर केश-कलाप (केसरों) के अग्रभाग वाले और समुद्र के समान गम्भीर निनाद करने वाले शेर के हुङ्कार होने पर जो गर्जना हो वही गर्जना है ॥३०१॥**

यहाँ सिंह के वाच्य होने से कठोर शब्दों का प्रयोग है।

विमर्श—यहाँ पर सिंह रूप वाच्य के औचित्य के कारण दीर्घ समास तथा परुषवर्ण युक्त कठोर शब्दों का प्रयोग सिंह वर्णन के प्रसङ्ग में गुण हो गया है, अतः यहाँ दोष नहीं है।

प्रकरणवश होने वाले दोष गुण का उदाहरण, जैसे—

अनुवाद—(पुरुरवा रक्ताशोक से पूछता है कि) हे रक्ताशोक ! इस अनुरक्त जन को छोड़कर कृशोदरी (उर्वशी) कहाँ चली गई ? 'नहीं देखा' इस प्रकार वायु के वेग से कम्पित सिर को व्यर्थ में क्यों हिला रहे हो ? उसके पादाघात के बिना तुम्हारा यह पुष्पोद्गम कैसे हुआ ? जिसकी पंखुड़ियाँ ललचाये भौंरों के झुण्ड के झुण्ड गिरने से बिखर गई हैं ॥३०२॥

अत्र माधवपक्षे शशिमदन्धकक्षयशब्दौ अप्रयुक्तनिहतार्थौ ।

अश्लीलं कश्चिद् गुणः। यथा सुरतारम्भगोष्ठ्याम् 'द्वयर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु' इति कामशास्त्रस्थितौ

करिहस्तेन सम्बाधे प्रतिश्यान्तर्विलोडिते ।
उपसर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते ॥३०५॥

लयः) जिन्होंने गोवर्धन पर्वत (आग) और पृथ्वी (गां) को धारण किया, देवता लोग जिसका शशिमच्छिरोहर (राहु का सिर काटने वाला) के नाम से सदा स्तुत्य (प्रशंसनीय) हैं। जो यादवों (अन्धक) के बासस्थान बनाने वाला है (क्षयकरः=क्षय गृह, करः- कर्त्ता), सब कुछ देने वाले माधव (विष्णु) तुम्हारी रक्षा करें ॥३०४॥

(शिव के पक्ष में) कामदेव का संहार करने वाले जिस शिव ने पहिले (पुरा त्रिपुरदाह के समय) विष्णु के शरीर को अपना अस्त्र बनाया (अस्त्रीकृतः), जो भयंकर सर्पों को हार और बलय रूप में धारण करते हैं और जिन्होंने गंगा को धारण किया, जिसका शिर चन्द्रकला से युक्त है (शशिमच्छिरः) देवता लोग जिसका 'हर' यह स्तुत्य (प्रशंसनीय) नाम बतलाते हैं, जिन्होंने अन्धकासुर का बध किया है वह भगवान् शंकर (उमाधवः, उमापति) सर्वदा आपकी रक्षा करें ॥३०४॥

यहाँ पर विष्णुपक्ष में 'शशिमत्' शब्द राहुरूप अर्थ में अप्रयुक्त है और 'अन्धकक्षय' पद 'यादव-निवास' रूप अर्थ में निहतार्थ है। किन्तु यहाँ श्लेष होने से न दोष है न गुण।

अनुवाद—अश्लीलत्व दोष कहीं गुण हो जाता है। जैसा सुरत-क्रीडा के प्रारम्भिक वार्त्तालाप में (अश्लील शब्द दोष नहीं गुण हो जाता है। क्योंकि कामशास्त्र की स्थिति (मर्यादा) के अनुसार द्वयर्थक पदों के द्वारा गुप्त वस्तु (गोपनीय-वार्ता) सूचित करना चाहिए।

जैसे—

अनुवाद—संकुचित योनि (सम्बाधे) में करिहस्त (योनिशैथिल्यापादक अंगुलि-क्रिया) को प्रविष्ट कर अन्दर बिलोड़न करके पुरुष का ध्वज (लिंग) गमनागमन करता हुआ योनि के अन्दर विराजमान है ॥३०५॥

यहाँ पर सुरत क्रीड़ा में कामविषयक वर्णन में अश्लीलत्व गुण हो जाता है।

रामकथासु—

उत्तानोच्छूनमण्डूक पाटितोदरसन्निभे ।
क्लेदिनि स्त्रीवणे शक्तिरकृमेः कस्य जायते ॥३०६॥

निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह केशवेन ॥
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥३०७॥

अत्रभाव्यमङ्गलसूचकम् ।

सन्दिग्धमपि वाच्यमहिम्ना क्वचिन्नियतार्थप्रतीतिकृत्त्वेन व्याजस्तुति-पर्यवसायित्वे गुणः । यथा —

पृथुकार्त्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेष परिजनं देव !
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति समभावयोः सदनम् ॥३०८॥

(द्वितीय अर्थ)—हाथी के सूड़ों के द्वारा युद्ध में भीतर प्रवेश कर अन्दर से विलोड़ित करने पर वीर पुरुष की ध्वजा शत्रु सेना के बीच पहुँच कर फहराती हुई सुशोभित है ॥३०५॥

राम कथा में--

अनुवाद—ऊपर को पेट करके (उतान) पड़े हुए और फूले हुए मेढ़क के फाड़े हुए पेट के समान क्लेदयुक्त (रजःस्राव से भरे) स्त्री की योनि में कीड़े के अतिरिक्त और किस की आसक्ति हो सकती है ? ॥३०६॥

यहाँ पर वैराग्य विषयक चर्चा होने से अश्लील शब्द प्रयोग गुण हो गया है ।

अनुवाद—शत्रुओं के नाश हो जाने से जिनकी वैर की अग्नि बुझ गई है वे पाण्डुपुत्र भगवान् कृष्ण के साथ प्रसन्न हों, और प्रजा को अनुरक्त एवं वशीकृत करने वाले तथा युद्ध का नाश करने वाले कौरव भृत्य सहित स्वस्थ हों । किन्तु यहाँ उत्तरार्द्ध वाक्य का रक्त से पृथ्वी रंग देने वाले और घायल शरीर वाले कौरव अपने भृत्यों के साथ स्वर्ग चले जायें (स्वस्था= स्वः-स्वर्गे स्थिता) । इस प्रकार का यह अमंगल सूचक अश्लीलत्व अर्थ गुण हो गया है ॥३०७॥

अनुवाद—सन्दिग्ध पद भी कहीं वाच्य अर्थ की महिमा से नियत अर्थ का बोधजनक (प्रतीतिजनक) होने से व्याजस्तुति रूप में परिणत होकर गुण हो जाता है । जैसे—

अनुवाद—(कोई भिक्षुक किसी राजा से कहता है कि) हे देव ! आपका और हमारा घर एक समान है, क्योंकि आपका घर 'पृथुकार्त्तस्वरपात्र

प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्ज्ञत्वे सत्यप्रतीत्वं गुणः।' यथा --

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्
तं मोहान्धः कथमयममु वेत्ति देवं पुराणम् ॥३०९॥

अर्थात् पृथु-विशाल, कार्त्तस्वर=सुवर्ण, के पात्रों से युक्त है (पृथूनि महान्ति कार्त्तस्वरस्य सुवर्णस्य पात्राणि यस्मिन् तत्) और हमारा घर भी 'पृथुकार्त्त-स्वरपात्र' अर्थात् पृथुक-बच्चों के आर्त्तस्वर (रुदन) का पात्र स्थान है (पृथुकानां बालानां आर्त्तस्वरस्य बुभुक्षितत्वात् रोदनस्य पात्रम्-स्थानम्)। 'भूषितनिःशेषपरिजन' अर्थात् आपका घर भूषित+निःशेष+परिजन अलंकृत सेवकों से व्याप्त है और हमारा घर भू+उषित+निःशेष+परिजन अर्थात् पृथ्वी पर लेटने वाले परिजनों से युक्त है विलसत्करेणुगहनं अर्थात् आपका घर सुशोभित हथिनियों से भरा है (विलसत्+करेणु=हथिनी+गहन=व्याप्त) और हमारा भी घर विलसत्क-रेणु-गहन अर्थात् बिल में रहने वाले चूहों के मिट्टी के ढेर से भरा है (बिले सीदन्ति इति विलसत्का मूषकाः तेषां रेणुः बिलान्निर्गता धूलिः तया पूर्णम्)। यहाँ पर दोनों अर्थों में कौन-सा अर्थ लिया जाय, यह सन्दिग्ध है। व्याजस्तुति के द्वारा राजा की निन्दा होने से दोष गुण हो गया है।

अनुवाद—वक्ता और श्रोता दोनों के शास्त्रज्ञाता होने पर अप्रतीतत्व दोष गुण हो जाता है। जैसे --

"निर्विकल्पक समाधि में विरत (स्थित) आत्मा में रमण करने वाले, ज्ञान के उद्रेक से तमोगुण की ग्रन्थियों को नष्ट करने वाले सत्त्व गुण में स्थित (सत्त्वनिष्ठ) योगी तमोगुण और सत्त्वगुण (अन्धकार और प्रकाश) से परे अनिर्वचनीय स्वरूप को किसी प्रकार देख पाते हैं, मोहान्ध अज्ञानी पुरुष उस पुराण पुरुष भगवान् को कैसे जान सकता है ॥३०९॥

यहाँ पर वक्ता (भीम) और श्रोता (सहदेव) दोनों शास्त्रज्ञ हैं अतः यहाँ अप्रतीतत्व दोष नहीं है।

स्वयं वा परामर्शे यथा—

षडधिकदशनाड़ीमध्यस्थितात्मा
हृदि विनिहितरूपः सिद्धिदस्तद्विदां यः ।
अविचलितमनोभिः साधकैर्मृग्यमाणः
स जयति परिणद्धः शक्तिभिः शक्तिनाथः ।।३१०।।

अधमप्रकृत्युक्तिषु ग्राम्यत्वं गुणः । यथा—

फुल्लुक्करं कलमकूरणिहं वहंति जे
सिन्धुवारविड़वा मह वल्लहा दे ।
जे गालिदस्स महिसीदहिणो सरिच्छा
दे किञ्च मुद्धविअइल्लपसूणपुंजा ।।३११।।

स्वयं चिन्तन करने में—जैसे—

अनुवाद—(मालती माधव में कपालकुण्डला का कथन) सोलह नाड़ियों के मध्य में स्थित स्वरूप वाला और हृदय में निहित रूप वाला जो उसके जानने वालों को सिद्धि देने वाला है, स्थिरचित्त साधकों के द्वारा अनुसन्धेय वह शक्तियों से युक्त शक्तिनाथ शिव सर्वोत्कर्षशाली है ।।३१०।।

विमर्श—यहाँ पर नाड़ी, चक्र, शक्ति, शक्तिनाथ आदि शब्द हठयोग के पारिभाषिक शब्द हैं । अतएव शास्त्र प्रसिद्ध होने से यहाँ अप्रतीतत्व दोष होना चाहिए, किन्तु यहाँ कपालकुण्डला नामक योगिनी स्वयं परामर्श करती प्रविष्ट हो रही है, अतः यहाँ दोष नहीं गुण हो गया है । सोलह नाड़ियाँ निम्न प्रकार हैं—

इड़ा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना चापराजिता ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव तथापरा ।।
अलम्बुषा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी स्मृता ।
तालुजिह्वभजिह्वा च विजया कामदापरा ।।
अमृता बहुला नाम नाड्यो वायुसमीरिताः ।

आठ सिद्धियों के नाम निम्न प्रकार हैं—

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा ।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्ट सिद्धयः ।।

[पुष्पोत्करं कलमभक्तनिभं बहन्ति
ये सिन्धुवारविटपा मम वल्लभास्ते ।
मे गालितस्य महिषीदध्नः सदृक्षास्ते
किं च मुग्धविचकिलप्रसूनपुञ्जाः ॥३११॥]

(इति संस्कृतम्)

अत्र कलमभक्तमहिषीदधिशब्दा ग्राम्या अपि विदूषकोक्तौ—

न्यूनपदं क्वचिद् गुणः । यथा—

गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भूतरोमोद्गमा
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा ।
मा मा मानद माऽति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ? ॥३१२॥

अनुवाद अधम प्रकृति की उक्तियों में ग्राम्यत्व दोष गुण हो जाता है । जैसे

"जो कलम (धान्य विशेष, चावल) के भात के समान पुष्पों के निकर (समूह) को धारण करते हैं, जो सिन्धुवार (निर्गुण्डी) के वृक्ष के समान मुझे सुन्दर (प्रिय) हैं, जो निचोड़े गये भैंस की दही के समान सुन्दर हैं और मल्लिका पुष्पों के पुञ्ज भी मुझे प्रिय हैं ॥३११॥

यहाँ पर कलम, भक्त, महिषी, दधि शब्द ग्रामीण शब्द हैं । इनका काव्य में प्रयोग निषिद्ध है किन्तु अधम प्रकृति के द्वारा कथित होने से वह यहाँ गुण हो गया है ।

कहीं न्यून पद भी गुण हो जाता है । जैसे—

अनुवाद—गाढ़ आलिंगन से दबे हुए कुचों वाली, रोमाञ्च से युक्त, घने स्नेह-रस के अतिरेक (आधिक्य) के कारण सुन्दर नितम्बों से खिसके हुए वस्त्र (परिधान) वाली 'मान का खण्डन करने वाले या मान-सम्मान देने वाले प्रियतम बस करो, बस करो, और अधिक मत पीड़ित करो' इस प्रकार धीरे-धीरे कहती हुई, यह सुन्दरी 'क्या सो गई, या मर गई अथवा मेरे मन में समा गई अथवा विलीन हो गई' ॥३१२॥

विमर्श—यहाँ पर 'मा, मा' के बाद 'आयासय' और 'माऽति' के बाद 'पीडय' पद का प्रयोग होना चाहिए, किन्तु इनका प्रयोग न होने से न्यूनपदत्व दोष

क्वचिन्न गुणो न दोषः । यथा—

तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति

स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।

तां हर्त्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्त्तिनीं

सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥३१३॥

अत्र पिहिता इत्यतोऽनन्तरं 'नैतद्यतः' इत्येतैन्यूर्नैः पदैर्विशेष-बुद्धेरव करणान्न गुणः । उत्तरा प्रतिपत्तिः पूर्वां प्रतिपत्तिं बाधते इति न दोषः ।

अधिकपदं क्वचिद् गुणः । यथा—

यद्वञ्चनाहितमतिर्बहुचाटुगर्भं
कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति ।
तत्साधवो न न विदन्ति विदन्ति किन्तु
कर्त्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति ॥३१४॥

अत्र 'विदन्ति' द्वितीयमन्ययोगव्यवच्छेदपरम् ।

होना चाहिए, किन्तु यहाँ वह गुण हो गया है । कहीं-कहीं न्यूनपदत्व न गुण होता है न दोष । जैसे—

अनुवाद—(पुरूरवा कहता है कि) उर्वशी कहीं क्रोध के कारण अपने प्रभाव से छिपकर बैठ तो नहीं गई ? किन्तु वह तो इतनी देर नाराज नहीं रहती थी । क्या स्वर्ग को तो नहीं चली गई ? किन्तु उसका मन तो मेरे पर स्नेह से आर्द्र है । मेरे सामने दानव भी उसका अपहरण नहीं कर सकते। फिर भी वह आँखों के ओझल हो गई, यह क्या विधान है ? ॥३१३॥

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ पर 'पिहिता' के बाद 'नैतद्यतः' ये न्यूनपद अपेक्षित हैं किन्तु उनकी न्यूनता यहाँ विवक्षित वितर्क में कोई विशेषता उत्पन्न न होने से गुण नहीं है और वह न्यूनता दोष भी नहीं है, क्योंकि उत्तर—बाद में होने वाली प्रतीति पूर्व-प्रतीति को बाधित कर देती है। (इसलिए दोष भी नहीं है) ।

अनुवाद—कहीं पर अधिक पद गुण हो जाता है । जैसे—

"जो दुष्ट लोग दूसरे को धोखा देने में संलग्न तथा स्वार्थ-साधन में तत्पर चाटुकारितापूर्ण बनावटी बातें करते हैं, उन्हें सज्जन पुरुष नहीं समझते हों ऐसी बात नहीं, बल्कि सब कुछ समझते हैं; किन्तु फिर भी उसके प्रणय (प्रेम) को वृथा (निष्फल) करने में समर्थ नहीं होते ॥३१४॥

यथा वा—

वद वद जितः शत्रुर्न हतो जल्पंश्च तव तवास्मीति ।
चित्रं चित्रमरोदीद्धा हेति परं मृते पुत्रे ।।३१५।।

इत्येवमादौ हर्षभयादियुक्ते वक्तरि।

कथितपदं क्वचिद्गुणः लाटानुप्रासे, अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्ये, विहितस्यानुवाद्यत्वे च । क्रमेणोदाहरणानि—

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार ! धरणिधर ! कीर्त्तिः ।
पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य ।।३१६।।

यहाँ पर दूसरी बार आया हुआ 'विदन्ति' पद दूसरों के सम्बन्ध का व्यावर्त्तक होने से अधिक पदत्व दोष गुण हो गया है।

अथवा जैसे—

अनुवाद—(समरभूमि से लौटे हुए सैनिक से राजा पूछता है कि) बताओ, बताओ, वह शत्रु जीत लिया गया? 'मैं तुम्हारा हूं, तुम्हारा ही हूँ' इस प्रकार कहता हुआ वह मारा नहीं गया, किन्तु अपने पुत्र के मर जाने पर 'हाय, हाय' करके विचित्र ढंग से (फूट फूट कर) रोने लगा ।।३१५।।

यहाँ पर वक्ता के हर्ष, विषाद, भय आदि से युक्त होने के कारण अधिकपदत्व दोष भी गुण हो गया है।

अनुवाद (वृत्ति)—कहीं कथितपद (पुनरुक्त पद) भी गुण हो जाता है, जैसे लाटानुप्रास में और अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य में तथा पूर्व वाक्य के विधेय के उत्तर वाक्य में अनुवाद रूप में रहने पर, इन तीनों स्थानों पर पुनरुक्तत्व दोष गुण हो जाता है। क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं

अनुवाद—हे सूर्य के समान प्रतापशाली ! पृथ्वीपति राजन् ! चन्द्रमा की किरणों के समान रुचिर (आह्लादक) कान्तिवाली कीर्त्ति, पराक्रमलक्ष्मी और वह राजलक्ष्मी भी आपकी हैं, दूसरे की नहीं ।।३१६।।

विमर्श—यहां पर 'कर-कर' विभा-विभा तथा कमला-कमला इन तीनों स्थलों पर पुनरुक्तता (कथितपदत्व) दोष अनुप्रास अलङ्कार होने से गुण हो गया है।

ताला जाअंति गुणा जाला दे सहिअएहिं घेप्पन्ति।
रईं किरणाणुग्गहिआइं होन्ति कमलाइं कमलाइं ॥३१७॥
[तदा जायन्ते गुणाः यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥३१७॥]
(इति संस्कृतम्)

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥३१८॥

पतत्प्रकर्षं क्वचिद्गुणः। यथा--

प्रागप्राप्तनिशुम्भशाम्भवधनुर्द्वेधाविधाविर्भवत्
क्रोधप्रेरितभीमभार्गवभुजस्तम्भापविद्धः क्षणात्।
उज्ज्वालः परशुर्भवत्वशिथिलस्त्वत्कण्ठपीठातिथिर्
येनानेन जगत्सु खण्डपरशुर्देवो हरः ख्याप्यते ॥३१९॥

अनुवाद—वे (गुण) तो तभी गुण होते हैं जब सहृदय उसे ग्रहण कर लेते हैं। सूर्य की किरणों से अनुगृहीत कमल ही कमल होते हैं ॥३१७॥

विमर्श—यहाँ पर द्वितीय 'कमल' शब्द कथित पद है, किन्तु दूसरा कमल पद असाधारण सौन्दर्य का व्यंजक होने से 'अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्य' ध्वनि है, जो बिना पुनरुक्तता के सम्भव नहीं है। अतः यहाँ पर 'कथितपदत्व' दोष नहीं, गुण है।

अनुवाद—जितेन्द्रियता विनय का कारण है और विनय से गुण प्रकर्ष प्राप्त होता है, गुणप्रकर्ष से लोग अनुरक्त होते हैं और लोगों के अनुरक्त होने से सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥३१८॥

विमर्श—यहाँ पर पूर्ववाक्य में जितेन्द्रियता के द्वारा विनय विधेय है उसी विनय को उत्तरवाक्य में गुणप्रकर्ष के कारण उद्देश्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार यहाँ करणमाला अलंकार का निर्वाहक होने से कथितपदता गुण हो गया है।

अनुवाद - पतत्प्रकर्ष दोष भी कहीं गुण हो जाता है। जैसे—

"अरे क्षत्रियकुमार! पहिले कभी भी न झुकाये जा सकने वाले शिव-धनुष के दो टुकड़े कर दिये जाने से उत्पन्न क्रोध से प्रेरित भयंकर परशुराम के भुजस्तम्भ से प्रक्षिप्त (अपविद्ध) दीप्तिमान् मेरा परशु (कुठार) क्षण भर में ही तुम्हारे कण्ठपीठ का अतिथि होता है, जिस परशुराम के कारण महादेव 'खण्ड परशु' नाम से प्रसिद्ध हैं ॥३१९॥

विमर्श—यहाँ पर चतुर्थ चरण में परशुराम को अपने गुरु शिवजी-का स्मरण हो आने से उनके क्रोध का शमन हो जाता है, अतः यहाँ कोमल पदों का प्रयोग उचित ही है, इसलिए 'यहाँ' 'पतत्प्रकर्ष' दोष नहीं है।

समाप्तपुनरात्तं क्वचिन्न गुणो न दोषो यत्र न विशेषणमात्रदानार्थं पुनर्ग्रहणम्, अपितु वाक्यान्तरमेव क्रियते। यथा अत्रैव 'प्रागप्राप्तेत्यादौ' ॥३२०॥

अपदस्थसमासं क्वचिद् गुणः। यथा—

रक्ताशोक ! कृशोदरी क्व नु गता त्यक्त्वाऽनुरक्तं जनं
नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वातावधूतं शिरः।
उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासंघट्टदष्टच्छद—
स्तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः ॥३२१॥

गर्भितं तथैव। यथा—

हुमि अवहत्थिअरे हो णिरंकुसो अह विवेअरहिओ वि।
सिविणे वि तुमम्मि पुणो पत्तिहि भत्तिं ण पसुमरामि ॥३२२॥

[भवाम्यपहस्तितरेखो निरंकुशोऽथ विवेकरहितोऽपि।
स्वप्नेऽपि त्वयि पुनः प्रतीहि भक्तिं न प्रस्मरामि ॥३२२॥]

(इति संस्कृतम्)

अत्र प्रतीहीतिमध्ये दृढ़प्रत्ययोत्पादनाय। एवमन्यदपि लक्ष्याल्लक्ष्यम्।

अनुवाद—समाप्तपुनरातत्त्व न कहीं गुण होता है न दोष। जहाँ केवल विशेषणमात्र देने के लिए पुनः ग्रहण नहीं होता; अपितु वाक्यान्तर (या वाक्य) ही बनाया जाता है। जिस प्रकार उपर्युक्त 'प्रागप्राप्त०' इत्यादि उदाहरण में चतुर्थपाद में अर्थ का पुनरुपादान होने पर भी केवल विशेषण-मात्र देने के लिए उसका पुनर्ग्रहण नहीं किया गया है इसलिए यहाँ न दोष है और न गुण है ॥३२०॥

अनुवाद - अपदस्थ समास भी कहीं गुण हो जाता है। जैसे

"हे रक्ताशोक ! इस अनुरक्त जन को छोड़ कर कृशोदरी उर्वशी कहाँ चली गई ? 'तुमने नहीं देखा' तो फिर वायु के वेग से कम्पित शिर को व्यर्थ में क्यों हिला रहे हो ? और उसके पादाघात के बिना तुम्हारा यह पुष्पोद्गम कैसे हुआ ? जिसकी पंखुड़ियाँ ललचाये भौरों के झुण्ड के गिरने से बिखर गई हैं।" ॥३२१॥

विमर्श—यहाँ पर श्रृंगार रस में अनुचित दीर्घसमासबहुल परुषवर्ण का प्रयोग पुरुरवा के क्रोध का पोषक होने से दोष नहीं है।

अनुवाद—गर्भित दोष भी कहीं गुण हो जाता है। जैसे—

"हे स्वामिन् ! चाहे मैं कभी निर्मर्याद बन जाऊँ, उच्छृङ्खल हो जाऊँ, अथवा विवेकशून्य हो जाऊँ, किन्तु आप विश्वास करें, स्वप्न में भी आपकी भक्ति नहीं भूल सकता।" ॥३२२॥

(सू० ८१) व्यभिचारिरसस्थायिभावनां शब्दवाच्यता ।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयोः ॥६०॥
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ॥६१॥
अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः ॥६२॥

(१) स्वशब्दोपादानं व्यभिचारिणो यथा—

सव्रीड़ा दयितानने सकरुणा मातङ्गचमम्बिरे
सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।
सेर्ष्याजह्नुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे
पार्वत्या नवसंगमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायाऽस्तु वः ॥३२३॥

अत्र व्रीड़ादीनाम् ।

विमर्श—यहाँ पर वाक्य के मध्य में आया हुआ 'प्रतीहि' शब्द मध्य में दृढ़ प्रतीति कराने के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार यहाँ पर विवक्षित दृढ़ प्रत्यायन रूप अभिप्राय विशेष की प्रतीति कराने के लिए प्रयुक्त 'प्रतीहि' शब्द दोष न होकर गुण हो गया है।

इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझना चाहिए।

रसदोष निरूपण

अनुवाद (सू० ८१)—(१) व्यभिचारिभाव (२) रस (३) स्थायिभावों का स्वशब्द द्वारा कथन (४) विभाव और (५) अनुभाव की कष्ट-कल्पना द्वारा अभिव्यक्ति (६) प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण (७) रस की पुनः पुनः दीप्ति (८) अनवसर पर रस का विस्तार तथा (९) रसच्छेद (१०) अंग (अप्रधान) रस का अधिक विस्तार (११) प्रधान रस का विस्मरण (१२) प्रकृति-विपर्यय (१३) अनंग (प्रकृत रस के अनुपकारक) का कथन इस प्रकार से रस के (तेरह) दोष होते हैं ॥६०-६२॥

(१) व्यभिचारिभाव की स्वशब्द वाच्यता

अनुवाद-- प्रियतम के मुख के सामने (सम्मुख) लज्जा से भरी, गज-चर्म के परिधान में करुणामयी, (आभूषण रूप) सर्प के दर्शन में भययुक्त अमृत वर्षा करने वाले चन्द्रमा के दर्शन में विस्मय रस से युक्त, जह्नुसुता (जाह्नवी) के देखने पर ईर्ष्यायुक्त, कपालमाला के देखने पर दैन्य और नव-समागम की प्रणयिनी पार्वती की दृष्टि कल्याण के लिए हो ॥३२३॥

यहाँ पर व्रीड़ा आदि का।

व्यानम्रा दयितानने मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे
सोकम्पा भजगे निमेषरहिता चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
मीलद्भ्रूः सुरसिन्धुदर्शनविधौ म्लाना रुपालोदरे

इत्यादि तु युक्तम्।

(२) रसस्य स्वशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वा वाच्यत्वम्। क्रमेणोदाहरणम्---

तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम्।
नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः ॥३२४॥

विमर्श---जहाँ पर व्यभिचारीभाव का स्वशब्द से कथन किया जाता है, वहाँ व्यभिचारीभाव की स्वशब्दवाच्यता दोष होता है। जैसे- प्रस्तुत उदाहरण में व्रीड़ा, त्रास, विस्मय आदि व्यभिचारिभावों स्वशब्द से कथन किया गया है, अतः यहाँ व्यभिचारिभाव की स्वशब्दवाच्यता दोष है, यदि इसके स्थान पर निम्नलिखित पाठ कर दिया जाय तो दोष नहीं रहेगा---

व्यानम्रा दयितानने मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे,
सोत्कम्पा भुजगे निमेषरहिता चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
मीलद्भ्रूः सुरसिन्धुदर्शनविधौ म्लाना कपालोदरे
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायास्तु वः॥

(२) रस की स्वशब्दवाच्यता दोष

अनुवाद—रस का स्वशब्द अर्थात् रस शब्द से अथवा शृङ्गार आदि शब्दों से कथन रस का स्वशब्द वाच्यता दोष है। क्रमशः उदाहरण देते हैं। जैसे—

अनुवाद—कामदेव के विजय की मंगललक्ष्मी और कुछ ऊपर उठे हुए बाहुओं के मूलस्थान (कुचसन्धिस्थल) को देखी गयी नायिका के दृष्टिगोचर होते ही इस नायक के हृदय में कोई अनिर्वचनीय अविच्छिन्न रस उत्पन्न हो गया ॥३२४॥

यहाँ पर रस का रस शब्द के द्वारा अभिधान होने से रस दोष है।

आलोक्य कोमलकपोलतलाभिषिक्त--
व्यक्तानुरागसुभगामभिराममूर्त्तिम् ।
पश्यैष बाल्यमतिकृत्य विवर्त्तमान:
शृंगारसीमनि तरंगितमातनोति ॥३२५॥

(३) स्थायिनो यथा—

सम्प्रहारे प्रहरणै: प्रहाराणां परस्परम् ।
ठणत्कारै: श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत् ॥३२६॥

अत्रोत्साहस्य ।

(४) कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधौत--
दिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः ।
लीलाशिरोंऽशुकनिवेशविशेषक्लृप्ति--
व्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नयनावनौ सा ॥३२७॥

अत्रोद्दीपनालम्बनरूपा: शृङ्गारयोग्या विभावा अनुभावपर्यवसायिन: स्थिता इति क्लिष्टकल्पना ।

अनुवाद—नायिका के कोमल कपोलों पर स्थित व्यक्त अनुराग के कारण सुन्दर लगने वाली उस रमणीय आकृति को देखकर बाल्यावस्था का अतिक्रमण कर नवयौवन में प्रविष्ट होता हुआ वह शृंगार की सीमा में तरंगित हो रहा है । इसे देखो ॥३२५॥

यहाँ पर शृङ्गार रस का शृङ्गार शब्द से कथित होने से दोष है ।

(३) स्थायीभाव की स्वशब्दवाच्यता दोष

अनुवाद—समरभूमि में शस्त्रों के परस्पर प्रहार से उत्पन्न 'ठणत्' ध्वनि कर्णगोचर होने पर उसमें कोई अपूर्व उत्साह हुआ ॥३२६॥

यहाँ पर 'उत्साह' स्थायीभाव का स्वशब्द से कथन होने से स्थायीभाव को स्वशब्दवाच्यता दोष है ।

(४) अनुभाव की क्लिष्टकल्पना

अनुवाद--कपूर के पराग के समान धवल कान्ति पुञ्ज से दिङ्-मण्डल को धोकर स्वच्छ कर देने वाले चन्द्रमा के उदय होने पर शिरोंऽशुक (ओढ़नी) के विशेष प्रकार से संभालने में अपने उन्नत स्तनों को दिखाती हुई तरुणी उस प्रेमी युवक को दृष्टिगोचर हुई ॥३२७॥

(५) परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलति भृशं परिवर्त्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥३२८॥

अत्र रागपरिहारादीनामनुभावनां करुणादावपि सम्भवात्कामिनी-रूपो विभावो यत्नतः प्रतिपाद्यः।

(६) प्रसादे वर्त्तस्व प्रकटय मुदं संत्यज रुषं
प्रिये शुष्यत्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चन्तु वचः।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे ! प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः ॥३२९॥

अत्र शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यताप्रकाशनरूपो विभावस्तत्प्रकाशितो निर्वेदश्च व्यभिचारी उपात्तः।

यहाँ पर उद्दीपन और आलम्बन रूप शृङ्गार रस के योग्य विभाव अनुभाव के पर्यवसित रूप में स्थित हैं, अतः स्वेद रोमाञ्चादि रूप अनुभाव की प्रतीति क्लेश से होती है अतः यहाँ अनुभाव की क्लिष्टकल्पना है।

(५) विभाव की क्लिष्टकल्पना

अनुवाद—वह (वस्तुओं से) रति को हटा रहा है, विवेक को काटता है, अत्यन्त स्खलित होता है और बार-बार चक्कर काटता है। इस प्रकार उसकी विरह की विषम अवस्था शरीर को बरबस अभिभूत कर रही है, इस विषय में क्या करें ? ॥३२८॥

यहाँ राग-परिहार आदि अनुभाव करुण आदि रसों में भी पाये जाते हैं, अतः कामिनी रूप आलम्बन विभाव की क्लिष्टता से प्रतीति हो रही है, अतः यहाँ पर विभाव की क्लिष्ट कल्पना है।

(६) प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण

अनुवाद—हे प्रिये ! प्रसन्न हो जाओ, मुस्करा दो, कोप को छोड़ दो, प्रिये ! मेरे सूखे अंगों को तुम्हारी वाणी अमृत के समान सींच दे, समस्त सुखों के आधार अपने मुख को क्षणभर मेरे सामने कर लो, हे मुग्धे ! गया हुआ काल रूपी मृग फिर लौट नहीं सकता ॥३२९॥

यहाँ पर शृङ्गार रस के विरोधी शान्त रस का अनित्यता प्रकाशन रूप विभाव तथा उससे प्रकाशित निर्वेद रूप व्यभिचारीभाव का ग्रहण किया गया है। अतः यहाँ प्रतिकूल विभावादि रूप रसदोष है।

णिहुअरमणम्मि लोअणपहम्मि पडिए गुरुअणमज्झम्मि ।
सअलपरिहाररहिअआ वणगमणं एव्व महइ वहू ॥३३०॥
[निभृतरमणे लोचनपथे पतिते गुरुजनमध्ये ।
सकलपरिहारहृदया वनगमनमेवेच्छति वधूः ॥३३०॥]
(इति संस्कृतम्)

अत्र सकलपरिहारवनगमने शान्तानुभावौ । इन्धनाद्यानयनव्याजेनोपभोगार्थं वनगमनं चेत् न दोषः ।

(७) दीप्तिः पुनः पुनर्यथा कुमारसम्भवे रतिविलापे ।

(८) अकाण्डे प्रथनं यथा—वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्केऽनेकवीरक्षये प्रवृत्ते भानुमत्या सह दुर्योधनस्य शृंगारवर्णनम् ।

अनुवाद—गुरुजनों के बीच में उपपति (गुप्त प्रेमी) के दृष्टिपथ में पड़ते ही वधू (घर का) समस्त काम-काज छोड़कर वन में जाना चाहती है ॥३३०॥

यहाँ पर 'सकल-परिहार' और 'वनगमन' ये दोनों शृङ्गार-विरोधी शान्त रस के अनुभाव हैं, किन्तु ईंधन आदि लाने के बहाने उपभोग के लिए वन में गमन करना दोष नहीं है ।

विमर्श—जहाँ पर प्रकृत रस के विपरीत विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव आदि का ग्रहण होता है वहाँ प्रतिकूल विभावादि दोष होता है । जैसे प्रस्तुत उदाहरण में 'सकल-परित्याग' और 'वनगमन' दोनों शान्त रस के अनुभाव हैं जिनका ग्रहण यहाँ प्रकृतरस (शृंगार) के प्रतिकूल है, अतः दोष है । किन्तु यदि ईंधन आदि के बहाने उपपति के साथ रमण के लिए जाना चाहती है तो दोष नहीं रहेगा ।

(७) रस की पुनः पुनः दीप्ति

अनुवाद—(जहाँ पर रस का उपयोग हो जाने पर बार-बार उसी रस का वर्णन हो, रस की पुनः पुनः दीप्ति रसदोष होता है। जैसे 'कुमारसंभव' के चतुर्थ सर्ग में काम-दहन के बाद रति विलाप के वर्णन में करुण रस का बार-बार आस्वादन दोष हो गया है ।

(८) अकाण्ड में रस-विस्तार

अनुवाद—अनवसर पर रस का विस्तार करना 'अकाण्ड-प्रथन' रस दोष है जैसे वेणी संहार नाटक में भीष्म आदि अनेक वीरों का संहार प्रारम्भ होने पर भानुमती का दुर्योधन के साथ रमण रूप शृंगार रस का वर्णन 'अकाण्ड-प्रथन' रस दोष है ।

(९) अकाण्डे छेदो यथा वीरचरिते द्वितीयेऽङ्के राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढे वीररसे कङ्कण-मोचनाय गच्छामि इति राघवस्योक्तौ।

(१०) अंगस्याप्रधानस्यातिविस्तरेण वर्णनं यथा हयग्रीववधे हयग्रीवस्य।

(११) अंगिनोऽननुसन्धानं यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः।

(९) अकाण्डच्छेद रस दोष

अनुवाद- बिना अवसर के रस का विच्छेद कर देना 'अकाण्डच्छेद' रस दोष होता है। जैसे--महावीर चरित नाटक के द्वितीय अंक में राम और परशुराम के वीररसोचित युद्धोत्साह के अविच्छिन्न रूप से अभिव्यक्त होने पर 'कंकण-मोचन' के लिए जा रहा हूँ' इस प्रकार राम का कथन रसानुभूति में बाधक होने से दोष हो गया है।

(१०) अप्रधान रस का अति विस्तार

अनुवाद--अंग अर्थात् अप्रधान रस या पात्र का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन 'रसदोष' होता है। जैसे--हयग्रीववध नाटक में हयग्रीव का वर्णन।

विमर्श—हयग्रीववध नाटक का प्रधान नायक विष्णु है किन्तु यहाँ पर अप्रधान (प्रतिनायक) हयग्रीव का जलक्रीड़ा, वनविहार, रतोत्सव आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है जो प्रतिनायक के महत्त्व को बढ़ाने के कारण दोष है। जैसा कि सारबोधिनी टीका में कहा गया है—

'हयग्रीवस्य जलकेलि-वनविहार-रतोत्सवादेर्नायकापेक्षया विस्तरेण वर्णनं हयग्रीवस्य नायकत्वमेव प्रत्याययति न प्रतिनायकत्वमिति दोषः।'

(११) प्रधान नायकादि का विस्मरण

अनुवाद—अंगी अर्थात् प्रधान रस-पात्रादि का विस्मरण (भूल जाना) रस दोष है। जैसे—रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अंक में सिंहलेश्वर के कञ्चुकी बाभ्रव्य के आ जाने पर सागरिका का नायक वत्सराज द्वारा विस्मरण हो जाना।

विमर्श—आनन्दवर्द्धन ने प्रबन्ध की रसव्यञ्जकता में अङ्गी के अनुसन्धान (रसानुसन्धान) को एक निमित्त के रूप में प्रतिपादित किया है—

(१२) प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्च, वीर-रौद्र-शृंगारशान्तरस-प्रधाना धीरोदात्तधीरोद्धतधीरललितधीरप्रशान्ताः उत्तमाधम-मध्यमाश्च ।

रतिहासशोकाद्भुतानि अदिव्योत्तमप्रकृतिवत् दिव्येष्वपि । किन्तु रतिः सम्भोगश्रृङ्गाररूपा उत्तमदेवताविषया न वर्णनीया । तद्वर्णनं हि पित्रोः संभोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम् ।

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥३३१॥

इत्युक्तवद् भृकुट्यादिविकारवर्जितः क्रोधः सद्यः फलदः स्वर्गपाताल-गगनसमुद्रोल्लंघनाद्युत्साहश्च दिव्येष्वेव ।

'इदं चापर प्रबन्धस्य रसव्यञ्जकत्वे निमित्तं यदुद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा रसस्य, यथा रत्नावल्यामेव । पुनरारब्धविश्रान्ते रसस्याङ्गिनोऽनुसन्धिश्च । यथा तापसवत्सराजे ।'

(१२) प्रकृति विपर्यय दोष

अनुवाद—(जहाँ पर औचित्य का परित्याग कर प्रकृति के विपरीत वर्णन किया जाता है वहाँ प्रकृति-विपर्यय रस दोष होता है जैसे—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य भेद से (प्रकृति) (नायक) तीन प्रकार के होते हैं; ये तीनों भी धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्त भेद से चार प्रकार के होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक के चार-चार भेद होने से कुल १२ भेद हुए। यह बारह भेद भी उत्तम, मध्यम और अधम रूप से प्रत्येक तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार नायक के ३६ भेद होते हैं।

विमर्श—नायक तीन प्रकार के होते हैं, दिव्यप्रकृति, अदिव्यप्रकृति और दिव्यादिव्यप्रकृति, इनमें देवता आदि दिव्य नायक, मनुष्य रूप दुष्यन्त आदि अदिव्य और मानवरूप में अवतीर्ण राम, कृष्ण आदि दिव्यादिव्य ये तीन प्रकार के नायक होते हैं। इनमें से प्रत्येक धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त भेद से चार-चार प्रकार के होते हैं इस प्रकार १२ प्रकार के नायक हुए। इन बारह नायकों में भी प्रत्येक उत्तम, मध्यम और अधम रूप से तीन-तीन प्रकार का होता है। अतः नायक के कुल (३ × ४ × ३ = ३६) छत्तीस भेद हुए। इस प्रकार के औचित्य का परित्याग करके विपरीत वर्णन करने से प्रकृति-विपर्यय दोष हो जाता है।

अदिव्येषु तु यावदवदानं प्रसिद्धमुचितं वा तावदेवोपनिबद्धव्यम् । अधिकं तु निबन्ध्यमानमसत्यप्रतिभासेन 'नायकवद्वर्त्तितव्यं न प्रतिनायकवत्' इत्युपदेशे न पर्यवस्येत् ।

दिव्यादिव्येषु उभयथाऽपि ।

एवमुक्तस्यौचित्यस्य दिव्यादीनामिव धीरोदात्तादीनामप्यन्यथावर्णनं विपर्ययः ।

अनुवाद—(प्रकृति के औचित्य का कथन) उन प्रकृतियों में रति, हास, शोक, अद्भुत आदि स्थायीभाव अदिव्य उत्तम प्रकृति के नायक के समान दिव्यप्रकृति के नायक में (भी वर्णन करना चाहिए)। किन्तु रति अर्थात् सम्भोग शृंगार रूप रति का उत्तम देवता के विषय में वर्णन नहीं करना चाहिए। क्योंकि उस प्रकार का वर्णन माता-पिता के सम्भोग वर्णन के समान अत्यन्त अनुचित है। (जैसे, कुमारसंभव में शिव-पार्वती के सम्भोग का वर्णन अत्यन्त अनुचित है)।

अनुवाद—हे प्रभो ! क्रोध को शान्त कीजिये, शान्त कीजिये, इस प्रकार की देवताओं की वाणी जब तक आकाश में गूँजती है तब तक शिव के नेत्र से उत्पन्न अग्नि (क्रोधाग्नि) ने कामदेव को भस्मावशेष (जलाकर राख) कर दिया ॥३३१॥

इस प्रकार के कथन के समान भृकुटि-भंग आदि विकारों से रहित तथा सद्यः फलदायक क्रोध तथा स्वर्ग, पाताल, आकाश, आदि में गमन एवं समुद्र का उल्लंघन आदि उत्साह का वर्णन दिव्यप्रकृतियों में ही करना चाहिए।

अदिव्य प्रकृति के नायक में जितना वृत्त (कर्म, चरित) प्रसिद्ध हो अथवा उचित है उतना ही वर्णन करना चाहिए। उससे अधिक वर्णन करने से असत्य की प्रतीति होने लगेगी और उसे असत्य-प्रतीति से 'नायक के समान आचरण करना चाहिए, प्रतिनायक के समान नहीं' इस प्रकार के उपदेश में पर्यवसित नहीं होगा।

दिव्यादिव्य प्रकृति के नायकों के सम्बन्ध में दोनों प्रकार का वर्णन किया जा सकता है।

इस प्रकार के औचित्य के विपरीत वर्णन दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य नायकों के समान धीरोदात्त आदि नायकों के औचित्य के विपरीत

१. तत्र भवन् भगवन्नित्युत्तमेन न अधमेन मुनिप्रभृतौ न राजादौ।
२. भट्टारकेति नोत्तमेन राजादौ प्रकृतिविपर्ययापत्तेर्वाच्यम्। एवं देशकाल वयो जात्यादीनां वेषव्यवहारादिकमुचितमेवोनिबद्धव्यम्।
(१३) अनङ्गस्य रसानुपकारकस्य वर्णनम्। यथा– 'कर्पूररमञ्जर्यां' नायिकया स्वात्मना च कृतं वसन्तवर्णनमनादृत्य वन्दिवर्णितस्य राज्ञा प्रशंसनम्।

वर्णन करना भी विपर्यय दोष है। (भाव यह है कि जिस प्रकार दिव्य-दिव्यादि प्रभृति के नायकों के औचित्य के विपरीत वर्णन में प्रकृति-विपर्यय दोष होता है, उसी प्रकार धीरोदात्त नायकों के अवान्तर भेदों के सम्बन्ध में भी औचित्य के विपरीत वर्णन करना प्रकृति-विपर्यय होता है।)

जैसे—(१) तत्र भवन्, भगवन् आदि सम्बोधन उत्तम प्रकृति के द्वारा ही प्रयुक्त करना चाहिए, अधम प्रकृति के द्वारा नहीं और मुनि आदि के विषय में ही प्रयोग करना चाहिए, राजा आदि के सम्बन्ध में नहीं। (अब यह कि तत्र भवन्, भगवन् आदि सम्बोधन का प्रयोग मुनि आदि के सम्बन्ध में उत्तम प्रकृति के द्वारा करना चाहिए, अधम प्रकृति के द्वारा उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए और न राजा आदि के विषय में ही प्रयोग करना चाहिए)।

(२) इसी प्रकार 'भट्टारक' सम्बोधन का प्रयोग अधम प्रकृति के पात्र द्वारा होना चाहिए, उत्तम प्रकृति के द्वारा नहीं (होना चाहिए)। और राजा आदि उत्तम पात्रों के लिए भीम 'भट्टारक' सम्बोधन का प्रयोग नहीं करना चाहिए, अन्यथा प्रकृति विपर्यय दोष होगा।

इसी प्रकार देश, काल, अवस्था, जाति आदि तथा वेष-भूषा, व्यवहार आदि का उचित रूप में ही वर्णन करना चाहिए।

(१३) प्रकृतरस के अनुपकारक का कथन

अनुवाद—अनंग अर्थात् रस के अनुपकारक का वर्णन भी 'रसदोष' है। जैसे—'कर्पूरमञ्जरी' में नायिका (विभ्रमलेखा) के द्वारा और अपने द्वारा (स्वयं) किये गये वसन्त वर्णन की उपेक्षा करके वन्दिजनों द्वारा वर्णित वसन्त-सुषमा की राजा द्वारा प्रशंसा। 'यह प्रकृतरस के अनुपकारक होने से रस दोष है।

ईदृशा इति' नायिकापादप्रहारादिना नायककोपादिवर्णनम् । उक्तं हि ध्वनिकृता—

अनौचित्याद‍ृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।। इति ।।

इदानी क्वचिददोषा अप्येते—इत्युच्यन्ते ।

(सू० ८२) न दोषः स्वपदेनोक्तावपि सञ्चारिणः क्वचित् ।

यथा—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्त्यमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः,
दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ।।३३२।।

अत्रौत्सुक्य शब्द इव तदनुभावो न तथा प्रतीतिकृत् । अतएव 'दूरादुत्सुकम्' इत्यादौ व्रीडाप्रेमाद्यनुभावानां विवलित्वादीनामिवोत्सुकत्वानुभावस्य सहसा प्रसरणादिरूपस्य तथा प्रतिपत्तिकारित्वाभावादुत्सुकमिति कृतम् ।

सूत्र में 'ईदृशाः' (इस प्रकार) से अभिप्राय है कि नायिका के पाद-प्रहार आदि से नायक के क्रोधादि का वर्णन भी 'रस-दोष' होता है ।

जैसा कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने कहा है—

'अनौचित्य के अतिरिक्त रस-भंग का और कोई कारण नहीं है और औचित्य का अनुपालन करना ही रस का परम रहस्य है ।'

रसदोष-परिहार

रस दोषों के निरूपण के बाद अब उनके अपवाद का निरूपण करते हैं । कहते हैं कि व्यभिचारिभावादि के स्वशब्दवाच्यता दोष कहीं-कहीं दोष नहीं रहते ।

अनुवाद (सू० ८२)—कहीं संचारीभाव का स्वशब्द से कथन होने पर भी दोष नहीं होता ।

जैसे—

अनुवाद—प्रथम समागम के अवसर पर शिवजी से मिलने की उत्सुकता से शीघ्र चल पड़ने वाली, किन्तु स्वाभाविक लज्जा के कारण लौट पड़ने वाली फिर सखीजनों के वचनों द्वारा पुनः सामने लाई गई, सामने वर शिवजी को देखकर भय से युक्त एवं रोमाञ्चित हुई तथा हँसते हुए शिव के द्वारा आलिंगन की गई पार्वती आप सबके कल्याण के लिए हो ।।३३२।।

(सू० ८३) सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा ॥२३॥

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ पर 'औत्सुक्य' शब्द के समान उसका अनुभाव उस प्रकार प्रतीति नहीं करा सकता। इसलिए 'दूरादुत्सुकम्' इत्यादि उदाहरण में व्रीड़ा, प्रेम आदि अनुभावों का विवलितत्वादि अनुभावों के समान 'औत्सुक्य' के 'सहसा प्रसरण' आदि रूप (सहसागमन रूप) अनुभाव के इस प्रकार (असन्दिग्ध रूप से) प्रतीति कराने वाला न होने से 'उत्सुक' यह शब्द प्रयुक्त किया गया है।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण 'रत्नावली' नाटिका से लिया गया है। यहाँ पर 'औत्सुक्य' और 'लज्जा' (ह्री) व्यभिचारीभावों का स्वशब्द से कथन किया गया है। इस प्रकार स्वशब्दवाच्यता दोष होना चाहिए था। किन्तु यहाँ पर स्वशब्दवाच्यता दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ जो 'त्वरा' (शीघ्रगमन) तथा 'व्यावर्त्तन' रूप अनुभाव है वह ऐसा अनुभाव नहीं है कि जिसके द्वारा 'उत्सुकता' और लज्जा' रूप व्यभिचारीभाव अभिव्यक्त हो सके; क्योंकि 'त्वरा' और 'व्यावर्त्तन' रूप अनुभाव तो दोष तथा भय आदि का भी व्यञ्जक हो सकता है। किन्तु यहाँ उक्त भयादि के कारण त्वरा एवं व्यावर्त्तन विवक्षित नहीं है। इसलिए यहाँ औत्सुक्य तथा लज्जा रूप व्यभिचारी भाव का स्वशब्द से कथन दोष नहीं है।

इसके अतिरिक्त अमरुशतक का भी एक उदाहरण देखिये।

> दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं
> संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किञ्चाञ्चितभ्रूलतम्।
> मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं
> चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥

इस उदाहरण में भी 'उत्सुक' शब्द से औत्सुक्यरूप व्यभिचारीभाव का वर्णन है। यहाँ पर व्रीड़ा, प्रेम आदि व्यभिचारीभावों का 'विवलन' आदि अनुभावों के द्वारा अभिव्यक्ति होने से स्वशब्द से कथन नहीं किया गया है किन्तु औत्सुक्य रूप व्यभिचारीभाव का उसके 'त्वरा' रूप अनुभाव के द्वारा अभिव्यक्त न होने से स्वशब्द से अभिधान किया गया है।

अनुवाद (सू० ८३)—(प्रकृत रस के) विरुद्ध सञ्चारीभाव आदि का बाध्यत्वेन (बाध्य रूप से) कथन करना (दोष नहीं, अपितु) गुण का आधायक होता है ॥२३॥

बाध्यत्वेनोक्तिर्न परमदोषः, यावत्प्रकृतरस परिपोषकृत् । यथा—

क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा,
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैति कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ।।२३३।।

अत्र वितर्कादिषु उद्गतेष्वपि चिन्तायामेव विश्रान्तिरिति प्रकृतरस-परिपोषः ।

अनुवाद (वृत्ति)—(प्रकृत रस के विरुद्ध विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव का) बाध्यत्वेन कथन करना केवल दोषाभाव का ही नहीं, अपितु वह प्रकृत रस का परिपोषक होने से गुण हो जाता है । जैसे—

कहाँ तो यह अनुचित कार्य और कहाँ चन्द्रमा का वंश ? (तर्क)
क्या वह फिर कभी दिखाई देगी ? (औत्सुक्य)
मैंने दोषों के शमन के लिए ही शास्त्र-श्रवण किया है (मति)
क्रोध में भी उसका मुख सुन्दर है । (स्मरण)
विद्वान् और सदाचारी व्यक्ति मुझे क्या कहेंगे ? (शङ्का)
वह तो स्वप्न में भी दुर्लभ है (दैन्य)
अरे चित्त ! धैर्य धारण करो (धृति)
कौन भाग्यशाली युवक उसके अधरामृत का पान करेगा ? (चिन्ता) ।

यहाँ पर वितर्क आदि सञ्चारीभावों के उदय होने पर (शृंगार रस के व्यभिचारीभाव, चिन्ता में ही उसकी विश्रान्ति होती है, इसलिए वह प्रकृत रस का परिपोषक है ।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में वितर्क, मति, शङ्का और धृति ये चार शान्तरस के व्यभिचारीभाव हैं और स्मरण, दैन्य, औत्सुक्य तथा चिन्ता ये चार शृंगाररस के व्यभिचारीभाव हैं । ये दोनों रस परस्पर एक दूसरे के विरोधी रस हैं किन्तु यहाँ शृंगाररस प्रधान है; क्योंकि यह उर्वशी के वियोग में पुरूरवा की उक्ति है । यहाँ पर शृंगाररस के व्यभिचारीभावों द्वारा शान्त रस के स्थायीभावों का बाध होकर अन्त में शृंगाररस के व्यभिचारीभाव 'चिन्ता' में उसका (श्लोक का) पर्यवसान हो जाता है, अतः यहाँ पर विरोधीरस के व्यभिचारीभावों का वर्णन दोष नहीं, बल्कि बाध्यत्वेन कथन होने से प्रकृतरस शृंगाररस का परिपोषक हो गया है । इस प्रकार यहाँ भावशबलता की प्रतीति अधिक चमत्कारजनक हो जाती है । अभिनवगुप्त ने उक्त अभिप्राय का विवेचन निम्न प्रकार किया है—

पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ! हृदन्तः ॥३३४॥

इत्यादौ साधारणत्व पाण्डुतादीनामिति न विरुद्धम् ।

'अत्र हि वितर्कौत्सुक्ये, मतिस्मरणे, शङ्कादैन्ये, धृतिचिन्तने परस्परं बाध्य-बाधकभावे न द्वन्द्वशो भवतीति, पर्यन्तेतु चिन्ताया एव प्रधानतां ददती परमास्वाद-स्थानम्'। (ध्वन्यालोकलोचन, द्वितीय उद्योत) ।

अनुवाद—हे सखि ! तुम्हारा यह पीला और सूखा हुआ मुँह, तुम्हारा यह सरस (सानुराग तथा कफयुक्त) हृदय और अलसायी देह (ये सब) तुम्हारे हृदय में स्थित किसी नितान्त असाध्य रोग (प्रेम या राजयक्ष्मा) की सूचना दे रहे हैं ॥३३४॥

यहाँ पाण्डुता आदि (करुण और विप्रलम्भ शृंगार) दोनों साधारण अनुभाव हैं, अतः यहाँ विरोध नहीं है ।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'पाण्डुता' आदि अनुभावों से अभिव्यक्त 'व्याधि' करुण रस का व्यभिचारीभाव होने से विप्रलम्भ शृंगार के विरोधी करुण रस का अङ्ग है किन्तु श्लेषादि के द्वारा विप्रलम्भशृंगार में (नायिका में) उसका आरोप कर लिया गया है । अतः यह विप्रलम्भ का अंग हो गया है । इसलिए शृङ्गार रस में करुणरसोचित व्यभिचारी का वर्णन दोष नहीं है । ध्वनिकार ने स्पष्ट कहा है कि—

समारोपितायामप्यविरोधो यथा—'पाण्डुक्षाममित्यादौ'

अभिनवगुप्त ने लोचन में इसका व्याख्यान निम्न प्रकार किया है—

'समारोपितायामिति—अङ्गभावप्राप्ताविति शेषः ।
पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः ॥
अत्र करुणोचितो व्याधिः श्लेषभङ्ग्या स्थापितः ।

किन्तु मम्मट ध्वनिकार के इस विचार से सहमत नहीं हैं । उनका कहना है कि जो विभावादि विरोधी रसों में भी हो सकते हैं उनके ग्रहण में विरोध नहीं होता यहाँ पर 'पाण्डुता' आदि धर्म जिस प्रकार करुणरस के अनुभाव हैं उसी प्रकार वे विप्रलम्भ शृंगार के अनुभाव भी हो सकते हैं । इस प्रकार 'पाण्डुता' आदि अनुभावों के दोनों रसों में सम्भव होने के कारण विप्रलम्भ शृंगार के सम्बन्ध में वर्णन करना दोष नहीं है ।

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः,
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभंगलोलं हि जीवितम् ।।३३५।।

इत्यत्राद्यमर्धं बाध्यत्वेनैवोक्तम् । जीवितादपि अधिकमपाङ्गभङ्गस्यास्थिरत्वमिति प्रसिद्धभङ्गुरोपमानतयोपात्तं शान्तमेव पुष्णाति । न च पुनः शृङ्गारस्यात्र प्रतीतिस्तदङ्गप्रतिपत्तेः ।

अनुवाद—यह सत्य है कि स्त्रियाँ (रमणियाँ) मनोरम (मन को रमाने वाली) होती हैं और यह भी सत्य है कि विभूतियाँ (वैभव) भी मनोहर होती हैं किन्तु यह जीवन तो मतवाली रमणी के कटाक्ष के समान अस्थिर (क्षणभंगुर) है ।।३३५।।

यहाँ पर पूर्वार्द्ध को बाध्यरूप में कथन किया गया है । तरुणी के कटाक्षों की अस्थिरता जीवन की अस्थिरता से भी अधिक है, इस प्रकार प्रसिद्ध क्षणभंगुर कटाक्ष उपमान के रूप में कथन शान्तरस को ही पुष्ट करता है । दूसरे शृंगाररस के अङ्गों का प्रतिपादन न होने से शृंगार रस की प्रतीति नहीं होती ।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण 'सत्यं मनोरमा रामाः' में पूर्वार्द्ध में स्थित 'रामा' तथा 'विभूति' शृंगाररस के विभाव हैं और उत्तरार्द्धगत 'अस्थिरता' आदि शान्तरस के विभाव हैं । ये दोनों रस एक दूसरे के विरोधी रस हैं, इसलिए यहाँ प्रतिकूल विभावादिग्रह रूप रसदोष होना चाहिए, किन्तु फिर भी यहाँ दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ पूर्वार्द्ध का बाध्य रूप में कथन होने से यहाँ शृंगार के विभाव का वर्णन दोष न होकर गुण हो गया है । इस प्रकार मम्मट के अनुसार प्रतिकूल विभावादि का बाध्य रूप में कथन होने से वह दोष नहीं होता, वल्कि प्रकृत रस का पोषक होता है ।

किन्तु ध्वनिकार की धारणा दूसरी है । उनका कथन है कि शृंगाररस समस्त रसों का सिरताज है, इसलिए उसके विभावादि का विरोधी रसों में भी वर्णन किया जा सकता है । इसके दो कारण हैं—एक तो विनेयों (शिष्यों) को विरोधी रसों के प्रति उन्मुख करना और दूसरा काव्य की शोभा । क्योंकि शान्त आदि रसों के वर्णन में शृंगार का पुट दे देने से गुड़जिह्विकन्याय से शान्तरस का उपदेश ग्रहण करने में शिष्यों की रुचि सरलता से हो जाती है । इसलिए विनेयोन्मुखीकरण तथा काव्यशोभार्थं शृंगाररस के विभावादि रूप अङ्गों का 'तद्विरुद्धरसस्पर्शः' उसके विरोधी रसों का स्पर्श (सम्पर्क) दोषाधायक नहीं होता । जैसाकि—

'यह सत्य है कि स्त्रियाँ मनोरम होती हैं और विभूतियाँ भी मनोरम होती हैं किन्तु जीवन रमणियों के कटाक्ष के समान अस्थिर (क्षणभंगुर) होता है ।'

न तु विनेयोन्मुखीकरणमत्र परिहारः, शान्तशृंगारयोर्नैरन्तर्याभावात् । नापि काव्यशोभाकरणम्, रसान्तरादनुप्रासमात्राद्वा तथाभावात् ।

इस उदाहरण में शान्त रस प्रमुख है। किन्तु कवि ने शृंगाररस के विभाव 'रामा' का उसमें समावेश कर दिया है, तथापि इससे शृंगाररस की अनुभूति नहीं होती और 'मत्ताङ्गनापाङ्ग' रूप अनुभाव भी शृङ्गाररस के अभिव्यञ्जन में समर्थ नहीं है। इस प्रकार यहाँ जीवन की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन अच्छी तरह हो रहा है। इसके अतिरिक्त शान्त रस में शृंगार का पुट आ जाने से सौन्दर्य भी आ गया है। इस प्रकार यहाँ दोष नहीं है, यह ध्वनिकार का अभिप्राय है।

विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा ।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति ॥

शृंगारविरुद्धरसस्पर्शः शृंगाराङ्गानां यः, स न केवलमविरोधलक्षणयोगे सति न दुष्यति, यावद् विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा क्रियमाणो न दुष्यति । शृङ्गाररसाङ्गैरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विनयोपदेशान् गृह्णन्ति । सदाचारोपदेशरूपा हि नाटकादिगोष्ठी विनये जनहितार्थमेव मुनिभिरवतारिता ।

किंच शृङ्गारस्य सकलजनमनोहरोभिरामत्वात् तदङ्गसमावेशः काव्ये शोभातिशयं पुष्यतीत्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनि रसे शृङ्गाराङ्गसमावेशो न विरोधी । ततश्च—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम् ॥

इत्यादिषु नास्ति रसविरोधदोषः ।

(ध्वन्यालोक ३।३०)

किन्तु आचार्य मम्मट ध्वनिकार के उक्त विचार से सहमत नहीं हैं। ध्वनिकार के 'विनेयोन्मुखीकरण' तथा 'काव्यशोभार्थ' इन दोनों हेतुओं द्वारा शान्तरस में शृंगार के पुट का समर्थन के सिद्धान्त को मम्मट स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि विरोधी रस के विभावादि का वाच्यत्वेन कथन होने पर दोष नहीं होता। दूसरे 'मत्ताङ्गनापाङ्ग को उपमान और जीवन की अस्थिरता उपमेय रूप में प्रस्तुत कर उपमान रूप मत्ताङ्गनापाङ्ग की अस्थिरता उपमेय रूप जीवन अस्थिरता से अधिक बताया है, अतः 'मत्ताङ्गनापाङ्ग' रूप अनुभाव जीवन की अपेक्षा अधिक अस्थिर है, इस प्रकार वह शान्त रस को ही पुष्ट करता है। तीसरे, शृंगाररस के विभावादि का वर्णन न होने से यहाँ शृंगार रस की प्रतीति ही नहीं होती। इसलिए यहाँ दोष परिहार के लिए नये नियम की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है।

अनुवाद—यहाँ पर विनेयोन्मुखीकरण को परिहार नहीं माना जा सकता; क्योंकि शान्त और शृंगार के नैरन्तर्य का अभाव होने से और न काव्य शोभाकरण को ही परिहार माना जा सकता है; क्योंकि दूसरे रस (शान्त रस) अथवा अनुप्रास से इस प्रकार की शोभा हो सकती है।

(सू० ८५) आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसंश्रयः।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः ॥६४॥

वीरभयानकयोरेकाश्रयत्वेन विरोध इति प्रतिपक्षगतत्वेन भयानको निवेशयितव्यः। शान्तशृंगारयोस्तु नैरन्तर्येण विरोध इति रसान्तरमन्तरे कार्यम्। यथा-नागानन्दे शान्तस्य जीमूतवाहनस्य 'अहोगीतम्, अहो वादित्रम्' इत्यद्भुतमन्तर्वेश्य मलयावतीं प्रति शृङ्गारो निबद्धः।

विमर्श—यहाँ पर ध्वनिकार का कथन है कि गुड़जिह्विक न्याय से शिष्यों को शान्तरस की ओर उन्मुख करने के लिए तथा काव्य में शोभा के लिए वहाँ शृंगार के विभावादि का वर्णन दोष नहीं है। मम्मट का कथन है कि दो विरोधी रसों का नैरन्तर्य से वर्णन होने पर ही विरोध होता है। यहाँ शान्त और शृंगार रस में नैरन्तर्य का अभाव है अर्थात् दोनों का नैरन्तर्य से वर्णन नहीं है, इसलिए यहाँ विरोध नहीं है, अत: उसके लिए विनेयोन्मुखीकरण को परिहार नहीं माना जा सकता। दूसरे काव्यशोभाकरण को भी परिहार नहीं माना जा सकता, क्योंकि शान्तरस तथा अनुप्रास अलङ्कार से भी काव्य में सौन्दर्य आ सकता है। यहाँ पर जो काव्य-सौन्दर्य है वह शान्त रस के कारण है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि अनुप्रास अलङ्कार के (मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्ग) के कारण यह एक रमणीय शब्द है।

अनुवाद (सू० ८५)—जो रस आश्रय के एक होने के कारण विरुद्ध होता है उसे भिन्न आश्रय में वर्णित करना चाहिए और जो रस नैरन्तर्य से (अव्यवधान के कारण) विरुद्ध रस है उसे किसी दूसरे रस से व्यवहित कर देना चाहिए ॥६४॥

अनुवाद (वृत्ति)—वीर और भयानक रस का एक आश्रय में विरोध है, इसलिए भयानक रस का प्रतिपक्ष (प्रतिनायक) के रूप में वर्णन करना चाहिए। शान्त और शृङ्गार रस का नैरन्तर्य (अव्यवधान के कारण) से विरोध है इसलिए इसके बीच में किसी अन्य रस का वर्णन करना चाहिए। जैसे नागानन्द नाटक में शान्तरस प्रधान जीमूतवाहन का 'अहो गीतम्, अहो वादित्रम्' इस अद्भुत रस को बीच में डालकर अर्थात् शान्त और शृङ्गार के बीच में व्यवहित कर मलयवती के प्रति शृङ्गार (रति) का वर्णन किया है।

विमर्श—रस-विरोध के परिहार का दूसरा उपाय बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि रस-विरोध दो प्रकार का होता है—दैशिक और कालिक (**रसानां विरोधो द्विधा—दैशिकोकालिकश्च— बालबोधिनी**)। इनमें दैशिक विरोध भी दो प्रकार का होता है—आलम्बनैक्य में विरोध और आश्रयैक्य में विरोध। कालिक विरोध नैरन्तर्य-विरोध होता है। इस प्रकार रस-विरोध के तीन भेद होते हैं—(१) आलम्बनैक्य में विरोध (२) आश्रयैक्य में विरोध और (३) नैरन्तर्य में विरोध। इन तीन प्रकार के रस-विरोध का परिहार ग्रन्थकार ने इस कारिका के द्वारा किया है। उनका कथन है कि जहाँ पर दो विरोधी रसों का आलम्बन विभाव एक होता है वहाँ दोनों के आलम्बन के अलग-अलग कर देने पर दोष नहीं रहता। जैसे—वीर और शृंगार में आलम्बनैक्य में विरोध है तो वीर रस में आलम्बन और शृङ्गार रस के आलम्बन को अलग-अलग कर देने पर दोष नहीं रहेगा। इसी प्रकार आश्रयैक्य में विरोध होने पर दोनों के आश्रय-भिन्नता से दोष नहीं रहता। जैसे—वीर और भयानक रस के आश्रय में विरोध होने पर भयानक रस के प्रतिपक्षगत रूप से वर्णन करने पर दोष नहीं रहता। तीसरा नैरन्तर्य विरोध होता है। जहाँ पर नैरन्तर्य अव्यवधान से रस विरोध होता है वहाँ पर बीच में किसी अन्य रस से व्यवहित कर देना चाहिए। (**"यस्य तु येन रसेन नैरन्तर्येण विरोधः सोऽविरोधिना रसान्तरेणान्तरितो निबद्धव्यः" इति प्रदीपः**) जैसे शान्त और शृङ्गार का नैरन्तर्य विरोध है तो इन दोनों के बीच में किसी अन्य रस का वर्णन कर देने पर विरोध का परिहार हो जाता है, जैसे—नागानन्द नाटक में जीमूतवाहन के शान्त-रस और मलयवती नायिका विषयक शृंगार रस का अव्यवहित रूप से प्रकाशन होने से विरोध प्रकट हो रहा है किन्तु दोनों के बीच 'अहो गीतम्, अहो वादित्रम्' इस प्रकार विस्मय जनक अद्भुत रस का सन्निवेश कर देने से विरोध का परिहार हो जाता है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने रस-विरोध-परिहार का निम्न प्रकार से विवेचन किया है जिसके आधार पर मम्मट ने अपना विवेचन प्रस्तुत किया है।

विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत्।
स विभिन्नाश्रयः कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता॥ (३।२५)

'ऐकाधिकरण्यविरोधी नैरन्तर्यविरोधी चेति द्विविधो विरोधी। तत्र प्रबन्धस्थेन स्थायिनाऽङ्गिना रसेनौचित्यापेक्षया विरुद्धैकाश्रयो यो विरोधी यथा वीरेण भयानकः स विभिन्नाश्रयः कार्यः। तस्य वीरस्य य आश्रयः कथानायकस्तद्विपक्षविषये सन्निवेशयितव्यः। तथा सति च तस्य विरोधिनोऽपि यः परिपोषः स निर्दोषः। विपक्षविषये तु भयातिशयवर्णने नायकस्य नयपराक्रमादिसम्पत् सुतरामुद्योतिता भवति।"

एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्यं विरोधवान्।
रसान्तरव्यवधिना रसो व्यङ्ग्यः सुमेधसा॥३।२६॥

न परं प्रबन्धे यावदेकस्मिन्नपि वाक्ये रसान्तर-व्यवधिना विरोधो निवर्त्तते। यथा—

भूरेणुदिग्धान् नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान् सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः ॥३३५॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान्।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः ॥३३६॥
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः कुतूहलाविष्टतया तदानीम्।
निर्दिश्यमानान् ललनांगुलीभिर्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥३३७॥

अत्रबीभत्सश्रृङ्गारयोर्वीररसो निवेशितः।

यः पुनरेकाधिकरणत्वे निर्विरोधो नैरन्तर्ये तु विरोधी स रसान्तरव्यवधानेन प्रबन्धे निवेशयितव्यः। यथा शान्तश्रृङ्गारादौ नागानन्दे निवेशितौ।

(ध्वन्यालोक ३/२५-२६)

अनुवाद—केवल प्रबन्ध (काव्य) में ही नहीं, अपितु एक वाक्य में भी अन्य रस के व्यवधान कर देने पर विरोध दूर हो जाता है। जैसे—

"नव पारिजात की माला के पराग से सुरभित वक्षःस्थल वाले और देवांगनाओं के भुजाओं के मध्य आलिङ्गित किये हुए वीरों ने पृथ्वी की धूलि से सने हुए सियारिनों द्वारा गाढ़ आलिंगन किये जाते हुए (अपने शरीर को देखा)" ॥३३५॥

"चन्दन जल के सेक से सुगन्धित कल्पलता के दुकूलों से हवा किये वीरों ने मांसभक्षी पक्षियों के रक्त-रञ्जित पंखों द्वारा हवा किये जाते हुए (अपने शरीर को देखा)" ॥ ३३६॥

"(स्वर्गगमन के बाद) विमान के पलंग पर बैठे हुए वीरों ने अत्यन्त कुतूहल (आश्चर्य) से अप्सराओं के द्वारा उंगलियों से दिखलाये जाते हुए समरभूमि में पड़े हुए अपने शरीरों को देखा)" ॥३३७॥

यहाँ पर बीभत्स और श्रृङ्गार रस के बीच में वीररस का समावेश किया गया है।

विमर्श—उपर्युक्त अभिप्राय को ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने निम्नलिखित पंक्तियों में अभिव्यक्त किया है जिसके आधार पर मम्मट ने प्रस्तुत प्रसंग का विवेचन किया है—

रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि।
निवर्त्तते हि रसयोः समावेशे विरोधिता ॥३/२७॥

(सू० ८६) स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः ।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥६५॥

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥३३८॥

एतद् भूरिश्रवसः समरभुवि पतितं हस्तमालेक्य तद्वधूरभिदधौ । अत्र पूर्वावस्थास्मरणं शृङ्गाराङ्गमपि करुणं परिपोषयति ।

रसान्तरव्यवहितयोरेक प्रबन्धस्थयोर्विरोधिता निवर्तत इत्यत्र न काचिद् भ्रान्तिः । यस्मादेकवाक्यस्थयोरपि रसयोरुक्तया नीत्या विरुद्धता निवर्त्तते । यथा—'भूरेणुदिग्धान्' इत्यादौ ।

अत्र हि शृङ्गारबीभत्सयोस्तदङ्गयोर्वा वीररसव्यवधानेन समावेशो न विरोधी ।

प्रस्तुत उदाहरण में मुख्य वाक्य में शृंगार रस की प्रतीति होती है । 'भूरेणुदिग्धान्' आदि मृत शरीर के विशेषण बीभत्स रस के व्यञ्जक हैं । इस प्रकार यहाँ एक वाक्य में नैरन्तर्य से विरोधी शृङ्गार और बीभत्स रस का एक साथ सन्निवेश किया गया है । इस प्रकार शृंगार और बीभत्स में नैरन्तर्य विरोध है । किन्तु यहाँ 'वीराः' के जो विशेषण दिये गये हैं वे वीर रस के द्योतक हैं । इस प्रकार शृङ्गार और बीभत्स के मध्य वीर रस का व्यवधान होने के कारण नैरन्तर्य से रसविरोध नहीं रहता ।

अनुवाद (सू० ८६)—यदि विरोधी रस स्मर्यमाण रूप में अथवा साम्यरूप से विवक्षित हो तो दोष नहीं होता और जो दो विरोधी रस अन्य किसी के अंग हों तो वे परस्पर दोषयुक्त नहीं रहते ॥६५॥

विमर्श—मम्मट रसविरोध परिहार के तीन अन्य अवस्थाओं का उल्लेख करते हैं । जिनमें रस-दोष दोष नहीं रहता । उनका कहना है कि यदि विरोधी रस का प्रकृत रस के साथ स्मृति-रूप (स्मरण) में वर्णन किया गया हो अथवा प्रकृत रस के साथ साम्यभाव से विवक्षित हो अथवा परस्पर विरोधी दोनों रस किसी अन्य रस के अङ्ग (उपकारक) बन जायें तब रसदोष नहीं रहता । इनके प्रथम स्मर्यमाण विरोधी रस के परिहार का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—(समरभूमि में भूरिश्रवा के कटकर गिरे हुए हाथ को देखकर उनकी पत्नी विलाप करती हुई कहती है कि) यह सुरतकाल में करधनी को खींचने वाला बड़े-बड़े पीन स्तनों का मर्दन करने वाला, नाभि, उरु और जंघाओं का स्पर्श करने वाला तथा नीवी को खोलने वाला वही हाथ है ॥३३८॥

**दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलकैर्भवतः शरीरे।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥३४०॥**

अत्र कामुकस्य दन्तक्षतादीनि यथा चमत्कारकारीणि तथा **जिनस्य**। यथा वा पराश्शृङ्गारी तदवलोकनात्सस्पृहस्तद्वत् एतद्दृशो मुनय इति साम्य-विवक्षा।

समरभूमि में भूरिश्रवा के कटकर पड़े हुए हाथ को देखकर उनकी पत्नी कह रही है। यहाँ पर पूर्वावस्था का स्मरण शृङ्गार का अङ्ग भी करुण रस को परिपुष्ट करता है।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में करुण रस की प्रधानता है। भूरिश्रवा की पत्नी समरभूमि में पड़े हुए अपने पति के हाथ को देखकर विलाप करती हुई कहती है कि यह वही हाथ है जो करधनी को खींचा करता था, स्तनों का मर्दन करता था, नाभि, जंघाओं का स्पर्श करता था तथा नीवी को खोलता था। यद्यपि रसनाकर्षण आदि शृङ्गार रस का अनुभाव होने से करुण रस के विरोधी है, फिर भी यहाँ पूर्वावस्था के स्मर्यमाण होने से शृंगार की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो रही है बल्कि शोक को उद्दीप्त करते हुए करुण रस का ही पोषण करते हैं अतः करुण रस के साथ उनका वर्णन दोष नहीं है।

(२) **साम्येन विवक्षित रसदोष परिहार का उदाहरण**—

अनुवाद—हे जिन! आपके (दयावश या प्रेमवश) सघन रोमाञ्च-युक्त शरीर पर रक्तपान की इच्छा करने वाली (अनुरक्त मन से) मृगराजवधू (सिंहनी) अथवा (राजवधू) के द्वारा किये गये दन्तक्षत और नखक्षत को मुनियों ने स्पर्द्धा से सतृष्ण होकर देखा ॥३४०॥

यहाँ पर कामुक के दन्तक्षत आदि जिस प्रकार चमत्कारजनक होते हैं उसी प्रकार जिनके (शरीर पर सिंहनी द्वारा किये गये दन्तक्षत, नखक्षत आदि सुखदायक हैं) अथवा जिस प्रकार कोई शृङ्गारी दूसरे के दन्तक्षतादि को देखकर सस्पृह हो जाता है उसी प्रकार जिन मुनि को देखकर दूसरे तपस्वी सस्पृह (ईर्ष्यायुक्त) हो गये। यहाँ पर शान्त और शृङ्गार रसों का साम्य-विवक्षा होने से विरोध नहीं है।

विमर्श—मम्मट ने साम्यविवक्षा से रसदोष के परिहार का उदाहरण 'दन्तक्षतानि' इत्यादि दिया है। ध्वनिकार यहाँ पर दया, वीर तथा शृङ्गार के विरोध के परिहार का प्रतिपादन करते हैं, प्रदीपकार भी इसी मत से सहमत हैं, माणिक्य-चन्द्र, अभिनवगुप्त आदि टीकाकारों ने इसे शान्त और शृंगार के विरोध-परिहार का

क्रामन्त्यः क्षतकोमलांगुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव गलद्बाष्पाम्बुधौताननाः ।
भीता भर्त्तृकरावलम्बितकरास्त्वच्छत्रुनार्योऽधुना
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा इव ॥३४१॥

अत्र चाटुके राजविषया रतिः प्रतीयते। तत्र करुण इव शृङ्गारोऽप्यङ्गमिति तयोर्न विरोधः।

उदाहरण माना है। सुधासागरकार तथा सारबोधिनीकार ने बीभत्स और शृङ्गार रस के विरोध के परिहार का उदाहरण माना है। वस्तुतः यहाँ पर रसों की साम्यविवक्षा दो प्रकार से प्रतिपादित है। प्रथम के अनुसार जिस प्रकार नायिका के नखक्षत आदि को नायक अत्यन्त प्रेम से धारण करता है उसी प्रकार भगवान् जिन ने सिंहिनी के नखक्षत आदि को सप्रेम स्वीकार किया। इस प्रकार यहाँ अनुभावों के साम्य के आधार पर जिन और कामुक (नायक) के भावों का साम्य विवक्षित है। द्वितीय के अनुसार जिस प्रकार नायक के शरीर पर कामिनी नायिका के नखक्षत आदि को देखकर दूसरे शृंगारी नायक को ईर्ष्या होती है, उसी प्रकार जिनमुनि के शरीर पर सिंहिनी के द्वारा किये गये नखक्षत आदि को देखकर स्पृहा होती है। यहाँ पर नखक्षतादि विभावों में समानता के आधार पर दोनों में साम्य विवक्षित है। इस प्रकार यहाँ दो विरोधी रसों में साम्य-विवक्षा के आधार पर दोष नहीं रहता।

अनुवाद—हे राजन्! इस समय आपके शत्रुओं की स्त्रियाँ क्षत-विक्षत कोमल उंगलियों से टपकते हुए रुधिर से मानो महावर लगाये हुए पैरों से दर्भ-युक्त भूमि पर चलती हुई, गिरते हुए अश्रुजल से मानो मुख धोये हुए, भय के कारण पतियों के हाथ में हाथ मिलाती हुई, मानो फिर से विवाह के लिए उद्यत हुई सी दावाग्नि के चारों ओर परिक्रमा कर रही हैं ॥३४१॥

यहाँ पर किसी चाटुकार कवि में रामविषयक रति प्रतीत हो रही है। उसमें करुण के समान श्रृङ्गार भी अंग हो गया है इसलिए उन दोनों का परस्पर विरोध नहीं है।

विमर्श—यह रस विरोध के परिहार का तृतीय प्रकार का उदाहरण है। इसमें दो विरोधी रस दूसरे अंगी (प्रधान) रस के अंग हो जाते हैं। जैसे प्रस्तुत उदाहरण में किसी राजा की स्तुति तथा उसके शत्रुओं के स्त्रियों की दुर्दशा का वर्णन है। यहाँ पर राजविषयक रति भावप्रधान है, शत्रु नारियों की दुर्दशा का वर्णन करुण रस है और विवाह का वर्णन शृंगार रस है। इन दोनों का आलम्बन शत्रुनारियाँ हैं। इस प्रकार दोनों में आलम्बनैक्य में विरोध है, किन्तु यहाँ पर इन दोनों में कोई भी काव्य का प्रधान (अंगी) रस नहीं है। यहाँ पर तो कवि विषयक रतिभाव

यथा

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचार ।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥३४२॥

इत्यत्र एहीति क्रीडन्ति, गच्छेति क्रीडन्तीति क्रीडनापेक्षयोरागमनगमनयोर्न विरोधः ।

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण
आलिंगन् योऽवतधूस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥३४३॥

प्रधान है । इसलिए ये दोनों करुण और शृंगार रतिभाव के अंग हो जाते हैं । अतः दोनों में परस्पर विरोध नहीं है ।

अनुवाद—'आवो, चले जाओ, गिर जाओ, खड़े हो, बोलो, चुप रहो' इस प्रकार आशारूपी ग्रह से ग्रस्त याचकों के साथ धनी लोग क्रीड़ा करते हैं ॥३४२॥

यहाँ पर 'आवो' यह कहकर क्रीड़ा करते हैं, 'जाओ' यह कहकर क्रीड़ा करते हैं, इस प्रकार क्रीड़ा के अंग होने से आगमन और गमन में विरोध नहीं होता ।

ग्रन्थकार के दो विरोधी रसों के अन्य रस के अंग रूप में सन्निवेश दो प्रकार से करते हैं। एक तो वह जिसमें दोनों विरुद्ध रस समकक्ष होकर प्रधान रस का अंग हो जाते हैं। दूसरा वह जिसमें दोनों विरोधी रस में गुणगुणीभाव रूप में प्रधान रस के अंग हो जाते हैं। जिस प्रकार दो समकक्ष सेनापति राजा के अंग होते हैं उसी प्रकार (सेनापतिद्वयवत्) दो विरोधी रस प्रधान रस के अंग होते हैं। पिछले उदाहरण में इसका निरूपण किया जा चुका है। दूसरा प्रकार सेनापति और तद्भृत्यवत् होता है अर्थात् जिस प्रकार सेनापति और उसका भृत्य दोनों गुणप्रधानभाव (अंगाङ्गिभाव) होते हैं और वे दोनों ही राजा के अंग हो जाते हैं उसी प्रकार दो विरोधी रस जब अंगाङ्गिभाव रूप में वर्णित होते हैं किन्तु वे किसी तीसरे रस के अंग बन जाते हैं। इसका उदाहरण आगे देते हैं।

अनुवाद—त्रिपुरदाह के समय (शिव के बाण से उत्पन्न शराग्नि) त्रिपुर युवतियों के द्वारा अश्रुपूर्ण आर्द्रापराध (तत्काल अपराध करने वाले) कामी के समान हाथ पकड़ने पर झटक दिया, बलात् आंचल को पकड़ने पर प्रताड़ित कर दिया, केशों के पकड़ने पर हटा दिया गया, चरणों पर पड़ा होने पर घबड़ाहट से न देखा गया तथा आलिंगन करने पर दुत्कारा गया (तिरस्कृत) शराग्नि तुम लोगों के पाप का नाश करे ॥३४३॥

इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य करुणोऽङ्गम्, तस्य तु शृङ्गारः तथापि न करुणे विश्रान्तिरिति तस्याङ्गत्वैव।

अथवा प्राक् यथा कामुक आचरतिस्म तथा शराग्निरिति शृङ्गारपोषितेन करुणेन मुख्य एवार्थ उपोद्बल्यते। उक्तं हि—

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्त्तते॥ इति॥

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ पर त्रिपुरारि (शिव) प्रभावातिशय का अंग करुण रस है और करुण का अंग शृंगार रस है। फिर भी करुण रस में विश्रान्ति नहीं होती, इसलिए वह भी अंग ही रहता है।

अथवा पहिले जैसा कामुक आचरण करता है, उसी प्रकार शराग्नि भी। इस प्रकार शृंगार से पोषित करुण रस के द्वारा मुख्य अर्थ ही प्रकर्ष को प्राप्त होता है (उपोद्बल्यते प्रकर्षमानीयते) जैसा कि कहा है—

'गुण (अंग, अप्रधान) अपना संस्कार करके प्रधान को प्राप्त होता है और इस प्रकार प्रधान के उपकार में अत्यन्त समर्थ होता है।'

विमर्श—एक अंगी (प्रधान) रस के उपकार में दो विरुद्ध रसों के सन्निवेश में जो रस विरोध होता है उसका प्रतिपादन ध्वनिकार ने निम्न प्रकार किया है—

'इयं चाङ्गभावप्राप्तिरन्या यदाधिकारिकत्वात् प्रधान एकस्मिन् वाक्यार्थे रसयोर्भावयोर्वा परस्परविरोधिनोर्द्वयोरङ्ग-भावगमनं तस्यापि न दोषः। यथोक्तं—क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादौ।

तदत्र त्रिपुरयुवतीनां शाम्भवः शराग्निरार्द्रापराधः कामी यथा व्यवहरतिस्म तथा व्यवहृतवानित्यनेनाविप्रकारेणास्त्येव निर्विरोधत्वम्। तस्मात् यथा यथा निरूप्यते तथा तथात्र दोषाभावः।

(ध्वन्यालोक ३।२०)

यहाँ पर यह बताया गया है कि शिव के प्रतापातिशय का अंग करुण है और करुण का अंग शृंगार। इस प्रकार शृंगार रस करुण का अंग होकर किस प्रकार प्रधान रस का उपकारक होता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए मम्मट ने, 'गुणः कृतात्मसंस्कारः' यह न्याय उद्धृत किया है। यद्यपि मीमांसा दर्शन के 'गुणानां परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्' इस न्याय के अनुसार दो अंगभूत पदार्थों में उसके साम्य के कारण परस्पर अंगांगिभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता, किन्तु उसके अपवाद के रूप में 'गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते' यह न्याय उद्धृत किया गया है। जिसका अभिप्राय है कि एक गुण भी दूसरे से परिपुष्ट होकर प्रधान रस के उत्कर्षाधायक होते हैं। अतः करुण और शृंगार के अंगांगिभाव होने में कोई बाधा नहीं है।

प्राक् प्रतिपादितस्य रसस्य रसान्तरेण न विरोधो नाप्यङ्गाङ्गिभावो भवति इति रसशब्देनात्र स्थायीभाव उपलक्ष्यते ।।

इति काव्यप्रकाशे दोषदर्शनो नाम सप्तम उल्लासः समाप्तः ।।७।।

अनुवाद—पहिले (चतुर्थ अङ्क) में प्रतिपादित रस का दूसरे रस के साथ न विरोध हो सकता है और न अंगांगिभाव सम्बन्ध ही हो सकता है, इसलिए यहाँ रस शब्द से स्थायीभाव का ग्रहण होता है ।

विमर्श—यहाँ पर ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में रस को वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य कहा गया है। इस प्रकार एक साथ दूसरे रस की प्रतीति कैसे हो सकती है ? इस प्रकार दो रसों की एक साथ अनुभूति न होने पर एक रस का दूसरे रस के साथ विरोध या अविरोध अथवा अङ्गाङ्गिभाव कैसे बन सकता है ? इस पर कहते हैं कि रस शब्द से यहाँ पर स्थायीभाव का ग्रहण होता है। 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्थायीभाव को भी रस कहा जा सकता है। क्योंकि स्थायीभाव का भी आस्वादन होता है। रसों के परस्पर अङ्गाङ्गिभाव के सम्बन्ध में ध्वनिकार यहाँ दो पक्ष प्रस्तुत करते हैं। प्रथम पक्ष के अनुसार 'एक रस दूसरे रस का व्यभिचारी होता है'। इस सिद्धान्त के अनुसार अविरोधी और विरोधी रसों का अंगाङ्गिभाव से समावेश होने पर प्रबन्ध में विरोध नहीं होता। दूसरे पक्ष के अनुसार रसों के स्थायीभाव उपचारतः रस शब्द से अभिहित किये जाते हैं। अतः उनके मत में अङ्गत्व निर्विरोध ही है—

"अविरोधिनां विरोधिनां च रसानामङ्गाङ्गिभावेन समावेशे प्रबन्धेषु स्यादविरोधः। एतच्च येषां रसो रसान्तरस्य व्याभिचारी भवति इति दर्शनं तन्मतेनोच्यते। मतान्तरेऽपि रसाना स्थायिनो भावा उपचाराद्रसशब्देनोक्तास्तेषामङ्गत्वं निर्विरोधमेव।"
(ध्वन्यालोक ३।२४)

अभिनवगुप्त के अनुसार उक्त दोनों पक्ष भरत नाट्यशास्त्र के निम्नलिखित कारिका की द्विविध व्याख्या के आधार पर प्रतिपादित हैं। उन्होंने नाट्यशास्त्र की कारिका लोचन में उद्धृत की है—

बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद्बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी (रसस्थायी) शेषाः सञ्चारिणो मताः ।।

उक्त कारिका दो प्रकार से व्याख्यात है। प्रथम पक्ष के अनुसार 'रसः स्थायी' पाठ मानकर यह अर्थ किया जाता है कि अनेक समवेत रसों में जिस एक का रूप बहुत (आधिक्य) होता है, वह स्थायी (अङ्गी) रस होता है और शेष सञ्चारी (अङ्ग) होते हैं। इस प्रकार भरत के अनुसार एक रस (स्थायी रूप) रसान्तर (दूसरे रस में) व्यभिचारी हो जाते हैं (**रसान्तरेष्वपि रसा भवन्ति व्यभिचारिणः**)।

जैसे क्रोध वीर में, व्यभिचारी रूप में पठित होने पर भी रसान्तर में रौद्र रस का स्थायीभाव है। इस प्रकार रौद्र का स्थायी क्रोध वीर में व्यभिचारी भाव होता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार 'रसस्थायी' पाठ मानकर यह अर्थ किया जाता है कि बहुत से समवेत भावों में जिस भाव का रूप व्यापक होता है वह स्थायीभाव है शेष सञ्चारीभाव माने जाते हैं। जैसे मुख्य कथा में रहने वाली चित्तवृत्ति स्थायी रूप से प्रतीत होती है और प्रासङ्गिक कथा में रहने वाली चित्रवृत्ति व्यभिचारी रूप से प्रतीत होती है। इस प्रकार रसास्वाद के समय स्थायीभाव और व्यभिचारी अत में विरोध नहीं है।

इस प्रकार रसान्तरों के साथ जो प्रस्तुत रस का समावेश है वह स्थायीरूप से अर्थात् इतिवृत्त में व्यापक रूप में भासित होने वाले प्रधान रस के अङ्गित्व को विघात नहीं करता, अपितु अङ्गित्व को पुष्ट करता है। अभिनवगुप्त का कथन है कि अङ्गभूत भी रसान्तर अपने विभावादि की सामग्री से अपनी अवस्था में यद्यपि परिपोष प्राप्त करके चमत्कारगोचर बन जाते हैं। फिर भी वह चमत्कार उतने हीं तक परिपुष्ट होकर विश्रान्त नहीं होता; अपितु अन्य चमत्कार का अनुधावन करता है; क्योंकि सभी जगह अङ्गाङ्गिभाव में यही वृत्तान्त है। जैसा कि भगवान् भरतमुनि ने कहा है कि गुण (अङ्ग अप्रधान) अन्य अङ्ग के द्वारा अपना संस्कार करके (परिपुष्ट होकर) प्रधान को प्राप्त होता है और इस प्रकार प्रधान ने उपकार में अधिक समर्थ होता है। अतः रस के विधान में अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होता है।

एतदुक्तं भवति--अङ्गभूतस्यापि रसान्तराणि स्वविभावादिसामग्र्या स्वावस्थायां यद्यपि लब्धपरिपोषाणि चमत्कारगोचरतां प्रतिपद्यन्ते, तथापि स चमत्कारस्तावत्येव न परितुष्य विश्राम्यति, किन्तु चमत्कारान्तरमनुधावति। सर्वमेवाङ्गाङ्गिभावेऽप्ययमेवोदन्तः। यथाह तत्रभवान्—

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते॥

(ध्वन्यालोकलोचन ३।२१)

इस प्रकार मम्मट के अनुसार स्थायीभावों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव हो सकता है। इसलिए 'विगलितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्य' रस में विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता है।

इस प्रकार डा० पारसनाथद्विवेदिकृत काव्यप्रकाश की हिन्दी व्याख्या में सप्तम उल्लास समाप्त हुआ ॥७॥

अथ अष्टम उल्लासः

(गुण-निरूपण)

काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' यह काव्य का लक्षण दिया गया है। इस काव्यलक्षण में मम्मट ने 'शब्दार्थौ' का एक विशेषण 'सगुणौ' दिया है। इसी 'सगुणौ' विशेषण की स्पष्ट व्याख्या अष्टम उल्लास में करते हैं। सर्वप्रथम अग्निपुराणकार ने गुण की स्पष्ट व्याख्या करते हुए लिखा है कि जो काव्य में महती शोभा को अनुगृहीत करता है उसे गुण कहते हैं (**यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णात्यसौ गुणः**—अग्निपुराण)। अग्निपुराणकार ने काव्य में शोभाकारक धर्म को गुण कहा है (**काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते** —अग्निपुराण) और काव्य में शोभा के अनुग्राहक तत्त्व को गुण कहा है। इस प्रकार अग्निपुराण में गुण और अलङ्कारों का समान महत्त्व प्रतिपादित है। वामन ने जो गुण का लक्षण दिया है (**काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः**) वह अग्निपुराण के गुण लक्षण से साम्य रखता है। इस प्रकार अग्निपुराण तथा उसके अनुयायियों के अनुसार गुण भी काव्य के शोभाकारक धर्म हैं और अलङ्कार भी काव्य के शोभाकरक धर्म हैं। अतः दोनों का समान महत्त्व है और दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। उनके मत का अनुसरण करते हुए भट्टोद्भट ने गुण और अलङ्कार दोनों को काव्य में शोभाधायक तत्त्व माना है। उनकी दृष्टि में गुण और अलङ्कार में कोई भेद नहीं है। उनका कहना है कि लौकिक गुण शौर्यादि और लौकिक अलङ्कार हार आदि में तो भेद हो सकता है, क्योंकि शौर्यादि गुणों का तो आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध होता है और हारादि अलङ्कारों का शरीरादि के साथ संयोग सम्बन्ध होता है, इसलिए दोनों में भेद माना जा सकता है किन्तु काव्य में ओज आदि गुण और अनुप्रासादि अलङ्कार दोनों ही समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। काव्य में उनका अन्तर मानना एक भेड़ चाल है।

समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डुलिका-प्रवाहेणैवेषां भेदः।''

भट्टोद्भट के बाद आचार्य वामन ने स्पष्ट रूप से गुण और अलङ्कारों में भेद स्थापित करने प्रयास किया है। उनके मतानुसार काव्य के शोभाकारक धर्म को गुण कहते हैं और उस शोभा के बढ़ाने वाले धर्म को अलङ्कार कहते हैं—

काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः (३।१।१)
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः (३।१।२)
पूर्वे नित्याः (३।१।३)

आचार्य वामन का अभिप्राय यह है कि काव्य में शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म को गुण कहते हैं अर्थात् शब्द और अर्थ के जो धर्म काव्य की शोभा को उत्पन्न करते हैं वे गुण कहलाते हैं (ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति, ते गुणाः)। ओज-प्रसाद आदि गुण हैं, यमक, उपमादि नहीं; क्योंकि ओज-प्रसाद आदि गुणों के अभाव में केवल यमकोपमादि अलङ्कार काव्द के शोभाजनक नहीं हो सकते, इसलिए वे गुण नहीं कहे जा सकते। ओजःप्रसादादि तो यमकोपमादि अलङ्कारों के बिना भी काव्य के शोभा-जनक हो सकते हैं, इसलिए वे गुण कहे जाते हैं। यही गुण और अलंकारों का प्रमुख भेद है।

इस प्रकार वामन के अनुसार काव्य में शोभा के जनक धर्म को गुण कहते हैं और उस शोभा के वर्द्धक धर्म को अलंकार कहते हैं। जैसे युवती के शरीर में सौन्दर्यादि गुणों के होने पर ही अलंकार उसके सौन्दर्य को बढ़ाते हैं उसी प्रकार काव्य में प्रसादादि गुणों के होने पर ही अलकार उसकी शोभा को बढ़ाते हैं और प्रसादादि गुणों के न रहने पर अलकार शोभावर्द्धक नहीं हो सकते। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा गुण ही काव्य-शोभा के उत्पादक हैं और अलङ्कार उस शोभा की वृद्धि के हेतु हैं।

वामन की दृष्टि में गुण और अलङ्कार का दूसरा भेदक तत्त्व है कि गुण काव्य के नित्य अर्थात् अनिवार्य धर्म हैं किन्तु अलङ्कार नित्य या अनिवाय धर्म नहीं है। क्योंकि अलङ्कारों के विना तो काव्य में काव्यत्व रहता है किन्तु गुणों के अभाव में काव्य में काव्यत्व नहीं रह सकता। इस प्रकार गुण काव्य में अपरिहार्य (नित्य) हैं, क्योंकि उनके बिना काव्य की शोभा अनुपपन्न है। (गुणाः नित्याः, तैर्विना काव्य-शोभानुत्पत्तेः)।

वामन के बाद आनन्दवर्धन गुण और अलङ्कारों के भेदक तत्त्व का निरूपण करते हुए कहते हैं कि काव्य के आत्मभूत (अङ्गी) रसादि के आश्रित रहने वाले धर्म गुण कहलाते हैं और काव्य के अङ्गभूत शब्द और अर्थ में रहने वाले धर्म अलङ्कार कहे जाते हैं—

तमर्थमवलम्बन्ते योऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्॥

भाव यह कि गुण रसादिरूप अङ्गी के अर्थ के आश्रित होते हैं और शब्द तथा अर्थ रूप अङ्ग पर आश्रित रहने वाले अलङ्कार माने गये हैं। गुण शौर्यादि के समान हैं और अलङ्कार कटक (वलय) आदि आभूषणों के समान। (**ये तमर्थं रसादिलक्षण-मङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते, ते गुणाः शौर्यादिवत्**)।

आचार्य मम्मट ने गुण और अलङ्कारों के बीच में भेद निरूपण करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने उद्भट के मत का तो सर्वथा परित्याग कर दिया है वे गुण

एवं दोषानुक्त्वा गुणालङ्कारविवेकमाह—

(सू० ८७) ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युश्चलास्थितयो गुणाः ॥६६॥

आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य, तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम् । क्वचित्तु शौर्यादिसमुचितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनात्, 'आकार एवास्य शूरः' इत्यादेर्व्यवहारात् । अन्यत्राशूरेऽपि विततात्कृतित्वमात्रेण 'शूरः' इति, क्वापि शूरेऽपि मूर्त्तिलाघवमात्रेण 'अशूर' इति अविश्रान्त-प्रतीतयो यथा व्यवहरन्ति तद्वन्मधुरादिव्यञ्जकसुकुमारादिवर्णानां मधुरादि-व्यवहारप्रवृत्तेः, अमधुरादिरसाङ्गानां वर्णानां सौकुमार्यादिमात्रेण माधुर्यादि, मधुरादिरसोपकरणानां तेषामसौकुमार्यादेरमाधुर्यादि, रसपर्यन्तप्रतीतिवन्ध्या व्यवहरन्ति । अत एव माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यज्यन्ते न तु वर्ण-मात्राश्रयाः । अथैषां व्यञ्जकत्वं तथोदाहरिष्यते ।

और अलङ्कारों में भेद मानते हैं किन्तु वामन के समान गुणों के काव्यशोभाजनकत्व तथा अलङ्कारों के शोभातिशयहेतुत्व मानकर दोनों में भेद स्थापित नहीं करते । उन्होंने वामन के समान गुण को अपरिहार्य तत्त्व माना है और आनन्दवर्धन के समान गुणों को रस का अचलस्थिति (नियत) धर्म तथा अलङ्कारों को शब्दार्थ का अस्थिर धर्म स्वीकार कर गुण और अलङ्कारों में भेद स्थापित किया है । उपर्युक्त दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए उन्होंने गुण का लक्षण किया है ।

अनुवाद—इस प्रकार सप्तम उल्लास में दोषों का निरूपण करने के बाद अब (अष्टम उल्लास में) गुण और अलङ्कार का भेद निरूपण करते हैं—

अनुवाद (सू० ८७)—जो आत्मा के शौर्यादि धर्म के समान (काव्य में) अंगीभूत (प्रधान) रस के उत्कर्षक धर्म हैं और अचल स्थित (नियत रूप से रहने वाले) हैं, वे गुण कहे जाते हैं ॥६६॥

विमर्श—भाव यह कि जिस प्रकार आत्मा के शौर्यादि धर्म (गुण) आत्मा के साथ नियत रूप से रहते हैं उसी प्रकार माधुर्यादि गुण भी काव्य के आत्मभूत रस के धर्म हैं, रस के उत्कर्ष के हेतु हैं और रस में नियत रूप से रहते हैं । इस प्रकार गुण रस के उत्कर्षक धर्म हैं अर्थात् रस का उत्कर्ष करते हैं तथा रस में नियमतः रहते हैं अर्थात् रस से पृथक् नहीं रहते ।

ये च वाच्य-वाचकलक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यं रसं साभाविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका हारादय इवालङ्काराः।

यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः।

क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति।

यथाक्रममुदाहरणानि—

अनुवाद (वृत्ति)—जिस प्रकार शौर्य आदि (धर्म) आत्मा के ही होते हैं आकार के नहीं, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रस के ही धर्म होते हैं, वर्णों के नहीं। किन्तु कहीं पर शौर्य आदि गुणों के योग्य शरीर की विशालता आदि देखने से 'इसका आकार ही शूर है' इस प्रकार का व्यवहार देखा जाता है और दूसरी जगह अशूर (शूरता-विहीन) व्यक्ति में भी विशाल लम्बे-चौड़े शरीर मात्र से 'यह शूर है' इस प्रकार (कह दिया जाता है), कहीं शूर व्यक्ति में भी शरीर की लघुता के कारण 'यह अशूर' (शूरता रहित) है, इस प्रकार अदूरदर्शी भ्रान्त लोग जैसा व्यवहार करते हैं। उसी प्रकार मधुर आदि गुणों के व्यञ्जक सुकुमार आदि वर्णों में 'यह मधुर है' इस प्रकार मधुर आदि का व्यवहार होता है और अमधुर आदि रसों के अङ्गभूत वर्णों में सुकुमारता आदि के कारण माधुर्य आदि का व्यवहार होता है और मधुर आदि रसों के उपकरण (प्रयोग) में उन वर्णों की असौकुमार्य आदि (असुकुमार कठोर वर्ण होने से) रस की मर्यादा न समझने वाले भ्रान्त लोग अमाधुर्य आदि (ये अमधुर हैं आदि) व्यवहार करते हैं। इसलिए माधुर्य आदि गुण रस के धर्म हैं और समुचित (योग्य वर्णों से अभिव्यक्त होते हैं, केवल वर्णमात्र के आश्रय से नहीं अर्थात् केवल वर्ण ही उनके आश्रय नहीं हैं। अब माधुर्यादि गुणों की व्यञ्जकता का उदाहरण आगे देंगे।

विमर्श आनन्दवर्धन की मान्यता है कि रस ही मधुर होता है, वर्ण नहीं। उनका कहना है कि सब रसों में शृंगार ही परम मधुर रस है; क्योंकि शृंगार रस की अनुभूति में मन जितना रमता है उतना अन्य रसों में नहीं।

शृंगार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतिष्ठति ॥

(सू० ८८) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥६७॥

आचार्य मम्मट आनन्दवर्धन की इस मान्यता का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि माधुर्यादि गुण वस्तुतः रस के ही धर्म हैं वर्णों के नहीं (**रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा, न वर्णानाम्**) । ये माधुर्यादि रस में नियत रूप से रहते हैं, रस के धर्म हैं, वर्णों के आश्रित नहीं होते ये वर्ण माधुर्यादि गुणों के व्यञ्जक मात्र होते हैं ।

अनुवाद (सू० ८८)—जो (धर्म) शब्द और अर्थ रूप अङ्ग के द्वारा इसमें विद्यमान अंगी (रस) को कभी-कभी उपकृत करते हैं वे अनुप्रास, उपमा आदि हार आदि के समान अलङ्कार कहे जाते हैं ॥६७॥

अनुवाद (वृत्ति)—(१) जो धर्म वाचक-वाच्य लक्षण अर्थात् शब्द और अर्थ रूप अंगों के उत्कर्ष के द्वारा जहाँ वह सम्भव है, वहाँ उस मुख्य रस का उपकार करते हैं वे कण्ठ आदि अङ्गों के उत्कर्षाधान द्वारा आत्मा के भी उपकारक हार आदि के समान अलङ्कार कहलाते हैं । (२) जहाँ पर रस नहीं है वहाँ उक्ति-वैचित्र्यमात्र के बोधक होते हैं । (३) और कहीं तो रस के होने पर भी उसका उपकार नहीं करते ।

विमर्श—यहाँ पर ग्रन्थकार का अभिप्राय यह कि अलङ्कार काव्य में शब्द और अर्थ रूप अङ्गों के सौन्दर्य-वर्द्धक होते हैं जिस प्रकार हार आदि अलङ्कार किसी सुन्दरी के कण्ठ आदि अङ्गों को अलंकृत कर सौन्दर्य-वर्द्धन करते हैं, उसी प्रकार काव्य में अलङ्कार भी शब्द और अर्थ रूप अङ्गों की शोभा-वर्द्धन करते हैं और परम्पर या आत्मभूत रस के भी उपकारक होते हैं ।

दूसरे अलङ्कार रस के रहने पर ही उसके उपकारक होते हैं, नीरस काव्य में जहाँ रस नहीं रहता वहाँ वे उपकार नहीं करते, वहाँ उक्तिवैचित्र्यमात्र दिखाकर समाप्त हो जाते हैं (उक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः) । जिस प्रकार किसी कुरूपा नारी के हार आदि आभूषण सौन्दर्य वर्द्धक न होकर केवल दृष्टिवैचित्र्य से लगते हैं उसी प्रकार नीरस काव्य में अनुप्रासादि अलङ्कार केवल उक्ति-वैचित्र्यमात्र प्रतीत होते हैं ।

तीसरे कहीं पर ये अलङ्कार रस के रहने पर भी उसके उपकारक नहीं होते । जिस प्रकार ग्रामीण अलङ्कार किसी अतिशय सुन्दरी नायिका के सौन्दर्य की वृद्धि नहीं करते उसी प्रकार अलङ्कार कभी-कभी रसमय काव्य में भी सौन्दर्य का आधान नहीं करते । भाव यह कि कहीं-कहीं विद्यमान रस का भी उत्कर्ष नहीं करते ।

अपसारय धनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालिमृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥३४४॥

इत्यादौ वाचकमुखेन ।

मनोरागस्तीव्रं विषमिव विसर्पत्यविरतं
प्रमाथी निर्धूमं ज्वलति विधुतः पावक इव ।
हिनस्ति प्रत्यङ्गं ज्वर इव गरीयानित इतो
न मां त्रातुं तातः प्रभवति न चाम्बा न भवती ॥३४५॥

इत्यादौ वाच्यमुखेनालङ्कारौ रसमुपकुरुतः ।

उक्त तीन प्रकार के भेदों का यथाक्रम उदाहरण देते हैं—

(१) शब्द द्वारा रसोपकारक अलंकार का उदाहरण

अनुवाद—(कोई विरहिणी नायिका सखी से कहती है) हे सखि ! कपूर को हटा लो, हार को भी दूर कर दो, कमलों से क्या लाभ ? कमलनाल को भी रहने दे, इस प्रकार वह बाला रातों-दिन बोलती रहती है ॥३४४॥

यहाँ पर वाचक शब्द के द्वारा ('र' वर्ण का अनुप्रास रूप शब्दालंकार विप्रलम्भशृङ्गार रस का उत्कर्षाधायक है) ।

अनुवाद—हे सखि ! (माधव के प्रति) मेरे मन का राग तीव्र विष के समान निरन्तर (शरीर में) फैल रहा है, अत्यन्त क्षुब्धकारी वह हवा किये हुए (विधुतः) निर्धूम आग के समान जल रहा है, महान् ज्वर के समान प्रत्येक अंग को पीड़ित कर रहा है, इसलिए न तो पिताजी मेरी रक्षा कर सकते हैं, न माताजी और न आप ही (रक्षा करने में समर्थ हैं) ॥३४५॥

इत्यादि में वाच्य (अर्थ) के द्वारा अर्थात् वाचक शब्दालङ्कार तथा उपमादि अर्थालङ्कार दोनों ही रस के उपकारक होते हैं। भाव यह कि यहाँ अनुप्रसादि शब्दालंकार और उपमा अर्थालङ्कार दोनों ही विप्रलम्भशृङ्गार रस का उपकार करते हैं ।

चित्ते विहट्टदि ण दुट्टदि सा गुणेसु सज्जासु लोट्टदि विसट्टदि दिन्मुहेसु ।
बोलम्भि बट्टदि पवट्टदि कव्वबन्धे झाणे ण टुट्टदि चिरं तरुणी तरट्टी ।।३४६।।

[चित्ते विघटते न त्रुट्यति सा गुणेषु शय्यासु लुठति विसर्पति दिङ्मुखेषु ।
वचने वर्तते प्रवर्त्तते काव्यबन्धे ध्याने न त्रुट्यति चिरं तरुणी प्रगल्भा ।।३४६।।

(इति संस्कृतम्)

इत्यादौ वाचकमेव ।

मित्रे क्वापि गते सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु वीक्ष्य दयितासन्नं पुरः सारसम् ।
चक्राह्वेन वियोगिना विसलता नास्वादिता नोज्झिता
कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः ।।३४७।।

इत्यादौ वाच्यमेव, न तु रसम्, अत्र विसलता न जीवं रोध्दुं क्षमेति प्रकृताननुगुणोपमा ।

अनुवाद—वह प्रगल्भा तरुणी हृदय में बैठी हुई है, गुणों में कम नहीं है, शय्या पर लोट रही है, दिशाओं में संचरण कर रही है। (कभी) बात करती है, (कभी) काव्य-रचना में प्रवृत्त हो जाती है और ध्यान से कभी नहीं उतरती ।।३४६।।

इत्यादि में ('ट' वर्ग की आवृत्ति होने से) अनुप्रास अलङ्कार है, किन्तु विप्रलम्भ शृंगाररस में ट वर्ग का प्रयोग रस का उत्कर्षक न होकर अपकर्षक होता है। इसलिए यहाँ पर रस के होने पर भी अलङ्कार उस रस का उत्कर्ष-जनक (उपकारक) नहीं है। अतः अलङ्कार वाचक शब्द का ही उपकारक है, रस का उपकारक नहीं है। अतः उक्ति-वैचित्र्यमात्र है।

अनुवाद—मित्र (सूर्य) कहीं चले जाने पर अर्थात् सूर्य के अस्त हो जाने पर कमल-वन के मुख बन्द कर लेने पर मुरझा जाने पर, भौरों के क्रन्दन करने पर और प्रिया के पास स्थित सारस पक्षी को देखकर वियोगी चक्रवाक ने न तो मृणाललता को खाया और न छोड़ दिया, किन्तु निकलते हुए जीव को रोकने के लिए कण्ठ-द्वार की अर्गला के समान लगा ली (जिससे प्राण बाहर न निकल सके) ।।३४७।।

इत्यादि में उपमालङ्कार केवल अर्थ का ही उत्कर्षक है, रस का नहीं, क्योंकि यहाँ पर विसलता जीव को रोकने योग्य नहीं है इसलिए यह प्रकृत रस के अननुरूप (प्रतिकूल) उपमा है।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'अर्गलेव' में उपमा अलंकार है। और यहाँ

एष एव गुणालङ्कार प्रविभागः ।

"एवं च समवायकृत्या शौर्यादयः संयोगवृत्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः, ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्या स्थितिरिति गड्डुलिकाप्रवाहेणैवेषां भेदः" इत्यभिधानमसत् ।

यदप्युक्तम् **'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः' इति तदपि न युक्तम् । यतः किं समस्तैः गुणैः काव्यव्यवहारः, उत कतिपयैः ? यदि समस्तैः तत्कथमसमस्तगुणा गौणी पाञ्चाली च रीतिः काव्यस्यात्मा ? अथ कतिपयैः ततः—**

विप्रलम्भ शृंगार रस है। किन्तु यहाँ पर उपमा विप्रलम्भशृंगार का उपकारक नहीं है, बल्कि अपकर्षक है। क्योंकि वियोगावस्था में प्राण का रोकना उचित नहीं माना जाता बल्कि प्राण-परित्याग ही उचित माना जाता है। इसलिए यहाँ पर विसलता को अर्गला बनाकर प्राणों को निकलने से रोकना विप्रलम्भ शृंगार में उचित नहीं माना गया है। इसलिए प्रकृत रस के प्रतिकूल होने से यह उपमा रस का उत्कर्षक नहीं होता।

अनुवाद—यही तो गुण और अलंकारों का भेद है।

"इस प्रकार शौर्य आदि (गुण) समवाय सम्बन्ध से और हारादि अलंकार संयोग सम्बन्ध से रहते हैं, इसलिए (लौकिक) गुण और अलंकारों में भेद हो सकता है किन्तु ओजः प्रभृति गुण तथा अनुप्रास, उपमा अलंकार दोनों ही समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, इसलिए इनमें भेद मानना भेड़चाल (गड्डुलिका प्रवाह) है। किन्तु भट्टोद्भट का यह कहना उचित नहीं है।"

विमर्श—भट्टोद्भट के उपर्युक्त सन्दर्भ का अभिप्राय यह है कि लौकिक गुण (शौर्यादि) शरीर में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं और अलङ्कार (हारादि) शरीर में संयोग सम्बन्ध से रहते हैं, इसलिए इनमें भेद माना जा सकता है किन्तु काव्य में गुण (माधुर्यादि) और अलङ्कार (अनुप्रास उपमा आदि) दोनों ही समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, इसलिए इनमें भेद नहीं माना जा सकता। इस प्रकार इन दोनों में जो भेद का कथन है वह गड्डुलिका प्रवाह (भेड़चाल) है। मम्मट ने इस मान्यता का खण्डन कर दिया है।

अनुवाद—और जो (भेदवादी वामन ने) कहा है कि—'काव्य-शोभा के उत्पादक धर्म गुण हैं और उस शोभा के वर्धक धर्म को अलंकार कहते

अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येष धूमः ॥३४८॥

इत्यादावोजःप्रभृतिषु गुणेषु सत्सु काव्यव्यवहारप्राप्तिः।

स्वर्गप्राप्तिरनेनैवदेहेन वरवर्णिनि ।
अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम् ॥३४९॥

इत्यादौ विशेषोक्तिव्यतिरेकौ गुणनिरपेक्षौ काव्यव्यवहारस्य प्रवर्त्तकौ ।

हैं' यह कथन भी ठीक नहीं है। मम्मट ने इस मत का भी खण्डन कर दिया है।

मम्मट का कथन है कि क्या समस्त गुणों के होने पर ही काव्य व्यवहार होता है अथवा कुछ गुणों के (होने पर काव्य-व्यवहार होता है) ? यदि समस्त गुणों से युक्त काव्य को काव्य कहेंगे तो समग्र गुणों से रहित गौणी और पाञ्चाली रीति काव्य की आत्मा कैसे मानी जा सकेगी ? यदि यह कहा जाय कि कुछ ही गुणों के होने पर काव्य व्यवहार होगा तो—

'इस पर्वत पर अग्नि प्रचण्ड रूप से जल रही है और ऊपर उठता हुआ धुआँ सुशोभित हो रहा है' ॥३४८॥

इस उदाहरण में ओज आदि कुछ गुणों से ही काव्यव्यवहार होने लगेगा और इसी प्रकार 'हे वरवर्णिनि ! इसी शरीर से स्वर्ग की प्राप्ति है, इसका अधर-रस अमृत को भी तिरस्कृत करता है' ॥३४९॥

इत्यादि उदाहरण में विशेषोक्ति और व्यतिरेक अलंकार गुण की अपेक्षा किये बिना ही काव्य-व्यवहार के प्रवर्त्तक हैं।

विमर्श—आचार्य मम्मट वामन के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जो वामन काव्य के शोभाकारक धर्म को गुण और उस शोभा के वर्द्धक धर्म को अलङ्कार कहते हैं, उनका यह कहना सर्वथा असंगत है; क्योंकि ऐसा मानने पर प्रश्न होता है कि क्या समग्र गुणों से युक्त होने पर काव्यव्यवहार होगा या कुछ ? यदि समग्र गुणों से युक्त होने पर काव्य मानते हैं तो गौड़ी और पाञ्चाली रीति काव्य की आत्मा कैसे मानी जा सकती है ? क्योंकि वामन के मतानुसार रीति काव्य की आत्मा है (रीतिरात्मा काव्यस्य) । रीतियाँ तीन हैं— गौड़ी, वैदर्भी और पाञ्चाली । इनमें समग्रगुणा वैदर्भी है और गौड़ी रीति में केवल ओज और कान्ति गुण और पाञ्चाली में माधुर्य और सौकुमार्य दो ही गुण होते हैं, अतः वामन के अनुसार समग्रगुणयुता न होने से गौड़ी और पांचाली रीति काव्य की आत्मा नहीं होंगी।

यदि यह कहा जाय कि कुछ ही गुणों के होने पर काव्यव्यवहार होगा तो 'अद्रावत्र' इत्यादि उदाहरण में कुछ गुणों के होने से काव्यव्यवहार होने लगेगा, जो

इदानीं गुणानां भेदमाह

(सू० ८९) माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।

एषां क्रमेण लक्षणमाह—

अभीष्ट नहीं है। इसी प्रकार 'स्वर्गप्राप्ति०' इत्यादि उदाहरण में गुणों के अभाव में भी काव्यव्यवहार होने लगेगा। वामन ने यहाँ पर विशेषोक्ति और व्यतिरेक अलङ्कार को काव्यव्यवहार का प्रवर्त्तक माना है। वामन ने 'स्वर्गप्राप्ति' इत्यादि उदाहरण में दिव्यदेह रूप एक गुण की न्यूनता की कल्पना से स्वर्ग-साम्य को दृढ़ किया है (**एक गुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः**)। अतः यहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार है। इसी प्रकार यहाँ उपमेय अधर रस को उपमान सुधारस से अधिक बताया गया है (उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः) अतः यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार है। इस प्रकार इस उदाहरण में दो अलंकार पाये जाते हैं। किन्तु वामन के मतानुसार अलंकार गुणों के द्वारा उत्पादित काव्य सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। यहाँ पर गुणों के अभाव में काव्य-सौन्दर्य की उत्पत्ति ही होगी तो अलंकार किसका सौन्दर्य वर्धन करेंगे? इस प्रकार वामन का गुणालंकार विभाग उचित नहीं है।

गुण-भेद

अनुवाद—अब गुणों के भेद का निरूपण करते हैं—

(सू० ८९)—माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन ही गुण होते हैं, दश गुण नहीं।

विमर्श—मम्मट ने गुणों को रस का धर्म कहा है। इसी आधार पर वे गुणों के तीन भेद स्वीकार करते हैं। उन्होंने वामन के द्वारा प्रतिपादित दस गुणों को अस्वीकार कर दिया है। क्योंकि नव रस के आस्वादन में सामाजिकों के हृदय की तीन अवस्थाएँ होती हैं— द्रुति, विस्तार और विकास। उनमें शृंगार, करुण और शान्त रसों में चित्त की द्रुति होती है और वीर, रौद्र, वीभत्स रसों मे चित्त का विस्तार होता है तथा हास्य, अद्भुत और भयानक रसों में चित्त का विकास होता है। हास्य में वदन का, अद्भुत रस में नेत्र का और भयानक में शीघ्र-पलायनरूप गमन का विकास होता है। इस प्रकार रसास्वादन काल में हृदय की तीन अवस्थाओं के आधार पर रस के धर्म गुण को तीन प्रकार का मानते हैं।

वामन ने दस शब्दगुण और दस अर्थगुण माने हैं। वामन के अनुसार ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति और कान्ति ये दश शब्दगुण हैं और ये ही अर्थगुण हैं—

(सू० ९०) आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।।६८।।

शृंगारे अर्थात् सम्भोगे। द्रुतिर्गलितत्वमिव। श्रव्यत्वं पुनरोजः-प्रसादयोरपि।

(सू० ९१) करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।।

अत्यन्त द्रुतिहेतुत्वात्।

'ओजःप्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारतार्थव्यक्तिकान्तयो बन्ध-गुणाः (३।१।४)। ते एवार्थगुणाः (३।२।१)।

वामन के अनुसार दस शब्दगुण और दस अर्थगुणों का लक्षण निम्न प्रकार है—

शब्दगुण	अर्थगुण
१. गाढ़बन्धत्वमोजः	१. अर्थस्य प्रौढ़िरोजः
२. शैथिल्यं प्रसादः	२. अर्थवैमल्यं प्रसादः
३. मसृणत्वं श्लेषः	३. घटना श्लेषः
४. मार्गभेदः समता	४. अवैषम्यं समता
५. आरोहावरोहक्रमः समाधिः	५. अर्थदृष्टिः समाधिः
६. पृथक्पदत्वं माधुर्यम्	६. उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्
७. अजरठत्वं सौकुमार्यम्	७. अपारुष्यं सौकुमार्यम्
८. विकटत्वमुदारता	८. अग्राम्यत्वमुदारता
९. अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः	९. वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः
१०. औज्ज्वल्यं कान्तिः	१०. दीप्तरसत्वं कान्तिः।

अब क्रमशः उनका लक्षण कहते हैं—

अनुवाद (सू० ९०)—चित्त की द्रुति का कारण आह्लादकत्व (आनन्द-स्वरूपता) ही माधुर्य गुण है और वह शृंगार रस में रहता है ।।६८।।

शृङ्गार में अर्थात् सम्भोग शृङ्गार में। द्रुति का अर्थ चित्त का द्रवीकरण (चित्त का पिघलना) है। श्रव्यत्व ओज और प्रसाद गुणों में भी होता है।

विमर्श—यहाँ पर आह्लादकत्व का अर्थ आह्लादस्वरूपत्व है। इस प्रकार शृङ्गार रस में रहने वाला चित्त की द्रुति का कारण आह्लादस्वरूप (आनन्दस्वरूपत्व) ही माधुर्य गुण है। भामह ने माधुर्य का लक्षण **'श्रव्यं नाति समस्तार्थं काव्यं मधुर-मिष्यते'** किया है किन्तु मम्मट उक्त लक्षण को स्वीकार नहीं करते। इसीलिए इन्होंने उक्त लक्षण का खण्डन करने के लिए **'श्रव्यं पुनरोजःप्रसादयोरपि'** यह वाक्य लिखा है। अर्थात् श्रव्यत्व तो ओज प्रसाद में भी होता है, अतः भामह का श्रव्यत्व को माधुर्य लक्षण कहना उचित नहीं है।

अनुवाद (सू० ९१) -वह माधुर्य करुण, विप्रलम्भ शृंगार और शान्त रस में उत्तरोत्तर चमत्कारजनक होता है।

अत्यन्त द्रवीभाव का कारण होने से।

(सू० ९२) दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ।।६९।।

चित्तस्य विस्ताररूपदीप्तत्वजनकमोजः ।

(सू० ९३) बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ।

वीरत्वीभत्से ततो रौद्रे सातिशयमोजः ।

(सू० ९४) शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ।।७०।।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।।

अन्यदिति व्याप्यमिह चित्तम् । सर्वत्रेति सर्वेषु रसेषु, सर्वासु रचनासु च ।

विमर्श—भाव यह कि वह माधुर्य गुण सम्भोग शृंगार में तो रहता ही है किन्तु करुण, विप्रलम्भ और शान्तरस में भी रहता है और वह उत्तरोत्तर अधिक चमत्कारजनक होता है ।

अनुवाद (सू० ९२)—चित्त के विस्तार का हेतुभुत दीप्ति ही ओज गुण है और उसकी स्थिति वीररस में होती है ।।६९।।

चित्त के विस्ताररूप दीप्तत्व का जनक ओज गुण है ।

अनुवाद (सू० ९३)—(यह ओज सामान्यतः वीररस में रहता है किन्तु) बीभत्स और रौद्र रसों में क्रमशः उसका आधिक्य (अर्थात् उत्तरोत्तर चमत्कारजनकता) रहता है ।

अर्थात् वीररस से बीभत्स में और वीभत्स से रौद्र रस में ओज गुण उत्तरोत्तर बढ़कर होता है ।

विमर्श—भाव यह कि वीररस तो ओजस्वी है, किन्तु वीररस की अपेक्षा बीभत्स रस को और बीभत्स की अपेक्षा रौद्ररस को अधिक ओजस्वी माना गया है ।

अनुवाद (सू० ९४)—सूखे इन्धन में अग्नि के समान तथा स्वच्छ (वस्त्र में) जल के समान जो (गुण) सहसा चित्त में व्याप्त हो जाता है, उसे प्रसाद गुण कहते हैं । इसकी स्थिति सर्वत्र है (अर्थात् यह सभी रसों तथा सभी रचनाओं में रहता है) ।।७०।।

यहाँ पर 'अन्यत्' पद का अभिप्राय है व्याप्य और व्याप्य का अभिप्राय है—सहृदय का हृदय । 'सर्वत्र' पद का अभिप्राय है—सभी रसों में तथा सभी रचनाओं में ।

(सू० ९५) गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ।।७१।।

गुणवृत्त्या उपचारेण 'तेषां गुणानां । आकारे शौर्यस्येव'

कुतस्त्रय एव न दश इत्यत आह

(सू० ९६) केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः ।

अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ।।७२।।

बहूनां पदानामेकपदवद् भासमानात्मा यः श्लेषः, यश्चारोहावरोहक्रमरूपः समाधिः, या च विकटत्वलक्षणा उदारता, यश्चौजोमिश्रितशैथिल्यात्मा प्रसादः, तेषामोजस्यन्तर्भावः। पृथक्पदत्वरूपं माधुर्यं भङ्ग्या साक्षादुपात्तम् । प्रसादेनार्थव्यक्तिर्गृहीता । मार्गाभेदरूपा समता क्वचिद्दोषः । तथाहि 'मातंगाः किमु वल्गितैः' इत्यादौ सिंहाभिधाने मसृणमार्गत्यागो गुणः । कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दुष्टताभिधानात् तन्निराकरणेन अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, औज्ज्वल्यरूपा कान्तिश्च स्वीकृता । एवं न दश शब्दगुणाः ।

विमर्श—मम्मट के अनुसार प्रसाद गुण चित्त के विकास का जनक है । इस गुण के होने पर सहृदय के हृदय में रस तुरन्त व्याप्त हो जाता है। जैसे सूखी लकड़ी में अग्नि तुरन्त व्याप्त हो जाती है और स्वच्छ वस्त्र में जल सहसा फैल जाता है, उसी प्रकार वीर, रौद्र आदि रसों में तो प्रसाद गुण हृदय में सूखी लकड़ी में अग्नि के समान सहसा व्याप्त हो जाता है और शृंगार, करुण आदि कोमल रसों में प्रसाद गुण चित्त में स्वच्छ वस्त्र में जल के समान व्याप्त हो जाता है । यह प्रसादगुण समस्त रसों में तथा समस्त रचनाओं में रहता है ।

अनुवाद (सू० ९५)—उन माधुर्यादि गुणों की शब्द और अर्थ में स्थिति गौण रूप से मानी जाती है ।।७१।।

गुणवृत्ति से अर्थात् उपचार से । 'तेषाम्' उन गुणों का । आकार में शौर्य के समान ।

विमर्श— गुण यद्यपि मुख्य रूप से रस के धर्म होते हैं किन्तु गौणी वृत्ति से अर्थात् उपचारतः शब्द और अर्थ में भी उनकी स्थिति मानी जाती है । भाव यह कि जिस प्रकार आत्मा के धर्म शौर्य आदि उपचार से (उपचारतः) शरीर के धर्म कहे जाते हैं उसी प्रकार रस के धर्म माधुर्यादि गुण भी उपचार से शब्दगुण और अर्थगुण कहे जा सकते हैं । ध्वनिकार का भी यही मत है कि गुणों को उपचार से ही शब्दगुण और अर्थगुण कहा जाता है ।

अनुवाद—तीन ही गुण क्यों होते हैं ? दस क्यों नहीं ?

(सू० ९६) - इनमें (वामन के १० गुणों में) से कुछ (गुण तो ऐसे हैं) जो (माधुर्य, ओज, प्रसाद) इन तीनों में अन्तर्भूत हो जाते हैं और कुछ दोषाभाव मात्र हैं तथा कुछ कहीं दोष रूप हो जाते हैं । इसलिए दस गुण नहीं हैं ।।७२।।

पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा ।
प्रौढ़िर्व्याससमासौच साभिप्रायत्वमस्य च ।।

इति या प्रौढ़िः ओज इत्युक्तं तद्वैचित्र्यमात्रं न गुणः । तदभावेऽपि काव्यव्यवहारप्रवृत्तेः । अपुष्टार्थत्वाधिकपदत्वानवीकृतत्वामंगलरूपाश्लील-ग्राम्याणां निराकरणेन च साभिप्रायत्वरूपमोजः, अर्थवैमल्यात्मा प्रसादः उक्तिवैचित्र्यरूपं माधुर्यम्, अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, अग्राम्यत्वरूपा उदारता च स्वीकृतानि, अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलङ्कारेण रसध्वनिगुणीभूत-व्यङ्ग्याभ्यां च वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपा अर्थव्यक्तिः दीप्तरसत्वरूपा कान्तिश्च स्वीकृते । क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा श्लेषोऽपि विचित्रत्वमात्रम् । अवैषम्यरूपं समता दोषाभावमात्रं न पुनर्गुणः । कः खल्वनुन्मत्तोन्यस्य प्रस्तावेऽन्यदभिदध्यात् । अर्थस्यायोनेरन्य-च्छायायोनेर्वा यदि न भवति दर्शनं तत् कथं काव्यम्, इत्यर्थदृष्टिरूपः समाधिरपि न गुणः ।

अनुवाद (वृत्ति)—बहुत से पदों का एक पद के समान प्रतीति रूप जो श्लेष आरोहावरोह (उतार-चढ़ाव) का क्रम रूप समाधि और जो विकटता रूप उदारता है, तथा ओजो मिश्रित शैथिल्य रूप प्रसाद गुण है उनका ओज में अन्तर्भाव हो जाता है । पृथक्पदता रूप माधुर्य गुण को प्रकारान्तर से साक्षात् रूप में ले लिया है । प्रसाद गुण से अर्थव्यक्ति का ग्रहण हो जाता है । मार्गाभेदरूपा समता कहीं दोष हो जाती है, जैसे 'मातंगाः किमु वलितैः' इत्यादि में सिंह के वर्णन में कोमल मार्ग का त्याग गुण है । कष्टत्व तथा ग्राम्यत्व दोष कहे जाने के कारण उनका परित्याग करने से जो अपारुष्य रूप सुकुमारता और औज्ज्वल्य रूप कान्ति है, उसे स्वीकार कर लिया गया है । इसलिए शब्दगुण दस नहीं होते ।

विमर्श—मम्मट ने वामनोक्त दस शब्दगुणों में से कुछ का अपने तीन गुणों में अन्तर्भाव कर लिया है, कुछ को दोषाभाव रूप में स्वीकार किया है और कुछ दोष रूप माना है । इनमें से श्लेष, समाधि, उदारता और प्रसाद इन चार गुणों का ओज में अन्तर्भाव किया है । माधुर्य को साक्षात् ग्रहण कर लिया है । अर्थव्यक्ति प्रसाद में अन्तर्भूत है, समता दोषरूप है, सौकुमार्य और कान्ति को स्वीकार कर लिया है । इस प्रकार दश गुण नहीं होते ।

अनुवाद—'पद के अर्थ (बोधन) में वाक्य-रचना और वाक्यार्थ में पद-रचना, व्यास (विस्तार) या संक्षेप करना और अर्थ का साभिप्रायत्व—

(सू० ९७) तेन नार्थगुणा वाच्याः।
वाच्या वक्तव्या ।

यह पाँच प्रकार की प्रौढ़ि होती है' इस प्रकार प्रौढ़ि, जिसे ओज कहा गया है, वह वैचित्र्यमात्र है, गुण नहीं, क्योंकि उसके अभाव में भी काव्य व्यवहार होता है । अपुष्टार्थत्व, अधिकपदत्व, अनवीकृतत्व अमंगलरूप अश्लील और ग्राम्यता के निराकरण के द्वारा साभिप्रायत्व रूप ओज, अर्थवैमल्यरूप प्रसाद, उक्ति वैचित्र्य रूप माधुर्य, अपारुष्य रूप सौकुमार्य, और अग्राम्यत्व रूपा उदारता दोषाभाव के अन्तर्गत स्वीकृत हुए हैं । आगे कहे जाने वाले स्वभावोक्ति और अलङ्कार के द्वारा वस्तु के स्वभाव का स्पष्ट कथन रूप अर्थव्यक्ति और रसध्वनि एवं गुणीभूतव्यङ्ग्य के द्वारा दीप्तरसत्व रूप शक्ति को स्वीकार कर लिया गया है । क्रम का उल्लंघन (क्रमकौटिल्य) उसकी अस्फुटता (अनुल्बणत्व) युक्ति पूर्ण संयोग रूप घटना (रचना) जो श्लेष है, वह उक्ति वैचित्र्यमात्र है । विषमता का अभाव रूप समता दोषाभावमात्र है, गुण नहीं । क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो अन्य के प्रकरण में अन्य बात कहे । यदि अयोनि या अन्यच्छायायोनि अर्थ का काव्य में दर्शन नहीं होता है तो वह काव्य कैसे ? इस प्रकार अर्थदृष्टि रूप समाधि भी गुण नहीं है ।

विमर्श—वामन ने **'अर्थदृष्टिः समाधिः'** यह समाधि का लक्षण किया है। अर्थ का दर्शन या अर्थ विषयक दृष्टि समाधि है । अर्थ दो प्रकार का होता है— अयोनि और अन्यच्छायायोनि (**अर्थो द्विविधोऽयोभिरन्यच्छायायोनिर्वा**) । अयोनि का अर्थ है अकारण अर्थात् कवि किसी दूसरे कवि की छाया न लेकर स्वयं जिस अर्थ का वर्णन करता है वह 'अयोनि' कहलाता है और जो कवि दूसरे कवि के काव्य की छाया लेकर अर्थ का वर्णन करता है उसे 'अन्यच्छायायोनि' कहते हैं । इन दोनों अर्थों के दर्शन को 'समाधि' कहते हैं । यहाँ ग्रन्थकार का कथन है कि इन दो प्रकार के अर्थों के बिना तो काव्य-रचना हो ही नहीं सकती तो इस काव्य का कारण कैसे माना जा सकता है । अतः इसे काव्य का गुण नहीं माना जा सकता ।

अनुवाद (सू० ९७)—इसलिए अर्थ गुणों को नहीं कहना चाहिए यहाँ पर 'वाच्याः' का अर्थ 'कहना चाहिए' है ।

(सू० ९८) ·········प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये।

वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकताभिधाः ॥७३॥

के कस्य इत्याह—

(सू० ९९) मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।

अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ॥७४॥

टठडढवर्जिताः कादयो मान्ताः शिरसि निजवर्गान्त्ययुक्ताः तथा रेफणकारौ ह्रस्वान्तरिताविति वर्णाः, समासाभावो मध्यमः समासो वेति समासः तथा माधुर्यवती पदान्तरयोगेन रचना माधुर्यस्य व्यञ्जिका। उदाहरणम्— '

अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गभङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि ॥३५०॥

विमर्श—वामन के जो दश प्रकार के अर्थगुण कहे गए हैं, उन्हें नहीं कहना चाहिए अर्थात् मम्मट ने वामन के दस अर्थगुणों का समाधान करके तीन गुणों की स्थापना की है। उनका कहना है कि दम अर्थगुणों का प्रतिपादन नहीं करना चाहिए।

अनुवाद (सू० ९८)—और जो शब्द गुण कहे गये हैं अर्थात् जो शब्दगत माधुर्यादिगुण कहे गये हैं उनमें व्यञ्जक वर्ण, समास, रचना होते हैं ॥७३॥

कौन किसके व्यञ्जक हैं ? कहते हैं—

अनुवाद (सू० ९९)—शिर पर स्थित अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त, टवर्ग-रहित स्पर्श संज्ञक वर्ण, ह्रस्व रकार और णकार समासरहित और स्वल्प समासयुक्त रचना माधुर्य में व्यंजक होती हैं ॥७४॥

अनुवाद (वृत्ति)—ट, ठ, ड, ढ, से रहित क से लेकर म पर्यन्त समस्त स्पर्शसंज्ञक वर्ण शिर पर अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त तथा ह्रस्व से व्यवहित रेफ और णकार, समासरहित एवं स्वल्प समासयुक्त तथा अन्य पदों के साथ योग (सन्धि) से माधुर्य युक्त रचना माधुर्य गण के व्यञ्जक होते हैं। जैसे

स्तनों के भार से झुकी हुई अंगों वाली नायिका के कामदेव की रंगभूमि के समान दिव्य देहलता को हाव-भावों ने इस प्रकार अपना लिया है कि जिससे ये भंगिमाएं नवयुवकों के हृदय को अन्य विषयों की चिन्ता से रहित (शान्तापरचिन्तनानि) कर देती हैं ॥३५०॥

(सू० १००) योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ।।७५।।

वर्गप्रथमतृतीयाभ्यामन्त्ययोः द्वितीयचतुर्थयोः रेफेण अध उपरि उभयत्र वा यस्य कस्यचित्, तुल्ययोस्तस्य तेनैव सम्बन्धः टवर्गोऽर्थात् णकारवर्जः शकारषकारौ दीर्घसमासः विकटा सङ्घटना ओजसः। उदाहरणम्—

मूर्ध्नामुद्वृत्तकृत्ताविरलगलगलद्रक्तसंसक्तधारा—
धौतेशाङ्घ्रिप्रसादोपनतजयजगज्जातमिथ्यामहिम्नाम्।
कैलासोल्लासनेच्छाव्यतिकरपिशुनोत्सर्पिदर्पोद्धुराणां
दोष्णां चैषां किमेतत् फलमिह नगरीरक्षणे यत्प्रयासः ।।३५१।।

यहाँ पर अपने वर्गों के अन्तिम वर्ण से युक्त 'अनङ्ग, तरङ्ग, भङ्गीभिः, अङ्गीकृत आदि में ग के साथ ङ् का और स्वान्त, शान्त, चिन्त में त के साथ न् का संयोग, ह्रस्वस्वर से व्यवहित रेफ स्वल्पसमासयुक्त रचना माधुर्य गुण के व्यञ्जक हैं।

अनुवाद (सू० १००)—वर्गों के प्रथम (क च ट त प) और तृतीय (ग ज ड द ब) वर्ण के साथ उसके बाद के अर्थात् द्वितीय (ख, छ, ठ, थ, फ) और चतुर्थ (घ झ ढ ध भ) वर्णों का योग तथा रेफ के साथ योग तथा तुल्य वर्णों का योग, टादि (ट, ठ, ड, ढ़) वर्ण, श और ष वर्ण तथा दीर्घ समास एवं उद्धत रचना ये ओज गुण के व्यञ्जक होते हैं ।।७५।।

वर्ग के प्रथम और तृतीय वर्णों के साथ अन्तिम अर्थात् द्वितीय एवं चतुर्थ वर्णों का, रेफ के साथ नीचे, ऊपर अथवा दोनों जगह जिस किसी वर्ण का तथा दो तुल्य वर्णों का उसका उसी के साथ संयोग णकार को छोड़कर ट वर्ग का प्रयोग, शकार और षकार वर्ण ही समास तथा विकट रचनायें सब ओज गुण के व्यंजक होते हैं।

अनुवाद—उद्धतता के साथ काटे गये गले से अविरल बहती हुई रुधिर की धारा से धोये हुए शिवजी के चरणों की कृपा से प्राप्त विजय से संसार में झूठी महत्ता को प्राप्त हुए इन दस मस्तकों का और कैलास पर्वत को ऊपर उठाने की अभिलाषा की अधिकता के सूचक उत्कट गर्व से गर्वित मेरी इन भुजाओं का क्या यही फल है कि इस नगरी की रक्षा का प्रयास करना पड़े ।।३५१।।

(सू० १०१) श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥७६॥

समग्राणां रसानां संघट्यमानां च उदाहरणम्—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः
तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ॥३५२॥

यद्यपि गुणपरतन्त्राः सङ्घटनादयस्तथापि—

विमर्श—यहाँ पर 'मूर्ध्नाम्', और उत्सर्पि, दर्प, आदि रेफ का ऊपर तथा गलद्रक्त तथा अङ्घ्रि में रेफ का नीचे संयोग उद्वृत्त, कृत्त, आदि में दो तुल्य वर्णों का संयोग, इच्छा और दर्पोद्धुर आदि में च् और छ् तथा द् और ध् का संयोग, दीर्घ समास और विकट रचना ये सब ओज गुण का अभिव्यंजन कर रहे हैं।

अनुवाद (सू० १०१)—जिस (वर्ण, समास, रचना) के श्रवण मात्र से ही शब्द से अर्थ की प्रतीति हो और जो सब जगह (अर्थात् सभी रसों तथा सभी रचनाओं में) सामान्य रूप से रहे, उसे प्रसाद गुण व्यञ्जक (वर्ण, रचना आदि) कहते हैं ॥७६॥

कारिका में 'समग्राणाम्' का अभिप्राय समस्त रसों का और समस्त रचनाओं का है ।

अनुवाद—स्थूल स्तनों और जघन के सम्पर्क से दोनों ओर मलिन हुई शरीर के मध्य भाग से सम्पर्क न पाकर हरी-भरी, शिथिल भुजाओं के गिरने से तथा करवटें बदलने से अस्त-व्यस्त यह कमलिनी पत्र की शय्या कृशांगी के सन्ताप को बता रही है ॥३५२॥

यहाँ पर माधुर्य के व्यञ्जक वर्ण, मध्यम समास और मधुर रचना सभी प्रसाद गुण का अभिव्यञ्जन कर रहे हैं।

अनुवाद—यद्यपि सङ्घटना आदि अर्थात् वर्ण, समास, रचना आदि गुणों के आश्रित रहते हैं, फिर भी—

(सू० १०२) वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित् ।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥७७॥

क्वचिद्वाच्यप्रबन्धानपेक्षया वक्त्रौचित्यादेव रचनादयः । यथा—

मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्डः ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽसौ ॥३५३॥

अत्र हि न वाच्यं क्रोधादिव्यञ्जकम् । अभिनेयार्थं च काव्यमिति तत्प्रतिकूला उद्धतां रचनादयः । वक्ता चात्र भीमसेनः ।

अनुवाद (सू० १०२)—कहीं-कहीं वक्ता, वाच्य और प्रबन्ध के औचित्य से रचना, समास और वर्णों का अन्य प्रकार से प्रयोग भी इष्ट है ॥७७॥

विमर्श—भाव यह कि ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन सङ्घटना को गुणों के आश्रित मानते हैं (गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती····) । इसके अतिरिक्त वक्ता, वाच्य प्रबन्ध आदि का औचित्य भी सङ्घटना का नियामक होता है । इस बात को लक्ष्य कर मम्मट कहते हैं कि यद्यपि वर्ण, समास और रचना आदि गुणों के आश्रित होते हैं तथापि कहीं-कहीं वक्ता के औचित्य के कारण वर्ण, समासादि का अन्यथा प्रयोग भी होता है । इसी प्रकार कहीं वाच्यगत औचित्य के कारण और कहीं प्रबन्धगत औचित्य के कारण भी वर्ण, समास और रचना आदि अन्य प्रकार का प्रयोग भी होता है । इस प्रकार गुणत्रय (माधुर्य, ओज, प्रसाद, के व्यंजक वर्ण, समास और रचना आदि का औचित्य के कारण अन्य प्रकार का प्रयोग भी देखा जाता है ।

अनुवाद—कहीं-कहीं पर तो वाच्य और प्रबन्धगत औचित्य के अभाव में भी केवल वक्तृगत औचित्य के कारण वर्ण, समास, रचना आदि का अन्यथा अन्य प्रकार का प्रयोग होता है । जैसे—

"मन्थन से क्षुब्ध समुद्र के जल से व्याप्त कन्दरा वाले चलते हुए मन्दराचल की ध्वनि के समान गम्भीर, कोणाघात के समय गरजते हुए प्रलयकालीन मेघ समूह के परस्पर सङ्घर्ष के समान भयंकर द्रौपदी के क्रोध का अग्रदूत और कौरव कुल के नाशरूपी उत्पात का सूचक ध्वनियुक्त वायुरूप हमारे सिंहनाद की प्रतिध्वनि के समान यह दुन्दुभि किसने बजाई ?" ॥३५३॥

क्वचिद्वक्तृप्रबन्धानपेक्षया वाच्यौचित्यादेव रचनादयः। यथा—

प्रौढच्छेदानुरूपोच्छलनरयभवत्सैंहिकेयोपघात—
त्रासाकृष्टाश्वतिर्यग्वलितरविरथेनारुणेनेक्ष्यमाणम्।
कुर्वत् काकुत्स्थवीर्यस्तुतिमिव मरुतां कन्धरारन्ध्रभाजां
भाङ्कारैर्भीममेतन्निपतति वियतः कुम्भकर्णोत्तमाङ्गम् ॥३५४॥

क्वचिद्वक्तृवाच्यानपेक्षया प्रबन्धोचिता एव ते तथा हि आख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः, कथायां रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः, नाटकादौ रौद्रेऽपि न दीर्घसमासादयः।

यहाँ पर वाच्य क्रोधादि का व्यञ्जक नहीं है और काव्य अभिनेयार्थ है, इसलिए दोनों के प्रतिकूल अर्थात् वाच्य एवं नाटकरूप प्रबन्ध के प्रतिकूल केवल वक्ता (भीमसेन) के औचित्य के कारण ही यहाँ संङ्घट्टनादि (वर्ण, वृत्ति और रचना आदि) है। क्योंकि यहाँ वक्ता उद्धत भीमसेन है।

अनुवाद—कहीं पर वक्ता और प्रबन्ध दोनों की उपेक्षा करके वाच्यगत के औचित्य से रचना आदि होती है। जैसे—

"प्रौढ़ प्रहार के अनुरूप उछलने के वेग के कारण उत्पन्न राहु के पतन के भय से घोड़ों को खींचकर सूर्य के रथ को तिरछा कर देने वाले अरुण के द्वारा देखा जाता हुआ और (कटे हुए) कन्धरा (गरदन) के छिद्रों में भरे हुए पवन के 'भाँय भाँय' शब्दों से मानो काकुत्स्थ रामचन्द्र के पराक्रम की स्तुति करता हुआ कुम्भकर्ण का यह भयङ्कर मस्तक आकाश से गिर रहा है ॥३५४॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण 'छलितराम' नाटक से लिया गया है। यहाँ पर वक्ता वैतालिक है और अभिनेयात्मक प्रबन्ध काव्य है इसलिए यहाँ पर परुष वर्ण, दीर्घ समासमयी उद्धत रचना उचित नहीं है, किन्तु कुम्भकर्ण के मस्तक के पतन रूप वर्णनीय विषय (वाच्य) के औचित्य के कारण यहाँ दीर्घसमासमयी उद्धत रचना युक्तिसंगत है। इस प्रकार यहाँ वक्ता एवं प्रबन्ध दोनों की उपेक्षा कर वाच्यगत औचित्य से यहाँ वर्ण-रचनादि का प्रयोग हुआ है।

अनुवाद—कहीं-कहीं वक्ता और वाच्य दोनों की उपेक्षा करके प्रबन्धगत औचित्य से वर्ण-समास-रचना आदि का प्रयोग होता है जैसे—

एवमन्यदप्यौचित्यमनुसर्त्तव्यम् ।

इति श्रीकाव्यप्रकाशे गुणालंकार भेदनियतगुण निर्णयो नाम
अष्टमोल्लासः ।

"आख्यायिका में शृंगाररस में भी कोमल वर्ण आदि नहीं होते। कथा में रौद्र रस में भी अत्यन्त उद्धत रचना आदि नहीं होती, नाटक आदि में रौद्ररस में भी दीर्घसमास आदि नहीं होते।"

इसी प्रकार अन्य औचित्यों का भी अनुसरण करना चाहिए।

विमर्श—आनन्दवर्धन ने घटना को गुण-परतन्त्र बताया है (गुणानाश्रित्य-तिष्ठन्ती...)। मम्मट ने ध्वनिकार के उक्त अभिप्राय को स्वीकार करते हुए संघटनादि को गुणाश्रित बताया है किन्तु कहीं-कहीं वक्ता और वाच्य के औचित्य से वे गुण के आश्रित नहीं भी होते हैं और कहीं वक्ता और वाच्य दोनों की उपेक्षा करके प्रबन्ध और विषय के औचित्य से भी वर्ण-समास-रचना आदि होते हैं—जैसा कि ध्वनिकार ने कहा है—

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा॥

वक्तृवाच्यगतौचित्ये सत्यपि विषयाश्रयमन्यदौचित्यं सङ्घटनां नियच्छति।

इस प्रकार डा० पारसनाथद्विवेदिकृत काव्यप्रकाश की हिन्दी-व्याख्या का अष्टम उल्लासः समाप्त।

अथ नवम उल्लास:

(शब्दालंकार-विवेक)

अलंकार—'अलङ्करोतीत्यलङ्कार.' इस व्युत्पत्ति के अनुसार शरीर का अलंकृत करने वाले अर्थ (पदार्थ) को 'अलङ्कार' कहते हैं। जिस प्रकार कटक-कुण्डल आदि अलङ्कार शरीर को अलंकृत करते हैं, इसलिए उन्हें अलङ्कार कहते हैं उसी प्रकार काव्य में अनुप्रास-उपमा आदि काव्य-शरीर शब्द और अर्थ को अलंकृत करते हैं, इसलिए वे अलङ्कार कहे जाते हैं। अग्निपुराण में काव्य के शोभाकारक धर्म को अलङ्कार कहा गया है (**काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते**) और काव्य में शोभा के अनुग्राहक तत्त्व को गुण कहा है। इस प्रकार अग्निपुराण में गुण और अलङ्कारों का समान महत्त्व प्रतिपादित है, इतना ही नहीं, बल्कि अग्निपुराण में अभिधा, लक्षणा आदि को भी अलङ्कारों के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया गया है। भामह ने काव्य के शोभाधायक तत्त्व को अलङ्कार कहा है। उनका कथन है कि रमणी का मुख सुन्दर होने पर भी अलङ्कार के अभाव में सुशोभित नहीं होता। (**न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्**) इसी प्रकार काव्य में सौन्दर्य के रहने पर भी अलङ्कार के बिना काव्य में पूर्ण चमत्कार नहीं दिखाई देता। दण्डी ने अग्निपुराण के अनुसार काव्य के शोभाकारक धर्म को अलङ्कार कहा है (**काव्य-शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते**)। उद्भट ने गुण और अलङ्कारों में कोई भेद न मानकर दोनों को समान महत्त्व दिया है। इस प्रकार अग्निपुराण में अलङ्कार को काव्य का अनिवार्य धर्म बताया गया है और तदनुसार भामह, दण्डी, उद्भट ने भी अलङ्कार को काव्य का अनिवार्य धर्म माना है। दण्डी ने तो यहाँ तक कहा है कि अलङ्कारों के महत्त्व को समग्रभाव से वर्णन कौन कर सकता है (**कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति**)। दण्डी ने न केवल गुणों को ही अलङ्कार के गर्भ में समाविष्ट किया है; बल्कि सन्धि, सन्ध्यङ्ग आदि तत्त्वों को भी अलंकार में समाविष्ट कर लिया है। इस प्रकार अग्निपुराणकार, भामह, दण्डी, उद्भट रुद्रट आदि आचार्यों ने गुण और अलङ्कार दोनों को समान महत्त्व दिया है।

वामन ने गुण और अलङ्कारों में अन्तर देखा और काव्य में शोभाकारक धर्म को गुण और उस शोभा को बढ़ाने वाले तत्त्व को अलङ्कार कहा (**काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः**) आनन्दवर्धन ने वामन की दृष्टि को समझा और उस विचार-सरणि में एक कड़ी और जोड़ दी। उनके अनुसार काव्य के आत्मभूत रसादि ध्वनि के आश्रित धर्म गुण हैं और काव्य के अङ्गभूत शब्द और अलङ्कार अर्थ के आश्रित धर्म हैं (**अङ्गाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्**)। इन दोनों आचार्यों की विचारधाराओं को ग्रहण कर मम्मट ने अलङ्कारों का एक लक्षण स्थिर किया कि अलङ्कार कभी-कभी रसादि को अलंकृत करते हैं इसलिए वे काव्य के अस्थिर धर्म हैं और वे अनुप्रास-उपमा आदि हार आदि के समान काव्य के अलंकार होते हैं—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ मम्मट के अभिप्राय के अनुसार ही अलङ्कार का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि मानव के शरीर की सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाले केयूर (अङ्गद) आदि अलङ्कारों के समान काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाले अनुप्रासादि अलङ्कार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं और काव्यात्मभूत रसादि के अभिव्यंजन में सहायक होते हैं—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

किन्तु जयदेव उक्त मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि जो मम्मट आदि आचार्य अलंकार-रहित शब्द और अर्थ को काव्य मानते हैं, वे अग्नि को उष्णता-विहीन (शीतल) क्यों नहीं मान लेते ? जिस प्रकार उष्णता-विहीन अग्नि की कल्पना असम्भव है, उसी प्रकार अलंकार-विहीन काव्य की कल्पना भी असम्भव है, उपहसनीय है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ॥

इस प्रकार प्रायः सभी आचार्यों ने अलङ्कारों के महत्त्व को समझा है और अपने-अपने ग्रन्थों में उनका गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया है। यही कारण है कि प्रायः सभी अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थों में अलंकारों का निरूपण प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि अलंकारों के महत्त्व को सभी ने स्वीकारा है।

शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं और शरीर के शोभाकारक धर्म हैं अलंकार। जिस प्रकार लोक में कुण्डल आदि अलंकार मानव-शरीर से अलग देखे जाते हैं, उसी प्रकार क्या काव्यालंकार भी काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ से पृथक् होते हैं ? इस पर कहते हैं कि काव्यगत अलंकार काव्य के सहज धर्म हैं और वाक्यात्मक काव्य

गुण विवेचने कृतेऽलङ्काराः प्राप्तावसरा इति सम्प्रति शब्दालङ्कारानाह—

धर्मी। धर्म धर्मी में रहता है, अतः काव्यालंकार वाक्यात्मक काव्य से अलग नहीं होते, क्योंकि काव्य में शब्द और अर्थ अलंकार के आधार हैं, धर्मी हैं और अलंकार उनके शोभाकारक धर्म हैं। धर्म धर्मी के बिना नहीं रहता, अतः काव्यालङ्कार शब्दार्थरूप काव्य से पृथक् नहीं रह सकते। इसी आधार पर अलंकार के तीन भेद निरूपित किये गये हैं—शब्दालङ्कार, अर्थालंकार और उभयालङ्कार। शब्द को अलंकृत करने वाले धर्म को शब्दालङ्कार और अर्थ को अलंकृत करने वाले धर्म को अर्थालङ्कार तथा शब्द और अर्थ दोनों को अलंकृत करने वाले धर्म को उभयालङ्कार कहते हैं।

शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का भेद शब्द परिवृत्ति-सहत्व और शब्द परिवृत्ति-असहत्व के आधार पर किया जाता है। जहाँ पर शब्द का परिवर्त्तन कर उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द रख देने पर अलङ्कार नहीं रहता, वह शब्दालङ्कार कहलाता है और जहाँ पर शब्द का परिवर्त्तन कर दूसरा पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी अलङ्कार बना रहता है, उसे अर्थालङ्कार कहा जाता है। इस प्रकार जो शब्द-परिवर्त्तन को सहन नहीं करता वह शब्दालङ्कार और जो शब्द परिवर्त्तन को सहन करता है वह अर्थालङ्कार कहलाता है।

शब्दालंकार

अनुवाद—गुणों का विवेचन कर लेने के बाद अलङ्कार-निरूपण का अवसर प्राप्त है, इसलिए अब (पहिले) शब्दालङ्कारों का विवेचन करते हैं—

विमर्श—मम्मट ने छः प्रकार के शब्दालङ्कारों का निरूपण किया है। काव्यप्रकाश के टीकाकार सोमेश्वर ने छः प्रकार के शब्दालङ्कार इस प्रकार बताये हैं—

वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषचित्रके।
पुनरुक्तवदाभासः शब्दालंकृतयस्तु षट्॥

अर्थात् वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास ये छः शब्दालङ्कार हैं। इन्हें शब्दालङ्कार इसलिए माना गया है कि इनमें शब्द का परिवर्त्तन कर देने पर अलङ्कार नष्ट हो जाता है। इस प्रकार शब्द परिवृत्यसह होने से ये शब्दालङ्कार कहे जाते हैं। जैसाकि सरस्वती तीर्थ ने भी कहा है कि बुद्धिमान् लोग अन्य बहुत से अलङ्कारों को शब्दालङ्कार कहते हैं किन्तु वे शब्दपरिवर्त्त-सह होने से शब्दालङ्कार नहीं हैं—

पठन्ति शब्दालंकारान् बहूनन्यान्मनीषिणः।
परिवृत्तिसहिष्णुत्वान्न ते शब्दैकभागिनः॥

इस प्रकार शब्दों का परिवर्त्तन असह होने के कारण शब्दालङ्कार कहा जाता है। यही शब्द परिवृत्यसहत्व ही शब्दालङ्कार का भेदक तत्त्व है। अब आगे शब्दालङ्कारों का विवेचन करते हैं—

(सू० १०३) यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥७८॥

तथेति श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च । तत्र पदभङ्गश्लेषेण यथा—

नारीणामनुकूलमाचरसि चेज्जानासि कश्चेतनो
वामानां प्रियमादधाति हितकृन्नैवाबलानां भवान् ।
युक्तं किं हितकर्त्तनं ननु बलाभावप्रसिद्धात्मनः ।
सामर्थ्यं भवतः पुरन्दरमतच्छेदं विधातुं कुतः ॥३५२॥

---

(१) वक्रोक्ति अलंकार

अनुवाद (सू० १०३)—वक्ता के द्वारा, अन्य अभिप्राय से कहा गया जो वाक्य अन्य के द्वारा श्लेष अथवा काकु (ध्वनिविकार) अन्य अर्थ (वक्ता के अभिप्रायः से भिन्न अर्थ) में लगा लिया जाता है, वह वक्रोक्ति नामक शब्दालङ्कार है और वह दो प्रकार का होता है ॥७८॥

अनुवाद (वृत्ति)—वक्रोक्ति अलङ्कार दो प्रकार का होता है—श्लेष-वक्रोक्ति और काकुवक्रोक्ति । उनमें पदभंगश्लेष के द्वारा जैसे—

विमर्श—मम्मट ने शब्दालंकारों में प्रथम 'वक्रोक्ति' का निरूपण किया है। वक्रोक्ति अलंकार के प्रथम निरूपण करने का अभिप्राय यह है कि वक्रोक्ति अलङ्कार में वक्र उक्ति होने से चारुता का अतिशय भान होता है। भामह ने तो वक्रोक्ति को समस्त अलङ्कारों का उपलक्षण माना है। इसी से अर्थ में चारुत्व आता है। इसके बिना और कौन अलंकार है (**कोऽलङ्कारोऽनया विना**)। वक्रोक्ति के अभाव में अलंकारता सम्भव नहीं है। कुन्तक ने तो वक्रोक्ति को काव्य का जीवन कहा है (**वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्**)। इसलिए मम्मट ने शब्दालङ्कारों में प्रथम वक्रोक्ति का निरूपण किया है। मम्मट ने वक्रोक्ति के दो भेद बताये हैं--श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति। इनमें प्रथम सभंग पदश्लेष के द्वारा श्लेष वक्रोक्ति का उदाहरण देते हैं। जैसे—

अनुवाद—(वक्ता) यदि तुम स्त्रियों के (नारीणाम्) अनुकूल आचरण करते हो समझदार (बुद्धिमान्) हो। (श्रोता) यदि तुम शत्रुओं के (न + अरीणाम्) अनुकूल आचरण नहीं करते हो तो बुद्धिमान् हो, (यह अर्थ लगाकर उत्तर देता है कि) कौन बुद्धिमान् (चेतनः) व्यक्ति विरोधियों का (वामानाम्) प्रिय करता है ? (वक्ता) तो क्या आप अबलाओं—नारियों के (अबलानाम्) हितकारी (हितकृत्) नहीं हैं ? (श्रोता) बल के अभाव के लिए प्रसिद्ध (निर्बल रूप से प्रसिद्ध) दुर्बलजन के हित का विनाश क्या उचित है ? (वक्ता) अरे ! (बलासुर के विनाश करने में प्रसिद्ध) इन्द्र के अभिमत (अभीष्ट) का विनाश करने का सामर्थ्य आप में कहाँ है ? ॥३५२॥

अभंगश्लेषेण यथा—

अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता।
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्नतु दारुमयी क्वचित् ॥३५३॥

विमर्श—यहाँ पर वक्ता ने 'नारीणाम्' पद कामिनी (स्त्रीजन) अर्थ में प्रयुक्त किया था, किन्तु श्रोता ने इस पद को 'न+अरीणाम्' इस प्रकार तोड़कर शत्रुपरक अर्थ किया (यदि शत्रुओं के अनुकूल आचरण नहीं करते हो तो तुम बुद्धिमान हो) और 'वामानाम्' का अर्थ स्त्रीपरक न लेकर शत्रुपरक अर्थ ले लिया कि कौन बुद्धिमान् शत्रुओं का प्रिय करता है? तब वक्ता 'वामानाम्' का अर्थ स्त्रीपरक लेकर पूछता है कि आप अबलाओं के (अबलानाम्) हितकारी (हितकृत्) नहीं हैं? किन्तु श्रोता इसका अर्थ यह लगाता है कि क्या आप (अबलानाम्) बलहीन दुर्बलों के हितकर्त्तक (हितं कृन्तति छिनत्ति इति हितकृत् हितनाशक) नहीं हैं! इस प्रश्न का उत्तर देता हुआ वह कहता है कि बलाभाव से प्रसिद्ध (बलाभावप्रसिद्धात्मनः) स्वरूप वाले (दुर्बल या अबला) के हित का नाश करना (हितकर्त्तन) क्या उचित है? किन्तु वक्ता इसका अर्थ बल (बलासुर) के अभाव (विनाश) के कारण प्रसिद्ध स्वरूप वाले इन्द्र ग्रहण करता है और उस वाक्य का अर्थ यह करता है कि क्या इन्द्र का हितकर्त्तन (हित का विनाश करना) उचित है? इस पर प्रथम वक्ता फिर पूछता है कि इन्द्र के अभिमत (अभीष्ट) अर्थ के नाश करने का सामर्थ्य आप में कहाँ है? अर्थात् बलासुर विनाशी इन्द्र की इच्छा का विनाश करने का सामर्थ्य आप में कहाँ है?

यहाँ पर 'नारीणाम्' और 'अबलानाम्' इन पदों अभंगश्लेष है। यहाँ 'नारी' (नारीणां) और अबला (अबलानां) पद स्त्री अर्थ में रूढ़ है किन्तु स्त्री अर्थ में प्रयुक्त 'नारीणां' पद का 'न+अरीणाम्' इस रूप में तथा 'अबलानाम्' पद का 'न बलं येषां ते अबलाः, तेषाम् अबलानाम्' इस प्रकार भङ्ग करने पर सभङ्गश्लेष होता है। यद्यपि यहाँ पर 'वामानाम्' 'हितकृत्' आदि पदों में सभङ्ग श्लेष नहीं है किन्तु 'नारीणाम्' इस सभङ्ग पद का आश्रय लेकर ही सारा संवाद टिका हुआ है और यही सारे संवाद का मूल है। इसलिए यह सभङ्गश्लेष का उदाहरण है।

अभंगश्लेष का उदाहरण, जैसे—

अनुवाद—अहो! किसने तुम्हारी बुद्धि इस प्रकार दारुण (कठोर, क्रूर) बना दी है? किन्तु त्रिगुणात्मक (सत्त्वरजस्तमोगुण रूप) बुद्धि तो (सांख्यदर्शन में) सुनी जाती है, परन्तु दारुमयी (काष्ठ की बनी हुई) बुद्धि तो कहीं नहीं सुनी है ॥३५३॥

काक्वा यथा—

गुरुजनपरतन्त्रतया दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम्।
अलिकुलकोकिलललिते नैष्यसि सखि ! सुरभिसमयेऽसौ ।।३५४।।

(सू० १०४) वर्णसाम्यमनुप्रासः ।

स्वरवैसादृश्येऽपि व्यञ्जनसदृशत्वं वर्णसाम्यम् । रसाद्यनुगतः प्रकृष्टो न्यासोऽनुप्रासः ।

विमर्श—यह अभङ्गपदश्लेष वक्रोक्ति का उदाहरण है। यहाँ पर वक्ता ने 'दारुणा' पद का प्रयोग कठोर या क्रूर अर्थ में किया है किन्तु श्रोता वक्ता के अभिप्राय से भिन्न 'दारुणा' पद का अर्थ 'काष्ठेन' (काष्ठ से) लगा लेता है (दारुणा= काष्ठेन दारु शब्द का तृतीया एकवचन का रूप 'दारुणा' है)। यहाँ पर पद का भङ्ग नहीं हुआ है। अतः यह अभंगश्लेष वक्रोक्ति का उदाहरण है।

काकु के द्वारा वक्रोक्ति का उदाहरण, जैसे—

अनुवाद— अरे सखि ! गुरुजनों के परतन्त्र (अधीन) होने से वे विदेश जाने के लिए उद्यत (तैयार) थे, अतः हे सखि ! भ्रमरकुल और कोयलों से रमणीय इस वसन्त काल में नहीं आयेंगे ? ।।३५४।।

विमर्श—यह काकु वक्रोक्ति का उदाहरण है। कोई नायिका अपनी सखी से कहती है कि हे सखि ! गुरुजनों माता-पिता आदि मान्यजनों के परतन्त्र होने के कारण विदेश जाने के लिए उद्यत वे मेरे प्रियतम इन भौंरों और कोकिलों की मधुर ध्वनि से गुञ्जायमान रमणीय वसन्त समय में नहीं आयेंगे ? किन्तु सखी उसके कथन को काकु के द्वारा दूसरे लहजे में नायिका से कहती है कि हे सखि ! वे तुम्हारे प्रियतम केवल गुरुजनों के आदेश से ही विदेश जाने के लिए तैयार हैं अतः भौंरों और कोकिलों से गुञ्जायमान इस रमणीय वसन्त में अवश्य आयेंगे।

यहाँ पर नायिका ने 'नैष्यति' (नहीं आयेंगे) पद का प्रयोग किया था, किन्तु उसकी सखी काकु (ध्वनि-विकार) से दूसरे ढंग से इसका उच्चारण कर 'नैष्यति' पद का अर्थ 'नहीं आयेंगे, अर्थात् अवश्य आयेंगे' यह करती है। अतः यहाँ पर काकु के कारण काकुवक्रोक्ति है।

(२) अनुप्रास अलंकार

अनुवाद (सू० १०४)—वर्णों की समानता अनुप्रास अलङ्कार है।

अनुवाद (वृत्ति)—स्वरों की विसदृशता (असमानता) होने पर भी व्यञ्जनों की समानता ही वर्णसाम्य (वर्णों की समानता) है। रसादि के अनुकूल वर्णों का प्रकृष्ट न्यास (सन्निवेश) अनुप्रास है।

(सू० १०५) छेकवृत्तिगतो द्विधा ।

छेका विदग्धा, वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः । गत इति छेकानुप्रासो वृत्यनुप्रासश्च ।

किं तयोः स्वरूपमित्याह—

(सू० १०६) सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः ...

अनेकस्य अर्थात् व्यञ्जनस्य सकृदेकवारं सादृश्यं छेकानुप्रासः ।

उदाहरणम्—

विमर्श—वर्णों की समानता को अनुप्रास अलङ्कार कहते हैं। यहाँ पर वर्ण-साम्य (वर्णों की समानता) से तात्पर्य व्यञ्जनों की समानता से है। अर्थात् स्वरों की विषमता होने पर भी व्यञ्जनों की समानता (आवृत्ति) अनुप्रास अलङ्कार है। अनुप्रास शब्द का अर्थ है 'रसाद्यनुगतः प्रकृष्ट आसः (न्यासः) अनुप्रासः' अर्थात् रस-भावादि के अनुकूल वर्णों (व्यञ्जनों) का प्रकृष्ट अव्यवहित चमत्कारजनक न्यास (आवृत्ति) अनुप्रास अलङ्कार है। इस प्रकार प्रकृत रस व्यञ्जक सदृश (समान) वर्णों की आवृत्ति अनुप्रास अलङ्कार है।

अनुवाद (सू० १०५)—छेकगत और वृत्तिगत (वह) दो प्रकार का होता है।

अनुवाद (वृत्ति)—छेक शब्द अर्थ विदग्ध (चतुर व्यक्ति) है और वृत्ति नियत वर्णों में रहने वाला रस विषयक व्यापार है। 'गत' इससे छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास (अभिप्रेत) है।

विमर्श—यह अनुप्रास अलङ्कार दो प्रकार का होता है—छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास। छेकानुप्रास विदग्धजनों द्वारा प्रयुक्त अथवा विदग्धजनों के आश्रित होता है और वृत्ति मधुर आदि रसों के अनुकूल नियत कोमल वर्णों का रस विषयक व्यापार (व्यञ्जना) है। माधुर्य आदि के व्यञ्जक सुकुमार वर्णित होने से मधुरादि रसों के उपकारक शब्द का संघटना रूप व्यापार विशेष वृत्ति है और वृत्ति पर आश्रित अनुप्रास वृत्यनुप्रास है।

उन दोनों का स्वरूप (लक्षण) क्या है ? यह कहते हैं—

अनुवाद (सू० १०६)—अनेक (वर्णों) का एक बार सादृश्य प्रथम अर्थात् छेकानुप्रास है।

अनुवाद (वृत्ति)—अनेक अर्थात् एक से अधिक व्यञ्जनों का एक बार सादृश्य छेकानुप्रास है। जैसे—

ततोऽरुणपरिस्पन्दमन्दीकृतवपुः शशी।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम् ॥३५५॥

(सू० १०७) एकस्याप्यसकृत्परः ॥७९॥

एकस्य अपिशब्देनानेकस्य व्यञ्जनस्य द्विर्बहुकृत्वो वा सादृश्यं वृत्त्यनुप्रासः। तत्र—

(सू० १०८) माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।

(सू० १०९) ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा।

उभयत्रापि प्रागुदाहृतम् ('अङ्गरङ्ग' 'इत्यादि, 'मूर्ध्नामुवृत्त' इत्यादि च)

अनुवाद—इसके बाद अरुण (सूर्य-सारथि) के परिस्पन्द (संचरण, गतिशील होने) से मन्दकान्ति (मलिन स्वरूप) वाले चन्द्रमा ने किसी काम से परिक्षीण (रति-खिन्न) कामिनी के कपोलों की पाण्डुता धारणा कर ली ॥३५५॥

विमर्श—यहाँ पर 'स्पन्द-मन्द' में 'न्' और 'द्' की तथा 'कामकामिनी' में 'क' और 'म' की तथा 'गण्ड-पाण्डु' में 'ण्' और 'ड्' की एक बार आवृत्ति होने से यहाँ छेकानुप्रास अलङ्कार है। अर्थात् यहाँ पर अनेक व्यञ्जनों का एक बार सादृश्य है अतः यहाँ छेकानुप्रास है।

अनुवाद (सू० १०७)— एक अथवा अनेक (वर्णों, व्यञ्जनों) की अनेक बार सादृश्य (आवृत्ति) दूसरा अर्थात् वृत्त्यनुप्रास है।

अनुवाद (वृत्ति)— एक वर्ण का और 'अपि' शब्द से अनेक व्यञ्जनों का दो बार अथवा अनेक बार सादृश्य वृत्यानुप्रास अलङ्कार है।

विमर्श—मम्मट के अनुसार एक वर्ण का अथवा एक से अधिक वर्णों का दो बार अथवा अनेक बार आवृत्ति होना वृत्यनुप्रास कहलाता है।

उनमें—

अनुवाद (सू० १०८)—माधुर्य व्यञ्जक वर्णों से युक्त वृत्ति उपनागरिका कही जाती है।

अनुवाद (सू० १०९)—ओज के प्रकाशक वर्णों से युक्त परुषा वृत्ति कहलाती है।

अनुवाद (वृत्ति)—दोनों का उदाहरण पहिले दिया जा चुका है। अर्थात् अष्टम् उल्लास में उपनागरिकावृत्ति का उदाहरण 'अनङ्गरङ्ग प्रतिमम्' इत्यादि (उदाहरण सं० ३४७) तथा परुषावृत्ति का उदाहरण 'मूर्ध्नामुद्वृत्त' इत्यादि (उ० सं० ३४८) में दिया जा चुका है।

(सू० ११०) कोमला परैः ॥८०॥

परैः शेषैः । तामेव केचिद् ग्राम्येति वदन्ति उदाहरणम्—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः ?
अलमलमालि ! मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥३५६॥

(सू० १११) केषाञ्चिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः ।

एतास्तिस्रो वृत्तयः वामनादीनां मते वैदर्भी-गौणी-पाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः ।

अनुवाद (सू० ११०)—शेष (माधुर्य और ओज के व्यञ्जक वर्णों से भिन्न) वर्णों से युक्त वृत्ति कोमला वृत्ति कहलाती है ॥८०॥

अनुवाद—यहाँ पर 'परैः' का अर्थ 'शेष' है । इसी कोमलता वृत्ति को ही कुछ लोग 'ग्राम्या' वृत्ति कहते हैं । उदाहरण जैसे—

''कपूर को हटा दो, हार को दूर कर दो (अलग कर दो), कमलों से क्या लाभ ? हे सखि ! मृणालों को रहने दो, इस प्रकार बाला रातों-दिन बकती रहती है ॥३५६॥

यह कोमलावृत्ति का उदाहरण है । इसमें कोमल वर्णों 'र्' और 'ल्' की अनेक बार आवृत्ति हुई है ।

अनुवाद (सू० १११)– किन्हीं आचार्यों के मत में ये तीनों वृत्तियाँ वैदर्भी आदि रीतियाँ मानी गई हैं ।

अनुवाद (वृत्ति)--ये तीनों वृत्तियाँ वामन आदि आचार्यों के मत में वैदर्भी, गौड़ी, और पाञ्चाली नामक रीतियाँ मानी गई हैं ।

विमर्श--मम्मट ने अनुप्रास के दो भेद किये हैं– छेकानुप्रास और अनुप्रास इनमें अनेक व्यञ्जनों की एक वार आवृत्ति छेकानुप्रास है और एक या अनेक व्यञ्जनों की दो बार या दो से अधिक अनेक बार आवृत्ति होना वृत्त्यनुप्रास है। प्रथम, भामह ने अनुप्रास के विवेचन में ग्राम्या आदि वृत्तियों का संकेत दिया है। भामह के इसी संकेत के आधार पर उद्भट ने अनुप्रास अलङ्कार का निरूपण किया है और वृत्त्यनुप्रास की तीन वृत्तियों [परुषा, उपनागरिका और कोमला (ग्राम्या)] का स्वरूप विवेचन भी किया है---

(सू० ११२) शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥८१॥

शब्दगतोऽनुप्रासः शब्दार्थयोरभेदेऽप्यन्वयमात्रभेदात् । लाटजनवल्लभत्वाच्च लाटानुप्रासः । एष पदानुप्रास इत्यन्ये ।

सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृस्वेतासु वृत्तिषु ।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा ॥
शषसाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता ।
परुषा नाम वृत्तिः स्याद्बह्वाद्यैश्च संयुता ॥
स्वरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः ।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः ॥
शेषैर्वर्णैर्यथा योगं ग्रथितां कोमलाख्यया ।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्ये निष्णातबुद्धयः ॥

इन्हीं तीन प्रकार की वृत्तियों का वामन ने तीन रीतियों के नाम से विवेचन किया है और रीति को काव्य की आत्मा कहा है (**रीतिरात्मा काव्यस्य । विशिष्टा पदरचना रीतिः । विशेषो गुणात्मा । सा त्रिधा वैदर्भी गौड़ीया पाञ्चाली च ।** काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति—१-६-९) । इन्हीं तीन वृत्तियों का दण्डी और कुन्तक ने मार्ग तथा आनन्दवर्धन ने संघटना के नाम से उल्लेख किया है । इस प्रकार उद्भट की वृत्तियाँ, वामन की रीतियाँ, दण्डी और कुन्तक के 'मार्ग' और आनन्दवर्धन की 'संघटना' ये सब एक ही भाव को अभिव्यक्त करते हैं । मम्मट ने उक्त तीन वृत्तियों को स्वीकार करते हुए वैदर्भी, गौणी और पाञ्चाली रीतियों का वृत्त्यनुप्रास की तीन वृत्तियों में अन्तर्भाव कर लिया । उनका कहना है कि जो वामन आदि आचार्य वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली ये तीन रीतियाँ मानते हैं, ये तीन रीतियाँ वृत्त्यनुप्रास की तीन वृत्तियों में अन्तर्भूत हो जाती हैं । उनके अनुसार वामन की गौड़ी रीति परुषावृत्ति, वैदर्भी रीति उपनागरिका वृत्ति और पाञ्चाली रीति कोमलावृत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं । इस प्रकार मम्मट ने रीति, वृत्ति, मार्ग और संघटना को एक (अभिन्न) मानते हुए उनका वृत्त्यनुप्रास में अन्तर्भाव कर निरूपण किया है ।

लाटानुप्रास

अनुवाद (सू० ११२)—तात्पर्यमात्र से भेद होने पर शब्दानुप्रास लाटानुप्रास कहलाता है ॥८१॥

अनुवाद (वृत्ति)—यह शब्दगत अनुप्रास (शब्दानुप्रास) शब्द और अर्थ का अभेद होने पर भी अन्वय (तात्पर्य) मात्र के भेद होने से तथा लाट देश के लोगों का प्रिय होने के कारण लाटानुप्रास कहलाता है। कुछ आचार्य इसे पदानुप्रास कहते हैं ।

(सू० ११३) पदानां सः

स इति लाटानुप्रासः। उदाहरणम्—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥३५७॥

विमर्श—मम्मट ने अनुप्रास के मुख्य दो भेद किये हैं—वर्णानुप्रास और पदानुप्रास। वर्णानुप्रास के दो भेदों (छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास) का निरूपण करने के बाद अब अनुप्रास के द्वितीय भेद पदानुप्रास का विवेचन करते हैं। इसे ही लाटानुप्रास कहते हैं। पदानुप्रास में पदों की आवृत्ति होती है। इसमें शब्द और अर्थ में भिन्नता नहीं होती; किन्तु अन्वय-भेद से तात्पर्य में भेद होता है। अर्थात् पदों के अन्वय-भेद से उद्देश्य-विधेय भाव में अन्तर आ जाता है और उससे तात्पर्य में भिन्नता हो जाती है। इस प्रकार तात्पर्यमात्र के भेद होने से पदानुप्रास या शब्दानुप्रास होता है। इसे उद्भट पदानुप्रास और मम्मट शब्दानुप्रास कहते हैं। लाट देश के लोगों का प्रिय होने के कारण इसे लाटानुप्रास भी कहते हैं। उद्भट ने लाटानुप्रास का वर्णन इस प्रकार किया है—

स्वरूपार्थाविशेषेऽपि पुनरुक्तिफलान्तरम्।
शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इत्यपि॥

मम्मट ने लाटानुप्रास के पाँच भेद किये हैं। लाटानुप्रास प्रथम दो प्रकार का होता है—पदगत और नामगत। इनमें पदगत लाटानुप्रास के दो भेद होते हैं—अनेकपदगत और एकपदगत तथा नामगत के तीन भेद होते हैं—एकसमासगत, भिन्नसमासगत और समासासमासगत। इस प्रकार मम्मट के अनुसार शब्दानुप्रास (लाटानुप्रास) के पाँच भेद होते हैं—

(१) अनेकपदगत (अनेक पदावृत्ति)
(२) एकपदगत (एक पदावृत्ति)
(३) एकसमासगत (एक समासावृत्ति)
(४) भिन्नसमासगत (भिन्न समासपदावृत्ति)
(५) समासासमासगत (समासासमासपदावृत्ति)

क्रमशः इनका उदाहरण आगे देते हैं—

(१) अनेकपदगत

अनुवाद (सू० ११३)—वह (लाटानुप्रास) अनेक पदों का होता है।

अनुवाद (वृत्ति)—सः अर्थात् वह लाटानुप्रास (पदों का होता है) उदाहरण, जैसे—'जिसके पास में प्रियतमा नहीं है उसके लिए हिमांशु-चन्द्रमा (तुहिनदीधिति) भी दावानल है और जिसके पास में प्रियतमा है उसके लिए दावानल भी हिमांशु चन्द्रमा है ॥३५७॥

(सू० ११४) एकस्यापि

अपि शब्देन स इति समुच्चीयते । उदाहरणम्—

वदनं वरवर्णिन्यास्तस्याः सत्यं सुधाकरः ।
सुधाकरः क्व नु पुनः कलङ्कविकलो भवेत् ॥३५८॥

विमर्श—मम्मट ने अनेक पदगत लाटानुप्रास का लक्षण किया है कि जहाँ पर अनेक पदों का सादृश्य (आवृत्ति) होता है और अन्वय भेद से तात्पर्यार्थ में भिन्नता हो जाती है वहाँ अनेक पदगत लाटानुप्रास होता है। जैसे उपर्युक्त (यस्य सविधे इत्यादि) उदाहरण में अनेक पदों की आवृत्ति है और इन पदों का वाच्यार्थ भी समान है किन्तु अन्वयभेद से तात्पर्य में भेद हो जाता है। जैसे पूर्वार्द्ध में 'तुहिन-दीधिति' उद्देश्य और 'दवदहन' विधेय है तथा उत्तरार्द्ध में 'दवदहन' उद्देश्य है और 'तुहिनदीधिति' विधेय है। इस प्रकार उद्देश्य-विधेय भाव में परिवर्त्तन (भेद) हो जाने से अन्वय भेद हो जाता है अतः यहाँ तात्पर्य मात्र में भेद हो जाता है। इस प्रकार पूर्वार्द्ध में 'तुहिनदीधितिः दवदहनः' (हिमांशु चन्द्रमा दावाग्नि के समान है) तथा उत्तरार्द्ध में 'दवदहनः तुहिनदीधितिः' (दावाग्नि हिमांशु चन्द्रमा के समान है) इस प्रकार यह अन्वय भेद होने से तात्पर्यार्थ में भी भेद हो जाता है अतः यह अनेक-पदगत लाटानुप्रास का उदाहरण है।

(२) एकपदगत लाटानुप्रास

अनुवाद (सू० ११४)—वह एक पद का भी होता है।

यहाँ 'अपि' शब्द से 'सः' (वह) का संग्रह होता है। उदाहरण, जैसे—

अनुवाद—उस वरवर्णिनी (सुन्दरी नारी) का मुख सचमुच सुधाकर (चन्द्रमा) है। किन्तु सुधाकर (चन्द्रमा) कलङ्क-रहित कहाँ हो सकता है? ॥३५८॥

विमर्श—मम्मट के अनुसार वह लाटानुप्रास एकपदगत भी होता है अर्थात् एक पद की आवृत्ति में भी होता है। जैसे प्रस्तुत उदाहरण में केवल एकपद 'सुधाकर' की आवृत्ति है और दोनों का वाच्यार्थ समान है; किन्तु प्रथम 'सुधाकर' पद विधेय रूप में प्रयुक्त हुआ है और द्वितीय 'सुधाकर' पद उद्देश्य के रूप में प्रयुक्त है। इस प्रकार उद्देश्य-विधेय का अन्तर होने से 'तात्पर्यार्थ' में भेद हो जाता है। जैसे— उस वरवर्णिनी का मुख सचमुच चन्द्रमा (सुधाकर) है, किन्तु वह चन्द्रमा नहीं है, उससे भी बढ़कर है; क्योंकि चन्द्रमा में कलङ्क होता है और सुन्दरी का मुख निष्कलङ्क है। अतः यह एकपदगत लाटानुप्रास का उदाहरण है।

(सू० ११५) ......वृत्तावन्यत्र तत्र वा ।

नाम्नः स वृत्यवृत्योश्च...... ।

एकस्मिन् समासे, भिन्ने वा समासे, समासासमासयोर्वा नाम्नः प्रातिपदिकस्य न तु पदस्य सारूप्यम् । उदाहरणम्—

सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार ! धरणिधर ! कीर्त्तिः ।
पौरुषकमला कमला साऽपि तवैवास्ति नान्यस्य ॥३५९॥

(सू० ११६)......तदेवं पञ्चधा मतः ॥८२॥

---

(१) एकसमासगत (२) भिन्नसमासगत (३) समासासमासगत

अनुवाद (सू० ११५)—एक समास में, भिन्न समास में और समास-असमास में नाम (प्रातिपदिक) का भी (आवृत्ति होने पर) लाटानुप्रास होता है ।

अनुवाद (वृत्ति)—एक समास में अथवा भिन्न समास में अथवा समास-असमास में प्रातिपदिक (नाम) का ही लाटानुप्रास होता है, पद का नहीं अर्थात् प्रातिपदिक का ही सारूप्य (सादृश्य) होता है, पद का सादृश्य नहीं होता । जैसे—

अनुवाद—हे विभाकराकार ! (सूर्यसदृश प्रतापशाली) ! हे महाराज ! (धरणिधर) सितकरकर अर्थात् चन्द्रमा की किरणों के समान रुचिर कान्ति वाली (शुभ्र) कीर्ति, पराक्रमलक्ष्मी (पौरुषकमला) और वह प्रसिद्ध लक्ष्मी (कमला) ये तीनों आपकी ही हैं, दूसरे किसी की नहीं ॥३५९॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'कर' इस प्रातिपदिक की एक समास में (सितकरकररुचिरविभा) **'कर-कर'** इस रूप में आवृत्ति है। अतः यह एकसमासगत लाटानुप्रास का उदाहरण है। इसी प्रकार 'विभा' इस प्रातिपदिक की दो भिन्न समासों (सितकरकररुचिरविभा तथा विभाकराकार) में 'विभा-विभा' इस रूप में आवृत्ति है, अतः यह भिन्न समासगत लाटानुप्रास का उदाहरण है। इसी प्रकार 'कमल।' इस प्रातिपदिक की प्रथम समास में (पौरुषकमला) द्वितीय असमास में (कमला) 'कमला-कमला' इस रूप में आवृत्ति है। अतः यह 'समास' असमासगत लाटानुप्रास का उदाहरण है।

अनुवाद (सू० ११६)—इस प्रकार लाटानुप्रास पाँच प्रकार का माना गया है ॥८२॥

(सू० ११७) अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ।
यमकम्...... ।

'समरससमरसोऽयम्' इत्यादावेकेषामर्थवत्त्वेऽन्येषामनर्थकत्वे भिन्नार्थानामिति न युज्यते वक्तुम्, इति 'अर्थे सति' इत्युक्तम् । सेति 'सरो रस' इत्यादिवैलक्षण्येन तेनैव क्रमेण स्थिता ।

विमर्श— इस प्रकार लाटानुप्रास पाँच प्रकार का होता है । प्रथम लाटानुप्रास के दो भेद होते हैं—पदगत और नामगत । इनमें पदगत दो प्रकार का होता है—

(१) अनेक पदगत और (२) एक पदगत । नामगत तीन प्रकार का होता है—

(१) एक समासगत (२) भिन्न समासगत और (३) समास-असमासगत । इस प्रकार कुल पाँच भेद होते हैं ।

(३) यमक अलंकार

अनुवाद (सू० ११७)— अर्थ के होने पर भिन्न-भिन्न अर्थ वाले वर्णों की पूर्वक्रम से पुनः श्रुति (पुनरावृत्ति) यमक अलङ्कार कहलाता है ।

अनुवाद (वृत्ति)—समरसमरसोऽयम्' (यह समर-समरस है अर्थात् युद्ध में एकरस है) इत्यादि में एक (वर्ण समूह समर) के सार्थक होने पर और दूसरे (वर्णसमूह समरस में 'समर' के) के अनर्थक होने से 'भिन्नार्थानाम्' (भिन्न अर्थ वाले वर्णसमूह का) यह कहना युक्त (ठीक) नहीं है । इसलिए यमक के लक्षण में 'अर्थे सति' (अर्थ के होने पर) यह कहा गया है । 'सा' (उसी रूप में आवृत्ति) उससे 'सरो रसः' इससे विलक्षण रूप से अर्थात् उसी क्रम से स्थित (वर्णों की आवृत्ति होनी चाहिए ।

विमर्श—मम्मट यमक का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि अर्थ (वाच्यार्थ) के होने पर भिन्नार्थक वर्णों की पूर्वक्रम से आवृत्ति यमक अलङ्कार कहलाता है । यमक का अर्थ है **'यमौ द्वौ समजातौ तत्प्रकृतिर्यमकम्'** । अर्थात् यम (जोड़वे) पैदा हुए दो जीवों की प्रतिकृति यमक है । रुद्रट ने यमक का लक्षण निम्न प्रकार बताया है—

तुल्यश्रुतिक्रमाणान्यार्थानां मिथस्तु वर्णानाम् ।
पुनरावृत्तिर्यमकं प्रायश्छन्दांसि विषयोऽस्य ।।

समान रूप से सुने जाने वाले और समान क्रम (परिपाटी) वाले परस्पर भिन्नार्थक वर्णों की पुनरावृत्ति को 'यमक' कहते हैं । इस प्रकार एक क्रम से असमानार्थक (भिन्नार्थक) समान वर्णों की आवृत्ति यमक अलङ्कार है ।

(सू० ११८) पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् ॥८३॥

प्रथमो द्वितीयादौ, द्वितीयस्तृतीयादौ, तृतीयश्चतुर्थे, प्रथमस्त्रिष्वपीति सप्त। प्रथमो द्वितीये तृतीयश्चतुर्थे इति, प्रथमश्चतुर्थे द्वितीयस्तृतीये इति द्वे। तदेवं पादजं नवभेदम्। अर्धावृत्तिःश्लोकावृत्तिश्चेति द्वे।

यहाँ पर लक्षण में 'अर्थे सति' का अभिप्राय है कि एकार्थक वर्णावृत्ति वाले लाटानुप्रास से यमक का पार्थक्य बताने के लिए यदि यह कहा जाय कि केवल भिन्नार्थक वर्ण की आवृत्ति यमक है तो आवृत्त दोनों पदों को सार्थक होना चाहिए, क्योंकि दोनों के सार्थक होने पर ही भिन्नार्थकता हो सकती है। किन्तु यमक में यह आवश्यक नहीं कि दोनों पद सार्थक ही हों, निरर्थक पद होने पर भी यमक हो सकता है। अन्यथा 'समरसमरसोऽयम्' इत्यादि में यमक नहीं होता, क्योंकि यहाँ पर पहला 'समर' पद तो सार्थक है और दूसरा 'समरस' का 'समर' निरर्थक है। 'अर्थे सति भिन्नार्थानाम्' कहने पर यह अर्थ होगा कि अर्थ होने पर भिन्नार्थक (निरर्थक अथवा सार्थक) पदों की पुनरावृत्ति ही यमक है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि सार्थक पद हैं तो विभिन्न अर्थ वाले हों और एक निरर्थक दूसरा सार्थक हो अथवा दोनों निरर्थक हों तो यमक अलंकार होता है। वर्णावृत्ति पूर्वक्रमानुसारिणी होनी चाहिए, नहीं तो 'सरो रस' में भी यमक अलङ्कार होने लगेगा; क्योंकि यहाँ पर क्रम बदल गया है (सरो का रस: हो गया है)। अत: वर्णसम्प्रदाय की आवृत्ति उसी क्रम से होनी चाहिए।

अनुवाद (सू० ११८)—पादवृत्ति और उसके भाग (अंश) में होने से पादभागवृत्ति से वह यमक अनेक प्रकार का हो जाता है ॥८३॥

अनुवाद (वृत्ति)—प्रथम पाद की द्वितीय आदि अर्थात् द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ पादों में, द्वितीय पाद की तृतीयादि अर्थात् तृतीय, चतुर्थ पादों में; तृतीय पाद की चतुर्थ पाद में, प्रथम पाद की तीनों पादों में आवृत्ति होने पर सात भेद होते हैं। प्रथम पाद की द्वितीय पाद के स्थान पर और तृतीय पाद की चतुर्थ पाद में आवृत्ति होने से तथा प्रथम पाद की चतुर्थ में और द्वितीय की तृतीय पाद में आवृत्ति होने से दो भेद होते हैं। इस प्रकार पाद-गत यमक के नौ भेद होते हैं। अर्द्ध श्लोक की आवृत्ति (अर्धावृत्ति) और पूरे श्लोक की आवृत्ति (श्लोकावृत्ति) ये दो भेद होते हैं। इस प्रकार कुल ग्यारह भेद होते हैं।

विमर्श—मम्मट ने यमक के प्रथम दो भेद बताये हैं—पादवृत्ति यमक और पादभागवृत्तियमक। इन दो भेदों के अवान्तर अनेक भेद होने से यमक अनेक प्रकार

द्विधा विभक्ते पादे प्रथमादिपादादिभागः पूर्ववत् द्वितीयादिपादादिभागेषु, अन्तभागोऽन्तभागेष्विति विंशतिर्भेदाः । श्लोकान्तरे हि नासौ भागावृत्तिः । त्रिखण्डे त्रिंशत् । चतुःखण्डे चत्वारिंशत् ।

का हो जाता है । इनमें पादवृत्ति यमक के ग्यारह भेद होते हैं—(१) प्रथम पाद का द्वितीय पाद की यदि द्वितीय पाद के स्थान पर आवृत्ति होती है तो 'मुख' नामक यमक होता है । (२) यदि प्रथम पाद तृतीय पाद के स्थान पर आवृत्त होता है तो 'संदंश' नामक यमक होता है । (३) यदि प्रथम पाद चतुर्थ पाद के स्थान पर आवृत्त होता है तो 'आवृत्ति' नामक यमक होता है । (४) यदि द्वितीय पाद की तृतीय पाद में आवृत्ति होती है तो वहाँ 'गर्भ' नामक यमक होता है । (५) यदि द्वितीय पाद चतुर्थ पाद में आवृत्त होता है तो 'संदष्ट' नामक यमक होता है । (६) यदि तृतीय पाद चतुर्थ पाद में आवृत्त होता है तो 'पुच्छ' नामक यमक होता है । (७) यदि प्रथम पाद द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तीनों पादों में आवृत्त होता है तो 'पंक्ति' नामक यमक होता है । (८) यदि प्रथम पाद द्वितीय पाद के स्थान पर और तृतीय पाद चतुर्थ पाद के स्थान पर आवृत्त होता है तो 'युग्मक' नामक यमक होता है । (९) यदि प्रथम पाद चतुर्थ पाद में और द्वितीय पाद तृतीय के स्थान पर आवृत्त होता है तो 'परिवृत्ति' नामक यमक कहलाता है । इस प्रकार पादावृत्ति' यमक के नौ भेद हुए । (१०) यदि अर्ध (आधे) श्लोक की आवृत्ति होती है तो 'समुद्र' ('अर्धावृत्ति') नामक यमक होता है । (११) और पूरे श्लोक की आवृत्ति होने पर महायमक (श्लोकावृत्ति) यमक होता है । इस पर पादगत यमक के कुल ग्यारह प्रकार होते हैं, रुद्रट ने इन एकादश यमकों का सोदाहरण निरूपण किया है ।

अनुवाद (वृत्ति)—पाद के दो भाग में विभक्त करने पर प्रथम आदि पादभाग पहिले के समान द्वितीय आदि पादादि भागों में आवृत्ति करने पर तथा अन्तिम भाग का अन्तिम भागों में आवृत्ति करने पर बीस भेद होते हैं । श्लोकान्तर में यह पादभागावृत्ति नहीं होती (अतः पदभागावृत्ति के दस भेद होते) पाद के दो भाग करने पर पादभागावृत्ति यमक के बीस भेद हो जाते हैं । इसी प्रकार पाद के तीन भाग करने पर तीस भेद और चार भाग (खण्ड) करने पर चालीस भेद होते हैं ।

विमर्श—पादावृत्ति के समान पादभागावृत्ति यमक के अनेक भेद होते हैं । जैसे पादों के दो भागों में विभक्त करने पर प्रथम आदि पादों के आद्यभाग को पूर्ववत् (पादावृत्ति के समान) द्वितीय आदि पादों के आद्यभागों में आवृत्ति होने पर पहिले के समान मुखादि दस भेद होते हैं । जैसे (१) प्रथम पाद के आद्य भाग की द्वितीय पाद के आद्य भाग में आवृत्ति होने पर (२) प्रथम पाद के आद्य भाग की तृतीय पाद के

प्रथमपादादिगतान्त्यार्धविभागो द्वितीय पादादिगते आद्यार्धविभागे यम्यते इत्याधन्वर्थतानुसरणेनानेकभेदम् । अन्तादिकम्, आद्यन्तिकम्, तत्स-मुच्चयः, मध्यादिकम्, आदिमध्यम्, अन्तमध्यम्, मध्यान्तिकम्, तेषां समु-च्चयः। तथा तस्मिन्नेव पादे आद्याविभागानां मध्यादिभागेषु, अनियते च स्थाने आवृत्तिरिति प्रभूततमभेदम् । तदेतत्काव्यान्तर्गडुभूतम् इति नास्य भेदलक्षणं कृतम् । विङ्मात्रमुदाह्रियते—

आद्यभाग में आवृत्ति होने से (३) प्रथम पाद के आद्य भाग की चतुर्थ पाद के आद्य भाग में आवृत्ति होने से (४) द्वितीय पाद के आद्य भाग की तृतीय पाद के आद्य भाग में आवृत्ति होने पर (५) द्वितीय पाद के आद्य भाग की चतुर्थ पाद के आद्य भाग में आवृत्ति होने से (६) तृतीय पाद के आद्य भाग की चतुर्थ पाद के आद्य भाग में आवृत्ति होने से (७) प्रथम पाद के आद्य भाग की तीनों द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ पादों के आद्य भाग में आवृत्ति होने से कुल सात भेद हुए। (८) प्रथम पाद के आद्य भाग का द्वितीय पाद के आद्य भाग में और तृतीय पाद के आद्य भाग का चतुर्थ भाग के आद्य भाग में आवृत्त होने से (९) प्रथम पाद के आद्य भाग का तृतीय पाद के आद्य भाग में और द्वितीय पाद के आद्य भाग का चतुर्थ पाद के आद्य भाग में आवृत्त होने से नौ भेद हुए (१०) अर्द्धभाग की आवृत्ति होने से कुल दस भेद होते हैं।

इसी प्रकार (१) प्रथम पाद का अन्तिम भाग द्वितीय पाद के अन्तिम भाग में (२) प्रथम पाद अन्त्य भाग का तृतीय पाद के अन्तिम भाग में (३) प्रथम पाद की अन्त्यभाग का चतुर्थ पाद के अन्त्य भाग में (४) द्वितीय पाद से अन्त्य भाग का तृतीय पाद के अन्त में (५) द्वितीय पाद के अन्त्य भाग का चतुर्थ पाद के अन्तिम भाग में (६) तृतीय पाद के अन्तिम भाग का चतुर्थ पाद के अन्त में (७) प्रथम पाद के अन्तिम भाग का द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तीनों पादों के अन्त्य में (८) प्रथम पाद के अन्तिम भाग का द्वितीय पाद के अन्त्य में तथा तृतीय पाद के अन्त्य भाग का चतुर्थ पाद के अन्त में (९) प्रथम पाद के अन्त्य भाग का तृतीय पाद के अन्त्य भाग में और द्वितीय पाद के अन्तिम भाग का चतुर्थ पाद के अन्त्य भाग में (१०) अन्तिम अर्द्धभाग के आवृत्त होने से दस भेद होते हैं।

इस प्रकार पादभागावृत्ति के कुल बीस भेद हुए। इसी प्रकार पाद के तीन खण्ड करने पर तीस और चार खण्ड करने पर चालीस भेद होते हैं।

इस प्रकार प्रथमादि पाद के आद्य भाग की द्वितीयादि पाद के आद्य भाग में और प्रथमादि पाद के अन्तिम भाग की द्वितीयादि पाद के अन्तिम भाग में आवृत्ति सजातीय पादभागावृत्ति है। अब सजातीय भागावृत्ति के निरूपण के पश्चात् विजातीय भागावृत्ति का निरूपण करते हैं—

सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम् ।
सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय ।।३६०।।

अनुवाद--प्रथम पादादिगत अन्तिम अर्धादिभाग मे तथा द्वितीय पादादिगत आद्य अर्धादि भाग में आवृत्त हो सकता है इसलिए अन्वर्थता (सार्थकता) के अनुसार यमक के अनेक भेद होते हैं। अन्तादिक (प्रथम पाद के अन्त्यार्द्ध भाग की द्वितीय पाद के आद्य अर्द्ध भाग में त्आवृत्ति), आद्यान्तिक (प्रथम पाद के आद्य अर्द्धभाग की द्वितीय पाद के अन्तिम अर्द्ध भाग में आवृत्ति) और उभय समुच्चय (प्रथम पाद के आद्य और अन्त्य भाग की द्वितीय पाद के अन्त्य और आद्य भाग में आवृत्ति), मध्यादिक (श्लोक के तीन और चार खण्डों में पूर्व पाद के मध्य भाग की उत्तरपाद के आदि भाग में आवृत्ति), आदिमध्य (पूर्वपाद के आदि भाग के उत्तरपाद के मध्य भाग में आवृत्त (होने से), अन्त्य मध्य (पूर्वपाद के अन्त्य भाग की उत्तर पाद होने से), अन्त्य मध्य (पूर्वपाद के अन्त्य भाग की उत्तर पाद के मध्य भाग में आवृत्ति), मध्यान्तिक (पूर्वपाद के मध्य भाग की उत्तरपाद के अन्तिम भाग में आवृत्ति; उनका समुच्चय (पूर्वपाद के अन्त्य और मध्यभाग की द्वितीय पाद के मध्य और अन्त्य भाग में आवृत्ति) होने से यमक के अनेक भेद होते हैं। और उसी का उसी पाद में आद्य आदि भाग मध्यादि भागों में अथवा आनियत स्थान में आवृत्ति होने से यमक के प्रचुर भेद होते हैं। किन्तु इन भेदों के काव्य के रसास्वादन में बाधक होने से उनके लक्षण नहीं दिये गये हैं। इनमें कुछ भेदों का उदाहरण देते हैं—

(१) संदंशयमक

अनुवाद—सती (पतिव्रता) नारियों का भरण-पोषण करने वाली (अथवा पतिव्रता स्त्रियों के आभरण-आभूषण रूप=सन्नारीभरण) उमा (पार्वती) को प्राप्त करने वाले (सन्नारीभरणा या उमा तां याति अयते (प्राप्नोति) वा इति सन्नारीभरणा+उमायः तम्) विधुशेखर शिव की आराधना करके सन्नारीभरण (सन्नाः मृता अरीणां शत्रूणाम् इभा गजा यत्र तादृशो रणो युद्धं यस्य सः सन्नारीभरणः) अर्थात् शत्रुओं के हाथियों के विनाशक युद्ध करने वाले, कपट-रहित (अमायः—न माया कपटः—अमायः=कपटरहितः) आप पृथिवी का विजय प्राप्त करें ।।३६०।।

विमर्श—यहाँ पर प्रथम पाद की तृतीय पाद में आवृत्ति है, अतः यहाँ 'संदंश' नामक यमक अलङ्कार है। यह पद्य रुद्रट के काव्यालङ्कार से उद्धृत किया गया है।

विनायमेनो नयताऽसुखादिना विना यमेनोनयता सुखादिना ।
महाजनोऽदीयत मानसादरं महाजनोदी यतमानसादरम् ॥३६१॥
स त्वारम्भरतोऽवश्यमबलं विततारवम् ।
सर्वदा रणमानैषी दवानलसमस्थितः ॥३६२॥

---

(२) युग्मयमक

अनुवाद—इस महापुरुष (अयं महाजनः) दुर्जनों का दमन करने वाले (महाजनोदी—महान् उत्सवान् अजन्ति क्षिपन्ति इति महाजाः=दुर्जनाः, तान् नुदति इति महाजनोदी) और शत्रुओं का मान मर्दन करने वाले (मानसात्-(मानं शत्रूणामभिमानं सादयति विनाशयति इति मानसात्) हंस नामक जीवात्मा को (विना—विः=पक्षी, विश्चासौ ना च इति विना पक्षिरूपः पुरुषः हंसाख्यो जीव इति) विना अपराध के ही (एनोऽपराधं विना) ले जाने वाले (नयता) प्राणों का भक्षण करने वाले (असुखादिना असून् प्राणान् खादति भक्षयति इति तेन असुखादिना प्राणभक्षकेण) सुख का नाश करने वाले (सुखादिना=सुखम् अत्ति भक्षयति तेन इति सुखादिना सुखभक्षकेण) सबको नीचा दिखाने वाले या हानि करने वाले (ऊनयता=हीनं हानिं वा कुर्वता) यमराज ने (यमेन) प्राणरक्षा के लिए प्रयत्न करने वाले लोगों को दुःख देकर (यतमाननां जीवमक्षणाय प्रयत्नवतां सादं विषादं दुखं राति ददाति इति=यतमानसादरं) मानस से शीघ्र ही (अरं) अलग कर दिया (अदीयत—अखण्डयत)। अर्थात् यमराज ने शरीर से जीव को अलग कर दिया ॥३६१॥

विमर्श—यह श्लोक रुद्रट के काव्यालङ्कार से उद्धृत किया गया है। यहाँ पर प्रथम पाद की द्वितीय पाद के स्थान पर और तृतीय पाद की चतुर्थ पाद के स्थान पर आवृत्ति हुई है, अतः यह 'युग्मक' नामक यमक का उदाहरण है।

(३) महायमक

अनुवाद—वह (राजा) आलस्यपूर्वक धीरे-धीरे न चलने वाला अर्थात् शीघ्रगति से प्रस्थान करता हुआ (अलसं मन्दं अवान् अगच्छन्) विष्णु का भक्त (अस्थितः=अ=विष्णु में स्थित) वह (राजा) निर्बल बलहीन (अबलं) और हाहाकार करने वाले (विततारवम्—विततं विस्तृतं आरवम्—हाहाशब्दं सिंहनादं वा) अथवा सिंहनाद करने वाले, शत्रुओं के समूह को (आरं—अरीणां समूहम्) सर्वदा अवश्य ही (अवश्यं) बलपूर्वक (भरतः) रणभूमि में खींच ले जाता था [अन्वय—अलसम् अवान् अस्थितः स तु अबलं विततारवम् आरम् सर्वद भरतः अवश्यं रणम् आनैषीत] ॥३६२॥

सत्त्वारम्भरतोऽवश्यमवलं विततारवम् ।
सर्वदारणमानैषी दवानलसमस्थित: ।।३६३।।

अनन्तमहिमव्याप्तविश्वां वेधा न वेद याम् ।
या च मातेव भजते प्रणते मानवे दयाम् ।।३६४।।

(दूसरे श्लोक का अर्थ)—सात्त्विक कार्यों में रत (सत्त्वारम्भरतः) सब शत्रुओं का विदारण विनाश (दारण) में मान-सम्मान चाहने वाला (सर्व+दारण+मान+ऐषी) और दावानल के समान स्थित वह राजा प्राण रक्षा के लिए तरुओं का सहारा (आश्रय) लेने वाले, अर्थात् जंगलों में भटकने वाले (अवलम्बितं, आश्रितं तारवं तरुसमूहो येन तादृशम्) अथवा वृक्षों (तरु) के वल्कल को धारण करने वाले (अवलम्बित तारवं तरोः विकारः तारवं बल्कलम्) अथवा तरुओं के समान विनम्रता को धारण करने वाले (अवलम्बितम् आश्रितं तारवं तरोः भावो नम्रत्वम् येन तादृशम्) शत्रुसमूह को (आरं=अरिसमूहम्) युद्ध करने के लिए विवश कर देता था (अवश्यम्) ।।३६३।। [अन्वय—सत्त्वारम्भरतः सर्वदारणमानैषी दवानल-समस्थितः अवलम्बिततारम् आरवम् अवश्यम्] ।

विमर्श—यह श्लोक रुद्रट के काव्यालङ्कार से उद्धृत किया गया है। यहाँ पर पूरे श्लोक की आवृत्ति की गई है, अतः यह श्लोकावृत्ति रूप महायमक का उदाहरण है। इन दोनों श्लोकों में शब्दविन्यास एक समान है किन्तु अर्थ में भिन्नता है। अतः यहाँ श्लोकावृत्ति रूप महायमक है। महायमक और शब्दश्लेष में यह अन्तर है कि शब्दश्लेष में एक ही प्रयत्न से दो वाक्यों का उच्चारण होता है और महायमक में दो प्रयत्नों से दो वाक्यों का उच्चारण होता है। यही दोनों में अन्तर है।

(४) सन्दष्ट यमक

अनुवाद—अपनी अनन्त महिमा से समस्त विश्व में व्याप्त जिस दुर्गा देवी को ब्रह्मा (वेधा) भी तत्त्वतः नहीं जानते और जो प्रणत (नम्र या भक्त) मनुष्यों पर माता की तरह दया करती है। (उसका चरणरज हमें सिद्धि प्रदान करे) ।।३६४।।

विमर्श—यह श्लोक आनन्दवर्धनकृत देवीशतक से उद्धृत है। यहाँ पर श्लोक के द्वितीय पाद के अन्तिम खण्ड (न वेद याम्) की चतुर्थ पाद के अन्तिम अर्द्ध भाग में आवृत्ति हुई है, अतः यह श्लोक पादभागावृत्ति सन्दष्ट यमक का उदाहरण है।

यद्वानतोऽयदानतो नयात्ययं न यात्ययम् ।
शिवेहितां शिवे हितां स्मरामितां स्मरामि ताम् ॥३६५॥

सरस्वति ! प्रसादं मे स्थितिं चित्तसरस्वति ।
सरस्वति कुरु क्षेत्र कुरुक्षेत्रसरस्वति ॥३६६॥

---

(५) आद्यन्तिक यमक

अनुवाद- जिस देवी में निरन्तर प्रणत यह जन (भक्त जन) शुभ-विधि दिये जाने से (अयदानतः) नय-नीति (सन्मार्ग) का अतिक्रमण (अत्यय) नहीं करता (नयात्ययं-नयस्य नीतेः अत्ययम् अतिक्रमणं न याति) । कामदेव के द्वारा अमित वश में न की गई (स्मरामिताम् = स्मरेण कामेन अमिताम् अपरिच्छिन्नामनभिभूताम्) कल्याण में अनुकूल अर्थात् लोककल्याण में लगी हुई (शिवे कल्याणे हिताम्) शिव की प्रियतमा (शिवेहिताम् = शिवस्य ईहिता वाञ्छिता प्रिया) का मैं स्मरण करता हूँ ॥३६५॥

विमर्श--यह श्लोक आनन्दवर्धनाचार्यकृत 'देवीशतक' से उद्धृत किया गया है। इस श्लोक में आद्यन्तिक यमक है। यहाँ पर एक ही पाद में आद्यभाग की अन्त्यभाग में आवृत्ति है। अतः यह आद्यन्तिक यमक का उदाहरण है।

(६) आद्यन्तिक-अन्तादिक-समुच्चय यमक

अनुवाद—हे शरीर रूपी कुरुक्षेत्र की सरस्वती (क्षेत्रकुरुक्षेत्रसरस्वति) प्रसन्न हो जाओ (प्रसादं सर) और मेरे चित्तरूपी सागर में (चित्त-सरस्वति) (सरस्वत् शब्द सप्तमी एकवचन में सरस्वति) अच्छी तरह [स्वति = सु (सुष्ठु) अतिशयेन-- स्वति] स्थित हो ॥३६६॥

विमर्श—यह श्लोक आनन्दवर्धनकृत 'देवीशतक' से लिया गया है। इसमें पूर्वार्द्ध में प्रथम पाद के आद्यभाग (सरस्वति) की द्वितीय पाद के अन्त्यभाग में आवृत्ति हुई है, अतः यहाँ आद्यन्तिक यमक है और इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में तृतीय पाद के आद्यभाग (सरस्वति) की चतुर्थ पाद के अन्त्यभाग में आवृत्ति है, अतः यहाँ आद्यन्तिक यमक है और तृतीय पाद के अन्त्यभाग (कुरुक्षेत्र) की चतुर्थपाद के आद्यभाग में आवृत्ति होने से अन्तादिक यमक है। अतः यहाँ आद्यन्तिक यमक और अन्तादिक यमक दोनों का सन्निवेश (समुच्चय) होने ने यह आद्यन्तिक-अन्तादिक-समुच्चय यमक का उदाहरण है।

ससार साकं दर्पेण कन्दर्पेण ससारसा।
शरन्नवाना बिभ्राणा नाविभ्राणा शरन्नवा ॥३६७॥
मधुपराजिपराजितमानिनीजनमनः सुमनः सुरभि श्रियम्।
अभृत वारितवारिजविप्लवं स्फुटिततात्रततात्रवणं जगत् ॥३६८॥
एवं वैचित्र्यसहस्रैः स्थितमन्यदुन्नेयम्।

---

(७) पादगत (पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध में) आद्यन्तिक-अन्तादिक समुच्चय

अनुवाद– सारस पक्षियों अथवा कमलों से युक्त (ससारसा), शर कास-कुसुमों को धारण करती हुई (शरं कासं बिभ्राणा), नवीन शकटादि (गाड़ियों) के मार्ग से युक्त (नवम् अनः शकटं यस्यां सा नवाना) पक्षियों के कलरव से पूर्ण (विः-पक्षी, वीनां पक्षिणां भ्राणं शब्दः, सोऽविद्यमानो यस्यां सा अविभ्राणा=पक्षिशब्दरहिता, न अविभ्राणा नाविभ्राणा=पक्षिशब्द सहिता—पक्षिकलरवयुता) नवीन शरद् ऋतु (नवा शरद्) कामदेव सहित दर्प (गर्व) के साथ प्रवृत्त हुई अर्थात् आ गई ॥३६७॥

विमर्श—यह श्लोक रुद्रट के काव्यालङ्कार से अवतरित है। इस श्लोक में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों में आद्यन्तिक और अन्तादिक समुच्चय यमक है। यहाँ पर पूर्वार्द्ध में प्रथम पाद के अन्त्य का अर्द्धभाग (कन्दर्पेण) द्वितीय पाद के आदि के अर्द्धभाग में आवृत्त होने से अन्तादिक यमक और प्रथम पाद के आदि के अर्द्धभाग (ससार सा) की द्वितीय पाद के अन्तिम अर्द्धभाग में आवृत्ति होने से आद्यन्तिक यमक है। इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में तृतीय पाद के आदि का अर्द्धभाग (शरन्नवाना) चतुर्थ पाद के अन्त्य के अर्द्धभाग में आवृत्त होने से आद्यन्तिक यमक और तृतीय पाद के अन्तिम अर्द्धभाग (ना विभ्राण) की चतुर्थ पाद के आदि के अर्द्धभाग में आवृत्ति होने से अन्तादिक यमक है। अतः यहाँ पर दोनों में आद्यन्तिक और अन्तादिक यमक का समुच्चय है। अतः यह पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध पादार्धगत आद्यन्तिक-अन्तादिक समुच्चय यमक का उदाहरण है।

(८) अनियतस्थानावृत्ति यमक

अनुवाद—भ्रमर पंक्ति के द्वारा मानिनीजनों के मन को पराजित (धैर्य-रहित) करने वाले पुष्पों के सुगन्ध से सुरभित, कमलों के विनाश (विप्लव) से रहित और विकसित लाल (रक्त) पल्लवों वाले विस्तृत आम्र-वनों से युक्त जगत् ने शोभा को धारण किया ॥३६८॥

विमर्श—यह श्लोक रत्नाकर के 'हरविजय' काव्य से उद्धृत है। यह अनियत स्थानावृत्ति यमक का उदाहरण है। इस श्लोक में प्रथम पाद में 'पराजि-पराजित'

(सू० ११८) वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद् भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥८४॥

'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इति दर्शने 'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' इति च न ये वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद् युगपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते स श्लेषः । स च वर्ण-पद-लिंग-भाषा-प्रकृति-प्रत्यय-विभक्ति-वचनानां भेदादष्टधा । क्रमेणोदाहरणम्—

तथा द्वितीय पाद में 'मनःसु मनःसु' इत्यादि की अनियत स्थान में आवृत्ति हो रही है, अतः यह अनियत स्थानावृत्ति यमक का उदाहरण है ।

इस प्रकार हजारों प्रकार के वैचित्र्य से युक्त यमक के अन्य उदाहरण भी समझ लेने चाहिए ।

(४) श्लेष अलंकार

अनुवाद (सू० ११८)—अर्थ भेद होने से भिन्न-भिन्न शब्द एक साथ उच्चारण-विषय के कारण जो एक रूप (श्लिष्ट) प्रतीत होते हैं, वह श्लेष अलङ्कार है और वह श्लेष अक्षर आदि के भेद से आठ प्रकार का होता है ॥८४॥

अनुवाद (वृत्ति) - 'अर्थ भेद से शब्द भेद होता है' अर्थात् यदि 'अर्थ भिन्न-भिन्न हैं तो शब्द भी भिन्न-भिन्न होंगे' इस सिद्धान्त के अनुसार और 'काव्यमार्ग में स्वर (उदात्तादि स्वर) का विचार नहीं किया जाता' इस नियम (न्याय) के अनुसार—अर्थ के भेद से भिन्न होने पर भी शब्द जब एक साथ उच्चारण के द्वारा श्लिष्ट हो जाते हैं अर्थात् अपने भिन्न स्वरूप को छिपा लेते हैं, तब वह श्लेष अलङ्कार कहलाता है और वह श्लेष अलङ्कार वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन के भेद से आठ प्रकार का होता है । क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं—

विमर्श—भिन्नार्थक शब्दों का पारस्परिक भेद की अप्रतीति श्लेष अलङ्कार है। मम्मट ने श्लेष अलङ्कार का जो लक्षण दिया है वह रुद्रट के श्लेष-लक्षण का अनुसरण करता है। रुद्रट के अनुसार जब एक ही काल में एक ही प्रयत्न से उच्चारणीय दो या अनेक वाक्यों की रचना की जाती है, उसे श्लेष कहते हैं।

वक्तुं समर्थमर्थं सुश्लिष्टाक्लिष्टविविधपदसन्धि ।
युगपदनेकं वाक्यं यत्र विधीयेत स श्लेषः ॥

अलङ्कारः शङ्काकरनरकपालं परिजनो
विशीर्णाङ्गो भृङ्गी वसु च वृष एको बहुवयाः ।
अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरो—
विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी ॥३६९॥

भाव यह है कि एक बार उच्चारण किया हुआ शब्द एक ही अर्थ का बोध कराता है (सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति) इसलिए किसी भी एक शब्द से दो अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती । अतः दो अर्थों का बोध कराने के लिए 'प्रत्यर्थं शब्दाः भिद्यन्ते' इस नियम के अनुसार अलग-अलग शब्दों का प्रयोग करना चाहिए । किन्तु कहीं-कहीं अलग-अलग दो अर्थों की प्रतीति के लिए समानाकार दो शब्द जतुकाष्ठ न्याय के परस्पर इस प्रकार मिल जाते हैं, चिपक जाते हैं कि उनकी भिन्नता की प्रतीति नहीं होती, अर्थात् वे दोनों भिन्नार्थक शब्द एक प्रयत्न से एक साथ उच्चरित होने से पृथक्ता की अनुभूति नहीं होती, अतः एक शब्द से दो अर्थों की प्रतीति हो रही है, ऐसा आभास होता है । यही श्लेष है ।

यदि 'इन्द्रशत्रु' आदि में भिन्न-भिन्न समास वाले शब्दों में उदात्तादि स्वरों का भेद होता है तो वहाँ श्लेष में कोई व्यवधान नहीं पड़ता, क्योंकि काव्य के क्षेत्र में स्वरों का विचार नहीं किया जाता । इस प्रकार श्लेष की चमत्कारिता सहृदय जनों के द्वारा सिद्ध होने से उसका अपलाप नहीं किया जा सकता ।

श्लेष अलङ्कार दो प्रकार का होता है—सभङ्गश्लेष और अभङ्गश्लेष । इनमें सभङ्गश्लेष में प्रकृत-प्रत्यय आदि की भिन्नता होती है । इसीलिए इसे सभङ्गश्लेष कहते हैं । इस प्रकार प्रकृत-प्रत्ययादि भेदक उपाधियों के कारण सभङ्गश्लेष आठ प्रकार का होता है—

(१) वर्णश्लेष — (५) प्रकृतिश्लेष
(२) पदश्लेष — (६) प्रत्ययश्लेष
(३) लिङ्गश्लेष — (७) विभक्तिश्लेष
(४) भाषाश्लेष — (८) वचनश्लेष

अब इन आठ श्लेषभेदों का क्रमशः उदाहरण देते हैं—

(१) वर्णश्लेष

अनुवाद—भय को उत्पन्न करने वाला मानव का कपाल (खोपड़ी) जिस शिव का अलङ्कार है और उनका अनुचर गलित अंगों वाला भृङ्गी है, और (सम्पत्ति) धन एक बूढ़ा बैल है । समस्त देवताओं के पूज्य गुरु (श्रेष्ठ) शिवजी के (स्थाणोः) भी मस्तक पर वक्र (टेढ़े) चन्द्रमा (भाग्य) के स्थित होने पर जब यह दुरवस्था है तो हम तुच्छ मनुष्यों की गणना ही क्या है ? ॥३६९॥

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥३७०॥

विमर्श—यह श्लोक सुभाषित रत्नकोष से उद्धृत है। यहाँ पर श्लोक में 'विधौ' पद में वर्णश्लेष है। यहाँ 'विधि' और विधु' दोनों शब्दों का सप्तमी एकवचन में 'विधौ' रूप बनता है। यहाँ पर 'विधु' शब्द के उकार और विधि शब्द के इकार का विभक्ति के बल से 'औ' हो गया है और दोनों इस प्रकार मिल गये हैं कि दोनों में उच्चारण-साहश्य होने से जो एकाकार (समानाकार) प्रतीति है वह वर्णश्लेष है। रुद्रट ने वर्णश्लेष का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

यत्र विभक्ति-प्रत्यय-वर्णवशादैक्यरूप्यमायाति।
वर्णानां विविधानां वर्णश्लेष स विज्ञेयः॥

अर्थात् जहाँ पर विभक्ति, प्रत्यय या वर्ण के बल से अलग-अलग वर्णों का ऐक्यरूप हो जाता है उसे वर्णश्लेष जानना चाहिए। भाव यह कि वर्णश्लेष में वर्णों की साम्यता (ऐकरूप्य) विभक्ति के कारण, अथवा प्रत्यय के कारण अथवा वर्ण के कारण होती है। प्रस्तुत उदाहरण में 'विधौ' में इकार-उकार की एकरूपता सप्तमी विभक्ति के कारण है अतः वह वर्णश्लेष का उदाहरण है।

भोज ने वर्णश्लेष को अलग अलंकार नहीं माना है। उन्होंने वर्णश्लेष का पदश्लेष में अन्तर्भाव कर दिया है। उनका कहना है कि वर्ण स्वतन्त्र रूप से अर्थावबोधन में असमर्थ होता है। वह जब भी अर्थ प्रकट करता है, पदों के साथ करता है। इस प्रकार जब वह पदों के रूप में ही अर्थ प्रकट करता है तो अलग वर्णश्लेष की क्या आवश्यकता है? वहाँ पदश्लेष ही होगा। जैसे पाता + अलम्' में अ वर्ण पूर्व पद पाता में मिलकर पाताल पद की रचना करता है। अतः वह पदश्लेष ही वर्णश्लेष है; किन्तु मम्मट इससे सहमत नहीं है। उनका कहना है कि वर्णश्लेष में वर्णों में श्लेष होता है और पदश्लेष में पदों में। यही दोनों में अन्तर है।

(२) पदश्लेष

अनुवाद—हे राजन्! इस समय हम दोनों का (आपका और हमारा) घर पृथुकार्तस्वरपात्र (आपका—विशाल सुवर्ण के पात्रों युक्त और हमारा घर—बच्चों के करुण क्रन्दन का स्थान है), भूषितनिःशेष परिजन (आपका अलंकृत समस्त परिजनों वाला और हमारा—भूमि पर लेटने वाले समस्त परिजनों वाला है), विलसत्करेणुगहन (आपका आवास—सुन्दर हथिनियों से सुशोभित है और हमारा घर—बिल में रहने वाले चूहों के बिल की मिट्टी से भरा है) होने से एक समान है ॥३७०॥

भक्तिप्रह्वविलोकन प्रणयिनो नीलोत्पलस्पर्धिनो
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीतेहितप्राप्तये ।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वतो
युष्माकं कुरुतां भवार्त्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः ॥३७१॥

एष वचनश्लेषोऽपि ।

विमर्श—यह श्लोक पदश्लेष का उदाहरण है। क्योंकि इसमें पदों के तोड़ने (भङ्ग) से श्लेष होता है अतः यहाँ पदभङ्गश्लेष है। रुद्रट ने पदश्लेष का लक्षण निम्न प्रकार दिया है—

यस्मिन् विभक्तियोगः समासयोगश्च जायते विविधः ।
पदभङ्गेषु विविक्तो विज्ञेयोऽसौ पदश्लेषः ॥

अर्थात् जहाँ पर पदों के भङ्ग होने पर नाना प्रकार का विभक्ति योग और समास योग होता है, उसे 'पदश्लेष' जानना चाहिये। प्रस्तुत उदाहरण में पदों का भङ्ग करने पर (तोड़ने पर) विभक्ति और समास दोनों का योग परिलक्षित होता है। जैसे कोई भिखारी किसी राजा के पास जाकर कहता है कि हे राजन् ! इस समय आपका और हमारा दोनों का घर एक समान हो रहा है; क्योंकि आपका और हमारा दोनों का घर 'पृथुकार्त्तस्वर पात्र' है अर्थात् आपका घर पृथु+कार्त्तस्वर+पात्र (पृथूनि विपुलानि कार्त्तस्वरस्य सुवर्णस्य पात्राणि यत्र तत्) विशाल सोने के पात्रों से भरा है और हमारा घर भी पृथुकार्त्तस्वरपात्र (पृथुक+आर्त्तस्वर+पात्र) है अर्थात् पृथुक-बच्चों के आर्त्तनाद (करुणक्रन्दन) से पूर्ण है अर्थात् मेरे घर में भूखे-प्यासे बच्चे रहते हैं (पृथुकानां बालानाम् आर्त्तस्वरस्य करुणक्रन्दनस्य पात्रम्)। दूसरे आपका घर 'भूषितनिःशेषपरिजनों' वाला है अर्थात् आपके आवास के समस्त परिजन अलंकृत (सजे-धजे) रहते हैं (भूषित + निःशेष+परिजन) और हमारा घर भी 'भूषितनिःशेष परिजनों' वाला है अर्थात् हमारे घर का सारा परिवार पृथ्वी पर पड़े (लेटे) रहते हैं (भू + उषित + निःशेष + परिजन = भू—पृथ्वी पर उषित—(पड़े हुए, रहने वाले) समस्त परिवार से युक्त)। तीसरे आपका आवास 'विलसत्करेणुगहन' है अर्थात् आपका आवास सुशोभित हथिनियों से व्याप्त है (विलसन्तीभिः करेणुभि हस्तिनीभिः गहनं व्याप्तम्) और हमारा घर भी 'विलसत्करेणुगहन' है अर्थात् हमारा घर बिल में रहने वाले चूहों के द्वारा खोदे हुए मिट्टियों के ढेर से भरा है (बिले सीदन्ति इति बिलसत्काः मूषकाः तेषां रेणुभिः धूलिभिः व्याप्तम्)। इस प्रकार हे महाराज ! आपका और हमारा दोनों का घर इस समय एक समान हो गया है। इस प्रकार यहाँ पर पदों के भङ्ग होने से श्लेष की प्रतीति होती है, अतः यह पदश्लेष का उदाहरण है।

(३) लिंगश्लेष और (४) वचनश्लेष

अनुवाद—भक्ति से विनम्र भक्तों को देखने के लिए अनुरक्त, नील-

कमल से स्पर्द्धा करने वाली, कल्याण (हित) की प्राप्ति के लिए समाधि में रत योगियों के द्वारा ध्यान का आलम्बन बनाये गये, सौन्दर्य के असीम आधार, लक्ष्मी के नेत्रों में रसिकता को उत्पन्न करने वाले भगवान् विष्णु के दोनों नेत्र आप लोगों की भव-पीड़ा का शमन करें (अर्थात् भव-बाधा दूर करें)।

द्वितीय पक्ष में अर्थ—भक्ति से विनम्र भक्तजनों के दर्शन का एकमात्र आधार, नील कमल का स्पर्द्धा करने वाला, अभीष्ट सिद्धि के लिए समाधि-रत योगियों के ध्यान का आलम्बन (विषय) रूप, सौन्दर्य की महानिधि (अक्षय निधि-खजाना); लक्ष्मी के नेत्रों में रसिकता (रतिभाव) को उत्पन्न करने वाला भगवान् विष्णु का शरीर आप लोगों की भव-बाधा दूर करे ॥३७१॥

यहाँ पर 'तनु' पक्ष में एकवचन और 'नेत्र' पक्ष में द्विवचन होने से वचनश्लेष भी है।

विमर्श—यह श्लोक लिङ्गश्लेष और वचनश्लेष दोनों का उदाहरण है। रुद्रट ने लिङ्गश्लेष का लक्षण निम्न प्रकार दिया है—

स्त्रीपुंनपुंसकानां शब्दानां भवति यत्र सारूप्यम्।
लघुदीर्घत्वसमासैर्लिङ्गश्लेषः स विज्ञेयः॥

अर्थात् स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग शब्दों में ह्रस्व, दीर्घ और समास होने के कारण जहाँ पर सारूप्य हो, उसे लिङ्गश्लेष जानना चाहिए। प्रस्तुत उदाहरण में तीनों चरणों में 'नेत्रे' और 'तनुः' के विशेषण प्रयुक्त हैं। इनमें 'नेत्रे' यह नपुंसक लिङ्ग नेत्र शब्द के प्रथमा द्विवचन का रूप है और 'नेत्रे' के विशेषण 'प्रणयिनी' 'नीलोत्पलस्पर्धिनी' 'ध्यानालम्बनां नीते' 'लावण्यस्य महानिधी' 'रसिकतां तन्वती' आदि प्रथमा द्विवचन के रूप हैं। इसी प्रकार ये सभी विशेषण स्त्रीलिङ्ग प्रथमा एकवचन के रूप भी हैं और स्त्रीलिङ्ग प्रथमा एकवचन के रूप में ये 'तनुः' के विशेषण हैं। 'तनुः' शब्द स्त्रीलिङ्ग प्रथमा एकवचन का रूप है। इस प्रकार यहाँ पर तीनों चरणों में 'नेत्रे' और 'तनुः' के जो विशेषण दिये हैं वे शब्द नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन में रूप भी हैं और स्त्रीलिङ्ग प्रथमा एकवचन में भी बनते हैं। अतः यहाँ नपुंसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग का श्लेष होने से 'लिङ्गश्लेष है। इसी प्रकार उपर्युक्त विशेषण प्रथमा द्विवचन और प्रथमा द्विवचन दोनों के रूप हैं। अतः यहाँ प्रथमा द्विवचन तथा एकवचन श्लेष है। अतः यह वचनश्लेष का भी उदाहरण है। इसी प्रकार 'कुरुताम्' के 'नेत्रे' के साथ अन्वय होने पर परस्मैपद प्रथमपुरुष के द्विवचन का रूप होता है और 'तनुः' के साथ अन्वय होने पर आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन का रूप होता है। इस प्रकार 'कुरुताम्' में भी एकवचन और द्विवचन का श्लेष है। अतः यह भी वचनश्लेष का उदाहरण है।

महदे सुरसन्धम्मे तमवसमासङ्गमागमाहरणे।
हरबहुसरणं तं चित्तमोहमवसर उमे सहसा ॥३७२॥
अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः ॥३७३॥

---

(५) भाषाश्लेष

संस्कृत भाषा में पदच्छेद—महदे सुरसन्धं मे तम् अव समासङ्गम् आगमाहरणे। हर बहुसरणं तम् चित्तमोहम् अवसरे उमे सहसा।

अन्वय—हे महदे ! उमे ! आगमाहरणे तम् सुरसन्धम् समासङ्गम् अव, अवसरे तं बहुसरणम् चित्त मोहम् सहसा हर ॥

अनुवाद—हे आनन्द देने वाली पार्वति (उमे) ! वेद-विद्या के उपार्जन में देवताओं के संगम (मिलन) अथवा देवताओं के द्वारा अभिलषित ज्ञान की उस आसक्ति (अनुराग) की रक्षा करो और अवसर पर उस प्रसरणशील चित्त के मोह (अज्ञान) को सहसा (तुरन्त) दूर करो ॥३७२॥

प्राकृत भाषा में पदच्छेद—मह देसु रसम् धम्मे तमवसम् आसम् गमागमाहरणे। हरवहु सरणम् तम् चित्तमोहम् अवसरउ मे सहसा।

संस्कृतच्छाया—मम देहि रसं धर्मे तमोवशाम् आशाम् गमागमात् हर नः। हरबधु ! शरणं त्वम्, चित्तमोहोऽपसरतु मे सहसा ॥

अनुवाद हे पार्वति (हरबहु) ! तुम्हीं मेरी शरण हो, धर्म में प्रीति (प्रेम रस) उत्पन्न करो, गमानमन (आवागमन जन्ममरण) रूप संसार से हमारी अज्ञानरूपा (तमोमयी) प्रवृत्ति को दूर कर दो, जिससे मेरे (ये) चित्त का मोह (अज्ञान) सहसा दूर हो जाय ॥३७२॥

विमर्श - यह श्लोक आनन्दवर्द्धनकृत देवीशतक से उद्धृत है। यहाँ पर प्राकृत भाषा और संस्कृत भाषा का श्लेष है। अतः यह भाषाश्लेष का उदाहरण है। रुद्रट ने भाषाश्लेष का लक्षण निम्न प्रकार दिया है—

यस्मिन्नुच्चार्यन्ते सुव्यक्तविविक्तभाषाणि।
वाक्यानि यावदर्थं भाषाश्लेषः स विज्ञेया ॥

(६) प्रकृतिश्लेष

अनुवाद—यह राजपुत्र समस्त शास्त्रों को हृदय में धारण करेगा और विद्वानों में कहेगा (प्रवचन करेगा) तथा शत्रुओं के सामर्थ्य (शक्ति, बल) को काटने वाला (नाश करने वाला सामर्थ्यं कृन्तति छिनत्ति इति सामर्थ्यकृत्) और मित्रों में सामर्थ्य (शक्ति) उत्पन्न करने वाला होगा ॥३७३॥

रजनि रमणमौलेः पादपद्मावलोक—
क्षणसमयपराप्तापूर्वसम्पत्सहस्रम् ।
प्रमथनिवहमध्ये जातुचित् त्वत्प्रसादा—
दहमुचितरुचिः स्यान्नन्दिता सा तथा मे ॥३७४॥

विमर्श यह श्लोक प्रकृतिश्लेष का उदाहरण है। रुद्रट ने प्रकृतिश्लेष का उदाहरण निम्न प्रकार दिया है—

सिद्ध्यन्ति यत्रान्यैः सारूप्यं प्रत्ययागमोपपदैः ।
प्रकृतीनां विविधानां प्रकृतिश्लेषः स विज्ञेयः ॥

अर्थात् एक ही प्रत्यय, आगम और उपपद से नाना प्रकार की प्रकृतियों में जो एकरूपता (समरूपता) होती है. उसे प्रकृतिश्लेष जानना चाहिए। यहाँ पर 'वक्ष्यति' यह रूप 'वह्' और 'वच्' दोनों धातुओं से लृट् लकार के एकवचन में बनता है। जो परस्पर एकरूप (समानरूप) में प्रतीत हो रहा है। इसी प्रकार 'सामर्थ्यकृत्' में सामर्थ्य उपपद 'कृ' तथा 'कृन्त्' दोनों धातुओं से 'क्विप्' प्रत्यय होकर एकसमान रूप बनता है. यहाँ पर 'वक्ष्यति' और 'सामर्थ्यकृत्' में प्रकृति में वह् और वच् धातु में तथा 'कृ' और 'कृन्त्' धातु में भिन्नरूपता होने पर भी लृट् लकार एकवचन में तिप् प्रत्यय के कारण तथा क्विप् प्रत्यय के कारण एकरूपता की प्रतीति हो रही है, अतः यहाँ पर 'प्रकृतिश्लेष' है।

(७) प्रत्ययश्लेष

अनुवाद—हे देवि ! चन्द्रमौलि भगवान् शिव के चरणकमलों के दर्शन के अवसर ही हजारों प्रकार की अपूर्व सम्पत्ति प्राप्त कर प्रमथगणों के मध्य कदाचित् आपकी कृपा से उचित रुचि से युक्त आनन्दित (नन्दिता—नन्द + तृच) हो जाऊँ और वही मेरे लिए नन्दिरूपता (नन्दि नामक गणाधिपत्य, नन्दिता नन्द् + तल्) हो जाय ॥३७४॥

विमर्श—यह प्रत्ययश्लेष का उदाहरण है। रुद्रट ने प्रत्ययश्लेष का लक्षण निम्न प्रकार दिया है—

यत्र प्रकृति-प्रत्यय-समुदायानां भवत्यनेकेषाम् ।
सारूप्यं प्रत्ययतः स ज्ञेयः प्रत्ययश्लेषः ।

अर्थात् जहाँ पर प्रत्यय के कारण अनेक प्रकृति-प्रत्यय समुदायों में एकरूपता होती है वहाँ प्रत्ययश्लेष होता है। यहाँ प्रस्तुत उदाहरण में 'स्यान्नन्दिता' में प्रत्यय-श्लेष है। सन्धि-विच्छेद करने पर इसके दो रूप होते हैं—'स्याम् + नन्दिता' और 'स्यात् + नन्दिता' (अर्थात् 'अहं नन्दिता स्याम्' तथा 'मा मे नन्दिता स्यात्)। यहाँ

सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः ।
नयोपकारसाम्मुख्यमायासि तनुवर्त्तनम् ॥३७५॥

पर 'स्याम्' उत्तमपुरुष एकवचन का रूप है और 'स्यात्' प्रथमपुरुष एकवचन का सन्धि होने पर दोनों में एकरूपता है। यहाँ पर प्रथमपुरुष और उत्तमपुरुष के प्रत्ययों का भेद है अतः यहाँ प्रत्ययश्लेष है। इसी प्रकार 'नन्दिता' में नन्दिन् शब्द से 'तल्' प्रत्यय होने पर तथा 'नन्द्' धातु से 'तृच्' प्रत्यय होने पर 'नन्दिता' रूप ही बनता है। अतः यह (तल् और तृच्) प्रत्ययमात्र का भेद होने पर भी रूप में एकरूपता है, अतः यहाँ प्रत्ययश्लेष है।

(८) विभक्तिश्लेष

अनुवाद—(दस्यु की शि. के प्रति उक्ति)—हे शिव (हर) आप सब के सर्वस्व हैं (सर्वस्य सर्वस्वम्) और भव-बन्धन काटने में तत्पर हैं अर्थात् संसार के जन्म-मरण रूप बन्धन के काटने वाले हैं। अतः नय-नीति (सदाचार) और उपकार (परोपकार) के अनुकूल शरीर-स्थिति को प्राप्त होते हैं ॥३७५॥

(दस्यु की पुत्र के प्रति उक्ति)— हे पुत्र ! तुम सब का सब कुछ हरण कर लो (छीन लो) (सर्वस्य सर्वस्वं हर) और गला काटने में तत्पर हो जाओ (कण्ठ-छेदत्तत्परः भव) अथवा सेंध काटने में तत्पर हो (भित्ति-छेव-तत्परः भव)। किसी के प्रति उपकार की ओर उन्मुख मत हो अर्थात् किसी का उपकार मत करो (उपकारसाम्मुख्यं नय = दूरीकुरु)। तथा दूसरों को कष्ट-दायक (आयासि) जीविका का (वर्त्तनं) विस्तार कर अर्थात् दूसरों को कष्ट देने वाला व्यवहार कर ॥३७५॥

विमर्श—यह श्लोक विभक्तिश्लेष का उदाहरण है। रुद्रट ने विभक्तिश्लेष का उदाहरण निम्न प्रकार दिया है—

सारूप्यं यत्र सुपां तिङां तथा सर्वथा मिथो भवति ।
सोऽत्र विभक्तिश्लेषः ········ ······ ······ ····॥

अर्थात् सुबन्त और तिङन्त में जहाँ परस्पर सर्वथा समानरूपता हो, वहाँ विभक्तिश्लेष होता है। इस श्लोक में 'हर' और 'भव' दोनों पदों में विभक्तिश्लेष है। ये दोनों शिव के पर्यायवाची हैं और दोनों प्रथमा एकवचन सम्बोधन के रूप हैं, अतः सुबन्त पद हैं। इसके अतिरिक्त 'हर' और 'भव' दोनों क्रियापद भी हैं। 'हर' पद हृ धातु के तथा 'भव' पद 'भू' धातु के लोट लकार मध्यमपुरुष के रूप हैं। अतः तिङन्त पद हैं। इस प्रकार दो पदों में सुबन्त और तिङन्त का भेद होने पर भी उच्चारण सारूप्य के कारण समानरूपता है, अतः यहाँ पर विभक्तिश्लेष है। यद्यपि विभक्ति-श्लेष को प्रत्ययश्लेष में अन्तर्भूत किया जा सकता है; क्योंकि 'सुप्' और 'तिङ्'

(सू० ११६) भेदाभावात्प्रकृत्यार्भेदोऽपि नवमो भवेत् ।

नवमोऽपीति अपिर्भिन्नक्रमः ।

उदाहरणम्—

योऽसकृत्परगोत्राणां पक्षच्छेदक्षणक्षमः ।
शतकोटिदतां बिभ्रद्विबुधेन्द्रः स राजते ।।३७६।।

अत्र प्रकरणादिनियमाभावाद् द्वावप्यर्थौ वाच्यौ ।

विभक्तियाँ प्रत्यय रूप ही हैं, किन्तु अन्य प्रत्ययों से भिन्न सुबन्त और तिङन्त विभक्ति के रूप में विशेष चमत्कारजनक होने से अलग प्रतिपादन किया गया है।

ये उपर्युक्त आठों प्रकार के श्लेष सभङ्ग पदश्लेष कहे जाते हैं। इन आठों भेदों का सम्यक् प्रतिपादन रुद्रट ने अपने काव्यालङ्कार नामक ग्रन्थ में किया है, इनमें प्रकृति-प्रत्यय आदि का भेद होने से इसे सभङ्गश्लेष कहते हैं। प्राचीन आचार्य इसे शब्दालङ्कार मानते हैं। मम्मट ने रुद्रट के आधार पर ही श्लेष के आठों भेदों का निरूपण किया है।

(९) अभङ्गश्लेष

अनुवाद (सू० ११९) (पूर्वप्रतिपादित) प्रकृति-प्रत्यय आदि का भेद न होने से (श्लेष का) नवम भेद भी होता है।

सूत्र (११९) में 'अपि' शब्द भिन्न क्रम है (अतः उसका अन्वय 'नवम' के साथ होता है। 'नवमोऽपि भेदः भवेत्' अर्थात् नवाँ भी भेद हो सकता है)। उदाहरण, जैसे—

अनुवाद—(राजपक्ष में) जो राजा बार-बार शत्रुवंश के (परगोत्राणाम्) सहायकों अथवा विचारों के खण्डन में तुरन्त समर्थ है (पक्षच्छेदक्षणक्षमः) शत कोटि (सौ करोड़) की दानशीलता (शतकोटि ददाति इति शतकोटिदः, तस्य भाव शतकोटिदता) अथवा शतकोटि नामक अस्त्र से (शत्रुओं का) संहारक (शतकोटिना आयुधविशेषेण (शत्रून्) द्यति खण्डयति, तस्य भावः शतकोटिदता) को धारण करता हुआ पण्डितों में श्रेष्ठ (विबुधेन्द्रः) वह राजा सुशोभित होता है ।।३७६।।

(इन्द्र पक्ष में)—जो इन्द्र बार-बार श्रेष्ठ पर्वतों के (परगोत्राणां) पंख काटने में तुरन्त समर्थ है (पक्षच्छेदक्षणक्षमः)। शतकोटि अर्थात् वज्र से असुरों का संहार करने की समर्थता को धारण करता हुआ देवराज (विबुधेन्द्र) इन्द्र सुशोभित होता है ।।३७६।।

यहाँ पर प्रकरण आदि का नियन्त्रण न होने से दोनों अर्थ वाच्य हैं (अतः यहाँ श्लेष है)।

ननु स्वरितादिगुणभेदात् भिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां तदभावादभिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां च शब्दानां बन्धेऽलङ्कारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतुः शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति द्विविधोऽप्यर्थालङ्कारमध्ये परिगणितोऽन्यैरिति कथमयं शब्दालङ्कारः ?

विमर्श—श्लेष दो प्रकार का होता है—सभङ्गश्लेष और अभङ्गश्लेष। इनमें सभङ्गश्लेष के वर्ण-पद आदि आठ भेद बताये जा चुके हैं और उनका सोदाहरण विवेचन भी किया जा चुका है। अब अभङ्गश्लेष का विवेचन करते हैं। अभङ्गश्लेष श्लेष अलंकार का नवम भेद है। इसे अभङ्गश्लेष इसलिए कहते हैं कि इसमें प्रकृति-प्रत्यय आदि का भङ्ग (तोड़ना) नहीं होता। इसमें प्रकृति-प्रत्ययादि के भेद के बिना भी स्वरभेद से अथवा स्वरभेदादि के बिना भी अनेक पदों का श्लेष होता है। इसलिए इसको अभङ्गश्लेष कहते हैं।

मम्मट ने अभङ्गश्लेष का उदाहरण 'योऽसकृत्परगोत्राणाम्' इत्यादि दिया है। यहाँ पर परगोत्र आदि शब्द अनेकार्थक हैं और उसके एकार्थ में नियन्त्रण के लिए प्रकरण आदि का अभाव है। इस प्रकार प्रकरणादि के द्वारा एकार्थ में नियन्त्रण न होने से यहाँ पर दोनों अर्थ (राजा और इन्द्र) वाच्य ही हैं। इसलिए यह श्लेष का उदाहरण है। यहाँ पर 'भद्रात्मनः' इत्यादि के समान 'ध्वनि' (व्यञ्जना) नहीं है। क्योंकि जहाँ पर प्रकरणादि के द्वारा अनेकार्थक शब्द का एकार्थ में नियन्त्रण होने से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ द्वितीय अर्थ व्यङ्ग्य होता है। जैसे 'भद्रात्मनः' इत्यादि उदाहरण में प्रकरणादि के द्वारा नियन्त्रण होने से द्वितीय अर्थ व्यङ्ग्यार्थ है और 'योऽसकृत्परगोत्रणां' में प्रकरणादि का नियन्त्रण न होने से दोनों अर्थ वाच्य हैं। इसलिए यहाँ श्लेष है।

शब्दश्लेष और अर्थश्लेष में भेद

मम्मट ने श्लेष के दो भेद किये हैं—सभङ्गश्लेष और अभङ्गश्लेष। उन्होंने सभङ्गश्लेष को तो शब्दालंकार माना ही है और अभङ्गश्लेष को भी नवाँ भेद मानकर शब्दालंकार ही माना है। इस प्रकार मम्मट ने सभङ्गश्लेष और अभंगश्लेष दोनों को शब्दालंकार माना है, किन्तु रुय्यक ने सभंगश्लेष को तो शब्दालंकार माना है किन्तु अभंगश्लेष को अर्थालंकार माना है। उनका कहना है कि सभंगश्लेष तो शब्दालंकार का विषय है, क्योंकि उसमें भिन्न-भिन्न अर्थ वाले भिन्न-भिन्न शब्द 'जतुकाष्ठन्याय' से परस्पर मिलकर एक रूप हो जाते हैं; किन्तु अभंगश्लेष तो अर्थालंकार ही है क्योंकि उसमें स्वरादि की अभिन्नता से 'एकवृन्तगतफलद्वय' न्याय से एक शब्द में दो अर्थों का श्लेष होने से अभंगश्लेष को 'अर्थालंकार' मानना चाहिए। इस प्रकार अभंगश्लेष को शब्दालंकार कैसे माना जा सकता है ? इस शंका को उपस्थापित करते हुए मम्मट पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—

अनुवाद—प्रश्न यह उठता है कि स्वरित आदि स्वरों (गुणों) के भेद होने से भिन्न-भिन्न प्रयत्नों से उच्चार्य (उच्चारणयोग्य) और स्वरों का भेद न

होने से एक ही (अभिन्न) प्रयत्न मे उच्चारण के योग्य शब्दों की रचना में (बन्धे) अन्य (उपमा, रूपक आदि) अलङ्कारों के प्रतिभामात्र की उत्पत्ति के हेतुभूत शब्दश्लेष और अर्थश्लेष इन दोनों ही अलङ्कारों को अन्य उद्भट, रुय्यक आदि आचार्यों ने अर्थालङ्कार के मध्य में गिना है तो फिर यह (अभङ्गश्लेष) शब्दालङ्कार कैसे ?

विमर्श—श्लेष अलंकार के विषय में उद्भट, रुय्यक आदि आचार्यों के मत का निराकरण कर अपने मत की स्थापना के लिए ग्रन्थकार मम्मट पूर्वपक्ष के रूप में शंका उपस्थित करते हैं। उद्भट ने श्लेष अलंकार का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम्।
स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते॥
अलंकारतां गतां प्रतिभां जनयत्पदैः।
द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत्प्रतीयताम्॥

उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज ने कहा है—

एवं च श्लिष्टं द्विविधमप्युपाद्यलंकारप्रतिभोत्पादनद्वारेण अलंकारतां प्रतिपद्यते।

अर्थात् श्लेष चाहे शब्दश्लेष हो अथवा अर्थश्लेष दोनों ही अर्थालंकार हैं, क्योंकि वे उपमा आदि अलंकारों के प्रतिभावभासन के द्वारा ही अलंकारता को प्राप्त होते हैं।

अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक के अभिप्राय का वर्णन करते हुए वामनाचार्य ने कहा है—

"द्विविधोऽप्यर्थद्वयप्रतीतावेवालंकारत्वोपगमादर्थाश्रितत्वेन द्वयोरप्यर्थालंकार-तयालंकारसर्वस्वकारादिभिरर्थालंकारमध्ये पठितः तत्कथं शब्दालंकार मध्ये पठ्यते ?"

शब्दश्लेष और अर्थश्लेष दो प्रकार के होते हुए भी दो अर्थों की प्रतीति होने पर ही वे अलंकार कहलाते हैं, इस प्रकार अर्थाश्रित होने के कारण दोनों को ही अर्था-लंकार के मध्य में गिना गया है तो दोनों को शब्दालंकार कैसे कहते हैं ? इसी प्रश्न (शङ्का) को उठाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि स्वरों के भेद से भिन्नप्रयत्नोच्चार्य शब्दों की और स्वरभेद न होने पर अभिन्नप्रयत्नोच्चार्य शब्दों की रचना में जतुकाष्ठ-न्याय के समान भिन्न-भिन्न अर्थों के बोधक दो शब्द परस्पर मिला हुआ 'श्लिष्ट' शब्द-श्लेष और एकवृन्तगतफलद्वयन्याय के समान अर्थात् एक गुच्छे में लटके हुए दो फलों के समान एक ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों के श्लेष अर्थश्लेष दोनों ही श्लेषों को उद्भट तथा उनके अनुयायी रुय्यक आदि आचार्यों ने अर्थालंकार के मध्य में ही गिना है तो दोनों को ही शब्दालंकार कैसे कहा जाता है ?

इसके अतिरिक्त उभयश्लेष के स्थल में उपमा आदि कोई अन्य अलंकार अवश्य रहते हैं, ऐसे अवसर पर श्लेष अन्य अलंकारों का बाधक होता है अर्थात् श्लेष अलंकार के होने पर अन्य अलंकार अलंकाराभास मात्र प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त दोनों

ही अलंकार अर्थमुखापेक्षी होते हैं, अतः दोनों को अर्थालंकार के मध्य में गिनना चाहिए, तो शब्दालंकार के मध्य कैसे गणना करते हैं?

इस प्रकार मम्मट ने अलंकारसर्वस्वकार के मतानुसार जो पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया है, उसके सूक्ष्म विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि उसमें तीन अंश विचारणीय हैं—(१) अभंगश्लेष अर्थालंकार है, (२) श्लेष, उपमा आदि अलंकारों का बाधक है, (३) अभंगश्लेष और सभंगश्लेष दोनों अर्थालंकार हैं। यहाँ प्रथम अंश का विवेचन करते हैं।

इस शंका का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि ध्वनि, गुण, दोष और अलंकार आदि की शब्दगतता और अर्थगतता का नियामक 'अन्वय-व्यतिरेक' है। 'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः' अर्थात् उसके रहने पर उसका होना अन्वय है और 'तदभावे तदभावो व्यतिरेकः' अर्थात् उसके न रहने पर उसका न होना व्यतिरेक है। भाव यह कि जहाँ पर किसी शब्द के होने पर ही गुण-अलंकारादि की सत्ता रहती है और उस शब्द के न रहने पर गुण-अलंकारादि की सत्ता नहीं रहती है, अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा वहाँ पर शब्दाश्रित होने के कारण, शब्दालंकार की स्थिति माननी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि गुण-अलंकारादि शब्दाश्रित होते हैं। इसलिए जहाँ पर किसी शब्द के रहने पर अलंकारत्व रहता है और उस शब्द के हटा देने पर अलंकारत्व नहीं रहता, वहाँ शब्दालंकार का प्रसंग होता है और जहाँ पर किसी शब्द विशेष को हटाकर उसके स्थान पर उसके पर्यायवाची किसी अन्य शब्द के रख देने पर भी अलंकारत्व बना रहता है, वहाँ पर अलंकार अर्थ पर आश्रित होने से अर्थालंकार कहलाता है।

इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा श्लेष अलंकार के दोनों भेदों (सभंगश्लेष और अभंगश्लेष) में शब्द का परिवर्तन कर देने पर श्लेष की स्थिति नहीं रहती। इसलिए दोनों ही भेदों को शब्दालंकार के अन्तर्गत माना जाता है। इस प्रकार जहाँ पर शब्दपरिवृत्यसहत्त्व नहीं होता वहाँ शब्दगतता और जहाँ पर शब्द परिवृत्ति-सहत्व होता है वहाँ अर्थगतता होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार श्लेष में शब्दपरिवृत्यसहत्व होने से (अर्थात् किसी शब्द के रहने पर श्लेषत्व रहता है और उस शब्द को हटा कर उसके स्थान पर उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द रख देने पर श्लेष नहीं रहता, इस प्रकार श्लेष के शब्द-परिवर्तन को सहन न करने के कारण) श्लेष के दोनों भेद शब्दालंकार के अन्तर्गत आते हैं। इसी आधार पर प्राचीन आचार्य शब्दपरिवृत्यसहत्व को शब्दगतता और शब्दपरिवृत्ति-सहत्व को अर्थगतता मानते हैं (शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यां शब्दार्थगतत्वव्यवस्थितिः) अतः जो अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक अभंगश्लेष को अर्थमुखापेक्षित्व मान कर अर्थालंकार में गणना करते हैं वह उचित नहीं प्रतीत होता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि अलंकार-सर्वस्वकार रुय्यक ने 'पृथुकार्त्तस्वरपात्रम्' उदाहरण में 'पृथुक + आर्त्तस्वर' तथा 'पृथु + कार्त्तस्वर' इस प्रकार पद-भंग होने से सभंगश्लेष में विजातीय शब्दों का श्लेष होने से शब्दश्लेष कहा है और 'असकृत्परगोत्राणाम्' इत्यादि उदाहरण में एकवृन्तगत-

उच्यते—इह दोषगुणालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन यो विभागः सः अन्वय-व्यतिरेकाभ्यामेव व्यवतिष्ठते। तथाहि कष्टत्वादि-गाढ़त्वाद्यनु-प्रासादयः, व्यर्थत्वादिप्रौढ़ाद्युपमादयः, तद्भावतदभावानुविधायित्वादेव शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थाप्यन्ते।

फलद्वय न्याय से दो अर्थों का श्लेष होने से अभंगश्लेष को अर्थश्लेष कहा है, किन्तु उनका यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता; क्योंकि अलंकारसर्वस्वकार के सिद्धान्त के अनुसार यदि थोड़ी देर के लिए अभंगश्लेष को अर्थालंकार मान भी लिया जाय तो भी ध्वनि, गुण, दोष और अलंकारों की शब्दगतता और अर्थगतता के विभाजन के लिए अन्वय-व्यतिरेक को मानना ही पड़ेगा, अतः अन्वय-व्यतिरेक को ही सर्वत्र शब्दगतता और अर्थगतता का नियामक मानना उचित है। इसी प्रकार श्लेष की शब्दगतता और अर्थगतता का नियामक अन्वय-व्यतिरेक को मानना ही उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा परीक्षा करने पर अभंगश्लेष शब्दालंकार ही स्थिर होता है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार अगले अनुच्छेद में प्रकट करते हैं—

अभंगश्लेष की अर्थालंकारता

अनुवाद—कहते हैं कि यहाँ (काव्य में) गुण, दोष और अलङ्कारों का शब्दगत और अर्थगत रूप में जो विभाग होता है, अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ही उसकी व्यवस्था होती है; क्योंकि कष्टत्व आदि दोष, गाढ़बन्धत्व आदि गुण तथा अनुप्रासादि अलङ्कार शब्द के भाव (सत्ता-अन्वय) और अभाव (व्यतिरेक) का अनुगमन करने के कारण शब्दगत माने जाते हैं और इसी प्रकार व्यर्थत्व आदि दोष, प्रौढ़ि आदि गुण, उपमा आदि अलङ्कार अर्थ के भाव (सत्ता) अन्वय और अर्थ के अभाव (तदभाव-व्यतिरेक) का अनुगमन करने के कारण अर्थगत होते हैं, इस प्रकार की व्यवस्था की जाती है।

विमर्श—आचार्य मम्मट का कथन है कि अलंकारशास्त्र में दोष, गुण और अलंकारों के शब्दगत और अर्थगत रूप में विभाजन की जो व्यवस्था है वह अन्वय-व्यतिरेक के कारण ही है अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक के कारण ही दोष, गुण और अलंकारों की शब्दगतता और अर्थगतता का विभाग होता है। जैसे श्रुतिकटुत्व आदि शब्द दोष, गाढ़त्व आदि वामनोक्त दस शब्द गुण और अनुप्रास आदि अलंकार ये उन-उन शब्दों के होने पर ही रहते हैं और उन शब्दों का परिवर्तन कर उनके स्थान पर किसी दूसरे पर्यायवाची शब्द को रख देने पर नहीं रहते हैं, इसलिए ये शब्दगत कहे जाते हैं अर्थात् शब्दगुण, शब्ददोष और शब्दालंकार कहे जाते हैं। इसी प्रकार अपुष्टार्थत्व आदि अर्थदोष, प्रौढ़ि आदि वामनोक्त दस अर्थगुण और उपमा आदि अलंकार आदि

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता।
इत्यभङ्गः।
प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥३७७॥
इति सभङ्गः।

इति द्वावपि शब्दैकसमाश्रयाविति द्वयोरपि शब्दश्लेषत्वमुपपन्नम्। न त्वाद्यस्यार्थश्लेषत्वम्।

शब्दों का परिवर्त्तन कर उसके स्थान पर उनके पर्यायवाची शब्द को रख देने पर भी वे दोष, गुण, अलंकार रहते हैं। इसलिए वे अर्थदोष, अर्थगुण और अर्थालंकार कहे जाते हैं। इस प्रकार दोष, गुण एवं अलंकारों के शब्दगतता और अर्थगतता का निर्णय अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर ही किया जाता है। इसलिए सभंगश्लेष और अभंग-श्लेष दोनों को शब्दालंकार मानना ही उचित है। क्योंकि दोनों में शब्दपरिवृत्ति की असहनीयता है।

प्रतिहारेन्दुराज ने उभयश्लेष के उदाहरण के रूप में पार्वती वर्णनपरक यह पद्य उद्धृत किया है जिसके पूर्वार्द्ध में 'भास्वत्करविराजिता' में अभंगश्लेष है और उत्तरार्द्ध 'अस्वापफललुब्धोहितप्रदा' में सभंगश्लेष है और पार्वती प्रभातसन्ध्या के समान है, (प्रभातसन्ध्येव), अतः यहाँ उपमा अलंकार है। इसी का वर्णन करते हुए कवि कहता है--

अनुवाद- (पार्वती) स्वयं भी नवपल्लव के समान रक्तवर्ण सूर्य (भास्वत्) की किरणों (कर) से सुशोभित (प्रातःकालीन संध्या के समान) नवपल्लव के समान रक्त वर्ण के चमकते हुए (भास्वत्) हाथों से (कर) सुशोभित है।

यहाँ पूर्वार्द्ध भाग में अभङ्गश्लेष है।

(प्रभातसन्ध्या पक्ष में) अस्वाप-निद्रा का अभाव अर्थात् जागरण का फल प्रातःकालीन सन्ध्या-वन्दन आदि के इच्छुकों को अभीष्ट फल प्रदान करने वाली प्रातःकालीन सन्ध्या के समान (वह पार्वती) स्वाप-सुलभ (सुखेन आप्यते इति स्वापं सुलभं) अस्वाप दुर्लभ फल (मोक्ष) के इच्छुक जनों को अभीष्ट फल प्रदान करने वाली है ॥३७७॥

यहाँ उत्तरार्द्ध में सभङ्गश्लेष है।

ये दोनों ही (सभंग और अभंगश्लेष शब्द के परिवर्त्तन को सहन न करने के कारण) इसलिए दोनों को शब्दश्लेष होना युक्तिसंगत है। आद्य अर्थात् अभंगश्लेष को अर्थश्लेष कहना ठीक नहीं है।

अर्थश्लेषस्य तु स विषयः यत्र शब्दपरिवर्त्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना। यथा—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥३७८॥

न चायमुपमाप्रतिभोत्पत्ति हेतुः श्लेषः, अपितु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरुपमा।

अर्थश्लेष का विषय (उदाहरण) वही हो सकता है, जहाँ शब्द परिवर्त्तन करा देने पर भी श्लेष का खण्डन (श्लेषभंग) नहीं होता। जैसे—

थोड़े से ही उन्नति को प्राप्त होते हैं अर्थात् थोड़े से ही ऊपर उठ जाते हैं और थोड़े से ही अधोगति को प्राप्त होते हैं। अर्थात् नीचे की ओर झुक जाते हैं। अहो आश्चर्य है; तराजू की डण्डी (डाँड़ी) और दुष्ट व्यक्ति की वृत्ति एक समान होती है ॥३७८॥

विमर्श---मम्मट ने श्लेष का उदाहरण 'स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता' प्रभातसन्ध्येवास्वापकफललुब्धेहितप्रदा'' दिया है। इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'भास्वत्कर' में अभंगश्लेष है और उत्तरार्द्ध में 'अस्वाप' में सभंगश्लेष है। यहाँ पर उत्तरार्द्ध के समान पूर्वार्द्ध में भी अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा 'भास्वत्' तथा 'कर' पद के रहने पर श्लेष रहता है और 'भास्वत्' पद के स्थान पर उसका पर्यायवाची 'सूर्य' शब्द रख देने पर तथा 'कर' शब्द के स्थान पर 'हस्त' या 'किरण' शब्द रख देने पर श्लेष नहीं रहता। इस प्रकार शब्द परिवर्त्तन को न सहने के कारण (शब्द परिवृत्यसह होने से) यह शब्दश्लेष ही होगा और उत्तरार्द्ध में 'अस्वाप' पद में तो शब्दश्लेष है ही। इस प्रकार पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों ही शब्दाश्रित होने से दोनों को शब्दश्लेष मानना ही युक्तिसंगत है।

अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार अर्थश्लेष का कोई विषय ही नहीं रहेगा। इस पर कहते हैं कि अर्थश्लेष का विषय वही हो सकता है जहाँ शब्द परिवर्त्तन कर देने पर भी श्लेषभंग नहीं होता। जैसे 'स्तोकेनोन्नतिमायातीत्यादि' उदाहरण में 'स्तोकेनोन्नतिम्' के स्थान पर यदि 'अल्पेनोद्रेकम्' रख देने पर भी दो अर्थ निकलते हैं, अतः यहाँ श्लेषभंग नहीं होता। इस प्रकार यहाँ पर श्लेष के शब्दपरिवृत्ति-सह होने से यह श्लेष अर्थ पर आश्रित होने से अर्थालंकार है।

श्लेष की अन्य अलंकारों की बाधकता

मम्मट 'अभंगश्लेष अर्थालंकार है' इस अंश की व्याख्या यहाँ तक कर चुके

तथाहि- यथा 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत् कचतितराम्'
इत्यादौ गुणसाम्ये क्रियासाम्ये उभयसाम्ये वा उपमा। तथा—
सकलकलं पुनरेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव।
इत्यादौ शब्दमात्रसाम्येऽपि सा युक्तैव। तथा ह्युक्तं रुद्रटेन—

हैं। मम्मट के मतानुसार श्लेष वहीं पर अर्थालंकार होता है जहाँ पर शब्द का परिवर्तन कर देने पर भी श्लेषत्व की हानि नहीं होती। अन्य स्थलों पर अभंगश्लेष शब्दालंकार ही होता है। अब अलंकारसर्वस्वकार के द्वितीय विचारणीय अंश का विवेचन यहाँ करते हैं। अलंकारसर्वस्वकार के अनुसार श्लेष के साथ जहाँ पर उपमा आदि अलंकार आते हैं वहाँ श्लेष उपमा आदि अलंकारों का बाधक होता है और वहाँ उपमा आदि अलंकारों का प्रतिभासमात्र होता है अर्थात् वहाँ पर मुख्य अलंकार श्लेष होता है और वह उपमा आदि अन्य अलंकारों का प्रतिभासमात्र का हेतु होता है। जैसे— 'स्वयं च पल्लवाताम्र' इत्यादि उदाहरण में रुय्यक श्लेष को मुख्य अलंकार मानते हैं और उपमा को केवल प्रतिभासमात्र माना जाता है। उनका यह तर्क है कि यदि श्लेष के साथ अन्य अलंकारों की मुख्यता मान लेते हैं तो श्लेष के लिए कहीं अवसर ही नहीं मिलेगा; क्योंकि श्लेष के साथ किसी न किसी अलंकार की स्थिति अवश्य रहती है।

रुय्यक की उक्त विचारधारा का खण्डन करते हुए मम्मट कहते हैं कि 'स्वयं च पल्लवाताम्र'? इत्यादि उदाहरण में उपमा ही प्रमुख अलंकार है, श्लेष का तो केवल प्रतिभासमात्र है। मम्मट का कहना है कि अन्य अलंकारों के बिना भी श्लेष अलंकार की स्वतन्त्र स्थिति होती है। जैसा कि 'देवत्वमेव पातालं' इत्यादि उदाहरण में श्लेष की स्वतन्त्र स्थिति है। अतः श्लेष के साथ अन्य अलंकार होने पर श्लेष को अन्य अलंकारों का बाधक नहीं माना जा सकता। इसलिए 'स्वयं च पल्लवाताम्र' इत्यादि उदाहरण में भी श्लेष को उपमा का बाधक नहीं माना जा सकता? इसी बात को ग्रन्थकार कहते हैं—

अनुवाद—और यह श्लेष उपमा के प्रतिभासमात्र का हेतु नहीं है, अपितु उपमा ही श्लेष के प्रतिभास मात्र का हेतु है।

क्योंकि जिस प्रकार 'कमल के समान सुन्दर यह मुख अत्यन्त शोभित हो रहा है' इत्यादि उदाहरण में गुण-साम्य, क्रिया-साम्य और उभय-साम्य के कारण उपमा होती है, उसी प्रकार 'कलकल (कोलाहल) से युक्त यह नगर इस समय सकलकल सम्पूर्ण कलाओं से युक्त चन्द्र-मण्डल के समान हो गया है'' इत्यादि उदाहरण में शब्द मात्र के साम्य (समानता) होने पर भी उपमा उचित ही है। जैसा कि रुद्रट ने कहा है—

"स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ किन्तु ।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि सम्भवतः ।। इति ।

न च 'कमलमिव मुखम्' इत्यादिः, साधारण धर्मशून्यउपमाविषय इति वक्तुं न युक्तम्, पूर्णोपमाया निर्विषयत्वापत्तेः ।

"यद्यपि ये उपमा और समुच्चय दोनों ही निश्चित रूप से अर्थालङ्कार हैं, किन्तु शब्दमात्र की समानता का आश्रय लेकर यहाँ भी (शब्दालङ्कारों में भी) हो सकते हैं ।"

विमर्श—ग्रन्थकार का यहाँ यह कथन है कि अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक 'स्वयं च पल्लवाताम्र' इत्यादि उदाहरण में श्लेष को प्रधान अलंकार मानते हैं और वह उपमा के प्रतिभासमात्र का हेतु नहीं है बल्कि यहाँ पर उपमा ही प्रधान अलंकार है और वह श्लेष के प्रतिभासमात्र का हेतु है । क्योंकि जिस प्रकार 'कमलमिव मनोज्ञं मुखम्' इत्यादि उदाहरण में कमल और मुख में मनोज्ञत्वरूप गुण-साम्य में तथा 'रुचति' में दीप्त रूप क्रिया के साम्य में अथवा दोनों के साम्य में उपमा अलंकार है । उसी प्रकार 'सकलकलं' इत्यादि उदाहरण में 'चन्द्रमा' और नगर में 'सकलकत्व' (कोलाहल) रूप शब्द-साम्य में भी उपमा हो सकती है । क्योंकि उपमा के लक्षण में साम्यमात्र का ही निर्देश है और ऐसा निर्देश नहीं है कि शब्दसाम्य में उपमा नहीं हो सकती । इस प्रकार 'सकलकलं' इत्यादि तथा 'स्वयं च पल्लवाताम्र' इत्यादि उदाहरणों में शब्दसाम्य में उपमा हो सकती है, अतः उक्त उदाहरणों में उपमा ही मुख्य अलंकार है और श्लेष के प्रतिभासमात्र का हेतु है । इस प्रकार अपने मत के समर्थन में रुद्रट के मत को उद्धृत करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जैसा कि रुद्रट ने कहा है कि उपमा और समुच्चय ये दोनों निश्चित रूप से अलंकार हैं, किन्तु शब्दमात्र के साम्य के द्वारा शब्दालंकार में भी हो सकते हैं । इस प्रकार 'स्वयं च पल्लवाताम्र' इत्यादि तथा 'सकलकलम्' इत्यादि उदाहरणों में शब्द-साम्य में उपमा मानने में कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता ।

अब प्रश्न यह है कि उपमा आदि से असंकीर्ण (भिन्न) श्लेष का विषय नहीं होता किन्तु उपमा आदि श्लेष के बिना भी संभव हैं अतः श्लेष अपने विषय में उपमा आदि का बाधक है और जहाँ पर साधारण धर्म का उपादान नहीं रहता, वहाँ श्लेष न होने से उपमा ही अलंकार होता है, इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं—

अनुवा—दऔर 'मुख कमल के समान है' इत्यादि साधारण धर्म से रहित उपमा का विषय होता है, यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि पूर्णोपमा निर्विषय हो जायगी ।

विमर्श--अलंकारसर्वस्वकार शब्दमात्र के साम्य में उपमा नहीं मानते, इसलिए वे साधारण धर्म से रहित उदाहरणों को उपमा का विषय मानते हैं, किन्तु रुय्यक का

देव त्वमेव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम् ।

त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयात्मकः ॥३७९॥

इत्यादिः श्लेषस्य चोपमाद्यलङ्कारविविक्तोऽस्ति विषय इति। द्वयोर्योगे सङ्कर एव ।

उपपत्तिपर्यालोचने तु उपमाया एवायं युक्तो विषयः अन्यथा विषयापहार एवं पूर्णोपमायाः स्यात् ।

यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता; क्योंकि साधारण धर्म से रहित स्थलों को ही यदि उपमा का उदाहरण (विषय) माना जायगा तो पूर्णोपमा सर्वथा निर्विषय हो जायगी, क्योंकि जहाँ साधारण धर्म का प्रयोग होगा वहाँ उपमा नहीं होगी और जहाँ साधारण धर्म का प्रयोग नहीं होगा, वहीं उपमा का विषय होगा।

अलंकारसर्वस्वकार का कथन है कि श्लेष अन्य अलंकारों के बिना नहीं रह सकता और अन्य अलंकार श्लेष के बिना नहीं रह सकते। इसलिए जहाँ श्लेष के साथ अन्य अलंकारों की स्थिति होती है, वहाँ अन्य अलंकारों की अपेक्षा श्लेष की मुख्यता रहती है यदि इन स्थलों पर भी अन्य अलंकारों की प्रमुखता मानेंगे तो श्लेष के लिए कोई अवसर ही नहीं रहेगा, अतः ऐसे स्थलों पर श्लेष अन्य अलंकारों का बाधक होता है, इस मत का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

अनुवाद—हे (विष्णु) देव! आप ही पाताल (पाताल लोक तथा संसार के (रक्षक—पाता + अलं) हैं, आप ही आशाओं के केन्द्र (और दिशाओं के व्यवहार केन्द्र भूलोक हैं, और आप ही देवताओं और मरुगणों के निवास स्थान (स्वर्लोक अथवा चँवर के वायु का संचन करने वाले हैं, अतः आप अकेले ही त्रिलोक रूप हैं।

इत्यादि उपमा आदि अलङ्कारों से रहित श्लेष का स्वतन्त्र उदाहरण है। दोनों का योग होने पर सङ्कर ही होगा।

यदि तर्कपूर्वक विचार किया जाय तो यह उपमा का ही उचित उदाहरण है। अन्यथा पूर्णोपमा का विषय ही समाप्त हो जायगा।

विमर्श—मम्मट ने श्लेष अलंकार का यह स्वतन्त्र उदाहरण दिया है। 'देवत्वमेव पातालम्' इत्यादि। यह शुद्ध श्लेष का उदाहरण है। इस उदाहरण का अर्थ निम्न प्रकार है—

- (विष्णु पक्ष में)— हे देव! (विष्णु) आप ही पाताल लोक हैं (पातालम्) आप ही दिशाओं के नियामक भूलोक हैं (आशानां निबन्धनम्) और आप ही

देतताओं और मरुगणों के आवासभूमि स्वर्लोक हैं, इस प्रकार आप ही तीनों लोक रूप हैं।

(राजपक्ष में)– हे देव (राजन्) आप ही एकमात्र पालक रक्षक हैं (पाता—पालकः रक्षकः+अलम्), आप ही आशाओं (अभिलाषाओं) के निर्वाहक हैं और आप ही चँवरों की हवा के भाजन हैं, इस प्रकार हे महाराज! आप ही अकेले लोक के रक्षक, दाता और सुखी हैं।

जहाँ पर एकार्थ के नियामक प्रकरणादि का अभाव होता है वहाँ दोनों अर्थ वाच्यार्थ होते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में प्रकरणादि के नियामक न होने से दोनों अर्थ वाच्य हैं, अतः यहाँ श्लेष अलंकार का विषय है। यहाँ न तो उपमा की सम्भावना है और न तुल्ययोगिता की, और न किसी अन्य अलंकार की। इस प्रकार यह शुद्ध श्लेष अलंकार का उदाहरण है।

इस प्रकार ऐसा नहीं कहा जा सकता कि श्लेष सदा अन्य अलंकारों से संकीर्ण रहता है। **'येन ध्वस्तमनोभवेन'** इत्यादि उदाहरणों से स्पष्ट है कि श्लेष का क्षेत्र उपमा आदि अन्य अलंकारों से सर्वथा विविक्त होता है। इसलिए 'स्वयं च पल्लवाताम्र' इत्यादि उदाहरण में श्लेष के उपमा का निर्वाहक (अंग) होने से उपमा की ही प्रधानता है। प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के अनुसार उपमा के निर्वाहक श्लेष की पृथक् गणना करने पर पूर्णोपमा का क्षेत्र ही लुप्त हो जायगा, अतः उक्त उदाहरण में उपमा ही स्वीकार करना चाहिए, श्लेष तो प्रतिभासमात्र होता है। इस प्रकार 'देव त्वमेव पातालम्' तथा 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादि उदाहरणों में अन्य अलंकारों का अभाव होने से श्लेष अलंकार का विषय सिद्ध होता है। इस प्रकार श्लेष का क्षेत्र उपमा आदि अलंकारों से विविक्त होता है। इस प्रकार दोनों के विविक्त विषय होने से बाध्य-बाधक भाव न होकर दोनों का योग होने पर संकर अलंकार होता है। किन्तु मम्मट इसे उपमा का ही उदाहरण मानते हैं। उनका कहना है कि **'स्वयं पल्लवाताम्र'** इत्यादि उदाहरण में श्लेष केवल **भास्वत्करविराजित'** रूप साधारण धर्म का बोध कराता है, यदि साधारण धर्म की प्रतीति कराने के कारण आप यदि श्लेष की प्रधानता स्वीकार करते हैं तो ऐसे स्थलों पर सर्वत्र श्लेष ही प्रधान होगा और पूर्णोपमा का विषय ही समाप्त हो जायगा. इसलिए यहाँ उपमा को ही प्रधान अलंकार मानना चाहिए।

विरोधाभास-श्लेष-बाधक

अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने श्लेषालंकार को विरोधाभास का बाधक माना है। उनका कहना है कि जहाँ पर श्लेष अलंकार के साथ विरोधाभास की स्थिति पायी जाती है वहाँ श्लेषालंकार की प्रधानता होती है और श्लेष विरोधाभास का बाधक होता है तथा विरोधाभास का प्रतिभासमात्र होता है और श्लेष विरोधाभास के प्रतिभास का हेतु होता है। इस मत का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

न च—

'अबिन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यबिन्दुका'

इत्यादौ विरोधप्रतिभोत्पत्ति हेतुः श्लेषः, अपितु श्लेषप्रतिभोत्पत्ति-हेतुर्विरोधः। नह्यत्रार्थद्वयप्रतिपादकः शब्दश्लेषः द्वितीयार्थस्य प्रतिभासमात्रस्य प्ररोहाभावात्।

न च विरोधाभास इव विरोधः, श्लेषाभासः श्लेषः।

अनुवाद—और जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान सुन्दरी से (अथवा सुन्दरी के मुख से) लावण्य (सौन्दर्य) की बूँदें निरन्तर टपकती रही हैं।

इत्यादि उदाहरण में श्लेष विरोधाभास के प्रति भासमात्र की उत्पत्ति का हेतु नहीं है, बल्कि विरोधाभास ही श्लेष के प्रतिभास की उत्पत्ति का हेतु है; क्योंकि यहाँ अर्थद्वय का प्रतिपादक शब्दश्लेष नहीं है, द्वितीय अर्थ का प्रतिभासमात्र होता है, उसका प्ररोह नहीं होता।

और ऐसा भी नहीं कि जिस प्रकार विरोध का आभास विरोधालङ्कार है, उसी प्रकार श्लेष का आभास श्लेषाभास है।

विमर्श—आचार्य मम्मट का कथन है कि 'अबिन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्य-बिन्दुका' अर्थात् जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान सुन्दरी से निरन्तर सौन्दर्य की बूँदें टपकती रहती हैं, इस उदाहरण में अबिन्दु (बिन्दु-रहित) सुन्दरी लावण्यबिन्दु युक्ता कैसे हो सकती है? भाव यह कि अबिन्दु (बिन्दु-रहित) से लावण्य-बिन्दु कैसे प्रवाहित हो सकता है? यह विरोध प्रतीत होता है। किन्तु जब 'अबिन्दुसुन्दरी' का जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान सुन्दरी (अप्सु प्रतिबिम्बितः इन्दुः अबिन्दुः तद्वत् सुन्दरी) अर्थ की प्रतीति हो जाती है तब श्लेष समाप्त हो जाता है। श्लेष का मध्य में केवल आभासमात्र होता है, इस प्रकार श्लेष का प्ररोह न होने से यहाँ श्लेषालंकार नहीं कहा जा सकता।

अब प्रश्न यह है कि इसी प्रकार जब 'अबिन्दुसुन्दरी' का 'जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के समान सुन्दरी' रूप द्वितीय अर्थ की प्रतीति हो जाती है तो विरोध भी समाप्त हो जाता है, तब विरोधाभास अलंकार कैसे माना जा सकता है? इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि विरोध का आभास ही तो विरोध अलंकार होता है। (वास्तविक विरोध नहीं)। वास्तविक विरोध हो तो दोष हो जायगा। किन्तु वास्तविक श्लेष होने पर दोष नहीं श्लेषालंकार होता है और विरोध का आभास होने पर विरोधाभास अलंकार होता है, इस प्रकार श्लेष का आभास श्लेषालंकार नहीं होता। वस्तुतः वास्तविक श्लेष होने पर ही श्लेषालंकार होता है। अतः 'अबिन्दुसुन्दरी' इत्यादि

तदेवमादिषु वाक्येषु श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतुरलङ्कारान्तरमेव । यथा च—

सद्वंशमुक्तामणिः ॥३८०॥

नाल्पः कविरिव स्वल्पश्लोको देव ! महान् भवान् ॥३८१॥

अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।

अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः ॥३८२॥

उदाहरण में श्लेष का आभास होने से श्लेष मुख्य अलंकार नहीं, बल्कि विरोधाभास ही मुख्य अलंकार है ।

अनुवाद इसलिए इस प्रकार के वाक्यों में श्लेष के प्रतिभास की उत्पत्ति का हेतु अन्य अलङ्कार ही होते हैं (क्योंकि चमत्कारक वे अन्य अलङ्कार ही होते हैं, श्लेष चमत्कारक नहीं होता) ।

जैसा कि—

अनुवाद—यह राजा सद्वंश (अच्छे कुल का) मुक्तामणि है ॥३८०॥

विमर्श—इस उदाहरण में 'वंश' शब्द श्लिष्ट है। इसके दो अर्थ होते हैं—कुल और बांस । यहाँ पर श्लेष के कारण कुल पर बाँस का आरोप होने के पश्चात् राजा पर 'मुक्तामणि' का आरोप होता है। इसलिए यहाँ एकदेशविवर्तिरूपक अलङ्कार है । यहाँ पर रूपक श्लेष के प्रतिभास की उत्पत्ति का हेतु है, अतः रूपक प्रधान अलङ्कार है और श्लेष उसका अङ्ग । यहाँ श्लेष स्वतन्त्र अलंकार नहीं है ।

अनुवाद—हे राजन् ! आप छोटे कवि के समान अल्प श्लोक (थोड़े श्लोक (पद्य) रचना करने वाले छोटे कवि के समान स्वल्प श्लोक (यश) वाले नहीं हैं। आप महान् हैं ॥३८१॥

विमर्श—इस उदाहरण में 'श्लोक' पद श्लिष्ट है । इसके दो अर्थ होते हैं—कीर्त्ति (यश) और श्लोक (पद्य) । यहाँ पर श्लेष के द्वारा व्यतिरेक अलङ्कार की प्रतीति होती है कि हे राजन् ! आप थोड़े से श्लोकों की रचना करने वाले छोटे कवि की अपेक्षा अर्थात् उससे बढ़कर अधिक श्लोक (कीर्त्ति) वाले हैं । यहाँ कवि की अपेक्षा राजा का आधिक्य बताया गया है । अतः यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार है । इस प्रकार यहाँ पर श्लेष व्यतिरेक मुख्य अलङ्कार है और श्लेष प्रतिभासमात्र है तथा श्लेष के प्रतिभास की उत्पत्ति का हेतु व्यतिरेक है ।

अनुवाद– सन्ध्या (सन्ध्या का समय तथा सन्ध्या नाम की नायिका) अनुरागवती अनुरागयुक्त (लालिमा युक्त और प्रेम युक्त) है और दिन (दिन रूप नायक) उसके सामने (आगे-आगे) चल रहा है फिर भी दोनों का समागम नहीं होता है, अरे ! दैवगति विचित्र है ॥३८२॥

आदाय चापमचलं कृत्वाऽहीनं गुणं विषमदृष्टिः ।
यश्चित्रमच्युतशरो लक्ष्यमभाङ्क्षीन्नमस्तस्मै ॥३८३॥

इत्यादौ एकदेशविवर्त्तिरूपक-श्लेष-व्यतिरेक-समासोक्ति-विरोधत्वमुचितम् । न तु श्लेषत्वम् ।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में श्लिष्ट (श्लेषपूर्ण) विशेषणों के द्वारा नायक-नायिका के व्यवहार की प्रतीति होने से समासोक्ति अलङ्कार है। अतः यहाँ समासोक्ति अलङ्कार मुख्य है, श्लेष नहीं । श्लेष तो समासोक्ति का निर्वाहक है और समासोक्ति श्लेष के प्रतिभासमात्र की उत्पत्ति का हेतु है ।

अनुवाद--(शिव पक्ष में)—जिस विषम दृष्टि अर्थात् त्रिलोचन शिव ने मन्दराचल रूपी धनुष (चापम्) को लेकर और अहीन (अहि+इन=सर्पों के इन—स्वामी सर्पराज वासुकि) को प्रत्यञ्चा (गुण) बनाकर विष्णु रूप बाण से लक्ष्य (निशाने, त्रिपुरासुर रूप लक्ष्य) का आश्चर्यजनक रूप से भेदन किया, उस शिव को नमस्कार है ॥३८३॥

(धनुर्धर पक्ष में) —जिस विषमदृष्टि (दूषितदृष्टि, लक्ष्य से भ्रष्टदृष्टि) धनुर्धर ने निष्क्रिय धनुष (अचल-निष्क्रिय, धनुष-चाप) को लेकर निकृष्ट या जीर्ण-शीर्ण (हीन—निकृष्ट या जीर्ण) प्रत्यञ्चा (गुण) बनाकर बाण को छोड़े बिना ही (अच्युत=बिना छोड़े शर=बाण) लक्ष्य (सहस्रयोद्धा रूप निशाने) को भेद दिया, उस धनुर्धर को नमस्कार है ॥३८३॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'अचलं, विषमदृष्टिः, अच्युतशरः, 'कृत्वाऽहीन' आदि श्लिष्ट हैं । इनमें प्रत्येक के दो-दो अर्थ होते हैं। जैसे—अचल=मन्दराचल और निष्क्रिय, विषमदृष्टि=त्रिलोचन शिव और दूषित दृष्टि; अच्युतशरः=अच्युत-विष्णु, शर-बाण और अ+च्युत+शरः—बाण को बिना छोड़े ही; कृत्वाऽहीनम्=अहि-सर्प, इन=स्वामी अर्थात् सर्पराजवासुकि तथा सन्धि न होने पर 'हीन=निकृष्ट । इस प्रकार यहाँ पर विरोधाभास अलङ्कार प्रमुख अलङ्कार है श्लेष तो केवल प्रतिभासमात्र है और विरोधाभास श्लेष के प्रतिभास की उत्पत्ति का हेतु है ।

अनुवाद—इस प्रकार उपर्युक्त चारों उदाहरणों में क्रमशः (१) एकदेश-विवर्त्ति रूपक, (२) श्लेषमूलक व्यतिरेक (३) समासोक्ति और (४) विरोध (विरोधाभास) अलङ्कार मानना उचित है, श्लेष नहीं ।

शब्दश्लेष इति चोच्यते, अर्थालङ्कारमध्ये च लक्ष्यते इति कोऽयं नयः ?

किञ्च 'वैचित्र्यमलङ्कारः' इति य एवं कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्तत्रैव विचित्रता इति संवालङ्कारभूमिः ।

अभङ्ग और सभङ्ग दोनों के अर्थालंकारत्व का खण्डन

मम्मट ने अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक के मतानुसार पूर्वपक्ष का जो पहिले प्रतिपादन किया था, उसके तीन अंश थे। उनमें दो अंशों का निराकरण पहिले किया जा चुका है, अब तृतीय अंश अभङ्गश्लेष और सभङ्गश्लेष दोनों के अर्थालङ्कारत्व का खण्डन करने के लिए ग्रन्थकार प्रथम पूर्वपक्ष उपस्थापित करते हैं। अङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक स्वरभेदादि के कारण भिन्न-प्रयत्नोच्चार्य शब्दों का जतुकाष्ठन्याय से होने वाला शब्दश्लेष और स्वरभेदादि के अभाव में अभिन्नप्रयत्नोच्चार्य शब्दों में 'एक वृन्तगतफलद्वयन्याय' से एक शब्द से दो अर्थों के बोधक अर्थश्लेष दोनों को ही अर्थालङ्कार में गिनते हैं। रुय्यक के इस मत का खण्डन करने के लिए ग्रन्थकार अगला अनुच्छेद लिखते हैं—

अनुवाद—(१) शब्दश्लेष को तो नामतः शब्दश्लेष कहते हैं और अर्थालङ्कार के मध्य में गिनते हैं ? यह कौनसा न्याय (सिद्धान्त) है ?

(२) और भी 'वैचित्र्य (विचित्रता चमत्कार) ही अलङ्कार है' इसलिए (शब्द और अर्थ में) जहाँ भी कवि की [प्रतिभा और प्रयत्न (सरम्भ) दिखाई दे, वही विचित्रता है और वही अलङ्कार है। (अतः शब्द वैचित्र्य के कारण शब्दश्लेष को शब्दालङ्कार मानना ही उचित है)।

विमर्श—अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक ने शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का नियामक आश्रयाश्रयिभाव का सिद्धान्त माना है। उनके मतानुसार शब्दश्लेष और अर्थश्लेष दोनों ही अर्थ के आश्रित होते हैं। इसलिए दोनों को ही अर्थालङ्कार मानना चाहिए। इस प्रकार उन्होंने शब्दश्लेष को अर्थश्लेष में ही अन्तर्भाव कर दिया है। (शब्दश्लेषोऽर्थश्लेषश्चेति द्विविधोऽप्यर्थश्लेषः)। इस पर मम्मटाचार्य कहते हैं कि बड़ी विचित्र बात है कि आप कहते तो शब्दालङ्कार हैं और अर्थालङ्कार में गणना करते हैं, यह कौनसा न्याय (सिद्धान्त) है ? और भी एक बात है कि 'विचित्रता' ही अलङ्कार है। जहाँ पर कवि की प्रतिभा और बल (प्रयत्न) का विषय होता है अर्थात् जिस शब्द पर कवि का विशेष बल होता है, उसी में चमत्कार होता है और उस शब्द का परिवर्तन कर देने पर चमत्कार नहीं रहता, अतः वहाँ पर शब्दालङ्कार माना जा सकता है, किन्तु जहाँ पर शब्द का परिवर्तन कर देने पर भी अलङ्कारत्व की क्षति नहीं होती, वहाँ अर्थालङ्कार होता है, क्योंकि वहाँ पर कवि का प्रयत्न अर्थ पर होता है। इसलिए शब्दवैचित्र्य के कारण शब्दश्लेष को शब्दालङ्कार मानना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

अर्थमुखप्रेक्षित्वमेतेषां शब्दानामिति चेत्, अनुप्रासादीनामपि तथैवेति तेऽप्यर्थालङ्कारा: किन्नोच्यन्ते ? रसादिव्यञ्जकस्वरूपवाच्यविशेषसव्यपेक्षत्वेऽपि ह्यनुप्रासादीनामलङ्कारता। शब्दगुणदोषाणामप्यर्थापेक्षयैव गुणदोषता। अर्थगुणदोषाणां शब्दापेक्षयैव व्यवस्थितिरिति तेऽपि शब्दगतत्वेनोच्यन्ताम्।

'विधौ वक्रे मूर्ध्नि' इत्यादौ च वर्णश्लेषे एकप्रयत्नोच्चार्यत्वेऽर्थश्लेषत्वं शब्दभेदेऽपि प्रसज्यतामित्येवमादि स्वयं विचार्यम्।

अलङ्कारसर्वस्वकार का कथन यह है कि श्लेष सर्वदा अर्थमुखापेक्षी होता है; क्योंकि अर्थद्वय की प्रतीति के बिना श्लेष हो ही नहीं सकता और न उनमें विचित्रता ही आ सकती, इसलिए दोनों श्लेष भेदों (सभङ्ग तथा अभङ्ग श्लेष शब्दश्लेष और अर्थश्लेष) को अर्थमुखापेक्षी होने के कारण अर्थालङ्कार में गणना करनी चाहिए। अलङ्कारसर्वस्वकार की इस विचारधारा का खण्डन करते हुए मम्मट कहते हैं—

अनुवाद—यदि इन श्लेषपरक शब्दों का अर्थमुखप्रेक्षितत्व है (और अर्थमुखापेक्षितत्व होने के कारण उन्हें अर्थालङ्कार कहते हैं) तो अनुप्रास आदि अलङ्कार भी अर्थमुखापेक्षी होते हैं, अतः उन्हें भी अर्थालङ्कार क्यों नहीं कहते ? रसादि के व्यञ्जक रूप वाच्य विशेष की अपेक्षा होने पर ही अनुप्रास आदि की अलङ्कारता होती है और शब्दगुण तथा शब्ददोषों की भी गुण-दोषता अर्थमुखापेक्षिणी ही होती है। इसी प्रकार अर्थगुण, अर्थदोष तथा अर्थालङ्कारों को भी शब्द की अपेक्षा रहती है, इसलिए उन्हें भी शब्दगत मानना चाहिए।

'विधौ वक्रे मूर्ध्नि इत्यादि उदाहरण में वर्णों का श्लेष होने पर भी एक प्रयत्नोच्चार्य होने से शब्दभेद होने पर भी अर्थश्लेष होगा, इत्यादि स्वयं विचार करना चाहिए।

विमर्श—मम्मट का कथन है कि यदि आप अर्थमुखापेक्षित्व के कारण श्लेष के दोनों भेदों (शब्दश्लेष और अर्थश्लेष) को अर्थालङ्कार मानते हैं तो अनुप्रास आदि शब्दालङ्कारों के भी अर्थमुखापेक्षित्व होने के कारण उन्हें भी अर्थालङ्कार क्यों नहीं मानते ? क्योंकि अनुप्रास आदि अलंकार रसादि के व्यञ्जक रूप वाच्य अर्थ की अपेक्षा रखते हैं, इसीलिए वे अलङ्कार कहे जाते हैं। तात्पर्य यह कि रस-व्यञ्जक वर्णों का साम्य होने पर ही अनुप्रास अलङ्कार होता है, इसलिए अनुप्रासादि अलङ्कार भी

(सू० १२१) तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता ॥८५॥

सन्निवेशविशेषेण यत्र न्यस्ता वर्णाः खड्गमुरजपद्माद्याकारमुल्लासयन्ति तच्चित्रं काव्यम् । कष्टं काव्यमेतदिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते ।

अर्थमुखापेक्षी हो जाते हैं तो अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों को भी अर्थालङ्कार कहना चाहिए, किन्तु आप (रुय्यक) भी अनुप्रासादि को शब्दालङ्कार ही मानते हैं। इसी आधार पर शब्दश्लेष की अर्थापेक्षिता होने पर भी उसे शब्दालङ्कार मानना चाहिए। इसी प्रकार शब्दगुण और शब्ददोष इसीलिए गुण और दोष माने जाते हैं कि ये भी अर्थ की अपेक्षा रखते हैं तो इन्हें भी अर्थगुण और अर्थदोष क्यों नहीं मान लेते और इसी प्रकार अर्थगुण और अर्थदोष तथा अर्थालङ्कार भी शब्द की अपेक्षा रखते हैं तो इन्हें शब्दगुण, शब्ददोष और शब्दालङ्कार क्यों नहीं मान लिया जाता ? इसलिए आप जो अर्थापेक्षिता के आधार पर श्लेष की गणना अर्थालंकार में करते हैं, वह ठीक नहीं प्रतीत होता।

यदि आप एकप्रयत्नोच्चार्य पदों में एक वृन्तगतफलद्वयन्याय से अर्थों का श्लेष अर्थश्लेष स्वीकार करते हैं तो 'विधौ वक्रे मूर्ध्नि' इत्यादि उदाहरण में (इकार-उकार रूप) वर्णों का श्लेष होने पर भी एकप्रयत्नोच्चार्य होने से (विधि और विधु रूप) शब्दों का भेद होने पर भी अर्थश्लेष होगा। इस प्रकार भट्टोद्भट्ट, रूय्यक आदि के मतों का खण्डन कर मम्मट ने यह सिद्ध किया है कि शब्दपरिवृत्त्यसह होने के कारण अभंगश्लेष (अर्थश्लेष) भी शब्दालंकार है और उपमा आदि अलंकार श्लेष के बाधक होते हैं, श्लेष के प्रतिभासमात्र की उत्पत्ति के हेतु हैं तथा सभंगश्लेष को अर्थालंकार नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार मम्मट के मतानुसार दोनों ही शब्दालंकार हैं।

(५) चित्र अलंकार

अनुवाद (सू० १२१)—चित्र अलंकार वह है जहाँ वर्णों के (विन्यास-रचना में) खड्ग आदि के आकृति (आकार) का कारण होते हैं ॥८५॥

अनुवाद (वृत्ति) सन्निवेश विशेष से जहाँ पर विन्यस्त (रखे गये) वर्ण खड्ग, मुरज, कमल आदि के आकार को प्रकट करते हैं, उसे चित्र काव्य (चित्रालंकार कहते हैं। यह (इस प्रकार का) काव्य क्लिष्ट (कष्ट-साध्य है, अतः दिग्दर्शनमात्र प्रदर्शित करते हैं।

विमर्श— उद्योतकार का कथन है कि उक्त (तच्चित्रमित्यादि) सूत्र अपूर्ण है, उसका उत्तरार्द्ध 'सन्निवेशविशेषेण शक्तिमात्रप्रकाशका:' यह पाठ कहीं मिलता है। इस प्रकार पूरी कारिका इस प्रकार होगी—

"तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता।
सन्निवेशविशेषेण शक्तिमात्रप्रकाशका:॥"

अब प्रश्न यह है कि वर्ण तो अमूर्त्त हैं तो खड्ग आदि के आकार का निर्माण कैसे कर सकते हैं? कहते हैं कि वर्णों को प्रकट करने वाली लिपियों के विशेष प्रकार के सन्निवेश (विन्यास) से खड्ग आदि की आकृति का जो निर्माण होता है, उसे चित्रकाव्य या चित्रालङ्कार कहते हैं। अग्निपुराण में चित्र अलङ्कार का लक्षण निम्न प्रकार दिया है—

गोष्ठ्यां कुतूहलाधायी वाग्बन्धश्चित्रमुच्यते।

अर्थात् गोष्ठी में पढ़ने मात्र से कुतूहल (कौतुक) को उत्पन्न करने वाला कवि का वाग्बन्ध (रचना) चित्र अलङ्कार कहलाता है। किन्तु अग्निपुराण में चित्रा-लङ्कार के अतिरिक्त एक दुष्कर अलंकार माना गया है उसका एक भेद बन्ध है। अग्निपुराण में बन्ध का लक्षण निम्न प्रकार दिया है—

अनेकधावृत्तवर्णविन्यासैः शिल्पकल्पना।
तत्तत्प्रसिद्धवस्तूनां बन्ध इत्यभिधीयते॥

अर्थात् अनेक प्रकार से आवृत्त होने वाले वर्णों का उन-उन प्रसिद्ध वस्तुओं की शिल्प-कल्पना द्वारा विन्यास 'बन्ध' कहा गया है। अथवा अनेक प्रकार के वृत्त (छन्द) तथा वर्णों के विन्यास से उन-उन प्रसिद्ध वस्तुओं की शिल्प-रचना 'बन्ध' है। भाव यह कि वर्णों के विशिष्ट विन्यास के द्वारा वर्ण-शिल्प का निर्माण 'बन्ध' है। इसके गोमूत्रिका, सर्वतोभद्र, कमल, मुरज आदि अनेक भेद होते हैं।

मम्मट ने इसी बन्ध काव्य के आधार पर चित्रालंकार का विवेचन किया है। अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने चित्र का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम्।

मम्मट का चित्रालंकार लक्षण इसी का अनुसरण करता हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि दोनों के लक्षणों में कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। रुद्रट ने इसका विस्तार से विवेचन किया है, किन्तु मम्मट ने दिग्दर्शनमात्र के लिए कुछ ही बन्धों का विवेचन किया है।

उदाहरणम्—

मारारिशक्ररामेभमुखैरासाररंहसा ।
साराख्धस्तवः नित्यं तदार्त्तिहरणक्षमा ।।३८४।।

माता नतानां सङ्घट्ट श्रियां बाधितसम्भ्रमा ।
मान्याथ सीमा रामाणां शं मे दिश्यादुमादिमा ।।३८५।।

(खड्गबन्धः)

---

(१) खड्गबन्ध

अनुवाद—मार-कामदेव के अरि (शत्रु) शिव, इन्द्र, राम तथा गणेश (इभमुख=गजमुख) के द्वारा धारा-प्रवाह (शब्दप्रवाह) से जिसकी स्तुति प्रारम्भ की गई है, उस प्रकार की तथा उन शिव आदि की पीड़ा को हरण करने में समर्थ विनयावनत भक्तजनों की माता, लक्ष्मी (सम्पत्ति, ऐश्वर्य) की सम्मिलन-स्थान, भय का निवारण करने वाली और माननीय नारी-जाति की सीमा (पराकाष्ठा), अनादि (आदिमा) उमा पार्वती मुझे कल्याण प्रदान करें ।।३८४-३८५।।

खड्गबन्ध का आकार—

सरला बहुलारम्भतरलालिबलारवा।
वारला बहुलामन्दकरलाबहु लामला ॥३८६॥
(मुरजबन्धः)

भासते प्रतिभासार रसाभाताहाताविभा।
भावितात्मा शुभा वादे देवाभा बत ते सभा ॥३८७॥
(पद्मबन्धः)

---

(२) मुरजबन्ध

अनुवाद-- सरला अर्थात् मेधावि की कुटिलता से रहित (अथवा कास पुष्प से शोभित (शरं-शरकाण्डं लाति इति शरला = सरला) नाना प्रकार के कार्यों (व्यापारों, भ्रमण, रसपान, गुञ्जन आदि) से चञ्चल भौरों के गुञ्जन से युक्त, बहुत सी हंसिनियों से शोभित (वारलाः हंस्यः बहुला यस्या सा हंसी) कर (टैक्स).ग्रहण करने वाले राजपुरुषों (करला-करं लाति इति) की उद्योगशीलता का कारण, कृष्ण पक्ष की रात में भी (बहुलामलाः—बहुले कृष्णपक्षे अमला निर्मलाः) निर्मल (शरद् ऋतु सुशोभित हो रही है ॥३८६॥

मुरजबन्ध का आकार

(३) कमलबन्ध

अनुवाद—हे प्रतिभासार ! (प्रतिभावान् राजन् !) रसों से सुशोभित (शृंगारादि अथवा प्रीति रूप रसों से शोभित रसाभाता रस + आभाता) अप्रतिहत-अबाध दीप्ति कान्ति वाली (आहत + विभा) आत्मदर्शन (आत्मज्ञान) से विशिष्ट, वाद (तत्त्व कथा) में निपुण (शुभा) आपकी सभा देव-सभा के समान है (देवाभा), यह आश्चर्य है ॥३८७॥

रसासार ! रसा सारसायताक्ष ! क्षतायसा ।
सातावात ! तवातासा रक्षतस्त्वस्त्वतक्षर ।।३८८।।

सम्भावितोऽप्यन्ये प्रभेदाः शक्तिमात्रप्रकाशका न तु काव्यरूपतां दधतीति न प्रदर्श्यन्ते ।।

पद्मबन्ध का आकार
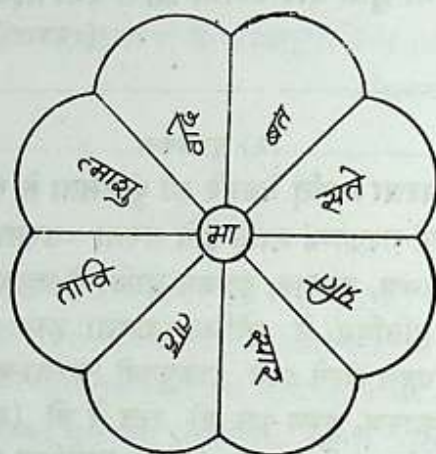
(४) सर्वतोभद्र

अनुवाद—हे पृथ्वी के सर्वश्रेष्ठ ! (रसासार-रसा+पृथ्वी, सार-श्रेष्ठ)। हे कमल के समान विशाल लोचन ! (सारसायताक्ष—सारस इव कमल इव आयते अक्षिणी यस्य तादृशः) हे अज्ञानान्धकार के नाशक ! (साते नाशितं अवातम् अज्ञानं येन तादृशः), हे महादानी (अतक्षम् अनल्पम् राति ददाति इति अतक्षर) राजन् । रक्षा करने वाले (रक्षतः) आपकी यह पृथ्वी (रसा) सदा दुर्जनों के उपद्रव से रहित अथवा दुष्टों का अन्त करने वाली (क्षतायसा-क्षतः नाशितः अयः शुभावहविधिः येषां ते दुर्जनाः तान् स्यति नष्टयतीति अस्तं प्रापयतिवा तादृशी) तथा उपद्रवों अथवा क्षय से रहित (अतासा न विद्यते तास उपक्षयो यस्याः सा) हो जाय ।।३८८।।

सर्वतोभद्र का स्वरूप

र	सा	सा	र	र	सा	सा	र
सा	य	ता	भ	क्ष	ता	य	सा
सा	ता	वा	त	त	वा	ता	सा
र	क्ष	त	स्त्व	स्त्व	त	क्ष	र

(सू० १२२) पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा ।
एकार्थतेव............

भिन्नरूपसार्थकानर्थकशब्दनिष्ठमेकार्थत्वेन मुखे भासनं पुनरुक्तवदाभासः । स च—

(सू० १२३) शब्दस्य

विपरीतक्रम से

र	क्ष	त	स्त्व	स्त्व	त	क्ष	र
सा	ता	वा	त	त	वा	ता	सा
सा	य	ता	क्ष	क्ष	ता	य	सा
र	सा	सा	र	र	सा	सा	र

अनुवाद—इसी प्रकार चित्रालङ्कार के अन्य भेद भी हो सकते हैं। किन्तु ये सब कवियों की शक्ति प्रकाशक होते हैं, चमत्कारजनक न होने से काव्य-स्वरूप के प्रकाशक नहीं हो सकते, इसलिए उन्हें यहाँ प्रदर्शित नहीं किया गया है।

(६) पुनरुक्तवदाभास अलंकार

अनुवाद (सू० १२२)—विभिन्न आकार वाले शब्दों में रहने वाली एकार्थकता (समानार्थकता) का आभास होना 'पुनरुक्तवदाभास' अलङ्कार कहलाता है।

अनुवाद (वृत्ति)—भिन्न-भिन्न रूप वाले सार्थक और निरर्थक शब्दों में (शब्दनिष्ठ) आपाततः एकार्थकता की प्रतीति ही पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। और वह—

अनुवाद (सू० १२३)—शब्द का अर्थात् केवल शब्दगत (शब्द के आश्रित) होता है।

सभङ्गाभङ्गरूपकेवलशब्दनिष्ठः। उदाहरणम्—

अरिवधदेहशरीरः सहसा रथिसूततुरगपादातः।
भाति सदानत्यागः स्थिरतायामवनितलतिलकः॥३८९॥
चकास्त्यनङ्गनारामाः कौतुकानन्दहेतवः।
तस्य राज्ञः सुमनसो विबुधाः पार्श्ववर्त्तिनः॥३९०॥

अनुवाद—वह शब्दगत पुनरुक्तवदाभास सभङ्ग और अभङ्ग रूप केवल शब्दनिष्ठ शब्द के आश्रित होता है। जैसे—

"जो शत्रुविनाशिनी (अरिवधदा) चेष्टा (ईहा-चेष्टा) वाले बाणयुक्त वीरों को प्रेरित करने वाला है (अरिवधदा—शत्रुविनाशिनी, ईहा—चेष्टा येषां ते अरिवधदेहाः ये शरिणः शरयुक्ताः वीराः तान् ईरयति प्रेरयति इति अरिवधदेहशरीरः) और जिसके रथियों के साथ अश्वारोही और पदाति (पैदल सेना) शीघ्र ही सुसम्बद्ध हो गये हैं, (सहसा शीघ्रं रथिभिः सुष्ठु उताः सम्बद्धाः (सु+उताः=सूताः) तुरगाः अश्वाः पदाताः पदातिकाश्चयस्य सः) इस प्रकार का तथा स्थिरता में पर्वत (अगः) सदृश पृथ्वीतल का भूषण रूप राजा सदा विनम्रता (न त्या=नम्रतया) से सुशोभित होता है॥३८९॥

विमर्श—यहाँ पर 'देह-शरीर' सारथि-सूत, और दान-त्याग शब्दों में आपततः पुनरुक्ति सी प्रतीत हो रही है, किन्तु ये शब्द वस्तुतः सभङ्ग हैं अतः पुनरुक्ति नहीं है, इसलिए यहाँ शब्दगत सभङ्ग पुनरुक्तवदाभास है। यहाँ पर देह और शरीर दोनों शब्द सार्थक हैं, सारथि-सूत में पहला शब्द निरर्थक और दूसरा सार्थक है, और दान-त्याग में दोनों शब्द निरर्थक हैं। यहाँ पर शब्दपरिवृत्यसह होने के कारण सभङ्ग शब्दश्लेष शब्दालंकार है।

अनुवाद—उस राजा के रमणियों के साथ विहार करने वाले, नाना प्रकार के कौतुक (कुतूहल) के द्वारा आनन्द के कारण (हेतु), सहृदय (सुमनसः) तथा विशेष विद्वान् (विबुधाः) पार्श्ववर्त्ती लोग सुशोभित हो रहे हैं॥३९०॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'अङ्गना+रामा' 'कौतुक-आनन्द' 'सुमनसो-विबुधाः' आपाततः पुनरुक्त से प्रतीत हो रहे हैं' एकार्थवाची प्रतीत हो रहे हैं, वास्तव में ये पुनरुक्त नहीं हैं, अपितु अभङ्ग शब्द हैं और सभी शब्दपरिवृत्यसह हैं इसलिए यहाँ पर शब्दगत अभङ्ग पुनरुक्तवदाभास अलंकार है।

(सू० १२४) तथा शब्दार्थयोरयम् ॥८६॥

उदाहरणम्—

तनुवपुरजघन्योऽसौ करिकुञ्जररुधिररक्तखरनखरः।
तेजोधाम महाप्रथु मनसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः ॥३९१॥

अत्रैकस्मिन् पदे परिवर्त्तिते नालंकार इति शब्दाश्रयः, अपरस्मिंस्तु परिवर्त्तितेऽपि स न हीयते इत्यर्थनिष्ठः, इत्युभयालंकारोऽयम्।

इति काव्यप्रकाशे शब्दालंकारनिर्णयो नाम नवम उल्लासः समाप्तः ॥९॥

अनुवाद (सू० १२४) और यह (पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार) शब्द और अर्थ दोनों का होता है ॥८६॥

विमर्श—आचार्य उद्भट ने पुनरुक्तवदाभास अलंकार का विवेचन किया है किन्तु यह निर्देश नहीं किया है कि वह शब्दालंकार है, अथवा अर्थालंकार अथवा उभयालंकार। किन्तु मम्मट ने पुनरुक्तवदाभास अलंकार को उभयालंकार माना है। उनका कहना है कि यह पुनरुक्तवदाभास अलंकार शब्द का भी होता है और अर्थ का भी होता है। अर्थात् यह शब्दालंकार भी होता है और अर्थालंकार भी। इस प्रकार यह शब्द और अर्थ पर आश्रित होने के कारण यह उभयालंकार कहलाता है।

उदाहरण, जैसे—

अनुवाद—यह सिंह (हरिः) कृश शरीर होते हुए भी अधिक बलशाली (अज घन्य) है, उत्तम हाथियों के खून से लाल तीक्ष्ण नखों वाला है, तेज का धाम (आधार) है, तेज (प्रताप) के कारण उदार मन वालों का इन्द्र (राजा) है और जयशील अर्थात् सबको पराजित करने वाला (विष्णु) है ॥३९१॥

यहाँ पर (तनु, कुञ्जर, रक्त आदि) कुछ पदों में परिवर्त्तन कर देने पर अलङ्कार नहीं रहता, इसलिए यह शब्दाश्रित है, और (वपु, करि, रुधिर आदि) अन्य पदों में परिवर्त्तन कर देने पर भी अलङ्कारत्व नष्ट नहीं होता, इसलिए यह अर्थनिष्ठ होता है। इस प्रकार (पुनरुक्तवदाभास) उभयालङ्कार कहा जाता है।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। यहाँ पर 'तनु-वपुः' 'करि-कुञ्जर' 'रुधिर-रक्त' 'इन्द्र-हरि-विष्णु' इन शब्दों में आपाततः पुनरुक्ति सी प्रतीति होती है, वास्तव में ये पुनरुक्त नहीं हैं, अपितु पुनरुक्त की तरह आभासित हो रहे हैं, अतः यहाँ पुनरुक्तवदाभास अलंकार है।

इस उदाहरण में 'तनु, कुञ्जर, रक्त, धाम, हरि, जिष्णु' आदि कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनके परिवर्त्तन कर देने पर अलंकारत्व नष्ट हो जाता है, इस प्रकार वे परिवर्त्तन को सहन न करने के कारण शब्द परिवृत्यसह हैं अतः परिवृत्यसह होने से शब्दालङ्कार है। इसी प्रकार वपुः, करि, रुधिर इन्द्र आदि कुछ ऐसे शब्द भी हैं जिनके परिवृत्तंन कर देने पर अलङ्कारत्व की क्षति नहीं होती अर्थात् अलङ्कार बना रहता है। इस प्रकार यहाँ शब्दपरिवृत्ति-सह है, अतः अर्थालङ्कार की स्थिति। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा शब्द और अर्थ पर आश्रित होने के कारण यह पुनरुक्तवदाभास उभयालङ्कार माना जाता है। इसीलिए शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार के मध्य में निरूपण किया गया है।

इस प्रकार डा० पारसनाथद्विवेदिकृत काव्यप्रकाश की हिन्दी व्याख्या में शब्दालङ्कारनिर्णय नामक नवाँ उल्लास समाप्त हुआ।

अथ दशम उल्लासः

[अर्थालङ्कारविवेकः]

अर्थालंकार

अलंकार काव्य का सबसे प्रमुख तत्त्व है। काव्य में शोभाकारक धर्म को अलंकार कहते हैं और वह शोभाकारक धर्म यदि अर्थ को अलंकृत करता है तो उसे अर्थालंकार कहते हैं। अग्निपुराणकार ने अर्थालंकार से रहित कविता को विधवा नारी के समान बताया है (**अर्थालंकाररहिता विधवैव सरस्वती**)। भाव यह कि जिस प्रकार विविध अलंकारों से सुसज्जित होने पर भी विधवा नारी पति रूप भूषण (अलंकार) के बिना मनोहरा (सौभाग्यवती) नहीं होती, उसी प्रकार काव्य सरस्वती (वाग्देवी) शब्दालंकार से भूषित होने पर भी अर्थालंकार से रहित सुशोभित नहीं होती। यदि अर्थ-सौन्दर्य है तभी शब्द-सौन्दर्य भी काव्य को शोभित करता है। यदि अर्थ-सौन्दर्य नहीं है तो शब्द-सौन्दर्य होने पर भी काव्य मनोहर नहीं होता।

मम्मट ने काव्यप्रकाश में ५ शब्दालंकार ६१ अलंकार और १ उभयालंकार कुल ६७ अलंकारों का विवेचन किया है। काव्यप्रकाश में ६१ प्रकार के जो अर्थालंकार वर्णित हैं उनके नाम निम्न प्रकार हैं—

१. उपमा २. अनन्वय ३. उपमेयोपमा ४. उत्प्रेक्षा ५. ससन्देह ६. रूपक ७. अपह्नुति ८. श्लेष, ९. समासोक्ति १०. निदर्शना ११. अप्रस्तुत प्रशंसा १२. अतिशयोक्ति १३. प्रतिवस्तूपमा १४. द्रष्टान्त १५. दीपक १६. तुल्ययोगिता १७. व्यतिरेक १८. आक्षेप १९. विभावना २०. विशेषोक्ति २१. यथासंख्य २२. अर्थान्तरन्यास २३. विरोधाभास २४ स्वभावोक्ति २५. व्याजस्तुति २६. सहोक्ति २७. विनोक्ति २८. परिवृत्ति २९. भाविक ३०. काव्यलिंग ३१. पर्यायोक्ति ३२. उदात्त ३३. समुच्चय ३४. पर्याय ३५. अनुमान ३६. परिकर ३७. व्याजोक्ति ३८. परिसंख्या ३९. कारणमाला, ४०. अन्योन्य ४१. उत्तर ४२. सूक्ष्म ४३. सार ४४. असंगति ४५. समाधि ४६. सम ४७ विषम ४८. अधिक ४९. प्रत्यनीक ५०. मीलित ५१. एकावली ५२. स्मृति ५३. भ्रान्तिमान ५४. प्रतीप ५५. सामान्य ५६. विशेष ५७. तद्गुण ५८. अतदगुण ५९. व्याघात ६०. संसृष्टि ६१. सङ्कर।

अर्थालङ्कारानाह—

(सू० १२५) साधर्म्यमुपमा भेदे

उपमानोपमेययोरेव न तु कार्यकारणादिकयोः साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्ध उपमा।

भेदग्रहणमन्वयव्यवच्छेदाय।

१—उपमा अलंकार

उपमा अलंकार समस्त अलंकारों में प्रधान है यह समस्त सादृश्यमूलक अलंकारों का आधार है, यह वह अलंकार है जो समस्त अलङ्कारों का चूड़ामणि है, कविता-कामिनी का सर्वस्व है (अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्), उपमा अलंकार रूपी वृक्ष का बीज है, यह समस्त वैचित्र्य की जननी है। चित्रमीमांसाकार का कथन है कि उपमा वह नर्त्तकी है जो नाना प्रकार की अलंकार-भूमिका में काव्य-मञ्च पर अवतीर्ण होकर काव्य-रसिकों को आह्लादित करती है—

उपमैषा शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥
(चित्रमीमांसा)

उपमा सादृश्यमूलक अलंकार है, यह उपमा अनेक प्रकार के वैचित्र्य के द्वारा अनेक अलंकारों की बीज रूपा है इसलिए ग्रन्थकार इसका प्रथम निरूपण करते हैं।

अब अर्थालंकारों का विवेचन करते हैं—

अनुवाद (सू० १२५)—(उपमान और उपमेय का) भेद होने पर साधर्म्य (सादृश्य) का कथन उपमा (अलङ्कार) है।

अनुवाद (वृत्ति)—उपमान और उपमेय का ही साधर्म्य होता है, कार्य और कारण आदि का साधर्म्य नहीं होता। इसलिए उन दोनों का ही समान धर्म से सम्बन्ध होना उपमा है। (यहाँ पर लक्षण में) भेद का ग्रहण अनन्वय अलंकार की व्यावृत्ति (पार्थक्य) के लिए है।

विमर्श—उपमा एक सर्वाधिक चमत्कारपूर्ण अलंकार है। यहाँ पर चमत्कार सादृश्य पर आधारित है और सादृश्य दो वस्तुओं (उपमान-उपमेय) में पाया जाता है। इस प्रकार उपमान और उपमेय में समान धर्म के द्वारा सादृश्य का कथन उपमा अलंकार है (**एवं चोपमानोपमेययोः समानेन धर्मेण सादृश्यमुपमा**)। कुछ टीकाकार साधर्म्य को सादृश्य से भिन्न मानते हैं। उनका कथन है कि 'साधर्म्य' और 'सादृश्य' समानार्थक शब्द नहीं, बल्कि भिन्न-भिन्न अभिप्राय रखने वाले शब्द हैं। क्योंकि जब यह कहा जाता है कि यह इसके समान है (**अनेनायं सदृशः**), तो यह प्रश्न होता है

(सू० १२६) पूर्णा लुप्ता च

उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमाप्रतिपादकानामुपादाने पूर्णा। एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे लुप्ता।

कि किन धर्मों के कारण इनमें सादृश्य है ? कहते हैं कि दो वस्तुओं के सादृश्य में साधारण धर्म के कारण होने वाला सम्बन्ध विशेष ही सादृश्य है। **सादृश्यं च साधारणधर्मप्रयोज्यो धर्मविशेषः**) इस प्रकार दो वस्तुओं (उपमान और उपमेय) में साधारण धर्म के कारण जो सादृश्य है, वह एक विशेष धर्म है। अतः दो वस्तुओं में सादृश्य के आधार होने वाला चमत्कार उपमा अलंकार है।

उपमा अलंकार के चार अंग हैं—उपमान, उपमेय, साधारणधर्म और उपमा-वाचक शब्द। इनमें उपमान सादृश्य का प्रतियोगी है और उपमेय अनुयोगी। कुछ आचार्यों के मतानुसार दो सदृश पदार्थों में अधिक गुण वाला पदार्थ उपमान और निकृष्ट गुण वाला पदार्थ उपमेय है। दूसरे आचार्य कहते हैं कि साधारण धर्म-वर्त्ता रूप से प्रसिद्ध पदार्थ उपमान और उस धर्मवर्त्ता से वर्णनीय पदार्थ उपमेय है। उपमान और उपमेय दोनों में रहने वाला धर्म साधारण धर्म है और समानता वाचक इव, यथा आदि शब्द वाचक शब्द हैं जैसे 'कमलमिव मनोज्ञं मुखम्' इस उदाहरण में 'मनोज्ञत्व' रूप साधारण धर्म के द्वारा कमल के साथ मुख की उपमा दी गई है, अतः यहाँ मनोज्ञत्व साधारण धर्म है, कमल उपमान है, मुख उपमेय है और इव वाचक शब्द है, अतः यह उपमालंकार है तथा इन उपमान और उपमेय में समान धर्म के द्वारा सम्बन्ध होगा 'उपमा' अलंकार है।

किन्तु उपमान और उपमेय में भेद होना आवश्यक है। जहाँ पर उपमान और उपमेय एक होंगे, उनमें भेद नहीं होगा, वहाँ उपमालंकार नहीं होगा। जैसे '**राम-रावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव**' इत्यादि में उपमान और उपमेय दोनों एक हैं, उनमें भेद नहीं है। इसलिए यहाँ 'उपमा' नहीं, बल्कि 'अनन्वय' अलंकार है।

उपमा के भेद

अनुवाद (सू० १२६)—(उपमा) पूर्णा तथा लुप्ता (दो प्रकार की होती है।)

अनुवाद (वृत्ति)—उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और उपमावाचक शब्द (इन चारों) का ग्रहण होने पर पूर्णा (पूर्णोपमा) और उन चारों में से एक, दो या तीन का लोप होने पर 'लुप्तोपमा' होती है।

(सू० १२७) ·········साग्रिमा ।

श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा ॥८७॥

अग्रिमा पूर्णा ।

यथेववादिशब्दा यत्परास्तस्यैवोपमानता प्रतीतिरिति यद्यप्युपमान-विशेषणान्येते तथापि शब्दशक्तिमहिम्ना श्रुत्यैव षष्ठीवत् सम्बन्धं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे श्रौती उपमा । तथैव 'तत्र तस्येव' इत्यनेन इवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने ।

'तेन तुल्यं मुखम्' इत्यादावुपमेये एव 'तत्तुल्यमस्य' इत्यादौ चोपमाने एव 'इदं च तच्च तुल्यम्' इत्युभयत्रापि तुल्यादिशब्दानां विश्रान्तिरिति साम्यपर्यालोचनया तुल्यताप्रतीतिरिति साधर्म्यस्यार्थत्वात् तुल्यादिशब्दोपादाने आर्थी । तद्वत् 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इत्यनेन विहितस्य वतेः स्थितौ ।

'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' इति नित्यसमासे इवशब्दयोगे समासगा ।

अनुवाद (सू० १२७) इनमें पहिली (अग्रिमा) अर्थात् पूर्णोपमा श्रौती और आर्थी भेद से दो प्रकार की होती है और उनमें प्रत्येक के वाक्यगत समासगत तथा तद्धितगत (तीन भेद होते हैं ।)

(वृत्ति)—अग्रिमा अर्थात् पूर्णोपमा ।

अनुवाद (वृत्ति) यथा, इव, वा आदि शब्द जिसके बाद प्रयुक्त होते हैं उसी की उपमान रूप से प्रतीति होती है । यद्यपि ये (इवादि शब्द) उपमान के विशेषण होते हैं, फिर भी शब्दशक्ति की महिमा से श्रवणमात्र से ही ये षष्ठी विभक्ति के समान (साधर्म्य) सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हैं । इसलिए उसके प्रयोग होने पर श्रौती उपमा होती है । उसी प्रकार 'तत्र तस्येव' इस सूत्र से 'इव' के अर्थ में विहित वति (वत्) प्रत्यय के ग्रहण होने पर भी (तद्धितगा) श्रौती उपमा होती है ।

'तेन तुल्यं मुखम्' (उस कमल के समान मुख है) इत्यादि में (उपमा वाचक तुल्य शब्द का सम्बन्ध) उपमेय में ही (प्रतीत होता है) और 'तत्तुल्यमस्य' (यह कमल उसके मुख के समान है) इत्यादि में उपमान में ही (प्रतीत होता है) तथा 'इदं च तच्च तुल्यम्' अर्थात् 'यह कमल और वह मुख समान हैं' यहाँ दोनों (उपमान-उपमेय) में ही तुल्य आदि शब्दों की विश्रान्ति होती है, इसलिए साम्य या सादृश्य (साधारण धर्म रूप सम्बन्ध) का अनुसन्धान

कर लेने पर तुल्यता या सादृश्य की प्रतीति होती है। इसलिए यहाँ साधर्म्य अर्थलभ्य (अर्थ से आक्षिप्त) होने से 'तुल्य' आदि शब्दों के ग्रहण होने पर आर्थी उपमा होती है। उसी प्रकार 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्र से विहित वति (वत्) प्रत्यय के प्रयोग में भी (तद्धितगा आर्थी उपमा होती है)।

'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपद प्रकृति स्वरत्वं च'

('इव के साथ नित्य समास, विभक्ति का अलोप और पूर्वपद का प्रकृति-स्वरत्व होता है') इस वार्त्तिक (नियम) के अनुसार नित्य समास होने पर 'इव' शब्द के प्रयोग में समासगा श्रौती उपमा होती है। [और तुल्य आदि शब्दों के प्रयोग में आर्थी समासगा उपमा होती है। अन्य स्थलों पर वाक्य में इव आदि शब्दों के प्रयोग में वाक्यगा श्रौती उपमा तथा तुल्य आदि शब्दों के प्रयोग में वाक्यगा आर्थी उपमा होती है।]

विमर्श – मम्मट ने साधर्म्य में उपमा मानी है। उन्होंने उपमा के दो भेद बताये हैं—पूर्णा और लुप्ता। इनमें पूर्णा उपमा के श्रौती और आर्थी दो भेद होते हैं। इनमें प्रत्येक के तद्धितगा, समासगा और वाक्यगा ये तीन भेद होते हैं; इस प्रकार पूर्णोपमा के छः भेद होते हैं—(१) तद्धितगा श्रौती (२) तद्धितगा आर्थी (३) समासगा श्रौती (४) समासगा आर्थी (५) वाक्यगा श्रौती (६) वाक्यगा आर्थी उपमा। प्रथम श्रौती उपमा का निरूपण करते हुए कहते हैं कि जहाँ पर इव, यथा, वा आदि शब्दों के श्रवणमात्र से ही साधर्म्य (साधारण धर्म) की प्रतीति होती है, उसे श्रौती उपमा कहते हैं—

इसके विपरीत जहाँ तुल्य, सदृश आदि शब्दों के द्वारा आक्षेपलभ्य अर्थ के कारण साधर्म्य की प्रतीति होती है, उसे आर्थी उपमा कहते हैं।

'तत्र तस्येव' इस सूत्र से 'इव' के अर्थ में सप्तम्यन्त तथा षष्ठ्यन्त शब्द से द्रव्य और गुण के साम्य से वति (वत्) प्रत्यय होता है। जैसे 'मथुरायाम् इव' इस सप्तम्यन्त पद से द्रव्य सादृश्य में 'वत्' प्रत्यय होकर 'मथुरावत्' रूप बनता है। इसी प्रकार 'मथुरावत् पाटलिपुत्रस्य विस्तारः' इस उदाहरण में 'मथुराया इव' इस षष्ठ्यन्त पद से विस्तार रूप गुण के सादृश्य में 'वत्' प्रत्यय होकर 'मथुरावत्' रूप बनता है। इस प्रकार 'तत्र तस्येव' इस सूत्र से षष्ठ्यन्त अथवा सप्तम्यन्त पद से द्रव्य और गुण के साम्य में 'वत्' प्रत्यय होने पर 'श्रौती तद्धितगा' उपमा होती है।

इसके विपरीत 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्र से तुल्य (सदृश) अर्थ में तृतीयान्त पद से क्रिया साम्य में 'वति' (वत्) प्रत्यय होने पर तद्धितगा आर्थी उपमा होती है, जैसे 'कमलेन तुल्यं मुखम्' इस उदाहरण में उपमेय में 'कमलं तुल्यं मुखस्य' यहाँ पर उपमान में और 'मुखं च कमलं च तुल्यम्' यहाँ पर दोनों में अर्थात् उपमान

क्रमेणोदाहरणम्—

स्वप्नेषु समरेऽपि त्वां विजयश्रीर्न मुञ्चति।
प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा ॥३९२॥

और उपमेय दोनों में सादृश्य की प्रतीति हो सकती है, किन्तु धर्म विशेष के बिना साहश्य अनुपपन्न है, इसलिए साधारण धर्म सम्बन्ध (साधर्म्य) का आक्षेप होता है, इसलिए यहां आर्थी उपमा है।

इसी प्रकार समास में इव शब्द का प्रयोग होने पर समासगा श्रौती उपमा और सदृश आदि शब्दों का प्रयोग होने पर आर्थी उपमा होती है। 'सह सुपा' इस पाणिनि-सूत्र के भाष्य में कात्यायनकृत 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' अर्थात् इव के साथ समास होने पर विभक्ति का अलोप होता है और पूर्वपद का प्रकृतिस्वर होता है' इस वार्तिक के अनुसार समास में इव शब्द का प्रयोग होने पर समासगा श्रौती उपमा होती है। जैसे 'जीमूतस्येव' इस उदाहरण में इव के साथ नित्य समास और विभक्ति का अलोप होने से समासगा श्रौती उपमा है। इसके अतिरिक्त सदृश आदि शब्दों के साथ समास होने पर समासगा आर्थी उपमा होती है। जैसे 'सुरतरुसदृशः' इसमें उपमान और उपमावाचक पदों का समास होने से समासगा आर्थी उपमा है।

इसी प्रकार वाक्य में इव आदि शब्दों का प्रयोग होने पर वाक्यगा श्रौती उपमा होती है और तुल्य, सदृश आदि शब्दों का प्रयोग होने पर वाक्यगा आर्थी उपमा होती है। क्रमशः उदाहरण देते हैं—

(१) वाक्यगा श्रौती उपमा का उदाहरण

अनुवाद—हे राजन्! स्वाधीनपतिका नायिका के समान विजयश्री युद्ध में प्रभुशक्तिसम्पन्न आपको स्वप्न में भी नहीं छोड़ती ॥३९२॥

विमर्श—यह वाक्यगा श्रौती उपमा का उदाहरण है। यहाँ पर 'स्वाधीन-पतिका' उपमान है, 'विजयश्री' 'उपमेय है, 'न मुञ्चति' अर्थात् अपरित्यागरूप साधारण धर्म है और 'यथा' शब्द वाचक शब्द है। इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में उपमा के चारों अवयव विद्यमान हैं, इसलिए यहाँ पूर्णोपमा है। यहाँ पर यथा शब्द के साथ समास नहीं होता, क्योंकि 'यथाऽसादृश्ये' इस सूत्र के अनुसार असदृश अर्थ में समास होता है। सदृश्य अर्थवाची यथाशब्द के साथ समास नहीं होगा, अतः यहाँ वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा का उदाहरण है।

चकितहरिणलोललोचनाया क्रुधि तरुणारुणतारहारिकान्ति ।
सरसिजमिदमाननं च तस्याः सममिति चेतसि सम्मदं विधत्ते ॥३९३॥

अत्यायतैर्नियमकारिभिरुद्धतानां
दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरुपायैः ।
शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो,
लक्ष्मीविलासभवनैर्भुवनं बभार ॥३९४॥

---

(२) वाक्यगा आर्थी उपमा का उदाहरण

अनुवाद चकित हरिणी के समान चञ्चल नेत्र वाली उस नायिका का क्रोध में तरुण-अरुण (सूर्य-सारथि) के समान मनोहर कान्ति वाला यह मुख और यह कमल दोनों समान हो रहे हैं। इसलिए चित्त में आनन्द उत्पन्न करता है ॥३९३॥

विमर्श—यह श्लोक वाक्यगा आर्थी उपमा का उदाहरण है। यहाँ पर 'आनन' उपमेय है, सरसिज उपमान है, अरुण के समान कान्तिमत्ता साधारण धर्म है और 'समम्' यह उपमावाचक शब्द है। यहाँ पर उपमा के चारों अवयव विद्यमान हैं, इसलिए यहाँ पूर्णोपमा है और यहाँ पर 'समम्' पद के साथ समास न होने से यह वाक्यगा पूर्णोपमा का उदाहरण है।

(३) समासगा श्रौती उपमा का उदाहरण

अनुवाद—जो राजा भगवान् विष्णु की (शूरस्यापत्यं शौरिः कृष्णः) अत्यन्त विशाल, दानवों का नियमन (दमन) करने वाली दिव्य कान्ति से युक्त अपाय रहित लक्ष्मी के विलास की एकमात्र आश्रय चारों भुजाओं के समान अत्यायत (परिणाम में विशुद्ध) उद्धत शत्रुओं के नियन्त्रण में समर्थ, उत्कृष्ट प्रभावों से युक्त, सदा सफल होने वाले, राज्यलक्ष्मी के आश्रयभूत साम, दाम, दण्ड, भेद इन चार उपायों से सदा संसार का पालन करता था ॥३९४॥

विमर्श—यह श्लोक समासगा श्रौती उपमा का उदाहरण है। यहाँ पर 'भुजैः' पद उपमान है, उपाय उपमेय है, आयतत्त्व आदि साधारण धर्म हैं तथा इव उपमा वाचक शब्द है। यहाँ 'भुजैरिव' इस पद में 'इवेन समासो विभक्त्यलोपः' इस वार्तिक (नियम) से समास और विभक्ति का अलोप होने से समासगा श्रौती पूर्णोपमा है।

अवितथमनोरथपथप्रथनेषु प्रगुणगरिमगीतश्रीः।
सुरतरुसदृशः सः भवानभिलषणीयः क्षितीश्वर ! न कस्य ॥३९५॥

गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गङ्गाभुजङ्गवत्।
दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत् ॥३९६॥

---

(४) समासगा आर्थी उपमा का उदाहरण

अनुवाद—अव्यर्थ अर्थात् प्रजाओं के सफल मनोरथों के मार्ग के विस्तार में प्रकृष्ट गुणों की गरिमा के कारण प्रसिद्ध समृद्धि वाले कल्पवृक्ष के समान हे राजन्! आप किसकी अभिलाषा के विषय नहीं हैं? ॥३९५॥

विमर्श— यह समासगा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण है। यहाँ पर 'सुरतरु' उपमान है, क्षितीश्वर उपमेय 'प्रगुणगरिमश्रीत्व' साधारण धर्म और सदृश उपमावाचक शब्द है। यहाँ पर 'सुरतरु-सदृश' में उपमान सुरतरु और उपमेय सदृश पदों में समास होने से समासगा आर्थी पूर्णोपमा है।

(५-६) तद्धितगा श्रौती और आर्थी उपमा का उदाहरण

अनुवाद—उस राजा की गम्भीरता की गरिमा सचमुच गङ्गा के उपपति समुद्र के समान (गङ्गाभुजङ्गवत्) है और युद्धभूमि में वह ग्रीष्म-कालीन (निदाघ) सूर्य के समान (अम्बर-रत्नवत्=आकाश के मणि सूर्य के समान) दुरालोक अर्थात् कष्ट से दर्शनीय है ॥३९६॥

विमर्श— इस श्लोक में पूर्वार्द्ध में तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमा है। यहाँ पर 'गंगाभुजंग' उपमान 'तस्य' उपमेय 'गाम्भीर्य-गरिमा' साधारण धर्म और इव के अर्थ में 'वत्' प्रत्यय वाचक शब्द हैं। यहाँ 'गंगाभुजंगवत्' में 'गंगाभुजंगस्य इव' इस विग्रह में 'तत्र तस्येव' इस सूत्र से षष्ठ्यन्त गंगाभुजंगस्य पद से 'इव' के अर्थ में वति (वत्) प्रत्यय होने से यह तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमा का उदाहरण है।

इसी प्रकार श्लोक के उत्तरार्द्ध में तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा है। यहाँ पर 'निदाघाम्बररत्न' उपमान है, 'सः' उपमेय है, 'दुरालोक' साधारण धर्म है और तुल्य के अर्थ में 'वत्' प्रत्यय उपमावाचक शब्द है। इस प्रकार निदाघाम्बररत्नवत् पद में 'निदाघाम्बररत्नेन तुल्यम् इति विग्रह' में तृतीयान्त 'निदाम्बररत्नेन' पद से 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्र से वति (वत्) प्रत्यय होने से यह उत्तरार्द्ध तद्धितगा पूर्णोपमा का उदाहरण है।

स्वाधीनपतिका कान्तं भजमाना यथा लोकोत्तरचमत्कारम्ः; तथा विजयश्रीस्त्वदासेवनेनेत्यादिना प्रतीयमानेन विना यद्यपि नोक्तेर्वैचित्र्यम्, वैचित्र्यं चालङ्कारः, तथापि न ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारः। न खलु व्यङ्ग्यसंस्पर्शपरामर्शादत्र चारुता-प्रतीतिः; अपि तु वाच्यवैचित्र्यप्रतिभासादेव। रसादिस्तु व्यङ्ग्योऽर्थोऽलङ्कारान्तरं च सर्वत्राव्यभिचारीति अगणयित्वैव तदलङ्कारा उदाहृताः। तद्रहितत्वेन तु उदाह्रियमाणा विरसतामावहन्तीति पूर्वापरविरुद्धाभिधानमिति न चोदनीयम्।

अनुवाद—स्वाधीनपतिका नायिका पति की सेवा करती हुई (पतिपरायणा) जिस प्रकार लोकोत्तर चमत्कार (आनन्द) का अनुभव करती है, उसी प्रकार विजयश्री आपका सेवन करने से (लोकोत्तर आनन्द प्राप्त करती है) इत्यादि प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ के बिना यद्यपि उक्ति में वैचित्र्य (चमत्कार) नहीं आता और उक्ति का वैचित्र्य ही अलङ्कार है तथापि (फिर भी यहाँ) ध्वनि अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्य का व्यवहार नहीं किया जाता। क्योंकि व्यङ्ग्य के संस्पर्शमात्र से यहाँ पर चारुता की प्रतीति नहीं होती, अपितु वाच्य के वैचित्र्य के अनुसन्धान से ही (चारुता की प्रतीति होती है)।

रस-भाव आदि व्यङ्ग्य अर्थ और अन्य अलङ्कार सर्वत्र (सब जगह) नियत (निश्चित) रूप से विद्यमान रहते हैं। इसलिए उनकी उपेक्षा करके ही उन अलङ्कारों के उदाहरण दिये गये हैं। उन रसादि-रहित उदाहरण दिये जाने पर वे सब नीरस हो जायेंगे, इसलिए पूर्वापर विरोध का कथन है, इस प्रकार शंका नहीं करनी चाहिए।

विमर्श—आचार्य मम्मट ने प्रथम उल्लास में 'गुणालङ्कारयुक्तमव्यङ्ग्यं चित्रम्' अर्थात् गुण और अलङ्कार से युक्त व्यङ्ग्य-रहित काव्य को 'चित्रकाव्य' कहा है। चित्रकाव्य के दो भेद हैं—शब्दचित्र और वाच्यचित्र। तत्पश्चात् षष्ठ उल्लास में प्रतिपादित किया है कि ''.........ते चालङ्कार-निर्णये निर्णेष्यन्ते'' अर्थात् उनके भेदों का निरूपण अलङ्कारों के निर्णय के अवसर पर किया जायगा। इस प्रकार यहाँ चित्रकाव्य के भेदों का निरूपण करना चाहिए था, किन्तु उसका निरूपण न करके 'स्वप्नेऽपि' इत्यादि उदाहरण दिया है। जिसे चित्रकाव्य का उदाहरण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस उदाहरण में व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होती है कि 'जिस प्रकार स्वाधीनपतिका नारी अपने पति की सेवा करती हुई, लोकोत्तर आनन्द को प्राप्त करती है उसी प्रकार विजयश्री तुम्हारे सेवन से अलौकिक आनन्द प्राप्त करती है।' इस प्रकार यहाँ व्यङ्ग्यार्थ के प्रधान होने पर ध्वनिकाव्य होगा और व्यङ्ग्यार्थ के गौण होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य होगा। इस प्रकार यहाँ पूर्वापर कथन में विरोध प्रतीत होता है।

इस शङ्का का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि 'स्वाधीनपतिका' इत्यादि उदाहरण में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के कारण चारुता की प्रतीति नहीं होती, बल्कि यहाँ उपमा के वाच्य-वैचित्र्य के कारण चारुता की प्रतीति होती है। इसलिए प्रस्तुत उदाहरण में ध्वनि या गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं कहा जा सकता। अतः यह चित्र-काव्य का उदाहरण है।

अब पुनः शङ्का होती है कि प्रस्तुत उदाहरण में राजादिविषयक रतिभाव (रसादि) की प्रतीति होने के कारण ध्वनिकाव्य कहना चाहिए और यहाँ उपमा अलङ्कार के साथ (प्रभावप्रभवम्) अनुप्रास अलङ्कार भी विद्यमान है। इस प्रकार उपमा और अनुप्रास का संसृष्टि अथवा संकर होगा, उपमा नहीं। इसलिए इसे उपमा का उदाहरण मानना असंगत है, इस प्रकार यहाँ पूर्वापर का विरोध है?

इस शङ्का का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि 'रसादि व्यङ्ग्यार्थ और अन्य अलङ्कार सभी काव्यों में हो सकते हैं, इसलिए 'स्वप्नेऽपि' इत्यादि उदाहरण में राजविषयक रत्यादिभाव यदि स्पष्ट हैं तो ध्वनिकाव्य होगा अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्य होगा। यदि ध्वनिकाव्य अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्य स्पष्ट रूप से नहीं रहेंगे तो चित्रकाव्य होगा। किन्तु यह विवेचन अप्रकृत अप्रासंगिक होने से इसकी उपेक्षा करके प्रकरण के अनुसार केवल उपमा के उदाहरण दिये गये हैं। केवल चित्रकाव्य के उदाहरण ही हों, यह उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यदि रसादि-रहित 'चन्द्रधवलः पटः' इत्यादि केवल उपमा का ही उदाहरण देते तो रसादि रहित होने के कारण उनमें नीरसता आ जाती। झलकीकर आदि आचार्य मम्मट के अभिप्राय की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि उपमादि अलङ्कार वाच्य-वाचक के उत्कर्ष के द्वारा रसादि के उपकारक होने से ही अलङ्कार कहे जाते हैं, नीरस काव्य में तो उक्ति-वैचित्र्य से आपततः केवल चमत्कार होता है, अलंकारत्व नहीं रहता। जैसा कि कहा गया है—

> रसध्वनिर्न यत्रास्ति तत्र वन्ध्यं विभूषणम्।
> मृताया मृगशावाक्ष्याः किं फलं हारसम्पदा॥

भाव यह कि जहाँ पर रसादिध्वनि नहीं होते वहाँ अलंकार नीरस हो जाता है। इसीलिए ध्वनिकार ने कहा है—

> रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
> अलंकृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम्॥
> ध्वन्यात्मभूते शृंगारे समीक्ष्य विनिवेशितः।
> उपमादिरलंकारवर्गं एति यथार्थताम्॥

इस प्रकार यहाँ रस-भावादि रूप व्यङ्ग्य-रहित अलंकार-निरूपण अभिप्रेत नहीं; क्योंकि यदि ऐसा होता तो उपमा का 'गौरिव गवयः' उत्प्रेक्षा का 'नूनं स्थाणुनाऽनेन भाव्यम्' रूपक का 'लोष्ट-पाषाणः' सन्देह का 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादि उदाहरण क्यों नहीं दिये जाते? इस प्रकार यहाँ पूर्वापर विरोध कथन नहीं है।

(सू० १२८) तद्वत् धर्मस्य लोपे स्यात् न श्रौती तद्धिते पुनः ।

धर्मः साधारणः । तद्धिते कल्पबित्यादौ त्वार्थ्येव । तेन पञ्च । उदाहरणम्—

धर्मलुप्तोपमा

अनुवाद (सू० १२८)—उसी प्रकार (पूर्णोपमा के समान ही) धर्म का लोप होने पर 'धर्मलुप्तोपमा' होती है; किन्तु तद्धितगा श्रौती उपमा नहीं होती।

अनुवाद (वृत्ति) – यहाँ धर्म का अभिप्राय 'साधारण धर्म' है। तद्धित में 'कल्पप्' आदि प्रत्ययों में तो 'आर्थी' उपमा ही होती है (तद्धित में श्रौती लुप्तोपमा नहीं होती) इसलिए धर्मलुप्तोपमा पाँच प्रकार की होती है।

विमर्श—पूर्णोपमा के चार अवयव बताये गये हैं—उपमान, उपमेय, साधारण-धर्म और वाचक शब्द। इनमें से एक अथवा किसी दो-तीन का लोप होने पर 'लुप्तोपमा' होती है। साधारण धर्म का लोप होने पर 'धर्मलुप्तोपमा' होती है। धर्मलुप्तोपमा के पाँच भेद होते हैं—

(१) वाक्यगा श्रौती धर्मलुप्ता
(२) वाक्यगा आर्थी धर्मलुप्ता
(३) समासगा श्रौती धर्मलुप्ता
(४) समासगा आर्थी धर्मलुप्ता
(५) तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ता

इसमें 'तद्धितगा श्रौती धर्मलुप्तोपमा' नहीं होती; क्योंकि जब इव के अर्थ में तद्धित प्रत्यय का प्रयोग होता है, तभी श्रौती उपमा होती है। 'तत्र तस्येव' इस सूत्र से 'इव' के अर्थ में वति (वत्) प्रत्यय होने पर ही निश्चित रूप साधारण की आकाङ्क्षा करता है। इस प्रकार साधारण धर्म के अनुपादान में अर्थात् साधारण धर्म के उपादान के विना 'इव' के अर्थ में तद्धित प्रत्यय ही नहीं होता; इसलिए साधारण धर्म के अभाव में तद्धितगा श्रौती धर्मलुप्तोपमा नहीं होगी।

इसी प्रकार 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्र से तुल्यार्थक 'वति' (वत्) प्रत्यय के प्रयोग में तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्तोपमा नहीं हो सकती; क्योंकि तुल्यक्रियारूप साधारण धर्म के उपादान के विना तुल्यार्थ वति प्रत्यय नहीं होता। अपितु कल्पम्, देश्य-देशीयर्, बहुच् आदि तद्धित प्रत्ययों के प्रयोग में होता ही है; क्योंकि तुल्यार्थक वति प्रत्यय क्रियासाम्य की आकाङ्क्षा होने पर ही होता है, साधारण धर्म के अनुपादान में इवार्थक वति-प्रत्यय नहीं होता।

धन्यस्यानन्यसामान्यसौजन्योत्कर्षशालिनः ।
करणीयं वचश्चेतः सत्यं तस्यामृतं यथा ।।३९७।।
आकृष्टकरवालोऽसौ सम्पराये परिभ्रमन् ।
प्रत्यर्थिसेनया दृष्टः कृतान्तेन समः प्रभुः ।।३९८।।

---

(१) वाक्यगा श्रौती धर्मलुप्ता का उदाहरण

अनुवाद—हे चित्त ! असाधारण सौजन्य के उत्कर्ष से युक्त उस महापुरुष (सज्जन) के अमृत के समान वचन का निश्चय ही (सत्यं) पालन करना चाहिए ।।३९७।।

विमर्श—यह श्लोक वाक्यगा श्रौती धर्मलुप्ता का उदाहरण है । यहाँ पर 'अमृत' उपमान है, 'वचन' उपमेय है और 'यथा' उपमावाचक शब्द है । यहाँ ये तीनों तत्त्व विद्यमान हैं, किन्तु अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण 'परिणामसुखकरत्व' रूप साधारण धर्म का उपादान (ग्रहण) नहीं किया गया है, इसलिए यह धर्मलुप्ता का उदाहरण है । यहाँ उपमावाचक 'यथा' शब्द के साथ समास नहीं हुआ है, इसलिए यहाँ वाक्यगा श्रौती धर्मलुप्ता है ।

(२) वाक्यगा आर्थी धर्मलुप्ता का उदाहरण

अनुवाद—तलवार खींचकर वह राजा युद्ध में घूमता हुआ शत्रु सेना के द्वारा यमराज के समान देखा गया ।।३९८।।

विमर्श—यह वाक्यगा आर्थी धर्मलुप्ता का उदाहरण है । यहाँ पर 'यमराज' उपमान, 'राजा' उपमेय और 'समः' उपमावचक शब्द है । उपमा ये तीनों अवयव (उपमान, उपमेय और वाचक शब्द) यहाँ विद्यमान हैं; किन्तु 'क्रूरत्व' साधारण धर्म अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण यहाँ शब्दतः उपात्त नहीं है, इसलिए यहाँ धर्मलुप्ता है। यहाँ पर उपमावाचक 'सम' शब्द का उपमान 'कृतान्त' के साथ समास नहीं हुआ है दूसरे यहाँ तुल्य शब्द का प्रयोग न होकर तुल्यार्थक 'सम' शब्द का प्रयोग है, इसलिए यहाँ वाक्यगा आर्थी धर्मलुप्ता का उदाहरण है ।

कुछ आचार्यों का मत है कि यहाँ पर 'आकृष्टकरवालत्व' को साधारण धर्म क्यों नहीं मान लिया जाता ? इस पर कहते हैं कि 'आकृष्टकरवालत्व' को साधारण धर्म नहीं माना जा सकता; क्योंकि वह यमराज का आयुध नहीं है, अपितु यमराज का आयुध दण्ड माना जाता है । (कालो दण्डधरः) 'दृष्टत्व' को भी साधारण धर्म नहीं माना जाता है; क्योंकि यमराज के अदृष्ट अतीन्द्रिय होने से 'दृष्टत्व' साधारण धर्म नहीं हो सकता ।

करवाल इवाचारस्तस्य वागमृतोपमा।
विषकल्पं मनो वेत्सि यदि जीवसि तत्सखे ? ॥३९९॥

(सू० १२९) उपमानुपादाने वाक्यगाथ समासगा ॥८८॥

---

(३) समासगा श्रौती (४) समासगा आर्थी (५) तद्धितगा
आर्थी उपमा के उदाहरण

अनुवाद—हे मित्र ! उस दुष्ट का आचार तलवार के समान है, वाणी अमृत के समान है और मन विष के समान है, यदि यह सब जान लोगे तो जीवित रहोगे अथवा यदि जीवित रहोगे तो जान लोगे ॥३९९॥

विमर्श—धर्मलुप्ता के पाँच भेद बताये गये हैं जिनमें से दो भेदों के (वाक्यगा श्रौती और आर्थी) उदाहरण अलग-अलग दिये गये हैं। अब तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम तीनों भेदों का एक ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में पूर्वार्द्ध में 'करवाल इवाचारः' में करवाल उपमान, आचार उपमेय और इव वाचक शब्द है; किन्तु घातुकत्व साधारण धर्म का यहाँ ग्रहण नहीं किया है; इसलिए यहाँ धर्मलुप्ता है और यहाँ 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च' इस नियम के अनुसार समास और विभक्ति का अलोप होने से समासगा श्रौती धर्मलुप्ता का उदाहरण है।

प्रस्तुत उदाहरण में पूर्वार्द्ध में 'वागमृतोपमा' में वाग् उपमेय है, अमृत उपमान है और सादृश्यार्थक 'उपमा' वाचक शब्द है; यहाँ 'माधुर्य' साधारण धर्म है किन्तु साधारण धर्म का यहाँ उपादान नहीं है अतः यहाँ धर्मलुप्ता उपमा है। यहाँ पर तुल्यार्थक उपमा शब्द का उपमान 'अमृत' के समास हुआ है। अतः यहाँ समासगा आर्थी धर्मलुप्ता का उदाहरण है।

प्रस्तुत श्लोक के उत्तरार्द्ध में तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ता है। यहाँ पर 'विषकल्पं मनः' में विष उपमान, मन उपमेय और तुल्यार्थक तद्धित 'कल्पप्' प्रत्यय वाचक शब्द है। यहाँ 'नाशकत्व' साधारण है जो शब्दतः उपात्त नहीं है, इसलिए यहाँ धर्मलुप्ता है। यहाँ पर 'विषकल्पं' में 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' इस सूत्र से तुल्य (सादृश्य) अर्थ में 'कल्पप्' प्रत्यय हुआ है। इसलिए यह तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ता का उदाहरण है।

उपमान लुप्ता के भेद

अनुवाद (१२९)—उपमान का अनुपादान होने अर्थात् उपमान का ग्रहण न होने से] उपमान लुप्तोपमा होती है। इसके दो भेद होते हैं—वाक्यगा और समासगा।

सअलकरणपरवीसामसिरिविअरणं ण सरसकव्वस्स ।
दीसइ अह व णिसम्मइ सरिसं अंसंसमत्तेण ।।४००।।
[सकलकरणपरविश्रामश्रीवितरणं न सरसकाव्यस्य ।
दृश्यतेऽथवा निशम्यते सदृशमंशांशमात्रेण ।।४००।।
(इति संस्कृतम्)

'कव्वस' इत्यत्र 'कव्वसमम्' इति, 'सरिसम्' इत्यत्र च 'नूनम्' इति पाठे एषैव समासगा ।

विमर्श—यहाँ उपमान लुप्ता के केवल दो भेद दिखाये गये हैं । इसका कारण यह है कि यहाँ पर उपमा प्रतिपादक 'वति' प्रभृति तद्धित प्रत्यय उपमानवाचक पद से ही विहित किये जाते हैं अतः उपमान के अभाव में ये तद्धित प्रत्यय नहीं हो सकते, इसलिए तद्धितगा उपमानलुप्ता के दोनों भेद नहीं होते ।

इसी प्रकार श्रौती उपमा भी नहीं होती; क्योंकि 'इव' आदि उपमावाचक शब्द उपमान के साथ अन्वित होकर ही अपने अर्थ का बोधक (प्रतिपादक) होते हैं, अतः उपमान के लोप से श्रौती के वाक्यगा और समासगा भेद नहीं होते, इसलिए उपमान लुप्तोपमा के केवल वाक्यगा आर्थी और समासगा आर्थी उपमा दो भेद ही होते हैं । जैसा कि प्रदीपकार ने कहा है—

"अत्र तद्धितगा संभवति, उपमाप्रतिपादकस्य तद्धितस्य वति-कल्पबादेरुपमानादेव विधानेन उपमानानुपादानेऽसंभवात् । नापि श्रौती इवादीनामुपमानमात्रान्विततयैव स्वार्थबोधकत्वनियमेन उपमानानुपादाने तेषामप्यनुपादानात् । अतो वाक्यसमासयोरेव तयोरप्यार्थ्येवेति द्विधैवोपमानलुप्ता उपमेति ।"

उदाहरण, जैसे—

अनुवाद—समस्त इन्द्रियों की परमविश्रान्ति (विषयान्तर-वैमुख्य) तथा उससे उत्पन्न सुख-सम्पत्ति का वितरण सरसकाव्य के सदृश लेशमात्र भी न देखा जाता है और न सुना जाता है ।।४००।।

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ पर 'कव्वस्स' (काव्यस्य) के स्थान पर 'कव्वसमम् (काव्यसम) और 'सरिसं' (सदृश) के स्थान पर 'नूनं' पाठ होने पर यहीं समासगा (उपमानलुप्तोपमा) हो जायगी ।

विमर्श—यहाँ पर वर्णनीय होने से 'काव्य' उपमेय है, 'सकलकरणपरविश्रान्ति-श्रीवितरण' साधारण धर्म है और 'सदृश' आदि उपमावाचक शब्द हैं । यहाँ पर उपमान शब्दतः उपात्त नहीं है और उपमावाचक वाचक सदृश शब्द के साथ 'काव्य' पद का समास नहीं है । इसलिए यह वाक्यगा आर्थी उपमानलुप्ता उपमा का उदाहरण है।

(सू० १३१) वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि .... ॥

'वा' शब्दः उपमाद्योतक इति वादेरुपमाप्रतिपादकस्य लोपे षट्। समासेन, कर्मणोऽधिकरणाच्चोत्पन्नेन क्यचा, कर्त्तुः क्यङा, कर्मकर्त्रोरुपपदयोर्णमुला च भवेत्।

यहाँ पर यदि काव्यस्य के स्थान पर 'काव्यसमम्' पाठ कर दिया जाता है तो तुल्यार्थक 'सम' शब्द के साथ काव्यशब्द का समास होने से तथा 'सरिसं' के स्थान पर 'नूनम्' पाठ कर देने पर इसका अर्थ होगा—'सरस काव्य के समान समस्त इन्द्रियों को परमविश्रान्ति श्री देने वाली कोई वस्तु न देखी गई और न सुनी गयी' यहाँ पर काव्य उपमेय है, सकलेन्द्रियपरमविश्रान्तिश्रीसम्पत्तिदायकत्व रूप साधारण धर्म है, तुल्यार्थक सम पद उपमावाचक शब्द है। इस उपमावाचक शब्द 'सम' का 'काव्य' पद के साथ समास हो गया है तथा उपमान का लोप है अतः यह समासगा आर्थी उपमानलुप्ता उपमा का उदाहरण है।

वाचकलुप्ता के भेद

अनुवाद—'वा' आदि (उपमावाचक पदों) के लोप होने पर समास में कर्म में क्यच् प्रत्यय होने पर, आधार (अधिकरण) में क्यच् में, क्यङ् प्रत्यय में, कर्म उपपदपूर्वक णमुल् में और कर्त्तृ उपपदपूर्वक 'णमुल्' में वाचकलुप्तोपमा होती है।

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ पर 'वा' शब्द उपमावाचक शब्द है, इसलिए 'वा' आदि उपमावाचक शब्दों के लोप होने पर वाचकलुप्ता छः प्रकार की होती है—(१) समास में (२) कर्म से विहित क्यच् में (३) आधार (अधिकरण) से विहित क्यच् में (४) कर्तृकारक से विहित क्यङ् में (५) कर्मकारक के उपपद होने पर णमुल् में और (६) कर्तृकारक अर्थात् कर्त्ता उपपदणमुल के प्रयोग में।

विमर्श—'वा' आदि उपमावाचक शब्दों का लोप होने पर वाचक लुप्तोपमा होती है। यह वाचकलुप्ता उपमा वाक्यगा नहीं होती और न तद्धितगा होती है केवल समासगा होती है। वाक्यगा तो इसलिए नहीं होती कि 'मुखं चन्द्रः काशते' इत्यादि वाक्य में जहाँ उपमावाचक पद का लोप (अभाव) है वहाँ उपमा की प्रतीति नहीं होती। यह तद्धितगा अथवा श्रौती उपमा भी नहीं होती; क्योंकि 'वति' आदि तद्धित प्रत्यय तथा श्रौती में 'इव' आदि शब्द औपम्य (उपमा) प्रतिपादक होते हैं, यदि इनका

उदाहरणम्—

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता ॥४०१॥

तथा—

असितभुजगभीषणासिपत्रो रुहरुहिकाहितचित्ततूर्णचारः ।
पुलकिततनुरुत्कपोलकान्तिः प्रतिभटविक्रमदर्शनेऽयमासीत् ॥४०२॥

प्रयोग होता है तो उपमा-प्रतिपादक शब्द का लोप असंभव होगा, इसलिए उपमावाचक 'वा' आदि शब्दों के लोप होने से केवल समासगत होने से वाचकलुप्तोपमा छः प्रकार की होती है, यह वाचकलुप्तोपमा आर्थी उपमा ही है, श्रौती नहीं। यह समासगा वाचकलुप्ता दो प्रकार की होती है—द्विपदसमासगा और बहुपदसमासगा। आगे उनका उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—कामिनी के कपोलस्थल के समान पीतवर्ण, नेत्रों को आनन्द देने वाले तथा कुमुदों के स्वामी चन्द्रमा ने पूर्व दिशा को अलंकृत कर दिया ॥४०१॥

विमर्श—यह समासगा वाचकलुप्ता का उदाहरण है। यहाँ पर 'कामिनीगण्ड' उपमान है तथा 'पाण्डु' साधारण धर्म है। यहाँ पाण्डु का कामिनीगण्ड उपमान के साथ समास होने से समासगा द्विपदसमासगा उपमा है और 'इव' आदि उपमावाचक पदों का अभाव होने से वाचकलुप्ता है। यहाँ पर 'कामिनीगण्ड इव पाण्डुः' इस विग्रह में 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इस सूत्र से समास होने से उपमा की प्रतीति होने के कारण इव आदि उपमावाचक पद का लोप हो गया है। अतः यह द्विपदसमासगा वाचकलुप्ता उपमा का उदाहरण है।

अनुवाद—शत्रु-योद्धाओं के पराक्रम देखने पर वह राजा काले साँप के समान भयानक तलवार वाला, उत्साह से व्याप्त चित्त हो जाने से त्वरित गति वाला तथा पुलकित-देह और कपोलों पर उल्लसित कान्ति वाला हो गया ॥४०२॥

विमर्श—यहाँ पर असितभुजग उपमान असिपत्र उपमेय और भीषणत्व साधारण धर्म है। इन तीनों का यहाँ समास हो गया है और समास हो जाने से 'इव' उपमावाचक पद का लोप हो गया है। (असितभुजग इव भीषणः असिः एव पत्रं यस्य)। इसलिए यहाँ पर बहुपदसमासगा वाचकलुप्ता उपमा है।

पौरं सुतीयति जनं समरान्तरेऽसा--
वन्तःपुरीयति विचित्रचरित्रचृञ्चुः ।
नारीयते समरसीम्नि कृपाणपाणे—
रालोक्य तस्य चरितानि सपत्नसेना ॥४०३॥
मृधे निदाघघर्मांशुवदशं पश्यन्ति तं परे ।
सः पुनः पार्थसञ्चारं संचरत्यवनीपतिः ॥४०४॥

अनुवाद—विचित्र चरित्र से प्रसिद्ध यह राजा नगर-निवासी जनों से पुत्रवत् व्यवहार करता है, समरभूमि में अन्तःपुर के समान आचरण करता है तथा युद्धभूमि में तलवार हाथ में लिए उस राजा के चरित्र (कार्य) को देखकर शत्रु-सेना नारी (स्त्री) के समान आचरण करती है ॥४०३॥

विमर्श—यहाँ पर 'पौरं जनं सुतीयति' में कर्म में क्यच् प्रत्यय, 'समरान्तेरेऽन्तःपुरीयति' में अधिकरण में क्यच् और 'नारीयते' में कर्त्ता में क्यङ् प्रत्यय में तीन प्रकार की वाचकलुप्ता का एक ही जगह उदाहरण दिया गया है।

(१) यहाँ 'सुतीयति' पद में सुतमिव आचरति इस विग्रह में 'उपमानादाचारे' इस सूत्र से उपमान वाचक कर्मरूप 'सुत' शब्द से आचार अर्थ में 'क्यच्' प्रत्यय होने से उपमावाचक 'इव' शब्द का लोप हो गया है। इस प्रकार यह कर्म में क्यच् प्रत्यय के प्रयोग में वाचकलुप्ता उपमा है। यहाँ पर 'जनम्' उपमेय है, सुत उपमान है और स्नेह-पालनादि रूप आचार है। यहाँ कर्म-क्यच् में तुल्यार्थक 'इवादि' का लोप हो गया है।

(२) 'असौ समरान्तरेऽन्तःपुरीयति' में 'अन्तःपुरे इवाचरति' इस विग्रहवाक्य में 'अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्' इस वार्त्तिक से 'अन्तःपुरे' इस अधिकरण से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय हुआ है। यहाँ पर 'अन्तःपुर' उपमान है, समरान्तरे उपमेय है और आचार अर्थात् स्वच्छन्द गमनादि साधारण धर्म है, यहाँ आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय होने से उपमावाचक 'इव' का लोप हो गया है अतः अधिकरण पद से विहित क्यच् प्रत्यय में वाचक लुप्तोपमा है।

(३) यहाँ 'सपत्नसेना नारीयते' में 'नारी इव आचरति' इस विग्रह में उपमान नारी इस कर्त्तृ पद में 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च' इस सूत्र से आचार अर्थ में 'क्यङ्' प्रत्यय होता है। इस प्रकार यहाँ नारी पद उपमान है, सपत्नसेना उपमेय है और आचार अर्थात् कातरतापूर्वक विनयादि साधारण धर्म है और उपमावाचक तुल्यार्थक 'इव' आदि शब्द का प्रयोग न होने से उपमावाचक 'इव' का लोप हो गया है, अतः यहाँ क्यङ् प्रत्यय के प्रयोग में वाचकलुप्तोपमा है।

अनुवाद—युद्ध में शत्रुगण उस राजा को ग्रीष्मकालीन सूर्य के समान देखते हैं और वह राजा युद्ध में अर्जुन के समान (निर्भय) विचरण करता है ॥४०४॥

(सू० १३१) एतद्द्विलोपे क्विप् समासगा ॥८९॥

एतयोर्धर्मवाद्योः ।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में कर्त्ता और कर्म में 'णमुल्' प्रत्यय के प्रयोग दो प्रकार की वाचकलुप्ता का उदाहरण है। यहाँ पर 'निदाघघर्मांशुदर्शम्' में 'निदाघघर्ममिव पश्यन्ति' इस विग्रह में 'उपमाने कर्मणि च' इस सूत्र से उपमानवाचक निदाघघर्मांशु इस कर्म उपपद पूर्वक दृश् धातु से भाव अर्थ में णमुल् प्रत्यय होने पर 'दर्शम्' यह रूप बनता है। इस प्रकार यहाँ निदाघघर्मांशु उपमान, अवनीयति (राजा) उपमेय और पश्यन्ति (दर्शन करना) साधारण धर्म है, किन्तु इव के अर्थ में णमुल् प्रत्यय होने से 'इव' उपमावाचक पद का प्रयोग न होने से लोप हो गया है, इसलिए यह कर्म उपपद में णमुल् प्रत्यय में वाचकलुप्तोपमा का उदाहरण है।

इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में 'पार्थसञ्चारम्' में 'पार्थ इव सञ्चरति' इस विग्रह में उपमान रूप 'पार्थ' इस कर्तृपद के उपपद होने से 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'चर्' धातु से 'उपमाने कर्मणि च' इस सूत्र से भाव में णमुल् प्रत्यय होता है। इस प्रकार यहाँ पर 'पार्थ' उपमान है, अवनीपति (राजा) उपमेय है और सञ्चरण साधारण धर्म है। यहाँ पर 'इव' के अर्थ में णमुल् प्रत्यय होने से उपमावाचक 'इव' पद का लोप हो गया है। इसलिए यह कर्त्ता उपपद में णमुल् प्रत्यय में वाचकलुप्तोपमा का उदाहरण है।

द्विलुप्तोपमा

अनुवाद (सू० १३१)—इनमें धर्म और वाचक दोनों का लोप होने पर क्विप्गत और समासगत (दो प्रकार की द्विलुप्तोपमा होती है) ॥८९॥

इनमें से साधारण धर्म और इवादि वाचक शब्द का (लोप होने पर दो प्रकार की द्विलुप्तोपमा होती है)।

विमर्श—उपमा के चारों अवयवों में से एक-एक अवयव के लोग होने पर एक लुप्ता के तेरह भेदों का सोदाहरण निरूपण किया जा चुका है अब द्विलुप्ता उपमा का निरूपण करते हैं। प्रथम दो प्रकार की धर्मवाचक लुप्तोपमा का प्रतिपादन करते हैं। साधारण धर्म और उपमावाचक पदों का लोप होने पर धर्मवाचक लुप्ता द्विलुप्तोपमा कहलाती है। यह धर्मवाचक लुप्तोपमा दो प्रकार की होती है—क्विप्गा और समासगा। यह वाक्यगा उपमा इसलिए नहीं होती कि साधारण धर्म और इवादि वाचक पदों दोनों के लोप हो जाने पर केवल उपमान और उपमेय 'मुखं चन्द्रः' इस प्रकार के ग्रहण होने पर उपमा की प्रतीति असंभव है। यह तद्धितगा भी नहीं होती क्योंकि कल्पप् आदि तद्धित प्रत्यय ही उपमावाचक है। उनके रहने पर धर्म और वाचक का लोप होना असम्भव है और इवादि उपमावाचक पदों के लोप

उदाहरणम्—

सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ।।४०५।।
परिपन्थिमनोराज्यशतैरपि दुराक्रमः।
सम्परायप्रवृत्तोऽसौ राजते राजकुञ्जरः ।।४०६।।

होने से यह श्रौती भी नहीं हो सकती। अतः यह केवल दो प्रकार की होती है—क्विप्पा और समासगा।

उदाहरण जैसे—

अनुवाद—मन के सुख-दुःख के वशीभूत हो जाने पर अर्थात् सुख के वशीभूत होने पर सूर्य चन्द्रमा के समान (आह्लाददायक सुखद हो जाता है) और दुःख के वशीभूत होने पर चन्द्रमा भी सूर्य के समान (कष्टकर लगता है) उसी प्रकार सुख में रात्रियाँ दिन के समान और दुःख में दिन भी रात्रि के समान हो जाते हैं ।।४०५।।

विमर्श—यहाँ पर 'विधवति' 'सवितरति' 'दिनन्ति' और 'यामिनयन्ति' इन चारों क्रियापदों में 'विधुरिव आचरति विधवति' 'सविता इव आचरति सवितरति', 'दिन इवाचरति दिनयति' और 'यामिनी इव आचरति यामिनयति' आदि विग्रह में 'सर्व प्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः' इस वार्तिक से उपमान विधु, सवितृ, दिन और यामिनी आदि कर्तृपदों से आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय होकर विधवति, सवितरति, दिनयति और यामिनयति आदि पद बनते हैं। इस प्रकार यहाँ आचार अर्थ में क्विप् प्रत्यय और वही आचार साधारण धर्म है अतः यह धर्म लोप का उदाहरण नहीं हो सकता? तथापि यहाँ 'वेरपृक्तस्य' इस सूत्र से आचारार्थक क्विप् प्रत्यय का सर्वापहारी लोप हो जाता है। इसलिए इसे धर्म लोप का उदाहरण माना जाता है। इस प्रकार यहाँ क्विप्पा धर्मवाचक लुप्ता उपमा है।

अनुवाद—युद्ध में प्रवृत्त शत्रुओं के सैकड़ों मनोरथों से भी दुष्प्राप्य (अजेय) यह श्रेष्ठ राजा (राजकुञ्जरः) शोभित हो रहा है ।।४०६।।

विमर्श—यहाँ पर 'राजकुञ्जरः' में 'राजा कुञ्जर इव' इस विग्रह वाक्य में 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्यप्रयोगे' इस सूत्र से समास होकर उपमावाचक इव का लोप हो गया है और यहाँ साधारण धर्म के अप्रयोग में समास हुआ है अतः यहाँ केवल उपमान राजा और उपमेय कुञ्जर पद प्रयुक्त है। साधारण धर्म और उपमा वाचक शब्द का अभाव है, अतः यह समासगा धर्मवाचक लुप्ता (द्विलुप्ता) का उदाहरण है।

(सू० १३२) धर्मोपमानयोर्लोपे वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते ।

टुण्टुण्णन्तो मरिहसि कण्ट अकलिआइं केअइवणाइं ।
मालइकुसुमसरिच्छं भ्रमर ! भमन्तो ण पाविहिसि ॥४०७॥

**[टुण्टुणायमानो मरिष्यसि कण्टककलितानि केतकीवनानि ।
मालतीकुसुमसदृशं भ्रमर ! भ्रमन् न प्राप्स्यसि ॥४०७॥**
(इति संस्कृतम्)

कुसुमेण सममिति पाठे वाक्यगा ।

धर्मोपमानलुप्ता

अनुवाद (सू० १३२)—धर्म (साधारणधर्म) और उपमान का लोप होने पर (धर्मलुप्तोपमा) समास और वाक्य में देखी जाती है ।

विमर्श—धर्म और उपमान का लोप होने पर धर्मोपमानलुप्ता उपमा दो प्रकार की होती है—समासगा और वाक्यगा । सूत्र में 'वृत्ति' पद आया है । वृत्ति का अर्थ है परार्थाभिधान कथन (परार्थाभिधानं वृत्तिः) अर्थात् जहाँ शब्द अपने अवयवों से अर्थ के अतिरिक्त अर्थ का अभिधान करता है, वह वृत्ति कहलाती है । वृत्ति पाँच प्रकार की होतीं—कृत्, तद्धित, समास, एकशेष और सनाद्यक्त (धातु (कृत्तद्धितसमासैकशेषसमाद्यन्तधातुरूपा पञ्चधा) । किन्तु कारिका में 'वृत्ति' पद से केवल समास का ग्रहण होता है, क्योंकि धर्म और उपमान का लोप होने पर समास के अतिरिक्त अन्य कोई वृत्ति सम्भव नहीं है । इसलिए यह तद्धितगा नहीं होती और उपमान और साधारण धर्म का प्रयोग न होने से श्रौती भी नहीं होती ।

प्रथम समासगा धर्मोपमानलुप्ता का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद (उदा०)—हे भ्रमर ! काँटों से भरे केतकी के वन में टुन-टुन शब्द कर घूमते हुए मर जाओगे, किन्तु मालती के फूल के समान (अन्य पुष्प) नहीं पाओगे ॥४०७॥

विमर्श—यहाँ पर समासगा धर्मोपमानलुप्ता उपमा है । यहाँ मालती कुसुम उपमेय और 'सदृश' उपमावाचक शब्द है । ये दोनों उपमेय और वाचक शब्द तो यहाँ शब्दतः उपात्त हैं किन्तु उपमान (अन्य कुसुम) तथा साधारण धर्म (सौरभ आदि) का लोप हो गया है तथा उपमेय मालती कुसुम वाचक शब्द का 'सदृश' समास हो गया है । इसलिए यह समासगा धर्मोपमानलुप्ता उपमा का उदाहरण है ।

(सू० १३३) क्यचि वाद्युपमेयासे

आसे निरासे।

अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः।
कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ॥४०८॥

अत्रात्मा उपमेयः।

वाक्यगा धर्मोपमानलुप्ता का उदाहरण

यदि उपर्युक्त श्लोक में 'मालतीकुसुमसदृशम्' (मालइकुसुमसरिच्छे) के स्थान पर 'मालतीकुसुमेन समम्) यह पाठ कर दिया जाता है तो यह वाक्यगा धर्मोपमानलुप्ता का उदाहरण हो जायगा। क्योंकि यहाँ कुसुम पद तुल्यार्थक सम पद के साथ समास नहीं हुआ है। इसलिए यहाँ वाक्यगा धर्मोपमानलुप्तोपमा है।

वाचकोपमेयलुप्ता

अनुवाद (सू० १३३)—'वा' आदि उपमावाचक शब्द तथा उपमेय दोनों का लोप होने पर क्यच् प्रत्यय के विषय में द्विलुप्तोपमा होती है।

यहाँ (सूत्र में) आसे का अर्थ निरास (अनुपादान अथवा लोप) होने पर।

अनुवाद—शत्रुओं के पराक्रम को देखने से प्रसन्न नेत्र वाला तथा कृपाण धारण करने से भीषण भुजदण्ड वाला वह राजा सहस्रायुध (कार्त्तवीर्य, सहस्रार्जुन के समान प्रतीत हो रहा है ॥४०८॥

यहाँ आत्मा उपमेय है।

विमर्श—यहाँ पर 'सहस्रयुधीयति' में 'सहस्रायुधम् इव आत्मानमाचरति' इस विग्रहवाक्य में 'उपमानादाचारे' इस सूत्र से उपमानवाचक सहस्रायुधकर्म उपपद रहते आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय हुआ है। इस प्रकार यहाँ पर 'सहस्रायुधम्' पद उपमान और आचार (दुर्जय मानना) साधारण धर्म है। यहाँ पर सहस्रायुधम् इव आत्मानमाचरति इति सहस्राप्रधीयति' में 'इव' उपमावाचक शब्द और आत्मा उपमेय है किन्तु क्यच् प्रत्यय होने उपमावाचक इव तथा आत्मा उपमेय का लोप हो गया है। अतः यह वाचकोसमेयलुप्ता उपमा का उदाहरण है।

(सू० १३४) त्रिलोपे च समासगा ॥९०॥

त्रयाणां वादिधर्मोपमानानाम् । उदाहरणम्—

तरुणिमनि कृतावलोकना ललितविलासवितीर्णविग्रहा ।
स्मरशरविसराचितान्तरा मृगनयना हरते मुनेर्मनः ॥४०९॥

त्रिलुप्तोपमा

अनुवाद (सू० १३४)—तीनों अर्थात् वाचकशब्द, धर्म और उपमान का लोप होने पर समासगा (त्रिलुप्तोपमा) होती है ॥९०॥

यहाँ सूत्र में तीनों से वादि उपमानवाचक, धर्म और उपमान का ग्रहण होता है ।

विमर्श—उपमावाचक शब्द, साधारण धर्म और उपमान तीनों का लोप होने पर त्रिलुप्ता धर्मोपमानवाचकलुप्ता उपमा होती है । यहाँ पर उपमानोपमेयधर्मलुप्ता अथवा धर्मोपमेयवाचकलुप्ता के रूप में यह त्रिलुप्ता नहीं हो सकती क्योंकि उपमेय को छोड़कर किसी एक अवयव से उपमा की प्रतीति नहीं हो सकती । साथ ही वाक्यगा और तद्धितगा भी नहीं हो सकती; क्योंकि उपमेय के बिना उपमा की प्रतीति नहीं हो सकती । यह श्रौती भी नहीं हो सकती क्योंकि 'इव' आदि वाचक शब्दों का लोप हो जाता है । इस प्रकार केवल समासगा आर्थी त्रिलुप्तोपमा होती है । अतः यह धर्मोपमानवाचकलुप्तोपमा का उदाहरण है ।

अनुवाद—यौवन का अवलोकन करने वाली, ललित हाव-भावों के लिए अपना शरीर अर्पित करने वाली तथा कामदेव के बाणों से व्याप्त (आचित) हृदय वाली वह मृगनयना किशोरी मुनियों के मन को भी हर लेती है ॥४०९॥

विमर्श—यहाँ पर 'मृगनयना' में 'मृगनयने इव (चञ्चले) नयने यस्याः सा मृगनयना' इस विग्रह में 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इस वार्तिक के द्वारा 'मृगनयन' इस उपमान पद का नयन पद के साथ समास होने पर उपमानवाचक मृगनयन इस पूर्व पद में 'नयन' पद का लोप हो नेपर उपमेयभूत 'नयन' पद का ग्रहण (उपादान) होने से तथा उपमान 'नयन' पद, साधारण-धर्म चञ्चलता और उपमावाचक 'इव' पद का लोप होने से त्रिलुप्ताधर्मोममानवाचक-लुप्ता उपमा का उदाहरण है ।

अत्र 'सप्तम्युपमान' इत्यादिना यदा समासलोपौ भवतस्तदैवमुदाहरणम् ।

क्रूरस्याचारस्यायःशूलतयाऽध्यवसायात् 'अयःशूलेनान्विच्छति आयःशूलिकः' इत्यतिशयोक्तिः, न तु क्रूराचारोपमेयतैक्ष्ण्यधर्मवादीनां लोपे त्रिलोपेयमुपमा ।

कातन्त्रव्याकरण के अनुसार यहाँ मृग पद का मृगनयन अर्थ में लक्षणा मानकर 'मृग इव नयने यस्याः सा मृगनयना' इस विग्रह में समास किया जाता है तो मृगपद उपमान होगा और तब यह त्रिलुप्तोपमा का उदाहरण नहीं हो सकता । तब वाचक धर्मलुप्तोपमा का उदाहरण होगा और 'सप्तपमामानपूर्वपदस्य' इत्यादि वार्तिक से 'मृगनयने इव नयने यस्याः सा' इस विग्रह में मध्यमपदलोपी बहुव्रीहि समास होगा तो यहाँ मृगनयने उपमानवाचक पूर्वपद होगा और उसका 'नयने' पद के साथ बहुव्रीहि समास होने पर उपमान 'मृगनयने' पद के 'नयन' पद का लोप हो जाता है। इसलिए यह उपमानलुप्ता का भी उदाहरण हो सकता है। इसलिए ग्रन्थकार कहते हैं—

अनुवाद—यहाँ पर जब 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च' इस वार्त्तिक से समास और उत्तरपद का लोप होता है तब यह (त्रिलुप्तोपमा) का उदाहरण होता है ।

[और कातन्त्रव्याकरण के अनुसार मृगपद की मृगनयन अर्थ में लक्षणा मानकर समास होने पर उपमान मृगपद के विद्यमान रहने से यह त्रिलुप्तोपमा का उदाहरण नहीं हो सकता ।].

अनुवाद—क्रूर आचरण का अयःशूल के साथ तादात्म्य (अध्यवसाय) होने से 'अयःशूल से व्यवहार करता है'; इस प्रकार 'आयःशूलिक' यह अतिशयोक्ति का उदाहरण है और क्रूर आचारण रूप उपमेय तीक्ष्णता रूप साधारण धर्म 'वा' आदि उपमावाचक शब्द का लोप होने पर यह त्रिलुप्तोपमा का उदाहरण नहीं है ।

विमर्श—यहाँ प्रतिहारेन्दुराज आदि आचार्य उपमान मात्र के उपादान (ग्रहण) में भी त्रिलुप्ता (धर्मोपमेयवाचकलुप्ता) उपमा मानते हैं। जैसे 'आयःशूलिकः' पद में 'अयःशूलेन अन्विच्छति' इस विग्रह में 'अयःशूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ' इस सूत्र से 'अयःशूल' इस शब्द से ठक् प्रत्यय होकर 'आयःशूलिकः' बनता है । यहाँ अयःशूल शब्द लक्षणा से क्रूर आचरण द्योतित करता है । इस प्रकार अयःशूल के समान क्रूर

एवमेकोनविंशतिर्लुप्ताः पूर्णाभिः सह पञ्चविंशतिः ।

अनयेनेव राज्यश्रीर्दैन्येनेव मनस्विता ।

मम्लौ साऽथ विषादेन पद्मिनीव हिमाम्भसा ।।४१०।।

इत्यभिन्ने साधारणे धर्मे ।

आचार वाला आयःशूलिक है यहाँ 'अयःशूल' पद उपमान, क्रूर आचरण उपमेय, तीक्ष्णता आदि रूप साधारण धर्म और इवादि वाचक शब्द है । यहाँ क्रूर आचरण रूप उपमेय, तीक्ष्णता रूप साधारणधर्म और इवादि रूप वाचक शब्द तीनों का लोप हो गया है और केवल उपमान रूप अयःशूल शब्द ही शब्दतः उपात्त है । इसलिए यह केवल उपमानमात्र के उपादान में त्रिलुप्तोपमा का उदाहरण है ।

उपर्युक्त मत का निराकरण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि यहाँ पर त्रिलुप्तोपमा नहीं है, अपितु अतिशयोक्ति अलङ्कार है । उनके मतानुसार यहाँ पर क्रूर आचरण (उपमेय) का अयःशूल रूप उपमान के द्वारा निगरण करके तथा अयःशूल से तादात्म्य-स्थापन करने के कारण यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है । इसलिए ग्रन्थकार इसे त्रिलुप्तोपमा का उदाहरण नहीं मानते ।

अनुवाद—इस प्रकार उन्नीस प्रकार की लुप्तोपमा और छः प्रकार की पूर्णोपमा मिलकर पच्चीस प्रकार की पूर्णोपमा होती है ।

मालोपमा एवं रशनोपमा

आचार्य रुद्रट ने उपमा के इन भेदों के अतिरिक्त अन्य भेद भी स्वीकार किये हैं । जैसे एक उपमेय के अनेक उपमानों से सम्बन्ध होने पर मालोपमा और पूर्व-पूर्व उपमेय के उत्तरोत्तर उपमान के रूप में परिणत (कल्पित) होने पर रशनोपमा होती है । इन दोनों भेदों के भी क्रमशः अनेक उपमानों तथा उत्तरोत्तर उपमानों के साधारण धर्म के एक होने तथा अनेक होने से प्रत्येक दो-दो प्रकार के होते हैं । इस प्रकार इनके कुल चार भेद होते हैं । मम्मट इन चारों का उदाहरण देकर अपने मत का प्रतिपादन करते—

(१) मालोपमा के उदाहरण

अनुवाद—अनीति से राज्यलक्ष्मी के समान, दीनता से मनस्विता के समान और हिमजल से कमलिनी के समान वह नायिका विरह-वेदना (विषाद) के कारण मलिन हो गई अर्थात् मुरझायी हुई है ।।४१०।।

यहाँ पर मलिनता रूप साधारण धर्म के अभिन्न (एकरूप) होने पर अर्थात् राज्यश्री प्रभृति अनेक उपमानों का मलिनता एक ही साधारणधर्म वर्णित होने से मालोपमा है ।

ज्योत्स्नेव नयनानन्दः सुरेव मदकारणम् ।
प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी ।।४११।।

इति भिन्ने च तस्मिन् एकस्यैव बहूपमानोपादाने मालोपमा ।
यथोत्तरमुपमेयस्योपमानत्त्वे पूर्ववदभिन्नभिन्नधर्मत्त्वे—

अनवरतकनकवितरणजललवभृतकरतरङ्गितार्थिततेः ।
भणितिरिव मतिर्मतिरिव चेष्टा चेष्टेव कीर्त्तिरति विमला ।।४१२।।

अनुवाद—वह नितम्बिनी नायिका चाँदनी के समान नेत्रों को आनन्द देने वाली, मदिरा के समान मद उत्पन्न करने वाली और प्रभुता के समान समस्त (सारे) लोक को आकृष्ट करने वाली है ।।४१२।।

यहाँ पर साधारण धर्म के भिन्न-भिन्न होने पर एक ही उपमेय के अनेक उपमानों के उपादान (ग्रहण) होने के कारण मालोपमा है ।

विमर्श—जहाँ पर एक उपमेय के अनेक उपमान ग्रहण (प्रदर्शित) किये जाते हैं वहाँ मालोपमा होती है । यह मालोपमा साधारणधर्म के एक तथा अनेक (भिन्न) होने से दो प्रकार की होती है । जैसे अनयेनेत्यादि में मलिनता रूप साधारणधर्म के एक होने पर नायिका रूप एक ही उपमेय के राज्यश्री आदि अनेक उपमानों का ग्रहण होने पर प्रथम प्रकार की मालोपमा और ज्योत्स्नेवेत्यादि में साधारणधर्म के भिन्न-भिन्न होने पर अर्थात् चांदनी सुरा, प्रभुता आदि उपमानों के नयनानन्दत्व, मदकारणत्व और लोकाकृष्टत्व रूप साधारणधर्म भिन्न-भिन्न होने पर नितम्बिनीरूप एक ही उपमेय के चाँदनी, सुरा, प्रभुता आदि अनेक उपमानों के ग्रहण होने पर द्वितीय प्रकार की मालोपमा होती है ।

(२) रशनोपमा के उदाहरण

अनुवाद—उत्तरोत्तर उपमेय के उपमान रूप हो जाने पर पूर्ववत् (मालोपमा के समान) अभिन्न (एक) तथा भिन्न (अलग-अलग) साधारण धर्म के होने पर रशनोपमा भी दो प्रकार की होती है । जैसे—

अनुवाद—हे राजन् ! निरन्तर स्वर्णदान के लिए जल बिन्दुओं से भरे हुए जिसके हाथ में याचकगण तरङ्गित हो रहा है, ऐसे आपके वचनों के समान बुद्धि, बुद्धि के समान चेष्टा और चेष्टा के समान कीर्त्ति अत्यन्त विमल (स्वच्छ) है ।।४१३।।

मतिरिव मूर्त्तिर्मधुरा मूर्त्तिरिव सभा प्रभावचिता ।
तस्य सभेव जयश्रीः शक्या जेतुं नृपस्य न परेषाम् ॥४१४॥

इत्यादिका रशनोपमा च न लक्षिता, एवंविधवैचित्र्यसहस्रसम्भवात् उक्तभेदानतिक्रमाच्च ।

विमर्श—जहाँ पूर्व-पूर्व उपमेय पद उत्तरोत्तर उपमान होता जाता है, वहाँ रशनोपमा होती । यह साधारणधर्म की अभिन्नता तथा भिन्नता होने पर दो प्रकार की होती है । जैसे प्रस्तुत उदाहरण में 'भणितिरिव मतिः' में मति उपमेय है वह 'मतिरिव चेष्टा' इस वाक्य में उपमान हो गया है और चेष्टा उपमेय है तथा इस वाक्य का उपमेय चेष्टा अगले वाक्य 'चेष्टेव कीर्तिः' उपमान हो गया है और कीर्त्ति उपमेय है । यहाँ पर सभी उपमानों में साधारणधर्म (अतिविमलत्व) एक (अभिन्न) ही है । इसलिए यहाँ प्रथम प्रकार की रशनोपमा है ।

अनुवाद—उस राजा की मति (बुद्धि) के समान ही मधुर मूर्त्ति है, मूर्त्ति के समान ही प्रभाव से युक्त सभा है और सभा के समान उसकी जयलक्ष्मी दूसरों के द्वारा जीती नहीं जा सकती ॥४१४॥

विमर्श—यहाँ पूर्व-पूर्व उपमेय के उत्तरोत्तर उपमान होने पर अलग-अलग उपमानों के अलग-अलग साधारणधर्म होने से द्वितीय प्रकार की रशनोपमा है। यहाँ पर पूर्व-पूर्व मूर्त्ति, सभा, जयश्री आदि उपमेय उत्तरोत्तर उपमान होते गये हैं और यह भिन्न उपमानों मति, मूर्त्ति, सभा आदि के क्रमशः मधुरता, प्रभाव युक्तत्व, अजेयता आदि अलग-अलग साधारणधर्म हैं । अतः यह द्वितीय प्रकार की रशनोपमा है ।

अनुवाद—इत्यादि उपर्युक्त (दोनों प्रकार की) रशनोपमा का लक्षण नहीं दिया गया है; क्योंकि इस प्रकार के हजारों वैचित्र्य सम्भव हैं और ये उक्त २५ भेदों से भिन्न नहीं हैं ।

विमर्श—मम्मट मालोपमा और रशनोपमा उपमा भेदों को स्वीकार नहीं करते । उनका कथन है कि माला, रशना आदि बन्ध-वैचित्र्य के आधार पर उपमा के विभिन्न भेदों के निरूपण में न तो कोई विशेषता है और न तो कोई इयत्ता है अतः इन उपमा भेदों का निरूपण करना व्यर्थ समझकर मम्मट ने उनका लक्षण प्रतिपादित नहीं किया है । बन्ध-वैचित्र्य के आधार पर उपमा के सहस्रों भेद हो सकते हैं, किन्तु उन सबका विवेचन करना असम्भव है और इन सब भेदों का उपर्युक्त २५ भेदों में अन्तर्भाव हो जाता है । इसलिए यहाँ न्यूनत्व दोष भी नहीं है ।

(सू० १३५) उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।

अनन्वयः ॥

उपमानान्तरसम्बन्धाभावोऽनन्वयः ।

---

(२) अनन्वय अलंकार

अनुवाद (सू० १३५)— एक वाक्य में एक ही के उपमान और उपमेय होने पर अनन्वय अलंकार होता है ।

अन्य उपमान का सम्बन्ध न होना अनन्वय है ।

विमर्श—जहाँ पर उपमेय का अपने से भिन्न अन्य किसी उपमान के साथ अन्वय (सम्बन्ध) नहीं होता, वहाँ अनन्वय अलङ्कार होता है (**न विद्यतेऽन्वयः सम्बन्धोऽर्थादुपमानान्तरेण यत्र सोऽनन्वयः**)। भाव यह कि जहाँ पर उपमेय अपने से भिन्न अन्य किसी उपमान से सम्बन्ध नहीं रखता, वहाँ अनन्वय अलङ्कार होता है अर्थात् जहाँ एक ही वाक्य में एक ही वस्तु उपमेय और उपमान दोनों हो, वहाँ अनन्वय अलंकार होता है (**एकस्यैवैकवाक्यगे उपमानोपमेयत्वमनन्वयः**)। इस प्रकार अपने से ही अपनी उपमा देना अनन्वय है (**स्वेन स्वस्योपमाऽनन्वयः**)।

यहाँ पर 'एकस्य' पद के द्वारा उपमा से पार्थक्य दिखाया गया है। यद्यपि उपमा और अनन्वय दोनों ही सादृश्यमूलक अलङ्कार हैं, फिर भी उनमें परस्पर भेद है। जैसे उपमा में उपमान और उपमेय दोनों अलग-अलग होते हैं और अनन्वय में उपमान और उपमेय दोनों एक ही होते हैं। उपमा दो वस्तुओं के सादृश्य पर आधारित है और अनन्वय में अपने से भिन्न वस्तु से सादृश्य स्थापित नहीं होता।

यहाँ पर 'एकस्यैव' में 'एव' पद भिन्नशब्दबोध्यत्व के निरास के लिए है (**एवकारेण भिन्नशब्दबोध्यत्वव्यवच्छेदः**) अर्थात् एक ही शब्द से उपमान और उपमेय का कथन होने पर ही अनन्वय होता है, भिन्न-भिन्न शब्दों अथवा पर्याय-वाचक शब्दों के कहे जाने पर अनन्वय नहीं होता। जैसे "अस्याः वदनमिवास्याः वक्त्रम्' यहाँ वदन के पर्यायवाची वक्त्र शब्द के कथन होने से अनन्वय नहीं होगा। इसीलिए चक्रवर्ती भट्टाचार्य कहते हैं कि शब्द भेद से अर्थ भेद का अवभास हो जाता है, इसलिए अनन्वय में उपमान और उपमेय को एक ही (अभिन्न रखा जाता है।

यहाँ पर सूत्र में 'एकवाक्यगे' यह कथन उपमेयोपमा और रशनोपमा से भेद दिखाने के लिए किया गया है। क्योंकि अनन्वय में एक ही वाक्य में एक ही वस्तु उपमान और उपमेय होता है और रशनोपमा तथा उपमेयोपमा में भिन्न-भिन्न वाक्यों में एक ही वस्तु उपमान और उपमेय होता है।

उदाहरणम्—

न केवलं भाति नितान्तकान्तिर्नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव ।
यावद्विलासायुधलास्यवासास्ते तद्विलासा इव तद्विलासा ॥४१५॥

(सू० १३६) विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥९१॥

तयोरुपमानोपमेययोः । परिवृत्तिः अर्थाद्वाक्यद्वये, इतरोपमानव्यवच्छेदपरा उपमेयेनोपमा इति उपमेयोपमा । उदाहरणम्—

उदाहरण जैसे—

अनुवाद—परम सुन्दरी वह नितम्बिनी ही उस नितम्बिनी के समान केवल शोभित नहीं होती, अपितु कामदेव की क्रीड़ा-भूमि (नृत्यस्थल) उसके विलास (हाव-भाव) भी उसी के विलास के समान हैं ॥४१५॥

विमर्श—यहाँ 'वह नितम्बिनी अपने ही समान है और उसके विलास भी उसी के विलास के समान हैं' इस प्रकार यहाँ नितम्बिनी ही उपमान और उपमेय दोनों रूप में गृहीत है, उससे भिन्न अन्य कोई दूसरा उपमान नहीं है, अतः यहाँ उपमानान्तर सम्बन्धाभाव की प्रतीति होने से अनन्वय अलंकार है ।

(३) उपमेयोपमा अलंकार

अनुवाद (सू० १३६)—उन दोनों (उपमान और उपमेय) का परिवर्त्तन हो जाना 'उपमेयोपमा' अलंकार कहलाता है ॥९१॥

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ सूत्र में 'तयोः' अर्थात् उन दोनों से तात्पर्य उपमान और उपमेय से है अर्थात् उन दोनों उपमान और उपमेय की परिवृत्ति अर्थात् दो वाक्यों में अन्य उपमानों का व्यवच्छेद (निराकरण) कराने के उद्देश्य से उपमेय के द्वारा उपमा—सादृश्य कल्पना उपमेयोपमा अलंकार है ।

विमर्श—जहाँ दो वस्तुओं में परस्पर उपमानोपमेयभाव व्यावर्त्तन (बदलना) होता है, वहाँ उपमेयोपमा होती है । उपमेयोपमा का तात्पर्य है उपमेय के द्वारा उपमा अर्थात् दो वाक्यों में उपमेय के द्वारा उपमा (सादृश्य-कल्पना) उपमेयोपमा का उद्देश्य उपमानान्तर-तिरस्कार है अर्थात् उपमेय के द्वारा उपमा होने पर अन्य उपमान का तिरस्कार (व्यवच्छेद) होने पर ही उपमेयोपमा होती है । उदाहरण जैसे—

कमलेव मतिर्मतिरिव कमला तनुरिव विभा विभेव तनुः ।
धरणीव धृतिधृ तिरिव धरणी सततं विभाति वत यस्य ॥४१६॥

(सू० १३७) सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्

समेन उपमानेन उदाहरणम्—

अनुवाद—आश्चर्य है कि इस राजा की लक्ष्मी के समान बुद्धि और बुद्धि के समान लक्ष्मी है, शरीर के समान कान्ति और कान्ति के समान शरीर है तथा धरणी (पृथ्वी) के समान धृति और धृति के समान धरणी निरन्तर शोभित होती है ॥४१६॥

विमर्श-- यहाँ पर तीनों वाक्यों में स्पृहणीयत्व, प्रचय और विस्तृतत्व से तीन साधारणधर्म प्रतिपादित हैं। यहाँ पर प्रथम वाक्य में स्पृहणीयत्व रूप साधारणधर्म के साम्य के आधार पर उपमेय मति और उपमान कमला में जो उपमेयोपमान भाव प्रदर्शित है वह द्वितीय वाक्य में परिवर्त्तित होकर कमला उपमेय और मति उपमान हो गया है, किन्तु यहाँ भी साधारणधर्म स्पृहणीयत्व ही है अर्थात् इन दोनों से भिन्न तृतीय वस्तु नहीं है। यही उपमानान्तरव्यवच्छेद है। इसी प्रकार तृतीय वाक्य में तनु उपमान, विभा उपमेय और प्रचय साधारणधर्म है। इसी साधारणधर्म के आधार पर इनमें उपमानोपमेय भाव है। यही चतुर्थ वाक्य में परिवर्त्तित होकर विभा उपमान, तनु उपमेय और प्रचय साधारणधर्म हो गया है। इसी प्रकार पञ्चम वाक्य में धरणी उपमान धृति उपमेय और विस्तृत तत्त्व साधारणधर्म है किन्तु षष्ठ वाक्य में परिवर्त्तित होकर धृति उपमान और धरणी उपमेय हो गया है किन्तु दोनों वाक्यों में विस्तृतत्व ही साधारणधर्म हैं।

उपमा तथा उपमेयोपमा—उपमा सदा एक वाक्य में होती है और उपमेयोपमा सदा दो वाक्यों में होती है। उपमा में साधर्म्य प्रदर्शित किया जाता है और उपमेयोपमा में उपमानोपमेय से भिन्न तृतीय वस्तु की व्यावृत्ति दिखाई जाती है। उपमेयोपमा में प्रथम वाक्य का उपमान द्वितीय वाक्य में उपमेय और प्रथम वाक्य का उपमेय द्वितीय वाक्य में उपमान बन जाता है।

(४) उत्प्रेक्षा अलंकार

अनुवाद (सू० १३७)—जहाँ पर प्रकृत (उपमेय) की सम (उपमान) के साथ सम्भावना की जाती है, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।

(यहाँ पर सूत्र में) समेन का अर्थ उपमान के साथ है।

विमर्श—जहाँ पर उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। यहाँ पर 'संभावन' का अर्थ उत्कटकोटिक सन्देह है। इस प्रकार उपमेय का

उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निशाया-
मिन्दोरिन्दीवरदृशा तस्य सौन्दर्यदर्पः ।
नीतः शान्ति प्रसभमनया वक्त्रकान्त्येति हर्षा-
ल्लग्ना मन्ये ललिततनु ! ते पादयोः पादलक्ष्मीः ॥४१७॥
लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥४१८॥
इत्यादौ व्यापनादि लेपनादिरूपतया सम्भावितम् ।

उपमान के साथ तादात्म्य होने से जो उत्कटकोटिक सन्देह होता है, उसे उत्प्रेक्षा कहते हैं । उदाहरण जैसे—

अनुवाद—हे ललिततनु ! जो मेरा सहज-वैरी चन्द्रमा रात्रि में मेरे विकास को सहन नहीं करता, उस चन्द्रमा के सौन्दर्य-दर्प को इस कमल-नयनी ने अपने मुख की कान्ति से बलपूर्वक दूर कर दिया । हे प्रिये ! मैं ऐसा समझता हूँ कि इस कारण कमल की शोभा (लक्ष्मी) मानो तुम्हारे पैरों पर लिपट गई है ॥४१७॥

विमर्श—यहाँ पर उपमेयभूत स्वाभाविकी पादशोभा उपमानभूत उपर्युक्त हर्ष (प्रसन्नता) के हेतु उस नायिका के पैरों में लिपटने वाली कमलशोभा रूप उपमान की सम्भावना की गई है, इसलिए यहाँ हेतूत्प्रेक्षा है ।

अनुवाद—मानो अन्धकार अङ्गों में लिप्त हो रहा है (लेप लगा रहा है) और आकाश काजल की वर्षा कर रहा है तथा दुष्ट-पुरुष की सेवा के समान आँखें विफल सी हो गई हैं ॥४१८॥

इत्यादि में व्यापन आदि लेपन आदि के रूप में सम्भावना की गई है ।

विमर्श—यहाँ पर अचेतन अन्धकार के अङ्गों में व्याप्त होने में लेपन की सम्भावना की गई है और अन्धकार के प्रसरण में अञ्जन (काजल) वर्षण की सम्भावना की गई है, इसलिए यहाँ व्यापनादि में लेपनादि की सम्भावना होने से क्रियोत्प्रेक्षा है ।

उपमा और उत्प्रेक्षा— दोनों ही सादृश्यमूलक अलङ्कार हैं। किन्तु उपमा साधर्म्यमूलक अलङ्कार है और उत्प्रेक्षा अध्यवसायमूलक अलङ्कार है । उपमा में उपमेय की उपमान के साथ तुलना की जाती है और उत्प्रेक्षा में उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है । उपमा का आधार सादृश्य है और उत्प्रेक्षा का आधार सम्भावना । उपमा में उपमान और उपमेय का निश्चयात्मक ज्ञान होता है और

(सू० १३८) ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः ॥९२॥

भेदोक्तौ यथा—

उत्प्रेक्षा में संशयात्मक । उत्प्रेक्षा में मन्ये, शंके, ध्रुवम् आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्दों का प्रयोग होता है किन्तु उपमा में इनका प्रयोग नहीं होता । उत्प्रेक्षा बोधक शब्द मन्ये, शङ्के, ध्रुवम्, प्रायः, नूनम् आदि हैं—

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः ।
उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दाः इव शब्दोऽपि तादृशः ॥

इनमें 'इव' शब्द उपमा और उत्प्रेक्षा दोनों का वाचक है; किन्तु दोनों में अन्तर है । उत्प्रेक्षा में 'इव' शब्द का प्रयोग प्रायः क्रियापद के साथ होता है और उपमा में संज्ञा शब्दों के साथ । इस प्रकार 'इव' शब्द जब सादृश्य को प्रकट करता है तब उपमा होती है और जब सम्भावना को प्रकट करता है तब उत्प्रेक्षा होती है ।

सन्देह और उत्प्रेक्षा— दोनों संशयमूलक अलङ्कार हैं और दोनों में अनिश्चितता रहती है किन्तु दोनों में परस्पर भेद है । सन्देह में दोनों पक्षों का होना आवश्यक है जबकि उत्प्रेक्षा में उपमान के प्रति अधिक झुकाव होता है ।

उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति— दोनों ही अध्यवसायमूलक अलङ्कार हैं । किन्तु दोनों अन्तर यह है कि उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय के साध्य होने से विषय (उपमेय) का शब्दतः उपादान होता है और अतिशयोक्ति में अध्यवसाय के सिद्ध होने से विषय का शब्दतः उपादान नहीं होता है, बल्कि उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण कर लिया जाता है । उत्प्रेक्षा में संशय होता है और अतिशयोक्ति में संशय का अभाव । उत्प्रेक्षा में अनिश्चितता रहती है और अतिशयोक्ति में उपमानत्व का पूर्ण निश्चय होता है ।

(५) ससन्देह अलंकार

अनुवाद (सू० १३८)—जहाँ उपमेय का उपमान के साथ संशय (संशयात्मक ज्ञान) संदेह अलंकार होता है और वह भेदोक्ति और भेदानुक्ति भेद से दो प्रकार का होता है ।

विमर्श - यहाँ पर सादृश्य के आधार पर उपमेय में उपमान का संशयात्मक ज्ञान हो, उसे ससन्देह अलङ्कार कहते हैं । तात्पर्य यह कि उपमेय का उपमान के साथ समकोटिक संशय सन्देह नामक अलङ्कार कहा जाता है । यहाँ संशय का अर्थ तुल्यकोटिक सन्देह है (**संशयश्चात्र समकोटिको ग्राह्यः**) । अर्थात् उपमेय तथा उपमान में संशयात्मक ज्ञान तुल्यकोटिक होता है । इस प्रकार संशय सादृश्य पर आधारित रहता है और दोनों (उपमेय और उपमान) में समकोटिक संशय होता है । रुद्रट ने सन्देह के स्थान पर 'संशय' नामक अलङ्कार माना है । (**प्रतिपत्तुः सादृश्यादनिश्चयः**

अयं मार्त्तण्डः किं ? स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानुः किं ? सर्वाः प्रसरति दिशो नैव नियतम् ।
कृतान्तः किं ? साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान्प्रतिभटाः ॥४१९॥

भेदोक्तावित्यनेन न केवलमयं निश्चयगर्भो यावन्निश्चयान्तोऽपि सन्देहः स्वीकृतः । यथा—

संशयः) किन्तु रुद्रट ने इसे 'संदेह' नाम से अभिहित किया है । मम्मट ने इसे 'ससन्देह' कहा है (सन्देहेन सह वर्तमानः ससन्देहः) ।

यह ससंदेह अलङ्कार दो प्रकार का होता है—भेदोक्ति में और अभेदोक्ति । इनमें प्रथम भेदोक्ति के दो भेद होते हैं— निश्चयगर्भ और निश्चयान्त । इस प्रकार ससन्देह अलङ्कार तीन प्रकार का होता है—(१) निश्चयगर्भ, निश्चयान्त और शुद्ध (केवल संशयरूप) । जहाँ पर संशय के अनन्तर निश्चय हो जाने पर फिर संशय उत्पन्न होता है, वहाँ निश्चयगर्भ सन्देह अलङ्कार होता है और जहाँ पर संशय के अनन्तर निश्चय हो जाने पर फिर संशय का उदय नहीं होता, वहाँ निश्चयान्त सन्देह अलङ्कार होता है । किन्तु उद्भट निश्चयान्त सन्देह नामक भेद स्वीकार नहीं करते । उनका कहना है कि निश्चयगर्भ में तो वैधर्म्य का कथन होने से निश्चय व्यंग्य होता है किन्तु निश्चयान्त में (निश्चितम् इस शब्द के द्वारा) निश्चय वाच्य होता है और वाच्य होने पर वैसा विशेष चमत्कार नहीं होता, इसलिए सन्देहालङ्कार के 'निश्चयान्त' नामक भेद को स्वीकार नहीं किया जा सकता । इसीलिए भट्टोद्भट ने इस (निश्चयान्त) भेद का कथन नहीं किया है । किन्तु आचार्य मम्मट ने निश्चय के वाच्य होने पर भी इसमें चमत्कार स्वीकार किया है । इसलिए वे भेदोक्ति के इन दोनों भेदों को स्वीकार करते हैं । क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—(राजा के प्रति किसी की उक्ति) यह राजा क्या सूर्य है ? किन्तु वह तो सात अश्वों से युक्त होता है । तो क्या वह अग्नि है ? किन्तु वह (अग्नि) तो निश्चित रूप से सब दिशाओं में नहीं फैलता है । तो क्या यह साक्षात् यमराज है ? किन्तु यह तो महिषवाहन है । इस प्रकार युद्ध-भूमि में आपको देखकर अपने शत्रु-योद्धा इस प्रकार देर तक संकल्प-विकल्प (सन्देह) करते हैं ॥४१९॥

विमर्श—यहाँ पर 'क्या यह मार्त्तण्ड (सूर्य) है अथवा अन्य कोई ?' इस प्रकार संशय का स्वरूप है । यहाँ पर राजा उपमेय है और सूर्य उपमान । यहाँ राजा प्रताप (तेज) की दुनिरीक्ष्यता के कारण सूर्य का संशय है, और दुराधर्षता के कारण कृशानुत्व का संशय होता है तथा क्षणभर में सकलसंहारित्व के कारण यमराज का सन्देह होता है । किन्तु सूर्य में सप्ताश्व-गमन, अग्नि में सर्वत्र प्रसारित्व तथा यम में

इन्दुः किं क्व कलङ्कः सरसिजमेतत्किमम्बु कुत्र गतम् ।
ललितविलासवचनैर्मुखमिति हरिणाक्षि ! निश्चितं परतः ॥४२०॥

किन्तु निश्चयगर्भ इव नात्र निश्चयः प्रतीयमान इति उपेक्षितो भट्टोद्भटेन । तदनुक्तौ यथा—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजडः कथन्नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥४२१॥

'महिषवाहनत्वं' आदि के द्वारा सूर्यादि से राजा का भेद है, अतः यहाँ भेदोक्ति निश्चयगर्भ सन्देह अलङ्कार है।

अनुवाद—'भेदोक्ति में (भेद का कथन होने पर), इस कथन से केवल निश्चयगर्भ ही नहीं होता, अपितु निश्चयान्त सन्देह भी स्वीकार किया गया है। जैसे—

अनुवाद—हे मृगनयनी ! क्या यह चन्द्रमा है ? किन्तु कलङ्क कहाँ है ? तो यह कमल है ? तो जल कहाँ गया ? इस प्रकार हे हरिणाक्षि ! तुम्हारे ललित (मधुर) विलासपूर्ण वचनों से बाद में 'यह मुख है', यह निश्चय हो सका ॥४२०॥

विमर्श—यहाँ पर मुख में चन्द्रमा तथा कमल होने का सन्देह होता है, किन्तु ललित विलास वचनरूप वैधर्म्य के दर्शन हो जाने से मुखस्वरूप से मुख का निश्चय हो जाता है और फिर संशय उत्पन्न नहीं होता, इसलिए यहाँ निश्चयान्त ससन्देह अलङ्कार है। यहाँ पर भी 'क्व कलङ्कः' इत्यादि वचनों के द्वारा भेद का कथन किया गया है, अतः यह भेदोक्ति निश्चयान्त सन्देह अलङ्कार का लक्षण है।

अनुवाद—किन्तु निश्चयगर्भ के समान यहाँ निश्चयान्त सन्देह में निश्चय व्यङ्ग्य नहीं होता, अपितु वाच्य होता है। इसलिए भट्टोद्भट ने इसकी उपेक्षा कर दी है अर्थात् उद्भट ने निश्चयान्त सन्देह नामक भेद को स्वीकार नहीं किया है।

अभेदोक्ति का उदाहरण—

अनुवाद—इस (उर्वशी) के निर्माण में क्या कान्तिदायक चन्द्रमा ही प्रजापति था ? अथवा शृंगाररसमय कामदेव ही स्वयं अथवा बसन्त मास [इसका प्रजापति (स्रष्टा) था] ? क्योंकि वेदाभ्यास के कारण जड़ बुद्धि और विषय-भोग के कौतूहल से रहित पुराने मुनि (बूढ़े ब्रह्मा) इस मनोहर रूप के निर्माण करने में कैसे समर्थ होते ? ॥४२१॥

(सू० १३९) तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ।

अतिसाम्यादपह्नुतभेदयोरभेदः

(सू० १४०) समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा ॥९३॥

आरोपविषया इव आरोप्यमाणा यदा शब्दोपात्तास्तदा समस्तानि वस्तूनि विषयोऽस्येति समस्तवस्तुविषयम् । आरोपिता इति बहुवचनमविवक्षितम् । यथा—

विमर्श- यहाँ पर 'इस उर्वशी का निर्माता प्रजापति क्या चन्द्रमा था ? अथवा कामदेव था अथवा वसन्त मास ? इस प्रकार यहाँ संशय है । यहाँ प्रजापति (ब्रह्मा) उपमेय है और चन्द्र, मदन, वसन्त आदि उपमान हैं । इनमें किसी के वैधर्म्य का प्रतिपादन किया गया है । इसलिए अभेदोक्ति (भेदानुक्ति) सन्देह अलङ्कार का उदाहरण है ।

(६) रूपक अलंकार

अनुवाद—उपमान और उपमेय का जो अभेद (अभेदारोप) है, उसे रूपक अलङ्कार कहते हैं ।

अत्यन्त साम्य के कारण प्रसिद्ध वैधर्म्य वाचक उपमान और उपमेय में (अभेदारोप रूपक अलंकार है) ।

अनुवाद (सू० १४०)—जब आरोपित (आरोप्यमाण—उपमान) विषय श्रौत अर्थात् शब्दतः उपात्त होते हैं तो समस्तवस्तुविषयक (रूपक) होता है ॥९३॥

विमर्श- भिन्न-भिन्न रूप में प्रकाशित होने वाले उपमान और उपमेय में अत्यन्त साम्य प्रदर्शन के लिए काल्पनिक अभेद का अरोप रूपक है । रूपक शब्द की व्युत्पत्ति है— '**रूपयत्येकतां नयतीति रूपकमिति**' अथवा '**रूपवत्करोतीति रूपयति वा रूपको लक्षणाविशेषः**'' अर्थात् परस्पर विरुद्ध धर्म होने से प्रकाशित भिन्न भिन्न स्वरूप वाले उपमान और उपमेय में अत्यन्त साम्य प्रदर्शन के लिए काल्पनिक अभेदारोपण रूपक है । जैसे 'मुखं चन्द्रः' यहाँ पर मुखत्व और चन्द्रत्व रूप परस्पर विरुद्ध धर्म होने से उपस्थित मुख और चन्द्र मे अभेद का आरोप रूपक अलंकार है । एकावलीकार ने रूपक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई है 'यदातु विषयी विषयं रूपयति रूपवन्तं करोति तदान्वर्थाभिधानं रूपकम्' । यह अभेदारोप कविप्रतिभाप्रसूत होना चाहिए; क्योंकि कविप्रतिभा से प्रसूत न होने पर चमत्कार नहीं होता । जैसे 'लोष्टः पाषाणः' यहाँ अभेदारोप होने पर भी अलङ्कार नहीं कहलाता, क्योंकि यहाँ कोई चमत्कार नहीं है ।

मम्मट ने 'तद्रूपकमभेदो यः उपमानोपमेययोः' यह रूपक का लक्षण प्रतिपादित किया है। मम्मट का यह लक्षण अग्निपुराण के '**उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते। गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः।** इस लक्षण से प्रभावित जान पड़ता है। इस प्रकार गुणों की समानता होने पर उपमान के द्वारा जो उपमेय का तत्त्व रूपित किया जाता है, उसे रूपक कहते हैं। इस प्रकार रूपक एक अभेदप्रधान साधर्म्यमूलक अलङ्कार है। इसमें उपमेय पर उपमा का आरोप किया जाता है। और यह आरोप कविकल्पनाप्रसूत होना चाहिए।

उपमा और रूपक—रूपक उपमा से भिन्न होता है। उपमा में उपमेय और उपमान में साधर्म्य बताया जाता है और रूपक में साधर्म्य के आधार पर उपमेय पर उपमान का आरोप किया जाता है। उपमा में साधर्म्य वाच्य होता है और रूपक में गम्य (व्यङ्ग्य) होता है। उपमा में उपमेय प्रमुख होता है और रूपक में उपमान की प्रमुखता होती है। जैसे '**विकसितं मुखपद्मम्**' इत्यादि समास स्थल में विशेषण के उपमानगत होने पर रूपक अलङ्कार होता है और जहाँ विशेषण उपमेयगत होता है वहाँ उपमा होती है। जैसे 'सहास्यं मुखपद्मम्' इस उदाहरण में 'हास्य' विशेषण के उपमेयगत (मुखनिष्ठ) होने से उपमा अलङ्कार होता है। इसी प्रकार दोनों में समान रूप से विशेषण का अन्वय होने पर रूपक और उपमा का सङ्कर होगा। जैसे 'रमणीयं मुखपद्मम्' इस उदाहरण में रमणीयता विशेषण मुख और कमल दोनों में समान रूप से अन्वित है, अतः यहाँ सङ्कर अलङ्कार है। रूपक और उपमा दोनों ही सादृश्यमूलक अलङ्कार हैं किन्तु रूपक में सादृश्य तदभिन्न होता है। जैसे 'मुखचन्द्र' इस उदाहरण में मुख चन्द्राभिन्न है, इस प्रकार उपमान और उपमेय में अभेद ज्ञानोपरान्त सादृश्य की प्रतीति होती है और 'मुख चन्द्रमा के समान है' (चन्द्रवन्मुखम्) यहाँ पर मुख चन्द्रगतभूयोधर्मवत्त्व है अर्थात् मुख चन्द्रमा से अधिक धर्मों वाला है। इस प्रकार यहाँ मुख और चन्द्रमा में भिन्नता दिखाई देती है। उपमान (चन्द्र) और उपमेय (मुख) में भेद दिखाई देने से उपमा अलङ्कार है। भाव यह कि उपमान और उपमेय में तदभिन्नत्व के आधार पर दोनों में अभेद-प्रतीति होने पर रूपक होता है और उपमान और उपमेय दोनों में तद्गतभूयोधर्मवत्त्व के आधार पर भेद प्रतीति या सादृश्य-प्रतीति होने से उपमा होती है।

रूपक और अतिशयोक्ति—दोनों ही साधर्म्यमूलक अभेद प्रधान अलङ्कार हैं। किन्तु रूपक में उपमान और उपमेय में तादात्म्य पाया जाता है और अतिशयोक्ति में अध्यवसाय के द्वारा अभेद की कल्पना की जाती है। रूपक में उपमान का अभेदारोप होता है और अतिशयोक्ति में उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण होता है। निगीर्याध्यवसानरूपा अतिशयोक्ति में उपमेय की अपने स्वरूप में उपस्थिति नहीं होती और रूपक में होती। इस प्रकार गौणी सारोपा लक्षणा के क्षेत्र में रूपक होता है और गौणी साध्यवसाना लक्षणा के क्षेत्र में अतिशयोक्ति होती है (एवं च गौणसारोप-लक्षणासंभवस्थले रूपकम्, गौणसाध्यवसानलक्षणसंभवस्थलेत्वतिशयोक्तिरिति)।

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी—
न्यन्तर्द्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम् ।
द्वीपाद् द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धाञ्जनपरिमलं लाञ्छनस्यच्छलेन ॥४२२॥

अत्र पादत्रये अन्तर्द्धानव्यसनरसिकत्वमारोपित धर्म एवेति रूपक-परिग्रहे साधकमस्तीति तत्सङ्कराशङ्का न कार्या ।

रूपक के भेद

रूपक और अपह्नुति—दोनों ही सादृश्यमूलक अलङ्कार हैं किन्तु अपह्नुति में प्रकृत (प्रस्तुत) का निषेध किया जाता है और रूपक में नहीं, अपह्नुति में उपमेय को छिपाकर उपमान का स्थापन होता है और रूपक में दोनों अर्थात् उपमान और उपमेय दोनों का स्वरूप अलग-अलग स्पष्ट रहता है ।

रूपक अलङ्कार तीन प्रकार का होता है—साङ्गरूपक, निरङ्गरूपक और परम्परितरूपक । इनमें साङ्गरूपक के दो भेद होते हैं—समस्तवस्तुविषयक और एकदेशविवर्त्ति । निरङ्गरूपक के भी दो भेद होते हैं—शुद्ध और मालारूपक । परम्परित-रूपक के भी दो भेद होते हैं—श्लिष्ट रूपक और अश्लिष्ट रूपक । इनमें अर्थात् परम्परित रूपक के दोनों भेदों में प्रत्येक केवल (शुद्ध) एवं मालारूप दो प्रकार का होता है । इस प्रकार रूपक अलङ्कार के कुल आठ भेद होते हैं । क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं । प्रथम समस्तवस्तुविषयक रूपक का लक्षण देते हैं—

अनुवाद (वृत्ति) – आरोप विषय (उपमान) के समान आरोप्यमाण (उपमान) जब शब्दतः, उपात्त (कथित) होते हैं, तब समस्त वस्तुएँ जिसका विषय है ऐसा (समस्तानि वस्तूनि विषयोऽस्य – इस व्युत्पत्ति के अनुसार) समस्तवस्तुविषयक साङ्गरूपक होता । 'आरोपिताः' में बहुवचन अविवक्षित है । जैसे—

"चाँदनी रूप भस्म लगाने से सफेद (शुभ्र), तारका (तारे) रूपी अस्थियों को धारण किये हुए और अन्तर्धान (छिपने) की कला में निपुण (रसिक) यह रात्रि रूपी कापालिकी चन्द्ररूपी मुद्राकापाल में कलङ्क (लाञ्छन) के व्याज से सिद्धाञ्जन का चूर्ण रखे हुए एक द्वीप से दूसरे द्वीप घूम रही है ॥४२२॥"

यहाँ पर तीनों चरणों में अन्तर्धानव्यसनरसिकत्व आरोपित धर्म ही है, इसलिए रूपक मानने में साधक है, अतः रूपक के सन्देह सङ्कर की शङ्का नहीं करनी चाहिए ।

(सू० १४१) श्रौता आर्थश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्त्ति तत् ।

केचिरोप्यमाणाः शब्दोपात्ता, केचिदर्थसामर्थ्यादवसेया इत्येक देश-विवर्त्तनादेकदेशविवर्त्ति । यथा--

---

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण समस्तवस्तुविषयक साङ्गरूपक का उदाहरण है। यहाँ पर रात्रि के ऊपर कापालिकी का आरोप किया गया है (**रात्रिरेव कापालिकी**) यह प्रधान रूपक है। चादनी पर भस्म, ताराओं पर अस्थि, चन्द्रमा पर कपाल और लाञ्छन पर सिद्धाञ्जन का आरोप अङ्गभूत रूपक है। इसलिए यहाँ पर समस्तवस्तु-विषयक साङ्गरूपक है।

यहाँ पर रात्रि उपमेय है और कापालिकी उपमान। यहाँ 'रात्रिकापालिकी' पद में 'रात्रिरेव कापालिकी' इस विग्रह में 'मयूरव्यंसकादयश्च' इस सूत्र से समास होता है। इस प्रकार 'रात्रिरेव कापालिकी' इस विग्रह में रात्रि पर कापालिकी का आरोप होने से रूपक अलङ्कार होगा और 'रात्रिः कापालिकी इव' इस विग्रहवाक्य में दोनों में साम्य प्रतीत होने के कारण उपमा अलङ्कार होगा और 'उपमितं व्याघ्रा-दिभिः सामान्याप्रयोगे' इस सूत्र से उपमित समास होगा। इस प्रकार यहाँ रूपक और उपमा दोनों अलङ्कार सम्भव होने से सन्देह के कारण यहाँ सन्देहसङ्कर मानना चाहिए। इस शङ्का का निराकरण करते हुए मम्मट कहते हैं कि यहाँ पर अन्तर्द्धान-व्यसनरसिकत्व रात्रि में आरोपित कापालिकी का धर्म है, आरोपविषय रात्रि का धर्म नहीं है; क्योंकि अन्तर्द्धानव्यसन-रसिकत्व चेतन धर्म है और यह कापालिकी में ही संभव है, रात्रि में नहीं। उपमा की परिकल्पना में उपमेयभूत रात्रि की ही प्रधानता होने के कारण रात्रि में अन्तर्द्धानव्यसनरसिकत्व का अन्वय नहीं हो सकता, अतः यहाँ रूपक अलङ्कार मानना ही ठीक है। इस प्रकार यहाँ पर अन्तर्द्धानव्यसनरसिकत्व रूप विशेषण तो कापालिकी पक्ष टीक ठीक बैठ जाता है किन्तु अचेतन रात्रि पक्ष में उसका अन्वय नहीं होता, अतः यहाँ रूपक अलङ्कार ही है। इस प्रकार रूपक पक्ष में अनेक विनिगमक हेतुओं के होने से यहाँ रूपक अलङ्कार होने से सन्देहसङ्कर की आशङ्का नहीं करनी चाहिए।

(१) एकदेशविवर्त्ति रूपक

अनुवाद (सू० १४०)—जहाँ पर (आरोप्यमाण अंशतः) शब्दतः कथित होता है और (अंशतः) अर्थतः आक्षिप्त होतो है उसे एकदेशविवर्त्ति रूपक कहते हैं।

जस्स रणन्तेउरए करे कुणन्तस्स मण्डलग्गलअम्।
रससंमुही वि सहसा परंमुही होइ रिउसेणा ॥४२३॥

यस्य रणान्तःपुरे करे कुर्वतो मण्डलाग्रलताम्।
रससम्मुख्यपि सहसा पराङ्मुखी भवति सेना ॥४२३॥

(इति संस्कृतम्)

अत्र रणन्तःपुरत्वमारोप्यमाणं शब्दोपात्तम्। मण्डलाग्रलतायाः नायिकात्वम्, रिपुसेनायाश्च प्रतिनायिकात्वम् अर्थसामर्थ्यादवसीयते इत्येकदेशे विशेषेण वर्त्तनादेकदेशविवर्त्ति।

अनुवाद (वृत्ति)— जहाँ पर कुछ आरोप्यमाण (उपमान) शब्दतः उपात्त (गृहीत) होते हैं और कुछ अर्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त होते हैं इसलिए उसे एकदेश (अंशतः) में स्फुट रूप से वर्त्तमान होने के कारण एकदेशविवर्त्ति रूपक कहते हैं। जैसे—

"जिसके रणरूपी अन्तःपुर में खड्गलता (रूपी नायिका) को हाथ में ग्रहण करते ही रसाविष्ट (वीररस से आविष्ट) शत्रुसेना (शृंगाररस) में डूबी हुई भी प्रतिनायिका) सहसा पराङ्मुख हो गई अर्थात् भय से युद्ध से (क्रोध से प्रिय-समागम) से भाग खड़ी हुई ॥४२३॥

यहाँ पर रण पर अन्तःपुर का आरोप शब्दतः उपात्त है, मण्डलाग्रलता (खड्गलता) में नायिका का तथा रिपुसेना पर प्रतिनायिका का आरोप अर्थ-सामर्थ्य से प्रतीत होता है, इसलिए एकदेश में विशेष रूप से वर्त्तमान होने के कारण यहाँ पर एकदेशविवर्त्ति रूपक है।

विमर्श प्रस्तुत उदाहरण में एकदेशविवर्त्ति रूपक है। यहाँ पर रण पर अन्तःपुरत्व का आरोप तो शब्दः उपात्त (कथित) है, किन्तु खड्गलता पर नायिका का तथा शत्रुसेना पर प्रतिनायिका का आरोप शब्दतः उपात्त नहीं है, इसका निश्चय अर्थ-सामर्थ्य से किया जाता है। नहीं तो रण पर अन्तःपुरत्व का आरोप अनुपपन्न हो जायगा। यहाँ पर ईर्ष्या का हेतु होने से सौत प्रतिनायिका है, खड्गलता से नायिका का 'करे कुर्वतः' से पाणिग्रहण का और शत्रुसेना से प्रतिनायिका का बोध अर्थ सामर्थ्य से होता है। यहाँ मण्डलाग्रलता पर नायिका रूपण प्रधान रूपक है और रण पर अन्तःपुर का रूपण अप्रधान है, इसलिए यह साङ्गरूपक है।

(सू० १४२) साङ्गमेतत्

उक्तभेदद्वयं सावयवम् ।

(सू० १४३) निरङ्गन्तु शुद्धम्

यथा—

कुरङ्गीवाङ्गानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु यत्
सखी कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत् ।
अनिद्रं यश्चान्तः स्वपिति तदहो वेद्म्यभिनवां
प्रवृत्तोऽस्या सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम् ॥४२४॥

(सू० १४४) माला तु पूर्ववत् ॥९४॥

मालोपमायामिवैकस्मिन् बहव आरोपिताः । यथा—

अनुवाद (सू० १४२)—यह साङ्गरूपक है ।

उक्त दोनों भेद समस्तवस्तुविषय तथा एकदेशविवर्ति सावयव अर्थात् साङ्गरूपक हैं ।

अनुवाद (सू० १४३)—निरङ्ग (निरवयव) रूपक तो शुद्ध होता है ।

विमर्श—अङ्गों से रहित अर्थात् रूपकान्तर से अमिश्रित शुद्ध (केवल) रूपक कहा जाता है । उदाहरण जैसे—

अनुवाद—जो यह बाला गीत की ध्वनि सुनने पर मृगी के समान अंगों को निश्चल कर लेती है, प्रियतम के समाचार को सुनने पर भी सखी से बार-बार पूछती है, और बिना नींद के भी घर के अन्दर सोती रहती है, इससे मैं समझती हूँ कि कामदेव ने इसके हृदय में अभिनव (नयी) प्रेमलता को सींचना प्रारम्भ कर दिया है ॥४२४॥

विमर्श—यह निरङ्ग शुद्ध रूपक का उदाहरण है । अङ्गाङ्गिभाव से रहित रूपक शुद्ध रूपक कहलाता है, उसमें अन्य रूपकों का मिश्रण नहीं होता अर्थात् रूपकान्तर से अमिश्रित शुद्ध रूपक होता है । प्रस्तुत उदाहरण में प्रेम में लतिकामात्र का आरोप है, उसके परिपोषक रूप में अन्य किसी का आरोप नहीं किया गया है । (अत्र प्रेममात्रे लतिकात्वमात्रारोपः, न तु तदुत्पादकत्वेन क्वचिदन्यारोपः)

अनुवाद (सू० १४४)—माला रूपक तो पूर्व के समान होता है ।

मालोपमा के समान एक पर बहुतों का आरोप होता है जैसे—

सौन्दर्यस्य तरङ्गिणी तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्गमः
कान्तेः कार्मणकर्म नर्मरहसामुल्लासनावासभूः ।
विद्या वक्रगिरां विधेरनवधिप्रावीण्यसाक्षात्क्रिया
बाणाः पञ्चशिलीमुखस्य ललनाचूडामणिः सा प्रिया ॥४२५॥

(सू० १४५) नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः ।
तत् परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा ॥९५॥

अनुवाद—(कोई विरही अपनी प्रेयसी का स्मरण करता है) मेरी प्रिया सौन्दर्य की नदी है, यौवनोत्कर्ष के हर्ष (प्रसन्नता) का उद्गम है, कान्ति का वशीकरण मन्त्र है, रतिविलास अर्थात् रतिक्रीड़ाओं के विलास की निवासभूमि है, वक्रोक्ति रूप वाणी की विद्या है, विधाता के असीम निर्माण कौशल की साक्षात् क्रिया है, कामदेव की बाण रूप है और समस्त ललनाओं में शिरोमणि है ॥४२५॥

विमर्श—यह मालारूपक का उदाहरण है। मालारूपक निरङ्गरूपक का ही एक भेद है (निरङ्गस्यैव वैचित्र्यान्तरमाह माला त्विति)। भाव यह कि जिस प्रकार एक उपमेय में अनेक उपमानों के सादृश्य में मालोपमा होता है उसी प्रकार एक उपमेय में अनेक उपमानों का आरोप होने पर मालारूपक अलंकार होता है। जैसे प्रस्तुत उदाहरण में एक उपमेय प्रेयसी में तरङ्गिणी आदि अनेक उपमानों का आरोप होने से एक सूत्र में गुथे हुए बहुत से फूलों की माला के समान मालारूपक है। यहाँ अङ्गाङ्गिभाव न होने से निरङ्ग मालारूपक है।

अनुवाद (सू० १४५)—नियत अर्थात् अवश्य वर्णनीय आरोपण का निमित्त (कारण) जो अन्य किसी का आरोप होता है, वह परम्परित रूपक कहलाता है। वह दो प्रकार का होता है—वाचक शब्द के श्लिष्ट होने पर अथवा उससे भिन्न अश्लिष्ट होने पर।

विमर्श—जहाँ पर नियत वर्णनीय प्रकृत (उपमेय) पर अन्य अप्रकृत का आरोप किया जाता है, वहाँ परम्परित रूपक होता है। परम्परित का अर्थ है—"कार्यकारणभावरूपा आरोपपरम्परा सञ्जाता अस्येति व्युत्पत्त्या परम्परितमुच्यते" अर्थात् जहाँ पर वर्णनीय मुख्य आरोपण के प्रति अन्य वस्तु का आरोप केवल कारण रूप से विवक्षित होता है। इस प्रकार कार्यकारणभावरूप परम्परा जहाँ पर हो, वहाँ परम्परित रूपक होता है। यह साङ्गरूपक से भिन्न होता है; क्योंकि साङ्गरूपक में अङ्गरूपक अङ्गी (मुख्य) रूपक का परिपोषक मात्र होता है और परम्परितरूपक

यथा—

विद्वन्मानसहंस ! वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते !
दुर्गामार्गणनीललोहित ! समित्स्वीकारवैश्वानर !
सत्यप्रीतिविधानदक्ष ! विजयप्राग्भावभीम प्रभो !
साम्राज्यं वरवीर ! वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः ॥४२६॥

अत्र मानसमेव मानसम्, कमलायाः संकोच एव कमलानामसंकोचः, दुर्गाणाममार्गणमेव दुर्गायाः मार्गणम्, समितां स्वीकार एव समिधां स्वीकारः, सत्ये प्रीतिरेव सत्यामप्रीतिः, विजयः पराभव एव विजयोऽर्जुनः, एवमारोपण-निमित्तो हंसादेरारोपः।

में वर्णनीय (मुख्य) आरोप के लिए अन्य (आनुषङ्गिक) आरोप कारण रूप होता है। यही दोनों में अन्तर है।

उदाहरण जैसे—

अनुवाद—हे विद्वानों के मन रूपी मानस (मानसरोवर) के हंस ! शत्रुओं की लक्ष्मी के संकोच रूप कमलों के विकास के लिए सूर्य ! (कमल + असंकोच + दीप्तद्युते), दुर्ग (किलों) के अमार्गण (खोज न करना) रूप दुर्गा (पार्वती) के मार्गण (खोज) में शिव ! समित् युद्धों के स्वीकार रूप समिधाओं के स्वीकार के लिए वैश्वानर (अग्नि) ! सत्य की प्रीति के विधान के दक्ष (प्रजापति) सती को अप्रीति (नाराजगी) के कार्य में दक्ष प्रजापति, शत्रु-विजय रूप विजय (अर्जुन) से पहले उत्पन्न होने से भीम रूप ! हे वीरवर ! राजन् ! आप ब्रह्मा के सौ वर्ष पर्यन्त साम्राज्य का भोग करें ॥४२६॥

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ पर मन ही मानसरोवर है, कमला (लक्ष्मी) का संकोच ही कमलों का असंकोच (विकास) है, दुर्ग (किलों) का अमार्गण ही दुर्गा (पार्वती) का मार्गण शिव है, युद्ध का स्वीकार ही समिधाओं को स्वीकार है, सत्य में प्रीति ही सती की नाराजगी है, शत्रुओं का पराजय अर्थात् विजय ही अर्जुन है, इस प्रकार आरोपण के निमित्त (कारण) से ही (राजा पर) हंसादि का आरोप होता है।

विमर्श—मम्मट ने प्रस्तुत उदाहरण को श्लिष्ट परम्परित रूपक का उदाहरण माना है। वस्तुतः रुद्रट ने इस उदाहरण को श्लिष्ट परम्परित रूपक के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया था, मम्मट ने उसी को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ पर मानसादि पद श्लिष्ट है। यहाँ राजा पर हंस, सूर्य आदि का आरोप होने पर श्लेष के बल से मन आदि में मानसरोवर आदि का आरोप निमित्त है, इसलिए

यद्यपि शब्दार्थालङ्कारोऽयमित्युक्तं वक्ष्यते च तथापि प्रसिद्ध्यनुरोधादत्रोक्तः । एकदेशविवर्ति हीदमन्यैरभिधीयते ॥

यह श्लिष्ट परम्परित रूपक है। एक सूत्र में बहुत से फूलों के समान एक ही राजा रूप उपमेय में हंस आदि बहुत से उपमानों का आरोप होने से यह मालारूप श्लिष्ट परम्परित रूपक है।

यहाँ पर विद्वानों का मन उपमेय है और मानसरोवर उपमान ; अतः यहाँ विद्वानों के मनरूप उपमेय पर मानसरोवर रूप मानस का आरोप होने से राजा के ऊपर हंस का आरोप होता है। यहाँ पर 'मानस' शब्द श्लिष्ट है। इसके दो अर्थ होते हैं—मन और मानसरोवर। इस प्रकार यहाँ श्लिष्ट परम्परित रूपक है। इसी प्रकार राजा पर सूर्य का आरोप, शिव, प्रजापति तथा अर्जुन आदि का आरोप होता है।

अनुवाद—यद्यपि यह (परम्परित रूपक) उभयालङ्कार है, ऐसा कहा जा चुका है और आगे (सूत्र सं० २११ की व्याख्या में) कहेंगे, फिर भी प्रसिद्धि के कारण (अनुरोध से) यहाँ कह दिया गया है। क्योंकि अन्य (भामह आदि) आचार्यों ने इसे एकदेशविवर्त्तिरूपक कहा है।

विमर्श—भामह आदि प्राचीन आचार्यों का कथन है कि यह परम्परित रूपक अलङ्कार उभयालङ्कार है। क्योंकि शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार का निर्णय अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा किया जाता है, प्रस्तुत उदाहरण में 'मानस' आदि पद शब्द परिवृत्यसह होने के कारण शब्दालङ्कारत्व है और हंसादि पदों के शब्दपरिवृत्ति-सह होने से अर्थालङ्कारत्व है, इसलिए पुनरुक्तवदाभास अलंकार के समान 'परम्परित रूपक' को भी उभयालङ्कार (शब्दार्थालङ्कार) मानना चाहिए, किन्तु भामह आदि आचार्यों ने इसे अर्थालङ्कारों में गिना है, इसी कारण मम्मट ने भी प्रसिद्धि का अनुसरण करते हुए इसे अर्थालङ्कारों में गिना है। जैसाकि मम्मट ने दशम उल्लास के अन्त में सूत्र सं० २११ की व्याख्या में स्पष्ट किया है कि 'पुनरुक्तवदाभास और परम्परित रूपक ये दोनों अलङ्कार अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करने के कारण उभयालङ्कार हैं **(एवं च पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपकं चोभयोर्भावाभावानुविधायितया उभयालंकारो)**। 'विद्वन्मानसः' इत्यादि उदाहरण में मानस आदि पर परिवृत्यसह और हंसादि पद परिवृत्ति-सह हैं। भाव यह कि मानस आदि पदों के परिवर्त्तन कर देने पर अलङ्कारत्व नहीं रहता और हंसादि शब्दों के परिवर्त्तन कर देने पर भी अलङ्कारत्व की क्षति नहीं होती। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करने के कारण यह उभयालङ्कार है। भामह ने इसे एकदेशविवर्त्ति रूपक माना है। जैसाकि—

"इदं भामहादिभिः प्राचीनैरालंकारिकैरेकदेशविवर्त्ति इत्युच्यते, अर्थालंकारमध्ये एव च मन्यते, इति प्रसिद्ध्यनुरोधादस्माभिरपि अत्रोक्तः"

भेदभाजि यथा—

आलानं जयकुञ्जरस्य दृषदां सेतुर्विपद्वारिधेः
पूर्वाद्रिः करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः ।
सङ्ग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो
राजन् ! राजति वीरवैरिवनितावैधव्यदस्ते भुजः ॥४२७॥

अत्र जयादेर्भिन्न शब्दवाच्यस्य कुञ्जरत्वाद्यारोपे भुजस्य आलानात्वाद्यारोपो युज्यते ।

अलौकिकमहालोकप्रकाशितजगत्त्रयः ।
स्तूयते देव सद्वंशमुक्तारत्नं न कैर्भवान् ॥४२८॥

भेदोक्ति अश्लिष्ट मालारूप परम्परित रूपक का उदाहरण—

अनुवाद—हे राजन् ! विजय रूपी हाथ का बन्धनस्तम्भ, विपत्ति रूपी समुद्र का पाषाण का सेतु (पुल) तलवार के प्रचण्ड तेज रूपी सूर्य का उदयाचल, लक्ष्मी (राजलक्ष्मी) सुख-शयन का तकिया, सङ्ग्राम (युद्ध) रूपी अमृत-सागर के मन्थन रूप क्रीड़ा मन्दराचल और शत्रु-नारियों को वैधव्य प्रदान करने वाला तुम्हारा भुजदण्ड सुशोभित है ॥४२७॥

यहाँ पर भिन्न-भिन्न शब्दों से वाच्य 'जय' आदि पर कुञ्जरत्व आदि का आरोप होने पर भुजा पर आलान आदि का आरोप युक्ति संगत होता है ।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में आरोप विषय जयादि और आरोप्यमाण कुंजर आदि भिन्न-भिन्न शब्द हैं, 'मानसः' आदि के समान श्लिष्ट नहीं हैं । इस प्रकार जय आदि पर कुञ्जर आदि का आरोप भुजा पर आलानत्व आदि के आरोप का निमित्त है, इसलिए यह अश्लिष्ट परम्परित रूपक है । यहाँ भुजा रूप एक ही उपमेय पर आलानत्व आदि अनेक उपमानों का आरोप होने से मालारूपक है । इस प्रकार यह अश्लिष्ट परम्परित मालारूपक का उदाहरण है ।

अब श्लिष्ट अमालारूप परम्परित रूपक का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—हे राजन् ! अलौकिक (लोकोत्तर) महान् प्रकाश (महान् यश) से तीनों लोक को प्रकाशित करने वाले और उत्तम वंश (कुल तथा बांस) के मुक्तामणि (मुक्तारत्न रूप आप किसके द्वारा स्तुति नहीं किये जाते अर्थात् आपकी कौन स्तुति नहीं करता अर्थात् सभी स्तुति करते हैं ॥४२८॥

निरवधि च निराश्रयं च यस्य स्थितमनिर्वर्तितकौतुकप्रपञ्चम्।
प्रथम इह भवान् स कूर्ममूर्त्तिर्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः ॥४२९॥

इति च अमालारूपकमपि परम्परितं द्रष्टव्यम्।

किसलयकरैर्लतानां करकमलैः कामिनां मनो जयति।
नलिनीनां कमलमुखैर्मुखेन्दुभिर्योषितां मदनः ॥४३०॥

इत्यादिरशनारूपकं न वैचित्र्यवदिति न लक्षितम्।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में आरोपविषय सत्कुल (सद्वंश) और आरोप्यमाण उत्तम बांस (सद्वंश) दोनों ही श्लिष्ट सद्वंश शब्द से कथित हैं। यहाँ सत्कुल पर सद्वंश (उत्तम बांस) का आरोप किया गया है। यह श्लिष्ट सद्वंश के द्वारा सत्कुल पर उत्तम बांस का आरोप राजा पर मुक्तारत्न के आरोप में निमित्त (कारण) है। इसलिए यह श्लिष्ट परम्परित रूपक का उदाहरण है। यहाँ राजा रूप उपमेय पर केवल मुक्तारत्न का आरोप है और अन्य आरोप नहीं किया गया है। इसलिए अमालारूपक है। इस प्रकार यहाँ अश्लिष्ट अमालारूप परम्परित रूपक है।

अश्लिष्ट अमालारूप केवल परम्परित रूपक का उदाहरण—

अनुवाद—कालादि की सीमा से रहित और आश्रय से रहित और आश्चर्य के विस्तार से पूर्ण जिसकी स्थिति है। इस संसार में प्रथम (आद्यावतार) और चौदह लोक रूपी लता के कन्द (मूल) कूर्ममूर्त्ति (कूर्मावतार रूप) आप सर्वोत्कर्ष युक्त हैं आपकी जय हो) ॥४२९॥

यहाँ अमालारूपक परम्परित समझना चाहिए।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'लोक' और 'वल्ली' शब्द दोनों अलग-अलग कथित हैं। यहाँ लोक पर वल्ली का आरोप विष्णु पर कन्दत्व के आरोप का निमित्त है। इसलिए यहाँ अश्लिष्ट परम्परित रूपक है। यहाँ पर विष्णु रूप उपमेय पर केवल कन्दत्व का आरोप होने से अमालारूप रूपक है। इस प्रकार यहाँ पर अश्लिष्ट अमालारूप केवल परम्परित रूपक है।

अनुवाद—कामदेव लताओं के किसलय रूप हाथों से, नारियों के कर कमलों से, कमलिनियों के कमल मुख से और युवतियों के मुखचन्द्र से कामियों के मन को वश में कर लेता है ॥४३०॥

इत्यादि रशनारूपक तो चमत्कार-जनक नहीं है। इसलिए उसका लक्षण नहीं किया है।

विमर्श—यहाँ पर किसलय में करत्व का, कर (हाथ) में कमलत्व का, कमल

(सू० १४६) प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सात्वपह्नुतिः ।

उपमेयमसत्यं कृत्वा उपमानं सत्यतया यत्स्थाप्यते सा त्वपह्नुतिः। उदाहरणम्—

में मुखत्व का और मुख पर चन्द्रत्व का आरोप हुआ है। इस प्रकार यहाँ पूर्व-पूर्व उपमान कर आदि उत्तरोत्तर उपमेय अर्थात् आरोपविषय हो गया है। इसलिए यहाँ रशनारूपक अलङ्कार होना चाहिए; किन्तु आचार्य मम्मट ने इसे रशनारूपक अलङ्कार के रूप में स्वीकार नहीं किया है। क्योंकि ऐसे स्थलों पर उपमेय का उत्कर्ष दिखाने के लिए उपमानरूप विषयों का पुनः उपमेय बनाने में उपमेय का उत्कर्ष समाप्त हो जाता है, इसलिए विशेष चमत्कार-जनक न होने के कारण मैंने उसका अलग से लक्षण नहीं किया है।

(७) अपह्नुति अलंकार

अनुवाद (सू० १४६)—प्रकृत (उपमेय) का निषेध कर जो अन्य (उपमान) सिद्धि की जाती है, उसे अपह्नुति अलङ्कार कहते हैं।

अनुवाद (वृत्ति)—जहाँ पर उपमेय की असत्यता का प्रतिपादन कर उपमान को सत्य रूप से स्थापित किया जाता है तो वह अपह्नुति अलङ्कार है।

विमर्श—मम्मट ने अपह्नुति का लक्षण अग्निपुराण के आधार पर प्रतिपादित किया है। अग्निपुराण में अपह्नुति का लक्षण—**'अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थसूचनम्'** प्रतिपादित किया गया है जिसे दण्डी ने अविकल रूप से उद्धृत किया है। जिसका अभिप्राय है कि जहाँ पर किसी वस्तु को छिपाकर (निषेध कर) अन्य वस्तु की सूचना दी जाय, वहाँ अपह्नुति अलङ्कार होता है। मम्मट ने इसी आधार पर **'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सात्वपह्नुतिः'** यह लक्षण प्रतिपादित किया है। किन्तु मम्मट के लक्षण में प्रकृत (उपमेय) पद उपलक्षणमात्र प्रतीत होता है। वस्तुतः अग्निपुराणोक्त **'अपह्नुतिरपह्नुत्यकिञ्चिदन्यार्थसूचनम्'** लक्षण ही अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है। इसी आधार पर प्रकृत (उपमेय) के निषेध के साथ उपमान के रूप में व्यवस्थित करना अपह्नुति है।

यहाँ पर 'प्रकृत का निषेध कर' ऐसा जो कहा गया है, उससे रूपक का उपमेय का वारण (व्यावृत्ति) होता है। क्योंकि रूपक में प्रकृत में अप्रकृत (उपमान) का आरोप होता है, प्रकृत का निषेध नहीं होता जबकि अपह्नुति में प्रकृत का निषेध होता है। इसी प्रकार 'अन्यत्साध्यते' (अन्य की सिद्धि की जाती है) के द्वारा आक्षेप अलङ्कार का वारण होता है क्योंकि आक्षेप अलङ्कार में प्रकृत का निषेध तो पाया जाता है किन्तु 'अन्यत्साध्यत्व' नहीं पाया जाता जबकि अपह्नुति में 'अन्यत्साध्यत्व' पाया जाता है (अन्यत्साध्यते)। अपह्नुति सन्देह अलङ्कार से भी भिन्न होता है; क्योंकि सन्देह में संशय बना रहता है जबकि अपह्नुति में निश्चय पाया जाता है।

अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये !
कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि।
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्पन्दशिशिरे
रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि ॥४३१॥

इत्थं वा—

बत सखि ! कियदेतत् पश्य वैरं स्मरस्य
प्रियविरहकृशेऽस्मिन् रागिलोके तथा हि।
उपवनसहकारोद्भासिभृङ्गच्छलेन
प्रतिविशिखमनेनोट्ङ्कितं कालकूटम् ॥४३२॥

अपह्नुति अलङ्कार के दो भेद होते हैं—शाब्दी और आर्थी। जहाँ पर प्रकृत (उपमेय) का निषेध शब्द के द्वारा किया जाता है वहाँ शाब्दी अपह्नुति होती है और जहाँ पर प्रकृत-निषेध अर्थतः आक्षिप्त होता है, वहाँ आर्थी अपह्नुति होती है। आर्थी अपह्नुति अनेक भङ्गिमाओं से निबद्ध होती है अर्थात् कहीं कपट वाचक (कपटार्थक) शब्दों के ग्रहण से, कहीं परिणामार्थक शब्दों के ग्रहण से तथा कहीं अन्य प्रकार से निबद्ध किया जाता है। उदाहरण द्वारा आगे स्पष्ट किया जाता है। जैसे—

शाब्दी-अपह्नुति

अनुवाद—हे शैलतनये ! (पार्वति) पूर्ण कान्ति चन्द्रमा के शरीर पर (वक्षःस्थल पर) प्रकट होने वाला यह कलङ्क नहीं शोभित है। मैं तो समझता हूँ (मन्ये) कि यह निशा-नायिका अमृत के प्रवाह से शीतल वक्षः-स्थल पर रति (सम्भोग) से थकी हुई (श्रान्ता) गाढ़ निद्रा में सो रही है ॥४३१॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में उपमेय रूप कलङ्क का निषेध करके उपमान-भूतरात्रि की सत्यता स्थापित की गई है, इसलिए यहाँ अपह्नुति अलङ्कार है। यहाँ 'नैवायम्' इस शब्द से उपमेय का निषेध किया गया है, इसलिए यहाँ शाब्दी अप-ह्नुति है।

आर्थी अपह्नुति

अथवा इस प्रकार—

अनुवाद—हे सखि ! यह देखो, प्रिय के विरह से क्षीण इस रागी (अनुरागयुक्त) लोगों के प्रति कामदेव का कितना वैरभाव है कि उद्यान के आम की मञ्जरी पर बैठे हुए भौंरों के बहाने उसने प्रत्येक (पुष्प रूप) बाण पर कालकूट विष लगा दिया है ॥४३२॥

एवं वा—

> अमुष्मिल्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः
> स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघनभागे निपतितः।
> यदङ्गाङ्गाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे
> शिखाधूमस्येयं परिणमति रोमावलिवपुः ॥४३३॥

अत्र रोमावलिः धूमशिखेयमिति प्रतिपत्तिः एवमियं भङ्गयन्तरैरप्यूह्या।

यहाँ पर आम्र की मञ्जरी भौरों से युक्त नहीं है, अपितु कालकूट विष सहित बाण है, इस प्रकार प्रतीति होती है।

विमर्श--यह आर्थी अपह्नुति का उदाहरण है। जहाँ पर प्रकृत का निषेध अर्थतः आक्षिप्त होता है यहाँ आर्थी अपह्नुति होती है। आर्थी अपह्नुति में कभी कपटार्थक शब्दों के द्वारा निषेध का बोध होता है और कभी परिणामार्थक शब्दों के द्वारा प्रकृत के निषेध की प्रतीति होती है। यहाँ पर कपटार्थक शब्द के प्रयोग द्वारा अर्थ का आक्षेप है। यहाँ पर उपमेयभूत भ्रमरों का निषेध कर उपमानरूप कालकूट विष की स्थापना की गई है, इसलिए यहाँ अपह्नुति अलंकार है। यहाँ पर कपटार्थक 'छल' शब्द के प्रयोग के द्वारा उपमेय का निषेध अर्थतः आक्षिप्त है अतः यहाँ आर्थी अपह्नुति है।

परिणामार्थक शब्द-प्रयोग के द्वारा आर्थी अपह्नुति का उदाहरण—

अनुवाद—निश्चय ही शिवजी के द्वारा दग्ध (भस्म) किया गया कामदेव इस मृगनयनी के विशाल जघन स्थल पर (विद्यमान) इस सौन्दर्य रूप अमृत के सरोवर में गिर पड़ा है; क्योंकि कामदेव के अङ्गों से अङ्गारों की शान्ति (बुझने) की सूचना देने वाली यह धूमशिखा नाभि-कुहर में रोमावलि के रूप में परिणत हो गई है ॥४३३॥

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ पर रोमावली नहीं, अपितु धूमशिखा है, इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रकार प्रकारान्तर से भी यह आर्थी अपह्नुति समझनी चाहिए।

विमर्श—यहाँ पर धूमशिखा रोमावलि के आकार में परिणत हो गई है, इस प्रकार परिणाम शब्द के अर्थ अर्थवशात् यह प्रतीति होती है कि यह रोमावलि नहीं, अपितु धूमशिखा है। इस प्रकार परिणाम शब्द के उपादान से यहाँ पर आर्थी अपह्नुति है। आर्थी अपह्नुति अनेक भङ्गिमाओं से होती है। यहाँ पर परिणामार्थक शब्दों के प्रयोग के द्वारा प्रकृत (उपमेय) का निषेध किया गया है। अतः यह परिणामार्थक शब्द प्रयोग के द्वारा आर्थी अपह्नुति का उदाहरण है।

(सू० १४७) श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत् ॥९६॥

एकार्थप्रतिपादकानामेव शब्दानां यत्रानेकोऽर्थः स श्लेषः। उदाहरणम्—

उदयमयते दिङ्मालिन्यं निराकुरुतेतरां
नयति निधनं निद्रामुद्रां प्रवर्त्तयति क्रियाः
रचयतितरां स्वैराचारप्रवर्त्तनकर्त्तनं
बत बत लसत्तेजःपुञ्जो विभाति विभाकरः ॥४३४॥

अत्राभिधाया अनियन्त्रणात् द्वावप्यर्कभूपौ वाच्यौ।

---

(८) अर्थश्लेष अलंकार

अनुवाद (सू० १४७)—जहाँ पर एक ही वाक्य में अनेक अर्थ होते हैं, उसे श्लेष अलङ्कार कहते हैं ॥९६॥

एक अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के जहाँ अनेक अर्थ होते हैं, वह श्लेष अलङ्कार कहलाता है।

विमर्श—एक अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के जहाँ अनेक अर्थ होते हैं वहाँ, अर्थश्लेष होता है। तात्पर्य यह कि 'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इस नियम के अनुसार एक ही अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के जहाँ पर अनेक अर्थ होते हैं; वहाँ अर्थश्लेष होता है। अब प्रश्न यह है कि एक अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के अनेक अर्थ कैसे हो सकते हैं? इस पर कहते हैं कि जहाँ पर एक शब्द के दो या अधिक अर्थ होते हैं वहाँ एक शब्द नहीं होता, बल्कि दो या अधिक शब्द होते हैं और समानाकार होने के कारण जतु-काष्ठन्याय से वे परस्पर चिपककर एकाकार हो जाते हैं जिसे श्लेष कहते हैं। नवम उल्लास में इस विषय पर प्रतिपादन किया जा चुका है। वहाँ यह भी बताया जा चुका है कि शब्दश्लेष शब्दपरिवृत्यसह होता है अर्थात् वह शब्द-परिवर्त्तन को सहन नहीं करता अर्थात् शब्द-परिवर्त्तन कर देने पर श्लेषत्व नहीं रहता और अर्थश्लेष शब्दपरिवृत्तिसह होता है। अर्थात् वहाँ पर शब्द-परिवर्त्तन कर देने पर भी श्लेषत्व बना रहता है। इस प्रकार शब्द परिवृत्तिसह श्लिष्ट शब्दों के प्रकरण आदि का नियन्त्रण न होने पर भी अर्थात् प्रकरणादि के अभाव में भी जहाँ अनेक अर्थ होते हैं वहाँ अर्थश्लेष होता है। जैसे—

अनुवाद—विभाकर (सूर्य अथवा विभाकर नामक राजा) उदय (उन्नति) को प्राप्त होता है, दिशाओं की मलिनता (अन्धकार या दुराचरण) को दूर करता है, निद्रा की मुद्रा (आँखें बन्द होना अथवा निरुत्साहता) का विनाश करता है, क्रियाओं (गगनागमन अथवा अग्निहोत्रादि) का प्रवर्त्तन करता है, स्वैराचार (अभिसार अथवा निषिद्ध आचरण) में प्रवृत्तियों का कर्त्तन (नाश) करता है। हर्ष का विषय है कि देदीप्यमान तेजोराशि से विभाकर शोभित हो रहा है ॥४३४॥

(सू १४८) परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः ।

प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्टविशेषणमाहात्म्यात्, नतु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि, यत् अप्रकृतार्थस्याभिधानं सा समासेन संक्षेपेणार्थद्वयकथनात् समासोक्तिः । उदाहरणम्—

यहाँ पर अभिधा आदि का नियन्त्रण न होने से सूर्य और राजा दोनों ही वाच्य हैं ।

विमर्श—यहाँ पर 'उदयमयते' इत्यादि वाक्यों में 'उदय' आदि शब्दों का प्रकरण आदि का नियन्त्रण न होने से दोनों अर्थ वाच्य हैं और शब्दपरिवृत्तिसह होने से यहाँ अर्थश्लेष है । 'विभाकर' शब्द में परिवृत्यसह होने से शब्दश्लेष है । इस प्रकार यहाँ विभाकर शब्द में 'शब्दपरिवृत्यसह होने से शब्दश्लेष होने पर भी 'उदयम्' इत्यादि अनेक शब्दों में शब्दपरिवृत्तिसह होने से अर्थश्लेष का उदाहरण है ।

(९) समासोक्ति अलंकार

अनुवाद—श्लेष युक्त विशेषणों के द्वारा पर अर्थात् अप्रकृत के (व्यवहार) का कथन समासोक्ति अलङ्कार है ।

अनुवाद (वृत्ति)—प्रकृत अर्थ के प्रतिपादक वाक्य का श्लिष्ट विशेषणों की महिमा से, न कि विशेष्य के सामर्थ्य से भी, जो अपकृत (अप्रस्तुत) अर्थ का कथन, वह समास से अर्थात् संक्षेप से दोनों अर्थों के कथन के कारण समासोक्ति अलङ्कार है ।

विमर्श—समासोक्ति का अर्थ है—'संक्षिप्त कथन' अर्थात् एक अर्थ के कथन से दूसरे अर्थ की प्रतीति समासोक्ति है । अग्निपुराणकार का कथन है कि जिस उक्ति में समान विशेषणों के कारण अन्य (दूसरे) अर्थ की प्रतीति हो, अर्थ के संक्षिप्त होने के कारण उसे समासोक्ति कहते हैं । अग्निपुराण के समान भामह और रुय्यक ने भी विशेषण-साम्य के आधार पर समासोक्ति का लक्षण प्रस्तुत किया है । भामह ने तो अग्निपुराणकार के लक्षण को अविकल उद्धृत किया है—

यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थस्तत्समानविशेषणः ।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षेपार्थतया बुधैः ॥ (अग्निपुराण)

भामह ने इसी लक्षण को ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया है और रुय्यक ने उसी आधार पर अपना लक्षण प्रस्तुत किया है—

विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः (रुय्यक) ।

मम्मट ने श्लिष्ट विशेषणों के माहात्म्य से अप्रस्तुत अर्थ के कथन को समासोक्ति कहा है । भाव यह कि अनेकार्थक शब्दों के संक्षेप से अर्थद्वय का प्रतिपादन समासोक्ति

लहिऊण तुज्झ बाहुप्फंसं जीए स को वि उल्लासो ।
जअ लच्छी तुह विरहे ण हूज्जला दुब्वला णं सा ।।४३५।।

लब्ध्वा तव बाहुस्पर्शं यस्याः स कोऽप्युल्लासः ।
जयलक्ष्मीस्तव विरहे न खलूज्ज्वला दुर्बला ननु सा ४३५।।

(इति संस्कृतम्)

अत्र जयलक्ष्मी शब्दस्य केवलं कान्तावाचकत्वं नास्ति ।

है। अर्थात् श्लेषयुक्त विशेषणों के द्वारा जो अप्रकृत अर्थ व्यवहार रूप अर्थ का कथन अर्थात् व्यञ्जना के द्वारा प्रतिपादन समासोक्ति अलङ्कार है। उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि श्लेषयुक्त विशेषणों की महिमा से (बोधकत्वरूप सामर्थ्य से) जहाँ पर प्रस्तुत अर्थ के प्रतिपादक वाक्य के द्वारा अप्रस्तुत व्यवहार रूप अर्थ का व्यञ्जना के द्वारा बोध होता है, वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है। इस प्रकार समासोक्ति में प्रस्तुत कथन का अभिधा के द्वारा प्रतीति होती है और अप्रस्तुत कथन का व्यञ्जना के द्वारा बोध होता है।

समासोक्ति और रूपक—रूपक अलङ्कार में प्रकृत (उपमेय) पर अप्रकृत (उपमान) का आरोप होता है और समासोक्ति में प्रकृत पर अप्रकृत के व्यवहार का आरोप किया जाता है। रूपक में अप्रस्तुत का शब्दतः कथन होता है और समासोक्ति में अप्रस्तुत अर्थगम्य (व्यङ्ग्य) होता है।

समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा—दोनों ही औपम्यगम्य अलङ्कार हैं किन्तु अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत का आक्षेप किया जाता है और समासोक्ति में प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत का आक्षेप होता है।

समासोक्ति और श्लेष - दोनों में भी श्लेष के द्वारा दो अर्थों की प्रतीति होती है किन्तु श्लेष अलङ्कार में विशेषण और विशेष्य दोनों ही श्लिष्ट होते हैं और समासोक्ति में केवल विशेषण ही श्लिष्ट होता है। इसके अतिरिक्त श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य होते हैं किन्तु समासोक्ति में प्रस्तुत अर्थ वाच्य होता है और अप्रस्तुत अर्थ व्यङ्ग्य होता है। अब समासोक्ति का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—हे वीर! तुम्हारे बाहु (भुजाओं) का स्पर्श पाकर जिसको कोई अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता था, वह जयलक्ष्मी अब तुम्हारे विरह में उज्ज्वल नहीं रही, बल्कि दुर्बल हो गई ।।४३५।।

यहाँ पर जयलक्ष्मी शब्द केवल कान्तावाचक नहीं है।

विमर्श—यहाँ पर विशेष्यवाची जयलक्ष्मी शब्द केवल कान्ता (कामिनी) रूप

(सू० १४९)..............................निदर्शना ।

अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ।

निदर्शनम् दृष्टान्तकरणम् । उदाहरणं यथा—

अर्थ का वाचक नहीं है, अपितु विशेषणवाचक जयलक्ष्मी और कामिनी दोनों के बाहु-स्पर्श आदि के बोधक हैं अर्थात् विशेषण पदों के व्यञ्जना के द्वारा जयलक्ष्मी के व्यवहार की कामिनी के व्यवहार के रूप में प्रतीति होती है। इस प्रकार यहाँ विशेषणवाचक पद अप्रकृत कान्ता-व्यवहार रूप अर्थ के व्यञ्जक हैं जो प्रकृत जयलक्ष्मी के व्यवहार रूप अर्थ के उत्कर्षाधायक है, अतः यहाँ पर समासोक्ति अलङ्कार है । भाव यह है कि यहाँ पर बाहुस्पर्शादि विशेषणों के बल से जयलक्ष्मी का वृत्तान्त नायिका (कामिनी) के वृत्तान्त के रूप में गम्य (व्यङ्ग्य) होता है, इसीलिए इसे समासोक्ति अलङ्कार कहते हैं।

(१०) निदर्शना अलंकार

अनुवाद (सू० १४९)—अनुपपद्यमान (अभवन्=असंभवन्=अनुपपद्यमानः) वस्तु-सम्बन्ध उपमा का परिकल्पक अर्थात् उपमा में पर्यवसित होने पर निदर्शना अलङ्कार होता है ।

यहाँ पर निदर्शन का अर्थ दृष्टान्तकरण है ।

विमर्श—मम्मट ने निदर्शना का लक्षण बताया है कि जहाँ पर असम्भव (अनुपपद्यमान) वस्तु अर्थात् पदार्थ और वाक्यार्थ का सम्बन्ध उपमा के रूप में पर्यवसित हो जाता है वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है । भाव यह कि जहाँ पर वस्तुओं अर्थात् पदार्थों अथवा वाक्यार्थों का अन्वय नहीं बनता और उपमानोपमेय भाव के रूप में परिणत हो जाता है, वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है । शोभाकरमित्र केवल असंभद्वस्तु सम्बन्ध में निदर्शना मानते हैं (**असति सम्बन्धे निदर्शना**) । इस प्रकार मम्मट के अनुसार जहाँ पर वस्तु का परस्पर सम्बन्ध न होने पर भी अर्थात् बोधन के लिए उपमा के रूप में पर्यवसित हो जाता है वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है । यहाँ 'उपमापरिकल्पक' का अर्थ है— अन्त में समानता का बोधक होना । तात्पर्य यह जहाँ दो वाक्यों में परस्पर अन्वय-बोध नहीं हो तो अन्वय-बोध के लिए उनमें उपमानोपमेयभाव की परिकल्पना करली जाती है अर्थात् एक वाक्य को उपमेय के रूप में और दूसरे वाक्य को उपमान के रूप में कल्पित कर लिया जाता है वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है ।

दृष्टान्त और निदर्शना— दोनों में ही सादृश्य गम्य (व्यङ्ग्य) होता है । और दोनों में ही दो वाक्य होते हैं तथा दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है ।

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥४३६॥

अत्रोडुपेन सागरतरणमिव मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमित्युपमायां पर्यव-स्यति ।

किन्तु दृष्टान्त में दोनों वाक्य परस्पर निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र होते हैं और निदर्शना में दोनों वाक्य परस्पर सापेक्ष होते हैं। दृष्टान्त में उपमेय और उपमान दोनों वाक्यों में अलग-अलग धर्म होते हैं और उनका स्पष्ट निर्देश किया जाता है और निदर्शना के दोनों वाक्यों में भिन्न-भिन्न धर्म नहीं होते, अपितु धर्म अभिन्न होते हैं और उनका निर्देश नहीं किया जाता। इनके अतिरिक्त दृष्टान्त में स्वतन्त्र रूप से स्थित दो वाक्यों में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होता है और निदर्शना में वह बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव आक्षिप्त होता है। (परस्परनिरपेक्षयोर्वाक्ययोर्हि बिम्ब-प्रतिबिम्बभावो दृष्टान्तः, निदर्शनायां तु सापेक्षयोर्वाक्ययोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावयोसंक्षेपः)।

निदर्शना और रूपक—दोनों में ही आरोप होता है किन्तु रूपक में उपमेय पर उपमान का ताद्रूप्यारोप होता है और निदर्शना में दो पदार्थों में परस्पर एकता का आरोप किया जाता है। रूपक में एक वाक्य होता है और निदर्शना में दो वाक्य होते हैं और दोनों परस्पर सापेक्ष होते हैं।

निदर्शना अलङ्कार दो प्रकार का होता है—वाक्यार्थनिदर्शना और पदार्थ-निदर्शना। उनमें प्रथम वाक्यार्थ-निदर्शना का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—कहाँ तो सूर्य से उत्पन्न वंश (कुल, रघु का वंश) और कहाँ अल्पज्ञान वाली मेरी बुद्धि? मैं तो मोहवश छोटी नौका से दुस्तर सागर को पार करना चाहता हूँ ॥४३६॥

यहाँ पर 'मेरी तुच्छ बुद्धि के द्वारा सूर्यवंश का वणन करना छोटी नौका (घन्नई) से समुद्र के पार करने समान हैं' इस प्रकार उपमा में पर्यवसान हो गया है।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण रघुवंश महाकाव्य से उद्धृत किया गया है। यहाँ पर महाकवि कालिदास कहते हैं कि 'कहाँ तो मेरी तुच्छ बुद्धि और कहाँ सूर्यवंश का वर्णन? इस वाक्य का 'मैं छोटी नौका से समुद्र पार करना चाहता हूँ' इस वाक्य से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता अर्थात् इनमें परस्पर अन्वय-बोध नहीं होता। अतः इन दोनों वाक्यों में परस्पर अन्वय-बोध के लिए उपमानोपमेयभाव की कल्पना कर ली जाती है अर्थात् जिस प्रकार छोटी नौका से समुद्र को पार करना असम्भव है उसी प्रकार मेरी तुच्छ बुद्धि से सूर्यवंश का वर्णन करना असम्भव है। इस प्रकार यहाँ पर

यथा वा—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥४३७॥

अत्र कथमन्यस्य लीलामन्यो वहतीति तत्सदृशीमित्युपमायां पर्यवसानम्।

दोर्भ्यां तितीर्षति तरङ्गवतीभुजङ्गमादातुमिच्छति करे हरिणाङ्कबिम्बम् ।
मेरुं लिलङ्घयिषति ध्रुवमेष देव ! यस्ते गुणान् गदितुमुद्यममादधाति ॥४३८॥

इत्यादौ मालारूपाऽप्येषा द्रष्टव्या ।

पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों वाक्यों में अन्वय-बोध के लिए उपमानोपमेयभाव की कल्पना कर ली जाती है, अतः यह वाक्यार्थ-निदर्शना का उदाहरण है ।

अब पदार्थ-निदर्शना का उदाहरण देते हैं । जैसे—

अनुवाद—रश्मि (किरण) रूपी रस्सियों को ऊपर की ओर फैलाये हुए सूर्य के उदय होते और हिमांशु चन्द्रमा के अस्त होते समय यह पर्वत दोनों ओर लटकते हुए दो घण्टों से युक्त गजराज की शोभा को धारण कर रहा है ॥४३७॥

यहाँ पर अन्य (दूसरे) की लीला (शोभा) को दूसरा कैसे धारण कर सकता है ? इसलिए 'उसके समान' इस उपमा में पर्यवसान हो जाता है ।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण शिशुपालवध महाकाव्य के रैवतक-वर्णन से लिया गया है । यह पदार्थ-निदर्शना का उदाहरण है । यहाँ पर 'वारणेन्द्रलीलाम्' इस समस्त पद के अर्थ के साथ 'गिरि' पद के अर्थ का अन्वय नहीं बनता, क्योंकि वारणेन्द्र की लीला को पर्वत कैसे धारण कर सकता है ? इसलिए वह 'वारणेन्द्रलीलासदृशी लीला' इस उपमा में पर्यवसित होता है, अतः यहाँ पदार्थ-निदर्शना अलङ्कार है ।

मालारूप निदर्शना का उदाहरण—

अनुवाद—हे राजन् ! जो आपके गुणों का वर्णन करना चाहता है निश्चय ही समुद्र को भुजाओं से पार करना चाहता है, चन्द्र-बिम्ब को हाथ में पकड़ना चाहता है और मेरु पर्वत को लाँघना चाहता है ॥४३८॥

इत्यादि उदाहरणों में निदर्शना मालारूप में देखनी चाहिए ।

(सू० १५०) स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च साऽपरा ।

क्रिययैव स्वरूपस्वकारणयोः सम्बन्धो यदवगम्यते, साऽपरा निदर्शना यथा—

उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्हेलयैव स पतेदिति ब्रुवन् ।
शैलशेखरगतो दृषत्कणश्चारुमारुतधुतः पतत्यधः ॥४३९॥

अत्र पातक्रियया पतनस्य लाघवे सति उन्नतपदप्राप्तिरूपस्य च सम्बन्धः ख्याप्यते ।

विमर्श—यहाँ पर 'जो तुम्हारे गुणों को वर्णन करना चाहता है' यह एक वाक्यार्थ है और 'वह समुद्र को हाथों से तैरना चाहता है' यह दूसरा वाक्यार्थ है और इन दोनों का सम्बन्ध अनुपपन्न है । इसलिए यहाँ 'समुद्र-तरण के समान तुम्हारे गुणों का वर्णन है' इस उपमा में पर्यवसित हो जाता है । यहाँ पर एक ही 'गुण-गण-वर्णन' रूप उपमेय के 'समुद्र-तरण' आदि अनेक उपमान हैं । इसलिए यहाँ मालारूपा निदर्शना अलंकार है ।

अनुवाद (सू० १५०)—क्रिया के द्वारा ही अपना और अपने हेतु के अन्वय (सम्बन्ध) का कथन दूसरे प्रकार की निदर्शना है ।

क्रिया के द्वारा ही अपने स्वरूप और अपने कारण का जो अवगमन कराया जाता है, वह दूसरे प्रकार की निदर्शना है ।

विमर्श—मम्मट ने एक दूसरे प्रकार की निदर्शना अलंकार का भी प्रतिपादन किया है । मम्मट के अनुसार क्रि ा के द्वारा ही अपने कार्य अर्थात् क्रियारूप कार्य का तथा अपने हेतु (कारण) का जो कार्य-कारणभाव रूप सम्बन्ध है, उसका कथन दूसरे प्रकार की निदर्शना है । जैसाकि प्रदीपकार का कथन है कि जहाँ पर क्रिया के द्वारा ही अपने कार्य और अपने हेतु का हेतुहेतुमद्भाव (कार्य-कारणभाव) सम्बन्ध होता है, वह दूसरी प्रकार की निदर्शना होती है । जैसे—

अनुवाद—जो क्षुद्र-व्यक्ति उन्नत (ऊँचे) पद को पाकर अनायास ही गिर जाता है, यह कहते हुए पर्वत के शिखर पर आरूढ़ पाषाण-कण मन्द वायु के झोकों से नीचे गिर पड़ता है ॥४३९॥

सुधासागरकार 'ब्रुवन्' पद का 'ध्रुवम्' पाठ मान कर यह अर्थ करते हैं कि अल्पज्ञ व्यक्ति उन्नत पद पर पहुँचकर अनायास ही गिर जाता है, यह ध्रुव (निश्चित) है । क्योंकि क्षुद्र पाषाण-कण पर्वत के शिखर पर पहुँच कर हलके वायु के झोंके से भी नीचे गिर जाता है ॥४३९॥

(सू० १५१) अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ।।९८।।

अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा ।

यहाँ पर पतन क्रिया के द्वारा पतन (रूप कार्य का और अपने कारण) लघु होने पर उन्नत पद प्राप्ति का सम्बन्ध (कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध) ख्यापित (प्रकट) हो रहा है।

विमर्श—यहाँ पर 'पतति' इस पतन रूप क्रिया के द्वारा 'पतेत्' शब्द से प्रतिपाद्य अपने पतनरूप कार्य का और लघु व्यक्ति का उन्नतपदप्राप्ति रूप अपने कारण का जो कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध प्रतिपादित किया जा रहा है और लघु (क्षुद्र) होने पर उन्नत पद की प्राप्ति पतन में हेतु है, जिस प्रकार पाषाणकण का। इस प्रकार दृष्टान्त में पर्यवसित हो जाने से यह निदर्शना अलंकार है।

(११) अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार

अनुवाद (सू० १५१)—जो अप्रस्तुत (अप्रकृत) की प्रशंसा (वर्णना) प्रस्तुत (प्रकृत) अर्थ की प्रतीति का आश्रय (निमित्त) है उसे 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलङ्कार कहते हैं ।।१९८।।

अप्राकरणिक अर्थ कथन के द्वारा प्राकरणिक (प्रस्तुत) विषय का आक्षेप 'अप्रस्तुतप्रशंसा' है।

विमर्श—मम्मट के अनुसार जहाँ पर अप्रस्तुत वर्णन के द्वारा प्रस्तुत का आक्षेप (अभिव्यक्ति) होता है, वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है। अर्थात् अप्रस्तुत विषय के वर्णन के द्वारा प्रस्तुत विषय की प्रतीति होना अप्रस्तुतप्रशंसा है। मम्मट का यह लक्षण अग्निपुराण के 'स्तुत' अलंकार के लक्षण का परिष्कृत रूप प्रतीत होता है। अग्निपुराण में स्तुत (स्तोत्र) अलंकार का लक्षण जताया गया है कि जहाँ पर प्रस्तुत से व्यतिरिक्त (भिन्न) अन्य (अप्रस्तुत) वस्तु की स्तुति (प्रशंसा) हो, उसे स्तुत या स्तोत्र अलंकार कहते हैं—

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः ।

भामह, उद्भट, रुय्यक आदि आचार्यों ने इसे अप्रस्तुतप्रशंसा के नाम से अभिहित किया है। भामह ने अग्निपुराण के स्तुत लक्षण को यथावत् स्वीकार कर अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण किया है। उद्भट ने भी उसी प्रकार लक्षण किया है—

(१) अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः ।
अप्रस्तुतप्रशंसेति ... . (भामह)

(२) अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः ।
अप्रस्तुतप्रशंसेयं प्रस्तुतार्थानुबन्धिनी ।। (उद्भट)

उद्भट के व्याख्याकार प्रतीहारेन्दुराज ने लिखा है—

'अधिकारादुपवर्णनावशादपगतस्य प्राकरणिकादपरस्य वस्तुनो यत्रोपनिबन्धः सा अप्रस्तुतप्रशंसा ।

इस प्रकार मम्मट ने भामह, उद्भट आदि की तरह अग्निपुराण के लक्षण का अनुसरण कर और उसमें कुछ परिष्करण कर अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण प्रस्तुत किया है । यहाँ पर सूत्र में 'प्रशंसा' का 'वर्णन' अर्थ अभिप्रेत है । अप्रस्तुत का वर्णन अर्थात् अप्रस्तुत के वर्णन के द्वारा प्रस्तुत अर्थ की अभिव्यक्ति अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है । अप्रस्तुतप्रशंसा को रुद्रट आदि आचार्य अन्योक्ति भी कहते हैं ।

(१) **अप्रस्तुतप्रशंसा और समासोक्ति**—दोनों ही औपम्य गम्य अलंकार हैं और दोनों में ही दो अर्थों की प्रतीति होती है, किन्तु समासोक्ति में प्रस्तुत (प्राकरणिक) के वर्णन से अप्रस्तुत (अप्राकरणिक) की अभिव्यक्ति (आक्षेप) होती है और अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत (अप्राकरणिक) के वर्णन से प्रस्तुत (प्राकरणिक) का आक्षेप होता है । समासोक्ति में वाच्यार्थ प्रस्तुत विषयक होता है और अप्रस्तुत की व्यञ्जना की जाती है तथा अप्रस्तुतप्रशंसा में वाच्यार्थ अप्रस्तुत विषयक होता है और प्रस्तुत की व्यञ्जना की जाती है (तथा चाप्राकरणिकेन प्राकरणिकाक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा प्राकरणिकेनाप्राकरणिकाक्षेपः समासोक्तिरिति) ।

(२) **अप्रस्तुतप्रशंसा और दृष्टान्त**—दृष्टान्त अलंकार में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही वाच्य होते हैं और अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत वाच्य होता है और प्रस्तुत व्यङ्ग्य (**सरूपयोस्तु वाच्यत्वे दृष्टान्तः । अप्रस्तुतस्य वाच्यत्वे प्रस्तुतस्य गम्यत्वे सर्वथाऽप्रस्तुतप्रशंसेति निर्णयः**) ।

(३) **अप्रस्तुतप्रशंसा और अर्थान्तरन्यास**—अर्थान्तरन्यास अलंकार में सामान्य-विशेष और कार्य-कारण दोनों वाच्य होते हैं और अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत अर्थ वाच्य और प्रस्तुत वर्णन व्यङ्ग्य होता है ।

(४) **अप्रस्तुतप्रशंसा और पर्यायोक्त**—पर्यायोक्त अलंकार में वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों अर्थ प्रस्तुत होते हैं और अप्रस्तुतप्रशंसा में व्यङ्ग्यार्थ अप्रस्तुत होता है और वाच्यार्थ प्रस्तुत होता है । पर्यायोक्ति में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यपरक होता है और अप्रस्तुतप्रशंसा में वाच्य अर्थ व्यङ्ग्यपरक होता है ।

(५) **अप्रस्तुतप्रशंसा और श्लेष**—दोनों ही औपम्य-गम्य अलंकार हैं और दोनों में ही विशेषण और विशेष्य दोनों श्लिष्ट अनेकार्थक होते हैं । किन्तु श्लेष अलंकार में दोनों अर्थ वाच्य होते हैं और दोनों ही प्रस्तुत होते हैं और अप्रस्तुतप्रशंसा में एक अर्थ वाच्य होता है और अप्रस्तुत होता है तथा दूसरा अर्थ व्यङ्ग्य और प्रस्तुत होता है ।

(सू० १५२) कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥९९॥

तदन्यस्य कारणादेः क्रमणोदाहरणम्—

याताः किन्न मिलन्ति सुन्दरि पुनश्चिन्ता त्वया मत्कृते;
नो कार्या नितरां कृशाऽसि कथयत्येवं सवाष्पे मयि ।
लज्जामन्थरतारकेण निपतत्पीताश्रुणा चक्षुषा
दृष्ट्वा मां हसितेन भाविमरणोत्साहस्तया सूचितः ॥४४०॥

अत्र प्रस्थानात्किमिति निवृत्तोऽसीति कार्ये पृष्टे कारणमभिहितम् ।

अनुवाद (सू० १५२)—कार्य, कारण, सामान्य और विशेष के प्रस्तुत होने पर उससे भिन्न का तथा तुल्य के प्रस्तुत होने पर उसके समान अप्रस्तुत का कथन, यह पाँच प्रकार की अप्रस्तुतप्रशंसा होती है ॥९९॥

उससे भिन्न कारण आदि का (वर्णन) ।

विमर्श—अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति अप्रस्तुतप्रशंसा है किन्तु अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति सम्बन्ध होने पर ही होती है। वह सम्बन्ध पाँच प्रकार का होता है—

(१) कार्य से कारण की प्रतीति
(२) कारण से कार्य की प्रतीति } कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध

(३) सामान्य से विशेष की प्रतीति
(४) विशेष से सामान्य की प्रतीति } सामान्य-विशेष-भाव सम्बन्ध

(५) तुल्य से तुल्य की प्रतीति (सारूप्य सम्बन्ध)

क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं—

(१) कार्य के प्रस्तुत होने पर कारण का वर्णन

अनुवाद—हे सुन्दरि ! क्या बाहर गये हुए लोग फिर नहीं मिलते ? (अतः) तुम्हें मेरे लिए चिन्ता नहीं करनी चाहिए, तुम तो अत्यन्त क्षीण (दुबली) हो, इस प्रकार आँखों में आँसू भरे मेरे कहने पर लज्जा से स्थिर पुतलियों वाले तथा गिरते हुए आँसुओं को पी जाने वाले नेत्र से मुझे देखकर हास (हंसी) के द्वारा अपने भावी मरण के प्रति उत्साह को सूचित किया ॥४४०॥

राजन् ! राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः ।
कुब्जे ! भोजय मां कुमार ! सचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते ।
इत्थं नाथ ! शुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरा—
च्चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ।।४४१।।

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं ज्ञात्वा सहसैव त्वदरयः पलाय्य गता इति कारणे प्रस्तुते कार्यमुक्तम् ।

यहाँ 'क्या प्रस्थान करने से रुक गये ?' इस प्रकार कार्य के पूछे जाने पर कारण का कथन किया है ।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'क्या जाने से रुक गये ?' इस प्रकार यात्रा से निवृत्त रूप कार्य के पूछे जाने पर प्रिया के भावी मरणोत्साह का वर्णन है । इस प्रकार यात्रा निवृत्ति रूप कार्य के प्रस्तुत होने पर अप्रस्तुत प्रिया के भाविमरणोत्साह रूप कारण का कथन होने से यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है ।

(२) कारण के प्रस्तुत होने पर कार्य का वर्णन

अनुवाद—हे राजन् ! राजकुमारी मुझे आज नहीं पढ़ा रही है, देवियाँ (रानियाँ) भी चुप हो गई हैं, अरी कुब्जे ! मुझे खाना खिलाओ, हे कुमार ! क्या सचिवों (मन्त्रियों) ने अभी तक खाना नहीं खाया ? अथवा राजकुमार और मन्त्रियों ने अभी तक खाना नहीं खाया ? हे नाथ ! इस प्रकार तुम्हारे शत्रुओं के घर में राहगीरों के द्वारा पिंजरे से छोड़ा गया तोता सूनी अटारी में चित्र में अङ्कित (स्थित) लोगों को देखकर एक-एक से इस प्रकार कह रहा है ।।४४१।।

यहाँ पर 'आक्रमण (चढ़ाई) करने के लिए तैयार आपको जानकर आपके शत्रु एकाएक भाग कर चले गये' इस (शत्रु पलायन रूप) कारण के प्रस्तुत होने पर कार्य का कथन किया गया है ।

विमर्श—यहाँ पर शत्रुपलायन रूप कारण के प्रस्तुत होने पर पथिकों के द्वारा मुक्त तोते के भाषण रूप अप्रस्तुत कार्य का कथन किया गया है, अतः यहाँ द्वितीय प्रकार की अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है ।

एतत्तस्य मुखात् कियत् कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जड़ः शृण्वन्यदस्मादपि।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा ॥४४२॥

अत्रास्थाने जड़ानां ममत्वसम्भावना भवतीति सामान्ये प्रस्तुते विशेषः कथितः।

सुहृद्वधूबाष्पजलप्रमार्जनं करोति वैरप्रतियातनेन यः।
स एव पूज्यः स पुमान् स नीतिमान् सुजीवितं तस्य सभाजनं श्रियः ॥४४३॥

अत्र कृष्णं निहत्य नरकासुरवधूनां यदि दुःख प्रशमयसि तत् त्वमेव श्लाघ्य इति विशेषे प्रस्तुते सामान्यमभिहितम्।

---

(३) सामान्य के प्रस्तुत होने पर विशेष का कथन

अनुवाद—'उस मूर्ख ने कमलिनी के पत्ते पर स्थित जल की बूँद को मोती समझ लिया' इस प्रकार उसके मुख से कौन-सी बड़ी बात है (यह तो बहुत छोटी-सी बात है), इससे भी अधिक (बढ़कर) जड़ता की बात सुनो कि उसके धीरे से अंगुली के अग्रभाग से उठाते ही उसके विलीन हो जाने से 'मेरा मोती कहाँ उड़ गया ?' इस चिन्ता (शोक) से रातों-दिन नींद नहीं आती ॥४४२॥

यहाँ 'अनुचित स्थान पर जड़ों (मूर्खों) की ममता की सम्भावना होती है' इस सामान्य के प्रस्तुत होने पर विशेष का कथन किया गया है।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण भल्लटशतक से लिया गया है। यहाँ पर 'जड़ों की अयोग्य स्थान पर ममता हो सकती है' इस प्रकार सामान्य विषय के प्रस्तुत होने पर जड़ विशेष अर्थात् जलबिन्दु में मुक्ता-ज्ञान रूप अप्रस्तुत ममता-विशेष का कथन होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है।

(४) विशेष के प्रस्तुत होने पर सामान्य का कथन

अनुवाद--जो मनुष्य वैर का बदला लेकर मित्रों की स्त्रियों के अश्रु-जल को पोंछता है, वही पूज्य है, वही पुरुष है, वही नीतिमान् है, उसी का सुन्दर जीवन है और वही लक्ष्मी का पात्र है ॥४४३॥

तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः। श्लेषः समासोक्तिः सादृश्य-मात्रं वा तुल्यात्तुल्यस्य हि आक्षेपे हेतुः। क्रमेणोदाहरणम्—

पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि
यायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात्।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं
केनापि दिक् प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥४४४॥

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ पर 'कृष्ण को मारकर नरकासुर की वधुओं का दुःख यदि दूर कर सकते हो तो तुम्हीं प्रशंसनीय हो', इस विशेष के प्रस्तुत होने पर सामान्य का कथन किया गया है।

विमर्श—श्रीकृष्ण के द्वारा नरकासुर का वध किये जाने पर उसके मित्र शाल्व के प्रति उसके मन्त्रियों का यह कथन है कि 'कृष्ण को मारकर यदि नरकासुर की स्त्रियों का दुःख शान्त करते हो, तभी प्रशंसनीय हो' इस विशेष के प्रस्तुत होने पर 'जो वैर का बदला लेकर मित्र की नारियों का दुःख दूर करता है, वही प्रशंसनीय है' इस सामान्य विषय का वर्णन किया गया है, अतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है।

अनुवाद (वृत्ति)—तुल्य के प्रस्तुत होने पर तुल्य (अप्रस्तुत) के वर्णन के तीन प्रकार होते हैं—श्लेष, समासोक्ति और अथवा सादृश्यमात्र ये तुल्य के वर्णन से (अप्रस्तुत) तुल्य के आक्षेप के हेतु होते हैं।

विमर्श—तुल्य विषय के प्रस्तुत होने पर तुल्य के वर्णन के तीन प्रकार हैं—(१) श्लेष अर्थात् विशेषण और विशेष्यवाची सभी पदों का श्लेष (२) समासोक्ति अर्थात् विशेषणमात्र वाचक पदों का श्लेषत्व (३) सादृश्यमात्र अर्थात् श्लेष के अभाव में केवल सादृश्य से प्रस्तुत के आक्षेप के हेतु होते हैं। क्रमशः इनका उदाहरण देते हैं—

(१) श्लेषहेतुक अप्रस्तुतप्रशंसा

अनुवाद—यदि पुरुषत्व से भी विचलित हो जाय, यदि नीचे (पाताल में) भी जाना पड़े, यदि याचना करने में छोटा भी बनना पड़े, तो भी विश्व (संसार) का उद्धार करना चाहिए। इस प्रकार यह दिशा (रीति, मार्ग) किसी पुरुषोत्तम (विष्णु, श्रेष्ठ पुरुष) ने प्रकट (प्रदर्शित) कर दी है ॥४४४॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण भल्लटशतक से उद्धृत है। यहाँ पर 'शत्रु के द्वारा अपहरण किये गये राज्य का उद्धार करने के लिए किसी राजा को प्रोत्साहित (उत्ते-जित) करने वाले किसी मन्त्री का कथन है। हे राजन्! चाहे पुरुषत्व (पौरुष, शौर्य, पुरुषत्व) को भी छोड़ना पड़े अर्थात् मोहिनी रूप भी धारण करना पड़े अथवा चाहे नीचे भी जाना पड़े अर्थात् पृथ्वी की रक्षा के लिए कूर्म रूप (अथवा वाराह

येनास्यभ्युदितेन चन्द्र ! गमितः क्लान्ति रवौ तत्र ते,
युज्यते प्रतिकर्त्तुमेव न पुनस्तस्यैव पादग्रहः ।
क्षीणे नैतदनुष्ठितं यदि ततः किं लज्जसे नो मना—
गस्त्वेवं जड़धामता तु भवतो यद् व्योम्नि विस्फूर्जते ॥४४५॥

रूप) धारण कर पाताल भी जाना पड़े अथवा याचना करने में छोटा भी बनना पड़े अर्थात् वामन रूप धारण का याचना करना पड़े तो भी विश्व की रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार का मार्ग भगवान् विष्णु ने मोहिनी रूप, कूर्म रूप या वाराह रूप तथा वामन रूप धारण कर प्रदर्शित कर दिया है। अतः हे राजन् ! आपको शौर्य-रहित, संपत्ति-रहित भी होना पड़े और किसी से सहायता के लिए याचना भी करनी पड़े तो भी शत्रु के द्वारा अपहृत राज्य का उद्धार करना चाहिए।

यहाँ पर सत्पुरुष के वर्णनीय रूप में प्रस्तुत होने पर उसके समान (तुल्य) अप्रस्तुत विष्णु का वर्णन किया गया है। यहाँ 'पुंस्त्व' आदि विशेषण पद तथा 'पुरुषोत्तम' यह विशेष्य पद श्लिष्ट होने से श्लेष के द्वारा प्रस्तुत विष्णु-सदृश सत्पुरुष का आक्षेप होता है, अतः यह श्लेषहेतुक अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण है।

अब प्रश्न यह है कि प्रकरण के द्वारा राजारूप प्रस्तुत अर्थ की प्रथम प्रतीति होने पर यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं हो सकती। क्योंकि अप्रस्तुत अर्थ की प्रथम प्रतीति होने पर ही अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। इस पर कहते हैं कि यहाँ पर 'पुरुषोत्तम' आदि पदों की सत्पुरुषादि रूप प्रस्तुत अर्थ में यौगिकी (प्रकृति-प्रत्यय-लभ्य) शक्ति है, इसलिए प्रकरण आदि के साथ भी उसे बाध कर अभिधा शक्ति के द्वारा विष्णु रूप अर्थ की प्रथम उपस्थिति होती है, तब प्रस्तुत अर्थ का बोध होता है। 'अवयवशक्तेः समुदायशक्तिर्बलीयसी' इस सिद्धान्त के अनुसार यहाँ पर समुदाय शक्ति से बोधित विष्णु रूप अर्थ प्रथम उपस्थिति होती है और सत्पुरुष रूप अर्थ का आक्षेप से बोध होता है, अतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा है। अतः यहाँ दोनों अर्थों के वाच्य न होने के कारण श्लेष अलंकार प्रधान नहीं है।

(२) समासोक्तिहेतुक अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार

अनुवाद—हे चन्द्र ! जिस (सूर्य) ने उदय होने से तुम्हारी कान्ति को मलिन कर दिया है, उस सूर्य के प्रति प्रतीकार करना (बदला लेना) ही उचित था, न कि उसी का पाद (किरण) को ग्रहण करना। तथापि यदि क्षीण (कलाहीन, धनहीन) होने के कारण तुमने ऐसा किया तो तुम जरा भी लज्जित नहीं होते और जो इस प्रकार तुम आकाश में चमक रहे हो, यह तुम्हारी जड़धामता (शीत-रश्मित्व या निस्तेज होना) ही है ॥४४५॥

आदाय वारि परितः सरितां मुखेभ्यः
किं तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन ।
क्षारीकृतं च बड़वादहने हुतं च
पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च ।।४४६।।

इयं च क्वचित् वाच्ये प्रतीयमानार्थानध्यारोपेणैव भवति यथा—

विमर्श—यहाँ पर कोई व्यक्ति किसी निर्धन के जीविका के लिए अपने अपकारी का अनुसरण करने वाले के प्रति उपालम्भ देता है। यह समासोक्ति हेतुक अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का उदाहरण है। यहाँ पर विशेष्यवाची 'चन्द्र' शब्द श्लिष्ट नहीं है। अतः केवल श्लिष्ट विशेषणों के माहात्म्य से प्रस्तुत सधन और निर्धन के व्यवहार का आक्षेप (प्रतीति) होता है भाव यह कि यहाँ केवल विशेषण वाचक पदों के श्लेष के द्वारा अप्रस्तुत चन्द्र और सूर्य के व्यवहार पर प्रस्तुत सधन और निर्धन के व्यवहार का आक्षेप हुआ है, इसलिए यहाँ समासोक्तिहेतुक अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

(३) सादृश्यमात्रहेतुक अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण

अनुवाद—इस दुष्ट समुद्र ने चारों ओर से सरिताओं (नदियों) के मुख से (मुहानी से) जल को लेकर क्या कर लिया ? उसे खारा कर दिया अथवा बाड़वाग्नि में होम कर दिया (जला दिया) अथवा पाताल के पेट के गड्ढे में फेंक दिया ।।४४६।।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण क्षेमेन्द्र कृत 'औचित्यविचारचर्चा' में भट्टेन्दुराज का पद्य माना गया है और शार्ङ्गधरपद्धति में इसे शुक कवि का बताया गया है। यहाँ पर दूसरों के धन को लूट-खसोट कर असत्कार्य में व्यय करने वाले व्यक्ति का वर्णन प्रस्तुत होने पर तत्सदृश अप्रस्तुत समुद्र का वर्णन किया गया है। यहाँ पर श्लेष आदि के अभाव में भी (अर्थात् विशेषण-विशेष्य के वाचक पदों में श्लेष न होने से) सादृश्य मात्र से असत्पुरुष का आक्षेप होता है। इसलिए यहाँ सादृश्यमात्रहेतुक अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार है।

अनुवाद (वृत्ति)—यह (अप्रस्तुतप्रशंसा) कहीं वाच्य अर्थ में प्रतीयमान अर्थ के अध्यारोप के बिना भी होती है।

विमर्श—यह तुल्य के प्रस्तुत होने पर तुल्य के कथन रूप पञ्चम प्रकार की अप्रस्तुतप्रशंसा कहीं तो वाच्य अर्थ में प्रतीयमान (अप्रस्तुत) अर्थ के अध्यारोप के बिना ही, कहीं वाच्यार्थ में प्रतीयमान अर्थ के अध्यारोप के द्वारा और कहीं आंशिक अध्यारोप के द्वारा अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। इसी तरह यह पाँचवीं अप्रस्तुतप्रशंसा तीन प्रकार की होती है। पहले वाच्यार्थ (प्रस्तुत अर्थ) में प्रतीयमान अर्थ के अध्यारोप के बिना होने वाली अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण देते हैं। जैसे—

अब्धेरम्भः स्थगितभुवनभोगपातालकुक्षेः
पोतोपाया इह हि बहवो लङ्घनेऽपि क्षमन्ते।
आहो रिक्तः कथमपि भवेदेष दैवात्तदानीं
को नाम स्यादवटकुहरालोकनेऽप्यस्य कल्पः ॥४४७॥

क्वचिदध्यारोपेणैव यथा—

कस्त्वं भोः ? कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न छायाऽपि परोपकारकरणे मार्गस्थितस्यापि मे ॥४४८॥

क्वचिदंशेऽप्यध्यारोपेण। यथा—

अनुवाद—इस संसार में बहुत से समुद्र-यात्री (समुद्र के व्यापारी) जल से समस्त भूमण्डल और पाताल के गर्त (गड्ढे) को भर देने वाले समुद्र को पार करने में समर्थ हैं और यदि दैवयोग से (भाग्यवश) यह समुद्र जल-शून्य हो जाय तो इसके गड्ढों और कुहरों को देखने में क्या कोई समर्थ हो सकता है ? ॥४४७॥

विमर्श—यहाँ पर 'उपमर्दनशील दुष्ट राजा धन-धान्य से पूर्ण होना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वकोष के रिक्त होने पर वह प्रजा का उत्पीड़न करेगा' यह प्रतीयमान अर्थ है। यहाँ पर वाच्य अर्थ के स्वतःसम्भव होने से उस पर प्रतीयमान अर्थ के अध्यारोप की आवश्यकता नहीं है। सुधासागरकार का कथन है कि 'राजा सम्पत्ति में सुख-सेव्य है और विपत्ति में कष्ट से सेवनीय है' यह राज-वृत्तान्त प्रस्तुत अर्थ है और अप्रस्तुत समुद्र के वृत्तान्त के सादृश्यमात्र से इसका आक्षेप किया जाता है। वहाँ समुद्र में भी ये अर्थ बाधित नहीं है, अतः यहाँ प्रतीयमान अर्थ के अध्यारोप की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार यह प्रतीयमान आरोप के बिना होने वाली अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण है।

कहीं अध्यारोप के द्वारा अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। जैसे—

अनुवाद—अरे तुम कौन हो ? बताता हूँ, मुझे अभागा शाखोटक (सेंहुड़) का वृक्ष समझो। तुम तो वैराग्य (विरक्त) से कह रहे हो ? हाँ ठीक समझा। तो ऐसा क्यों कह रहे हो ? बायीं ओर बरगद का पेड़ है, उसे पथिक लोग सब प्रकार से सेवन करते हैं। किन्तु मार्ग में स्थित होने पर भी परोपकार करने में मेरी छाया भी समर्थ नहीं है ॥४४८॥

सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिस्तत् कर्णयोश्चापलं
दृष्टिः सा मदविस्मृतस्वपरदिक् किं भूयसोक्तेन वा ।
सर्वं विस्मृतवानसि भ्रमर ! हे यद्वारणोऽद्याप्यसौ
अन्तः शून्यकरो निषेव्यत इति भ्रातः क एष ग्रहः ॥४४९॥

अत्र रसनाविपर्यासः शून्यकरत्वं च भ्रमरस्यासेवने न हेतुः, कर्णचापलं तु हेतुः मदः, प्रत्युत सेवने निमित्तम् ।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण ध्वन्यालोक से उद्धृत है। इसमें श्मशान में स्थित वृक्ष विशेष के साथ किसी पथिक का वार्त्तालाप वर्णित है। यहाँ पर अधम व्यक्ति के द्वारा दिये गये दान को सत्पुरुष के द्वारा स्वीकार न किये जाने पर अत्यन्त दुःखी कोई दान देने का इच्छुक अधम जाति का पुरुष प्रस्तुत है और शाखोटक वृक्ष अप्रस्तुत, यहाँ पर अचेतन शाखोटक वृक्ष के साथ उक्ति-प्रत्युक्ति असम्भव होने के कारण वाच्यार्थ (शाखोटकादि रूप) में अधम जाति के दाता आदिरूप प्रतीयमान अर्थ का आरोप आवश्यक है।

कहीं पर अंशतः अध्यारोप के द्वारा अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। जैसे—

अनुवाद—**हे भ्रमर ! उस हाथी की अपूर्व रसना (जिह्वा) की विपर्यय (परिवर्त्तन, उल्टी होना) विधि, उस कानों की चपलता, मद के कारण अपने और दूसरों के मार्ग, विस्मृत कराने वाली दृष्टि और अधिक क्या कहें ? यह सब भूल गये हो जो कि धारण करने वाले और भीतर शून्य (खाली) कर (हाथ, सूँड़) वाले हाथी की आज भी सेवा कर रहे हो ॥४४९॥**

यहाँ पर रसना-विपर्यय तथा शून्यकरत्व ये भौंरे (भ्रमर) के सेवन न करने के हेतु नहीं हैं, कानों की चपलता हेतु है, मद तो बल्कि सेवन करने का हेतु है।

विमर्श—यहाँ पर अप्रस्तुत गज और भ्रमर के कथन के द्वारा श्लेष से तत्सदृश प्रस्तुत का आक्षेप है, इसलिए यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा है, यह कुछ अंश कर्ण चापल में वाच्य गज और भ्रमर पर सेव्य-सेवक रूप प्रतीयमान अर्थ का बिना अध्यारोप के और उससे भिन्न स्थल पर रसना-विपर्यय, शून्यकरत्व और मदरूप अंशत्रय में उसके (प्रतीयमान अर्थ के) अध्यारोप के द्वारा होता है।

(सू० १५३) निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत्,
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥१००॥
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः।
विज्ञेयातिशयोक्तिः सा.......... ॥

---

(१२) अतिशयोक्ति अलङ्कार

अनुवाद (१५३)—उपमान के द्वारा उपमेय का निगरण करके काल्पनिक और अभेद का निश्चय (अध्यवसान) करना, प्रस्तुत का अन्य रूप में वर्णन करना, यदि के समानार्थक शब्दों के द्वारा कल्पना अर्थात् असंभव अर्थ की कल्पना करना और कार्य तथा कारण के पूर्वापर भाव का विपर्यय इस प्रकार अतिशयोक्ति अलंकार जानना चाहिए।

विमर्श— मम्मट ने चार प्रकार की अतिशयोक्ति का वर्णन किया है। उनमें (१) जहाँ पर उपमान के द्वारा निगरण किये गये उपमेय का अध्यवसान अर्थात् आहार्य (कल्पित) अभेद निश्चय किया जाता है वह प्रथम प्रकार की अतिशयोक्ति होती है। (२) जहाँ पर प्रस्तुत (उपमेय) का अन्य प्रकार से वर्णन किया जाता है वहाँ द्वितीय प्रकार की अतिशयोक्ति होती है। (३) जहाँ पर 'यदि' शब्द के पर्यायवाचक 'चेत्' आदि शब्दों के कथन के द्वारा असम्भव अर्थ की कल्पना की जाती है वहाँ तृतीय प्रकार की अतिशयोक्ति होती और (४) जहाँ पर कार्य-कारण-भाव में पूर्वापर क्रम का विपर्यय हो जाता है वहाँ चतुर्थ प्रकार की अतिशयोक्ति होती है।

अग्निपुराण में अतिशयोक्ति का लक्षण निम्न प्रकार बताया है—

लोकसीमानिवृत्तस्य वस्तुधर्मस्य कीर्त्तनम्।

अर्थात् जहाँ पर लोक-सीमा का अतिक्रमण कर वस्तु धर्म का कथन होता है, उसे अतिशय कहते हैं और अतिशय की उक्ति को अतिशयोक्ति माना है। व्युत्पत्ति के अनुसार प्रसिद्धि (सीमा) का उल्लंघन करने वाली उक्ति अतिशयोक्ति है। (अतिशयः **अतिशयिता प्रसिद्धिमतिक्रान्ता लोकातीता उक्तिः अतिशयोक्तिः**) यहाँ पर प्रसिद्धि का अर्थ सीमा है। इस प्रकार लोक की प्रसिद्धि (सीमा) का अतिक्रमण कर कथन करना अतिशयोक्ति है। जैसे कारण के बाद ही कार्य होता है यह प्रसिद्धि है। यदि इस प्रसिद्धि (सीमा) का अतिक्रमण कर वर्णन किया जाता है तो अतिशयोक्ति अलंकार कहलाता है। यह अतिशयोक्ति अलङ्कार का सामान्य लक्षण है। यह अग्निपुराण के लक्षण का अभिप्राय है।

उपमानेनान्तर्निगीर्णस्योपमेयस्य यदध्यवसानं सैका । यथा—

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥४५०॥

अत्र मुखादिकमलादिरूपतयाऽध्यवसितम् ।

अग्निपुराण की उक्त मान्यता का अनुसरण करते हुए भामह ने अतिशयोक्ति को समस्त अलंकारों का मूलतत्त्व कहा है और लोकात्तिक्रान्तगोचर वचन को अतिशयोक्ति (**निमित्ततो वचो यत्तु लोकात्तिगोचरम् । मन्यतेऽतिशयोक्ति ताम्** ··) दण्डी ने भी अग्निपुराण की उक्त मान्यता को स्वीकार करते हुए वस्तु के लोकसीमातिक्रान्त वर्णन को अतिशयोक्ति कहा है और इसे अलङ्कारोत्तमा तथा समस्त अलङ्कारों में निहित माना है (**विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिर्वात्तनी । असावतिशयोक्तिः स्यादलङ्कारोत्तमा बुधाः**) । इस प्रकार अग्निपुराण का 'लोकसीमातिवृत्त बस्तुधर्म का कथन' और दण्डी का 'वस्तु का लोकसीमातिक्रान्त रूप में वर्णन' एक ही वस्तु प्रतीत होती है । उद्भट ने भामहोक्त लक्षण को यथावत् स्वीकार कर लिया है—

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यतेऽतिशयोक्ति तामलङ्कारतया बुधाः ॥

(काव्यालंकारसारसंग्रह २।११)

इसी आधार को दृष्टिगत कर मम्मट ने अतिशयोक्ति का लक्षण परिभाषित किया है किन्तु उन्होंने अतिशयोक्ति लक्षण में 'निगीर्याध्यवसानम्' का सन्निवेश कर मौलिकता प्रदान की और यही लक्षण परवर्त्ती आचार्यों के लिए अतिशयोक्ति-लक्षण का प्रदर्शक बना । मम्मट ने विशेषालङ्कार के निरूपण के प्रकरण में बताया है कि सर्वत्र ऐसे स्थलों पर अतिशयोक्ति प्राण-रूप में विद्यमान रहती है; क्योंकि उसके अभाव में अलङ्कार नहीं रहता ।

सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते, तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात (काव्यप्रकाश)

(१) प्रथम प्रकार की अतिशयोक्ति

अनुवाद (वृत्ति)—उपमान के द्वारा अपने भीतर निगरण कर लिये गये उपमेय का जो अध्यवसान (तादात्म्य निश्चय) होता है, उसे प्रथम प्रकार की अतिशयोक्ति कहते हैं । जैसे—

अनुवाद—(अपनी प्रियतमा को देखकर कोई नायक उसकी सखी से कह रहा है कि) जल-स्थल पर कमल, उस कमल पर नीलकमल और वे तीनों (कमल) कनक-लता पर लगे हैं और वह कनकलता कोमल और सुन्दर है । यह कैसी उत्पात की परम्परा है ॥४५०॥

यहाँ पर मुख आदि कमल आदि के रूप में अध्यवसित है ।

यच्च तदेवान्यत्वेनाध्यवसीयते, सापरा यथा—

अण्णं लड़हत्तणअं अण्ण विअ ता वि वत्तणच्छाया ।
सामा सामण्णपआवइणो रेह च्चिअण होई ॥४५१॥

[अन्यत्सौकुमार्यमस्यैव च कापि वर्त्तनच्छाया ।
श्यामा सामान्यप्रजापतेः रेखैव च न भवति ॥४५१॥]

(इति संस्कृतम्)

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में कोई नायक अपनी प्रेयसी को देखकर उसकी सहेली से कह रहा है कि अरे कैसी विचित्रता है कि बिना जल के कमल अर्थात् जल में कमल खिलता है किन्तु प्रिया का मुख रूपी कमल बिना जल के खिला है और कमल पर कमल नहीं खिलता है किन्तु कान्ता के मुख रूपी कमल पर नेत्र रूपी दो नीलकमल खिले हैं और ये तीनों शरीर रूपी कनक के समान देह पर सुशोभित हैं। ये सब कैसी अनर्थ की परम्पराएँ हैं? कि बिना जल के कमल और कमल पर कमल तथा कनकलता पर तीन कमल खिलना असम्भव है किन्तु यहाँ पर उपमेय प्रेयसी का मुख आदि उपमान कमल आदि के द्वारा निगरण कर उपमान के साथ उसका आहार्य अभेद निश्चय किया गया है, इस प्रकार यहाँ पर निगीर्ण अध्यवसानरूपा (भेद में अभेद-निश्चय रूपा) अतिशयोक्ति अलंकार है।

(२) अतिशयोक्ति के द्वितीय भेद का उदाहरण

अनुवाद (वृत्ति) - और जो उसी को ही अर्थात् उस उपमेय (वर्णनीय विषय) को अन्य प्रकार से वर्णित किया जाता है, अर्थात् सजातीय वस्तु को उससे भिन्न अन्य रूप में वर्णन किया जाता है, वहाँ द्वितीय प्रकार की अतिशयोक्ति होती है। जैसे—

अनुवाद—**उस नायिका की सौकुमार्य (सुकुमारता) कुछ और उसके शरीर की कान्ति कुछ और है अतः वह श्यामा (नायिका) सामान्य प्रजापति की रचना नहीं हो सकती ॥४५१॥**

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में नायक के प्रति नायिका की सखी की उक्ति है। यहाँ पर श्यामा नायिका के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन किया है। ग्रीष्मकाल में शीतल शरीर वाली और शीतकाल में उष्ण शरीर वाली षोडश वर्ष की सुन्दरी नायिका 'श्यामा' नायिका होती है—

शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला ।
सर्वावयवशोभाढ्या सा श्यामा परिकीर्त्तिता ॥

यद्यर्थस्य यदिशब्देन चेच्छब्देन वा उक्तौ यत्कल्पनम् (अर्थादसम्भाविनोऽर्थस्य) सा तृतीया । यथा—

राकायामलकलङ्कं चेदमृतांशोर्मवेद्वपुः ।
तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ।।४५२।।

कारणस्य शीघ्रकारितां वक्तुं कार्यस्य पूर्वमुक्तौ चतुर्थी । यथा—

यहाँ पर लोकप्रसिद्ध सौकुमार्य से भिन्न श्यामा नायिका के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन किया गया है । इस प्रकार यहाँ प्रस्तुत नायिका के सौन्दर्य में अन्य नायिका के सौन्दर्य से विलक्षणता दिखाई गई है अतः यह अन्यत्ववर्णनारूप अतिशयोक्ति का उदाहरण है ।

(३) अतिशयोक्ति के तृतीय भेद का उदाहरण

अनुवाद (वृत्ति)—जहाँ पर यद्यर्थक 'यदि' शब्द के द्वारा अथवा 'चेत्' शब्द के द्वारा कथन करने में असम्भव अर्थ की कल्पना की जाती है, वहाँ तृतीय प्रकार की अतिशयोक्ति होती है । जैसे—

अनुवाद—पूर्णिमा की रात में यदि चन्द्रमा का शरीर (बिम्ब) निष्कलङ्क (कलङ्क-रहित) हो जाय तो शायद उस नायिका का मुख समानता रूप तिरस्कार को प्राप्त कर सके ।।४५२।।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'चेत्' शब्द के द्वारा चन्द्रमा के साथ मुख के साहश्य की कल्पना की गई है, किन्तु वह सादृश्य सत् नहीं है, इससे मुख का अतिशय प्रतीत होता है, इसलिए यह 'यद्यर्थक' अतिशयोक्ति का उदाहरण है । उद्योतकार का कथन है कि यहाँ पर पूर्वार्द्ध में पूर्णिमा के चन्द्र में कलंक के अभाव की कल्पना असम्बन्ध में सम्बन्ध की कल्पना है और उत्तरार्द्ध में नायिका के मुख और पूर्ण चन्द्रबिम्ब में सादृश्य रूप सम्बन्ध होने पर भी 'पराभव' पद के द्वारा जो असम्बन्ध की कल्पना है वह सम्बन्ध में असम्बन्ध की कल्पना है । इस प्रकार यहाँ पर यद्यर्थक 'असम्बन्ध' में सम्बन्ध तथा सम्बन्ध में असम्बन्ध की कल्पना रूप द्विविध अतिशयोक्ति का संकेत है ।

(४) अतिशयोक्ति के चतुर्थ भेद का उदाहरण

अनुवाद (वृत्ति)—कारण की शीघ्रकारिता बतलाने के लिए कामदेव का प्रथम (कारण के पूर्व) कथन होनें पर (कार्यकारण के पौर्वापर्य-विपर्यय रूप) चतुर्थ प्रकार की अतिशयोक्ति होती है । जैसे--

हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापबाणेन ।
चरमं रमणीवल्लभ ! लोचनविषयं त्वया भजता ॥४५३॥

(सू० १५४) ...………प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥१०१॥
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ॥

साधारणो धर्मः उपमेयवाक्ये उपमानवाक्ये च कथितपदस्य दुष्टतयाभिहितत्वात् शब्दभेदेन यदुपादीयते सा वस्तुनो वाक्यार्थस्योपमानत्वात् प्रतिवस्तूपमा । यथा—

कारणस्य शीघ्रकारितां वक्तु कार्यस्य पूर्वमुक्तौ चतुर्थी । यथा—

अनुवाद—हे रमणीवल्लभ ! पुष्प के धनुष-बाण वाले कामदेव ने मालती के हृदय पर पहिले अधिकार कर लिया और उसके दृष्टिगोचर होकर तुमने बाद में (हृदय पर अधिकार किया) ॥४५३॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण दामोदरभट्ट कृत कुट्टनीमत नामक काव्य से उद्धृत है । यह कार्य-कारणभाव के विपर्यय रूप अतिशयोक्ति के चतुर्थ भेद का उदाहरण है । यहाँ पर 'प्रियतम का हृदय में अधिष्ठान होना' कारण है और 'प्रेम (काम) का उदय होना' कार्य है । किन्तु यहाँ पर कारण की कार्यकारिता की शीघ्रता बताने के लिए कामदेव के अधिष्ठान रूप कार्य का प्रथम पहिले वर्णन किया गया है । अतः यहाँ पर कार्य-कारण के विपर्यय रूप चतुर्थ प्रकार की अतिशयोक्ति है ।

(१२) प्रतिवस्तूपमा अलंकार

अनुवाद (सू० १५४)—प्रतिवस्तूपमा तो वह अलङ्कार है, जहाँ पर एक ही साधारण धर्म दो वाक्यों में (उपमानवाक्य और उपमेयवाक्य में) दो बार कथन (ग्रहण) किया जाता है ॥१०१॥

अनुवाद (वृत्ति)—एक ही साधारणधर्म उपमेयवाक्य में तथा उपमानवाक्य में कथितपदता (पुनरुक्ति) दोष होने से भिन्न शब्दों से जो कथन (ग्रहण) किया जाता है वह वस्तु वाक्यार्थ का उपमान होने से प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है ।

विमर्श—जहाँ पर प्रत्येक वस्तु अर्थात् प्रत्येक वाक्य में उपमा (साधर्म्य) का कथन हो, वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलंकार होता है (**प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थमुपमा साधारणधर्मोऽस्याम्**) । भाव यह कि प्रतिवस्तूपमा अलंकार में उपमान और उपमेय दोनों अलग-अलग वाक्य के रूप में कथित होते हैं और दोनों ही वाक्यों में एक ही समान

देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्वेषा ।
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपाङ्कितं रत्नम् ॥४५४॥

धर्म का अलग-अलग शब्दों के द्वारा कथन होता है। यहाँ पर एक ही समान धर्म का अलग-अलग शब्दों के द्वारा कथन होने से 'पुनरुक्त' दोष नहीं रहता।

उपमा और प्रतिवस्तूपमा—दोनों ही साधर्म्यमूलक अलङ्कार हैं और दोनों में उपमान और उपमेय का साम्य दिखाया जाता है किन्तु उपमा में सादृश्य वाच्य होता है और प्रतिवस्तूपमा में सादृश्य गम्य होता है। उपमा में दो पदार्थों में समानता बताई जाती है और प्रतिवस्तूपमा में दो वाक्यार्थों में साम्य दिखाया जाता है। उपमा में साधर्म्य एक वाक्य द्वारा व्यक्त किया जाता है और प्रतिवस्तूपमा में साधर्म्य अलग-अलग शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है।

प्रतिवस्तूपमा और निदर्शना—दोनों ही सादृश्यमूलक अलंकार हैं और दोनों में ही सादृश्य गम्य होता है तथा दोनों में ही दो वाक्य होते हैं किन्तु निदर्शना में दोनों वाक्य अपने-अपने अर्थ में सापेक्ष होते हैं और प्रतिवस्तूपमा में परस्पर निरपेक्ष होते हैं तथा निदर्शना में साधारणधर्म का शब्दतः कथन नहीं होता, उसका आक्षेप होता है जबकि प्रतिवस्तूपमा में साधारणधर्म का अलग-अलग शब्दों द्वारा कथन किया जाता है और उनका वस्तु-प्रतिवस्तु-भाव से निर्देश होता है।

प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त—दोनों में दो स्वतन्त्र वाक्य होते हैं—एक उपमेयवाक्य और दूसरा उपमानवाक्य और दोनों में सादृश्य गम्य होता है; किन्तु दृष्टान्त में दोनों वाक्यों में साधारणधर्म भिन्न-भिन्न होते हैं और उनमें बिम्बप्रतिबिम्बभाव होता है तथा प्रतिवस्तूपमा में दोनों वाक्यों में साधारण धर्म एक होता है और भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कथन होता है और उनमें वस्तु-प्रतिवस्तु-भाव होता है।

यह प्रतिवस्तूपमा दो प्रकार की होती है—'केवल' और 'मालारूप'। इनमें प्रथम केवल रूप (अमालारूप) का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—देवीभाव को प्राप्त यह महारानी साधारण स्त्री के पद को कैसे प्राप्त करे? देवता के रूप में अङ्कित रत्न उपभोग के योग्य नहीं होता ॥४५४॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में पूर्वार्द्ध का वाक्य उपमेय रूप है और उत्तरार्द्ध का वाक्यार्थ उपमान रूप है। यहाँ पर दोनों वाक्यों में अनौचित्य रूप एक ही धर्म का 'कथं भजतु' तथा 'न खलु' इत्यादि पदों से दो बार कथन है अतः यहाँ प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है।

यदि दहत्यनलो किमद्भुतं यदि च गौरवमद्रिषु किन्ततः।
लवणमम्बु सदैव महोदधेः प्रकृतिरेव सतामविषादिता ॥४५५॥

इत्यादिका मालाप्रतिवस्तूपमा द्रष्टव्या। एवमन्यत्राप्यनुसर्त्तव्यम्।

(सू० १५५) दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ॥१०२॥

एतेषां साधारणधर्मादीनाम्। दृष्टोऽन्तो निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः।

मालारूप प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण—

अनुवाद—यदि अग्नि जलाता है तो उसमें आश्चर्य क्या है? यदि पर्वतों में गुरुता (गौरव) है तो इससे क्या? समुद्र का पानी सदा खारा होता है और दुःखी न होना सज्जनों का स्वभाव है ॥४५५॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'साधारणधर्म का दर्शन विस्मयजनक नहीं होता' यह साधारण धर्म 'किमद्भुतं', 'किं ततः', 'सदैव', 'प्रकृतिरेव' इत्यादि भिन्न-भिन्न शब्दों से कथित है। इसलिए यहाँ मालारूप प्रतिवस्तूपमा है। भाव यह कि जिस प्रकार अग्नि में दाहकता, पर्वतों में गुरुता और समुद्र जल में क्षारत्व धर्म स्वाभाविक होने से आश्चर्यजनक नहीं होता, उसी प्रकार सज्जनों में 'अविषादिता' स्वाभाविक धर्म होने से आश्चर्यजनक नहीं होता। इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में चतुर्थ चरण का वाक्यार्थ उपमेय है और शेष तीन चरणों का वाक्यार्थ उपमान रूप है।

अनुवाद (वृत्ति)—इत्यादि मालारूप प्रतिवस्तूपमा समझनी चाहिए। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझ लेने चाहिए।

(१४) दृष्टान्त अलंकार

अनुवाद—दृष्टान्त अलङ्कार वह है जिसमें (दोनों वाक्यों में) इन सबका अर्थात् उपमान, उपमेय और साधारण धर्म का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होता है ॥१०२॥

अनुवाद (वृत्ति)—उनका अर्थात् साधारणधर्म आदि का जहाँ पर निश्चय (अन्त) देखा जाता है वहाँ दृष्टान्त अलङ्कार होता है।

विमर्श—यहाँ पर पूर्व सूत्र से 'वाक्यद्वये' पद की अनुवृत्ति होती है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ होगा—जहाँ पर दोनों वाक्यों में अर्थात् उपमानवाक्य में और उपमेयवाक्य में इन सबका अर्थात् उपमान, उपमेय और साधारणधर्म आदि का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है. भाव यह कि दृष्टान्त अलंकार में अर्थ-गम्य औपम्य होता है। यहाँ दो वाक्य होते हैं—उपमानवाक्य और उपमेयवाक्य। यहाँ दोनों वाक्यों में उपमान, उपमेय और साधारणधर्म आदि का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है। दो वस्तुओं (अर्थों) का दो बार, उपादान (कथन) करना

बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है (द्वयोरर्थयोर्द्विरुपादानं बिम्ब-प्रतिबिम्बभावः)। बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव विशेषण और विशेष्य दोनों में सादृश्य निर्देश होने पर ही होता है न कि एकत्व का (**बिम्ब-प्रतिबिम्बभावश्च विशेषणविशेष्ययोश्च सादृश्यनिर्देशे भवति, न त्वेक-त्वस्य**)। सारबोधिनीकार का कथन है कि उपमान और उपमेय धर्म के वस्तुतः भिन्न होने पर भी परस्पर सादृश्य के कारण अभिन्न धर्मों का पृथक् उपादान बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है (**वस्तुतो भिन्नयोरप्युपमानोपमेयधर्मयो परस्परसादृश्याद-भिन्नयोः पृथगुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः**)।

दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा—दृष्टान्त अलंकार प्रतिवस्तूपमा से भिन्न होता है; क्योंकि दृष्टान्त में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव होता है और प्रतिवस्तूपमा में वस्तु-प्रति-वस्तुभाव। वस्तु-प्रतिवस्तु-भाव का अर्थ है—एक अर्थ का दो शब्दों के द्वारा कथन (**एकस्यार्थस्य शब्दद्वयेनाभिधानं वस्तु-प्रतिवस्तु-भावः**) और दो अर्थों का दो बार कथन बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है (**द्वयोरर्थयोर्द्विरुपादानं बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भावः**) दूसरे प्रतिवस्तू-पमा में साधारणधर्म एक होता है और दृष्टान्त में अलग-अलग।

दृष्टान्त और उपमा—दोनों सादृश्य मूलक अलङ्कार हैं। दृष्टान्त अलङ्कार में साधारणधर्म समान होते हुए भी भिन्न-भिन्न होते हैं और उनका दो बार कथन होता है जबकि उपमा में साधारण धर्म एक होता है और उसका एक बार कथन होता है। उपमा में इव आदि वाचक शब्द प्रयुक्त होते हैं और दृष्टान्त में इवादि उपमा-वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होता। उपमा में सादृश्य वाच्य होता और दृष्टान्त में गम्य।

दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास—दोनों में ही परस्पर निरपेक्ष दो वाक्य होते हैं। किन्तु अर्थान्तरन्यास अलङ्कार में एक वाक्य सामान्य होता है और दूसरा वाक्य विशेष होता है जबकि दृष्टान्त में दोनों वाक्य विशेष होते हैं। अर्थान्तरन्यास में दोनों वाक्यों में सामान्य-विशेष भाव होता है और दृष्टान्त में दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है। अर्थान्तरन्यास में सामान्य के द्वारा विशेष का और विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन होता है और दृष्टान्त अलङ्कार में सामान्य का समर्थन सामान्य से तथा विशेष का समर्थ विशेष के द्वारा किया जाता है। "**अत्र सामान्यं सामान्येन विशेषो विशेषेण समर्थ्यतेऽर्थान्तरन्यासे तु सामान्यं विशेषेण विशेषो वा सामान्येन समर्थ्यते।**"

दृष्टान्त और निदर्शना—दोनों ही सादृश्य-गम्य अलङ्कार हैं और दोनों में ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव होता है तथा दोनों में ही दो वाक्य होते हैं, किन्तु दृष्टान्त में दोनों वाक्य परस्पर-निरपेक्ष होते हैं और निदर्शना में दोनों वाक्य परस्पर सापेक्ष होते हैं। दृष्टान्त अलङ्कार में उपमान और उपमेय (अप्रस्तुत और अप्रस्तुत) दोनों वाक्यों में अलग-अलग धर्म होते हैं और उनका स्पष्ट निर्देश होता है जबकि निदर्शना में दोनों वाक्यों में धर्म भिन्न-भिन्न होते हैं और उनका निर्देश नहीं किया जाता। दृष्टान्त में पहले वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, तब दोनों वाक्यों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम् ।
आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः ॥४५६॥

एष साधर्म्येण । वैधर्म्येण तु—

तवाहवे साहसकर्मशर्मणः करं कृपाणान्तिकमानिनीषतः ।
भटाः परेषां विशरारुतामगुः दधत्यवाते स्थिरतां हि पांशवः ॥४५७॥

भाव की प्रतीति होती है जबकि निदर्शना में दोनों वाक्यों में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव की प्रतीति के अनन्तर वाक्यार्थ की प्रतीति होती है । यही दोनों में अन्तर है ।

दृष्टान्त और अप्रस्तुतप्रशंसा—दोनों ही सादृश्य-गम्य अलंकार हैं । किन्तु अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत का अभिधान (वाच्य) होता है और प्रस्तुत गम्य (व्यङ्ग्य) होता है जबकि दृष्टान्त अलंकार में अप्रस्तुत और प्रस्तुत दोनों का ही अभिधान होता है और दोनों ही वाच्य होते हैं । अप्रस्तुतप्रशंसा में केवल एक ही धर्म एक बार प्रयोग होता है और दृष्टान्त अलंकार में दोनों वाक्यों में दो भिन्न-भिन्न धर्म होते हैं ।

दृष्टान्त अलंकार दो प्रकार का होता है—साधर्म्य और वैधर्म्य; इनमें प्रथम साधर्म्य के द्वारा दृष्टान्त अलंकार का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—तुम्हें देखते ही उस नायिका का काम से संतप्त मन शान्त होता है । जैसे चन्द्रमा को देखने पर कुमुदिनी का कुसुम विकसित होता है ॥४५६॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में नायक (राजा) और चन्द्रमा का, नायिका और कुमुदिनी का, मन तथा कुसुम का, कामदेव सन्तापत्व और सूर्य-सन्तापत्व का, निर्वाण तथा विकास का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होने से दृष्टान्त अलंकार है ।

वैधर्म्य के द्वारा दृष्टान्त अलंकार का उदाहरण—

अनुवाद—हे राजन् ! तुम्हारे युद्धभूमि में साहसपूर्ण कर्म को सुख (आनन्द) प्राप्त करने वाले आपके तलवार की ओर हाथ ले जाने की इच्छा करते ही शत्रुओं के सैनिक छिन्न-भिन्न हो गये । क्योंकि हवा न चलने पर धूलि स्थिर रहती है ॥४५७॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में धूलि और शत्रु-सेना का तथा पलायन और अस्थिरता का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है । यहाँ 'दधत्यवाते स्थिरतां हि पांशवः' इस वाक्य का 'वादे तु पांशवः स्थिरतां न दधति' इस रूप में पर्यवसित होने से यहाँ दृष्टान्त अलंकार है ।

(सू० १५६) सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥१०३॥

प्राकरणिकाप्राकरणिकामर्थादुपमानोपमेयाभ्यां धर्मः क्रियादिः एकबारमेव यदुपादीयते तदेकस्थस्यैव समस्तवाक्यदीपनाद् दीपकम् ।

---

(१५) दीपक अलंकार

अनुवाद (सू० १५६)—प्रकृत (प्रस्तुत) और अप्रकृत (अप्रस्तुत) के धर्म का एक बार ही ग्रहण किया जाता है और बहुत सी क्रियाओं के होने पर एक ही कारक का कथन दीपक अलङ्कार कहलाता है ।

अनुवाद (वृत्ति)—प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थात् उपमान और उपमेय क्रियादि रूप धर्म जो एक ही बार उपादान (ग्रहण) किया जाता है । वह एक स्थान पर स्थित भी समस्त वाक्य का प्रकाशन होने के कारण दीपक अलङ्कार कहलाता है ।

विमर्श—प्रस्तुत सूत्र में 'प्रकृताप्रकृतात्मनाम्' वाक्य का अभिप्राय है कि प्रकृत—प्राकरणिक और अप्रकृत-अप्राकरणिक अर्थात् उपमेय और उपमान का जहाँ पर गुण और क्रिया आदि के साथ एक धर्माभिसम्बन्ध बताया जाता है वहाँ दीपक अलङ्कार होता है। इसे दीपक अलङ्कार इसलिए कहते हैं कि जिस प्रकार दरवाजे की देहली पर रखा हुआ दीपक घर के अन्दर और घर के बाहर सर्वत्र (सभी जगह) प्रकाश करता है उसी प्रकार एक जगह अर्थात् प्रस्तुत में स्थित गुण अथवा क्रिया रूप धर्म अप्रस्तुत वाक्य का भी प्रकाशन होता है (दीपयतीति दीपकम्, अथवा दीपयतीति दीपः, दीप इव दीपकम्—संज्ञाया कन् प्रत्ययः) । इस प्रकार समस्त वाक्य का दीपक—प्रकाशक होने के कारण इसे 'दीपक' अलङ्कार कहते हैं । विश्वनाथ, जगन्नाथ, अप्पयदीक्षित आदि इसी अभिप्राय को अभिव्यक्त करते हैं ।

> अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते (विश्वनाथः)
> प्रस्तुताप्रस्ततानामेकधर्मान्वयो दीपकम् (दीक्षित)
> प्रकृतानामप्रकृतानाञ्चैकधर्माभिसम्बन्धो दीपकम् ।....
> प्रकृतार्थमुपात्तो धर्मः प्रसंगादप्रकृतमपि दीपयति प्रकाशयति सुन्दरीकरोतीति दीपकम् । यद्वा द्वीप इव दीपकम्—संज्ञायां कन् ।) ।

इस प्रकार दीपक एक सादृश्यमूलक अलङ्कार है और इसमें सादृश्य गम्य होता है । इसमें उपमान (अप्रकृत) और उपमेय (प्रकृत) ये दो पदार्थ होते हैं और दोनों में एक क्रियारूप धर्म सम्बन्ध होता है । अर्थात् प्रकृत और अप्रकृत दो भिन्न प्रकार के पदार्थों में एकधर्माभिसम्बन्ध होने पर दीपक अलङ्कार होता है ।

किवणाणं धनं णाआणं फणमणी केशराइं सीहाणं।
कुलवालिआणं त्थणआ कुत्तो क्षिप्पन्ति अमुआणं ॥४५८॥
[कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराः सिंहानाम्।
कुलबालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम् ॥४५८॥ -
(इति संस्कृतम्)

कारकस्य च बह्वीषु क्रियासु सकृद्‌वृत्तिर्दीपकम् यथा—
स्विद्यति कूणति वेल्लति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक्।
अन्तर्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणया वधूः शयने ॥४५९॥

दीपक और तुल्ययोगिता—दोनों ही सादृश्यमूलक अलङ्कार हैं और दोनों में ही औपम्य गम्य है तथा दोनों में एक धर्माभिसम्बन्ध बताया जाता है। किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि तुल्ययोगिता में दोनों पदार्थ (वाक्य) या तो प्रस्तुत होते हैं या अप्रस्तुत और यहाँ केवल प्रस्तुत में अथवा केवल अप्रस्तुत में एकधर्माभिसम्बन्ध बताया जाता है जबकि दीपक अलङ्कार में एक प्रस्तुत वाक्य होता है और दूसरा अप्रस्तुत और दोनों में एक धर्माभिसम्बन्ध बताया जाता है।

दीपक अलङ्कार दो प्रकार का होता है—क्रियादीपक एवं कारकदीपक। इनमें अनेक कारकों के साथ एक क्रिया का सम्बन्ध होने से क्रियादीपक और अनेक क्रियाओं के साथ एक कारक का सम्बन्ध होने से कारकदीपक होता है। प्रथम क्रियादीपक का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—कंजूस का धन, साँपों के फणि की मणि, सिंहों के केसर और कुल-बालिकाओं के स्तन उनके जीवित रहते कैसे स्पर्श किये जा सकते हैं? ॥४५८॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'स्पृश्यन्ते' एक ही क्रियापद है और इसका कृपण-धन-फणा-मणि, सिंह-केसर तथा कुल-वधू-स्तन आदि अनेक कारकों से सम्बन्ध है, अतः यह क्रियादीपक का उदाहरण है। यहाँ पर वर्णनीय होने से कुलवधू का स्तन प्रकृत (उपमेयरूप) है और कृपणधन, फणामणि, सिंहकेसर आदि अप्रकृत (उपमानरूप) हैं। इनमें स्पर्शन-क्रिया रूप साधारणधर्म का एक ही बार कथन किया गया है। इसलिए यहाँ क्रियादीपक है।

कारकदीपक का उदाहरण—

अनुवाद—नव-विवाहिता वधू पति के पलंग पर पसीने से तर हो जाती है, संकुचित हो उठती है, मुख फेर लेती है, करवट बदल लेती है, आँखें बन्द कर लेती है, तिरछी चितवन से देखती है, मन में प्रसन्न होती है, चुम्बन करना चाहती है ॥४५९॥

(सू० १५७) मालादीपकमाद्यं चेद्यथोत्तरगुणावहम् ।

पूर्वेण पूर्वेण वस्तुना उत्तरं उत्तरं चेदुपाक्रियते तन्मालादीपकम् । यथा—

सङ्ग्रामाङ्गणभागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समादितम् ।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्त्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ।।४६०।।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'स्विद्यति' आदि अनेक क्रियाओं का कर्त्ता रूप में केवल 'नववधू' का प्रयोग किया गया है अथवा 'शयने' अधिकरणरूप कारक का प्रयोग हुआ है । अतः यह कारकदीपक का उदाहरण है ।

मालादीपक

अनुवाद (सू० १५७)—यदि पूर्व पूर्व वस्तु उत्तरोत्तर वस्तु का उत्कर्षक (गुणावह) हो तो मालादीपक अलंकार होता है ।

अनुवाद (वृत्ति)—पूर्व पूर्व वस्तु द्वारा आदि उत्तर-उत्तर वस्तु का उपकार (गुणाधान) किया जाता है तो वहाँ मालादीपक अलङ्कार होता है। जैसे—

अनुवाद—हे राजन् ! सङ्ग्रामाङ्गण अर्थात् युद्ध स्थल में धनुष पर डोरी (प्रत्यञ्चा) चढ़ाये आपके आ जाने पर जिसने-जिसने जो-जो सहसा प्राप्त किया, उसे सुनिये । धनुष ने बाण को प्राप्त किया । बाणों ने शत्रुओं के शिर को पाया, शत्रुओं के सिर ने पृथ्वी (भूमि) पायी, पृथ्वी ने आपको प्राप्त किया और आपने अतुल कीर्त्ति प्राप्त की और कीर्त्ति ने त्रैलोक्य को प्राप्त किया अर्थात् आपकी कीर्त्ति तीनों लोकों में व्याप्त हो गई ।।४६०।।

विमर्श—यहाँ पर एक ही आसादन रूप क्रिया का सभी कारकों के साथ सम्बन्ध होने से दीपक अलङ्कार है और यहाँ पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु उत्तरोत्तर वर्ण्य वस्तु के उत्कर्ष में उपकारक सिद्ध हो रही है जिससे राजा के यश का अधिक उत्कर्ष हो रहा है । इस प्रकार एक ही आसादनरूप क्रिया का सर्वत्र सम्बन्ध होने से 'माला-दीपक' अलंकार है ।

(सू० १५८) नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥१०४॥

नियतानां प्राकरणिकानामेव अप्राकरणिकानामेव वा क्रमेणोदाहरणम्।

पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि! हृदन्तः ॥४६१॥

कुमुदकमलनीलनीरजालिर्ललितविलासजुषोर्दृशोः पुरः का
अमृतममृतरश्मिरम्बुजन्म प्रतिहतमेकपदे तवाननस्य ॥४६२॥

---

(१६) तुल्ययोगिता अलंकार

अनुवाद (सू० १५८)— नियत अर्थात् केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत (वस्तुओं) के साधारणधर्म का एक बार कथन होने पर तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है ॥१०४॥

यहाँ पर 'नियतानां' का तात्पर्य है—'केवल प्राकरणिक वस्तुओं का अथवा केवल अप्राकरणिक वस्तुओं का'।

विमर्श—'तुल्या योगिता अन्वयो यत्रेति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार तुल्य अर्थात् समान योग—अन्वय (सम्बन्ध) का होना तुल्ययोगिता है। भाव यह कि जहाँ पर वर्णनीय होने के कारण केवल प्रस्तुत (प्राकरणिकों) का अथवा केवल अप्रस्तुत (अप्राकरणिकों) का गुण-क्रियादि रूप एक धर्म का अन्वय (सम्बन्ध) होता है, वहाँ तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है। (**एवं च केवलप्रकृतानां केवलाप्रकृतानां वा गुणक्रियाविरूपैकधर्मान्वयस्तुल्ययोगितालंकार इति भावः**)। दण्डी के अनुसार उत्कृष्ट गुण वाले पदार्थों की समानता तुल्ययोगिता है। यहाँ पर तुल्ययोगिता में एकधर्माभिसम्बन्ध केवल प्राकरणिक (प्रस्तुत) अथवा केवल अप्राकरणिक (अप्रस्तुत) में होता है। प्रथम प्रस्तुतगत तुल्ययोगिता का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—हे सखि! तुम्हारा यह पीला सूखा हुआ मुख, स्नेह (रस) से भरा हुआ हृदय और अलसाया हुआ शरीर तुम्हारे हृदय के अन्तःस्थित असाध्य रोग को सूचित कर रहा है ॥४६१॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में विरह के अनुभाव रूप पाण्डुता, क्षामता, सरसता, अलसता आदि वर्णनीय होने से प्रस्तुत है और यहाँ पर 'आवेदन-क्रिया' रूप साधारणधर्म का एक ही बार उपादान (ग्रहण) किया गया है, अतः यहाँ पर तुल्ययोगिता अलङ्कार है।

अप्रस्तुतगत तुल्ययोगिता का उदाहरण—

अनुवाद—(नायक नायिका के प्रति कहता है कि) हे प्रिये! तुम्हारी मनोहर हाव-भावों से युक्त आँखों के सामने कुमुद, कमल और नीलकमलों की पंक्ति क्या है? और तुम्हारे मुख के सामने अमृत, अमृतरश्मि (चन्द्रमा) और अम्बुज (कमल) एक साथ ही हार खा गये हैं ॥४६२॥

(सू० १५९) उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।

अन्यस्योपमेयस्य । व्यतिरेकः आधिक्यम् ।

क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम् ।
विरम प्रसीद सुन्दरि ! यौवनमनिवर्ति यातं तु ॥४६३॥

इत्यादावुपमानस्योपमेयादाधिक्यमिति केनचिदुक्तं तदयुक्तम् । अत्र यौवनयतास्थैर्याधिक्यं हि विवक्षितम् ॥

विमर्श – प्रस्तुत उदाहरण में पूर्वार्द्ध में नायिका का नेत्र प्रस्तुत है और कुमुद, कमल, नीलकमल आदि उपमानरूप में अप्रस्तुत हैं । यहाँ पर नायिका के नेत्र द्वारा अप्रस्तुत कुमुदादि का साधारणधर्म 'का' पद से अभिव्यङ्ग्य (अधिक्षेप) उपात्त है । इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में मुख (आनन) के उपमान रूप में प्रयुक्त अप्रस्तुत अमृत आदि के 'अप्रतिहत' रूप एक धर्म का कथन किया गया है, अतः यहाँ तुल्ययोगिता अलंकार है ।

(१७) व्यतिरेक अलंकार

अनुवाद (सू० १५९)—उपमान से उपमेय का जो व्यतिरेक (आधिक्य) बताया जाता है, वह व्यतिरेक अलंकार कहलाता है ।

यहाँ पर अन्य का अर्थ उपमेय है और व्यतिरेक का अर्थ आधिक्य ।

विमर्श—जहाँ पर उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य बताया जाता है वहाँ व्यतिरेक अलङ्कार होता है । जैसे—

अनुवाद—हे सुन्दरि ! मान जाओ (बस करो), प्रसन्न हो जाओ चन्द्रमा अत्यन्त क्षीण होकर भी फिर-फिर बढ़ता जाता है (अर्थात् क्षीण चन्द्र फिर-फिर पूर्ण हो जाता है); किन्तु गया हुआ यौवन फिर नहीं लौटता ॥४६३॥

अनुवाद (वृत्ति)—'क्षीणः क्षीणः' इत्यादि उदाहरण में उपमान का उपमेय से आधिक्य वर्णित है । यह किसी ने कहा है, किन्तु यह उचित नहीं है । यहाँ पर यौवन अस्थिरता का आधिक्य (उत्कर्ष) ही विवक्षित है ।

विमर्श—मम्मट ने उपमान से उपमेय के आधिक्य को व्यतिरेक कहा है; किन्तु अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक ने उपमान से उपमेय का आधिक्य अथवा न्यूनत्व होने पर दोनों ही अवस्था में 'व्यतिरेक' अलङ्कार माना है (**उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः**) और उपमेय से उपमान के आधिक्य का उदाहरण '**क्षीणः क्षीणोऽपि शशी**' दिया है । उनके अनुसार यहाँ उपमेयरूप यौवन की अपेक्षा उपमान

(सू० १६०) हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते ।।१०५।।

शब्दार्थाभ्यामआक्षिप्ते श्लिष्टे तद्वत् त्रिरष्ट तत् ।।

व्यतिरेकस्य हेतुः उपमेयगतमुत्कर्षनिमित्तम्, उपमानगतमपकर्ष—कारणम्, तयोर्द्वयोरुक्तिः। एकतरस्य द्वयोर्वा अनुक्तिरित्यमुक्ति—त्रयम्। एतद्भेदचतुष्टयम्। उपमानोपमेयभावे शब्देन प्रतिपादिते, आर्थेन च क्रमेणोक्ताश्चत्वार एव भेदाः। आक्षिप्ते चौपम्ये तावन्त एव। एवं द्वादश। एते श्लेषेऽपि भवन्तीति चतुर्विंशतिभेदाः। क्रमेणोदाहरणम्—

रूप चन्द्रमा का आधिक्य वर्णित है, अतः यहाँ व्यतिरेक अलंकार है। किन्तु आचार्य मम्मट इससे सहमत नहीं हैं, उनके मतानुसार यहाँ पर चन्द्रमा के आधिक्य का वर्णन अभीष्ट नहीं है, अपितु यौवन की अस्थिरता का आधिक्य-वर्णन अभीष्ट है। अतः यह चन्द्रमा तो क्षीण होकर भी फिर पूर्ण हो जाता है, किन्तु यौवन क्षीण होने पर फिर नहीं लौटता है, अतः यौवन चन्द्रमा की अपेक्षा अधिक अस्थिर है। यह काव्यप्रकाशकार मम्मट का अभिप्राय है।

पण्डितराज जगन्नाथ उपमान से उपमेय के उत्कर्ष में ही व्यतिरेक मानते हैं (उपमानादुपमेयस्य गुणविशेषवत्त्वेनोत्कर्षो व्यतिरेकः)। भाव यह कि उपमेय का किसी गुण विशेष के कारण उपमान से आधिक्य पाया जाना व्यतिरेक है। वे रुय्यक के मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि प्रस्तुत उदाहरण में कवि की विवक्षा चन्द्रमा की अपेक्षा यौवन के उत्कर्ष में है; क्योंकि गया हुआ यौवन न लौटने के कारण अतिदुर्लभ है। अतः उसका महत्त्व पुनर्पुनरागमन सुलभ चन्द्रमा से अधिक है।

व्यतिरेक के भेद

अनुवाद—दोनों हेतुओं का कथन होने पर अर्थात् उपमेयगत उत्कर्ष और उपमानगत अपकर्ष के हेतुओं का कथन होने पर एक भेद, उपमेय के उत्कर्ष के निमित्त (हेतु) के अनुक्त होने पर द्वितीय भेद, उपमान के अपकर्ष के हेतु का कथन न होने पर तृतीय भेद, इन दोनों के एक साथ कथन न होने पर चतुर्थ भेद, इस प्रकार चार भेद हुए। इनमें भी प्रत्येक के तीन प्रकार—जैसे, इवादि साधर्म्य शब्द के द्वारा शब्दतः, तद्वाचक तुल्यादि शब्दों के अभिधान से अर्थतः, साम्य (साधर्म्य) के आक्षिप्त (अभिव्यङ्ग्य) होने पर, इस प्रकार कुल ४×३=१२ बारह भेद हो जाते हैं। ये बारह भेद श्लेषगत होने से व्यतिरेक के २४ भेद होते हैं।

अनुवाद (वृत्ति)—व्यतिरेक अलङ्कार के हेतु उपमेयगत उत्कर्ष के निमित्त और उपमानगत अपकर्ष के निमित्त होते हैं। इन दोनों की उक्ति

असिमात्रसहायस्य प्रभूतारिपराभवे ।
अन्यतुच्छजनस्येव न स्मयोऽस्य महाधृतेः ॥४६४॥

अत्रैव तुच्छेति महाधृतेरित्यनयोः पर्यायेण युगपद्वाऽनुपादानेऽन्यद् भेदत्रयम्। एवमन्येष्वपि द्रष्टव्यम्। अत्रेवशब्दस्य सद्भावाच्छाब्दमौपम्यम् ।

(कथन होने पर एक भेद)। उन दोनों में से किसी एक की अथवा दोनों की अनुक्ति (कथन न होने पर) तीन प्रकार की अनुक्ति। ये सब मिलकर चार भेद होते हैं। उपमानोपमेयभाव के इवादि शब्द के द्वारा कथन होने पर (चार भेद) तथा तद्वाचक तुल्यादि शब्दों अथवा तुल्यार्थक 'वति' शब्द के द्वारा अर्थात् (अर्थसामर्थ्य से साम्य) प्रतिपादित होने पर चार भेद होते हैं। इस प्रकार कुल आठ भेद होते हैं। इसी प्रकार साम्य के आक्षिप्त होने पर उतने ही भेद अर्थात् चार भेद होते हैं। इस प्रकार कुछ बारह भेद हो जाते हैं। वे बारह भेद श्लेष में भी होते हैं, इसलिए (श्लेषगत और अश्लेषगत होने से कुल चौबीस भेद हो जाते हैं। क्रमशः इनका उदाहरण आगे देते हैं—

अनुवाद—केवल तलवार की सहायता वाले महाधैर्यशाली इस राजा के शत्रुओं के पराजित हो जाने पर भी अन्य तुच्छ जनों के समान अभिमान नहीं है ॥४६४॥

अनुवाद (वृत्ति)—इसी उदाहरण में 'तुच्छ' इस और 'महाधृति' इस—इन दोनों पदों के पर्याय से अथवा एक साथ कथन न होने पर अन्य (अनुक्ति) के तीन भेद होते हैं। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझना चाहिए। वहाँ पर 'इव' शब्द के सद्भाव (ग्रहण या कथन) होने से शब्दलभ्य (शाब्दी) औपम्य है।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में श्लेष नहीं है। यहाँ 'राजा' उपमेय है, 'अन्यजन' उपमान है, और 'अरिपराभव' साधारण धर्म है तथा 'इव' वाचक शब्द है। यहाँ उपमेय में उत्कर्ष का हेतु 'महाधृतित्व' और उपमानगत अपकर्ष का हेतु 'तुच्छत्व' दोनों का उपादान (ग्रहण) है और 'इव' शब्द के उपादान से शब्दगत औपम्य है। अतः यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार का प्रथम भेद है।

इसी उदाहरण में यदि केवल तुच्छतारूप अपकर्ष का कथन न किया जाय अर्थात् अनुक्ति के भेदत्रय का उदाहरण इस प्रकार होगा :—

असिमात्रसहायोऽपि प्रभूतारिपराभवे।
नैवान्यतुच्छजनवत्सगर्वोऽयं महाधृतिः ॥४६५॥

अत्र तुल्यार्थे वतिरित्यार्थमौपम्यम्।

---

(२) उपमानगत अपकर्ष की अनुक्ति में--

'नूनमन्यजनस्येव न स्मयोऽस्य महाधृतेः।'

(३) उपमेयगत उत्कर्ष की अनुक्ति में—

'अन्यतुच्छजनस्येव न स्मयोऽस्य महीपतेः।'

(४) दोनों हेतुओं की अनुक्ति में—

'नूनमन्यजनस्येव न स्मयोऽस्य महीपतेः।'

इसी उदाहरण में यदि 'अन्यतुच्छजनस्येव' में उपमावाचक 'इव' को हटाकर यदि उसके स्थान पर 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्र से तुल्य अर्थ में 'वति' प्रत्यय करके '**नैवान्यतुच्छजनवत्सगर्वोऽयं महाधृतिः**' यह पाठ कर दिया जाता है तो अर्थ-साम्य में अनुक्तित्रय का उदाहरण हो जाता है।

अनुवाद—केवल तलवार की सहायता वाला भी यह महाधैर्यशाली राजा प्रभूत शत्रुओं के पराजित हो जाने पर भी अन्य तुच्छ जन के समान गर्व-युक्त नहीं है ॥४६५॥

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ पर तुल्य अर्थ में 'वति' प्रत्यय होने पर (अन्यतुच्छजनवत्' ऐसा पाठ होने पर) अर्थगम्य (आर्थी) औपम्य है।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में शब्दों में श्लेष नहीं है और उपमानगत तुच्छत्व-रूप अपकर्ष तथा उपमेयगत महाधृतित्व रूप उत्कर्ष दोनों हेतुओं का स्पष्ट कथन है। यहाँ पर तुल्यार्थक 'वति' प्रत्यय होने से यहाँ सादृश्य (औपम्य) अर्थगम्य है। अतः यह व्यतिरेक का उदाहरण है।

यहाँ पर तुल्य अर्थ में 'वति' प्रत्यय का विधान अर्थ-गम्य है। यहाँ पर पूर्ववत् उत्कर्ष और अपकर्ष रूप दोनों हेतुओं का पर्याय से अथवा दोनों का एक साथ ग्रहण न होने पर अनुक्ति में तीनों उदाहरणों के रूप में देखे जा सकते हैं—

(२) उपमानगत अपकर्ष की अनुक्ति में—

'नूनं नैवान्यतुच्छजनवत् सगर्वोऽयं महाधृतिः'

(३) उपमेयगत उत्कर्ष की अनुक्ति में—

'नैवान्यतुच्छजनवत् सगर्वोऽयं महीपतिः'

(४) दोनों हेतुओं की अनुक्ति में—

''नूनं नैवान्यजनवत् सगर्वोऽयं महीपतिः।'

इयं सुनयना दासीकृत तामरसश्रिया ।
आननेनाकलङ्केन जयतीन्दुं कलङ्किनम् ॥४६६॥

अत्रेवादितुल्यादिपदविरहेण आक्षिप्तैवोपमा ।

जितेन्द्रियतया सम्यग् विद्यावृद्धनिषेविणः ।
अतिगाढ़गुणस्यास्य नाब्जवद्भङ्गुरा गुणाः ॥४६७॥

अत्रेवार्थे वतिः, गुणशब्दः श्लिष्टः, शाब्दमौपम्यम् ।

इस प्रकार व्यतिरेक के शब्दगम्य और अर्थगम्य के आठ भेदों का उदाहरण देने के पश्चात् अब आक्षेप-साम्य व्यतिरेक के भेदों का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—यह सुन्दर नेत्रों वाली (सुनयना) कमल की शोभा को भी दास बना देने वाले अर्थात् तिरस्कृत कर देने वाले निष्कलंक मुख से कलंक-युक्त चन्द्रमा को पराजित कर रही है ॥४६६॥

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ पर 'इव' आदि तथा तुल्य आदि शब्दों के न होने से आक्षेप से सादृश्य (साम्य) गम्य है ।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में शब्द श्लिष्ट नहीं है । यहाँ पर 'आनन' उपमेय है, चन्द्रमा उपमान है, अकलङ्क होना उपमेय के उत्कर्ष का हेतु और सकलङ्क होना उपमान के अपकर्ष का हेतु है । यहाँ पर दोनों हेतु शब्दतः उपात्त (कथित) हैं । यहाँ पर इवादि तथा तुल्यादि पदों के अभाव होने पर भी 'जयति' पद के द्वारा साम्य आक्षिप्त है ।

यहाँ पर उपमेयरूप आनन के उत्कर्ष का हेतु निष्कलङ्कत्व तथा उपमानरूप चन्द्र के अपकर्ष का हेतु सकलङ्कत्व दोनों शब्दतः कथित हैं, अतः यह 'हेत्वोरुक्तौ' का उदाहरण है । इसी उदाहरण में सकलङ्कत्व तथा निष्कलङ्कत्व हेतुओं के पर्याय से अथवा एक साथ ग्रहण न होने पर 'अनुक्तित्रय' का उदाहरण हो जायगा ।

(२) उपमानगत अपकर्ष की अनुक्ति में—

आननेनाकलंकेन जयत्यमृतदीधितिम् ।

(३) उपमेयगत उत्कर्ष की अनुक्ति में—

आननेन मनोज्ञेन जयतीन्दुं कलंकिनम् ।

(४) दोनों हेतुओं की अनुक्ति में—

आननेन मनोज्ञेन जयत्वमृत दीधितिम् ।

इस प्रकार आक्षेप-गम्य साम्य के आधार पर व्यतिरेक के चार भेद हुए और कुल बारह भेद हुए । अब श्लेषयुक्त व्यतिरेक के उदाहरण देते हैं—

अनुवाद – जितेन्द्रिय होने के कारण विद्यावृद्ध विद्वानों की अच्छी तरह सेवा करने वाले, अत्यन्त दृढ़ गुण वाले इस राजा के गुण कमल के (गुण-तन्तु के) समान क्षणभंकुर (नश्वर) नहीं हैं ॥४६७॥

अखण्डमण्डलः श्रीमान् पश्यैव पृथ्वीपतिः ।
न निशाकरवज्जातु कलावैकल्यमागतः ॥४६८॥

अत्र तुल्यार्थे वतिः, कलाशब्दः श्लिष्टः ।

मालाप्रतिवस्तूपमावत् मालाव्यतिरेकोऽपि संभवति । तस्यापि भेदा एवमूह्याः । दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ पर 'इव' के अर्थ में 'वति' प्रत्यय है और गुण शब्द श्लिष्ट है तथा साहश्य शब्द-गम्य है अर्थात् शब्द-गम्य औपम्य है ।

विमर्श—यहाँ पर गुण शब्द श्लिष्ट है । यहाँ राजा उपमेय और कमल उपमान है । उपमेय के उत्कर्ष का हेतु अतिगाढ़त्व है और उपमान के अपकर्ष का हेतु 'क्षणभंगुरत्व' है । दोनों हेतुओं का यहाँ शब्दतः उपादान (कथन) है । यहाँ पर 'तत्र तस्येव' इस सूत्र से 'इव' के अर्थ में 'वति' प्रत्यय है, अतः यहाँ शब्द-गम्य औपम्य (साम्य) है । इस प्रकार यह श्लेषमूलक शब्द-गम्य सादृश्य में व्यतिरेक के 'हेत्वोरुक्तौ' का प्रथम उदाहरण है ।

प्रस्तुत उदाहरण में दोनों हेतुओं के पर्याय से अथवा एक साथ कथन न होने पर 'अनुक्ति-त्रय' के तीन भेदों का उदाहरण हो जाता है—

(२) उपमानगत अपकर्ष की अनुक्ति में—

अतिगाढगुणस्यास्य न तामरसवद्गुणाः ।

(३) उपमेयगत उत्कर्ष की अनुक्ति में—

'सत्कर्मनिरतस्यास्य नाब्जवद्भङ्गुरागुणाः ।

(४) दोनों हेतुओं की अनुक्ति में—

'सत्कर्मनिरतस्यास्य न तामरसवद्गुणाः ।'

इस प्रकार श्लेषमूलक शब्दगत औपम्य व्यतिरेक के चार उदाहरण दिये गये हैं । अब श्लेषमूलक अर्थगत सादृश्य के व्यतिरेक के चार उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—देखो, अखण्ड-मण्डल वाला [द्वादश राजमण्डल से समृद्ध (राजा) अथवा अखण्ड-पूर्ण मण्डल-बिम्ब से युक्त पूर्ण (चन्द्र)] शोभा (श्री) या सम्पत्ति के युक्त यह राजा चन्द्रमा के समान कभी भी कलाओं से रहित नहीं होता ॥४६८॥

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ पर तुल्य अर्थ में 'वति' प्रत्यय है और कला शब्द श्लिष्ट है ।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'कला' शब्द श्लिष्ट है । इसके दो अर्थ होते हैं—(१) राजपक्ष में—चौसठ प्रकार की कला, चन्द्रपक्ष में—षोडशकला यहाँ

हरवन्न विषमदृष्टिर्हरिवन्न विभो विधूतविततवृषः ।
रविवन्न चातिदुःसहकरतापितभूः कदाचिदसि ॥४६९॥

अत्र तुल्यार्थे वतिः, विषमादयश्च शब्दाः श्लिष्टाः ।

पर 'राजा' (पृथ्वीपति) उपमेय और चन्द्रमा (निशाकर) उपमान है । यहाँ उपमेयगत राजा के उत्कर्ष का हेतु अखण्डमण्डलत्व (कलावैकल्य का अभाव) और उपमानगत चन्द्रमा के अपकर्ष का हेतु कलावैकल्य दोनों हेतुओं का शब्दतः उपादान (ग्रहण-कथन) किया गया है । यहाँ पर 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्र से तुल्य अर्थ में 'वति' प्रत्यय का विधान है, अतः यह अर्थगत साम्य का उदाहरण है । इस प्रकार यह श्लेषमूलक अर्थगत साम्य में व्यतिरेक के 'हेत्वारुक्तौ' का प्रथम उदाहरण है ।

यहाँ पर इन दोनों हेतुओं के पर्याय से अथवा एक साथ कथन न होने पर 'अनुक्तित्रय' के तीन उदाहरण हो जाते हैं—

(६) उपमानगत अपकर्ष की अनुक्ति में—

'अखण्डमण्डलो ह्येष श्रीमानुद्धतविक्रमः ।
न निशाकरवज्जातु दृश्यतां वसुधाधिपः ॥

(७) उपमेयगत उत्कर्ष की अनुक्ति में—

बहुलारिगतोऽप्येष श्रीमानुद्धतविक्रमः ।
न निशाकरवज्जातु कलावैकल्यमागतः ॥

(८) दोनों हेतुओं की अनुक्ति में—

बहुलारिगतोऽप्येष श्रीमानुद्धतविक्रमः ।
न निशाकरवज्जातु दृश्यतां वसुधाधिपः ॥

यहाँ पर इस प्रकार के पाठ होने पर 'बहुल' शब्द श्लिष्ट है । इसके दो अर्थ हैं—बहुल-अधिक, विपुल अथवा कृष्णपक्ष । अतः यह श्लेषमूलक अर्थगत साम्य में व्यतिरेक के चार उदाहरण होते हैं । इस प्रकार शब्दगत साम्य में चार और अर्थगत साम्य में चार कुल आठ उदाहरण श्लेषमूलक व्यतिरेक के हुए ।

अनुवाद—माला प्रतिवस्तूपमा के समान माला व्यतिरेक अलङ्कार भी हो सकता है और उनके भेद भी उसी प्रकार समझ लेने चाहिए । यहाँ दिग्दर्शन के लिए उदाहरण देते हैं—

विमर्श—यहाँ श्लेषमूलक अर्थगम्य साम्य में मालारूप व्यतिरेक का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—हे राजन् ! आप कभी शिव के समान विषम दृष्टि (अर्थात् त्रिलोचन या असमदृष्टि) नहीं हैं, विष्णु के समान महान् वृष (अर्थात् धर्म अथवा वृषासुर) का विनाश करने वाले नहीं हैं और सूर्य के समान अत्यन्त दुःसह कर (टैक्स या किरण) से पृथ्वी (भूमण्डल) को संतप्त करने वाले नहीं हैं ॥४६९॥

नित्योदितप्रतापेन त्रियामामीलितप्रभः ।
भास्वताऽनेन भूपेन भास्वानेष विनिर्जितः ॥४७०॥

अत्र ह्याक्षिप्तैवोपमा, भास्वतेति श्लिष्टः ।

यहाँ पर तुल्य अर्थ में 'वति' प्रत्यय है और विषम आदि शब्द श्लिष्ट हैं।

विमर्श—यहाँ पर राजा उपमेय है और हर, हरि, रवि आदि उपमान हैं। यहाँ उपमानगत अपकर्ष का हेतु 'असम दृष्टित्व' शब्दतः उपात्त (कथित) है और उपमेयगत उत्कर्ष का हेतु समदृष्टित्व शब्दतः उपात्त नहीं है। यहाँ तुल्यार्थक 'वति' प्रत्यय होने से अर्थ-गम्य साम्य है। यहाँ एक उपमेय के अनेक उपमान हैं। अतः श्लेषमूलक अर्थ-गम्य साम्य माला-व्यतिरेक अलङ्कार है।

इसके बाद आक्षेप-लभ्य साम्य में श्लेषमूलक व्यतिरेक का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—निरन्तर उदित पराक्रम वाले प्रकाशमान् (तेजस्वी) इस राजा ने (भास्वता) रात्रि में निष्प्रभ (कान्ति-हीन) सूर्य को पराजित कर दिया ॥४७०॥

यहाँ पर साम्य (सादृश्य) आक्षेपलभ्य है और 'भास्वता' पद श्लिष्ट है।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'भास्वता' तथा 'प्रताप' पद श्लिष्ट हैं। यहाँ पर राजा (भूप) उपमेय है और सूर्य (भास्वान्) उपमान है। यहाँ उपमेयगत उत्कर्ष का हेतु 'नित्योदितप्रतापत्व' तथा उपमानगत अपकर्ष का हेतु 'रात्रि में निष्प्रभ होना' दोनों का शब्दतः उपादान है। यहाँ पर इवादि शब्द तथा तुल्यादि शब्द शब्दतः उपात्त नहीं हैं, किन्तु यहाँ 'विनिर्जित' पद के द्वारा साम्य आक्षिप्त है। अतः यह श्लेषमूलक आक्षेपलभ्य साम्य में व्यतिरेक का प्रथम उदाहरण है।

यहाँ पर दोनों हेतुओं के (नित्योदितप्रतापत्व तथा त्रियामामीलितप्रभत्व) के पर्याय से अथवा एक साथ (युगपत्) उपादान (ग्रहण) न होने से 'अनुक्ति-त्रय' के तीन उदाहरण हो जाते हैं—

(१०) उपमानगत अपकर्ष की अनुक्ति में—

'नित्योदितप्रतापेन पङ्कजावलिनन्दनः ।'

(११) उपमेयगत उत्कर्ष की अनुक्ति में—

'समरासक्तमनसा त्रियामामीलितप्रभः ।'

(१२) दोनों हेतुओं की अनुक्ति में—

'समरासक्तमनसा पङ्कजावलिनन्दनः ।'

यथा वा—

> स्वच्छात्मतागुणसमुल्लसितेन्दुबिम्बं
> बिम्बप्रभाधरमकृत्रिमहृद्यगन्धम् ।
> यूनामतीव पिबतां रजनीषु यत्र
> तृष्णां जहार मधु नाननमङ्गनानाम् ॥४७१॥

अत्रेवादीनां तुल्यादीनां च पदानामभावेऽपि श्लिष्टविशेषणैराक्षिप्तैवोपमा प्रतीयते। एवञ्जातीयकाः श्लिष्टोक्तियोग्यस्य पदस्य पृथगुपादानेऽन्येऽपि भेदाः सम्भवन्ति। तेऽप्यनयैव दिशा द्रष्टव्याः।

इस प्रकार श्लेषमूलक आक्षेप-लभ्य साम्य में व्यतिरेक के चार उदाहरण निर्दिष्ट हैं और श्लेषमूलक शब्द-गम्य साम्य में व्यतिरेक के चार उदाहरण तथा अर्थ-गम्य साम्य में चार उदाहरण पहिले दिये जा चुके हैं। इस प्रकार श्लेषमूलक शब्द-साम्य में चार भेद, आर्थ-साम्य में चार भेद तथा आक्षेप-गम्य-साम्य में चार भेद कुल बारह भेद श्लेषमूलक व्यतिरेक के हुए। पूर्वोक्त श्लेष-रहित (अश्लेषमूलक) व्यतिरेक के बारह भेद मिला देने से व्यतिरेक के चौबीस भेद हो जाते हैं।

आक्षेप-गम्य साम्य में व्यतिरेक का दूसरा उदाहरण देते हैं। जैसे—

अनुवाद **स्वच्छता (निर्मलता) रूप गुण के कारण जिसमें चन्द्रबिम्ब प्रतिबिम्बित हो रहा है, बिम्बाफल की प्रभा (कान्ति) को धारण करने वाला अथवा बिम्बाफल की प्रभा (कान्ति) के समान अधर वाला तथा स्वाभाविक मनोहर गन्ध से युक्त मद्य जिस बसन्त ऋतु की रात में पान करने वाले युवकों की तृष्णा (प्यास) को तृप्त कर दिया, किन्तु कामिनियों के मुख ने तृप्त नहीं किया। भाव यह कि जिस बसन्त ऋतु की रात में निर्मलता के कारण प्रतिबिम्बित चन्द्रबिम्ब वाला तथा बिम्बाफल के समान कान्ति वाला स्वाभाविक गन्धयुक्त मद्य ने मद्यपान करने वाले युवकों की प्यास को शान्त कर दिया, किन्तु निर्मल चन्द्रबिम्ब के समान कान्तियुक्त, बिम्बाफल के समान अधरों से युक्त कामिनियों के मुख उसका अत्यधिक पान (अधर-पान) करने वाले युवकों की तृष्णा को शान्त न कर सका ॥४७१॥**

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ पर 'इव' आदि पदों के तथा तुल्य आदि पदों के अभाव में भी श्लेषयुक्त विशेषणों के द्वारा आक्षेप-गम्य औपम्य (सादृश्य) की प्रतीति होती है। इसी प्रकार श्लिष्ट-कथन (श्लिष्टोक्ति) के योग्य पदों

(सू० १६१) निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ॥१०६॥

वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।

विवक्षितस्य प्राकरणिकत्वादनुपसर्जनीकार्यस्य अशक्यवक्तव्यत्वमप्रतिषिद्धत्वं वा विशेषं वक्तुं निषेधो निषेध इव यः स वक्ष्यमाणविषय उक्तविषयश्चेति द्विधा आक्षेपः ।

अलग-अलग उपादान (ग्रहण) करने पर अन्य भेद भी हो सकते हैं। वे भी इसी प्रकार समझ लेने चाहिए।

विमर्श—यहाँ पर श्लिष्ट विशेषणों के द्वारा हृद्य (मनोहर) गन्ध आदि से युक्त सुन्दरियों का मुख उपमेय है, मधु उपमान है, यहाँ मधु के सदृश सुन्दरियों का मुख है। यहाँ पर साम्य (औपम्य) का आक्षेप होने पर भी मधु से तृष्णा शान्त हो गई, किन्तु मुख से तृष्णा शान्त नहीं हुई, इस विलक्षणता के कारण यहाँ पर व्यतिरेक अलङ्कार है।

यहाँ पर सर्वलोकलभ्यत्व रूप मधु तृष्णाहरण रूप अपकर्ष का हेतु है और पुरुषैकलभ्यत्वरूप अङ्गनामुख के तृष्णा-अहरणरूप उत्कर्ष का हेतु है, इन दोनों हेतुओं का यहाँ कथन नहीं किया गया है। अतः यहाँ निर्जित-जयत्व आदि पदों के अभाव में भी श्लेषयुक्त विशेषणों के माहात्म्य से मधु और मुख में सादृश्य की प्रतीति आक्षेप से होती है। यहाँ पर साम्य आक्षिप्त है। अतः यह श्लेषमूलक आक्षेपगम्य साम्य में व्यतिरेक का उदाहरण है।

(१८) आक्षेप अलंकार

अनुवाद (सू० १६१)—**जो विशेष के कथन की इच्छा से इष्टार्थ का (विवक्षित का) निषेध सा किया जाता है, वह आक्षेप अलंकार कहलाता है। यह आक्षेप दो प्रकार का होता है वक्ष्यमाणविषयक और उक्तविषयक ॥१०६॥**

अनुवाद (वृत्ति)—विवक्षित अर्थात् प्रकरण प्राप्त होने के कारण जिसकी उपेक्षा न की जा सके, उस वस्तु के वर्णन की अशक्यता अथवा अप्रतिषिद्धत्वरूप विशेषता बतलाने के लिए जो निषेध सा किया जाता है, वह वक्ष्यमाणविषयक और उक्तविषयक दो प्रकार का आक्षेप अलङ्कार होता है।

विमर्श—आक्षेप अलङ्कार का लक्षण अग्निपुराण में निम्न प्रकार कहा गया है—

ए एहि किंपि कीएवि कएण णिक्किव भणामि अलमह वा ।
अवि आरिअकज्जारंभ आरिणी मरउ ण भणिस्सम् ।।४७२।।

[ए एहि किमपि कस्या अपि कृते निष्कृप ! भणामि अलमथवा ।
अविचारितकार्यारम्भकारिणी म्रियतां न भणिष्यामि ।।४७२।।
(इति संस्कृतम्)

ज्योत्स्ना मौक्तिकदाम चन्दनरसः शीतांशुकान्तद्रवः
कर्पूरं कदली मृणालवलयान्यम्भोजिनीपल्लवाः ।
अन्तर्मानसमास्त्वया प्रभवता तस्याः स्फुलिङ्गोत्कर -
व्यापाराय भवन्ति हन्त किमनेनोक्तेन न ब्रूमहे ।।४७३।।

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषोऽभिधित्सया ।
तमाक्षेपं ब्रुवन्त्यत्र .... ।।

अर्थात् जहाँ पर विशेष बात कहने की इच्छा से इष्टार्थ इष्ट वस्तु के कथन का निषेध सा किया जाता है, उसे आक्षेप अलङ्कार कहते हैं । उद्भट और भामह ने भी आक्षेप का लक्षण अग्निपुराण के अनुसार ही किया है ।

प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति कवयः सदा ।।

यह आक्षेप अलङ्कार दो प्रकार का होता है—वक्ष्यमाणविषयक और उक्त विषयक । क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं । प्रथम वक्ष्यमाणविषयक आक्षेप अलङ्कार का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद अरे निष्ठुर ! इधर आवो, मैं किसी के लिए तुम से कुछ कहना चाहती हूँ अथवा बिना विचारे काम करने वाली को मर जाने दो, किन्तु मैं कुछ नहीं कहूँगी ।।४७२।।

विमर्श—यहाँ पर किसी विरहिणी नायिका की सखी उसका सन्देश लेकर नायक के पास जाती है, किन्तु नायक से उसकी दशा कहने से पहिले निषेध-सा कर रही है । यहाँ पर विरह-जन्य नायिका सन्तापातिशय अवश्य कहना था, किन्तु उसका निषेध कर दिया गया है अतः यह वक्ष्यमाणविषयक निषेधरूप आक्षेप का उदाहरण है ।

उक्तविषयक आक्षेप अलंकार का उदाहरण—

अनुवाद—चाँदनी, मुक्ता की माला, चन्दन का रस, चन्द्रकान्तमणि का द्रव (रस) कपूर, कदली, मृणाल (कमलनाल) का कंगन (वलय), कमलिनी के पत्ते (पल्लव) ये सब उस नायिका के हृदय के भीतर तुम्हारे स्थित होने के कारण चिनगारियों का काम करने वाले हो रहे हैं अथवा इन सब के कहने से क्या लाभ ? अतः हम कुछ नहीं कहेंगे ।।४७३।।

(सू० १६२) क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना॥१०७॥

हेतुरूपक्रियाया निषेधेऽपि तत्फलप्रकाशनं विभावना।

यथा—

कुसुमितलताभिरहताऽप्यधत्त रुजमलिकुलैरदष्टापि।
परिवर्त्तते स्म नलिनी लहरीभिरलोलिताऽप्यघूर्णत सा॥४७४॥

विमर्श—यहाँ पर वियोगिनी नायिका के लिए चाँदनी आदि चिनगारी का काम कर रहे हैं। यहाँ पर अतिप्रसिद्धत्व रूप विशेष (अर्थ) की व्यञ्जना के लिए चाँदनी आदि से संतप्त होने का वर्णन करके उक्त कथन का निषेध किया गया है। इसलिए यहाँ उक्तविषयक निषेधाभासमूलक आक्षेप अलङ्कार है।

(१६) विभावना अलंकार

अनुवाद (सू० १६२)—क्रिया अर्थात् कारण का अभाव (प्रतिषेध) होने पर भी फल की उत्पत्ति होने पर विभावना अलंकार होता है॥१०७॥

अनुवाद (वृत्ति)—हेतु रूप क्रिया का निषेध होने पर भी फल की उत्पत्ति विभावना अलङ्कार है।

विमर्श—क्रिया का प्रतिषेध होने पर भी फलोत्पत्ति में विभावना अलङ्कार होता है। यहाँ पर 'क्रिया' का अभिप्राय है—हेतुरूप क्रिया अर्थात् 'कारण'। इस प्रकार कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति का होना विभावना है (**क्रियतेऽनयेति व्युत्पत्त्या क्रियाशब्दः कारणपरः**)। विश्वनाथ ने विभावना का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते।

अर्थात् कारण के अभाव में कार्य का सद्भाव 'विभावना' है। क्योंकि इस प्रकार के वर्णन में एक वैचित्र्य रहता है। इसीलिए कविजन इस प्रकार का वर्णन किया करते हैं।

विभावना और विरोधाभास—दोनों ही विरोधमूलक अलङ्कार हैं। किन्तु विरोधाभास में कारण और कार्य दोनों परस्पर बाध्य रूप में प्रतीत होते हैं। विभावना में कारण के अभाव में कार्य ही बाध्य रूप में प्रतीत होता है।

अनुवाद—कुसुमित (पुष्पित) लताओं से ताड़ित होने पर भी वह नायिका पीड़ा का अनुभव करती है, भौंरों के द्वारा न काटे जाने पर भी तड़प रही है, कमलिनी की लहरियों में पड़े बिना भी चकरा रही है॥४७४॥

(सू० १६३) विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः

मिलितेष्वपि कारणेषु कार्यस्याकथनं विशेषोक्तिः। अनुक्तनिमित्ता, उक्तनिमित्ता अचिन्त्यनिमित्ता च। क्रमेणोदाहरणम्—

विमर्श—यहाँ पर लता से ताड़ित होना पीड़ा का हेतु है, भौंरों का काटना तड़पने का हेतु है और लहरों में फँसना चक्कर आने का हेतु है, किन्तु यहाँ इन कारणों के अभाव में भी पीड़ादिरूप कार्य का कथन किया गया है, इसलिए यहाँ विभावना अलङ्कार है। इससे नायिका का विरहातिशय द्योतित हो रहा है।

(२०) **विशेषोक्ति अलंकार**

अनुवाद (सू० १६३)—समस्त (प्रसिद्ध) कारणों के होने पर भी कार्य (फल) का कथन न करना 'विशेषोक्ति' अलंकार है।

अनुवाद (वृत्ति)—प्रसिद्ध कारणों के एकत्र होने पर भी कार्य (फल) का कथन न करना 'विशेषोक्ति' है। यह विशेषोक्ति तीन प्रकार की होती है—अनुक्तनिमित्ता, उक्तनिमित्ता और अचिन्त्यनिमित्ता।

विमर्श—मम्मट के अनुसार कारण के होने पर भी कार्य का न होना 'विशेषोक्ति' है। सूत्र में 'अखण्ड' शब्द आया है जिसका अभिप्राय है मिलित या प्रसिद्ध। अर्थात् प्रसिद्ध कारणों के सद्भाव में भी कार्याभाव का कथन 'विशेषोक्ति' अलङ्कार है। अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक ने विशेषोक्ति का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

कारणसामग्र्ये कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः

अर्थात् कारण-सामग्री के रहने पर भी कार्य का न होना 'विशेषोक्ति' है। भाव यह कि समग्र कारण-सामग्री के सद्भाव में कार्याभाव का कथन 'विशेषोक्ति' है।

विभावना और विशेषोक्ति—दोनों ही कार्य-कारण-भावाश्रित और विरोधमूलक अलङ्कार हैं। किन्तु विशेषोक्ति में कारण के होने पर भी कार्य का अभाव पाया जाता है जबकि विभावना में कारण के अभाव में कार्य का सद्भाव पाया जाता है।

यह विशेषोक्ति अनुक्तनिमित्ता, उक्तनिमित्ता और अचिन्त्यनिमित्ता भेद से तीन प्रकार की होती है। क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं। (१) अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण—

निद्रानिवृत्तावुदिते द्युरत्ने सखीजने द्वारपदं पराप्ते ।
श्लथीकृताश्लेषरसे भुजङ्गे चचाल नालिङ्गनतोऽङ्गना सा ।।४७५।।
कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ।।४७६।।
स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरताऽपि तनुं यस्य शम्भुना न बलं हृतम् ।।४७७।।

अनुवाद- नींद खुल जाने पर, सूर्य का उदय हो जाने पर, सखी जनों के दरवाजे पर आ जाने पर और उपपति (नायक) के द्वारा आलिगन के आनन्द के शिथिल कर देने पर भी वह (नायिका) आलिगन से विचलित नहीं हुई ।।४७५।।

विमर्श—यहाँ पर निद्रा-निवृत्ति, सूर्योदय आदि कारणों के होने पर भी आलिङ्गन-परित्याग रूप कार्य का अभाव कथन किया गया है, अतः यहाँ पर, 'विशेषोक्ति' अलङ्कार है। यहाँ पर अनुरागातिशयरूप निमित्त का कथन नहीं है, इसलिए यहाँ 'अनुक्तनिमित्ता' विशेषोक्ति है ।

(२) उक्तनिमित्ता का उदाहरण—

अनुवाद—जो (कामदेव) कपूर के समान जल जाने पर भी जन-जन में शक्तिमान् है; अकुण्ठित शक्ति वाले उस कामदेव को नमस्कार है ।।४७६।।

विमर्श—यहाँ पर शरीर का भस्म होना शक्तिक्षय का कारण है, उस कारण के विद्यमान रहने पर भी शक्ति-क्षय रूप कार्य का अभाव कहा गया है इसलिए यहाँ 'विशेषोक्ति' है। यहाँ 'अकार्यवीर्यस्वरूप' रूप निमित्त का कथन होने से यहाँ 'उक्त-निमित्ता' विशेषोक्ति अलङ्कार है ।

(३) अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण—

अनुवाद—फूलों का अस्त्र धारण करने वाला यह कुसुमायुध कामदेव अकेला ही तीनों लोकों को जीत लेता है। जिसके शरीर का हरण (विनाश) करने वाले शिव उसके बल (शक्ति) का नाश (हरण) नहीं कर सके ।।४७७।।

विमर्श—यहाँ पर शरीर का नाश बल के नाश का कारण है, उस कारण (शरीरनाश) के रहते हुए भी बल-नाश रूप कार्य का अभाव कथन किया गया है, इसलिए यहाँ विशेषोक्ति अलङ्कार है। यहाँ पर शरीर का हरण करने वाले शिव ने काम के बल का नाश क्यों नहीं किया ? इसके हेतु का यहाँ विचार नहीं किया गया है, क्योंकि यह तो केवल गम्य है, अतः यहाँ अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति है ।

(सू० १६४) यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ॥१०८॥

यथा—

स एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र
देव द्विषां च विदुषां च मृगीदृशां च।
तापं च सम्मदरसं च रतिं च पुष्णन्
शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥४७८॥

(सू० १६५) सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येण परेण वा ॥१०९॥

साधर्म्येण वैधर्म्येण वा सामान्यं विशेषेण यत् समर्थ्यते, विशेषो वा सामान्येन सोऽर्थान्तरन्यासः।

---

(२१) यथासंख्य अलंकार

अनुवाद (सू० १६४)—जहाँ पर क्रम से कहे हुए पदार्थों का उसी क्रम से समन्वय (सम्बन्ध) होता है, वहाँ यथासंख्य अलंकार होता है ॥१०८॥

जैसे—

अनुवाद—हे देव ! आप अकेले ही शत्रुओं, विद्वानों और मृगनयनियों के मन में (चित्त में) शौर्य की ऊष्मता, विनय और लीला के द्वारा क्रमशः सन्ताप, आनन्द-रस और रति को उत्पन्न करते हुए तीन रूप में निवास करते हैं, इसमें आश्चर्य क्या है ? ॥४७८॥

विमर्श—यहाँ पर द्वितीय चरण में उक्त शत्रु, विद्वान् और मृगनयनी आदि का तृतीय चरण में कथित ताप, सम्मदरस और रति के साथ चतुर्थ चरण में उक्त 'शौर्योष्मणा', 'विनयेन' और 'लीलया' के साथ क्रमशः अन्वय होता है, जिसमें एक अर्थ-वैचित्र्य का अनुभव होता है, इसलिए यहाँ यथासंख्य अलङ्कार है।

(२२) अर्थान्तरन्यास अलंकार

अनुवाद (सू० १६५)—जहाँ पर सामान्य का विशेष के द्वारा अथवा विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन होता है, वह अर्थान्तरन्यास अलंकार साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से दो प्रकार का होता है ॥१०९॥

अनुवाद (वृत्ति)—साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से सामान्य का जो विशेष से समर्थन किया जाता है अथवा विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन किया जाता है, वह अर्थान्तरन्यास अलङ्कार कहलाता है।

विमर्श—मम्मट अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि जहाँ पर सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन होता है अथवा विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन होता है वह अर्थान्तरन्यास अलङ्कार दो प्रकार का होता है। वह दो प्रकार का भी साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से समर्थित होने से दो प्रकार का अर्थात् प्रत्येक भेद का समर्थन हेतु साधर्म्य अथवा वैधर्म्य भेद से दो प्रकार का होता है, इस प्रकार अर्थान्तरन्यास अलङ्कार चार प्रकार का होता है।

अर्थान्तरन्यास और काव्यलिङ्ग—अर्थान्तरन्यास अलङ्कार में सामान्य के द्वारा विशेष का और विशेष के द्वारा सामान्य का समर्थन होता है और काव्यलिङ्ग अलङ्कार में कारण से कार्य का और कार्य से कारण का समर्थन होता है। भाव यह कि अर्थान्तरन्यास में समर्थ्य और समर्थक का सामान्य-विशेष भाव सम्बन्ध होता है और काव्यलिङ्ग में समर्थ्य-समर्थक का कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध होता है। यही दोनों में अन्तर है।

अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त—दोनों में ही परस्पर निरपेक्ष (प्रस्तुत और अप्रस्तुत) दो वाक्य होते हैं, किन्तु अर्थान्तरन्यास तर्कमूलक अलङ्कार है और दृष्टान्त सादृश्यमूलक अलङ्कार है। अर्थान्तरन्यास में दोनों वाक्यों में समर्थ्य-समर्थक भाव होता है और दृष्टान्त में उपमानोपमेयभाव होता है। अर्थान्तरन्यास में सामान्य का विशेष के द्वारा और विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन होता है जबकि दृष्टान्त में सामान्य का समर्थन सामान्य से और विशेष का समर्थन विशेष के द्वारा होता है। अर्थान्तरन्यास में एक वाक्य सामान्य और दूसरा विशेष होता है जबकि दृष्टान्त में दोनों वाक्य या तो सामान्य होंगे या विशेष होंगे।

अर्थान्तरन्यास और निदर्शना—दोनों में ही दो वाक्य होते हैं किन्तु अर्थान्तरन्यास में दोनों वाक्य परस्पर निरपेक्ष होते हैं और निदर्शना में दोनों वाक्य परस्पर सापेक्ष होते हैं। अर्थान्तरन्यास में एक वाक्य सामान्य और दूसरा विशेष होता है किन्तु निदर्शना में दोनों वाक्य प्रायः विशेष होते हैं। अर्थान्तरन्यास तर्कमूलक अलङ्कार है और निदर्शना सादृश्यमूलक अलङ्कार है।

अर्थान्तरन्यास और प्रतिवस्तूपमा—दोनों में ही परस्पर निरपेक्ष दो वाक्य होते हैं किन्तु प्रतिवस्तूपमा में दोनों वाक्यों में उपमानोपमेयभाव होता है और अर्थान्तरन्यास में दोनों वाक्यों में समर्थ्य-समर्थकभाव होता है। अर्थान्तरन्यास में सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से समर्थन होता है जबकि प्रतिवस्तूपमा में विशेष से विशेष का समर्थन होता है। अर्थान्तरन्यास में सामान्यविशेषभाव होता और प्रतिवस्तूपमा में वस्तुप्रतिवस्तुभाव होता है।

यह अर्थान्तरन्यास अलंकार चार प्रकार का होता है—

(१) साधर्म्य के द्वारा विशेष से सामान्य का समर्थन।

(२) साधर्म्य के द्वारा सामान्य से विशेष का समर्थन।

क्रमेणोदाहरणम्—

(१) निजदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम् ।
पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शङ्खमपि पीतम् ॥४७९॥

(२) सुसितवसनालङ्कारायां कदाचन कौमुदी—
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः ।
तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा
प्रियगृहमगान्मुक्ताशङ्का क्व नासि शुभप्रदः ॥४८०॥

---

(३) वैधर्म्य के द्वारा विशेष से सामान्य का समर्थन ।
(४) वैधर्म्य के द्वारा सामान्य से विशेष का समर्थन ।

क्रमशः चारों का उदाहरण देते हैं—

(१)

अनुवाद—अपने ही दोष से जिनका मन व्याप्त (आवृत) है उनका अति सुन्दर वस्तु भी विपरीत (बुरी) लगा करती है । पित्त (पीलिया) रोग से पीड़ित लोगों को चन्द्रमा के समान शुभ्र (सफेद) शङ्ख भी पीला दिखाई देता है ॥४७९॥

विमर्श—यहाँ पर पूर्वार्द्ध में कथित 'अपने ही दोष से व्याप्त मन वाले व्यक्ति को सुन्दर वस्तु भी बुरी लगती है' इस सामान्य का समर्थन उत्तरार्द्ध में कथित 'पीलिया रोग से पीड़ित व्यक्ति को सफेद शंख भी पीला दिखाई देता है' इस विशेष कथन से किया गया है, अतः यह साधर्म्य के द्वारा विशेष से सामान्य के समर्थन का उदाहरण है ।

(२)

अनुवाद—सुन्दर श्वेत वस्त्रों और अलंकारों को धारण किये हुए सुनयना नायिका कभी (किसी दिन) चन्द्रमा की चाँदनी में अभिसार के लिए जा रही थी कि मार्ग में चन्द्रमा अस्त हो गया । उसके बाद आपकी कीर्ति का किसी ने गायन किया, जिससे वह (नायिका) निःशङ्क होकर प्रियतम के घर चली गई, आप कहाँ लोगों के लिए कल्याणकारी नहीं हैं ॥४८०॥

विमर्श—यहाँ पर 'आप कहाँ पर कल्याणकारी नहीं हैं' इस सामान्य कथन के द्वारा 'सुसितवसनालङ्कारायाम्' इत्यादि में उपकार विशेष का समर्थन किया गया है, अत यह साधर्म्य के द्वारा सामान्य से विशेष के समर्थन का उदाहरण है ।

(३) गुणानामेव दौरात्म्याद् धुरि धुर्यो नियुज्यते ।
असञ्जातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति गौर्गलि ॥४८१॥

(४) अहो हि मे बह्वपराद्धमायुषा यदप्रियं वाच्यमिदं मयेदृशम् ।
स एव धन्यः सुहृदः पराभवं जगत्यदृष्ट्वैव हि ये क्षयं गताः ॥४८२॥

(सू० १६६) विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।

वस्तुवृत्तेनाविरोधेऽपि विरुद्धयोरिव यदभिधानं स विरोधः ।

---

(३)

अनुवाद—गुणों के दौरात्म्य (अपराध) के कारण ही कार्य कुशल पुरुष (श्रेष्ठ बैल) ही कार्य-वहन (कार्यभार-वहन) में नियुक्त किया जाता है। दुष्ट बैल ही कन्धे पर चिह्न धारण किये बिना ही सुखपूर्वक सोता है ॥४८१॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में 'धुरि धुर्यो नियोज्यते' अर्थात् गुणवान् व्यक्ति ही कार्य में लगाया जाता है। इस सामान्य कथन का 'सुखं स्वपिति गौर्गलिः' अर्थात् दुष्ट बैल सुख से सोता है, इस विशेष के द्वारा वैधर्म्य से समर्थन किया गया है, अतः यह वैधर्म्य के द्वारा विशेष से सामान्य के समर्थन का उदाहरण है। यहाँ पर 'गौर्गलिः' में 'गलि' शब्द का अर्थ विभिन्न टीकाकारों ने अलग-अलग किया है। किन्तु यहाँ 'दुष्ट बैल' यह अर्थ ही समीचीन प्रतीत होता है; क्योंकि महेश्वर तथा हेमचन्द्र ने इसी अर्थ को उचित बताया है।

(४)

अनुवाद—अरे ! मेरी दीर्घ (लम्बी) आयु ने मेरा बड़ा अपराध किया है जो कि इस प्रकार की अप्रिय बात कहनी पड़ रही है। वही वास्तव में धन्य है जो संसार में मित्र के पराभव को देखे बिना ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं ॥४८२॥

विमर्श—यहाँ पर 'त एव धन्य'' अर्थात् वे ही धन्य है, इस सामान्य के द्वारा 'अहो हि मे बह्वपराद्धमायुषा' अर्थात् मेरी लम्बी आयु ने मेरा बड़ा अपराध किया' इस विशेष का समर्थन 'अहमधन्यः' इस वैधर्म्य के द्वारा किया गया है अतः यह वैधर्म्य के द्वारा सामान्य से विशेष के समर्थन का उदाहरण है।

(२३) विरोध अलंकार

अनुवाद (सू० १६६)—जहाँ विरोध न होने पर भी (दो वस्तुओं का) विरोध विरुद्ध रूप से जो वर्णन किया जाता है वह विरोध अलंकार है।

(सू० १६७) जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणास्त्रिभिः ॥१२०॥

क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ।

अनुवाद (वृत्ति)—वास्तव में (यथार्थ में) विरोध न होने पर भी दो विरुद्धों जैसा (विरुद्धों के समान) जो वर्णन है, वह विरोध अलङ्कार होता है।

अनुवाद (सू० १६७)– जाति का जाति आदि चार (जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य) के साथ विरुद्ध होना, गुण का गुण आदि तीन (गुण, क्रिया, द्रव्य) के साथ विरोध होना, क्रिया का क्रिया आदि दो (क्रिया, द्रव्य) के साथ विरोध होना तथा द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध होना ये दस प्रकार के विरोध होते हैं ।

विमर्श—मम्मट का अभिप्राय है कि जहाँ पर वास्तव में विरोध न हो, किन्तु आपाततः विरोध जैसी प्रतीति हो, वह विरोधाभास अलङ्कार कहलाता है। अलङ्कार-सर्वस्वकार का कथन है कि यहाँ विरोध का अभिप्राय है वास्तव में विरोध न होने पर आपात में विरोध की प्रतीति होना। क्योंकि आपात में विरोध की प्रतीति में एक नवीन चमत्कार उत्पन्न होता है। पण्डितराज का कथन है कि एक आश्रय के सम्बन्ध से प्रतिपादित दो वस्तुओं का एकाधिकरण (एक आश्रय) में असम्बन्ध का भान होना विरोध अलङ्कार है। इसी को विरोधाभास अलङ्कार भी कहते हैं। भाव यह कि आपाततः विरोध की प्रतीति अथवा विरोध का आभास होना विरोध या विरोधाभास अलङ्कार है, क्योंकि इसमें एक नवीन वैचित्र्य रहता है।

विरोध और असङ्गति—दोनों ही विरोधमूलक अलङ्कार हैं किन्तु दोनों का क्षेत्र अलग-अलग है। नियमपूर्वक एकदेश में स्थित कार्य और कारण का भिन्न-भिन्न देशों में एक साथ रहने का वर्णन असङ्गति अलङ्कार है और अलग-अलग स्थानों में नियत रूप से रहने वाले दो वस्तुओं का एक-आश्रय में वर्णन करना विरोधाभास अलङ्कार है। विरोध उत्सर्गरूप (सामान्य-नियम) है और असङ्गति अपवाद रूप है।

विरोध और विभावना-विशेषोक्ति—तीनों ही विरोधमूलक अलङ्कार हैं किन्तु विरोध का क्षेत्र विभावना-विशेषोक्ति के क्षेत्र से अधिक व्यापक होता है और यह सभी स्थलों पर हो सकता है जबकि विभावना-विशेषोक्ति का क्षेत्र सीमित होता है और ये दोनों कार्य-कारण के विरोध की प्रतीति में हुआ करते हैं। विरोध उत्सर्गरूप (सामान्य नियम) है और विभावना-विशेषोक्ति अपवादरूप हैं। अलङ्कारसर्वस्वकार का कथन है कि जहाँ विभावना में कारण के अभाव में कार्य बाधित रूप में प्रतीत

क्रमेणोदाहरणम्—

(१) अभिनवनलिनीकिसलयमृणालवलयादि दवदहनराशिः ।
सुभग कुरङ्गदृशोऽस्या विधिवशतस्त्वद्वियोगपविपाते ॥४८२॥

(२) गिरयोऽप्यनुन्नतियुजो मरुदप्यचलोऽब्धयोऽप्यतिगम्भीराः ।
विश्वम्भराऽप्यतिलघुर्नरनाथ ! तवान्तिके नियतम् ॥४८३॥

होता है और विशेषोक्ति में कार्य के अभाव के द्वारा कारण की सत्ता बाध्यरूप में प्रतीत होती है; वहाँ विरोध (विरोधाभास) अलंकार में कार्य और कारण दोनों में पारस्परिक विरोध होने से बाध्य-बाधक भाव प्रतीत होता है।

यह विरोधाभास अलङ्कार दस प्रकार का होता है—

(१) जाति का जाति के साथ विरोध वर्णन में।
(२) जाति का गुण के साथ विरोध वर्णन में।
(३) जाति का क्रिया के साथ विरोध वर्णन में।
(४) जाति का द्रव्य के साथ विरोध वर्णन में।
(५) गुण का गुण के साथ विरोध होने पर।
(६) गुण का क्रिया के साथ विरोध होने पर।
(७) गुण का द्रव्य के साथ विरोध होने पर।
(८) क्रिया का क्रिया के साथ विरोध होने पर।
(९) क्रिया का द्रव्य के साथ विरोध होने पर।
(१०) द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध वर्णन में।

क्रमशः इनका उदाहरण देते हैं—

(१) जाति का जाति से विरोध में उदाहरण

अनुवाद—हे सुन्दर ! दैववश तुम्हारे वियोग का वज्रपात हो जाने से इस मृगनयनी के लिए नवीन कमलिनी के पत्ते (किसलय), तथा मृणाल के वलय आदि दावाग्नि के पुञ्ज हो रहे हैं ॥४८२॥

विमर्श—यहाँ पर 'नलिनीत्व' आदि जातियों का 'दवदहनत्व' जाति के साथ विरोध है; क्योंकि नलिनीकिसलय आदि दावाग्नि नहीं हो सकते ? किन्तु नलिनी-किसलय आदि विरह के उद्दीपक हैं अतः उनमें उपचार से दहनत्व (दावाग्नित्व) मानकर विरोध का परिहार हो जाता है और यह विरोध का आभास मात्र प्रतीत होता है अतः यहाँ पर विरोधाभास अलङ्कार है।

(२) जाति का गुण के साथ विरोध का उदाहरण

अनुवाद—हे राजन् ! यह निश्चित है कि आपके सामने पर्वत भी ऊँचे नहीं हैं, वायु भी अचल है, समुद्र भी गम्भीरता-रहित और पृथ्वी भी अत्यन्त लघु (हल्की, छोटी) है ॥४८३॥

(३) येषां कण्ठपरिग्रहप्रणयितां सम्प्राप्य धाराधर—
स्तीक्ष्णः सोऽप्यनुरज्यते च कमपि स्नेहं पराप्नोति च।
तेषां सङ्गरसङ्गसक्तमनसां राज्ञां त्वया भूपते!
पांसूनां पटलैः प्रसाधनविधिर्निर्वर्त्यते कौतुकम् ॥४८४॥

(४) सृजति च जगदिदमवति च संहरति च हेलयैव यो नियतम्।
अवसरवशतः शफरो जनार्दनः सोऽपि चित्रमिदम् ॥४८५॥

विमर्श—यहाँ पर 'गिरित्व' आदि जाति का 'अनुन्नतत्व' आदि गुणों के साथ विरोध है और उसका वर्णनीय राजा की अतिशय उन्नति की विवक्षा से (प्रतीयमान) विरोध का, परिहार हो जाता है, अतः यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है।

(३) जाति का क्रिया के साथ विरोध का उदाहरण

अनुवाद—हे राजन्! यह आश्चर्य है कि आपका तीक्ष्ण (तेज) खड्ग (धराधर) जिन राजाओं के गले (कण्ठ) का आलिङ्गन करके अनुरक्त हो जाता है और किसी अपूर्व स्नेह (प्रेम या चिकनापन) को प्राप्त करता है, संग्राम भूमि में आसक्त चित्त उन राजाओं का प्रसाधन आप धूलिकणों से किया करते हैं अर्थात् उनका शिर काटकर धूल-धूसरित कर देते हैं ॥४८४॥

विमर्श—यहाँ पर खड्गत्व जाति का अनुराग और स्नेह प्राप्त करने की क्रिया से विरोध दिखाया गया है और उनका रुधिर-सम्पर्क कृत लौहित्य (लालिमा) तथा चिकनापन अर्थ करने पर विरोध का परिहार हो जाता है, अतः यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है।

(४) जाति का द्रव्य के साथ विरोध का उदाहरण

अनुवाद—जो इस संसार (जगत्) की अनायास ही रचना करता है, रक्षा करता है और संहार (नाश) करता है वह जनार्दन भी अवसर के अनुसार (कालवश) मछली (मत्स्यावतार) बन जाता है। यह आश्चर्य है ॥४८५॥

विमर्श—यहाँ पर 'शफरत्व' जाति का जनार्दन रूप द्रव्य से विरोध है और वह ईश्वर की लीला से सब कुछ संभव होने से मत्स्य (मछली) का शरीर भी धारण कर सकता है, इस प्रकार मत्स्य-शरीर धारण आगमसिद्ध होने से विरोध का परिहार हो जाता है, इसलिए यहाँ पर विरोधाभास अलङ्कार है।

(५) सततं मुसलासक्ता बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते !
द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति कराः सरोजसुकुमाराः ॥४८६॥

(६) पेशलमपि खलवचनं दहतितरां मानसं सतत्त्वविदाम्।
परुषमपि सुजनवाक्यं मलयजरसवत् प्रमोदयति ॥४८७॥

(७) क्रौञ्चाद्रिरुद्दामदृषद्दृढोऽसौ यन्मार्गणानर्गलशातपाते।
अभवन्नवाम्भोजदलाभिजातः स भार्गवः सत्यमपूर्वसर्गः ॥४८८॥

---

(५) गुण का गुण के साथ विरोध का उदाहरण

अनुवाद—हे राजन् ! निरन्तर मूसल (उठाने) में तत्पर तथा अनेक प्रकार के घर के कामों के करने से कठोर ब्राह्मण की स्त्रियों के कठोर हाथ आपके (दानी) होने पर कमल के समान सुकुमार (कोमल) हो गये हैं ॥४८६॥

विमर्श—यहाँ पर कठिनत्व और सुकुमारत्व गुणों का परस्पर विरोध है और आपके दान दिये जाने के कारण स्वयं घर के काम से निवृत्त ब्राह्मण-स्त्रियों के हाथ कालभेद से कोमल हो गये हैं, इस प्रकार उनका परिहार हो जाता है, अतः यहाँ विरोधाभास अलङ्कार हैं।

(६) गुण का क्रिया के साथ विरोध का उदाहरण

अनुवाद—दुष्ट पुरुषों का कोमल वचन भी तत्त्वज्ञानियों के हृदय को अत्यन्त संतप्त कर देता है और सज्जन का कठोर वचन भी चन्दन के रस के समान आनन्दित करता है ॥४८७॥

विमर्श—यहाँ पर पेशलत्व और परुषत्व गुणों का क्रमशः दाह और प्रमोद क्रिया के साथ विरोध है अर्थात् पेशलत्व गुण का दाह क्रिया के साथ और परुषत्व गुण का प्रमोद क्रिया के साथ विरोध है किन्तु खलत्व और सुजनत्व के माहात्म्य से उसका परिहार किया जा रहा है, अतः यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है, यह सार-बोधिनीकार का मत है। उद्योतकार का कथन है कि पेशल और परुष शब्दों का सुश्रवत्व और दुःश्रवत्व अर्थ होने से और 'दहति' क्रिया का संतापकारक अर्थ होने से विरोध का परिहार हो जाता है, अतः यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है।

(७) गुण का द्रव्य के साथ विरोध का उदाहरण

अनुवाद—यह बड़ी-बड़ी शिलाओं से सुदृढ़ क्रौञ्च पर्वत भी जिस (परशुराम) के बाणों के निरन्तर तीक्ष्ण आघात होने पर नवीन कमल के नवपल्लव (किसलय) के समान अत्यन्त कोमल हो गया वे भार्गव (परशुराम) सचमुच एक आलौकिक अवतार हैं ॥४८८॥

(८) परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥४८९॥

(९) अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः ।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः ॥४९०॥

विमर्श—यहाँ पर कोमलतत्व गुण का क्रौञ्च आदि द्रव्य के साथ विरोध है किन्तु परशुराम के प्रभाव से अभिजात (कोमल) पद का सुख-भेद्य अर्थ होने से उसका परिहार हो जाता है, अतः यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है।

(८) क्रिया का क्रिया के साथ विरोध का उदाहरण

अनुवाद—कोई अद्‌भुत कामज विकार जो इयत्ता (परिमाण) से परे है, जो समस्त शब्दों का अविषय (अगोचर) है, जो इस जन्म में कभी अनुभव में नहीं आया है और जो विवेक (ज्ञान) का नाश हो जाने से महान् अज्ञान बढ़ जाने से दुर्लङ्घ्य हो गया है, इस प्रकार का कोई अद्‌भुत कामज विकार अन्तःकरण को जड़ बना रहा है और संतप्त भी कर रहा है ॥४८९॥

विमर्श—यहाँ पर 'जड़यति च, तापं च कुरुते' अर्थात् जड़ीकरण और तापकरण इन दोनों क्रियाओं का विरोध प्रतीत हो रहा है। किन्तु विरह का प्रभाव विचित्र होने से कालभेद से उसका परिहार हो जाता है अर्थात् विरह की विचित्रता से कभी संतापकारक और कभी उसकी स्मृति आनन्ददायक हो जाती है, इस प्रकार विरोध का परिहार हो जाने से यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है।

(९) क्रिया का द्रव्य के साथ विरोध का उदाहरण

अनुवाद—यह समुद्र जल का एकमात्र स्थान है और रत्नों का आकर है, इस प्रकार समझकर तृष्णा से व्याकुल चित्त हम लोगों ने इसका आश्रय लिया था; किन्तु यह कौन जानता था कि अगस्त्य मुनि विक्षुब्ध मगरमच्छों से युक्त इस समुद्र को अपने हाथ की अञ्जलि (चुल्लू) में लेकर क्षण भर में पूरा पान कर जायेंगे ॥४९०॥

(१०) मदमतङ्गजमदजलनिस्यन्दतरङ्गिणीपरिष्वङ्गात् ।
क्षितितिलक ! त्वयि तटजुषि शङ्करचूडापगापि कालिन्दी ॥४९१॥

(सू० १६८) स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥१११॥

स्वयोस्तदेकाश्रययोः । रूपं वर्णः संस्थानं च । उदाहरणम्—

विमर्श—यहाँ पर पानक्रिया का कर्त्ता अगस्त्य और कर्म समुद्र दोनों द्रव्यों के साथ विरोध है। किन्तु अगस्त्यमुनि के तप के प्रभाव से इसका परिहार हो जाता है, अतः यहाँ पर विरोधाभास अलङ्कार है।

(१०) द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध का उदाहरण

अनुवाद—हे पृथ्वीतिलक महाराज ! आपके तट पर उपस्थित होते ही मदयुक्त हाथियों के मदजल के प्रवाह (धारा) रूपी नदी के सम्पर्क से शिवजी की जटा से सम्बन्ध रखने वाली नदी (गङ्गा) भी यमुना बन गई ॥४९१॥

विमर्श—यहाँ पर गङ्गा और यमुना दोनों नदी रूप द्रव्यों का परस्पर विरोध है, किन्तु 'कालिन्दी' पद का 'श्यामवर्ण की आभा' अर्थ करने से विरोध का परिहार हो जाता है, अतः यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है। भाव यह कि मदजल का श्यामवर्ण होना प्रसिद्ध है, इस प्रकार मदजल की नीलिमा से गङ्गाजल का नीला हो जाने से यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है।

(२४) स्वभावोक्ति अलंकार

अनुवाद (सू० १६८)—बालक आदि की अपनी स्वाभाविक क्रिया अथवा रूप का वर्णन स्वभावोक्ति अलंकार कहलाता है ॥१११॥

अनुवाद (वृत्ति)—'स्वयोः' का अभिप्राय है एकमात्र अपने में आश्रित का। रूप शब्द से वर्ण (रंग) और संस्थान गृहीत हैं।

विमर्श—मम्मट के अनुसार जहाँ पर बालकादि के स्वाभाविक क्रिया अथवा रूप का वर्णन किया जाता है वहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार कहलाता है। 'स्वभावस्य = स्वाभाविकगुणस्य, उक्तिः = कथनमिति स्वभावोक्तिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्वभाव की उक्ति अथवा वर्णन स्वभावोक्ति है। अग्निपुराण में इसे स्वरूप नाम से अभिहित किया है। अग्निपुराण के अनुसार वस्तु के स्वभाव का वर्णन स्वरूप अलङ्कार कहा जाता है। इसी को स्वभावोक्ति कहते हैं। भामह ने अन्यों के मत से स्वभावोक्ति की चर्चा की है। इससे स्पष्ट है कि इनके पहले स्वभावोक्ति अलङ्कार माना जाता था

पश्चादङ्घ्री प्रसार्य त्रिकनतिविततं द्राघयित्वाङ्गमुच्चै-
रासज्याभुग्नकण्ठो मुखमुरसि सटां धूलिधूम्रां विधूय ।
घासग्रासाभिलाषादनवरतचलत्प्रोथतुण्डस्तुरङ्गो
मन्दं शब्दायमानो विलिखति शयनादुत्थितः क्ष्मां खुरेण ॥४६२॥

(सू० १६९) व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ।

व्याजरूपा व्याजेन वा स्तुतिः ।

और उनके पूर्व अग्निपुराण में स्वभावोक्ति अलङ्कार माना गया है। अग्निपुराण में स्वभावोक्ति के दो भेद बताये गये हैं—निज और आगन्तुक। दण्डी ने सार्वकालिक और आगन्तुक उभयरूप स्वरूप वर्णन का स्वभावोक्ति में ही समावेश किया है और उन्होंने शास्त्रों में इसका साम्राज्य माना है। उन्होंने जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य भेद से स्वाभावोक्ति के चार भेद बताये हैं।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उद्भट के अनुसार स्वभावोक्ति का निरूपण किया है। उन्होंने स्वभावोक्ति को वाच्य का एक वैचित्र्य माना है। यह वैचित्र्य रूप अर्थात् वर्ण और संस्थान में रहता है। यहाँ पर रूप शब्द से वर्ण और संस्थान दोनों अभिप्रेत है। वर्ण का अर्थ है—नील-पीतादि वर्ण और संस्थान का अभिप्राय है—अवयव संनिवेश अथवा अङ्ग-प्रत्यङ्ग का विन्यास। इस प्रकार मम्मट के अनुसार जिस किसी वस्तु के असाधारण धर्म का वर्णन स्वभावोक्ति अलङ्कार है। स्वभावोक्ति का उदाहरण, जैसे—

अनुवाद पीछे की ओर टाँगें फैलाकर, त्रिक अर्थात् रीढ़ की हड्डी के झुकने से विस्तृत हुए शरीर को लम्बा करके, ऊपर की ओर उठाकर वक्र ग्रीवा अर्थात् गरदन को टेढ़ी करके, मुख को छाती पर लगाकर, धूलि से धूसरित जटा को हिलाकर, घास खाने की इच्छा से ओठों के अग्र भाग को निरन्तर चलाता हुआ, मन्द शब्द करता हुआ अर्थात् धीरे-धीरे हिनहिनाता हुआ सोकर उठा हुआ घोड़ा खुरों से भूमि को खोद रहा है ॥४६२॥

विमर्श—यहाँ पर सोकर उठे हुए घोड़े की स्वाभाविक क्रिया का वर्णन किया गया है, अतः यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार है।

(२५) व्याजस्तुति अलंकार

अनुवाद (सू० १६९)—जहाँ प्रारम्भ में निन्दा अथवा स्तुति प्रकट होती है किन्तु उससे भिन्न अर्थात् आपाततः निन्दा का स्तुति में और स्तुति का निन्दा में पर्यवसान (रूढिः पर्यवसानम्) होने पर व्याजस्तुति अलंकार होता है।

क्रमेणोदाहरणम् —

हित्वा त्वामुपरोधवन्ध्यमनसां मन्ये न मौलिः परो
लज्जावर्जनमन्तरेण न रमामन्यत्र संदृश्यते।
यस्त्यागं तनुतेतरां मुखशतैरेत्याश्रितायाः श्रियः
प्राप्य त्यागकृतावमाननमपि त्वय्येव यस्याः स्थितिः ॥४६३॥

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ व्याजरूपा स्तुति अथवा व्याजेन स्तुतिः अर्थात् व्याज (बहाने) से स्तुति अर्थ अभिप्रेत है।

विमर्श—मम्मट के अनुसार व्याजस्तुति के दो भेद हैं—स्तुति पर्यवसायिनी निन्दा अथवा निन्दापर्यवसायिनी स्तुति अर्थात् निन्दा करने पर स्तुति और स्तुति करने पर निन्दा अर्थ होने पर व्याजस्तुति अलङ्कार होता है। किन्तु भामह, उद्भट आदि आचार्य केवल निन्दा के व्याज के द्वारा (बहाने) स्तुति को 'व्याजस्तुति' मानते हैं—

शब्दशक्ति स्वभावेन यत्र निन्देव गम्यते।
वस्तुतस्तु स्तुति श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौ मता ॥

व्याजस्तुति और अप्रस्तुतप्रशंसा—दोनों में ही वाच्यार्थ से भिन्न किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है किन्तु व्याजस्तुति में अप्रस्तुत की निन्दा से प्रस्तुत की प्रशंसा और अप्रस्तुत की प्रशंसा से प्रस्तुत की निन्दा होती है और अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत व्यङ्ग्य होता है और अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति में ही अप्रस्तुतप्रशंसा का चमत्कार पाया जाता है।

व्याजस्तुति और पर्यायोक्त—व्याजस्तुति में निन्दा से स्तुति और स्तुति से निन्दा रूप अर्थ व्यङ्ग्य होता है किन्तु पर्यायोक्ति अलङ्कार में वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों ही प्रस्तुत होते हैं।

इस प्रकार निन्दा के स्तुतिरूप में पर्यवसान होने पर 'व्याजेन स्तुतिः' अर्थात् व्याज (बहाने) से स्तुति 'व्याजस्तुति' है और स्तुति का निन्दारूप में परिणत होने पर 'व्याजरूपा' व्याजस्तुति होती है। प्रथम स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—हे राजन्! मैं समझता हूँ कि आपको छोड़कर आश्रितों के अनुरोध (प्रार्थना) से शून्य हृदय वालों के शिरोमणि और कोई दूसरा नहीं है और लक्ष्मी को छोड़कर अन्यत्र कहीं कोई निर्लज्ज नहीं दिखाई देता; क्योंकि आप अनेक उपायों से आकर आश्रय लेने वाली (आश्रित) लक्ष्मी का सदा परित्याग करते हैं और वह लक्ष्मी आपके परित्याग (दान) से अपमानित होकर भी सदा आपके पास स्थित रहती है ॥४६३॥

हे हेलाजितबोधिसत्त्व ! वचसां किं विस्तरैस्तोयध !
नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः ।
तृष्यत् पान्थजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो—
भारप्रोद्वहने करोषि कृपया साहाय्यकं यन्मरोः ॥४६४॥

(सू० १७०) सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ॥११२॥

एकार्थाभिधायकमपि सहार्थबलाद् यद् उभयस्याप्यवगमकं सा सहोक्तिः । यथा—

विमर्श—यहाँ पर राजा की निन्दा प्रतीत होती है । किन्तु यहाँ राजा के आश्रित रहने वाली लक्ष्मी का त्याग (दान) रूप निन्दा के बहाने (व्याज से) महादानी अथवा महासमृद्धिशाली का अभिधान (कथन) होने से उसका पर्यवसान स्तुति में हो जाता है । इसलिए यहाँ निन्दापूर्वक व्याजस्तुति है ।

निन्दापर्यवसायिनी स्तुति का उदाहरण

अनुवाद अनायास ही बोधिसत्त्व को भी जीत लेने वाले समुद्र ! अधिक कहने से क्या लाभ ? आपके समान दूसरे के उपकार करने में व्रत लेने वाला कोई दूसरा नहीं है। क्योंकि तुम प्यासे पथिकजनों (राहगीरों) के उपकार करने में विमुख रहने के कारण अयश (अपयश) का भार वहन करने में मरुदेश (रेगिस्तान) की कृपापूर्वक सहायता करते हो ॥४६४॥

विमर्श—यहाँ पर समुद्र की स्तुति के व्याज से प्यासे राहगीरों का उपकार न करने रूप निन्दा उसका पर्यवसान हो जाने के कारण व्याजरूपा स्तुति है (स्तुतिपूर्विकेयं व्याजस्तुतिर्निन्दापर्यवसायिनी) ।

(२६) सहोक्ति अलंकार

अनुवाद (सू० १७०) जहाँ पर एक पद सह शब्द के अर्थ के बल से दो अर्थ का वाचक होता है, वहाँ सहोक्ति अलंकार होता है ॥११२॥

अनुवाद (वृत्ति)—एक अर्थ का वाचक होने पर भी जो पद 'सह' अर्थ के बल (सामर्थ्य) से दोनों अर्थों का बोधक होता है । वह सहोक्ति अलंकार कहलाता है ।

विमर्श—सहभाव की उक्ति को सहोक्ति कहते हैं (सहभावस्य उक्तिः सहोक्तिः) । भाव यह कि जहाँ पर 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इस पाणिनिसूत्र के अनुसार सह अर्थ के योग में (अप्रधान में) तृतीया विभक्ति होती है, वहाँ सहोक्ति अलङ्कार होता है । जैसे 'पुत्रेण सहागतः पिता' इस वाक्य में पुत्र शब्द से अप्रधान अर्थ में तृतीया विभक्ति होती है । यहाँ पर आगमन क्रिया के साथ पिता का सम्बन्ध है,

सह दिअहणिसाहिं दीहरा सास दण्डा
सह मणिवलयेहिं वाप्पधारा गलन्ति ।
तुह सुहअ विओए तीअ उव्विग्गिरीए
सह अ तणुलदाए दुव्वला जीविदासा ।।४९५।।

[सह दिवसनिशाभिः दीर्घाश्वासदण्डाः
सह मणिवलयैर्वाष्पधारा गलन्ति ।
तव सुभग वियोगे तस्या उद्विग्नायाः
सह च तनुलतया दुर्बला जीविताशा ।।४९५।।
(इति संस्कृतम्)

श्वासदण्डादिगतं दीर्घत्वादि शाब्दं । दिवसनिशादिगतं तु सहार्थ-सामर्थ्यात् प्रतीयते ।

(सू० १७१) विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः ।

क्वचिदशोभनः क्वचिच्छोभनः । क्रमेणोदाहरणम्—

अतः क्रिया के साथ सम्बन्ध होने से पिता प्रधान है और पुत्र अप्रधान है, किन्तु यहाँ 'सह' शब्द के सामर्थ्य से दोनों का आगमन क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है ।

अनुवाद— हे सुन्दर ! तुम्हारे वियोग में व्याकुल उस नायिका के श्वास दण्ड (श्वास) दिन और रात के साथ-साथ दीर्घ होते जा रहे हैं, रत्न-वलयों (हाथ के कंगनों) के साथ-साथ आँसुओं की धारा गिरने लगती है और देहलता के साथ-साथ उसके जीवन की आशा क्षीण हो रही है ।।४९५।।

विमर्श—यहाँ पर श्वासदण्ड आदि में प्रथमान्त पद है, उसके साथ दीर्घत्व आदि का साक्षात् शब्द द्वारा बोधित होता है । 'दिवस-निशा' आदि में तृतीयान्त पद के साथ सह शब्द के अर्थ-सामर्थ्य से 'दीर्घत्व' आदि का सम्बन्ध प्रतीत होता है अतः वहाँ 'सहोक्ति' अलङ्कार है ।

(२७) विनोक्ति अलंकार

अनुवाद (सू० १७१) जहाँ एक के बिना दूसरा अर्थ न तो शोभन (सुन्दर) हो और न अशोभन (असुन्दर) हो, वहाँ विनोक्ति अलङ्कार होता है ।

कहीं अशोभन और कहीं शोभन होता है । क्रमशः उदाहरण देते हैं—

अरुचिर्निशया विना शशी शशिना सापि विना महत्तमः ।
उभयेन विना मनोभवस्फुरितं नैव च कास्ति कामिनोः॥४९६॥
मृगलोचनया विना विचित्रव्यवहारप्रतिभाप्रगल्भः ।
अमृतद्युतिसुन्दराशयोऽयं सुहृदा तेन विना नरेन्द्रसूनुः ॥४९७॥

(सू० १७२) परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात् समासमैः ॥११३॥

---

(१) अशोभन-बोधक विनोक्ति का उदाहरण

अनुवाद—रात्रि के बिना चन्द्रमा कान्ति-शून्य (अशोभन) होता है, और चन्द्रमा के बिना वह (रात्रि) भी महान् (घोर) अन्धकारमयी (अशोभन) है और दोनों के बिना अर्थात् चन्द्रमा और रात्रि के बिना कामियों का कामविलास शोभित नहीं होता ॥४९६॥

विमर्श—यहाँ पर निशा (रात्रि) आदि के बिना चन्द्र आदि का और चन्द्रादि के बिना निशा आदि का अशोभनत्व का प्रतिपादन किया गया है, अतः यहाँ पर 'विनोक्ति' अलङ्कार है।

(२) शोभन-बोधक विनोक्ति का उदाहरण

अनुवाद—यह राजकुमार मृगनयनी नायिका के बिना अद्भुत व्यवहार की प्रतिभा से अत्यन्त निपुण (शोभन) हो रहा है और उस दुष्ट मित्र के बिना (न रहने पर) चन्द्रमा के समान सुन्दर (स्वच्छ) हृदय हो रहा है ॥४९७॥

विमर्श—यहाँ पर मृगनयनी नायिका तथा दुष्ट मित्र के बिना (न होने पर) राजकुमार के विचित्र व्यवहार की प्रगल्भता तथा चन्द्रमा के समान सुष्ठु हृदयता रूप शोभनता (सुन्दरता) का प्रतिपादन किया गया है। अतः यह शोभन-बोधक विनोक्ति अलङ्कार का उदाहरण है।

(२८) परिवृत्ति अलंकार

अनुवाद (सू० १७२)—पदार्थों का समान और असमान वस्तु (पदार्थों) के साथ जो परिवर्त्तन (विनिमय) है वह परिवृत्ति अलंकार है।

विमर्श—प्रस्तुत लक्षण में 'परिवृत्ति' और 'विनिमय' दो शब्द आये हैं ये दोनों एक ही अर्थ के वाचक हैं, इसलिए पुनरुक्ति सी प्रतीत हो रही है। इसलिए वृत्ति में स्पष्ट किया गया है कि परिवृत्ति अलङ्कार है (परिवृत्तिरलंकारः) इस प्रकार

परिवृत्तिरलंकारः। उदाहरणम्—

लतानामेतासामुदितकुसुमानां मरुदयं
मतं लास्यं दत्वा श्रयति भृशमामोदमसमम्।
लतास्त्वध्वन्यानामहह दृशमादाय सहसा
ददत्याधिव्याधिभ्रमिरुदितमोहव्यतिकरम् ॥४६८॥

अत्र प्रथमेऽर्धे समेन समस्य द्वितीये उत्तमेन न्यूनस्य।

'परिवृत्ति' लक्ष्यपद है और 'विनिमय' लक्षण पद है। यहाँ 'विनिमय' पद का अर्थ 'एक वस्तु देकर बदले में दूसरी वस्तु लेना है।' इस दो वस्तुओं का विनियम (अर्थात् एक वस्तु देकर बदले में दूसरी वस्तु लेना) परिवृत्ति अलङ्कार है। 'परिवृत्ति अलङ्कार' में विनिमय कविकल्पित होता है, वास्तविक होने पर अलङ्कार नहीं होगा।

मम्मट के अनुसार परिवृत्ति के दो प्रकार बताये हैं—समपरिवृत्ति और 'असमपरिवृत्ति'। इनमें समान वस्तु से समान वस्तु का परिवर्त्तन (विनिमय) समपरिवृत्ति है और असमान वस्तु से विनिमय असमपरिवृत्ति है। यहाँ असमपरिवृत्ति भी दो प्रकार की होती है—(१) न्यून से उत्तम वस्तु का परिवर्त्तन और (२) उत्तम से न्यून वस्तु का परिवर्त्तन।

प्रथम सम वस्तु सम का तथा उत्तम वस्तु से न्यून के परिवर्त्तन का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद यह वायु खिले हुए पुष्पों से लदे इन लताओं को प्रिय अथवा मनोहर लास्य (नर्तन) देकर उनके अनुपम सुगन्ध को बार-बार ले रहा है और खेद है ये लताएं तो पथिकों की दृष्टि को सहसा खींचकर उन्हें मानसिक-व्यथा, देह-पीड़ा, विभ्रम, रोदन और मोह का सम्पर्क दे रही हैं ॥४६८॥

यहाँ पर पूर्वार्द्ध में सम से सम का और उत्तरार्द्ध में उत्तम से न्यून का विनिमय है।

विमर्श—यहाँ पर पूर्वार्द्ध में लास्य लताओं को प्रिय होने से तथा आमोद वायु को प्रिय होने से उपादेय है अतः लास्य के बदले में सुगन्ध का विनिमय में सम से सम का विनिमय है। उत्तरार्द्ध में उत्तम दृष्टि से न्यून आधि-व्याधि आदि का विनिमय है, अतः यह उत्तम से न्यून के विनिमय का उदाहरण है। यहाँ पर वायु के सम्बन्ध से लताओं के लास्य-प्रदर्शन से तथा लता-प्रदर्शन के द्वारा पथिकों के आधि-व्याधि आदि के दर्शन से दान (दातृत्व) कवि-कल्पित है।

नानाविधप्रहरणैर्नृप संप्रहारे स्वीकृत्य दारुणनिनादवतः प्रहारान्।
दृप्तारिवीरविसरेण वसुन्धरेयं निर्विप्रलम्भपरिरम्भविधिर्वितीर्णा ॥४६६॥

अत्र न्यूनेनोत्तमस्य।

(सू० १७३) प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः।
तद्भाविकम् ... ... ॥

भूताश्च भाविनश्चेति द्वन्द्वः। भावः कवेरभिप्रायोऽत्रास्तीति भाविकम्। उदाहरणम्

न्यून से उत्तम का उदाहरण

अनुवाद—हे राजन्! आपके बलगर्वित शत्रुओं ने युद्ध में अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से भयंकर शब्द करने वाले अस्त्रों को ग्रहण करके वियोग-रहित प्रगाढ़ आलिङ्गन करने वाली यह वसुधा (पृथ्वी) आपको दिया ॥४६६॥

विमर्श—यहाँ पर अनुपादेय होने के कारण न्यून प्रहारों से उत्तम वसुन्धरा का विनिमय कहा गया है। अतः यहाँ न्यून से उत्तम का विनिमय कथन होने से परिवृत्ति अलङ्कार है। प्रदीपकार का कथन है कि यहाँ पर उत्तम वसुन्धरा से न्यून प्रहारों का विनिमय होने से परिवृत्ति अलङ्कार है।

(२६) भाविक अलंकार

अनुवाद- भूत और भविष्य कालिक पदार्थों का प्रत्यक्ष के समान जो वर्णन किया जाता है, वह भाविक अलंकार कहलाता है।

अनुवाद (वृत्ति)—'भूत और भावी' यहाँ पर द्वन्द्व समास है। भाव अर्थात् कवि का अभिप्राय यहाँ रहता है, इसलिए यह भाविक अलङ्कार कहलाता है।

विमर्श– भाविक अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ पर भूत (पूर्वकालिक) और भावी (उत्तरकालिक) पदार्थ (वस्तु) कवि के द्वारा प्रत्यक्ष के समान दिखलाये जाते हैं। भाव यह कि अलौकिक विषय भी लौकिक प्रत्यक्ष की तरह दिखलाये जाते हैं। जैसा कि आनन्द कवि ने कहा है कि जिस प्रकार योगी भावना (वासना) के बल से भूत और भविष्य को प्रत्यक्ष के समान देखते हैं, उसी प्रकार काव्यतत्त्वज्ञ भी वासना (संस्कार) के बल से अतीत और अनागत पदार्थों का प्रत्यक्ष के समान वर्णन करते हैं तब भाविक अलङ्कार कहलाता है भामह, दण्डी, उद्भट आदि आचार्यों ने भी भाविक अलङ्कार का साक्षात्कार किया है किन्तु वे इसे प्रबन्धगत अलङ्कार मानते हैं। उदाहरण, जैसे—

आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने।
भाविभूषणसम्भारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम् ॥५००॥

आद्ये भूतस्य द्वितीये भाविनो दर्शनम्

(सू० १७४) काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ॥११४॥

अनुवाद—हे प्रिये! तुम्हारे नेत्रों में जो अञ्जन लगाया गया था, (उससे युक्त) तुम्हारे नेत्रों को देख रहा हूँ, और आगे पहने जाने वाले अलंकारों से अलंकृत तुम्हारी आकृति को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ ॥५००॥

विमर्श—यहाँ पर पूर्वार्द्ध में भूतकालीन अञ्जन का और उत्तरार्द्ध में भविष्यकालिक, भूषणसंभार का प्रत्यक्ष रूप में वर्णन है, इसलिए यहाँ भाविक अलङ्कार है।

(३०) काव्यलिंग अलंकार

अनुवाद—हेतु का वाक्यार्थ रूप में कथन करना काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ॥११४॥

विमर्श—जहाँ पर वाक्यार्थ अथवा पदार्थ रूप में स्वतः अनुपपद्यमान अर्थ के उपपादक हेतु कथन होता है वह काव्यलिङ्ग अलङ्कार कहलाता है। इस प्रकार मम्मट के अनुसार वाक्यार्थरूप अथवा अनेक पदार्थरूप या एक पदार्थरूप हेतु का कथन काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। हेतु का स्वरूप अग्निपुराण में इस प्रकार बताया गया है—

सिसाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः।
कारको ज्ञापकश्चेति द्विधा सोऽप्ययुपदिश्यते।

इस प्रकार अग्निपुराण के अनुसार इष्ट अर्थ (पदार्थ, वस्तु) का निष्पादक हेतु दो प्रकार का होता है—कारक और ज्ञापक। यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार में कारकहेतु अभिप्रेत है। काव्यलिङ्ग अलङ्कार को 'हेत्वलङ्कार' भी कहते हैं। यह अनुमान अलङ्कार से भिन्न होता है; क्योंकि काव्यलिङ्ग में कारक हेतु का कथन होता है और अनुमान में ज्ञापक हेतु का कथन होता है, यही दोनों में भेद है ऐसा कमलाकरभट्ट का कथन है। काव्यलिङ्ग अलङ्कार दो प्रकार का होता है—वाक्यार्थ रूप और पदार्थरूप। इनमें पदार्थरूप भी दो प्रकार का होता है—अनेक पदार्थरूप और एक पदार्थरूप। इस प्रकार काव्यलिङ्ग अलङ्कार तीन प्रकार का होता है। क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं।

(१) वाक्यार्थता यथा—

वपुःप्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
पुरारे ! न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान् ।
नमन्मुक्तः सम्प्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाक्
महेश ! क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि ।।५०१।।

अनेकपदार्थता, यथा—

प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतै—
र्ललितशिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत् ।
वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः
पततु शिरस्यकाण्डयमदण्ड इवैष भुजः ।।५०२।।

---

(१) वाक्यार्थरूप हेतु का उदाहरण

अनुवाद—हे शिव ! इस शरीर से उत्पन्न होने से यह अनुमान करता हूं कि मैंने पूर्व जन्म में प्रायः कभी भी आपको प्रणाम नहीं किया है और इस समय नमस्कार करता हुआ मैं मुक्त हो रहा हूं इसलिए शरीर न रहने से आगे (अगले जन्म में) भी प्रणाम नहीं कर सकूंगा। इसलिए हे महेश ! आप मेरे इन दोनों अपराधों को क्षमा करना ।।५०१।।

विमर्श—यहाँ पर 'पुरा क्वचिदपि नाहं भवन्तं प्रणतवान्' और 'अग्रेऽप्यनतिभाक्' इन दोनों अवान्तर वाक्यों का अर्थ 'अनमन' है और यह अनमन (प्रणाम न करना) अपराधद्वय का हेतु है। यद्यपि 'अनमन' भी अपराधस्वरूप है, इसलिए इन दोनों अनमन और अपराध दोनों में हेतुहेतुमद्भाव नहीं है, फिर भी 'तदिदम्' इस सर्वनाम शब्द से द्योतित पापविशेष अपराधद्वय का हेतु अनमन है, अतः यहाँ वाक्यार्थरूप काव्यलिङ्ग अलंकार है।

(२) अनेकपदार्थता हेतु का उदाहरण

मालतीमाधव प्रकरण के पञ्चम अङ्क में मालती को मारने के लिए उद्यत अघोरघण्ट के प्रति माधव कह रहा है—

अनुवाद—(हे पाप !) प्रेम पूर्ण सखियों के लीलापूर्वक हास-परिहास में पाये हुए (प्राप्त) कोमल शिरीष के फूलों की हलकी मार से भी जो (मालती का शरीर) व्यथित हो जाता है, उस शरीर पर वध (प्रहार) के लिए शस्त्र उठाने वाले तुम्हारे शिर पर अचानक यमदण्ड के समान मेरा यह भुजदण्ड गिर रहा है ।।५०२।।

एकपदार्थता यथा—

भस्मोद्धूलन ! भद्रमस्तु भवते रुद्राक्षमाले ! शुभं
हा सोपानपरम्परां गिरिसुताकान्तालयालङ्कृतिम्।
अद्याराधनतोषितेन विभुना युष्मत्सपर्यासुखी-
लोकोच्छेदिनि मोक्षनाम्नि महामोहे निधीयामहे ।।५०३।।

एषु अपराधद्वये पूर्वापरजन्मनोरनमनम्, भुजपातेशस्त्रोपक्षेपः महामोहे सुखालोकोश्छेदित्वं च यथाक्रममुक्तरूपो हेतु ।

(सू० १७५) पर्यायोक्तं बिना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः।

विमर्श—यहाँ पर 'वपुषि शस्त्रमुपक्षिपतः' इस अनेक पदों के द्वारा अघोरघण्ट के द्वारा मालती के शरीर पर शस्त्रपात ही अघोरघण्ट के शिर पर माधव के भुजपति का हेतु प्रतिपादित है, अतः यहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार है। यहाँ पर 'शस्त्रोपक्षेप भुजपात में हेतु है।' यहाँ पर 'तत्र वपुषि बधाय शस्त्रमुपक्षिपतः' में प्रातिपदिक के क्रिया साकांक्ष होने से शब्द समुदाय वाक्य नहीं कहला सका, और न एक पद ही। अतः यह अनेकपदार्थगम्य काव्यलिङ्ग अलंकार है।

(३) एकपदार्थता हेतु का उदाहरण

अनुवाद—हे भस्मलेपन ! तुम्हारा कल्याण हो, हे रुद्राक्ष की माला ! तुम्हारा शुभ हो, हाय पार्वती-पति शिव के मन्दिर की अलंकाररूप सोपान-पंक्तियाँ (सीढ़ियों) ! आज आराधना से प्रसन्न हुए शिवजी तुम्हारे सेवा-सुख के प्रकरण को उच्छिन्न (नष्ट) करने वाले मोक्ष नामक महामोह में डाल रहे हैं ।।५०३।।

विमर्श—यहाँ पर मोक्ष के महामोह होने में 'सुखालोकोच्छेदत्व' (सुखालोक का उच्छेदरूप) हेतु है। यह समस्तपद होने से एकपद रूप है अतः यह एक पदार्थरूप हेतु का उदाहरण है।

अनुवाद (वृत्ति)—इन उदाहरणों में प्रथम श्लोक में अपराधद्वय में पूर्वजन्म और भविष्य में प्रणाम न करना हेतु है, द्वितीय में शस्त्र-उठाना भुजपात में हेतु है और तीसरे में सुखालोक का उच्छेद महामोह में हेतु है। इस प्रकार ये तीनों क्रमशः उपर्युक्त रूप से हेतु हैं।

(३१) पर्यायोक्त अलंकार

अनुवाद (सू० १७५)—वाच्य-वाचक भाव के बिना वाच्यार्थ का कथन पर्यायोक्त अलङ्कार कहलाता है।

वाच्य-वाचक-भाव-व्यतिरिक्तेनावगमनव्यापारेण यत्प्रतिपादनं तत्पर्यायेण भङ्ग्यन्तरेण कथनं पर्यायोक्तम्। उदाहरणम्—

यं प्रेक्ष्य चिररूढाऽपि निवासप्रीतिरुज्झिता।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः ॥५०४॥

अत्रैरावणशक्रौ मदमानमुक्तौ जाताविति व्यङ्ग्यमपि शब्देनोच्यते। तेन यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यम्। यथा तु व्यङ्ग्यं न तथोच्यते।

यथा गवि शुक्ले चलति दृष्टे 'गौःशुक्लश्चलति' इति विकल्पः यदेव दृष्टं तदेव विकल्पयति, न तु यथा दृष्टं तथा। यतोऽभिन्ना संसृष्टत्वेन दृष्टं भेदासंसर्गाभ्यां विकल्पयति।

अनुवाद (वृत्ति)— वाच्य-वाचक भाव से भिन्न अवगमन (व्यञ्जना) व्यापार के द्वारा जो वाच्यार्थ का प्रतिपादन करना है, वह पर्याय से अर्थात् प्रकारान्तर से कथन करने के कारण पर्यायोक्त अलङ्कार कहलाता है। उदाहरण, जैसे—

अनुवाद—जिस (रावण अथवा हयग्रीव) को देखकर मद ने ऐरावत के मुख पर और मान ने इन्द्र के हृदय पर चिरकाल से प्ररूढ़ (वृद्धि को प्राप्त) निवास करने की प्रीति को छोड़ दिया ॥५०४॥

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ पर 'ऐरावत और इन्द्र मद और मान से मुक्त हो गये' यह व्यङ्ग्य अर्थ भी शब्द के द्वारा कहा जा रहा है। इसलिए जो कहा जा रहा है (अभिधा से प्रतिपाद्य-वाच्यार्थ है) वही व्यङ्ग्य अर्थ भी है। किन्तु जिस प्रकार व्यङ्ग्य (व्यञ्जना के द्वारा प्रतिपाद्य) होता है, उस प्रकार नहीं कहा जा रहा है (अर्थात् उस रूप में वाच्य नहीं है)।

जिस प्रकार चलती हुई सफ़ेद गाय को देखकर 'सफेद गाय चल रही है' इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान होता है। जिसको देखा है (अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान से जाना है) उसी का सविकल्पक ज्ञान होता है किन्तु जिस रूप में देखा उस रूप में नहीं। क्योंकि (निर्विकल्पक ज्ञान में) भेद-रहित और संसर्ग-रहित रूप में देखी गई वस्तु को भेद और संसर्ग से विशिष्ट कर देता है अर्थात् सविकल्प ज्ञान का विषय हो जाता है।

विमर्श—पर्यायोक्त एक प्राचीन अलङ्कार है। पर्यायोक्त का अर्थ है पर्याय (प्रकारान्तर) के द्वारा कथन करना। अर्थात् किसी वस्तु का प्रकारान्तर से प्रतिपादन करना पर्यायोक्त है। अग्निपुराण में पर्यायोक्त का लक्षण निम्न प्रकार कहा गया है—

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।

अर्थात् जो वस्तु जिस रूप में है उसका भिन्न प्रकार से कहना पर्यायोक्त अलंकार है। अग्निपुराण के अनुसार ही भामह ने भी पर्यायोक्त का लक्षण प्रतिपादित किया है (**पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते**)। दण्डी ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात् तस्यैव सिद्धये। यत् प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते। उद्‌भट के अनुसार वाच्य-वाचक भाव से भिन्न अवगमन (व्यञ्जनाव्यापार) के द्वारा विवक्षित अर्थ का कथन पर्यायोक्त अलङ्कार है।

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्य-वाचक-वृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना।

अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक ने गम्य अर्थ का प्रकारान्तर (भङ्‌ग्यन्तर) से अभिधान को 'पर्यायोक्त' कहा है (**गम्यस्यापि प्रकारान्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्**)। इसी अभिप्राय के अनुसार विश्वनाथ ने पर्यायोक्त का लक्षण प्रतिपादित किया है। (**पर्यायोक्तं यदा भङ्‌ग्या गम्यमेवाभिधीयते**)। मम्मट के अनुसार वाच्य-वाचक भाव से भिन्न अर्थात् वाच्य-वाचक भाव से भिन्न व्यञ्जना व्यापार के द्वारा अभिधेय अर्थ का कथन पर्यायोक्त अलङ्कार है। इस प्रकार काव्यप्रकाशकार मम्मट ने प्राचीन आचार्यों के अनुसार ही पर्यायोक्त का लक्षण प्रतिपादित किया है। उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि व्यञ्जना के द्वारा वाच्यार्थ का अभिधान पर्यायोक्त है। पर्यायोक्त में जो चमत्कार है वह उक्तिवैचित्र्य का चमत्कार है, व्यङ्‌ग्यार्थ का नहीं है। मम्मट ने पर्यायोक्त का उदाहरण **'यं प्रेक्ष्य'** इत्यादि श्लोक दिया है। इस उदाहरण में 'मद ने ऐरावत के मुख में और मान ने इन्द्र के हृदय में रहने का प्रेम छोड़ दिया' यह अभिधा द्वारा वाच्य है और 'ऐरावत और इन्द्र मद और मान से मुक्त हो गये' यह अर्थ व्यञ्जना के द्वारा व्यक्त होता है। इस प्रकार प्रकारान्तर से कथन होने के कारण यहाँ पर्यायोक्त अलंकार चमत्कारजनक है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि एक ही श्लोक में एक ही अर्थ वाच्य और व्यङ्‌ग्य कैसे हो सकता है? क्योंकि जो वाच्य होता है वह व्यङ्‌ग्य नहीं हो सकता और जो व्यङ्‌ग्य होता है वह वाच्य नहीं हो सकता। दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इसका समाधान करते हुए ग्रन्थकार सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञान का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भाव यह कि इन्द्रियार्थ (इन्द्रिय और अर्थ) के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है—निर्विकल्पकज्ञान और सविकल्पकज्ञान। इनमें प्रथम क्षण में होने वाला ज्ञान निर्विकल्पकज्ञान होता है और उसके बाद सविकल्पक ज्ञान होता है। निर्विकल्पकज्ञान नामजात्यादि योजना से रहित वस्तुमात्रावगाहिज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान होता है (**नामजात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहिज्ञानं निर्विकल्पम्**)।

इस प्रकार नामजात्यादि के योजना से रहित वस्तु के स्वरूप मात्र का ज्ञान अर्थात् यह कुछ है—(**इदं किञ्चित्**) इस प्रकार का ज्ञान निर्विकल्पज्ञान है। भाव

यह कि जब हम किसी वस्तु को देखते हैं और उसका 'यह कुछ है' केवल इतना ही ज्ञान होता है तो उसे निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं और जब किसी वस्तु को देखकर उसके नाम, जाति, गुण एवं कार्य का भी ज्ञान होता है तो इस प्रकार के विशेषण-विशेष्यावगाहिज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते हैं (**नामजात्यादियोजनासहितं विशेषण-विशेष्यावगाहिज्ञानं सविकल्पम्**)। जैसे चलती हुई सफेद गाय को देखकर प्रथम क्षण में नामजात्यादि के संसर्ग से रहित 'यह कुछ है' (इदं किञ्चित्) इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान है और उसके बाद जब हमें गाय के नाम, गोत्व, शुक्लादि गुण, गमनादि क्रिया आदि के संसर्ग से विशिष्ट ज्ञान होता है तो उसे सविकल्पक ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार एक ही विषय का पहिले निर्विकल्पक ज्ञान होता है और बाद में उसका सविकल्पक ज्ञान होता है। इस प्रकार दोनों का विषय एक ही होता है, अर्थात् एक ही गाय का प्रथम निर्विकल्पक ज्ञान होता है और उसी का सविकल्पक ज्ञान भी। किन्तु दोनों में प्रकार-भेद होता है। जिस रूप में निर्विकल्पकज्ञान काल में देखा जाता है उस रूप में सविकल्पकज्ञान में नहीं देखा जाता। क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान काल में बौद्धमत में भेद-रहित (अतद्व्यावृत्ति) और अन्य मत में नामजात्यादि रूप संसर्ग-रहित प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तथा सविकल्पकज्ञान काल में बौद्धमत में भेद-सहित (तदव्यावृत्ति) और अन्य मत में नामजात्यादि के संसर्ग से विशिष्ट प्रत्यक्ष होता है। भाव यह कि बौद्धमत में जाति नित्य पदार्थ नहीं है, उसके स्थान पर बौद्ध लोग 'अपोह' को मानते है। अपोह का अर्थ है अतद्व्यावृत्ति और अतद्व्यावृत्ति का अर्थ है—तद्भिन्नभिन्नत्व इस प्रकार बौद्ध 'अपोह' से जाति का काम चलाते हैं। अतः उनके मत में नामजात्यादि से रहित निर्विकल्पक ज्ञान होता है। **प्रत्यक्षं कल्पनोपोढ़ं नामजात्याद्यसंयुतम्** इस प्रकार बौद्धमत में निर्विकल्पकज्ञान कल्पना रूप भेद रहित होता है, और सविकल्पकज्ञान कल्पनायुक्त (भेदसहित) होता है तथा अन्य मतों में निर्विकल्पकज्ञान नाम-जात्यादि के संसर्ग से रहित सविकल्पकज्ञान नामजात्यादि के संसर्ग से विशिष्ट होता है।

इस प्रकार निर्विकल्पकज्ञान और सविकल्पकज्ञान दोनों का विषय वस्तुतः एक होते हुए भी प्रकारान्तर से भेद दिखाई देता है। इसी प्रकार पर्यायोक्त अलंकार में वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों का विषय एक होते हुए भी प्रकारान्तर से उसका प्रतिपादन किया जाता है, यही उसका उक्ति-वैचित्र्य है।

इस प्रकार पर्यायोक्त अलंकार में जो व्यङ्ग्य होता है वही वाच्य है, किन्तु जिस प्रकार व्यङ्ग्य है उस प्रकार वाच्य नहीं है। प्रकार-भेद है **'नमस्तस्मै कृता येन मुधा राहुवधूकुचौ'** राहु के बधू के कुचों को व्यर्थ करने वाले को नमस्कार है अर्थात् श्री कृष्ण को नमस्कार है। यहाँ पर राहु के शिरःछेदकारित्व रूप से कृष्ण व्यङ्ग्य हैं और राहुवधू के कुच-वैयर्थ्य-कारित्व रूप से वाच्य हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण ही व्यङ्ग्य हैं और वही वाच्य हैं, किन्तु दोनों में प्रकार भेद है अर्थात् श्रीकृष्ण व्यर्थ-

(सू० १७६) उदात्तं वस्तुनः सम्पत्

सम्पत् समृद्धियोगः। यथा -

मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जनीभिर्हृताः
प्रातः प्रांगणसीम्नि मन्थरचलद्बालांघ्रिलाक्षारुणाः।
दूराद्दाड़िमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुका
यद्विद्वद्भुवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम् ॥५०५॥

(सू० १७७) महतां चोपलक्षणम् ॥११५॥

उपलक्षणमंगभावः; अर्थादुपलक्षणीयेऽर्थे। उदाहरणम्—

कारित्व रूप से वाच्य हैं और शिरःछेदकारित्व रूप से व्यङ्ग्य हैं। इस प्रकार राहु-वधूकुच के वैयर्थ्यकारित्व रूप कार्य के द्वारा राहुशिरःछेद रूप कारण गम्य होता है। इस प्रकार कार्य के द्वारा कारण का कथन पर्यायोक्त अलंकार है।

अप्रस्तुतप्रशंसा में भी कारण से कार्य अथवा कार्य से कारण गम्य होता है किन्तु दोनों में अन्तर है। अप्रस्तुतप्रशंसा में कारण प्रस्तुत होता है और कार्य अप्रस्तुत, और पर्यायोक्त में कारण और कार्य दोनों प्रस्तुत होते हैं। इस प्रकार दोनों का क्षेत्र अलग-अलग है।

(३२) उदात्त अलंकार

अनुवाद (सू० १७६) वस्तु की समृद्धि (संपत्ति) का वर्णन उदात्त अलङ्कार है। यहाँ 'सम्पत्' का अर्थ समृद्धि का योग है जैसे –

अनुवाद विद्वानों के घरों में रतिक्रीड़ा में टूटने से सूत्रहीन हार से गिरे हुए मोती तथा झाड़ू के बुहारे जाने से बिखरे हुए मोती के दाने प्रातःकाल आँगन में मन्द-गमन करने वाली बालाओं के पैरों में लगे महावर से लाल लाल दिखने वाले मोती दूर से अनार के दाने समझ कर क्रीड़ाशुक उन्हें खींच रहे हैं। यह राजा भोज के दान की लीला है ॥५०५॥

यहाँ पर विद्वानों के भवनों के उत्कृष्ट समृद्धि का वर्णन होने उदात्त अलङ्कार है।

अनुवाद (सू० १७७)— जहाँ पर वर्णनीय अर्थ में उदार-चरितों का अंग रूप में वर्णन किया जाता है, वह भी उदात्त अलङ्कार होता है ॥११५॥

यहाँ पर उपलक्षण शब्द का अभिप्राय अंगभाव है अर्थात् उपलक्षणीय अर्थ में अंगरूप से वर्णन। उदाहरण जैसे

तदिदमरण्यं यस्मिन् दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।
निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥५०६॥

न चात्र वीररसः; तस्येहांगत्वात् ।

(सू० १७८) तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत् तत्करं भवेत् ।
समुच्चयोऽसौ···

अनुवाद– यह वह अरण्य (दण्डकवन) है जहाँ महाराज दशरथ के वचन पालन में व्रत किए राम ने निवास करते हुए केवल भुजाओं की सहायता से राक्षसों का संहार किया था ॥५०६॥

यहाँ पर वीररस व्यङ्ग्य (ध्वनि) नहीं है, अपितु वह दण्डकवन का अंगरूप है ।

विमर्श—यहाँ पर वर्णनीय दण्डकारण्य का उत्कर्ष बताने के लिए राम को अङ्गरूप में उपनिबद्ध अर्थात् वर्णित किया है। इस प्रकार यह द्वितीय प्रकार का उदात्तालंकार है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यहाँ पर केवल भुजबल से राक्षसों के संहार रूप अनुभाव के वर्णन से रसध्वनि क्यों नहीं मान लिया जाता ? इस पर कहते हैं कि यहाँ पर वीर रस वर्णनीय नहीं है, अपितु अरण्य वर्णनीय है और वीररस के भाव उत्साह का वर्णन यहाँ अङ्ग रूप है और 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के अनुसार यहाँ चित्रकाव्य का व्यवहार होता है, यहाँ रसध्वनि का व्यवहार नहीं होता ।

(३३) समुच्चय अलंकार

अनुवाद (सू० १७८)-- उस (प्रस्तुत कार्य) की सिद्धि का एक हेतु विद्यमान रहने पर भी जहाँ अन्य (कारण भी) उसका साधक हो जाय, वह समुच्चय अलङ्कार है ।

उस प्रस्तुत कार्य के एक साधक के स्थित होने पर जहाँ अन्य साधक भी होते हैं, वह समुच्चय अलङ्कार कहलाता है ।

विमर्श—जहाँ पर कार्य की सिद्धि के एक कारण के होने पर भी 'खले कपोतन्याय' से अन्य कारण भी कहे जाते हैं वहाँ समुच्चय अलंकार होता है। 'खले कपोतन्याय' का अभिप्राय है कि खलिहान में एक साथ दाना चुगने के लिए गिरने वाले कबूतरों की भाँति अर्थात् किसी एक कार्य की सिद्धि के लिए एक साथ अनेक कारणों का अवसरण होना 'समुच्चय' कहलाता है। उदाहरण जैसे—

तस्य प्रस्तुतस्य कार्यस्य एकस्मिन्साधके स्थिते साधकान्तराणि यत्र सम्भवन्ति स समुच्चयः। उदाहरणम्—

दुर्वाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽत्युत्सुकं
गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्मलम्।
स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽक्षमो
नो सख्यश्चतुराः कथं नु विरहः सोढव्य इत्थं शठः ॥५०७॥

अत्र विरहासहत्वं स्मरमार्गणा एव कुर्वन्ति, तदुपरि प्रियतमदूरस्थित्यादि उपात्तम्।

अनुवाद—कामदेव के बाण का रोकना कठिन है, प्रियतम भी दूर (परदेश में) है, मन अत्यन्त उत्सुक हो रहा है, प्रेम अधिक प्रगाढ़ है, नया यौवन है, प्राण अत्यन्त कठोर है, कुल पवित्र है, स्त्रीत्व (स्त्री होना) धैर्य का विरोधी है, कामदेव का परममित्र बसन्त का समय है, यमराज भी (प्राण हरण में) असमर्थ है, सखियाँ भी चतुर नहीं हैं इस प्रकार यह शठ (कष्टदायक) विरह किस प्रकार सहा जाय? ॥५०७॥

यहाँ पर 'कामदेव' के बाण ही विरह को असह्य बना देते हैं और उसके ऊपर प्रियतम का दूर होना आदि अनेक हेतुओं (कारणों) का वर्णन किया गया है (अतः यहाँ समुच्चय अलङ्कार है।

विमर्श—यहाँ पर विरह की असह्यता रूप कार्य कामदेव के बाण ही करने में समर्थ हैं, उस पर प्रियतम का परदेशवास आदि अनेक कारणों का कथन किया गया है, अतः यहाँ समुच्चय अलंकार है।

अनुवाद (वृत्ति)—यह समुच्चय (अलङ्कार) ही सत् वस्तु के योग में, असत् वस्तु के योग में और सत्-असत् (शोभन-अशोभन) वस्तु के योग में पर्यवसित होता है, इसलिए अलग-अलग लक्षण नहीं किये गये हैं।

विमर्श—रुद्रट आदि आचार्यों ने सद्योग समुच्चय, असद्योग समुच्चय और सदसद्योग समुच्चय भेद से तीन प्रकार के समुच्चय अलंकार का पृथक् विवेचन किया है—

यत्रैकत्रानेकं वस्तु परं स्यात् सुखावहाद्येव।
ज्ञेयः समुच्चयोऽसौ त्रेधाऽन्यः सदसतोर्योगः ॥

मम्मट उपर्युक्त तीनों भेदों का पृथक् विवेचन स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि समुच्चय अलंकार का जो सामान्य लक्षण प्रस्तुत किया है, उसी से ही ये तीनों भेद गतार्थ हो जाते हैं, इसलिए इनका पृथक् लक्षण करने की आवश्यकता नहीं है। सत् वस्तु के योग में समुच्चय का उदाहरण दे रहे हैं—

एष एव समुच्चयः सद्योगे, असद्योगे, सदसद्योगे च पर्यवस्यतीति न पृथक् लक्ष्यते। तथाहि—

कुलममलिनं भद्रा मूर्त्तिर्मतिः श्रुतिशालिनी
भुजबलमलं स्फीता लक्ष्मीः प्रभुत्वमखण्डितम्।
प्रकृतिसुभगा ह्येते भावा अमीभिरयं जनो
व्रजति सुतरां दर्पं राजन्! त एव तवाङ्कुशाः ॥५०८॥

अत्र सतां योगः। उक्तोदाहरणे त्वसतां योगः।

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥५०९॥

अत्र शशिनि धूसरे शल्ये शल्यान्तराणीति शोभनाशोभनयोगः।

अनुवाद—हे राजन्! आपका कुल निर्मल है, आकृति शोभन है, बुद्धि श्रुति की अनुगामिनी है, बाहुबल पर्याप्त (विशाल) है समृद्धिशालिनी लक्ष्मी है और अखण्डित प्रभुता है, ये सभी भाव (पदार्थ) स्वभाव से ही सुन्दर हैं इनके द्वारा यह मनुष्य अत्यन्त अभिमान को प्राप्त होता है, किन्तु आपके लिए ये ही अङ्कुश (अहङ्कार के निवारक) हैं ॥५०८॥

यहाँ पर सत् (शोभन वस्तुओं) का योग है और पूर्वोक्त उदाहरण में असत् (अशोभन) वस्तुओं का योग है।

विमर्श—यहाँ पर निर्मल कुल रूप शोभन हेतुओं के उपादान में भद्रमूर्त्ति आदि अनेक हेतुओं का दर्प तथा दर्पाभाव रूप में वर्णन है, अतः यहाँ समुच्चय अलंकार है।

अनुवाद—दिन में मलिन चन्द्रमा, यौवन-रहित कामिनी, कमलों से रहित सुन्दर आकृति वाले व्यक्ति, विद्या-विहीन मुख, धन का लोभी स्वामी (प्रभु), निरन्तर दुर्दशा-ग्रस्त सज्जन और राजमहल में सदा उपस्थित दुष्ट व्यक्ति—ये सात मेरे मन में शल्य के समान (चुभते) हैं ॥५०९॥

यहाँ पर चन्द्रमा में दिवस-धूसरता रूप शल्य (अशोभन वस्तु) के होने पर भी अन्य शल्य (शोभन वस्तु) का वर्णन किया गया है यह शोभाशोभन (सदसद्योग) समुच्चय का उदाहरण है।

(सू० १७९) स त्वन्यो युगपत् या गुणक्रिया ॥११६॥

गुणौ च क्रिये च गुणक्रिये च गुणक्रियाः। क्रमेणोदाहरणम्—

विदलितसकलारिकुलं तव बलमिदमभवदाशु विमलं च।
प्रखल मुखानि नराधिप! मलिनानि च तानि जातानि ॥५१०॥

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे।
नवधारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥५११॥

अत्र क्रमेणेति समुच्चयव्यावर्त्तनाय।

विमर्श—यहाँ धूसरित चन्द्रमा रूप व्यथा के हेतु विद्यमान रहने पर भी गलित यौवना कामिनी आदि का व्यथा-हेतु के रूप में वर्णन किया गया है, अतः यहाँ सदसद्योग अलंकार है।

अनुवाद (सू० १७९)—यह तो अन्य प्रकार का (समुच्चय अलङ्कार है) जो गुण और क्रियाओं का एक साथ (वर्णन होता है) ॥११६॥

दो गुण, दो क्रियाएँ, गुण और क्रिया ये गुणक्रिया है।

विमर्श—यहाँ पर 'गुणक्रिया' पद में द्वन्द्व समास है। 'गुणौ च क्रिये च इति गुणक्रियाः'; गुणश्च क्रिया च इति गुणक्रिये = गुणक्रियाश्च गुणक्रिये च = गुणक्रियाः इति एकशेषः इस प्रकार यहाँ एकशेष द्वन्द्व है। इस प्रकार (१) गुणों का यौगपद्य (२) क्रियाओं का यौगपद्य और (३) गुण-क्रिया का यौगपद्य, यह तीन प्रकार का समुच्चय होता है। क्रमशः उदाहरण देते हैं—

(१) गुणयौगपद्य का उदाहरण

अनुवाद—हे राजन्! समस्त शत्रुकुल का नाश करने वाली तुम्हारी यह सेना शीघ्र निर्मल हो गई और दुष्टों के वे मुख भी मलिन हो गये ॥५१०॥

विमर्श—यहाँ पर विमलत्व और मलिनत्व रूप दो गुणों का एक साथ होना दो चकारों के प्रयोग से सूचित होता है, अतः यहाँ समुच्चय अलंकार है।

(२) क्रियायौगपद्य का उदाहरण

अनुवाद—उस प्रिया उर्वशी के साथ मेरा अकस्मात् यह दुःसह वियोग जैसे ही हुआ, वैसे ही नवीन मेघों (बादलों) के आ जाने से दिन धूप-रहित सुंदर होने लगे ॥५११॥

विमर्श—यहाँ पर 'उपनतः' और 'भवितव्यं' दो क्रियाओं का एक साथ होना

कलुषं च तवाहितेष्वकस्मात् सितपङ्केरुहसोदरश्रि चक्षुः ।
पतितं च महीपतीन्द्र ! तेषां वपुषि प्रस्फुटमापदां कटाक्षैः ॥५१२॥

'धुनोति चासिं तनुते च कीर्त्तिम्' इत्यादेः, 'कृपाणपाणिश्च भवान् रणक्षितौ । ससाधुवादाश्च सुराः सुरालये' इत्यादेश्च दर्शनात् 'व्यधिकरणे' इति 'एकस्मिन् देशे' इति च न वाक्यम् ।

दो बार चकार के प्रयोग स्पष्ट प्रतीत हो रहा है । अतः यहाँ समुच्चय अलंकार है । यहाँ पर उपगमन और भवन क्रिया का समुच्चय है ।

(३) गुणक्रियायौगपद्य का उदाहरण

अनुवाद—हे राजन् ! सफेद कमल के समान शोभा वाली आपकी आँखें शत्रुओं के प्रति जैसे ही कलुषित हुईं (क्रोध से आरक्त हुईं) वैसे ही उनके शरीर पर आपत्तियों के कटाक्ष स्पष्ट रूप से गिर गये ॥५१२॥

विमर्श—यहाँ पर 'कलुषत्व' और 'पतन' रूप गुण और क्रिया दोनों का एक साथ होना चकार के दो बार प्रयोग से प्रकट हो रहा है, अतः यहाँ समुच्चय अलंकार है । यहाँ पर कलुषत्व रूप गुण और पतन रूप क्रिया का समुच्चय है ।

परमत का निराकरण

अनुवाद—'यह राजा तलवार को चलाता है और कीर्त्ति को फैलाता है' इत्यादि में तथा 'आप कृपाण हाथ में लिए रणभूमि में आये और स्वर्ग में देवगण साधुवाद देने लगे' इत्यादि में समुच्चय अलंकार देखे जाने से व्यधिकरण तथा समानाधिकरण में ही समुच्चय होता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए ।

विमर्श—रुय्यक आदि आचार्यों का कथन है कि गुणक्रिया का यौगपद्य व्यधिकरण अर्थात् भिन्न-भिन्न अधिकरण (आश्रयभेद) होने पर ही माना जाय अथवा समानाधिकरण अर्थात् एक अधिकरण होने पर समुच्चय अलंकार होता है, यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता; क्योंकि 'धुनोति चासिं तनुते च कीर्त्तिम्' अर्थात् तलवार चलाता है और कीर्त्ति को फैलाता है' यहाँ पर 'धुनोति' और 'तनुते' इन दोनों क्रियाओं का एकाधिकरण (समानाधिकरण) एक ही राजारूप आधार में समुच्चय अलंकार देखा जाता है । इसी प्रकार 'आप तलवार हाथ में लेकर रणभूमि में उतरे और स्वर्ग में देवता लोग साधुवाद कहने लगे' यहाँ पर व्यधिकरण में (भिन्न अधिकरण में) समुच्चय अलंकार होता है ।

(सू० १८०) एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायः ।

एकं वस्तु क्रमेणानेकस्मिन् भवति क्रियते वा स पर्यायः । क्रमेणेदाहरणम्—

> **नन्वाश्रयस्थितिरियं तव कालकूट ?**
> **केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा,**
> **प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ**
> **कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम् ॥५१३॥**

यथा वा—

> **बिम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि ! पूर्वमदृश्यत ।**
> **अधुना हृदयेऽप्येक मृगशावाक्षि ! लक्ष्यते ॥५१४॥**

रागस्य वस्तुतो भेदेऽप्येकतयाऽध्यवसितत्वादेकत्वमविरुद्धम् ।

---

(३४) पर्याय अलंकार

अनुवाद (सू० १८०)—जहाँ एक (वस्तु) क्रम से अनेक में होता है, पर्याय अलङ्कार होता है ।

जहाँ पर एक ही वस्तु क्रमशः अनेकों में हो अथवा की जाय, वहाँ पर्याय अलङ्कार होता है । क्रमशः उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—हे कालकूट विष ! उत्तरोत्तर विशिष्ट (उच्च, उत्कृष्ट) स्थान (पद) वाले आश्रय में रहने की रीति तुम्हें किसने बतलाई ? पहले तो समुद्र के हृदय में, फिर वृषवाहन शिवजी के कण्ठ में रहे और अब दुष्टों के वचन (वाणी) में निवास करते हो ॥५१३॥

विमर्श—यहाँ पर कालकूटरूप एक ही वस्तु का अनेक स्थान पर रहना किसी प्रयोजक (हेतु) के बिना ही प्रतिपादित है, इसलिए यह पर्याय अलंकार का उदाहरण है । यहाँ पर एक कालकूट विष की क्रमशः अनेक स्थानों में स्थिति कही गई है ।

अनुवाद—हे तन्वि ! पहिले तो तुम्हारे बिम्बाधर (बिम्बाफल सदृश ओष्ठ) में राग (लाली) दिखलाई देता था और हे मृगनयनी ! अब यह राग (प्रेम) तुम्हारे हृदय में दिखाई देता है ॥५१४॥

यहाँ पर राग (लाली और प्रेम) में वस्तुतः भेद होने पर भी दोनों में (सादृश्य के कारण) अभेद का अध्यवसान होने से दोनों के एकत्व में कोई विरोध नहीं है ।

तं त्ताण सिरिसहोअररअणाहरणंमि हिअअमेक्करसम् ।
बिम्बाहरे पि आणं णिवेसिअं कुसुमबाणेण ॥५१५॥
तत्तेषां श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम् ।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन ॥५१५॥
(इति संस्कृतम्)

(सू० १८१) अन्यतस्ततोऽन्यथा

अनेकमेकस्मिन् क्रमेण भवति क्रियते वा सोऽन्यः । क्रमेणोदाहरणम्—

मधुरिमरुचिरं वचः खलानाममृतमहो प्रथमं पृथु व्यनक्ति ।
अथ कथयति मोहहेतुमन्तर्गतमिव हालाहलं विषं तदेव ॥५१६॥

अनुवाद—उन राक्षसों का वह मन जो पहले विष्णु के कौस्तुभमणि के अपहरण में लगा हुआ था, उसे अब कामदेव ने मोहिनी के बिम्बाधर में लगा दिया ॥५१५॥

विमर्श—यहाँ पर एक ही हृदय का कौस्तुभ के अपहरण और मोहिनी के ओष्ठ में स्थिति का वर्णन है, यहाँ कुसुमबाण (कामदेव) प्रयोजक है। इसलिए यह 'क्रियते' का उदाहरण रूप पर्याय अलंकार है।

अनुवाद (सू० १८१)—उसके विपरीत दूसरे प्रकार का पर्याय अलङ्कार होता है।

अनुवाद (वृत्ति)—जहाँ अनेक (वस्तुएँ) एक में क्रमशः होती हैं अथवा की जाती हैं, वहाँ दूसरे प्रकार का पर्याय अलङ्कार होता है।

विमर्श—पहिले पर्याय अलंकार का लक्षण बताया गया है कि जहाँ एक वस्तु क्रमशः अनेक में होती है अथवा की जाती है, वहाँ पर्याय अलंकार होता है। इसके विपरीत दूसरे प्रकार का पर्याय अलंकार होता है अर्थात् जहाँ पर अनेक वस्तुएँ क्रमशः एक में होती हैं अथवा कही जाती हैं, वहाँ दूसरे प्रकार का पर्याय अलंकार होता है। तात्पर्य यह कि अनेक वस्तुओं का क्रमशः एक ही आधार में कालभेद से सम्बन्ध होना अथवा किया जाना दूसरे प्रकार का पर्याय अलंकार होता है। उसका उदाहरण देते हैं :—

अनुवाद—मधुरता के कारण मन को हरण करने वाला दुष्टों का वचन पहिले तो अत्यधिक अमृत प्रकट करता है (बरसाता है) और बाद में वही वचन हृदय में स्थित हालाहल विष के समान मोह का हेतु (कारण) कहलाता है ॥५१६॥

विमर्श—यहाँ पर अमृतव्यञ्जन और विषकथन रूप अनेक पदार्थों का एक ही खलवचन में बिना किसी प्रयोजक हेतु के वर्णन किया गया है। इसलिए यह अनेक का एक ही आधार में होने का (भवति का) उदाहरण है।

तद्गेहं नतभित्ति मन्दिरमिदं लब्धावकाशं दिवः
सा धेनुर्जरती नदन्ति करिणामेता घनाभा घटाः।
स क्षुद्रो मुसलध्वनिः कलमिदं संगीतकं योषिताम्,
आश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमि समारोपितः ॥५१७॥
अत्रैकस्यैव हानोपादानयोरविवक्षितत्वान्न परिवृत्तिः।

(सू० १८२) अनुमानं तदुक्तं यत् साध्य-साधनयोर्वचः ॥११७॥

पक्षधर्मतान्वयव्यतिरेकत्वेन त्रिरूपो हेतुः साधनम्। धर्मिणि अयोग-व्यवच्छेदो व्यापकस्य साध्यत्वम्। यथा--

---

अनुवाद—(कहाँ तो) टूटी-फूटी दीवारों वाला वह घर और (कहाँ) अभ्रंकश (गगनचुम्बी) महल? कहाँ यह बूढ़ी गाय और कहाँ यह मेघों के समान हाथियों की घटाएँ गरजती हैं; कहाँ तो मूसलों की क्षुब्ध ध्वनि और कहाँ स्त्रियों का यह मधुर संगीत? आश्चर्य है कि यह ब्राह्मण थोड़े ही दिनों में इतनी समृद्ध भूमि (अवस्था) को पहुंचा दिया गया ॥५१७॥

विमर्श—यहाँ पर एक ही ब्राह्मण में उसके घर, मन्दिर आदि अनेक का सम्बन्ध दिखलाया गया है और 'दिवसैः' उसका प्रयोजक हेतु है, इसलिए यह अनेक का एक आधार में किया जाना रूप पर्याय अलंकार का उदाहरण है।

(अनुवाद वृत्ति)—यहाँ पर एक ही कर्त्ता का हान (त्याग) और उपादान (ग्रहण) की विवक्षा न होने से परिवृत्ति अलंकार नहीं है।

विमर्श—जहाँ पर एक कर्त्ता द्वारा एक वस्तु का त्याग करके दूसरी वस्तु का ग्रहण किया जाता है वहाँ परिवृत्ति अलंकार होता है। इस प्रकार परिवृत्ति अलंकार में एक के द्वारा त्यागी हुई वस्तु को दूसरा ग्रहण करता है किन्तु पर्याय में एक वस्तु का अनेक आश्रयों में अनेक वस्तुओं का एक आधार में क्रमशः स्थिति (होने) का वर्णन किया जाता है। यही दोनों में अन्तर है।

(३५) अनुमान अलंकार

अनुवाद (सू० १८२) साध्य और साधन का जो वचन (कथन) वह अनुमान (अलंकार) कहा गया है ॥११७॥

अनुवाद (वृत्ति) पक्षसत्त्व अर्थात् पक्ष में रहना पक्षधर्मता, सपक्ष-सत्त्व अर्थात् सपक्ष में रहना अन्वय और विपक्षव्यावृतत्व अर्थात् विपक्ष में न रहना व्यतिरेक इस प्रकार पक्षधर्मता, अन्वय और व्यतिरेक रूप त्रिरूप हेतु साधन है और धर्मी अर्थात् पक्ष में व्यापक (अग्नि) के अभाव का निषेध अर्थात् पक्ष (पर्वत में) व्यापक (अग्नि) का सम्बन्ध अवश्य होना (अयोग-व्यवच्छेद) ही साध्यत्व है।

यत्रैता लहरीचलाचलदृशो व्यापारयन्ति भ्रुवं
तत्तत्रैव पतन्ति सन्ततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः।
तच्चक्रीकृतचापमञ्चितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो
धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्यं सदासां स्मरः ॥५१८॥

साध्य-साधनयोः पौर्वापर्यविकल्पे न किञ्चिद्वैचित्र्यमिति न तथा दर्शितम्।

विमर्श—अनुमान अलंकार अनुमान प्रमाण पर आधारित है, किन्तु यहाँ अनुमान प्रमाण से 'साध्य' और 'साधन' दो शब्द ही गृहीत हैं किन्तु वृत्ति में पक्ष-धर्मता, अन्वय, व्यतिरेक त्रिरूप हेतु का भी उल्लेख है, अतः इन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ जान लेना आवश्यक है। साधन (हेतु) के द्वारा साध्य का अनुमान किया जाता है। जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमत्वात्' अर्थात् पर्वत पर आग है, धुआँ होने से। यहाँ पर धूम साधन (हेतु) है और वह्नि (अग्नि) साध्य है। अर्थात् धूम को देखकर पर्वत पर अग्नि का अनुमान होता है। इनके अतिरिक्त अनुमान में पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, व्याप्ति आदि का होना भी आवश्यक है।

यहाँ पर पक्षधर्मता, अन्वय और व्यतिरेक त्रिविध हेतु का प्रतिपादन है। इनमें हेतु का पक्ष (पर्वत) में होना पक्षधर्मता है। यहाँ पर पर्वत पक्ष है और पर्वत पर धुएँ का होना पक्षधर्मता (पक्षसत्त्व) है। महानस (रसोईघर) में साध्य (अग्नि) का निश्चित रूप से रहना सपक्ष है और सपक्ष रसोईघर में धूमरूप हेतु का पाया जाना सपक्षसत्त्व है, इसी को अन्वय कहते हैं। जहाँ पर साध्य का अभाव निश्चित रूप से रहता है उसे 'विपक्ष' कहते हैं। हेतु का विपक्ष तालाब आदि में नियत रूप से न पाया जाना 'विपक्षव्यावृतत्व' है। इसी को व्यतिरेक कहते हैं। इन पक्षसत्त्व, सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृतत्व रूप तीनों धर्मों का हेतु में होना आवश्यक है, इस प्रकार इन तीन रूपों से युक्त हेतु ही साधन कहलाता है, इस प्रकार धूम रूप हेतु से अग्नि की सिद्धि की जाती है, इसलिए अग्नि साध्य है। इस प्रकार साध्य और साधन का कथन अनुमान है। भाव यह कि कवि-प्रतिभा द्वारा धर्मों में साधन द्वारा साध्य का प्रतिपादन अनुमान अलंकार है।

अनुमान का उदाहरण—

अनुवाद—**तरङ्गों के समान चञ्चल नेत्रों वाली युवतियाँ जिस पर भौंहें टेढ़ी करती हैं, वहीं पर कामदेव के ये मर्मवेधी बाण गिरने लगते हैं। इसीलिए धनुष को चढ़ाये हुए और बाणों पर ही हाथ रखे हुए, उन युवतियों का आज्ञाकारी यह क्रोधयुक्त कामदेव सचमुच ही सदा आगे-आगे दौड़ता है ॥५१८॥**

(सू० १८३) विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः ।

अर्थाद्विशेष्यस्य । उदाहरणम्—

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्त्तयः ।
न संहतास्तस्य न भेदवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥५१९॥

यद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात् तन्निराकरणेन पुष्टार्थस्वीकारः कृतः तथाप्येकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवमुपन्यासो वैचित्र्यमित्यलंकारमध्ये गणितः ।

विमर्श—यहाँ पर पूर्वार्द्ध में साधन का कथन है और उत्तरार्द्ध में साध्य का । यहाँ पूर्वार्द्ध में 'यत्' 'तत्' पदों के द्वारा कटाक्षपात और बाणपतन रूप दोनों धर्मों में व्याप्ति प्रतीत होती है और यह बाण-पतन उत्तरार्द्ध में कथित साध्य (युवतियों के आगे कामदेव का दौड़ना) का साधन हो जाता है । इस प्रकार साधन और साध्य के कथन होने से यहाँ अनुमान अलंकार है ।

रुद्रट के अनुसार अनुमान के दो भेद होते हैं—प्रथम में पहिले साधन का कथन और बाद में साध्य का कथन होता है दूसरा जहाँ पहिले साध्य का कथन और बाद में साधन का कथन होता है किन्तु मम्मट के अनुसार साध्य-साधन के इस प्रकार पूर्वापरभाव के विपर्यय में कोई चमत्कार नहीं दिखाई देता है, इसलिए उसका पृथक् प्रतिपादन करने की आवश्यकता नहीं है ।

अनुवाद—साध्य-साधन के पूर्वापर भाव के परिवर्तन में कोई विचित्रता नहीं दिखाई देती, इसलिए उसे अलग नहीं दिखाया गया है ।

(३६) परिकर अलंकार

अनुवाद (सू० १८३)—जहाँ पर साभिप्राय (साकूत) विशेषणों के द्वारा (प्रकृत अर्थ का) कथन होता है, वह परिकर अलंकार कहलाता है ।

अर्थात् विशेष्य का ।

विमर्श—अभिप्राय युक्त विशेषणों के द्वारा विशेष्य की जो परिपुष्टि होती है, वह परिकर अलंकार कहलाता है । मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्य साभिप्राय विशेषणों के होने पर ही 'परिकर' अलंकार मानते हैं; किन्तु प्रदीपकार एक विशेषण के साभिप्राय होने पर भी परिकर अलंकार मानते हैं । जगन्नाथ भी इसी मत को स्वीकार करते हैं । उद्योतकार विशेष्य के साभिप्राय होने पर भी परिकर अलंकार मानते हैं; किन्तु सुधासागरकार का कथन है कि केवल विशेष्यांश कभी साभिप्राय नहीं हो सकता । अतः विशेषणों के साभिप्राय होने पर ही परिकर अलंकार होता है ।

उदाहरण, जैसे—

अनुवाद—महान् तेजस्वी, स्वाभिमानी, धन से सम्मानित, युद्ध में कीर्त्ति प्राप्त करने वाले, न परस्पर मिले हुए और न परस्पर विरोधी धनुर्धारी अपने प्राणों के द्वारा भी (प्राणों की बाजी लगाकर भी) उस दुर्योधन का प्रिय करना चाहते हैं ॥५१९॥

विमर्श—यहाँ पर 'महौजसः' 'मानधनाः' 'धनार्चिताः' आदि विशेषणों का 'दूसरों के द्वारा अभिभूत न होने योग्य' आदि अभिप्राय सूचित हो रहा है और इन विशेषणों के द्वारा 'धनुर्भृतः' इस विशेषण का परिपोषण होता है तथा उससे दुर्योधन का उत्कर्ष प्रतीत होता है, इसलिए यहाँ परिकर अलंकार है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब साभिप्राय विशेषणों के द्वारा विशेष्य अर्थ की पुष्टि ही परिकर है तो इसे अपुष्टार्थत्व रूप दोष क्यों नहीं मान लिया जाता? क्योंकि पुष्टार्थत्व अलंकार नहीं, वल्कि दोषाभाव रूप है। फिर इसे अलंकारों में परिगणन क्यों किया है? इस पर कहते हैं कि एक विशेष्य के अनेक विशेषण होने पर वाक्य में एक विशेष चमत्कार की प्रतीति होती है, इसलिए इसे अलंकारों में परिगणित किया है।

अनुवाद (वृत्ति)—यद्यपि अपुष्टार्थ का दोष रूप में कथन होने से उसके निराकरण के द्वारा पुष्टार्थ को (दोषाभाव रूप में) स्वीकार कर लिया है, तथापि एक में रहने वाले अनेक विशेषणों के इस प्रकार से रखने में (कहने में) एक प्रकार का वैचित्र्य आ जाता है इसलिए इसे अलंकारों में गिना गया है।

इति मम्मटकृतः काव्यप्रकाशः समाप्तः।

इस प्रकार मम्मटकृत काव्यप्रकाश यहाँ समाप्त हो जाता है। इसके आगे अल्लटसूरि ने इसे पूरा किया है, जैसा कि कहा गया है—

कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः।
प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायाल्लटसूरिणा॥

(सू० १८४) व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ॥११८॥

निगूढ़मपि वस्तुनो रूपं कथमपि प्रभिन्नं केनापि व्यपदेशेन यदपह्नूयते सा व्याजोक्तिः। न चैषापह्नुतिः प्रकृताप्रकृतोभयनिष्ठस्य साम्यस्येहासम्भवात्। उदाहरणम्—

शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लसद्—
रोमाञ्चादिविसंष्ठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलाः।
हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्वः शिवः ॥५२०॥

अत्र पुलकवेपथू सात्त्विकरूपतया प्रसृतौ शैत्यकारणतया प्रकाशितत्वादपलपितस्वरूपौ व्याजोक्तिं प्रयोजयतः।

---

(३७) व्याजोक्ति अलंकार

अनुवाद (सू० १८४) - स्पष्ट रूप से प्रकट हुए वस्तु के स्वरूप का किसी बहाने से छिपाना 'व्याजोक्ति' अलंकार है ॥२१८॥

वस्तु का गुप्त रूप भी किसी प्रकार प्रकट हो जाता है तो किसी बहाने से उसे जो छिपाया जाता है, वह व्याजोक्ति अलंकार है। इसे अपह्नुति (अलंकार) नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इसमें प्रकृत और अप्रकृत दोनों में स्थित साम्य का अभाव होता है।

विमर्श—व्याजोक्ति अलंकार अपह्नुति से भिन्न है; क्योंकि अपह्नुति में प्रकृत (प्रस्तुत) और अप्रकृत (अप्रस्तुत) अर्थात् उपमेय और उपमान में साम्य की विवक्षा रहती है और उस साम्य के द्वारा ही उपमेय का अपह्नव किया जाता है, किन्तु व्याजोक्ति में प्रकृत और अप्रकृत में साम्य विवक्षित नहीं होता।

उदाहरण जैसे—

अनुवाद - पर्वतराज हिमालय के द्वारा समर्पित की जाती हुई पार्वती के हाथ के स्पर्श से समुद्भूत रोमाञ्च आदि के कारण कम्पित समस्त वैवाहिक कार्य-व्यापार के भंग हो जाने से व्याकुल 'हाय हिमालय के हाथ बड़े ठंडे हैं' इस प्रकार कहने वाले पर्वतराज की अन्तःपुर की माताओं तथा नन्दी आदि गणों के द्वारा मुस्कराकर देखे गये शिवजी आप लोगों की रक्षा करें ॥५२०॥

(सू० १८५) किञ्चित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते ।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ॥११९॥

प्रमाणान्तरावगतमपि वस्तु शब्देन प्रतिपादितं प्रयोजनान्तराभावात्सदृशवस्त्वन्तरव्यवच्छेदाय यत्पर्यवस्यति सा भवेत्परिसंख्या । अत्र च कथनं प्रश्नपूर्वकं तदन्यथा च परिदृष्टम् । तथोभयव्यपोह्यमानस्य प्रतीयमानता वाच्यत्वं चेति चत्वारो भेदाः । क्रमेणोदाहरणम्—

यहाँ पर रोमाञ्च और कम्पन सात्त्विक भाव के रूप में प्रकट हैं, किन्तु शैत्य के कारण प्रकट (प्रकाशित) हुए हैं, इस प्रकार छिपाये गये हैं, अतः ये व्याजोक्ति के प्रयोजक हैं ।

विमर्श—यहाँ पर पार्वती के हाथ के स्पर्श से उत्पन्न सात्त्विक भावरूप रोमाञ्च और कम्पन आदि को हिमालय के हाथ के स्पर्श से शैत्य के कारण उत्पन्न बतलाया गया है, इस प्रकार व्याज से (बहाने से) यहाँ पार्वती विषयक रतिभाव को छिपाया गया है । इस प्रकार पार्वती विषयक रतिभाव से उत्पन्न रोमाञ्च, कम्पन हिमालय के शीतल करस्पर्श के कारण प्रकाशित हो रहे हैं, इस प्रकार के व्याज से छिपाये जाने के कारण यहाँ व्याजोक्ति अलंकार है ।

(३८) परिसंख्या अलंकार

अनुवाद (सू० १८५)—जहाँ कोई पूछी गई अथवा न पूछी गई वस्तु शब्द के द्वारा प्रतिपादित हो अपने तुल्य अन्य वस्तु के व्यवच्छेद निराकरण में पर्यवसित होती है, उसे परिसंख्या अलंकार कहते हैं ॥११९॥

अनुवाद (वृत्ति)—जहाँ पर अन्य प्रमाणों से ज्ञात होने पर भी कोई वस्तु शब्दतः प्रतिपादित हो अन्य प्रयोजन के न होने पर अपने सदृश अन्य वस्तु के निषेध के रूप में परिणत हो जाती है, वह परिसंख्या अलंकार है । यहाँ पर वस्तु का कथन प्रश्नपूर्वक और कहीं उससे भिन्न (अन्यथा) अप्रश्नपूर्वक देखा जाता है और दोनों जगह जिसका निषेध (निराकरण) किया जाता है वह प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) और वाच्य होता है । इस प्रकार इसके चार भेद होते हैं ।

विमर्श—परिसंख्या अलंकार की रूपरेखा मीमांसादर्शन के 'परिसंख्या विधि' के आधार पर निर्धारित की गई है । क्योंकि परिसंख्या विधि का तात्पर्य निषेधपर्यवसायी होता है, उसी प्रकार परिसंख्या अलंकार भी निषेधपर्यवसायी होता है ।

किमासेव्यं पुंसां ? सविधमनवद्यं द्युसरितः।
किमेकान्ते ध्येयं ? चरणयुगलं कौस्तुभभृतः।
किमाराध्यं ? पुण्यं किमभिलषणीयं ? च करुणा
यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति ॥५२१॥

मीमांसादर्शन के अनुसार दो वस्तुओं की प्राप्ति में एक का निषेध करने वाली विधि परिसंख्या विधि कहलाती है, उसी प्रकार परिसंख्या अलंकार का स्वरूप विधिपरक होता है किन्तु उसका पर्यवसान निषेधपरक होता है। इस प्रकार मीमांसादर्शन के परिसंख्या विधि के आधार पर परिसंख्या अलंकार का प्रतिपादन हुआ है। परिसंख्या अलंकार में कवि-प्रतिभा का हाथ होता है अर्थात् कवि-प्रतिभा से कल्पित वस्तु के कथन के द्वारा तत्सदृश अन्य वस्तु का निषेध होने पर परिसंख्या अलंकार होता है। यह निषेध कहीं प्रश्नपूर्वक होता है और कहीं अप्रश्नपूर्वक और वह भी कहीं वाच्य रूप होता है और कहीं व्यङ्ग्य रूप। इस प्रकार परिसंख्या अलंकार चार प्रकार का होता है—

१—प्रश्नपूर्वक प्रतीयमानव्यवच्छेद्य।
२—प्रश्नपूर्वक वाच्यव्यवच्छेद्य।
३—अप्रश्नपूर्वक प्रतीयमानव्यवच्छेद्य।
४—अप्रश्नपूर्वक वाच्यव्यवच्छेद्य।

(१) प्रश्नपूर्वक प्रतीयमानव्यवच्छेद्य परिसंख्या का उदाहरण

अनुवाद—मनुष्यों का सेवनीय वस्तु क्या है ? (अर्थात् मनुष्यों को क्या सेवन करना चाहिए ?) देवनदी गङ्गा का निर्दोष तट। एकान्त में ध्यान करने योग्य क्या है ? कौस्तुभ (मणि) को धारण करने वाले विष्णु का चरण युगल। आराधना के योग्य क्या है ? (अर्थात् किसकी आराधना करनी चाहिए ?) पुण्य। अभिलषणीय क्या है ? करुणा (अर्थात् किस वस्तु की अभिलाषा करनी चाहिए ? उत्तर है करुणा की)। क्योंकि जिनमें आसक्ति (प्रेम) के द्वारा चित्त सदा के लिए मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है ॥५२१॥

विमर्श—यहाँ पर गङ्गा के तट का सेवन, विष्णु के चरणयुगल का सेवन आदि शास्त्र-पुराण प्रसिद्ध है, अतः उसका प्रतिपादन करना यहाँ अभीष्ट नहीं है;

किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं
किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः।
किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं
जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम् ॥५२२॥

कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति ॥५२३॥

अपितु उससे भिन्न नदी तटादि के सेवन का निषेध करने के लिए शास्त्रप्रसिद्ध गङ्गा-तटादि के सेवन का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए यहाँ परिसंख्या अलंकार है। यहाँ प्रश्नपूर्वक कथन है और व्यवच्छेद्य व्यङ्ग्य (प्रतीयमान) है, अतः यह प्रश्नपूर्वक, व्यवच्छेद्य परिसंख्या अलंकार का उदाहरण है।

(२) प्रश्नपूर्वक वाच्यव्यवच्छेद्य परिसंख्या का उदाहरण

अनुवाद—इस संसार में स्थायी रहने वाला अलंकार क्या है? यश (कीर्त्ति) रत्न नहीं। कर्त्तव्य क्या है? महापुरुषों के द्वारा आचरित पुण्य-कार्य, दोष नहीं। अप्रतिहत (कहीं न रुकने वाला, अवाधगति, सर्वदर्शी) नेत्र कौन सा है? बुद्धि, आँख नहीं। तुम्हारे अतिरिक्त सत्-असत् का विवेक (भले-बुरे की पहचान) और कौन जानता है ॥५२२॥

विमर्श—यहाँ पर यश आदि की अलंकारता (शास्त्र आदि प्रमाणों) से प्रसिद्ध है, उसका प्रतिपादन यहाँ अभीष्ट नहीं है, अपितु यश आदि से भिन्न रत्न आदि की अलंकारता के निषेध के लिए उनका कथन किया गया है। यह निषेध कथन प्रश्न-पूर्वक है और व्यवच्छेद (निषेध) वाच्य है। अतः यह प्रश्नपूर्वक व्यवच्छेद्य परिसंख्या अलंकार का उदाहरण है।

(३) अप्रश्नपूर्वक प्रतीयमान व्यवच्छेद्य परिसंख्या का उदाहरण

अनुवाद—हे प्रिये! तुम्हारे केश पाश में कुटिलता, हाथ, पैर, अधर-दल में राग (लालिमा), स्तनद्वय में कठोरता और नेत्रों में तरलता रहती है ॥५२३॥

विमर्श—यहाँ पर केशपाश आदि में कुटिलता आदि के कथन के द्वारा हृदय में कुटिलता आदि का निषेध प्रतीत हो रहा है। यहाँ निषेधकथन अप्रश्नपूर्वक है और व्यवच्छेद्य (निषेध) व्यङ्ग्य है, अतः यह अप्रश्नपूर्वक प्रतीयमान व्यवच्छेद्य परि-संख्या अलंकार का उदाहरण है।

भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे।
चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥५२४॥

(सू० १८६) यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता।
तदा कारणमाला स्यात् ... ...॥

उत्तरमुत्तरं प्रति यथोत्तरम्। उदाहरणम्—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥५२५॥

---

(४) अप्रश्नपूर्वक वाच्यव्यवच्छेद्य परिसंख्या का उदाहरण

अनुवाद—प्रायः महापुरुषों की भक्ति शिव में होती है, सम्पत्ति में नहीं। व्यसन शास्त्र में होता है, युवतिरूप कामदेव के अस्त्र में नहीं। चिन्ता यश में होती है, शरीर में नहीं देखी जाती ॥५२४॥

विमर्श—यहाँ पर महापुरुषों के शिव के प्रति भक्ति आदि के कथन के द्वारा सम्पत्ति आदि में आसक्ति (भक्ति) का निषेध किया गया है। यह कथन अप्रश्नपूर्वक है और व्यवच्छेद्य (निषेध) वाच्य है अतः यह अप्रश्नपूर्वक वाच्यव्यवच्छेद्य परिसंख्या अलंकार का उदाहरण है।

(३६) कारणमाला अलंकार

अनुवाद (सू० १८६)—यदि उत्तर-उत्तर अर्थ के प्रति पूर्व-पूर्व अर्थ हेतु (कारण) रूप में वर्णित हो तो कारणमाला अलंकार होता है।

उत्तर-उत्तर के प्रति यथोत्तर पद (उत्तरमुत्तरं प्रति यथोत्तरम्—यह समस्त पद है)। उदाहरण जैसे—

अनुवाद जितेन्द्रियता (इन्द्रिय-विजय) विनय का कारण है और विनय से गुण प्रकर्ष प्राप्त होता है, गुणों के प्रकर्ष से लोग अनुरक्त होते हैं और जनानुराग से सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥५२५॥

विमर्श—यहाँ पर जितेन्द्रियता से विनय, विनय से गुणप्रकर्ष, गुणप्रकर्ष से जनानुराग और जनानुराग से संपत्प्राप्ति होती है। इस प्रकार उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व अर्थ को कारण के रूप में उपनिबद्ध किया गया है, अतः यहाँ पर कारणमाला अलंकार है।

विमर्श—मम्मट ने उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व की हेतुता होने पर कारणमाला अलंकार माना है, विश्वनाथ भी इसी मत का समर्थन करते हैं, किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार की कारणमाला की

'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदतो हेतु:'

इति हेत्वलङ्कारो न लक्षितः। आयुर्घृतमित्यादिरूपो ह्येष भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभवात्।

अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः।
रम्योऽयमेति सम्प्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः ॥५२६॥

इत्यत्र काव्यरूपतां कोमलानुप्रासमहिम्नैव समाम्नासिषुर्न पुनर्हेत्वलङ्कारकल्पनयेति पूर्वोक्तकाव्यलिङ्गमेव हेतुः।

सम्भावना व्यक्त की है कि पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर की हेतुता वर्णित होने पर भी कारणमाला होती है (**तत्र पूर्वं पूर्वं कारण परं परं कार्यमित्येका (कारणमाला), पूर्वं पूर्वं कार्यं परं परं का णामित्यपरा कारणमाला**)।

भट्टोद्भट ने कार्य-कारण मूलक एक हेतु अलंकार माना है जिसका लक्षण किया है— हेतुमान् (कार्य) के साथ हेतु (कारण) का अभेद वर्णित होने पर हेतु अलंकार होता है (**अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह**)। रुद्रट का भी इसी प्रकार का कथन है (**हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद् भवेद्यत्र। सोऽलंकारो हेतुः स्यात्**...)। आचार्य मम्मट ने हेतु अलंकार का खण्डन किया है। उनके मत में काव्यलिङ्ग ही हेतु अलंकार है।

अनुवाद—**'हेतुमान् (कार्य) के साथ हेतु (कारण) का अभेद रूप से कथन हेतु अलंकार होता है'।**

इस प्रकार हेतु अलंकार का लक्षण मैंने नहीं किया है। क्योंकि 'आयुर्घृतम्' (आयु घी है) आदि के समान वैचित्र्य (चमत्कार) का अभाव होने से यह कदापि अलंकार कहलाने योग्य नहीं है।

जहाँ निरन्तर कमलों का विकास है, समस्त भौरों का मदरूप है, कोयलों का आनन्द रूप है, लोक को उत्कण्ठित करने वाला यह रमणीय वसन्त काल आ रहा है ॥५२६॥

यहाँ पर (भामह आदि आचार्यों ने) कोमल अनुप्रास के कारण ही काव्यरूपता का प्रतिपादन किया है, न कि हेतु अलंकार की कल्पना के द्वारा। इसलिए पूर्वोक्त काव्यलिङ्ग ही हेतु अलंकार है।

विमर्श—भट्टोद्भट तथा रुद्रट आदि आचार्यों ने मम्मटोक्त काव्यलिङ्ग और कारणमाला से भिन्न हेतु नामक अलग अलंकार माना है। मम्मट ने 'हेतु' नामक अलंकार को अलग नहीं माना है। उनके मतानुसार काव्यलिङ्ग अलंकार का ही

(सू० १८७) ... ... क्रियया तु परस्परम् ॥१२०॥

वस्तुनोर्जनने ऽन्योन्यम् ... ...॥

अर्थयोरेकक्रियामुखेन परस्परं कारणत्वे सति अन्योन्यनामालंकारः।

उदाहरणम् -

हंसाणं सरेहिं सिरी सारिज्जइ अह सराणं हंसेहिं।
अण्णोऽण्णं विअ एए अप्पाणं णवर गरुअन्ति ॥५२७॥

[हंसानां सरोभिः श्रीः सार्यते अथ सरसां हंसैः।
अन्योन्यमेव एते आत्मानं केवलं गरयन्ति ॥५२७॥

(इति संस्कृतम्)

अत्रोभयेषामपि परस्परजनकता मिथः श्रीसारता सम्पादनद्वारेण।

दूसरा हेतु अलंकार है। मम्मट का कथन है कि वैचित्र्य (चमत्कार) ही अलंकार है (वैचित्र्यमलंकारः)। 'आयुर्घृतम्' (आयु घी है) में जो कार्यकारणभाव का अभेद बताया गया है, उसमें कोई चमत्कार (वैचित्र्य) नहीं है। अतः उसे अलंकार मानना ठीक नहीं है। इस पर कहते हैं कि 'अविरलकमलविकासः' इत्यादि को उद्भट ने हेतु अलंकार का उदाहरण माना है। यदि आप हेतु अलंकार को नहीं मानते हैं तो यहाँ पर भामह आदि प्राचीन आचार्यों के मत में काव्यरूपता मानने में विरोध होगा। इस पर मम्मट कहते हैं कि यहाँ पर भामह आदि आचार्यों ने जो काव्यरूपता मानी है, वह कोमल अनुप्रास के कारण न कि हेतु अलंकार के कारण अर्थात् हेतु अलंकार के कारण उक्त उदाहरण में काव्यरूपता नहीं मानी है। अतः हेतु अलंकार मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

(४०) अन्योन्य अलंकार

अनुवाद (सू० १८७)—क्रिया के द्वारा दो वस्तुओं का परस्पर उत्पादन में 'अन्योऽन्य' अलंकार होता है।

जहाँ दो पदार्थों के एक क्रिया (एकजातीय क्रिया) के द्वारा परस्पर कारण होने पर 'अन्योन्य' नामक अलङ्कार होता है।

विमर्श—रुय्यक ने अन्योऽन्य अलंकार का लक्षण किया है 'परस्परं क्रियाजननेऽन्योन्यम्'। इसी आधार पर मम्मट ने अपना लक्षण परिष्कृत किया है।

उदाहरण—

अनुवाद—हंसों की शोभा सरोवरों के द्वारा बढ़ती है और सरोवरों की शोभा हंसों के द्वारा (बढ़ती है)। ये दोनों एक दूसरे के द्वारा अपने ही गौरव को बढ़ाते हैं ॥५२७॥

(सू० १८८) ················उत्तरश्रुतिमात्रतः ।

प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वासति ॥१२१॥

असकृद्यदसम्भाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम् ।

(१) प्रतिवचनोपलम्भादेव पूर्ववाक्यं यत्र कल्प्यते, तदेकं तावदुत्तरम् ।

उदाहरणम्—

वाणिअअ हत्थिदन्ता कुत्तो अम्हाणं वग्घकित्तीअ ।
जाव लुलिआ अमुहीं घरम्मि परिसक्कए सोण्हा ॥५२८॥

[वाणिजक ! हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च ।
यावत् लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा ॥५२८॥]

(इति संस्कृतम्)

हस्तिदन्तव्याघ्रकृत्तीनामहमर्थी ता मूल्येन प्रयच्छेति क्रेतुर्वचनम् अमुना वाक्येन समुन्नीयते ।

यहाँ पर परस्पर (एक दूसरे की) श्री-वृद्धि के सम्पादन के द्वारा दोनों एक दूसरे के जनक (कारण) हैं ।

विमर्श—यहाँ पर प्रस्तुत उदाहरण में सरोवर और हंस दोनों में परस्पर जन्य-जनकभाव की सम्भावना की गई है । वस्तुतः दो पदार्थ एक दूसरे के जनक नहीं हो सकते, किन्तु यहाँ पर हंसों के प्रति सरोवरों का कारणता और सरोवरों के प्रति हंसों की कारणता परस्पर शोभा-वृद्धि के सम्पादन रूप क्रिया के कारण है । इसीलिए दोनों में जन्य-जनकभाव की कल्पना की गई है । अतः यहाँ अन्योन्य अलंकार है ।

(४१) उत्तर अलंकार

अनुवाद (सू० १८८)—उत्तर के श्रवण मात्र से जहाँ प्रश्न की कल्पना कर ली जाती है अथवा प्रश्न होने पर अनेक बार असम्भाव्य उत्तर दिया जाता है, वहाँ उत्तर अलङ्कार होता है ।

जहाँ पर प्रतिवचन अर्थात् उत्तर के श्रवण से ही पूर्व वाक्य (प्रश्न) की कल्पना कर ली जाती है, वह एक (प्रथम) प्रकार का उत्तर अलङ्कार होता है । उदाहरण—

अनुवाद—हे वणिक् ! जब तक चञ्चल घुंघराले अलकों (बालों) से युक्त मुख वाली पुत्रवधू घर में विचरण करती है तब तक हमारे घर में हाथी दाँत और व्याघ्रचर्म कहाँ (मिल सकते हैं ?) (क्योंकि पुत्रवधू में आसक्त मेरा पुत्र शिकार के लिए नहीं जाता, यह व्यङ्ग्य है) ॥५२८॥

न चैतत् काव्यलिङ्गम्, उत्तरस्य ताद्रूप्यापत्तेः। नहि प्रश्नस्य प्रतिवचनं जनको हेतुः। नापीदमनुमानम्, एकधर्मिनिष्ठतया साध्य-साधनयोर्निर्देशादित्यलङ्कारान्तरमेवोत्तरं साधीयः।

(२) प्रश्नादनन्तरं लोकातिक्रान्तगोचरतया यदसम्भाव्य रूपं प्रतिवचनं स्यात्तदपरमुत्तरम्। अनयोश्च सकृदुपादाने न चारुताप्रतीतिरित्यसकृदित्युक्तम्। उदाहरणम्—

हाथी दाँत और व्याघ्रचर्म मैं लेना चाहता हूँ, उसे मूल्य लेकर दे दो, इस प्रकार क्रेता (खरीददार) का वचन (पूर्ववाक्य, प्रश्न) व्याध के इस वचन से कल्पित कर ली जाती है। (इस प्रकार यहाँ उत्तर अलङ्कार है।)

विमर्श—कोई व्यापारी किसी व्याध के घर जाकर कहता है कि मुझे हाथीदाँत और व्याघ्रचर्म चाहिए, मूल्य लेकर दे दो। इस पर व्याध कहता है कि हे वणिक्! जब तक यह घुँघराले बालों वाली पुत्रवधू मेरे घर में है तब तक हाथीदाँत और व्याघ्रचर्म कहाँ से मिल सकता है? क्योंकि पुत्रवधू में आसक्त मेरा बेटा शिकार के लिए जंगल में नहीं जायेगा तो हाथीदाँत और व्याघ्रचर्म कहाँ से आयेगा? इस प्रकार उत्तरवाक्य के द्वारा पूर्ववाक्य की कल्पना कर ली जाती है, इसलिए यहाँ उत्तर अलंकार है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यहाँ पर प्रश्न और उत्तर में कार्य-कारण-भाव होने से काव्यलिङ्ग अलंकार क्यों नहीं मान लिया जाता? क्योंकि उत्तर श्रवण से प्रश्न का उन्नयन कार्य से कारण का ज्ञान है। अतः इसे काव्यलिङ्ग अलंकार माना जा सकता है। अथवा कार्यकारण भाव होने में इसे अनुमान में अन्तर्भाव किया जा सकता है। इस प्रश्न का समाधान करते हुए मम्मट कहते हैं—

अनुवाद—यह काव्यलिङ्ग अलंकार नहीं है (अर्थात् इसे काव्यलिङ्ग अलंकार नहीं माना जा सकता है); क्योंकि उत्तरवाक्य हेतु रूप नहीं हो सकता; क्योंकि उत्तर प्रश्न का जनक (कारक) हेतु नहीं है।

भाव यह है कि हेतु दो प्रकार के होते हैं—कारक और ज्ञापक। इनमें काव्यलिङ्ग अलंकार में केवल कारक हेतु होता है, ज्ञापक हेतु उसका विषय नहीं होता। यहाँ उत्तर वाक्य प्रश्न का ज्ञापक हेतु है, यह कारक हेतु हो ही नहीं सकता। अतः इसे काव्यलिङ्ग अलंकार नहीं कहा जा सकता।

अब प्रश्न यह है कि अनुमान में तो ज्ञापक हेतु अपेक्षित है और उत्तर भी प्रश्न का ज्ञापक हेतु है अतः इसे अनुमान अलंकार में अन्तर्भाव क्यों नहीं मान लेते? इस पर कहते हैं—

का विसमा देव्वगई किं लद्धं जं जणो गुणग्गाही ।
किं सोक्खं सुकलत्तं किं दुःखं जं खलो लोओ ।।५२६।।
[का विषमा दैवगतिः किं लब्धव्यं यज्जनो गुणग्राही ।
किं सौख्यं सुकलत्रं किं दुःखं यत्खलो लोकः ।।५२६।।]
(इति संस्कृतम्)

प्रश्नपरिसंख्यायामन्यव्यपोहे एव तात्पर्यम् । इह तु वाच्ये एव विश्रान्तिरित्यनयोर्विवेकः ।

अनुवाद—यह अनुमान अलंकार भी नहीं हो सकता । क्योंकि एक धर्मिनिष्ठ साध्य और साधन दोनों का निर्देश होने से उत्तर को अन्य अलंकार ही मानना उचित है ।

भाव यह है कि अनुमान में साध्य और साधन दोनों का निर्देश एकधर्मी पक्ष) में रहता है अर्थात् अनुमान में साध्य (अग्नि) और साधन (धूम) दोनों एक धर्मिनिष्ठ अर्थात् धूम और वह्नि दोनों पक्ष (पर्वत) में रहते हैं किन्तु यहाँ उत्तर अलंकार में साधन (उत्तर वाक्य) व्याधनिष्ठ है और साध्य रूप प्रश्न वणिक्‌निष्ठ है । अतः दोनों के एक धर्मिनिष्ठ न होने से अनुमान में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता । अतः उत्तर अलंकार काव्यलिङ्ग और अनुमान दोनों से भिन्न अलंकार है ।

अनुवाद (वृत्ति)—जहाँ पर प्रश्न के अनन्तर लोकातिक्रान्तगोचर अर्थात् अलौकिक असम्भाव्य सा उत्तर दिया जाता है, वह दूसरे प्रकार का उत्तर अलंकार है । इन दोनों के एक बार कथन होने पर चमत्कार की प्रतीति नहीं होती, इसलिए अनेक बार कहा गया है ।

उदाहरण—

अनुवाद—कौन सी वस्तु विषम (विकट) है ? दैव की गति । क्या प्राप्त करने योग्य है ? गुणग्राही व्यक्ति । सुख क्या है ? उत्तम (कुलीन) नारी और दुःख क्या है ? दुर्जन मनुष्य ।।५२६।।

विमर्श- यहाँ पर 'विषमा' आदि अनेक बार किये गये प्रश्नों के 'दैवगति' आदि अनेक बार उत्तर दिये गये हैं । ये सर्वजनवेद्य नहीं, अपितु अलौकिक उत्तर हैं, इसलिए यहाँ पर उत्तर अलंकार है ।

! अब प्रश्न यह उठता है कि प्रश्नपूर्विका परिसंख्या अलंकार में भी प्रश्न और

(सू० १९०) कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते ॥१२२॥
धर्मेण केनचिद् यत्र तत् सूक्ष्मं परिचक्षते ।

कुतोऽपि आकारादिङ्गिताद्वा । सूक्ष्मस्तीक्ष्णमतिसंवेद्यः उदाहरणम्—

वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे ।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख ॥५३०॥

उत्तर का कथन होता है, फिर भी यह उत्तर अलंकार से भिन्न होता है। इसी बात को मम्मट कहते हैं—

अनुवाद—प्रश्नपूर्विका परिसंख्या में अन्य की व्यावृत्ति में ही तात्पर्य होता है किन्तु यहाँ पर तो वाच्य में ही विश्रान्ति हो जाती है यही इन दोनों में भेद है।

(४२) सूक्ष्म अलंकार

अनुवाद (सू० १९०)—जहाँ सूक्ष्म अर्थ भी किसी कारण से जान लिया गया (सूक्ष्म पदार्थ भी) किसी धर्म (स्मारक) से दूसरे को बतलाई जाती है, उसे 'सूक्ष्म' अलंकार कहते हैं।

किसी से भी आकार से अथवा चेष्टा आदि से। सूक्ष्म अर्थात् तीव्र बुद्धि वालों के ही समझने योग्य।

विमर्श—भामह सूक्ष्म को अलंकार नहीं मानते, उनका कहना है कि इसमें कोई वैचित्र्य नहीं रहता। किन्तु दण्डी तथा रुय्यक आदि इसे अलंकार की मान्यता देते हैं। दण्डी के अनुसार इङ्गित (इशारा या चेष्टा विशेष) तथा आकार के द्वारा यदि सूक्ष्म अर्थ का ज्ञान हो तो उसे सूक्ष्म अलंकार कहते हैं। (**इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः**) । किन्तु मम्मट का सूक्ष्मालंकार का स्वरूप अन्य प्रकार का है। मम्मट कि मत में सूक्ष्म अर्थ को किसी तरह जानकर उसे दूसरे के लिए प्रकाशित करना सूक्ष्म अलंकार है और दण्डी ने इङ्गित अथवा आकार के द्वारा सूक्ष्म अर्थ के अभिधान को सूक्ष्म कहा है। मम्मट रुय्यक के सूक्ष्मालंकार के लक्षण से प्रभावित जान पड़ते हैं। रुय्यक के अनुसार इङ्गित अथवा आकार के द्वारा संलक्षित सूक्ष्म अर्थ का प्रकाशन सूक्ष्म अलंकार है (**संलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम्**)। यह सूक्ष्म अलंकार दो प्रकार का होता है (१) आकार से लक्षित का प्रकाशन तथा (२) इङ्गित से लक्षित का प्रकाशन।

प्रथम आकार से लक्षित का प्रकाशन रूप सूक्ष्म अलंकार का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—किसी चतुर सखी ने नायिका के मुख से टपकते हुए पसीने की बूँदों की धारा से गले में लगे हुए कुंकुम लेप को बिगड़ा हुआ देखकर, मुस्करा कर कृशाङ्गी नायिका के पुरुषत्व को अभिव्यक्त करते हुए उसके हाथ पर तलवार का चिह्न बना दिया ॥५३०॥

अत्राकृतिमवलोक्य कयापि पुरुषायितम्, असिलतालेखनेन वैदग्ध्यादभिव्यक्तिमुपनीतम्। पुंसमिव कृपाणपाणिसितयोग्यत्वात्।

यथा वा—

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
ईषन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥५३१॥

अत्र जिज्ञासितः संकेतकालः कयाचिदिङ्गितमात्रेण विदितो निशासमयशंसिना कमलनिमीलनेन लीलया प्रतिपादितः।

(सू० १९०) उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः ॥१२३॥

परःपर्यन्तभागोऽवधिर्यस्य धाराधिरोहितया तत्रैवोत्कर्षस्य विश्रान्तेः। उदाहरणम्—

राज्ये सारं वसुधा वसुधायां पुरं पुरे सौधम्।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥५३२॥

यहाँ पर आकृति को देखकर किसी ने (नायिका के) पुरुषायित रति-क्रीड़ा को जान लिया और तलवार का चिह्न अङ्कन करने की युक्ति से (चतुराई से) उसे प्रकाशित कर दिया। क्योंकि पुरुषों के ही हाथ में ही कृपाण का होना उचित है। अथवा जैसे—

अनुवाद—किसी विदग्धा (चतुर नायिका) ने कुछ-कुछ नेत्रों के संकेत से अपने अभिप्राय को प्रकट करने वाले नायक को संकेतकाल को जानने का उत्सुक जानकर लीला कमल को बन्द कर दिया ॥५३१॥

यहाँ पर 'नायक संकेत काल जानने के लिए उत्सुक है' इस सूक्ष्म अर्थ को किसी नायिका ने इङ्गित मात्र से समझ लिया। अतः रात्रि के समय का सूचक कमल के निमीलन के द्वारा लीलापूर्वक प्रकट कर दिया।

(४३) सार अलंकार

अनुवाद (सू० १९०)—जहाँ पर उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन चरम-सीमा पर हो वहाँ 'सार' अलंकार होता है ॥१२३॥

पर अर्थात् अन्तिम भाग जिसकी अवधि (सीमा) है, क्योंकि वहीं पर (उसी चरम सीमा में) उत्कर्ष की विश्रान्ति होती है। उदाहरण—जैसे—

राज्य का सार पृथ्वी है, पृथ्वी पर नगर, नगर में राजमहल (सौध) राजमहल में शय्या और शय्या का सार कामदेव की सर्वस्व वराङ्गना नारी है ॥५३२॥

(सू० १६१) भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः ।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसङ्गतिः ॥१२४॥

इह यद्देशं कारणं तद्देशमेव कार्यमुत्पद्यमानं दृष्टं यथा धूमादि। यत्र तु हेतुफलरूपयोरपि धर्मयोः केनाप्यतिशयेन नानादेशतया युगपदवभासनम्, सा तयोः स्वभावोत्पन्नपरस्परसङ्गतित्यागादसङ्गतिः। उदाहरणम्—

जस्सेअ वणो तस्सेअ वे अणा भणइ तं जणो अलिअं।
दन्तक्खअं कवोले वहूए वे अणा सवत्तीणं ॥५३३॥

[यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना भणति तज्जनोऽलीकम्।
दन्तक्षतं कपोले वध्वा वेदना सपत्नीनाम् ॥५३३॥]

(इति संस्कृतम्)

विमर्श—यहाँ पर पूर्व-पूर्व-वर्णित वस्तु का उत्कर्ष सुन्दरी नारी में चरमसीमा पर पहुँच जाता है अर्थात् वराङ्गना नारी की उत्कृष्टता में पर्यवसित हो जाता है, अतः यहाँ सार नामक अलंकार है।

(४४) असंगति अलंकार

अनुवाद (सू० १९१)—जहाँ कार्य-कारण रूप दो धर्मों की अत्यन्त भिन्न दशा में एक साथ प्रतीति (ख्याति) हो, वहाँ असंगति अलंकार होता है ॥१२४॥

अनुवाद (वृत्ति)—लोक में जिस स्थान पर कारण रहता है, उसी स्थान पर कार्य उत्पन्न हुआ देखा जाता है, जैसे धूमादि और जहाँ पर कार्य-कारण रूप दो धर्मों का किसी विशेषता के कारण भिन्न स्थानों पर एक साथ प्रतीति होती है, वह उन दोनों के स्वभाव से उत्पन्न (स्वभावज) परस्पर संगति का त्याग कर देने से असंगति अलंकार होता है।

विमर्श—'असङ्गति' का अर्थ है उचित सङ्गति का अभाव अर्थात् कार्य और कारण के भिन्न देश में एक साथ अवस्थान (स्थिति) असङ्गति है। (**कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिः**)। तात्पर्य यह है कि जिस स्थान पर कारण होता है उसी स्थान पर कार्य देखा जाता है, जैसे, रसोईघर में धुँआ (कारण) रहता है तो वहाँ अग्नि (कार्य) भी रहता है। किन्तु जब कार्य और कारण का स्थान भिन्न-भिन्न बताया जाता है तो असङ्गति अलंकार होता है। क्योंकि वहाँ कविप्रतिभा का काव्य-वैचित्र्य दिखाई देता है।

उदाहरण जैसे—

अनुवाद—'जिसके घाव होता है, उसे ही पीड़ा होती है' यह बात लोग झूठ कहते हैं, क्योंकि दन्तक्षत वधू के कपोल पर होता है और वेदना (पीड़ा) सौत को होती है ॥५३३॥

एषा च विरोधबाधिनी न विरोधः, भिन्नाधारतयैव द्वयोरिह विरोधितायाः प्रतिभासात् । विरोधे तु विरोधित्वम् एकाश्रयनिष्ठमनुक्तमपि पर्यवासितम् । अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गस्य व्यवस्थितेः । तथा चैवं निर्दशितम् ।

(सू० १९२) समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः ।

साधनान्तरोपकृतेन कर्त्रा यदक्लेशेन कार्यमारब्धं समाधीयते स समाधिर्नाम । उदाहरणम्—

मानमस्या निराकर्त्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।
उपकाराय दृष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥५३४॥

विमर्श—यहाँ पर दन्तक्षत कारण है और वेदना कार्य । यहाँ पर दोनों के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थिति का वर्णन है । क्योंकि दन्तक्षत तो वधू के कपोल पर है और वेदना सौतों के हृदय में, इस प्रकार के विशेष अर्थ के प्रतिपादन ही इस कथन का प्रयोजन है । इसलिए यहाँ असङ्गति अलंकार है ।

अनुवाद—(असंगति और विरोधाभास में अन्तर)—यह असंगति अलंकार विरोधाभास का बाधक है, विरोध (अलंकार) रूप नहीं । यहाँ पर भिन्न-भिन्न आधार होने से दोनों का विरोध प्रतिभासित होता है । विरोध अलंकार में तो बिना कहे भी एकाश्रय में रहने वाली विरोधिता ही फलित होती है । अपवाद विषयकता परित्याग द्वारा ही उत्सर्ग (सामान्य) की व्यवस्था होती है और ऐसा दिखाया भी गया है ।

विमर्श—यहाँ पर यह बताया गया है कि असङ्गति विरोधाभास से भिन्न अलंकार है क्योंकि जहाँ पर भिन्न आश्रय में रहने वाले धर्मों का एकाश्रयनिष्ठ होने से विरोध प्रतीत होता है और जहाँ समानाधिकरण धर्मों की वैयधिकरण्येन प्रतीति के कारण विरोध का भान होता है वहाँ असङ्गति अलंकार होता है । विरोध सामान्य (उत्सर्ग) है और असङ्गति अपवाद । यहाँ अपवाद से उत्सर्ग का बाधक होता है ।

(४५) समाधि अलंकार

अनुवाद (सू० १९२)—जहाँ अन्य कारण के योग से कार्य सुकर हो जाता है, वह समाधि अलंकार कहलाता है ।

जहाँ अन्य साधनों की सहायता प्राप्त हो जाने से कर्त्ता प्रारम्भ किये हुए कार्य को सरलता से समाधान कर लेता है, वहाँ समाधि नामक अलंकार होता है । उदाहरण जैसे—

अनुवाद—इस नायिका के मान को दूर करने के लिए (उसके) पैरों पर गिरते ही मेरे उपकार (सहायता) के लिए सौभाग्य से मेघगर्जना होने लगी ॥५३४॥

(सू० १९३) समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित् ॥१२५॥

इदमनयोः श्लाघ्यमिति योग्यतया सम्बन्धस्य नियतविषयमध्यवसानं चत्तदा समम् । तत्सद्योगेऽसद्योगे च । उदाहरणम्—

धातुः शिल्पातिशयनिकषस्यानमेषा मृगाक्षी
रूपे देवोऽप्ययमनुपमो दत्तपत्रः स्मरस्य ।
जातं दैवात्सदृशमनयोः सङ्गतं यत् तदेतत्
शृङ्गारस्योपनतमधुना राज्यमेकातपत्रम् ॥५३५॥

विमर्श—यहाँ पर पाद-पतन रूप कारण के द्वारा मान-निराकरण रूप कार्य अचानक घनगर्जन रूप अन्य कारण की सहायता से सुकर हो गया है, अतः यह समाधि नामक अलंकार का उदाहरण है।

(४६) सम अलंकार

अनुवाद (सू० १९३)—यदि कहीं दो विशेष वस्तुओं का सम्बन्ध योग्यता के कारण सम्भावित (लोकसम्मत) हो तो वहाँ 'सम' नामक अलंकार होता है ॥१२५॥

यह इन दोनों का सम्बन्ध श्लाघनीय है, इस प्रकार-योग्य होने से (योग्यता के कारण) नियत वस्तुओं का सम्बन्ध का निश्चय होता है तो सम नामक अलंकार होता है । यह सद्वस्तुयोग और असद्वस्तु के योग से दो प्रकार का होता है । उदाहरण, जैसे—

अनुवाद— यह मृगनयनी ब्रह्मा के निर्माण कौशल की कसौटी है और रूप सौन्दर्य में अनुपम यह राजा भी (सौन्दर्य के विषय में) कामदेव को प्रमाण-पत्र दे चुका है, सौभाग्य से जो इन दोनों का यह उचित मिलन (योग) हुआ है, इससे इस समय यहाँ शृङ्गार का एकच्छत्र राज्य आ गया है ॥५३५॥

विमर्श—यहाँ पर मृगनयनी नायिका तथा कामदेव से भी अधिक सुन्दर राजा दोनों शोभन वस्तुओं का संयोग (मिलन) वर्णित है, अतः सद्वस्तुयोग 'सम' अलंकार का उदाहरण है।

चित्रं चित्रं बत बत महच्चित्रमेतद्विचित्रं
जातो दैवादुचितरचना संविधाता विधाता।
यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया
यच्चैतस्याः कवलनकला कोविदः काकलोकः ॥५३६॥

(सू० १९४) क्वचिद्यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात्।
कर्त्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद् भवेत् ॥१२६॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये।
क्रमेण च विरुद्धे यत्स एष विषमो मतः ॥१२७॥

द्वयोरत्यन्तविलक्षणतया यद् अनुपपद्यमानतयैव योगः प्रतीयते (१)। यच्च किञ्चिदारभमाणः कर्त्ता क्रियायाः प्रणाशात् न केवलमभीष्टं यत्फलं न लभेत यावदप्रार्थितमप्यनर्थं विषयमासादयेत् (२)। तथा सत्यपि कार्यस्य कारणरूपानुकारे यत् तयोर्गुणौ क्रिये च परस्परं विरुद्धतां व्रजतः (३-४)। स समविपर्ययात्मा चतूरूपो विषमः।

अनुवाद - आश्चर्य ! आश्चर्य ! अहो ! यह महान् आश्चर्य विचित्र है कि ब्रह्मा सौभाग्य से उचित रचना करने वाला हो गया है; क्योंकि जिसने नीम के पके हुए फलों (निमकौड़ियों) की समृद्धि को आस्वादनीय बनाया है और उसके खाने की कला में निपुण कौओं को भी बनाया है ॥५३६॥

विमर्श—यहाँ पर नीम के फल और कौवों दोनों निकृष्ट वस्तुओं के योग (सम्बन्ध) का औचित्य वर्णित है, अतः असद्वस्तुयोग 'सम' अलंकार का उदाहरण है।

(४७) विषम अलंकार

अनुवाद (सू० १९४)—कहीं (दो सम्बन्धियों का) सम्बन्ध (श्लेष) अत्यन्त वैधर्म्य के कारण परस्पर अनुपपन्न प्रतीत हो, कर्त्ता को क्रिया के फल की प्राप्ति न हो सके और अनर्थ हो जाय, कार्य के गुण तथा क्रिया से कारण के गुण तथा क्रिया का क्रमशः विरोध (वैपरीत्य) हो, वह विषम अलङ्कार कहलाता है ॥१२६-१२७॥

क्रमेणोदाहरणम्--

शिरीषादपि मृद्वङ्गी केयमायतलोचना।
अयं क्व च कुकूलाग्निकर्कशो मदनानलः ।।५३७।।
सिंहिकासुतसंत्रस्तः शशः शीतांशुमाश्रितः।
जग्रसे साश्रयं तत्र तमन्यः सिंहिकासुतः ।।५३८।।

अनुवाद (वृत्ति)—(१) दो सम्बद्ध पदार्थों का अत्यन्त विलक्षणता के कारण जो उनका सम्बन्ध अनुपपन्न सा प्रतीत होता है (वह प्रथम प्रकार का विषम अलंकार है)। (२) जो किसी कार्य को आरम्भ करने वाला कर्त्ता, क्रिया के नष्ट हो जाने से केवल अभीष्ट फल की प्राप्ति से ही वञ्चित नहीं रहता, अपितु अप्रार्थित (अनभीष्ट) अनर्थ को प्राप्त करता है (वह द्वितीय प्रकार का विषम अलङ्कार होता है)। (३) कार्य के कारण के अनुरूप होने पर भी कार्य के गुण का कारण के गुण से विरोध होने पर (तृतीय प्रकार का विषम अलङ्कार होता है) और (४) कार्य के कारण का अनुसरण करने पर भी कार्य की क्रिया का कारण की क्रिया से विरोध हो तो (चतुर्थ प्रकार का विषम अलङ्कार होता है।) इस प्रकार वह सम का विपरीत रूप वाला चार प्रकार का विषम अलङ्कार होता है। क्रमशः उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—शिरीष के फूल से भी कोमल अंगों वाली कहाँ यह विशाललोचना नायिका? और कहाँ तुषग्नि के समान यह दुःसह कामाग्नि? ।।५३७।।

विमर्श—यहाँ पर नायिका और कामाग्नि का सम्बन्ध अत्यन्त विलक्षण होने के कारण अनुपपन्न सा प्रतीत हो रहा है, अतः यहाँ प्रथम प्रकार का विषम अलंकार है।

अनुवाद—शेरनी (सिंहिका-शेरनी) के बच्चे से डरा हुआ (शश अथवा मृग) चन्द्रमा की शरण में गया, किन्तु दूसरे सिंहिकापुत्र राहु ने आश्रय (चन्द्रमा) के साथ उसे भी ग्रस लिया ।।५३८।।

विमर्श—यहाँ पर मृग अथवा शश ने सिंहिकासुत के भय से चन्द्रमा का आश्रय लिया, किन्तु उसे इष्टफल की प्राप्ति नहीं हुई अपितु उलटे राहु के द्वारा ग्रसन रूप अनर्थ को प्राप्त हो गया, अतः यह द्वितीय प्रकार का विषम अलंकार का उदाहरण है।

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते ॥५३९॥

आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ददासि त्वम् ।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ॥५४०॥

अत्रानन्ददानं शरीरतापेन विरुध्यते । एवम्

विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये ।
मदविभ्रमासकलया पपे पुनः सः पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥५४१॥

इत्यादावपि विषमत्वं यथायोगमवगन्तव्यम् ।

अनुवाद—यह आश्चर्य है कि प्रत्येक युद्ध में जिसमें हाथ का स्पर्श पाकर तमाल के समान काली तलवार तुरन्त ही तीनों लोकों के आभरण रूप, शरत्कालीन चन्द्रमा के समान शुभ्रवर्ण यश को उत्पन्न करती है ॥५३९॥

विमर्श—यहाँ पर कार्यरूप यश और कारणभूत तलवार दोनों के शुभ्र एवं कृष्ण गुण एक दूसरे के विपरीत हैं । अतः यहाँ तृतीय प्रकार का विषमालंकार है ।

अनुवाद—हे कमल दल के समान नेत्रों वाली ! (संयोग में) तुम अमित आनन्द देती हो और तुम्हारे द्वारा उत्पन्न विरह (वियोग) मेरे शरीर को अत्यन्त संतप्त करता है ॥५४०॥

यहाँ पर आनन्द प्रदान शरीर-संताप के साथ विरोध है ।

विमर्श—यहाँ पर नायिका कारण है और उसके द्वारा उत्पन्न वियोग कार्य है । यहाँ नायिका के आनन्द-प्रदान रूप क्रिया तथा उसके वियोग की संताप देने वाली क्रिया में परस्पर विरोध है । अतः यह चतुर्थ प्रकार के विषमालंकार का उदाहरण है ।

इसी प्रकार—

अनुवाद—समुद्र में शयन करने वाले जिस विष्णु के विशाल उदर ने प्रलय काल में चौदह लोकों का पान कर लिया था, उस विष्णु को नगर की एक स्त्री ने मद के हाव-भावों से अर्ध निमीलित एक ही नेत्र से पी लिया अर्थात् नेत्र में समा लिया ॥५४१॥

इत्यादि में भी यथायोग्य विषम अलङ्कार समझना चाहिए ।

(सू० १९५) महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ॥१२८॥

आश्रितमाधेयम् । आश्रयस्तदाधारः । तयोर्महतोरपि विषये तदपेक्षया तनू अप्याश्रयिणौ प्रस्तुतवस्तुप्रकर्षविवक्षया यथाक्रमं यद् अधिकतरतां व्रजतः तदिदं द्विविधम् अधिकं नाम । क्रमेणोदाहरणम्—

अहो विशालं भूपाल ! भुवनत्रितयोदरम् ।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते ॥५४२॥

विमर्श—यहाँ पर विष्णु का उदर पान क्रिया का कर्त्ता है और शरीर पान क्रिया का कर्म है । इस प्रकार यहाँ अवयव और अवयवी के सम्बन्ध की विषमता है । अतः यहाँ विषम अलंकार है । उद्योतकार के अनुसार यहाँ पर समुद्र में शयन और समुद्रसन्ति समस्त भुवन का पान करना यह एक प्रकार की विषमता है और जिस विष्णु का एक अवयव उदर ने समस्त लोक को पी लिया, उस समस्त अवयवों से युक्त विष्णु को एक दृष्टि से पान करना यह दूसरी विषमता है ।

(४८) अधिक अलंकार

अनुवाद (सू० १९५)—जहाँ पर महान् (बड़े) आधेय और आधार के क्रमशः आधार और आधेय के छोटे होने पर भी अधिक बड़े वर्णित किये जायें, वह 'अधिक' अलङ्कार कहलाता है ॥१२८॥

आश्रित का अर्थ आधेय है और आश्रय उसका आधार है । उन दोनों के महान् (बड़े) होने पर भी उनकी अपेक्षा छोटे भी आधार और आधेय प्रस्तुत वस्तु के उत्कर्ष कहने की इच्छा से यथाक्रम जो अधिक (बढ़ा-चढ़ाकर) वर्णित किये जाते हैं, वह दो प्रकार का अधिक अलङ्कार होता है । क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—हे महाराज ! यह तीनों लोकों का उदर बहुत बड़ा है, जिसमें आपकी यशोराशि अपरिमेय होने पर भी समा गया है ॥५४२॥

विमर्श—यहाँ पर यश आधेय है और उसका आधार भुवनत्रय छोटा है, किन्तु यहाँ यशोराशि के अधिक होने पर भी उसकी अपेक्षा अत्यन्त लघु (छोटे) आधार भुवनत्रय की विशालता का वर्णन यशोराशि के उत्कर्ष का बोधक होने से सौन्दर्य (चारुत्व) का हेतु है, अतः यह अधिक अलंकार का उदाहरण है ।

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ।।५४३।।

(सू० १९९) प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्त्तुं तिरस्क्रिया ।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ।।१२९।।

न्यक्कृतिपरमपि विपक्षं साक्षान्निरसितुमशक्तेन केनापि यत् तमेव प्रतिपक्षमुत्कर्षयितुं तदाश्रितस्य तिरस्करणम् तदनीकप्रतिनिधितुल्यत्वात् प्रत्यनीकमभिधीयते । यथाऽनीकेऽभियोज्ये तत्प्रतिनिधिभूतमपरं मूढतया केनचिदभियुज्यते, तथेह प्रतियोगिनि विजेये तदीयोऽन्य विजीयत इत्यर्थः ।

अनुवाद—प्रलयकाल में समस्त प्राणियों को अपने में समेट लेने वाले विष्णु भगवान् जिस शरीर में सारा लोक विस्तार के साथ समा गया था, भगवान् कृष्ण के उस शरीर में तपोधन नारद के आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता नहीं समा सकी ।।५४३।।

विमर्श—यहाँ पर आधेय प्रसन्नता का आधिक्य वर्णित है । यहाँ पर आधारभूत भगवान् कृष्ण के शरीर की अत्यन्त विशालता बतलाई गई है जो नारदमुनि के आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता की अपेक्षा लघु है, किन्तु यहाँ लघु प्रसन्नता का जो आधिक्य वर्णन किया गया है वह चारुता का हेतु है । अतः यह द्वितीय प्रकार के आधिक्य अलंकार का उदाहरण है ।

(४९) प्रत्यनीक अलंकार

अनुवाद (सू० १९९)—प्रतिपक्ष (शत्रु) का प्रतिकार करने में असमर्थ व्यक्ति के द्वारा उसकी स्तुति में (उत्कर्ष) के लिए उससे सम्बन्धित वस्तु का जो तिरस्करण होता है, वह प्रत्यनीक अलङ्कार कहलाता है ।।१२९।।

अनुवाद (वृत्ति)—तिरस्कार (पराभव) में तत्पर भी शत्रु (विपक्ष) का साक्षात् अपकार करने में असमर्थ किसी व्यक्ति के द्वारा जो उसी प्रतिपक्ष (शत्रु) का उत्कर्ष करने के लिए उसके आश्रित का जो तिरस्करण, वह अनीक (सेना) के प्रतिनिधि के तुल्य होने के कारण 'प्रत्यनीक' अलङ्कार कहा जाता है । जैसे सेना के पीड़नीय होने पर किसी के द्वारा मूर्खता से उसके प्रतिनिधि भूत दूसरे को पीड़ित किया जाता है, उसी प्रकार यहाँ प्रतियोगी शत्रु के विजय करने के बदले उससे सम्बन्धित किसी दूसरे पर विजय किया जाता है, यह अर्थ है । उदाहरण जैसे—

उदाहरणम्—

त्वं विनिर्जितमनोभवरूपः सा च सुन्दर ! भवत्यनुरक्ता ।
पञ्चभिर्युगपदेव शरैस्तां तापयत्यनुशयादिव कामः ॥५४४॥

यथा वा—

यस्य किञ्चिदपकर्तुमक्षमः कायनिग्रहगृहीतविग्रहः ।
कान्तवक्त्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनाऽपि बाधते ॥५४५॥

इन्दोरत्र तदीयता सम्बन्धिसम्बन्धात् ।

अनुवाद—हे सुन्दर ! तुमने कामदेव के रूप (सौन्दर्य) को जीत लिया है और वह (नायिका) तुम पर अनुरक्त है । इसलिए कामदेव मानो द्वेष के कारण अपने पांचों बाणों से एक साथ ही उस (नायिका) को संतप्त कर रहा है ॥५४४॥

विमर्श— यहाँ पर अपने रूप को जीतने के कारण अपने शत्रुभूत नायक को जीतने में असमर्थ कामदेव उसके प्रतिनिधिभूत उसकी नायिका को पीड़ित कर रहा है । यहाँ नायक और नायिका का साक्षात् ही स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है । उससे सम्बन्धित नायिका के पीड़न से नायक के उत्कर्ष की प्रतीति होती है, अतः यह प्रथम प्रत्यनीक अलंकार का उदाहरण है ।

अथवा जैसे—

अनुवाद—शिर के काट लिये जाने के कारण वैर मानने वाला कुशल राहु जिस विष्णु का कुछ भी अपकार करने में असमर्थ होकर उसके सुन्दर मुख के समान आकार वाले चन्द्रमा को आज भी पीड़ित करता है ॥५४५॥

यहाँ पर चन्द्रमा की सम्बन्धिता सम्बन्धी (मुख) के साथ सम्बन्ध होने से है ।

विमर्श—यहाँ पर अपना शिर काटने के कारण अपने शत्रु श्रीकृष्ण को जीतने में असमर्थ राहु श्रीकृष्ण के मुख के समान आकृति वाले उनसे सम्बन्धित चन्द्रमा को पीड़ित करता है । यहाँ श्रीकृष्ण और चन्द्रमा का परम्परया सम्बन्ध है । इससे यहाँ श्रीकृष्ण के उत्कर्ष की प्रतीति होती है, अतः यहाँ द्वितीय प्रत्यनीक अलंकार का उदाहरण है ।

(सू० १९७) समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते ।
निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥१३०॥

सहजमागन्तुकं वा किमपि साधारणं यत् लक्षण तद् द्वारेण यत्किञ्चित् केनचिद्वस्तुना वस्तुस्थित्यैव बलीयस्तया तिरोधीयते तन्मीलितमिति द्विधा स्मरन्ति । क्रमेणोदाहरणम्—

अपाङ्गतरले दृशौ मधुवक्रवर्णा गिरो
विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्तं मुखम् ।
इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशः स्वतो लीलया
तदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते ॥५४६॥

अत्र दृक्तरलादिकमङ्गस्य लिङ्गं स्वाभाविकं साधारणं च मदोदयेन तत्राप्येतस्य दर्शनात् ।

---

(५०) मीलित अलंकार

अनुवाद (सू० १९७)—जहाँ पर अपने स्वाभाविक अथवा आगन्तुक साधारण चिह्न के द्वारा एक वस्तु को दूसरी वस्तु से तिरोहित कर दिया जाता है वह मीलित अलङ्कार कहलाता है ॥१३०॥

अनुवाद (वृत्ति)—स्वाभाविक अथवा आगन्तुक जो कोई साधारण लक्षण (चिह्न) है उसके द्वारा जो कोई वस्तु किसी वस्तु से वस्तुतः बलवान् होने से स्वाभाविक रूप में तिरोधान कर देता है, वह मीलित अलङ्कार दो प्रकार का होता है।

विमर्श—भाव यह कि जहाँ पर दो समान वस्तुओं में एक के स्वभावतः प्रबल होने के कारण उसके द्वारा यदि दूसरे का तिरोधान होता है तो वहाँ मीलित अलंकार होता है। यह मीलित अलंकार निज (स्वाभाविक) और आगन्तुक भेद से दो प्रकार का होता है। क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—(नायिका के) नेत्र-प्रान्त चञ्चल हो रहे हैं, वाणी मधुर तथा गूढ़ार्थ (वक्रोक्तिपूर्ण) है, गति विलास के भार से मन्द है, मुख अत्यन्त सुन्दर है। इस प्रकार मृगनयनी के अंगों में विलास (लीला) स्वयं स्फुरित हो रहा है, इसलिए इसमें मद का आविर्भाव स्थान पाया हुआ भी नहीं दिखलाई देता ॥५४६॥

ये कन्दरासु निवसन्ति सदा हिमाद्रे—
स्त्वत्पातशङ्कितधियो विवशा द्विषस्ते ।
अप्यङ्गमुत्पुलकमुद्वहतां सकम्पं
तेषामहो बत भियां न बुधोऽप्यभिज्ञः ॥५४७॥

अत्र तु सामर्थ्यादवसितस्य शैत्यस्य आगन्तुकत्वात् तत्प्रभवयोरपि कम्पपुलकयोस्ताद्रूप्यं समानता च भवेष्वपि तयोरुपलक्षितत्वात् ।

(सू० १९८) स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम् ।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥१३१॥

यहाँ पर नेत्र की चञ्चलता आदि नायिका के शरीर के स्वाभाविक चिह्न हैं, ये मदाविर्भाव के भी समान हैं । क्योंकि मदोदय में भी ये (वृक्तरत्वादि) देखे जाते हैं ।

विमर्श—यहाँ पर वृक्तरत्वादि नायिका के शरीर के स्वाभाविक चिन्ह हैं और मदोदय के समान हैं; क्योंकि ये मदोदय में भी देखे जाते हैं । इस प्रकार स्वभावतः बलवान् होने से इनके द्वारा मदोदय का तिरोधान कर दिया गया है । अतः यहाँ स्वाभाविक मीलित अलंकार है ।

अनुवाद—हे राजन् ! आपके शत्रु आपके आक्रमण के भय से विवश होकर सदा हिमालय की कन्दराओं में निवास करते हैं । कम्पमान और रोमाञ्चयुक्त शरीर को धारण करते हुए उनके भय को विद्वान् पुरुष भी नहीं जान पा रहे हैं ॥५४७॥

यहाँ पर सामर्थ्य से अवगत (जाने गये) शैत्य के आगन्तुक होने के कारण उससे (शैत्य से) उत्पन्न कम्पन और रोमाञ्च भी आगन्तुक धर्म हैं और समानता भी है । क्योंकि भय में भी उन दोनों (कम्पन और रोमाञ्च) को देखा जाता है ।

विमर्श—यहाँ पर हिमालय के सान्निध्य के कारण प्रबल शीतरूप वस्तु के द्वारा भय रूप वस्तु का तिरोधान हो जाता है, अत एव यहाँ आगन्तुक मीलित अलंकार है ।

(५१) एकावली अलंकार

अनुवाद (सू० १९८)—जहाँ पर पूर्व पूर्व वस्तु के प्रति उत्तर उत्तर वस्तु विश्लेषण रूप में स्थापित की जाती है अथवा निषिद्ध की जाती है वह दो प्रकार का एकावली अलङ्कार होता है ॥१३१॥

पूर्वं पूर्वं प्रति यथोत्तरस्य वस्तुनो वीप्सया विशेषणभावेन यत्स्थापन निषेधो वा सम्भवति सा द्विधा बुधैरेकावली भण्यते। क्रमेणोदाहरणम्—

पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्ग्यः।
रूपं समुन्मीलितसद्विलासं अस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥५४८॥

पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति उत्तर-उत्तर वस्तु का अनेक बार विश्लेषण रूप से स्थापन अथवा निषेध होता है, वह दो प्रकार का विद्वानों के द्वारा एकावली अलङ्कार कहा गया है।

विमर्श—जहाँ पर पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु के लिए उत्तर-उत्तर वर्णित वस्तु की विशेषण रूप में जो स्थापना होती है अथवा अपोहन (निषेध) होता है, उसे एकावली अलंकार कहते हैं। भाव यह कि पूर्व वर्णित विशेष्य को उत्तरोत्तर विशेषण के रूप में ग्रहण अथवा उत्तरोत्तर विशेषण के द्वारा पूर्व-पूर्व विशेषण का निषेध करना एकावली अलंकार कहलाता है। एकावली में एक लड़ी में हार के समान विशेष्य-विशेषण पिरोये जाते हैं।

एकावली अलंकार कारणमाला से भिन्न होता है। कारणमाला में कार्य-कारण विशेषण-विशेष्य होते हैं और एकावली में पूर्व पदार्थ का उत्तर पदार्थ विशेषण या विशेष्य होता है। रुय्यक के अनुसार कारणमाला में पूर्व-पूर्व पदार्थ उत्तर-उत्तर का कारण होता है और एकावली में उत्तर-उत्तर पदार्थ पूर्व-पूर्व के प्रति विशेषण के रूप में स्थापित या निषेध किया जाता है (**पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला। यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनापोहने एकावली—रुय्यककृत अलंकारसर्वस्व**)। एकावली मालादीपक से भी पृथक् अलंकार है। मालादीपक में पूर्व-पूर्व पदार्थ उत्तर उत्तर का विशेषण होता है और एकावली में उत्तर-उत्तर पदार्थ पूर्व-पूर्व का विशेषण होता है।

अनुवाद—जिस उज्जयिनी नगरी में घर (पुराणि = गृहाणि) अथवा अन्तःपुर सुन्दरियों से पूर्ण हैं, सुन्दरियाँ रूप से पुरस्कृत अंगों वाली हैं, और रूप के हाव-भावादि विलास प्रकट हो रहे हैं तथा वे विलास कामदेव के अस्त्र हैं ॥५४८॥

विमर्श—यहाँ पर पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर विशेषण के रूप में वर्णित हैं। इस श्लोक में पुर का विशेषण अङ्गना है, अङ्गना का विशेषण अङ्ग है और रूप का विशेषण विलास तथा विलास का विशेषण अस्त्र है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर के विशेषण के रूप में स्थापित किये जाने से यह प्रथम प्रकार की एकावली का उदाहरण है।

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ कलगुञ्जितो न यो न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥५४९॥

पूर्वत्र पुराणां वराङ्गनाः तासामङ्गविशेषणमुखेन रूपम्, तस्य विलासाः, तेषामप्यस्त्रम् इत्यमुना क्रमेण विशेषणं विधीयते। उत्तरत्र प्रतिषेधेऽप्येवं योज्यम्।

(सू० १९९) यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः।
स्मरणम् ... ...

यः पदार्थः केनचिदाकारेण नियतः यदा कदाचित् अनुभूतोऽभूत् स कालान्तरे स्मृतिप्रतिबोधाधायिनि तत्समाने वस्तुनि दृष्टे सति यत् तथैव स्मर्यते तत् भवेत् स्मरणम्'। उदाहरणम्—

अनुवाद—जिसमें सुन्दर कमल न हों, वह जल नहीं है, और वह कमल कमल नहीं है जिस पर भौंरे स्थित न हों और वह भ्रमर नहीं है जो मधुर गुञ्जार नहीं करता तथा वह गुञ्जार गुञ्जार नहीं है जो मन का हरण न कर ले ॥५४९॥

पहले श्लोक में पुर के (विशेष रूप) वरांगना, अंगना का अंग के विशेषण रूप रूप, रूप का (विशेषण) विलास और विलास का अस्त्र इस प्रकार क्रम से विशेषण का विधान किया गया है। उत्तर (बाद) के श्लोक में निषेध में भी इसी प्रकार योजना कर लेनी चाहिए।

विमर्श—यहाँ पर पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति उत्तर-उत्तर वस्तु विशेषण के रूप में उपनिबद्ध है और पूर्व-पूर्व का उत्तरोत्तर निषेध है। यहाँ पर जल में कमल का, कमल पर भौरे का, भ्रमर में गुञ्जार का और गुञ्जार में मनोहरता का विशेषण रूप में निषेध किया गया है, अतः यहाँ द्वितीय प्रकार का एकावली अलंकार है।

(५२) स्मरण अलंकार

अनुवाद (सू० १९९)—उसके समान वस्तु देखने पर पूर्वानुभूत वस्तु की स्मृति होना स्मरण अलङ्कार है।

अनुवाद (वृत्ति)—जो पदार्थ किसी आकार विशेष से निश्चित है और जब कभी अनुभव किया गया हो वह कालान्तर में स्मृति (संस्कारों) के उद्बोधक उसके समान अन्य वस्तु के देखने पर जो उसी रूप में स्मरण किया जाता है, वह स्मरण अलङ्कार होता है।

निम्नाभिकुहरेषु यदम्भः प्लावितं चलदृशां लहरीभिः ।
तद्भवैः कुहरुतैः सुरनार्यः स्मारिताः सुरतकण्ठरुतानाम् ॥५५०॥

यथा वा—

करजुअगहिअजसोआत्थणमुहविणिवेसिआहरपुडस्स ।
सम्भरिअ पञ्चजण्णस्य णमह कण्हस्स रोमाञ्चं ॥५५१॥

[करयुगगृहीत यशोदास्तनमुखविनिवेशिताधरपुटस्य ।
संस्मृतपाञ्चजन्यस्य नमत कृष्णस्य रोमाञ्चम् ॥५५१॥]

(इति संस्कृतम्)

(सू० २००) भ्रान्तिमान् अन्यसंवित्तत्तुल्यदर्शने ॥१३२॥

विमर्श—तत्सदृश वस्तु को देखने से उदबुद्ध संस्कार के द्वारा पूर्वानुभूत प्रकार से स्मृति होना स्मरण अलंकार है। केवल स्मृतिमात्र में स्मरण अलंकार नहीं होता। वह तो समान वस्तु के देखने पर पूर्वानुभूत वस्तु की स्मृति है। यह पूर्वानुभूत स्मृति दो प्रकार की होती है—(१) इस जन्म में अनुभूत वस्तु का स्मरण और (२) पूर्वजन्म में अनुभूत वस्तु का स्मरण। क्रमशः दोनों का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—चञ्चल नेत्रों वाली अप्सराओं गम्भीर (गहरी) नाभिकुहर में लहरों द्वारा जो जल संचारित हुआ, उससे उत्पन्न 'कुह' शब्द (ध्वनि) से अप्सराओं को सुरतकालीन कण्ठध्वनि (रतिकूजन) का स्मरण हो आया ॥५५०॥

विमर्श—यहाँ पर सुरतकालीन कण्ठध्वनि सदृश 'कुह' शब्द के सुनने पर (अनुभव करने पर) पूर्वानुभूत रतिकूजन ध्वनि का स्मरण हो रहा है, अतः यहाँ इस जन्म में अनुभूत वस्तु का स्मरण होने से प्रथम प्रकार का स्मरणालङ्कार है।

अनुवाद—दोनों हाथों से पकड़े हुए यशोदा के स्तन के मुख (अग्र-भाग) पर अपने अधरपुट को लगाये हुए पाञ्चजन्य शंख का स्मरण करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण के रोमाञ्च को नमस्कार करो ॥५५१॥

विमर्श—यहाँ पर भगवान् श्रीकृष्ण के दुग्धपान के समय शंखसदृश यशोदा के स्तनों को देखकर पूर्वजन्म में अनुभूत पाञ्चजन्य का स्मरण होने से यहाँ स्मरणालङ्कार है। यह द्वितीय प्रकार के स्मरण अलङ्कार का उदाहरण है।

(५३) भ्रान्तिमान् अलंकार

अनुवाद (सू० २००)—जहाँ पर उसके समान वस्तु के देखने पर जो अन्य वस्तु का भान (प्रतीति) होता है, वह भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ॥१३२॥

तदिति अन्यत् अप्राकरणिकं निर्दिश्यते। तेन समानमर्थादिह प्राकरणिकम् आश्रीयते। तस्य तथा विधस्य दृष्टौ सत्यां यत् अप्राकरणिकतया संवेदनं स भ्रान्तिमान्।

न चैव रूपकं प्रथमतिशयोक्तिर्वा। तत्र वस्तुतो भ्रमस्याभावात्। इह च अर्थानुगमनेन संज्ञायाः प्रवृत्तेः, तस्य स्पष्टमेव प्रतिपन्नत्वात्।

उदाहरणम्—

कपाले मार्जारः पय इति करान् लेढि शशिनः
तरुच्छिद्रप्रोतान् बिसमिति करी सङ्कलयति।
रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विलम्बयति ।।५५२।।

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ 'तत्' पद से अन्य अर्थात् अप्राकरणिक का निर्देश किया गया है। उसके समान अर्थात् यहाँ प्राकरणिक (प्रस्तुत) का ग्रहण होता है उस प्रकार की उस वस्तु के देखने पर जो उसकी अप्राकरणिक रूप से प्रतीति (ज्ञान-संवेदन) होती है वह भ्रान्तिमान् अलंकार है।

यह (भ्रान्तिमान्) रूपक अथवा प्रथमातिशयोक्ति (अलङ्कार) नहीं है; क्योंकि उनमें वास्तविक भ्रम का अभाव होता है और यहाँ पर अन्वर्थ संज्ञा के कारण (भ्रान्तिमद् नाम की) प्रवृत्ति से उसकी स्पष्ट रूप से प्रतिपत्ति होती है।

उदाहरणार्थ जैसे—

अनुवाद—बिल्ली कपाल (खप्पर) में स्थित चन्द्रमा की किरणों को दूध है, ऐसा समझकर चाट रही है। हाथी वृक्षों के छिद्रों से निकलने वाली किरणों को बिस (मृणालदण्ड) समझकर ग्रहण कर रहा है। युवति नारी सुरत के अन्त में पलंग पर पड़ी हुई किरणों को श्वेत वस्त्र समझकर समेट रही है। इस प्रकार प्रभा से उन्मत्त चन्द्रमा इस संसार को भ्रम में डाल रहा है। महान् आश्चर्य है ।।५५२।।

विमर्श—यहाँ पर शुभ्रता के कारण अप्रस्तुत दुग्ध आदि के सदृश प्रस्तुत चन्द्रमा की किरणों को देखने पर मार्जार आदि की अप्रस्तुत दुग्ध आदि रूप से ज्ञान होने से भ्रान्तिमान् अलङ्कार है।

भ्रान्तिमान् और सन्देह—दोनों ही अभेद प्रधान सादृश्यमूलक अलङ्कार हैं, किन्तु भ्रान्तिमान् अलङ्कार में प्रस्तुत (उपमेय) में अप्रस्तुत (उपमान) का भ्रम (एककोटिक ज्ञान) होता है और सन्देह अलङ्कार में प्रस्तुत वस्तु में अप्रस्तुत का

(सू० २०१) आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥१२३॥

अस्य धुरं सुतरामुपमेयमेव वोढुं प्रौढमिति कैमर्थ्येन यत् उपमानमाक्षिप्यते यदपि तस्यैवोपमानतया प्रसिद्धस्य उपमानान्तरविवक्षयानादरार्थमुपमेय भावःकल्प्यते तत् उपमेयस्योपमानप्रतिकूलवर्त्तित्वात् उभयरूपं प्रतीपम् । क्रमेणोदाहरणम्—

लावण्यौकसि सप्रतापगरिमण्यग्रेसरे त्यागिनां
देव ! त्वय्यवनीभरक्षमभुजे निष्पादिते वेधसा ।
इन्दुः किं घटितः किमेष विहितः पूषा किमुत्पादितं
चिन्तारत्नमहो मुधैव किममी सृष्टाः कुलक्ष्माभृतः ॥५५३॥

संशय (उभयकोटिक ज्ञान) होता है। भ्रान्तिमान् में उपमेय को उपमान के रूप में निश्चित कर लिया जाता है और सन्देह उपमेय में और उपमान दोनों का पृथक्-पृथक् ज्ञान रहता है। भ्रान्तिमान् में भ्रान्ति का चमत्कारजनक वर्णन होता है और सन्देह में संशय का चमत्कारजनक वर्णन होता है।

(५४) प्रतीप अलंकार

अनुवाद (सू० २०१)—उपमान का आक्षेप (निन्दा या निषेध) अथवा उसी उपमान के ही तिरस्कार के लिए उपमेय रूप में कल्पना करना प्रतीप अलंकार है ॥१२३॥

अनुवाद (वृत्ति)—इस उपमान के प्रयोजन (कार्य) को उपमेय ही अच्छी तरह वहन करने में समर्थ है, अतः उपमान का क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार उपमान का जो आक्षेप किया जाता है (वह प्रथम प्रकार का प्रतीप है।) और जो उसी उपमान रूप से प्रसिद्ध अन्य उपमान की विवक्षा से अनादर के लिए उपमेय रूप में कल्पित किया जाता है, वह उपमेय के उपमान के प्रतिकूलवर्त्ती होने के कारण दोनों प्रकार का प्रतीप अलङ्कार होता है। क्रमशः दोनों का उदाहरण देते हैं—

अनुवाद—हे देव ! सौन्दर्य के आश्रय (निधान), प्रताप की गरिमा से युक्त दानियों में अग्रगण्य, पृथ्वी का भार वहन करने में समर्थ भुजा वाले आपको उत्पन्न कर देने पर ब्रह्मा ने चन्द्रमा को क्यों बनाया ? यह सूर्य किसलिये बनाया ? यह चिन्तामणि (रत्न) क्यों उत्पन्न किया ? और ये कुलपर्वत व्यर्थ में क्यों बनाये ? ॥५५३॥

ए एहि दाव सुन्दरि कण्णं दाऊण सुणसु व अणिज्जम् ।
तुज्झ मुहेण किसोअरि चन्दो उअसिज्जह जणेण ।।५५४।।
[अयि एहि तावत् सुन्दरि ! कर्णं दत्त्वा शृणुष्व वचनीयम् ।
तव मुखेन कृशोदरि ! चन्द्र उपमीयते जनेन ।।५५४।।
(इति संस्कृतम्)

अत्र मुखेनोपमीयमानस्य शशिनःस्वल्पतरगुत्वात् ।
उपमित्यनिष्पत्त्या 'व अणिज्जम्' इति वचनीयपदाभिव्यंग्यस्तिरस्कारः ।
क्वचित्तु निष्पन्नैवोपमितिक्रियाऽनादरनिबन्धनम् । यथा—

गर्वमसंवाह्यमिमं लोचनयुगलेन किं वहसि मुग्धे !
सन्तीदृशानि दिशि दिशि सरःसु ननु नीलनलिनानि ।।५५५।।

विमर्श—यहाँ पर लावण्य (सौन्दर्य) आदि गुणों से विशिष्ट राजा रूप उपमेय के होने पर चन्द्रमा आदि प्रसिद्ध उपमानों की व्यर्थता का आक्षेप प्रथम प्रकार का प्रतीप अलङ्कार है ।

अनुवाद—अरे सुन्दरि ! इधर तो आओ, कान लगाकर इस (अपनी) निन्दा को सुन लो । हे कृशोदरि ! लोग तुम्हारे मुख से चन्द्रमा की उपमा देते हैं ।।५५४।।

यहाँ पर मुख के साथ जिसकी उपमा दी जा रही है, [उस उपमीयमान चन्द्रमा के अत्यन्त कम गुण होने के कारण उपमिति (सादृश्य) निष्पन्न नहीं होती, इससे 'वचनीय' (वअणिज्जम्) पद से तिरस्कार व्यङ्ग्य है ।

विमर्श—उपमान की उपमेयत्व कल्पना रूप द्वितीय प्रतीप– यहाँ पर उपमान रूप से लोकप्रसिद्ध चन्द्रमा के तिरस्कार के लिए उपमेय के रूप में कल्पित करना द्वितीय प्रकार का प्रतीप अलङ्कार है ।

कहीं पर तो उपमिति-क्रिया निष्पन्न होकर ही अनादर का कारण होता है । जैसे—

अनुवाद—हे मुग्धे ! तुम इन दोनों नेत्रों के कारण इतना अधिक (वहन न करने योग्य=असंवाह्य) अभिमान (गर्व) क्यों धारण करती हो । क्योंकि प्रत्येक दिशा में सरोवरों में ऐसे नीलकमल भी विद्यमान हैं ।।५५५।।

इहोपमेयीकरणमेवोत्पलानाममनादरः ।

अनयैव रीत्या पदसमान्यगुणयोगात् नोपमानभावमपि अनुभूतपूर्वि तस्य तत्कल्पानायामपि भवति प्रतीपमिति प्रत्येतव्यम् । यथा—

अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हलाहल ! तात ! मास्म दृप्यः ।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम् ॥५५६॥

अत्र हालाहलस्योपमानत्वमसम्भाव्यमेवोपनिबद्धम् ।

(सू० २०२) प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात् तत्सामान्यमिति स्मृतम् ॥१३४॥

यहाँ पर नील कमलों को उपमेय बना देना ही उनका अनादर है ।

विमर्श—यहाँ पर उपमान रूप से लोक प्रसिद्ध नीलकमलों को नेत्रों का उपमेय बनाना ही अनादर का हेतु है; क्योंकि उपमेय में उपमान की अपेक्षा न्यून गुण स्थित होता है ।

अनुवाद—इसी प्रकार असाधारण गुणों के योग से जिसकी उपमानरूपता का पहले कभी अनुभव नहीं किया गया है, उसकी उसी रूप में कल्पना करने पर भी प्रतीप अलङ्कार होता है, इस प्रकार समझना चाहिए । जैसे—

अनुवाद—अरे तात ! हालाहल ! 'मैं ही अत्यन्त दारुण पदार्थों में गुरु (श्रेष्ठ) हूँ' इस प्रकार अभिमान (गर्व) मत करो; क्योंकि इस संसार में तुम्हारे सरीखे दुर्जनों के वचन बहुत अधिक पाये जाते हैं ॥५५६॥

यहाँ पर हालाहल का असम्भाव्य उपमान रूपता ही उपनिबद्ध किया गया है ।

विमर्श—यहाँ पर अत्यन्त उत्कट दुःख के हेतु हालाहल को खल के वचनों का उपमान बनाया गया है जो उपमान के अनादर का हेतु है । इसलिए यहाँ पर प्रतीप अलङ्कार है ।

(५५) सामान्य अलकार

अनुवाद (सू० २०२)—जहाँ पर प्रस्तुत का अप्रस्तुत के सम्बन्ध से (दोनों के) गुणों का साम्य प्रतिपादन करने की इच्छा से (दोनों में) एकरूपता का निरूपण किया जाता है वह सामान्य अलङ्कार कहलाता है ॥१३४॥

अताद्दशमपि ताद्दशतया विवक्षितुं यत् अप्रस्तुतार्थेन सम्पृक्तमपरित्यक्त-निजगुणमेव तदेकात्मतया निबध्यते तत् समानगुणनिबन्धनात् सामान्यम्। उदाहरणम्—

मलयजरसविलिप्ततनवो नवहारलताविभूषिताः
सिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचो रुचिरामलांशुकाः।
शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गताः
प्रियवसतिं प्रयान्ति सुखमेव निरस्तभियोऽभिसारिकाः ॥५५७॥

अत्र प्रस्तुततदन्ययोरन्यूनानतिरिक्ततया निबद्धं धवलत्वमेकात्मताहेतुः अतएव पृथक्भावेन तयोरुपलक्षणम्। यथा वा—

वेत्रत्वचा तुल्यरुचां वधूनां कर्णाग्रतो गण्डतलागतानि।
भृङ्गाः सहेलं यदि नापतिष्यन् कोऽवेदयिष्यन्नवचम्पकानि ॥५५८॥

अत्र निमित्तान्तरजनिताऽपि नानात्वप्रतीतिः प्रथमप्रतिपन्नमभेदं न व्यवसितुमुत्सहते, प्रतीतत्वात्तस्य प्रतीतेश्च बाधायोगात्।

वैसा (वस्तुतः प्रस्तुत वस्तु के अप्रस्तुत वस्तु के समान) न होने पर भी उस रूप में कहने के लिए अर्थात् समानता का प्रतिपादन करने के लिए जो अप्रस्तुत अर्थ से सम्बद्ध होकर अपने गुणों का परित्याग किये बिना ही उसके साथ एकात्मरूपता के रूप में वर्णित किया जाता है, वह सामान्य गुणों के सम्बन्ध होने के कारण सामान्य कहलाता है।

उदाहरण जैसे—

अनुवाद—चन्दन का रस शरीर में लेप किये हुए, नये हार से विभूषित, अत्यन्त शुभ्र हाथी के दाँत के बने हुए कर्णाभूषण से मुख-कान्ति को बढ़ाने वाली सुन्दर एवं निर्मल वस्त्र धारण करने वाली अभिसारिकाएँ विस्तृत तेजयुक्त चन्द्रमा के पृथ्वी को धवलित कर देने पर अलक्ष्य होकर अर्थात् चाँदनी से एकरूपता को प्राप्त भय-रहित होकर सुख से प्रियतम के घर जा रही हैं ॥५५७॥

यहाँ पर प्रस्तुत (अभिसारिका) और अप्रस्तुत चाँदनी दोनों का एक रूप अर्थात् समान रूप में वर्णित धवलता ही एकरूपता का हेतु है, इसलिए उन दोनों की पृथक् रूप से प्रतीति यहीं हो रही है।

अथवा जैसे—

अनुवाद—बेंत की छाल के समान कान्ति वाली बहुओं के कानों के अग्रभाग से कपोलतल पर लटकते हुए नवीन चम्पक पुष्प को कौन जान पाता, यदि मंडराते हुए भौंरे उस पर न गिरते ॥५५८॥

(सू० २०३) विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः ।

एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥१३५॥

अन्यत् प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः

तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥१३६॥

प्रसिद्धाधारपरिहारेण यदाधेयस्य विशिष्टा स्थितिरभिधीयते स प्रथमो विशेषः । यथा—

दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।

रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिह कवयो न ते वन्द्याः ॥५५९॥

एकमपि वस्तु यत् एकेनैव स्वभावेन युगपदनेकत्र वर्त्तते, स द्वितीयः ।

यहाँ पर अन्य कारण (भ्रमर-पतन) से उत्पन्न भेद की प्रतीति भी पूर्व-प्रतीत (पहिले प्रतीत हुए) अभेद-ज्ञान को दूर करने में समर्थ नहीं है; क्योंकि उस एकात्म प्रतीति के उत्पन्न हो चुकने और उत्पन्न प्रतीति का बाध सम्भव न होने से सामान्य अलङ्कार है ।

(५६) विशेष अलंकार

अनुवाद (सू० २०३)—प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति, एक ही वस्तु की एक ही साथ एक रूप में अनेक वस्तुओं में स्थिति, अन्य कार्य को करते हुए किसी अन्य अशक्य वस्तु उसी प्रकार करना इस प्रकार विशेष अलङ्कार तीन प्रकार का होता है ॥१३६॥

(१) जहाँ पर प्रसिद्ध आधार का परित्याग करके आधेय की जो विशिष्ट स्थिति का वर्णन किया जाता है वह प्रथम प्रकार का विशेष अलङ्कार होता है । जैसे—

अनुवाद—स्वर्ग में चले जाने पर भी प्रचुर गुणों से युक्त जिनकी (काव्यरूप) वाणी कल्पपर्यन्त संसार को आह्लादित करती है, वे कवि इस संसार में वन्दनीय क्यों नहीं हैं ॥५५९॥

विमर्श—यहाँ पर कविरूप प्रसिद्ध आधार के बिना भी आधेय भूत कविवाणी (कविता, काव्य) की स्थिति का वर्णन होने से प्रथम प्रकार का विशेष अलङ्कार है ।

यथा—

सा वसइ तुज्झ हिअए सा च्चिअ अच्छीसु साअ वअणेसु।
अह्मारिसाण सुन्दर ओसासो कत्थ पावाणं ॥५६०॥
[सा वससि तव हृदये सैवाक्षिषु सा च वचनेषु।
अस्मादृशीनां सुन्दर! अवकाशः कुत्र पापानाम् ॥५६०॥]
(इति संस्कृतम्)

यद्यपि किञ्चिद्रभसेन आरभमाणस्तेनैव यत्नेनाशक्यमपि कार्यान्तरमारभते सोऽपरो विशेषः।

उदाहरणम्—

स्फुरदद्भुतरूपमुत्प्रतापज्वलनं त्वां सृजताऽनवद्यविद्यम्।
विधिना ससृजे नवो मनोभूर्भुवि सत्यं सविता बृहस्पतिश्च ॥५६१॥

---

(२) जहाँ एक ही वस्तु एक ही रूप में एक साथ अनेक स्थानों पर वर्णित होती है, वह द्वितीय प्रकार का विशेष अलङ्कार होता है। जैसे—

अनुवाद—वह (नायिका) तुम्हारे हृदय में निवास करती है, वही आँखों में और वही वाणी में रहती है। हे सुन्दर! हमारी जैसी अभागिनियों (पापनियों) के लिए स्थान कहाँ है? ॥५६०॥

विमर्श—यहाँ पर एक ही सपत्नी (सौत) रूप नारी का एक रूप से एक साथ हृदय, नेत्र और वाणी आदि अनेक स्थानों में स्थिति का वर्णन होने से द्वितीय प्रकार का विशेष अलङ्कार है।

(३) जो शीघ्रता से किसी कार्य को आरम्भ करने वाला कर्त्ता उसी प्रयत्न के द्वारा किसी अन्य अशक्य कार्य का आरम्भ कर देता है वह तृतीय प्रकार का विशेष अलङ्कार होता है। उदाहरण जैसे—

अनुवाद—हे राजन्! प्रकाशमान् अद्भुत रूप वाले, उद्दीप्त प्रतापानल से युक्त तथा निर्दोष (शुद्ध) विद्या से युक्त आपकी रचना करते हुए ब्रह्मा ने सचमुच पृथ्वी पर एक नवीन कामदेव, सूर्य और बृहस्पति की रचना कर दी है ॥५६१॥

विमर्श—यहाँ पर राजा के निर्माण रूप एक कार्य को करते हुए ब्रह्मा ने उसी प्रयत्न के द्वारा दूसरे कामदेव, सूर्य और बृहस्पति आदि अन्य अशक्य कार्य को कर डाला, इस प्रकार यहाँ तृतीय प्रकार का विशेष अलङ्कार है।

अथवा जैसे—

यथा वा—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां बत किं न मे हृतम् ।।५६२।।

सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात् । अतस्वाक्तम्—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ।।इति।।

अनुवाद—हे इन्दुमति ! तुम मेरी गृहिणी, सचिव (मन्त्रणा देने वाली), एकान्त की सखी, ललित कलाओं के विषय में प्रिय शिष्या थीं, किन्तु करुणा से विहीन निर्दयी मृत्यु ने तुम्हें छीनते हुए मेरा क्या नहीं छीन लिया ।।५६२।।

विमर्श—यहाँ पर इन्दुमती के हरणरूप एक ही कार्य को करते हुए मृत्यु ने उसी प्रयत्न से सचिवादि हरणरूप अन्य अशक्य कार्य को भी कर डाला, इसलिए यहाँ तृतीय प्रकार का विशेष अलङ्कार है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि आधार के बिना आधेय की स्थिति और एक ही वस्तु को एक ही रूप में एक साथ सर्वत्र स्थिति तथा एक कार्य को करते हुए एक प्रयत्न से दो-दो कार्यों का करना—यह सब वास्तव में असम्भव है, तब इनके वर्णन में विशेष अलंकार कैसे माना जाय ? इस पर ग्रन्थकार कहते हैं—

अनुवाद (वृत्ति)—इस प्रकार के विषय में सब जगह अतिशयोक्ति ही प्राण रूप में स्थित रहती है। क्योंकि प्रायः अतिशयोक्ति के बिना अलंकारत्व नहीं रहता । जैसाकि भामह ने कहा है—

"यह अतिशयोक्ति ही सर्वत्र (अलङ्कारों में) वैचित्र्य (चमत्कार) की आधायिका उक्ति (वक्रोक्ति) है, इसी से ही अर्थ अलङ्कृत किया जाता है, इसके विषय में कवि को यत्न करना चाहिए, इसके बिना और कौन अलङ्कार है ?"

यही वक्रोक्ति का अपर पर्याय अतिशयोक्ति ही समस्त अलङ्कारों का बीज रूप है ।

(सू० २०४) स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वल गुणस्य यत् ।
वस्तु तद्‌गुणतामेति भण्यते स तु तद्‌गुणः ॥१३७॥

वस्तु तिरस्कृतनिजरूपं केनापि समीपगतेन प्रगुणया स्वगुणसंपदोपरक्तं तत्प्रतिभासमेव यत्समासादयति स तद्‌गुणः तस्याप्रकृतस्य गुणोऽत्रास्तीति । उदाहरणम्—

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या ।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः ॥५६३॥

अत्ररवि तुरगापेक्षया गरुणाग्रजस्य, तदपेक्षया च हरिन्मणीनां प्रगुणवर्णता ।

---

(५७) तद्‌गुण अलंकार

अनुवाद (सू० २०४)—जहाँ (न्यून गुण वाली प्रस्तुत वस्तु) अत्यन्त उज्ज्वल गुण वाली (अप्रस्तुत विषय) के सम्बन्ध से अपने गुण को छोड़कर उस (अप्रस्तुत) के गुण (स्वरूप) को प्राप्त करती है, उसे तद्‌गुण अलङ्कार कहा जाता है ॥१३७॥

अनुवाद (वृत्ति)—जहाँ (प्रस्तुत) वस्तु किसी समीपस्थ वस्तु के द्वारा उसकी प्रकृष्ट गुण सम्पत्ति से उपरक्त अपने स्वरूप का तिरस्कार करके जो वस्तु उस (समीपस्थ वस्तु) के स्वरूप को प्राप्त कर लेती है, उस अप्रस्तुत का गुण (स्वरूप) इसमें आ गया है, इसलिए वह तद्‌गुण अलङ्कार कहलाता है । उदाहरण जैसे—

अनुवाद—गरुड़ के अग्रज अरुण से भिन्न वर्ण वाले सूर्य के घोड़ों ने जिस रैवतक पर्वत पर स्थित बाँस के अंकुर के समान हरित वर्ण (मरकत) मणियों के चारों ओर स्फुरित (फैलती हुई) कान्ति से फिर अपनी (हरित वर्ण की) कान्ति प्राप्त कर ली ॥५६३॥

यहाँ पर सूर्य के घोड़ों की अपेक्षा गरुड़ के अग्रज अरुण का और अरुण की अपेक्षा हरित वर्ण मरकत मणियों का गुणोत्कर्ष वर्णित है ।

विमर्श—यहाँ पर प्रस्तुत सूर्य के घोड़ों का अप्रस्तुत अरुण के सम्पर्क से जो वर्ण प्राप्त हो गया था, वह रैवतक पर्वत पर सूर्य के आ जाने से तत्रस्थ मरकत-मणियों के सम्पर्क से पुनः उसके गुण (स्वरूप) को प्राप्त कर लिया, अतः यहाँ तद्‌गुण अलङ्कार है ।

(सू० २०५) तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत् स्यादतद्गुणः।

यदि तु तदीयं वर्णं सम्भवन्त्यामपि योग्यतायाम् इदं न्यूनगुणं न गृह्णीयात् तदा भवेदतद्गुणो नाम। उदाहरणम्—

धवलोसि जहवि सुन्दर तह वितुए मज्झ रज्जिअं हिअअं।

राअभरिये वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तोसि ॥५६४॥

[धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर! तथापि त्वया मम रञ्जितं हृदयम्।

रागभरितेऽपि हृदये सुभग! निहितो न रक्तोऽसि ॥५६४॥]

(इति संस्तकृम्)

अत्रातिरिक्तेनापि मनसा संयुक्तो न रक्ततामुपगत इत्यतद्गुणः।

किञ्च तदिति अप्रकृतमस्येति च प्रकृतमात्र निर्दिश्यते। तेन यत् अप्रकृतस्य रूपं प्रकृतेन कुतोऽपि निमित्तात् नानुविधीयते सोऽतद्गुण इत्यपि प्रतिपत्तव्यम्। यथा—

---

(५८) अतद्गुण अलंकार

अनुवाद (सू० २०५)—जहाँ पर इस (अप्रस्तुत) का उस (प्रस्तुत) के गुण (रूप) का अनुसरण न करना वर्णित हो, वहाँ अतद्गुण नामक अलङ्कार होता है।

यदि उसके (प्रस्तुत के) रूप ग्रहण की योग्यता होने पर भी यह न्यूनगुण वाला (अप्रस्तुत) उसके (प्रस्तुत) के वर्ण को ग्रहण न करे तो अतद्गुण नामक अलङ्कार होता है। उदाहरण जैसे—

अनुवाद—हे सुन्दर! यद्यपि तुम धवल हो, फिर भी तुमने मेरे हृदय को रंग दिया है (अनुरक्त कर दिया है)। हे सुभग! रंग से पूर्ण अपने हृदय में तुम्हें रखा, फिर भी तुम अनुरक्त नहीं हुए ॥५६४॥

यहाँ पर अत्यन्त रक्त हृदय से संयुक्त होने पर भी (नायक) रक्त (अनुरागयुक्त) नहीं हुआ, इसलिए यहाँ अतद्गुण अलङ्कार है।

विमर्श—यहाँ पर पूर्वार्द्ध में धवल और अरुण गुणों में परस्पर विरोध है, इसलिए उत्तरार्द्ध ही अतद्गुण का उदाहरण है। उत्तरार्द्ध में अप्रस्तुत नायक के द्वारा प्रस्तुत हृदय की रक्तता का ग्रहण न करना, अतद्गुण अलङ्कार है।

गाङ्गमम्बु सितमम्बु, यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः।
राजहंस ! तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥५६५॥

(सू० २०६) यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा ॥१३८॥
तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः।

येनोपायेन यदेकेनोपकल्पितं तस्यान्ये जिगीषुतया तदुपायकमेव यदन्यथाकरणम्, स साधितवस्तुव्याहतिहेतुत्वाद् व्याघातः। उदाहरणम्—

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वामलोचनाः ॥५६६॥

अनुवाद (वृत्ति)—और भी यहाँ 'तत्' शब्द से अप्रस्तुत का और 'अस्य' पद के द्वारा 'प्रस्तुत' का निर्देश किया गया है। इसलिए जो अप्रकृत के रूप को प्रकृत के द्वारा किसी भी कारण ग्रहण नहीं किया जाता, वह अतद्गुण होता है, यह भी समझना चाहिए। जैसे—

अनुवाद—गंगा का जल श्वेत है और यमुना का जल कज्जल के समान काला है, किन्तु हे राजहंस ! दोनों जगह स्नान न करने पर भी तुम्हारी वैसी ही शुभ्रता है, न बढ़ती है और न घटती है ॥५६५॥

विमर्श—यहाँ पर प्रस्तुत राजहंस के द्वारा अप्रस्तुत गङ्गा-यमुना के गुण का ग्रहण न होने से अतद्गुण अलङ्कार है।

(५६) व्याघात अलंकार

अनुवाद (सू० २०६)—**किसी के द्वारा कोई बात जिस प्रकार से सिद्ध की गई है, वह उसी प्रकार से यदि दूसरे के द्वारा प्रसिद्ध अर्थात् विपरीत सिद्ध कर दिया जाय तो उसे व्याघात अलङ्कार कहा जाता है।**

अनुवाद (वृत्ति)—जिस उपाय से एक व्यक्ति के द्वारा जो वस्तु सिद्ध की गई हो, उसे जीतने की इच्छा से अन्य के द्वारा उसी उपाय से उसके विपरीत सिद्ध, कर दी जाय, उस पूर्व साबित वस्तु के व्याघात का हेतु होने से 'व्याघात' अलङ्कार होता होता है। उदाहरण, जैसे—

अनुवाद—(शिव के) नेत्र से दग्ध हुए कामदेव को जो दृष्टि से ही जीवित कर देती है। विषमलोचन शिवजी को जीतने वाली उन वामलोचनाओं को हम स्तुति करते हैं ॥५६६॥

(सू० २०७) सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ॥१४०॥

एतेषां समनन्तरमेवोक्तस्वरूपाणां यथासम्भवमन्योऽन्यनिरपेक्षतया यदेकत्र शब्दभागे एव अर्थविषये एव उभयत्रापि वा अवस्थानं सा एकार्थ-समवायस्वभावा संसृष्टिः। तत्र शब्दालङ्कारसंसृष्टिर्यथा—

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसम्भ्रमसम्भृतशोभया।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशाऽन्यया ॥५६७॥

विमर्श—यहाँ पर शिव के द्वारा दृष्टि (नेत्र) रूप उपाय से दग्ध किये गये कामदेव को शिव को जीतने की इच्छा वाली कामिनियों ने दाहहेतु भूत दृष्टि रूप उपाय के द्वारा ही (काम को) जीवित कर दिया। इसलिए यहाँ व्याघात अलङ्कार है।

(६०) संसृष्टि

अनुवाद (सू० २०७)—इन अलङ्कारों की (भेदेन) परस्पर-निरपेक्ष रूप से जो एकत्र (इह) स्थिति है वह संसृष्टि मानी जाती है ॥१३९॥

अनुवाद वृत्ति—नवम एवं दशम उल्लासों में जिनका स्वरूप प्रदर्शित किया गया गया है इन अलङ्कारों की यथासम्भव परस्पर निरपेक्षरूप से जो एकत्र (एक स्थान पर) शब्द भाग में ही अथवा अर्थ भाग में अथवा दोनों जगह स्थिति होती है। वह एक वस्तु में सम्बन्ध स्वरूप है जिसका वह संसृष्टि अलङ्कार है।

विमर्श—पूर्वोक्त अलङ्कारों का परस्पर निरपेक्षभाव से एकत्र जो अवस्थान है उसे संसृष्टि अलङ्कार कहते हैं। यह संसृष्टि तीन प्रकार की होती है—(१) शब्दालङ्कार संसृष्टि (2) अर्थालङ्कार संसृष्टि और (३) शब्दार्थालङ्कार-संसृष्टि। क्रमशः इनका उदाहरण देते हैं—

(१) शब्दालंकार संसृष्टि का उदाहरण

अनुवाद—मुख के सौरभ के लोभ से मंडराने वाले भौंरों के भय से और अधिक शोभा को धारण करने वाली भागती हुई केशों के बिखरने से चञ्चल नयनों वाली नायिका के द्वारा मेखला (करधनी) की कलकल ध्वनि होने लगी ॥५६७॥

अर्थालङ्कारसंसृष्टिस्तु—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥५६८॥

पूर्वत्र परस्परनिरपेक्षौ यमकानुप्रासौ संसृष्टि प्रयोजयतः। उत्तरत्र तु तथाविधे उपमोत्प्रेक्षे।

शब्दार्थालङ्कारयोस्तु संसृष्टिः—

सो णत्थि एत्थ गामे जो एअं महमहन्तलाअण्णं।
तरुणाण हिअ अलूँड़ परिसक्कन्तीं णिवारेइ ॥५६९॥

[स नास्त्यत्र ग्रामे य एनां महमहायमानलावण्यम्।
तरुणानां हृदयलुण्ठाकीं परिष्वक्कमानां निवारयति ॥५६९॥
(इति संस्कृतम्)

अत्रानुप्रासो रूपकं चान्योन्यानपेक्षे। संसर्गश्च तयोरेकत्र वाक्ये छन्दसि वा समवेतत्वात्।

विमर्श—इस श्लोक में पूर्वार्द्ध में मकार का अनुप्रास और उत्तरार्द्ध में लकार का अनुप्रास तथा 'लकलोलकलो' में यमक अलङ्कार होने से यहाँ पर अनुप्रास और यमक शब्दालङ्कारों को परस्पर निरपेक्ष होने से यह संसृष्टि अलङ्कार है।

(२) अर्थालंकार संसृष्टि का उदाहरण

अनुवाद—अन्धकार अंगों को लिप्त सा कर रहा है, आकाश से अञ्जन की वर्षा सी हो रही है। दुष्ट पुरुष की सेवा के समान दृष्टि विफल हो रही है ॥५६८॥

पूर्व श्लोक (वदनसौरभ·······इत्यादि) में परस्पर निरपेक्ष यमक और अनुप्रास संसृष्टि के प्रयोजक हैं। दूसरे श्लोक (लिम्पतीव·······इत्यादि में) उसी प्रकार परस्पर निरपेक्ष उपमा और उत्प्रेक्षा संसृष्टि के प्रयोजक हैं।

विमर्श--प्रस्तुत उदाहरण 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' इत्यादि में पूर्वार्द्ध में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है और उत्तरार्द्ध में 'असत्पुरुषसेवेव' में उपमा अलङ्कार है। इस प्रकार यहाँ दोनों ही अर्थालङ्कार परस्पर निरपेक्षभाव से एकत्र स्थित हैं। अतः यह संसृष्टि अलङ्कार है।

(३) शब्दार्थालंकार की संसृष्टि का उदाहरण

अनुवाद—इस गाँव में कोई ऐसा युवक नहीं है जो महमहायमान सौन्दर्य वाली, युवकों के हृदय को लूटने वाली, इधर-उधर घूमने वाली इस सुन्दरी को रोक सके ॥५६९॥

यहाँ पर अनुप्रास और रूपक परस्पर निरपेक्ष रूप से स्थित हैं और उन दोनों का एक वाक्य अथवा छन्द में सम्बन्ध होने से संसृष्टि (संसर्ग) है।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में पूर्वार्द्ध में 'णत्थ एत्थि' में तकार और थकार व्यञ्जनों के एक बार साम्य होने से छेकानुप्रास शब्दालङ्कार है और उत्तरार्द्ध हृदयलुण्ठाकी में रूपक अर्थालङ्कार है। यहाँ इन दोनों का परस्पर निरपेक्षभाव से अवस्थान है। इस प्रकार यहाँ संसृष्टि अलङ्कार है।

अब प्रश्न यह उठता है कि अनुप्रास शब्दाश्रित होते हैं और रूपक अर्थाश्रित। इस प्रकार आश्रय भेद होने से उनका एकत्र अवस्थान (एकत्र स्थिति) कैसे सम्भव है? इस पर पर कहते हैं कि यद्यपि अनुप्रासादि शब्दालङ्कार का आश्रय शब्द और अर्थालङ्कार का आश्रय अर्थ होता है, किन्तु एक वाक्य अथवा एक छन्द रूप आश्रय में उन दोनों के स्थित होने से एकत्र स्थिति मानी जा सकती है। भाव यह कि आकाङ्क्षादियुक्त अर्थविशिष्ट शब्द ही वाक्य होता है अतः शब्द और अर्थ के एक वाक्य में स्थित होने में एकार्थसमवाय है। यदि यहाँ वाक्यभेद माना जाय तो भी चतुष्पदात्मक छन्द से शब्दालङ्कार की साक्षात् और अर्थालङ्कार की परम्परा स्थिति मानकर अनेक वाक्यों की एकवाक्यता सम्बन्ध माना जाता है।

(६१) सङ्कर अलंकार

संसृष्टि और सङ्कर दोनों ही उभयालङ्कार अर्थात् शब्दार्थालङ्कार के अन्तर्गत आते हैं। अनेक अलङ्कारों की एक वाक्य में स्थिति होने पर संसृष्टि और सङ्कर दो अलंकार माने जाते हैं, किन्तु संसृष्टि अलङ्कार में अनेक अलङ्कारों का मिश्रण तिलतण्डुलन्याय से परस्पर निरपेक्ष रूप से होता है। तिलतण्डुलन्याय से अलङ्कारों का सम्बन्ध एक स्थल पर अनेक अलंकारों के स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग दिखाई देने पर होता है, जैसे तिल और चावलों का परस्पर मिश्रण होने पर दोनों अलग-अलग दिखाई देते हैं उसी प्रकार अनेक अलङ्कारों के एकत्र स्थिति में स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग दिखाई देने पर संसृष्टि अलङ्कार होता है। अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक का कथन है कि जिस प्रकार सोने और मणि से निर्मित अलङ्कार अपना अलग-अलग सौन्दर्य रखते हुए भी परस्पर संश्लिष्ट होने पर नया सौन्दर्य सृजन करते हैं उसी प्रकार शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार परस्पर अलग-अलग सौन्दर्य रखते हुए भी परस्पर संश्लेष से एक विभिन्न नये सौन्दर्य की सृष्टि किया करते हैं।

एषां तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्वं संसृष्टिः।''''''तत्र यथा बाह्यालङ्काराणां सौवर्णमणिमयप्रभृतीनां पृथक्चारुत्वहेतुत्वेऽपि संघटनाकृतं चारुत्वान्तरं जायते, तत्प्रकृतालंकाराणामपि संयोजने चारुत्वान्तरमुपलभ्यते।''

(अलङ्कारसर्वस्व—वृत्ति)

इस प्रकार तिलतण्डुलन्याय से परस्पर निरपेक्ष अलकारों का परस्पर संश्लेष (मिश्रण) होने पर संसृष्टि अलङ्कार होता है। किन्तु जब अनेक अलङ्कारों की नीरक्षीरन्याय से परस्पर सापेक्ष रूप से स्थिति होती है तो वहाँ सङ्कर अलङ्कार होता है। तात्पर्य यह कि जहाँ पर अनेक अलङ्कार परस्पर मिलकर नीरक्षीर-

(सू० २०८) अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं सङ्करः।

एते एव यत्रात्मनि अनासादितस्वतन्त्रभावाः परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकतां दधति स एषां सङ्कीर्यमाणस्वरूपत्वात् सङ्करः। उदाहरणम्—

मिश्रण के समान परस्पर इतने संश्लिष्ट हो जाते हैं कि उनका पृथक् स्वरूप नहीं दिखाई देता तो वहाँ सङ्कर अलङ्कार होता है। अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक के अनुसार दूध और पानी के परस्पर मिश्रण के समान संकर अलंकार होता है। (क्षीरनीरन्यायेन तु संकरः)। सङ्कर अलङ्कार का यह मिश्रण तीन प्रकार का होता है—

(१) अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर (२) सन्देह सङ्कर और (३) एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर।

''नीरक्षीरन्यायेन तु संकरः—

मिश्रत्व इत्येव। अनुत्कटभेदत्वमुत्कटभेदत्वं च सङ्करः। तत्र मिश्रत्व मङ्गाङ्गिभावेन, संशयेन, एकवचनानुप्रवेशेन च त्रिधाऽभवत् सङ्करं त्रिभेदमुत्थापयति।'

आचार्य मम्मट ने अलङ्कारसर्वस्वकार के अनुसार नीरक्षीरन्याय से अनेक अलंकारों की परस्पर सापेक्ष स्थिति में संकर अलंकार माना है।
और उनके अनुसार ही सङ्कर के तीन भेद किये हैं—

१. अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर
२. सन्देह सङ्कर
३. एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर

क्रमशः इन तीनों का लक्षण और उदाहरण देते हैं—

(१) अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर

अनुवाद (सू० २०८)—अपने स्वरूप में अवस्थित न रहकर (अर्थात् परस्पर निरपेक्ष स्वतन्त्र रूप से स्थित न रहने वाले) इन अलङ्कारों का परस्पर अङ्ग-अङ्गी भाव (अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव, उपकार्य-उपकारक भाव) होने पर सङ्कर अलङ्कार होता है।

ये अलङ्कार जहाँ अपने स्वरूप में स्वतन्त्र रूप से स्थित नहीं होते और परस्पर अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव को धारण करते हैं वहाँ इनका स्वरूप परस्पर सङ्कीर्ण हो जाने के कारण सङ्कर अलङ्कार कहलाता है। उदाहरण जैसे—

आत्ते सीमन्तरत्ने मरकतिनि हृते हेमताटङ्कपत्रे
लुप्तायां मेखलायां झटिति मणितुलाकोटियुग्मे गृहीते ।
शोणं बिम्बोष्ठकान्त्या त्वदरिमृगदृशामित्वरीणामरण्ये
राजन् ! गुञ्जाफलानां स्रज इति शबरा नैव हारं हरन्ति ॥५७०॥

अत्र तद्गुणमपेक्ष्य भ्रान्तिमता प्रादुर्भूतम्, तदाश्रयेण च तद्गुणः सचेतसां प्रभूतचमत्कृतिनिमित्तम्, इत्यनयोरङ्गाङ्गिभावः ।

यथा वा—

जटाभिर्भाभिः करधृतकलङ्काक्षवलयो
वियोगिव्यापत्तेरिव कलितवैराग्यविशदः ।
परिप्रेङ्खत्तारापरिकरकपालङ्कितलले
शशी भस्मापाण्डुः पितृवन इव व्योम्नि चरति ॥५७१॥

उपमा, रूपकम्, उत्प्रेक्षा, श्लेषश्चेति चत्वारोऽत्र पूर्ववत् अङ्गाङ्गितया प्रतीयन्ते ।

अनुवाद—हे राजन् ! आपके भय से जंगलों में भटकती हुई आपके शत्रुओं की स्त्रियों के मरकत मणि से युक्त शिरोभूषण के छीन लेने पर, सोने के कर्णाभूषण उतार लेने पर, करधनी छीनकर शीघ्र ही मणियों से निर्मित नूपुरों को ले लेने पर बिम्बाफल के समान ओष्ठ की कान्ति से लाल मोतियों की माला को 'यह गुञ्जाफल (घुघुचियों) की माला है' ऐसा समझकर नहीं छीन रहे हैं ॥५७१॥

यहाँ पर तद्गुण अलङ्कार की अपेक्षा से भ्रान्तिमान् अलङ्कार प्रादुर्भाव हो गया है और उसके आश्रय से तद्गुण अलङ्कार सहृदयों के लिए विशेष चमत्कार जनक हो गया है, इस प्रकार यहाँ पर (तद्गुण और भ्रान्तिमान्) इन दोनों अलङ्कारों का अङ्गाङ्गिभाव संकर है ।

विमर्श—यहाँ पर 'बिम्बाधर की कान्ति से हार लाल दिखाई देता है' यह तद्गुण अलङ्कार है। उसके कारण ही 'यह गुञ्जाफल की माला है' इस प्रकार भ्रान्तिमान् अलङ्कार है। इन दोनों अलङ्कारों का यहाँ अङ्गाङ्गिभाव है। तद्गुण अलङ्कार अङ्ग है और भ्रान्तिमान् अङ्गी। इस प्रकार यहाँ अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है।

अथवा जैसे—

अनुवाद—जटाओं के समान (शुभ्र वर्ण) कान्तियों से युक्त, कर (हाथ, किरण) में कलङ्क रूपी रुद्राक्ष की माला (अक्षवलय) धारण किये हुए, वियोगियों के (विरही, विमुक्त-विषय) नाश हो जाने के कारण उत्पन्न वैराग्य (अनुराग का अभाव तथा लालिमा का अभाव) से विशद (शुभ्र, स्वच्छचित्त) सा, चञ्चल (चमकते हुए) तारा समूह रूपी कपालों से अङ्कित तल वाले श्मशान सरीखे आकाश में भस्म के समान शुभ्र वर्ण चन्द्रमा विचरण कर रहा है ॥५७१॥

'कलङ्क एवाक्षवलयम्' इति रूपकपरिग्रहे करधृतत्वमेव साधकप्रमाणतां प्रतिपद्यते, अस्य हि रूपकत्वे तिरोहितकलंकरूपम् अक्षवलयमेव मुख्यतयाऽवगम्यते, तस्यैव च करग्रहणयोग्यतायां सार्वत्रिकी प्रसिद्धिः। श्लेषच्छायया तु कलंकस्य करधारणम् असदेव प्रत्यासत्या उपचर्य योज्यते। शशांकेन केवलं कलंकस्य मूर्त्यैव उद्वहनात्।

यहाँ पर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और श्लेष में चारों अलङ्कार पूर्ववत् अङ्गाङ्गिभाव से प्रतीत हो रहे हैं।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में रूपक अलङ्कार के द्वारा चन्द्रमा को कापालिक (योगी) का रूप प्रदान किया गया है। चन्द्रमा एक कापालिक है, शुभ्रवर्ण की किरणें उसकी जटाएँ हैं, कलङ्क रुद्राक्ष की माला है, वियोगियों की विपत्ति से मानो वैराग्य (लालिमा-रहित) हो गया है, आकाश में चञ्चल ताराएँ मानो अस्थियाँ हैं, शुभ्र वर्ण चन्द्रमा मानो भस्म लपेटे हुए है, इस प्रकार कापालिक रूपी चन्द्रमा श्मशान सदृश आकाश में विचरण करता है। यहाँ साङ्गरूपक मुख्य अलङ्कार है।

किन्तु यहाँ पर जटाभिर्भाभिः' तथा 'पितृवन इव व्योम्नि' में उपमा अलङ्कार है, 'कलङ्काक्षवलय' (कलङ्क एव अक्षवलय) तथा 'तारापरिकरकपाल' (तारापरिकर एव कपाल) में रूपक अलंकार है, 'वियोगिव्यापत्तेरिव' में उत्प्रेक्षा अलंकार है, 'वैराग्यविशदः, में श्लेष अलंकार है। इस प्रकार यहाँ चारों अलंकारों की परस्पर अङ्गाङ्गिभाव से स्थिति प्रतीत हो रही है। यहाँ पर उत्प्रेक्षा श्लेष का अङ्ग है, क्योंकि उत्प्रेक्षा के कारण ही, 'वैराग्यविशद' में द्वितीय अर्थ की प्रतीति होती है और श्लेष रूपक तथा उपमा का अङ्ग, क्योंकि उसके द्वारा 'जटाभिर्भाभिः' में उपमा तथा 'कलङ्काक्षवलय' में रूपक अर्थात् अवगत निर्वेद को महिमा की ही जटाधारण और अक्षमाला धारण की सङ्गति बैठती है। इसी प्रकार 'तारापरिकरकपाल' यह रूपक 'पितृवन इव' इस उपमा का अंग है, क्योंकि उपमा का बीज सादृश्य है और यहाँ ताराओं पर कपाल का आरोप रूप रूपित कपाल के आश्रय से ही सादृश्य (उपमा) बनता है। इस प्रकार यहाँ चारों अलङ्कारों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव होने से सङ्कर अलङ्कार है।

कुछ व्याख्याकारों का कथन है कि यहाँ पर विशेषणों की समानता से चन्द्रमा पर योगियों के व्यवहार (धर्म) का आरोप होने से प्रधान अलङ्कार समासोक्ति है, यह अत्यन्त स्पष्ट है। इसीलिए काव्यप्रकाशकार ने इसका उल्लेख नहीं किया है। दूसरे व्याख्याकारों का मत है कि वस्तुतः 'व्योम्नि' और 'भाभिः' आदि विशेषण दोनों पक्षों में सङ्गत नहीं होते, इसलिए यहाँ 'समासोक्ति' अलङ्कार ही नहीं है।

कलंकोऽक्षवलयमिव इति तु उपमायां कलंकस्योत्कटतया प्रतिपत्तिः। न चास्य करधृतत्वं तत्त्वतोऽस्तीति मुख्येऽप्युपचार एव शरणं स्यात्।

अनुवाद—'कलङ्क ही अक्षवलय' इस प्रकार रूपक स्वीकार करने में 'करधृतत्व' ही साधक प्रमाण को प्राप्त होता है क्योंकि उसके रूपक मानने पर कलंकरूप को तिरोहित कर अक्षवलय ही मुख्यरूप से प्रतीत होता है और उस (अक्षवलय) की ही हाथ में धारण किए जाने (करधृतत्व) की सर्वत्र प्रसिद्धि है। कलंक का हाथ में धारण करना (करधृत) वस्तुतः असत् होने पर श्लेष की छाया से प्रत्यासत्ति होने के कारण,(अर्थात् कलङ्क के आधार रूप चन्द्रमण्डल के सामीप्य सम्बन्ध से) उपचार (गौणीलक्षणा) से सङ्गत होता है क्योंकि चन्द्रमा तो केवल (मण्डलरूप) शरीर के द्वारा ही कलङ्क को धारण करता है।

'कलङ्क अक्षवलय के समान' इस प्रकार उपमा स्वीकार करने पर तो कलङ्क की ही मुख्य रूप से प्रतीति होती है और इस कलङ्क में करग्रहण योग्यता (करधृतत्व) वस्तु नहीं है, इसलिए मुख्य में भी उपचार (लक्षणा) गौणी का ही आश्रय (सहारा) लेना होगा।

विमर्श—यहाँ पर 'कलङ्काक्षवलयम्' में 'मयूरव्यंसकादयश्च' इस सूत्र से 'कलङ्क एव अक्षवलयम्' (कलङ्क ही अक्षवलय) इस प्रकार समास करने पर रूपक अलङ्कार होता है, 'किन्तु उपमितं व्याघ्रादिभिः समान्याप्रयोगे' इस सूत्र से 'कलङ्कोऽक्षवलयमिवकलङ्काक्षवलयम्' (अर्थात् कलङ्क अक्षवलय के समान) इस प्रकार उपमित समास होता है। अतः यहाँ उपमा अलंकार है, इस प्रकार उपमा और रूपक दोनों की स्थिति होने से यहाँ सन्देह संकर हो सकता है। स्पष्ट रूप से रूपक अलङ्कार नहीं माना जा सकता। इस शङ्का का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

सन्देहसंकर वहीं होता है जहाँ पर अलंकारों का कोई साधक-बाधक प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु यहाँ साधक-बाधक प्रमाणों का अभाव नहीं है, अपितु रूपक के पक्ष में साधक प्रमाण और उपमा के पक्ष में बाधक प्रमाण उपलब्ध हैं। क्योंकि यहाँ 'कलंकाक्षवलय' में रूपक मानने पर उपमान (अक्षवलय) प्रधान होता है और वहाँ करधृतत्व' यह विशेषण उचित प्रतीत होता है; क्योंकि अक्षवलय में करग्रहणयोग्यता है और अप्रधान कलंक में करग्रहण योग्यता नहीं है इसलिए यहाँ श्लेष के द्वारा 'कर' का 'किरण' अर्थ मानकर कलंक के आधाररूप चन्द्रमण्डल के साथ उनका सम्बन्ध उपचारतः (लक्षणा) के द्वारा मान लिया जाता है। इस प्रकार यहाँ पर करधृतत्व' विशेषण उपमान अक्षवलय के साथ मुख्य रूप से अन्वित (सम्बन्ध) होता है और उपमेय कलंक के साथ औपचारिक अर्थात् गौण सम्बन्ध होता है। और

एवंरूपश्च संकरः शब्दालंकारयोरपि परिदृश्यते । यथा—

राजति तटीयमभिहतदानवरासातिसारावनदा ।
गजता च यूथमविरतदानवरा ज्ञातियाति सारा वनदा ॥५७२॥

अत्र यमकमनुलोमप्रतिलोमश्च चित्रभेदः पादद्वयगते परस्परापेक्षे ।

उपमा मानने पर पूर्वपदार्थप्रधान अर्थात् कलंक (उपमेय) प्रधान होता है और प्रधान (कलंक) में साधारण धर्म रूप में 'करधृतत्व' सम्भव नहीं है क्योंकि हाथ से कलंक का धारण करना कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। अतः उसमें 'करधृतत्व' यह विशेषण उपचारतः मानना पड़ेगा किन्तु यह स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि 'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' इस न्याय से मुख्य (प्रधान) में उपचार (लक्षणा) मानने की अपेक्षा अमुख्य (अप्रधान) में लक्षणा का आश्रय (सहारा) लेना ही श्रेयस्कर है, अतः यहाँ रूपक मानना ही उचित है।

यहाँ पर विवरणकार का मत यह है कि "अलङ्कारों के एकता के साधक-बाधक प्रमाण न होने पर ही सन्देह सङ्कर होता है यहाँ पर ऐसी बात नहीं है। यहाँ 'करधृतत्व' यह विशेषण ही रूपक में साधक प्रमाण है। क्योंकि यहाँ 'करधृतत्व' रूप विशेषण उपमान रूप अक्षवलय में मुख्य रूप से संभव होने से रूपक को ही सिद्ध करता है; क्यों उपमानरूप अक्षवलय में ही, करधृतत्व का मुख्य रूप से अन्वय (सम्बन्ध) होता है और उपमा मानने पर कलङ्क की मुख्य रूप से प्रतीति होने पर उसका करधृतत्व विशेषण असंभव होने से कभी भी मुख्य रूप से अन्वय नहीं होगा। अतः कलङ्क में करधृतत्व यह विशेषण उपचारतः मानना पड़ेगा। अतः उपमा मानने में बाधक प्रमाण है। इस प्रकार यहाँ पर मुख्य रूप से रूपक अलङ्कार मानना ही उचित है।"

अनुवाद—इस प्रकार का सङ्कर दो शब्दालङ्कारों में भी देखा जाता है। जैसे—

"इस प्रकार की यह तटी शोभायमान है। जहाँ पर दानवों का रास (क्रीड़ा) अथवा सिंहनाद अभिहत (नष्ट) हो गया है, जहाँ पर ध्वनियुक्त शीघ्रगामी नद बह रहा है, तथा जहाँ निरन्तर मदजल से सुशोभित बलिष्ठ एवं वनों को छिन्न-भिन्न करने वाला हाथियों का झुण्ड (गजसमूह) अपने यूथ की रक्षा करता है ॥५७२॥

यहाँ पर पादद्वय (द्वितीय और चतुर्थ पादों) में यमक तथा अनुलोम प्रतिलोम चित्रालंकार परस्पर सापेक्ष हैं।

(सू० २०९) एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः ।

द्वयोर्बहूनां वा अलंकाराणामेकत्र समावेशेऽपि विरोधाश्च यत्र युगपदवस्थानं न चैकतरस्य परिग्रहे साधकं तदितरस्य वा परिहारे बाधकमस्ति येनैकतर एव परिगृह्येत स निश्चयाभावरूपो द्वितीयः संकरः, समुच्चयेन संकरस्यैवाक्षेपात् । उदाहरणम्—

जह गहिरो जह रअणणिब्भरो जह अ णिम्म लच्छाओ ।
तह कि विहिणा एसो सरसवाणीओ जलणिही ण किओं ।।५७३।।

[यथा गभीरो यथा रत्ननिर्भरो यथा च निर्मलच्छायः ।
तथा किं विधिना एष सरसपानीयो जलनिधिर्न कृतः ।।५७३।।]

(इति संस्कृतम्)

विमर्श—यहाँ पर अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक का मत है कि शब्दालंकारों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव (उपकार्योपकारकभाव) सङ्कर नहीं होता है अपितु दो या अधिक शब्दालंकारों के होने पर संसृष्टि होती है । किन्तु मम्मट दो या दो से अधिक शब्दालङ्कारों के होने पर अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर मानते हैं जैसा कि 'राजति तदीयम्' इत्यादि उदाहरण से प्रतीत होता है । प्रस्तुत उदाहरण में द्वितीय और चतुर्थ चरण में यमक अलङ्कार है और साथ ही इन्हीं द्वितीय चतुर्थ चरणों में अनुलोम प्रतिलोम चित्रालंकार भी है । इन दोनों अलंकारों के परस्पर सापेक्ष होने से अङ्गाङ्गिभाव संकर होता है। इस प्रकार यहाँ पर पादयमक तथा अनुलोम-प्रतिलोम चित्रालंकार दोनों विद्वानों (सहृदयों) के लिए अत्यन्त मनोरञ्जक होते हैं। इस प्रकार परस्पर सौन्दर्यातिशयद्योतक होने से परस्पर सापेक्ष होते हैं। इस प्रकार यहाँ अङ्गाङ्गिभाव संकर है । कुछ आचार्य यहाँ पर एकाश्रयानुप्रवेश संकर अलंकार मानते हैं ।

(२) **सन्देह सङ्कर**

अनुवाद (सू० २०९)—किसी एक के मानने में साधक प्रमाण और बाधक प्रमाण न होने के कारण निश्चय न हो सकना (अनिश्चय) सन्देह सङ्कर होता है ।

अनुवाद (वृत्ति)—दो अथवा अनेक अलंकारों का एक जगह समावेश होने पर भी विरोध होने से जहाँ एक साथ स्थिति सम्भव नहीं है और एक के ग्रहण में साधक प्रमाण अथवा दूसरे के त्याग में बाधक प्रमाण नहीं होता, जिससे किसी एक का ही ग्रहण कर लिया जाय, वह निश्चयाभाव रूप (सन्देहसंकररूप) दूसरा संकर अलंकार होता है । सूत्र में समुच्चय बोधक 'च' शब्द के द्वारा 'संकर' शब्द की पूर्व सूत्र से अनुवृति होने से (संदेह सङ्कर होता है) । उदाहरण, जैसे—

अनुवाद—ब्रह्मा ने इस समुद्र को जैसा गम्भीर, जैसा रत्नपूर्ण और जैसा निर्मल कान्ति वाला बनाया है, वैसा स्वादिष्ट जलपूर्ण क्यों नहीं बनाया।।५७३।।

अत्र समुद्रे प्रस्तुते विशेषणसाम्यादप्रस्तुतार्थप्रतीतेः किमसौ समासोक्तिः किम्; अब्धेरप्रस्तुतस्य मुखेन कस्यापि तत्समगुणतया प्रस्तुतस्य प्रतीतेः इयमप्रस्तुतप्रशंसा इति सन्देहः। यथा वा—

नयनानन्ददायीन्दोर्बिम्बमेतत्प्रसीदति ।
अधुनापि निरुद्धाशमविशीर्णमिदन्तमः ॥५७४॥

अत्र किं कालस्योद्दीपकः कालो वर्तते इति भङ्‌ग्यन्तरेणाभिधानात्पर्यायोक्तम्, उत वदनस्येन्दुबिम्बतयाऽध्यवसानादतिशयोक्तिः; किं वा एतदिति वक्त्रं निर्दिश्य तद्रूपारोपवशाद्रूपकम्; अथवा तयोः समुच्चयविवक्षायां दीपकम्, अथवा तुल्ययोगिता किमु प्रदोषसमये विशेषणसाम्यादाननस्यावगतौ समासोक्तिः, आहोस्वित् मुखनैर्मल्यप्रस्तावादप्रस्तुतप्रशंसा इति बहूनां सन्देहादयमेव संकरः।

यहाँ पर समुद्र के प्रस्तुत होने पर विशेषणों के साम्य से अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होने से क्या यह समासोक्ति (अलंकार) है? अथवा अप्रस्तुत समुद्र के वर्णन के द्वारा उसके समान गुणों के कारण प्रस्तुत (पुरुषविशेष) की प्रतीति होने से क्या यह अप्रस्तुतप्रशंसा (अलंकार) है? यह सन्देह होता है।

विमर्श—यहाँ पर समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा दोनों अलंकारों में एक के साधक और दूसरे के बाधक प्रमाण न होने से सन्देहरूप संकर है। इस प्रकार दो अलंकारों के सन्देह संकर का उदाहरण प्रस्तुत करने के बाद अब अनेक अलंकारों के सन्देह संकर अलंकार का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

अथवा जैसे—

अनुवाद—नयनों (नेत्रों) को आनन्द देने वाला यह चन्द्रमा का बिम्ब चमक रहा है, किन्तु दिशाओं को आच्छादित करने वाला यह अन्धकार इस समय भी नष्ट नहीं हुआ है ॥५७४॥

अनुवाद (वृत्ति)—यहाँ पर 'क्या यह काम का उद्दीपक समय है?' यह प्रकारान्तर से कथन होने के कारण 'पर्यायोक्त' अलंकार है? अथवा मुख का चन्द्रबिम्ब के रूप में निश्चय होने से अतिशयोक्ति अलंकार है? अथवा क्या

यत्र तु न्यायदोषयोरन्यतरस्यावतारः तत्रैकतरस्य निश्चयान्न संशयः। न्यायश्च साधकत्वमनुकूलता। दोषोऽपि बाधकत्वं प्रतिकूलता। तत्र—

सौभाग्यं वितनोति वक्त्रशशिनो ज्योत्स्नेव हासद्युतिः ॥५७५॥

यह 'एतत्' इस शब्द से मुख का निर्देश करके उसमें (चन्द्रबिम्ब) के रूप का आरोप होने से रूपक अलंकार है? अथवा उन दोनों समुच्चय की विवक्षा में दीपक अलंकार है? अथवा तुल्ययोगिता अलंकार है? अथवा प्रदोष काल के वर्णन में विशेषणों की समानता से मुख की प्रतीति होने से समासोक्ति है? अथवा मुख की निर्मलता के वर्णन प्रसङ्ग में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है? इस प्रकार यहाँ अनेक अलंकारों का सन्देह होने से सन्देह संकर अलंकार है।

(जहाँ पर किसी एक पक्ष में साधक अथवा बाधक प्रमाणों का अभाव होता है वहाँ सन्देह-संकर अलंकार होता है) किन्तु जहाँ एक पक्ष में साधक अथवा दूसरे पक्ष में बाधक प्रमाण मिल जाता है वहाँ किसी एक का निश्चय हो जाने से संशय नहीं रहता। 'न्याय' शब्द का अर्थ साधकता या अनुकूलता है और दोष (पद) भी बाधकता या प्रतिकूलता है। उनमें—

अनुवाद—चाँदनी के समान हास की कान्ति मुखचन्द्र की शोभा को बढ़ा रही है ॥५७५॥

यहाँ पर मुख्य रूप से प्रतीत होने वाली हास-द्युतिमुख में ही अनुकूलता को प्राप्त होती है; इसलिए उपमा का साधक (प्रमाण) है। चन्द्रमा में तो वैसी प्रतिकूलता नहीं है, इसलिए रूपक के प्रति उस (हासद्युति) की बाधकता नहीं है।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जहाँ पर साधक-बाधक प्रमाण मिलता है वहाँ-वहाँ पर एक ही प्रमाण एक का साधक है तो वह दूसरे का बाधक हो जाता है और जो एक का बाधक होता है वह दूसरे का साधक हो जाता है तब फिर दोनों का अलग-अलग उदाहरण देने की क्या आवश्यकता है? इस पर कहते हैं कि यद्यपि एक का साधक दूसरे का बाधक होता है अथवा एक का बाधक दूसरे का साधक होता है, तथापि दोनों में अन्तर पाया जाता है तात्पर्य यह कि साधक प्रमाण में साधक अंश की प्रमुखता होती है और बाधक प्रमाण में बाधक अंश की प्रमुखता होती है। अन्य कार्य वे अर्थापत्ति के द्वारा करते हैं, इसलिए दोनों के उदाहरण अलग-अलग दिये गये हैं।

इत्यत्र मुख्यतयाऽवगम्यमाना हासद्युतिर्वक्त्रे एवानुकूल्यं भजते इत्युपमायाः साधकम्। शशिनि तु न तथा प्रतिकूलेति रूपकं प्रति तस्या अबाधकता।

वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्यतः ॥५७६॥

इत्यत्रापरत्वमिन्दोरनुगुणं न तु वक्त्रस्य प्रतिकूलमिति रूपकस्य साधकतां प्रतिपद्यते, न तूपमाया बाधकताम्।

राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम् ॥५७७॥

इत्यत्र पुनरालिङ्गनमुपमां निरस्यति। सदृशं प्रति परप्रेयसीप्रयुक्तस्यालिङ्गनस्यासम्भवात्।

अनुवाद—हे राजन्! आपके मुखचन्द्र के होते हुए भी यह दूसरा चन्द्रमा उदय हो रहा है ॥५७६॥

यहाँ पर 'अपरत्व' शब्द चन्द्रमा के अनुकूल है किन्तु मुख के प्रतिकूल नहीं है। इसलिए यह (अपरत्व) रूपक का साधक होता है उपमा का बाधक नहीं होता है।

विमर्श—एक के साधक तथा दूसरे के बाधक प्रमाणों के अभाव में सन्देह संकर अलंकार होता है। यदि एक का साधक प्रमाण उपलब्ध हो तो उसका निश्चय हो जाने से संशय (सन्देह) का उदय नहीं होता, अतः सन्देह संकर नहीं हो सकता। जैसे—पहिले उदाहरण 'सौभाग्यं वितनोति' इत्यादि में उपमा का साधक 'हासद्युति' रूप प्रमाण और दूसरे उदाहरण 'वक्त्रेन्दौ' इत्यादि में रूपक का साधक 'अमरत्व' रूप प्रमाण विद्यमान है, अतः यहाँ साधक प्रमाणों के द्वारा एक पक्ष में निर्णय होने से सन्देह संकर नहीं है।

अनुवाद—राजारूप नारायण आपका लक्ष्मी गाढ़ आलिङ्गन करती है ॥५७७॥

यहाँ पर पुनरालिङ्गन शब्द उपमा का निराकरण करता है। क्योंकि (नारायण के) सदृश के प्रति दूसरों की प्रेयसी का आलिंगन सम्भव नहीं है।

विमर्श—यहाँ पर 'आलिंगन' पद 'राजा नारायण इव' इस प्रकार उपमा का बाधक है, क्योंकि यह राजा नारायण के सदृश है' इस प्रकार उपमा के लक्ष्मी के द्वारा उसका (राजा का) आलिंगन उचित नहीं है, क्योंकि कोई पतिव्रता नारी अपने पति के सदृश व्यक्ति का आलिंगन नहीं करती, अतः यह उपमा का बाधक

पादाम्बुजं भवतु नो विजयाय मञ्जु—
मञ्जीरशिञ्जित मनोहरमम्बिकायाः ॥५७८॥

इत्यत्र मञ्जीरशिञ्जितं अम्बुजे प्रतिकूलम्, असम्भवादिति रूपकस्य बाधकम्, नतु पादेऽनुकूलमित्युपायाः साधकमभिधीयते। विध्युपमर्दिनी बाधकस्य तदपेक्षयोत्कटत्वेन प्रतिपत्तेः। एवमन्यत्रापि सुधीभिः परीक्ष्यम्।

(सू० २१०) स्फुटमेकत्रविषये शब्दार्थालङ्कृतिद्वयम्।
व्यवस्थितं च··· ··· ···॥

अभिन्ने एव पदे स्फुटतया यदुभावपि शब्दार्थालङ्कारौ व्यवस्थां समासादयतः सोऽप्यपरः संकरः। उदाहरणम्—

प्रमाण है। यहाँ पर आलिंगन शब्द रूपक का साधक प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहाँ पर उपमा बाधकता की प्रधानता मानकर प्रस्तुत उदाहरण दिया गया है। प्रधानता के आधार पर व्यवहार होता है, इस न्याय के अनुसार (प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायात्)।

अनुवाद—नूपुर की मधुर ध्वनि से मनोहर पार्वती का चरण कमल हमारे विजय के लिए हो ॥५७८॥

यहाँ पर मञ्जीर-शिञ्जित शब्द कमल (अम्बुज) में असम्भव होने से प्रतिकूल है, इस प्रकार रूपक का बाधक है, किन्तु वह चरण के अनुकूल है, इसलिए उपमा का साधक नहीं है; क्योंकि यहाँ पर विधि (रूपक) का निराकरण करने वाला बाधक उसकी अपेक्षा बलवान् प्रतीत हो रहा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी (अन्य उदाहरणों में भी) विद्वानों को समझ लेना चाहिए।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण 'पादाम्बुजं' इत्यादि में 'पाद एव अम्बुजम्' इस प्रकार समास होने पर रूपक अलंकार होता है, किन्तु यहाँ 'मञ्जीरशिञ्जित' शब्द रूपक का बाधक है। इसे 'पादोऽम्बुजमिव' इस प्रकार विग्रह कर उपमा का साधक नहीं माना जा सकता। क्योंकि यहाँ पर रूपक का निराकरण करने वाला 'मञ्जीरशिञ्जित' शब्द उपमा साधकत्व की अपेक्षा रूपक बाधकत्व बलवान् तथा प्रधान है। इसलिए इसे उपमा साधक का उदाहरण नहीं माना जाता, अपितु प्रधानता के कारण रूपकबाधक का उदाहरण मानना अधिक युक्तिसंगत है।

(३) एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर

अनुवाद (सू० २१०)—जहाँ एक विषय (पद) में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों स्पष्ट रूप से व्यवस्थित होते हैं (वह एकाश्रयानप्रवेश नामक तृतीय प्रकार का सङ्कर अलंकार होता है)।

स्पष्टोल्लसत्किरणकेसरसूर्यबिम्ब—
विस्तीर्णकर्णिकमथो दिवसारविन्दम् ।
श्लिष्टाष्टदिग्दलकलामुखावतार—
बद्धान्धकारमधुपावलि सञ्चुकोच ॥५७६॥

अत्रैकपदानुप्रविष्टौ रूपकानुप्रासौ ।

अनुवाद (वृत्ति)—जहाँ अभिन्न (एक ही) पद में स्पष्ट रूप से शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही व्यवस्थित रूप में रहते हैं, वहाँ एक अन्य प्रकार का संकर होता है ।

विमर्श – यहाँ पर विषय का अर्थ पद है । इस प्रकार अभिन्न अर्थात् समान पद में (सुबन्त-तिङन्त रूप पद में) शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही स्पष्ट रूप से व्यवस्थित (अनुप्रविष्ट) होते हैं वहाँ तृतीय प्रकार का एकपदानुप्रवेश नामक संकर होता है । इसी को एकव्यञ्जकानुप्रवेश संकर अथवा एकाश्रयानुप्रवेश संकर भी कहते हैं । जैसे 'कलकलोऽलकलोकदृशाऽन्यया' इत्यादि उदाहरण में अनुप्रास और यमक इन दो अलंकारों की स्थिति है और 'वक्त्रारविन्दमधुलुब्धमधुव्रताश्च' इत्यादि उदाहरण में रूपक और अतिशयोक्ति इन दो अर्थालंकारों की स्थिति है । इस प्रकार यह एकपदानुप्रवेश संकर का उदाहरण है ।

अनुवाद—स्पष्ट रूप से उल्लसित किरण रूप केसर से युक्त, सूर्यबिम्ब रूप विशाल बीजकोश वाला तथा परस्पर सम्बद्ध आठ दिशा रूपी दल समूह से युक्त रात्रि के आरम्भ के आगमन से अन्धकार रूप भ्रमर पंक्ति से बद्ध (घिरा हुआ) दिन रूपी कमल संकुचित हो गया ॥५७६॥

यहाँ पर एक पद में ही रूपक और अनुप्रास दोनों अलङ्कार स्थित हैं, अतः यह एकपदानुप्रवेश सङ्कर का उदाहरण है ।

विमर्श—यहाँ पर दिन रूप कमल पर किरण रूप केसर, सूर्य रूप कर्णिका अष्ट दिग् रूप आठ पंखुड़ियाँ और अन्धकार रूप भ्रमरपंक्ति का आरोप होने से रूपक अलंकार है और साथ-साथ अनुप्रास अलंकार भी है । इस प्रकार यहाँ पर एक पद में अर्थात् प्रत्येक पद में रूपक और अनुप्रास अलङ्कार साथ-साथ पाये जाते हैं अतः यह एकपदानुप्रवेश सङ्कर का उदाहरण है ।

(सू० २११) तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्त्तितः ॥१४१॥

तदयं अनुग्राह्यानुग्राहकतया सन्देहेन एकपदप्रतिपाद्यतया च व्यवस्थितत्वात् त्रिप्रकार एव संकरो व्याकृतः। प्रकारान्तरेण तु न शक्यो व्याकर्त्तुम्। आनन्त्यात तत्फलभेदानामिति।

[अलंकाराणां शब्दार्थगतत्वादिव्यवस्था]

प्रतिपादिताः शब्दार्थोभयगतत्वेन त्रैविध्यजुषोऽलङ्काराः।

कुतः पुनरेष नियमो यदेतेषां तुल्येऽपि काव्यशोभातिशयहेतुत्वे कश्चिदलंकारः शब्दस्य, कश्चिदर्थस्य कश्चिच्चोभयस्येति चेत् उक्तमत्र यथा काव्ये दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थोभयगतत्वेन व्यवस्थायाम् अन्वयव्यतिरेकाविव प्रभवतः निमित्तान्तरस्याभावात्। ततश्चयोऽलंकारो यदीयान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते स तदलङ्कारो व्यवस्थाप्यत इति।

अनुवाद (सू० २११)- इस प्रकार यह सङ्कर (अलङ्कार) तीन प्रकार का कहा गया है ॥१४१॥

अनुवाद (वृत्ति)--इस प्रकार यह संकर अनुग्राहक (अङ्गाङ्गिभाव) रूप से सन्देह रूप में और एकपद प्रतिपाद्य (एकपदानुप्रवेश) रूप से व्यवस्थित होने के कारण तीन प्रकार का सङ्कर प्रतिपादित किया गया है। अन्य प्रकार से उसकी व्याख्या (विवेचन) नहीं की जा सकती, क्योंकि इस प्रकार उसके अनन्त भेद हो जायेंगे।

शब्दालंकार और अर्थालंकार की विभाजन व्यवस्था

अनुवाद—इस प्रकार शब्दगत, अर्थगत और उभयगत ये तीन प्रकार के अलंकार (नवम और दशम उल्लास में) प्रतिपादित किये जा चुके हैं।

विमर्श—इस प्रकार नवम उल्लास तथा दशम उल्लास में शब्दगत, अर्थगत और उभयगत भेद से तीन प्रकार के अलङ्कारों का निरूपण किया जा चुका है। अब प्रश्न उठता है यह कि काव्यशोभा के अतिशय हेतु को अलंकार कहते हैं और काव्य शोभा को बढ़ाने वाले हेतु शब्दगत, अर्थगत और उभयगत तीनों प्रकार के अलङ्कारों में समान रूप से पाये जाते हैं तो शब्दगत, अर्थगत और उभयगत यह भेद किस आधार पर किया गया है? इस शङ्का का समाधान करते हुए ग्रन्थकार अगला अनुच्छेद प्रारम्भ करते हैं—

अनुवाद—जो इन अलंकारों में काव्यशोभा के अतिशय हेतु के समान रूप से रहने पर कोई शब्द का, कोई अर्थ का और कोई दोनों का अलङ्कार है, यह नियम क्यों ? यदि यह पूछा जाय तो इस विषय में पहिले कहा जा चुका है कि काव्य में दोष, गुण और अलङ्कारों का शब्दगत, अर्थगत और उभयगत रूप व्यवस्था में अन्वय-व्यतिरेक ही समर्थ हैं, अन्य कोई निमित्त न होने से। इसलिए जो अलंकार जिसके अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करता है, वह उसका अलङ्कार है, यह व्यवस्था है।

विमर्श—शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार की भेद-व्यवस्था नवम उल्लास में श्लेष अलङ्कार के निरूपण के अवसर पर प्रतिपादित की जा चुकी है, उसी के दृढ़ीकरण हेतु यहाँ उसका पुनः विवेचन किया जा रहा है कि दोष, गुण और अलंकारों का शब्दगत, अर्थगत और उभयगत रूप से जो व्यवहार होता है उसका कारण अन्वय-व्यतिरेक है। अन्वय का अर्थ है '**तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः**' और व्यतिरेक का अर्थ है '**तदभावे तदभावो व्यतिरेकः**'। अर्थात् उसके रहने पर वह रहे अन्वय है और उसके न रहने पर वह न रहे व्यतिरेक। जैसे धूम के रहने पर अग्नि का होना अन्वय है (धूमसत्त्वेऽग्निसत्ता) और अग्नि के न रहने पर धुएँ का न होना व्यतिरेक है (वह्न्यभावे धूमाभावः) इसी प्रकार जहाँ पर किसी शब्द विशेष के रहने पर जो अलंकार रहता है और उस शब्दविशेष के न रहने पर अर्थात् उस शब्दविशेष को हटाकर उसके पर्यायवाची किसी दूसरे शब्द के रख देने पर वह अलंकार न रहे, वहाँ पर उस शब्द विशेष के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करने के कारण शब्दालंकार होता है और जहाँ पर किसी शब्द विशेष के रहने पर जो अलंकार रहता है और उस शब्द विशेष को हटाकर उसके स्थान पर दूसरा पर्यायवाची शब्द रख देने पर भी वह अलंकार बना रहता है, अलंकारत्व नष्ट नहीं होता, वहाँ अर्थालंकार होता है। इसी प्रकार जो शब्द और अर्थ दोनों के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करता है वह उभयालंकार कहलाता है।

इस प्रकार शब्दपरिवृत्यसह तथा शब्दपरिवृत्ति-सह के आधार शब्दालंकार और अर्थालंकार का निर्णय किया जाता है। अर्थात् जो गुण, दोष या अलंकार शब्द-परिवृत्यसह होता है अर्थात् शब्द परिवर्तन को सहन करता है वह शब्दगत गुण, दोष, अलंकार कहलाता है और जो गुण, दोष या अलंकार शब्दपरिवृत्तिसह होता है अर्थात् शब्द परिवर्तन को सहन कर लेता है वह अर्थगत गुण, दोष, अलंकार कहलाता है। इस प्रकार गुण, दोष अथवा अलंकारों की शब्दनिष्ठता शब्दपरिवृत्य-सहत्व और अर्थनिष्ठता शब्दपरिवृत्ति-सहत्व पर आधारित है।

एवं च यथा पुनरुक्तवदाभासः परम्परितरूपकं चोभयोर्भावानुभावानुविधायित्तया उभयालंकारौ तथा शब्दहेतुकार्थान्तरन्यासप्रभृतयोऽपि द्रष्टव्याः। अर्थस्यतु तत्र वैचित्र्यम् उत्कटतया प्रतिभासत इति वाच्यालंकारमध्ये वस्तुस्थितिमनपेक्ष्यैव लक्षिताः।

अनुवाद –इस प्रकार जैसे पुनरुक्तवदाभास और परम्परित रूपक जिस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों के भाव और अभाव (अन्वय और व्यतिरेक) का अनुसरण करने के कारण उभयालंकार कहलाते हैं उसी प्रकार शब्द हेतुक अर्थान्तरन्यास आदि को भी उभयालंकार समझना चाहिए। किन्तु उनमें अर्थ का वैचित्र्य (चमत्कार) प्रबल रूप से प्रतीत होता है, इसलिए वस्तुस्थिति की अपेक्षा न करके अर्थालंकार (वाच्यालंकार) के मध्य में ही प्रदर्शित किया गया है।

विमर्श—यहाँ पर ग्रन्थकार का आशय है कि पुनरुक्तवदाभास अलंकार के 'तनुवपुरजन्योऽसौ' इत्यादि उदाहरण में तनु, कुञ्जर आदि पदों का परिवर्तन कर देने पर शब्दपरिवृत्यसह होने के कारण शब्द अन्वय-व्यतिरेक का और वपु, करि आदि शब्दों का परिवर्तन कर उनके स्थान पर पर्यायवाची शब्द रख देने पर अलंकारत्व की क्षति न होती। इसलिए यहाँ शब्द परिवृत्ति-सह होने के कारण अर्थ के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करने के कारण यह पुनरुक्तावदाभास उभयालंकार माना जाता है। इसी प्रकार पम्परितरूपक के 'विद्वन्मानसहंस' इत्यादि उदाहरण में मानस आदि शब्दपरिवृत्यसह हैं और हंस आदि कुछ शब्द शब्दपरिवृत्तिसह हैं। अर्थात् मानस आदि शब्दों को परिवर्तन कर तत्पर्यायवाचक शब्द रख देने पर अलंकारत्व नहीं रहता और हंस आदि शब्दों का परिवर्तन कर उनके स्थान पर तत्पर्यायवाचक शब्दों को रख देने से अलंकारत्व की क्षति नहीं होती अर्थात् अलंकारत्व बना रहता है। इसलिए कुछ अंशों में शब्द के और कुछ अंशों में अर्थ के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करने के कारण यहाँ उभयालंकार माना जाता है।

इसी प्रकार अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार भी जहाँ शब्द के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करें वहाँ उन्हें भी उभयालङ्कार समझना चाहिए। जैसे—**उत्पादयति लोकस्य प्रीतिं मलयमारुतः। ननु दाक्षिण्यसम्पन्नः सर्वस्य भवति प्रियः'** इस उदाहरण में दाक्षिण्य शब्दमूलक अर्थान्तरन्यास अलंकार है। यहाँ पर 'दाक्षिण्य सम्पन्न सब का प्रिय होता है' इस सामान्य कथन के द्वारा 'मलयमारुत प्रीति को उत्पन्न करता है' इस विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है। यह अर्थान्तरन्यास 'दाक्षिण्यसम्पन्न' शब्द पर आधारित है। क्योंकि दक्षिण दिशा से आने के कारण मलयमारुत दाक्षिण्य-सम्पन्न है और अनेक महिलाओं के प्रति समान अरागनु

योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकार इत्यपि कल्पनायाम् अन्वयव्यतिरे-कावेव समाश्रयितव्यौ तदाश्रयमन्तरेण विशिष्टस्याश्रयाश्रयिभावस्या-भावात्, इत्यलंकाराणां यथोक्तनिमित्त एव परस्परव्यतिरेको ज्यायान्।

रखने वाला नायक दक्षिण (दाक्षिण्यसम्पन्न) नायक कहलाता है। जिस प्रकार दाक्षिण्यसम्पन्न (दक्षिण) नायक सबका प्रिय होता है उसी प्रकार दाक्षिण्यसम्पन्न मलयमारुत सबको आनन्दित करने वाला (प्रिय) होता है। इस प्रकार सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार का आधार यहाँ 'दाक्षिण्यसम्पन्न' शब्द है। यहाँ पर दाक्षिण्य शब्द का परिवर्तन कर उसके स्थान पर दूसरा शब्द रख देने पर अलंकारत्व नहीं रहेगा। इस प्रकार यहाँ पर अर्थान्तरन्यास अलंकार शब्द के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करने के कारण शब्दालंकार है और कुछ शब्दों के परिवृत्ति-सह होने से यह अर्थालंकार है। इस प्रकार अर्थान्तरन्यास के अर्थालङ्कार होने पर भी कुछ अंशों में शब्द के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करने के कारण शब्दहेतुक अर्थान्तरन्यास को भी उभयालङ्कार मानना चाहिए।

इसी प्रकार उपमालंकार को भी उभयालंकार मानना चाहिए। जैसे 'सकलकलं पुरमेतज्जातम्' इत्यादि उदाहरण में 'सकलकल' शब्द के परिवृत्य-सह होने से शब्द के अन्वय-व्यतिरेक का और अन्य शब्दों के परिवृत्ति-सह होने से अर्थ के अन्वय-व्यतिरेक का अनुसरण करने के कारण इसे भी उभयालंकार मानना चाहिए।

इस प्रकार अर्थान्तरन्यास, उपमा आदि अलंकार के उभयालंकार मानने पर उभयालंकार में इनका परिगणन करना चाहिए, किन्तु उभयालंकार के प्रस्ताव का उल्लंघन कर अर्थालंकार के मध्य में इनका परिगणन क्यों किया गया? इसक समाधान करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि अर्थान्तरन्यास, उपमा आदि अलंकारों को उभयालंकार मानने पर भी इनमें वाचक (शब्द) के वैचित्र्य की अपेक्षा अर्थ-वैचित्र्य विशेष चमत्कारजनक होता है, इसलिए वस्तुस्थिति की उपेक्षा करके अर्थालंकार में इनका परिगणन किया गया है (अतएवार्थवैचित्र्यस्योत्कटतया अर्थान्तरन्यासो-पमादयोऽलङ्कारा अर्थालंकारमध्ये परिगणिताः)। इसी प्रकार पुनरुक्तवदाभास आदि अलं-कारों में वाक्य (अर्थ) की अपेक्षा वाचक-वैचित्र्य (शब्द-वैचित्र्य) विशेष चमत्कारजनक प्रतीत होने से शब्दालंकार के मध्य इनका परिगणन किया जाता है (अतएव शब्द-वैचित्र्यस्योत्कटतया पुनरुक्तवदाभासः शब्दालंकारमध्ये गणितः)।

अनुवाद—जो अलंकार जिस (शब्द और अर्थ) के आश्रित रहता है वह उसका अलंकार होता है, इस कल्पना में भी अन्वय और व्यतिरेक का आश्रय लेना पड़ेगा। क्योंकि उस (अन्वय-व्यतिरेक) के आश्रय के बिना

[अलंकार-दोष समीक्षा]

(सू० २१२) एषां दोषा यथायोगं संभवन्तोऽपि केचन ।
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिता ।।

विशिष्ट का आश्रयाश्रयिभाव नहीं बन सकता है, इसलिए अलंकारों का यथोक्त अन्वय-व्यतिरेक रूप निमित्त ही परस्पर भेद मानना अधिक श्रेष्ठ (अच्छा) है ।

विमर्श—अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार के भेद का आधार अन्वय-व्यतिरेक नहीं माना है । उनका कहना है कि 'जो अलंकार जिसके आश्रित होता है वह उसका अलंकार होता है, इसलिए आश्रयाश्रयिभाव ही शब्दगत, अर्थगत और उभयगत अलंकार-व्यवस्था का बीज (नियामक) है, अन्वय-व्यतिरेक नहीं (**योऽलंकारो यदाश्रितः स तदीयोऽलंकारः तेनाश्रयाश्रयिभाव एव शब्दार्थोभयालंकारव्यवस्थायां बीजम्, नान्वयव्यतिरेकौ**) । वस्तुतः अलंकार-विभाजन की यह व्यवस्था अत्यन्त प्राचीन है जैसाकि अलंकारसर्वस्वकार ने उसका समर्थन किया है (**तस्मादाश्रयाश्रयिभावेनैव चिरन्तनमतानुस्मृतिरिति**) । किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट ने इस व्यवस्था का खण्डन कर अन्वय-व्यतिरेक के सिद्धान्त का समर्थन किया है । जैसाकि सरस्वतीतीर्थ का कथन है कि आश्रयाश्रयिभाव के द्वारा शब्दगत, अर्थगत और उभयगत अलंकार विभाजन की व्यवस्था है अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा नहीं, अलंकारसर्वस्वकार के इस मत का खण्डन करने के लिए ग्रन्थकार मम्मट कहते हैं कि रुय्यक के आश्रयाश्रयिभाव की कल्पना का आधार भी अन्वय-व्यतिरेक ही है; क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक ही आश्रयाश्रयिभाव का निर्णायक हैं उनके बिना आश्रयाश्रयिभाव का निर्णय नहीं हो सकता है । अतः अन्वय-व्यतिरेक को ही शब्दगत, अर्थगत और उभयगत विभाजन का आधार मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है ।

अलंकार-दोष समीक्षा

भामह, वामन, रुद्रट आदि प्राचीन आचार्यों ने अलंकार-विवेचन के प्रकरण में अलंकार-दोषों का भी विवेचन किया है और दोष-सामान्य का भी निरूपण किया है; किन्तु उनका दोष-विवेचन मम्मट जैसा विस्तृत नहीं है तथा कुछ अलंकारदोष उनके दोष प्रकरण से गतार्थ भी नहीं होते, इसलिए उन्होंने अलंकार प्रकरण में अलंकार दोषों का विवेचन किया है, किन्तु मम्मट दोष-सामान्य के विवेचन के अतिरिक्त अलंकार-दोषों का पृथक् विवेचन की आवश्यकता नहीं समझते, उनका कहना है कि सभी प्रकार के काव्य-दोषों का निरूपण सूक्ष्म दृष्टि से और सुव्यवस्थित रूप से सप्तम उल्लास में किया जा चुका है, अतः अलंकार-दोष कोई अतिरिक्त दोष न होने से सप्तम उल्लास में प्रतिपादित दोष-सामान्य में अन्तर्भूत किये जा सकते हैं, अतः उन्हें

तथाहि अनुप्रासस्य प्रसिद्ध्यभावो वैफल्यं वृत्तिविरोध इति ये त्रयो दोषाः ते प्रसिद्धिविरुद्धताम् अपुष्टार्थत्वं प्रतिकूलवर्णतां च यथाक्रमं न व्यतिक्रामन्ति, तत्स्वभावत्वात् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

चक्री चक्रारपंक्तिं हरिरपि च हरीन् धूर्जटिर्धूर्ध्वजाग्रान्—
अक्षं नक्षत्रनाथोऽरुणमपि वरुणः कूबराग्रं कुबेरः ।
रंहः संघः सुराणां जगदुपकृतये नित्ययुक्तस्य यस्य
स्तौति प्रीतिप्रसन्नोऽन्वयमहिमरुचेः सोऽवतात् स्यन्दनो वः ।।५८०।।

अत्र कर्त्तृकर्मप्रतिनियमेन स्तुतिः, अनुप्रासानुरोधेनैव कृता न पुराणेतिहासादिषु तथा प्रतीतेति प्रसिद्धिविरोधः ।

अलग दोष मानने की आवश्यकता नहीं है । अतः मम्मट अलंकार-दोषों का प्रतिपादन कर सप्तम उल्लास में प्रतिपादित दोष-सामान्य में अन्तर्भाव करने का प्रयास करेंगे ।

अनुवाद (सू० २१२)—इन अलंकारों के यथायोग कुछ दोष सम्भव हो सकते हैं उनका पूर्व प्रतिपादित दोषों में अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए उनका अलग से प्रतिपादन नहीं किया गया है ।।१४२।।

(१) अनुप्रासदोष

अनुवाद (वृत्ति) —जैसे कि अनुप्रास के प्रसिद्ध्यभाव, वैफल्य, वृत्ति-विरोध ये जो तीन दोष होते हैं, वे क्रमशः प्रसिद्धिविरुद्धता, अपुष्टार्थत्व और प्रतिकूलवर्णता दोषों के अतिरिक्त (भिन्न दोष) नहीं हैं, उसी प्रकार के स्वभाव वाले होने से । क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं—

(क) प्रसिद्ध्यभाव

अनुवाद—संसार के उपकार में सतत प्रयुक्त जिसके चक्रारपंक्ति (पहियों के अरों) की स्तुति चक्री (विष्णु) करते हैं, अश्वों की हरि (इन्द्र), ऊपर स्थित पताका के अग्रभाग की शिव, अक्ष (धुरी) की नक्षत्रपति (चन्द्रमा), सारथि अरुण की वरुण, कूबराग्र (जुए) की कुबेर, वेग की (स्तुति) देवताओं का समूह प्रीति से प्रसन्न होकर प्रतिदिन स्तुति करते हैं वह सूर्य देव का रथ आप लोगों की रक्षा करे ।।५८०।।

यहाँ पर कर्त्ता और कर्म के प्रति नियत रूप से स्तुति अनुप्रास के के अनुरोध से ही की गई है. पुराण-इतिहास आदि में इस प्रकार की नियत स्तुति प्रसिद्ध नहीं है, इसलिए यहाँ प्रसिद्धि विरुद्धता दोष है ।

भण तरुणि ! रमणमन्दिरमानन्दस्यन्दिसुन्दरेन्दुमुखि ।
यदि सल्लीलोल्लापिनि ! गच्छसि तत्किं त्वदीयं मे ॥५८१॥

अनणुरणन्मणिमेखलमविरतशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम् ।
परिसरणमरुणचरणे ! रणरणकमकारणं कुरुते ॥५८२॥

अत्र वाच्यस्य विचिन्त्यमानं न किञ्चिदपि चारुत्वं प्रतीयते इत्यपुष्टार्थतयैवानुप्रासस्य वैफल्यम् ।

अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमाकण्ठं कलकण्ठि माम् ।
कम्बुकण्ठ्याः क्षणं कण्ठे कुरु कण्ठार्त्तिमुद्धर ! ॥५८३॥

अत्र शृङ्गारे परुषवर्णाडम्बरः पूर्वोक्तरीत्या विरुध्यत इति परुषानुप्रासोऽत्र प्रतिकूलवर्णतैव वृत्तिविरोधः ।

(ख) वैफल्य

अनुवाद—अरे आनन्ददायक सुन्दर चन्द्रमा के समान मुखवाली ! उत्कृष्ट लीलापूर्वक बात-चीत करने वाली ! रक्त चरणों वाली तरुणि ! बताओ, यदि तुम पति के घर जा रही हो तो अत्यधिक ध्वनि करने वाली मणि-मेखला से युक्त तथा निरन्तर झनझनाते हुए सुन्दर नूपुरों से युक्त तुम्हारा यह गमन मुझे अकारण क्यों उत्कण्ठित कर रहा है ? ॥५८१-५८२॥

यहाँ पर विचार करने पर वाच्य अर्थ का भी चारुत्व प्रतीत नहीं होता, इस प्रकार अनुप्रास का वैफल्य (रूप दोष) अपुष्टार्थता (दोष) ही है।

(ग) प्रतिकूलवर्णता

अनुवाद—हे कलकण्ठि ! प्रबल उत्कण्ठा से कण्ठ तक भरे हुए मुझे क्षण भर शंख के सदृश कण्ठ वाली (प्रियतमा) के गले लगा दे और मेरे गले की पीड़ा को दूर कर दे ॥५८३॥

यहाँ पर शृङ्गार रस में कठोर वर्णों का बहुत प्रयोग पूर्वोक्त रीति से विरुद्ध है, इसलिए परुषानुप्रासा (परुषावृत्ति अनुप्रास) रूप वृत्ति-विरोध (दोष) प्रतिकूल वर्णन ही है।

यमकस्य पादत्रयगतत्वेन यमनमप्रयुक्तत्वं दोषः। यथा—

भुजङ्गमस्येव मणिः सदम्भा ग्राहावतीर्णेव नदी सदम्भाः।
दुरन्ततां निर्णयतोऽपि जन्तोः कर्षन्ति चेतः प्रसभं सदम्भाः ॥५८४॥

उपमायामुपमानस्य जातिप्रमाणगतन्यूनत्वम् अधिकता, तादृशी अनुचितार्थत्वं दोषः। धर्माश्रये तु न्यूनाधिकत्वे यथाक्रमं हीनपदत्वमधिकपदत्वं च न व्यभिचरतः।

---

(२) यमक दोष

अनुवाद—यमक अलङ्कार के तीन चरणों में निबन्धन रूप जो अलङ्कार दोष है वह अप्रयुक्तत्व रूप दोष ही है। जैसे—

अनुवाद—दम्भी पुरुष साँप के सदम्भ (चमकीले—सत् विद्यमानम् अम्भः तेजः कान्तिः यत्र सः) मणि के समान और ग्राहों से भरी हुई सदम्भा (स्वच्छ जल वाली) नदी के समान परिणाम में दुःखप्रदता को अच्छी तरह जानने वाले प्राणियों के मन को भी अपनी ओर बलपूर्वक खींच लेते हैं ॥५८४॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में तीन चरणों में यमक है, किन्तु तीन चरणों में यमक का प्रयोग प्राचीन आचार्यों ने अलंकार-दोष माना है। आचार्य मम्मट उसका अप्रयुक्तत्व दोष में अन्तर्भाव कर देते हैं।

(३) उपमा दोष

अनुवाद—उपमा में उपमान की जातिगत अथवा प्रमाणगत न्यूनता उसी प्रकार की अधिकता (जातिगत या प्रमाणगत अधिकता) अनुचितार्थत्व रूप दोष है और (साधारण) धर्म में रहने वाला (साधारण धर्मगत) न्यूनत्व और अधिकत्व दोष भी क्रमशः हीनपदत्व और अधिकपदत्व (रूप दोष) से भिन्न नहीं होते।

विमर्श—भाव यह कि उपमा अलंकार में जो न्यूनत्व और अधिकत्व रूप उपमानगत दोष कहे गये हैं वहाँ उपमेय की अपेक्षा उपमान में जातिगत अथवा प्रमाणगत न्यूनता अथवा अधिकता विवक्षित है, वह अनुचितार्थत्व रूप दोष में ही अन्तर्भूत हो जाता है। इसके अतिरिक्त उपमा में साधारणधर्मगत न्यूनत्व और अधिकत्व रूप दोष है अर्थात् उपमान के न्यूनधर्मत्व और अधिकधर्मत्व रूप दोष हैं। वे यथाक्रम हीनपदत्व और अधिकपदत्व रूप दोष में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

क्रमशः उनका उदाहरण देते हैं—

चण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम् ॥५८५॥
वह्निस्फुलिङ्ग इव भानुरयं चकास्ति ॥५८६॥
अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते ।
युगादौ भगवान् वेधा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः ॥५८७॥
पातालमिव ते नाभिः स्तनौ क्षितिधरोपमौ ।
वेणीदण्डः पुनरयं कालिन्दीपातसन्निभः ॥५८८॥

अत्र चाण्डालादिभिरुपमानैः प्रस्तुतोऽर्थोऽत्यर्थमेव कदर्थित इत्यनुचितार्थता ।

(क) उपमान की जातिगत न्यूनता का उदाहरण

अनुवाद—चाण्डालों के समान आप लोगों ने बड़ा साहस किया है ॥५८५॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण वामन की 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' से उद्धृत किया गया है। 'साहस' का अर्थ यहाँ दुष्कर्मकारित्व अथवा अविमृश्यकारित्व विवक्षित है। यहाँ पर चाण्डाल उपमान है। यहाँ चाण्डाल रूप उपमान की जातिगत न्यूनता के कारण उपमेय की निन्दा प्रतीत होती है, अतः यह अनुचितार्थत्व रूप दोष ही है।

(ख) उपमान की प्रमाणगत न्यूनता का उदाहरण

अनुवाद—यह सूर्य अग्नि की चिनगारी के समान चमक रहा है ॥५८६॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण वामनकृत काव्यालंकारसूत्रवृत्ति से उद्धृत है। यहाँ पर सूर्य उपमेय और 'वह्निस्फुलिङ्ग' उपमान है जो उपमेय सूर्य से प्रमाण में बहुत न्यून है। अतः प्रमाणगत न्यूनता के कारण उपमेय की निन्दा प्रतीत हो रही है। मम्मट इसका अन्तर्भाव अनुचितार्थत्व दोष में करते हैं।

(ग) उपमान की जातिगत अधिकता का उदाहरण

अनुवाद—यह चक्रवाक कमल रूप आसन पर बैठा हुआ युग के प्रारम्भ में प्रजाओं की सृष्टि करने का इच्छुक भगवान् ब्रह्मा के समान शोभित हो रहा है ॥५८७॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण सरस्वतीकण्ठाभरण से उद्धृत है। यहाँ पर ब्रह्मा उपमान और चक्रवाक उपमेय है। यहाँ ब्रह्मत्व जाति के कारण उपमान अधिक है। अतः यहाँ उपमेय का उपहास प्रतीत हो रहा है। मम्मट इसे अनुचितार्थत्व रूप दोष में अन्तर्भाव करते हैं।

(घ) उपमान की प्रमाणगत अधिकता का उदाहरण

अनुवाद—तुम्हारी नाभि पाताल के समान (गहरी), स्तन पर्वत के समान (ऊँचे) और यह वेणीदण्ड यमुना के समान (कृष्णवर्ण) है ॥५८८॥

स मुनिर्लाञ्छितो मौञ्ज्या कृष्णाजिनपटं वहन् ।
व्यराजन्नीलजीमूतभागाश्लिष्ट इवांशुमान् ॥५८९॥

अत्रोपमानस्य मौञ्जीस्थानीयस्तडिल्लक्षणो धर्मः केनापि पदेन न प्रतिपादितः इति हीनपदत्वम् ।

स पीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोज्ञ भीमं वपुराप कृष्णः ।
शतह्लदेन्द्रायुधवान्निशायां संसृज्यमानः शशिनेव मेघः॥५९०॥

अत्रोपमेयशंखादेरनिर्देशे शशिनो ग्रहणमतिरिच्यते इत्यधिकपदत्वम् ।

अनुवाद—इन उदाहरणों में चाण्डाल आदि उपमानों के द्वारा प्रस्तुत अर्थ अत्यन्त गर्हित प्रतीत होता है, अतः यह अनुचितार्थत्त्व दोष ही है।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' से उद्धृत हैं। यहाँ पर पाताल आदि उपमान और नाभि आदि उपमेय है। यहाँ पातालादि उपमान नाभि आदि उपमेय की अपेक्षा प्रमाण में अधिक है। अतएव यहाँ पर नाभि आदि की उपहास की प्रतीति हो रही है। मम्मट इसे अनुचितार्थत्व दोष में अन्तर्भाव करते हैं।

(ङ) साधारणधर्मगत न्यूनत्व का उदाहरण

अनुवाद—मूँज की मेखला युक्त (लाञ्छित) काले मृगचर्म का वस्त्र धारण किये हुए वह मुनि (नारद) नीलवर्ण मेघ खण्ड से सम्पृक्त सूर्य के समान प्रतीत सुशोभित थे ॥५८९॥

यहाँ पर उपमान का मौञ्जीस्थानीय तड़ित् (विद्युत्) रूप धर्म किसी पद के द्वारा प्रतिपादित नहीं है, अतः यह हीनपदत्व रूप दोष है।

विमर्श—यहाँ पर नारदमुनि उपमेय है और सूर्य उपमान है। यहाँ पर मुञ्ज-मेखला-लाञ्छन रूप उपमेयगत धर्म का तो शब्दतः प्रतिपादन है किन्तु मौञ्ज-स्थानीय तड़िल्लक्षण रूप उपमानगत धर्म का किसी शब्द के द्वारा प्रतिपादन नहीं किया गया है और न आक्षेप के द्वारा ही स्पष्ट प्रतीति होती है, इसलिए वामन इसे उपमानगत धर्मन्यूनता का उदाहरण मानते हैं। किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट 'हीन-पददत्व' रूप दोष में अन्तर्भूत मानते हैं।

(च) साधारणधर्मगत आधिक्य का उदाहरण

अनुवाद—वे पीताम्बरधारी तथा शार्ङ्गपाणि श्रीकृष्ण विद्युत् और इन्द्रधनुष से युक्त तथा रात्रि में चन्द्रमा से संपृक्त मेघ के समान मनोहर एवं भयानक स्वरूप को प्राप्त हुए ॥५९०॥

लिङ्गवचनभेदोऽपि उपमानोपमेययोः साधारणं चेत् धर्ममन्यरूपं कुर्यात्तदा एकतरस्यैव तद्धर्मसमन्वयावगतेः सविशेषणस्यैव तस्योपमानत्वमुपमेयत्वं वा प्रतीयमानेन धर्मेण प्रतीयते, इति प्रकान्तस्यार्थस्य स्फुटमनिर्वाहादस्य भग्नप्रक्रमरूपत्वम् । यथा—

यहाँ पर उपमेय के शङ्ख आदि (धर्म) का निर्देश न होने से उपमान रूप मेघ में चन्द्रमा का ग्रहण अधिक हो जाता है, इसलिए यहाँ अधिकपदत्व दोष है।

विमर्श—यहाँ पर श्रीकृष्ण उपमेय है और मेघ उपमान है। यहाँ पर श्रीकृष्ण रूप उपमेय में शंख आदि के सम्पर्क रूप धर्म का निर्देश नहीं है और उपमान मेघ में शंख सदृश चन्द्रमा के सम्पर्क रूप धर्म का निर्देश है अर्थात् मेघ के साथ चन्द्रमा का सम्पर्क दिखाया गया है किन्तु कृष्ण के साथ शंखादि का सम्पर्क नहीं दिखाया गया है। इसलिये यहाँ पर उपमानगत धर्माधिक्य रूप दोष माना जाता है, किन्तु मम्मट उसे 'अधिकपदत्व' नामक दोष में अन्तर्भाव करते हैं।

(२) लिङ्ग-वचन भेद

अनुवाद—उपमान और उपमेय का लिङ्गभेद और वचनभेद यदि साधारण धर्म को अन्य प्रकार का अर्थात् असाधारण रूप बना दे तो किसी एक का ही (उपमान अथवा उपमेय का) उस धर्म के साथ अन्वय-बोध होने के कारण उस विशेषणयुक्त का ही उपमानत्व अथवा उपमेयत्व प्रतीयमान धर्म के द्वारा ही प्रतीत होता है। इसलिए प्रक्रान्त अर्थ (उपमालङ्कार) का स्पष्ट रूप निर्वाह न होने के कारण भग्नप्रक्रमत्व रूप दोष होता है।

विमर्श—यहाँ पर भोजराज का कथन है कि जहाँ पर उपमान और उपमेय में भिन्न-भिन्न लिङ्ग और वचन होते हैं तथा साधारणधर्म किसी एक के लिङ्ग और वचन का अनुसरण करता है वहाँ उसका एक ही के साथ अन्वय होता है, दोनों के साथ नहीं; क्योंकि समान लिङ्ग और वचन वाले शब्दों का ही विशेषण-विशेष्य भाव रूप में अन्वय होता है। इस प्रकार साधारण धर्म का उपमान और उपमेय दोनों के साथ अन्वय न होने से साधारणधर्मत्व ही नहीं होगा और साधारण धर्म के अभाव में उपमा कैसे होगी? यदि साधारण धर्म एक जगह उपमेय अथवा उपमान में वाच्य रूप में साक्षात् अन्वय हो जाने से और दूसरी जगह प्रतीयमान धर्म के रूप में सम्बन्ध (अन्वय) मानकर उपमा का निर्वाह हो जायगा। किन्तु यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता; क्योंकि इस प्रकार शीघ्र उपमा की प्रतीति नहीं होगी। इस प्रकार भोजराज के मत में भिन्नलिङ्गत्व और भिन्नवचनत्व ये दो उपमा-दोष हैं। किन्तु

चिन्तारत्नमिव च्युतोऽसि करतो धिङ्‌मन्दभाग्यस्य मे ॥५९१॥
सक्तवो भक्षिता देव ! शुद्धाः कुलवधूरिव ॥५९२॥

काव्यप्रकाशकार मम्मट का मत है कि जहाँ पर उपमान और उपमेय में लिङ्ग अथवा वचन भेद होने पर साधारण धर्म में भी लिङ्ग अथवा वचन का अन्तर आ जाता है वहीं वह दोषकारक होता है। इसलिए इन दोषों का 'भग्नप्रक्रम' दोष में अन्तर्भाव मानना चाहिए। इस प्रकार उक्त रीति से उपमान में प्रक्रान्त साधर्म्य का सम्बन्ध (अन्वय) वाच्यरूप में अथवा प्रतीयमान रूप में होता है और उपमेय में उससे भिन्न प्रकार से वाच्य अथवा प्रतीयमान रूप से उसका उपसंहार किया जाता है, अतः यहाँ पर भग्नप्रक्रम दोष ही है—

"एतच्च दोषद्वयं भग्नप्रक्रमतायामेवान्तर्भवति, उक्तरीत्या उपमाने प्रतीयमानतया वाच्यतया वा उपक्रान्तस्य साधर्म्यस्य उपमेये तदन्यथा वाच्यतया प्रतीयमानतया वा उपसंहाराविति प्रकाशकृन्मतम्।"

(क) लिङ्गभेद का उदाहरण

अनुवाद—धिक्कार है ! मुझ अभागे के हाथ से तुम चिन्तामणि के समान गिर गये हो ॥५९१॥

विमर्श—यहाँ पर उपमान रूप चिन्तारत्न शब्द नपुंसकलिङ्ग है और उपमेयभूत 'त्वम्' पद पुल्लिङ्ग है। साधारणधर्मरूप 'च्युत' शब्द पुल्लिङ्ग है। इसलिए पुल्लिङ्ग उपमेय 'त्वम्' पद के साथ पुल्लिङ्ग साधारण धर्म 'च्युत' का वाच्यरूप में साक्षात् हो जाता है और नपुंसकलिङ्ग उपमान 'चिन्तारत्नम्' के साथ अन्वय नहीं होता, अतः वहाँ लिङ्गपरिणाम से प्रतीयमान रूप में विलम्ब से अन्वय होने से 'भग्नप्रक्रम' दोष होता है।

(ख) वचनभेद का उदाहरण

अनुवाद—हे राजन् ! मैंने कुलवधू के समान शुद्ध सत्तू खाये हैं ॥५९२॥

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में बहुवचन 'सक्तवः' शब्द उपमेय है और एकवचनान्त 'कुलवधू' शब्द उपमान है तथा बहुवचनान्त 'शुद्धाः' शब्द साधारण धर्म है। यहाँ पर बहुवचनान्त 'शुद्धाः' इस साधारणधर्म वाचक पद का उपमेयभूत बहुवचनान्त 'सक्तवः' पद के साथ वाच्यरूप में साक्षात् अन्वय हो जाता है, किन्तु एकवचनान्त उपमानभूत 'कुलवधूः' पद के साथ अन्वय नहीं होता है। इसलिए वचनपरिणाम कल्पना के द्वारा 'कुलवधू' के साथ प्रतीयमानरूप अन्वय होता है। इस प्रकार क्रम भग्न होने से यहाँ 'भग्नप्रक्रम' दोष होता है।

यत्र तु नानात्वेऽपि लिङ्गवचनयोः सामान्याभिधायि पदं स्वरूपभेदं नापद्यते न तत्रैतद् दूषणावतारः उभयथाऽपि अस्य अनुगमक्षमस्वभावत्वात् । यथा—

गुणैरनर्घ्यैः प्रथितो रत्नैरिव महार्णवः ॥५६३॥

तद्वेषोऽसदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः ।

दधते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव ॥५६४॥

अनुवाद—जहाँ पर लिङ्ग और वचन में नानात्मक भेद होने पर भी सामान्य धर्म (साधारण धर्म) का वाचक पद स्वरूप भेद को प्राप्त नहीं होता। वहाँ इस दोष (भग्नप्रक्रम) का अवतरण नहीं होता; क्योंकि दोनों प्रकार से इस साधारण धर्म वाचक पद का अन्वय की योग्यता होती है।

विमर्श—भाव यह कि जहाँ पर उपमान और उपमेय के लिङ्ग और वचन में भेद होने पर भी साधारणधर्म वाचक पद अपने स्वरूप-भेद को प्राप्त नहीं होता, किन्तु उपात्त रूप में दोनों के साथ अन्वित होता है वहाँ भग्नप्रक्रम दोष ही नहीं होता। जैसे—

(क) लिङ्गभेद में दोषाभाव

अनुवाद—जिस प्रकार बहुमूल्य रत्नों से समुद्र प्रसिद्ध है उसी प्रकार अमूल्य (अतिश्रेष्ठ) गुणों से युक्त यह राजा प्रसिद्ध है ॥५६३॥

विमर्श—यहाँ पर उपमेय वाचक गुण शब्द (गुणैः) पुल्लिङ्ग है और उपमान वाचक रत्न शब्द (रत्नैः) नपुंसकलिङ्ग है। इस प्रकार यहाँ उपमेय और उपमान वाचक गुण और रत्न शब्दों में लिङ्गभेद होने पर भी तृतीय बहुवचन में दोनों लिङ्गों में समान रूप बनते हैं। अतः 'अनर्घ्यैः' इस साधारणधर्मवाचक तृतीया बहुवचनान्त पद का दोनों के साथ अन्वय बन जाता है। इसलिए यहाँ उपमानोपमेय का लिङ्गभेद दोष नहीं माना जाता है। इस प्रकार यहाँ भग्नप्रक्रम दोष नहीं होता।

(ख) वचनभेद में दोषाभाव

अनुवाद—उस नायिका का माधुर्य से पूर्ण तथा अन्य स्त्रियों (युवतियों) के असमान उसका वेष उसके माधुर्यपूर्ण हाव-भावों के समान उत्तम शोभा को धारण कर रहा है ॥५६४॥

विमर्श—यहाँ पर उपमेय वाचक 'तद्वेषः' शब्द एकवचनान्त है और उपमान वाचक 'विभ्रमाः' पद बहुवचनान्त है तथा साधारणधर्म के वाचक 'असदृशः' 'मधुरताभृतः' 'दधते' आदि शब्द एकवचन तथा बहुवचन में एक समान रूप बनते हैं। अतः जब उपमेय वाचक 'तद्वेषः' के साथ उनका अन्वय होगा तब वे एकवचनान्त रूप माने जायेंगे और जब उपमावाचक 'विभ्रमाः' इस बहुवचनान्त के साथ अन्वय होगा

कालपुरुषविध्यादिभेदेऽपि न तथा प्रतीतिरस्खलितरूपतया विश्रान्ति-मासादयतीत्यसावपि भग्नप्रक्रमतयैव व्याप्तः। यथा—

अतिथि नाम काकुत्स्थात्पुत्रमाप कुमुद्वती।
पश्चिमाद् यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना॥५६५॥

अत्र चेतना प्रसादमाप्नोति न पुनरापेति कालभेदः।

तो वे बहुवचनान्त रूप माने जायेंगे। इस प्रकार वचनभेद होने पर भी साधारण धर्मवाचक पदों ने स्वरूप में कोई परिवर्तन न होने से भग्नप्रक्रम दोष नहीं होता है।

'असदृशः' यह पद 'कञ्' प्रत्यय होने पर एकवचन और क्विप् प्रत्यय होने पर बहुवचन होता है। इसी प्रकार 'भृतः' यह पद 'भृ' धातु से क्त प्रत्यय होने पर एकवचन और क्विप् प्रत्यय होने पर बहुवचन होता है। इसी प्रकार 'दधते' यह पद 'दध् धारणे' धातु से भ्वादि में एकवचन का रूप है और 'डुधाञ्' (धा) धातु से जुहोत्यादि में बहुवचन का रूप होता है।

(४) काल-पुरुष-विध्यादि-भेद

वामन आदि प्राचीन आचार्यों ने उपमा में कालभेद, पुरुषभेद और विध्यादि भेद रूप अन्य दोष (उपमादोष) भी माना है। किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट उनका अन्तर्भाव भग्नक्रमता दोष में करते हैं। उनका कहना है कि काल, पुरुष आदि के विपरिणाम के बिना उपमानोपमेय दोनों के साथ साक्षात् अन्वय नहीं होता, अतएव एकस्थल पर वाच्यरूप में और दूसरी जगह प्रतीयमान रूप में अन्वय होता है, इसलिए यहाँ भग्नप्रक्रमता दोष है।

अनुवाद—काल, पुरुष और विध्यादि भेद होने पर भी वैसी प्रतीति अपरिवर्त्तित रूप से विश्रान्ति (परिसमाप्ति) नहीं होती, इसलिए यह भी भग्नप्रक्रमता के द्वारा ही व्याप्त होता है।

विमर्श---यहाँ पर काल का अर्थ भूत, भविष्य और वर्तमान है, पुरुष प्रथम, मध्यम; उत्तम तीन प्रकार का होते हैं और विधि पद से अप्रवृत्त प्रवर्त्तना रूप लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय गृहीत होते हैं। आदि पद से आशीर्वादादि गृहीत होता है जिसका आगे स्पष्टीकरण किया जायगा। इस प्रकार जहाँ पर कालभेद, पुरुषभेद और विध्यादि का भेद रहता है वहाँ भग्नप्रक्रमता दोष होता है। जैसे—

(क) कालभेद का उदाहरण

अनुवाद—जिस प्रकार चेतना रात्रि के अन्तिम प्रहर से प्रसन्नता (उद्बोधन) प्राप्त करती है उसी प्रकार कुमुद्वती रानी ने काकुत्स्थ (कुश नामक राजा) से अतिथि नामक पुत्र प्राप्त किया॥५६५॥

प्रत्यग्रमज्जनविशेषविविक्तमूर्त्तिः कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता ।
विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती बालप्रवालविटपप्रभवा लतेव ॥५९६॥

अत्र लता 'विभ्राजते' न तु विभ्राजसे' इति सम्बोध्यमाननिष्ठस्य परभागस्य असम्बोध्यमानविषयतया व्यत्यासात् पुरुषभेदः ।

गङ्गेव प्रवहतु ते सदैव कीर्त्तिः ॥५९७॥

इत्यादौ च 'गङ्गा प्रवहति, तु प्रवहतु इति अप्रवृत्तप्रवर्त्तनात्मनो विधेः। एवंजातीयकस्य चान्यस्यार्थस्य उपमानगतस्यासम्भवात् विध्यादिभेदः ।

यहाँ पर चेतना निर्मलता को प्राप्त करती है, न कि प्राप्त किया, इस प्रकार कालभेद है ।

विमर्श—यहाँ पर कालभेद दोष है किन्तु मम्मट उसका अन्तर्भाव भग्नप्रक्रमता दोष में करते हैं ।

(ख) पुरुषभेद का उदाहरण

अनुवाद—अरे ! तुरन्त स्नान करने के कारण विशेष निर्मल शरीर वाली और कुसुम्भ राग से रञ्जित सुन्दर वस्त्र वाली कामदेव की पूजा करती हुई तुम नवीन पल्लवों से युक्त शाखाओं की जननी लता के समान शोभित हो रही है ॥५९६॥

यहाँ पर 'लता विभ्राजते' इस प्रकार लता के साथ 'विभ्राजते' प्रथमपुरुष का प्रयोग उचित है 'विभ्राजसे' (यह मध्यम पुरुष का प्रयोग) नहीं, इसलिए सम्बोध्यमान व्यक्तिनिष्ठ (वासवदत्ताविषयक) पद के अन्तिम भाग ('से' प्रत्यय) के असम्बोध्यमान विषयक (सम्बोधन के अयोग्य लताविषयक) परिवर्त्तन होने से (अर्थात् 'विभ्राजसे' के स्थान पर 'विभ्राजते' इस प्रकार के विपरिणाम से) यहाँ पुरुष भेद है । (अतः यहाँ उपमा दोष है, किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मट इसका भग्नप्रक्रमता दोष में अन्तर्भाव करते हैं) ।

(ग) विधिभेद का उदाहरण

अनुवाद—गंगा के समान आपकी कीर्त्ति सदैव प्रवाहित होती रहे ॥५९७॥

यहाँ पर (इत्यादि में) 'गङ्गा प्रवहति' (गङ्गा बहती है), न कि 'प्रवहतु' (बहे) । इसलिए यहाँ पर अप्रवृत्त प्रवर्त्तन रूप विधि का अर्थात् विधि भेद रूप दोष है ।

इसी प्रकार अन्य अर्थ के भी उपमान में सम्भव न होने से विध्यादि का भेद है।

ननु समानगुच्चारितं प्रतीयमानं वा धर्मान्तरमुपादाय पर्यवसितायामुपमायामुपमेयस्य प्रकृतधर्माभिसम्बन्धान्न कश्चित्कालादिभेदोऽस्ति। यत्राप्युपात्तेनैव सामान्यधर्मेण उपमाऽवगम्यते, यथा 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदति' इति, तत्र युधिष्ठिर इव सत्यवाद्ययं सत्यं वदतीति प्रतिपत्स्यामहे। 'सत्यवादी सत्यं वदति' इति च न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम्। 'रैपोषं पुष्णाति इतिवत्' युधिष्ठिरसत्यवदनेन सत्यवाद्ययमित्यर्थावगमात्।

सत्यमेतत्, किन्तु स्थितेषु प्रयोगेषु समर्थनमिदं न तु सर्वथा निरवद्यम्। प्रस्तुतवस्तुप्रतीतिव्याघातादिति सचेतस एवात्र प्रमाणम्।

विमर्श—अप्रवृत्त के प्रवर्त्तन रूप अर्थ में विधि प्रत्यय लङ्, लोट्, तव्य आदि का प्रयोग होता है। यहाँ पर गङ्गा सदैव प्रवहमान है, उसको वहने के लिए प्रवृत्त नहीं किया जाता। अतः यहाँ विधि प्रत्यय का विधान उचित नहीं है, अतः यहाँ 'प्रवहतु' पद का अन्वय सम्भव न होने से उसका 'प्रवहति' वर्तमानकालिक क्रिया के रूप में विपरिणाम (परिवर्त्तन) आवश्यक है। इसलिए यहाँ उपमादोष माना जाता है, किन्तु मम्मट भग्नक्रमता दोष मानकर उसमें उपमादोष का अन्तर्भाव कर देते हैं।

प्राचीन आचार्यों ने कालभेद, पुरुषभेद और विध्यादिभेद को उपमादोष माना है किन्तु मम्मट ने उसे भग्नप्रक्रमता दोष में अन्तर्भूत कर दिया है। कुछ आचार्य कालभेदादि को अलङ्कार-दोष नहीं मानते। उनका कहना है कि कालभेदादि को साधारण धर्म न मानकर शब्दतः उपात्त (उच्चरित) अथवा प्रतीयमान किसी अन्य धर्म को साधारण धर्म मानना चाहिए। इस प्रकार शब्दतः उपात्त अथवा प्रतीयमान अन्य धर्म को साधारण धर्म मान लेने पर कालादिभेद रूप दोषों की अवतारणा का अवसर ही नहीं रहता। इसलिए काल, पुरुष और विध्यादिभेद को उपमादोष मानने की आवश्यकता नहीं है और न भग्नप्रक्रमता दोष में उसको अन्तर्भाव मानने की आवश्यकता है। इसी बात को ग्रन्थकार अगले अनुच्छेद में कहते हैं—

अनुवाद—उच्चारित (शब्दतः उपात्त) अथवा प्रतीयमान किसी अन्य साधारण धर्म को लेकर उपमा के पर्यवसित (निष्पन्न) हो जाने पर उपमेय का प्रस्तुत धर्म के साथ सम्बन्ध हो जाने के कारण कोई काल आदि का भेद नहीं रहता।

असादृश्यासम्भवावप्युपमायामनुचितार्थायामेव पर्यवस्यतः। यथा—

प्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम् ॥५६८॥

अत्र काव्यस्य शशिन अर्थानां च रश्मिभिः साधर्म्यं कुत्रापि न प्रतीतमित्यनुचितार्थत्वम्।

और जहाँ पर भी शब्दतः उपात्त (उच्चारित) साधारण धर्म के द्वारा ही उपमा की प्रतीति होती है। जैसे 'युधिष्ठिर इवायं सत्यं वदति' अर्थात् 'युधिष्ठिर के समान यह सत्य बोलता है' (यहाँ पर 'सत्यं वदति' रूप साधारण धर्म वर्तमानकाल विशिष्ट है) वहाँ 'युधिष्ठिर के समान यह सत्यवादी सत्य बोलता है' यह अर्थ लेंगे और 'सत्यवादी सत्य बोलता है' इस प्रकार (इस कथन में) पुनरुक्ति की शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'रैपोषं पुष्णाति' (अर्थात् धनपोषण द्वारा पुष्ट करता है) इस प्रयोग के समान युधिष्ठिर की तरह सच बोलने के कारण यह सत्यवादी (सच बोलता) है, इस अर्थ की प्रतीति होती है।

यह बात सत्य है, किन्तु महाकवियों के काव्यों में स्थित इस प्रकार के उपमा-प्रयोगों के विषय में तो इस प्रकार समर्थन (समाधान) किया जा सकता है, किन्तु यह सर्वथा निर्दोष नहीं है। क्योंकि प्रस्तुत वस्तु अर्थात् उपमा की प्रतीति में बाधा उत्पन्न होने से इस विषय में सहृदय ही प्रमाण हैं।

असादृश्य और असम्भव दोष

अनुवाद—असादृश्य और असम्भव नामक उपमा दोष भी अनुचितार्थता दोष में पर्यवसित (अन्तर्भूत) हो जाते हैं।

विमर्श—वामन आदि प्राचीन आचार्यों ने उपमा में असादृश्य और असम्भव को उपमादोष माना है, किन्तु आचार्य मम्मट उन्हें अतिरिक्त दोष नहीं मानते, अपितु 'अनुचितार्थत्व' रूप दोष में उन दोषों का अन्तर्भाव कर देते हैं। अतः उन्हें अलग दोष नहीं माना जा सकता।

(क) असदृशदोष का उदाहरण

अनुवाद—मैं विस्तृत अर्थ रूप रश्मि से युक्त काव्य रूप चन्द्रमा की रचना करता हूँ ॥५६८॥

यहाँ पर काव्य का चन्द्रमा के साथ और अर्थों का किरणों के साथ साधर्म्य (सादृश्य) कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है इसलिए अनुचितार्थत्व दोष है।

निपेतुरास्यादिव तस्य दीप्ताः शरा धनुर्मण्डलमध्यभाजः ।
जाज्वल्यमाना इव वारिधारा दिनार्धभाजः परिवेषिणोऽर्कात् ॥५९९॥

अत्रापि ज्वलन्त्योऽम्बुधाराः सूर्यमण्डलान्निष्पतन्त्यो न सम्भवन्तीत्युपनिबध्यमानोऽर्थोऽनौचित्यमेव पुष्णाति ।

उत्प्रेक्षायामपि सम्भावनं ध्रुवेवादय एव शब्दा वक्तुं सहन्ते न यथाशब्दोऽपि । केवलस्यास्य साधर्म्यमेव प्रतिपादयितुं पर्याप्तत्वात् । तस्य चास्यामविवक्षितत्वादिति तस्याशक्तिरस्यावाचकत्वं दोषः । यथा—

विमर्श—यहाँ पर काव्य और चन्द्रमा तथा अर्थ और रश्मि में साधर्म्य का अभाव होने से साधर्म्य प्रयोज्य सादृश्य का अभाव है, इसलिए यहाँ उपमा-निबन्धन अनुचितार्थत्व दोष है ।

(ख) असम्भवदोष का उदाहरण

अनुवाद—धनुर्मण्डल के मध्य में स्थित उस राजा के मुख से मानो प्रदीप्त बाण इस प्रकार निकल रहे हैं मानो दिन के मध्य में स्थित (मध्याह्न के) मण्डलाकार सूर्य से प्रज्वलित जल की धाराएँ गिर रही हों ॥५९९॥

यहा पर सूर्य मण्डल से गिरती हुई प्रज्वलित जल की धाराएँ सम्भव नहीं हैं, इस प्रकार असम्भव अर्थ का निबन्धन (वर्णन) अनौचित्य को ही पुष्ट करता है ।

विमर्श—यह श्लोक भामह द्वारा उद्धृत शाखवर्धन का यहाँ पर तूणीर से बाण खींचने में विलम्ब होगा, इसलिए मानो शीघ्र प्रवर्त्तन के लिए मुख से बाण निकल रहे हैं, इस प्रकार यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है, इस प्रकार असम्भव अर्थ का निबन्धन अनुचित है, अतः असम्भव रूप उपमादोष का अनुचितार्थता रूप दोष में अन्तर्भाव हो जाता है ।

(४) उत्प्रेक्षा दोष

अनुवाद—उत्प्रेक्षा में भी ध्रुव, इव, वा आदि शब्द ही संभावना को प्रकट करने में समर्थ हैं, यथा शब्द नहीं है । क्योंकि केवल इसके साधर्म्य को ही प्रतिपादन करने में समर्थ है और वह साधर्म्य इस उत्प्रेक्षा में विवक्षित नहीं है, इसलिए उसकी आशक्ति (असामर्थ्य) अवाचकत्व दोष ही है । जैसे—

उन्ययौ दीर्घिकागर्भात् मुकुलं मेचकोत्पलम् ।
नारीलोचनचातुर्यं शङ्का संकुचितं यथा ।।६००।।

उत्प्रेक्षितमपि तात्त्विकेन रूपेण परिवर्जितत्वात् निरुपाख्यप्रख्यं तत्समर्थनाय यदर्थान्तरोपादानं तद् आलेख्यमिव गगनतलेऽत्यन्तमसमीचीनमिति निर्विषयत्वमेतस्यानुचितार्थतैव दोषः । यथा—

दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम् ।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसामतीव ।।६०१।।

अत्राचेतनस्य तमसो दिवाकरात् त्रास एव न सम्भवतीति कुत एव तत्प्रयोजितमद्रिणा परित्राणम् । सम्भावितेन तु रूपेण प्रतिभासमानस्यास्य न काचिदनुपपत्तिरवतरतीति व्यर्थ एव तत्समर्थनायां यत्नः ।

अनुवाद—बावड़ी के मध्य से मुकुलित नीलकमल इस प्रकार निकला, मानो नारी के लोचनचातुर्य के अतिशय की आशंका से संकुचित हो रहा हो ।।६००।।

विमर्श—प्रस्तुत उदाहरण में उत्प्रेक्षा को प्रकट करने के लिए 'यथा' शब्द का प्रयोग किया गया है किन्तु यथा शब्द उत्प्रेक्षा (सम्भावना) को प्रकट करने में असमर्थ है । क्योंकि उत्प्रेक्षा में सम्भावना विवक्षित होती है और वह केवल यथा शब्द से बोधित नहीं होता । इसलिए यहाँ यथा शब्द का प्रयोग होने से अवाचकत्व दोष होता है ।

अनुवाद—उत्प्रेक्षा में सम्भावित (उत्प्रेक्षित) वस्तु वास्तविक रूप से रहित होने के कारण (खपुष्पादि के समान) असत् (मिथ्या) होता है, उसके समर्थन के लिए जो अर्थान्तरन्यास का ग्रहण किया जाता है, वह आकाश में चित्र-लेखन के समान अत्यन्त असमीचीन (अनुचित) है, इस प्रकार इस असङ्गत अर्थान्तरन्यास का निर्विषयत्व अनुचितार्थता दोष ही है । जैसे—

अनुवाद—जो हिमालय दिन में सूर्य से भयभीत गुफाओं में छिपे हुए अन्धकार की सूर्य से रक्षा करता है, निश्चय ही शरणागत (शरण में आये हुए) क्षुद्र व्यक्ति के प्रति भी महापुरुषों की अत्यन्त ममता होती है ।।६०१।।

यहाँ पर अचेतन अन्धकार का सूर्य से भय होना ही असम्भव है इसलिए उससे प्रयोजित पर्वत (हिमालय) के द्वारा उसके (अन्धकार के) परित्राण की बात ही कैसे (कहाँ से) सम्भव है ? सम्भावित रूप से प्रतीत होने वाले इस (अर्थ) में अर्थात् पर्वतकृत परिमाण रूप वाक्यार्थ में कोई

साधारणविशेषणवशादेव समासोक्तिरनुक्तमपि उपमानविशेषं प्रकाशयतीति तस्यात्र पुनरुपादाने प्रयोजनाभावात् अनुपादेयत्वं यत्, तत् अपुष्टार्थत्वं पुनरुक्तं वा दोषः। यथा—

स्पृशति तिग्मरुचौ ककुभः करैर्दयितेव विजृम्भिततापया।
अतनुमानपरिग्रहया स्थितं रुचिरया चिरयाऽपि दिनश्रिया ॥६०२॥

अत्र तिग्मरुचेः ककुभां च यथा सदृशविशेषणवशेन व्यक्तिविशेषपरिग्रहेण च नायकतया नायिकात्वेन च व्यक्तिः तथा ग्रीष्मदिवसश्रियोऽपि प्रतिनायिकात्वेन भविष्यतीति किं दयतियेति स्वशब्दोपादानेन ?

अनुपपत्ति नहीं आती, इसके समर्थन में प्रयत्न करना ही व्यर्थ है। (इस प्रकार उत्प्रेक्षित अर्थ के समर्थन के लिए अर्थान्तरन्यास का ग्रहण (उपादान) सर्वथा व्यर्थ है। इस प्रकार यहाँ अनुचितार्थ दोष ही है।

(५) समासोक्तिदोष

अनुवाद—समान विशेषताओं के बल से ही समासोक्ति अनुक्त भी उपमान विशेष को प्रकट कर देती है। इसलिए यहाँ (समासोक्ति में) उस (उपमान विशेष) के पुनः ग्रहण (उपादान) करने में कोई प्रयोजन न होने से जो अनुपादेयत्व (समासोक्ति दोष) है, वह अपुष्टार्थत्व अथवा पुनरुक्त दोष है।

विमर्श—समासोक्ति अलंकार में प्रस्तुत-अप्रस्तुत साधारण विशेषणों के बल से अनुक्त भी उपमानविशेष की प्रतीति होती है, इसलिए समासोक्ति में उपमानविशेष के शब्दतः उपादान में कोई प्रयोजन नहीं है, इस प्रकार उपमानविशेष की अनुपादेयता में जो उसका उपादान किया जाता है वह प्रस्तुत अर्थ का पोषण न करने के कारण अपुष्टार्थत्व नामक दोष है। यदि प्रस्तुत अर्थ के अपोषक विशेषणों का ही अपुष्टार्थत्व दोष होता है तो स्वयं प्रतीत होने वाले अर्थ का शब्दतः पुनरुपादान होने से यहाँ पुनरुक्तत्व दोष समझना चाहिए।

उदाहरण जैसे—

अनुवाद—सूर्य (नायक) के करों (किरण, हाथ) द्वारा दिशाओं का स्पर्श करने पर मनोहर-दिनश्री दयिता (प्रतिनायिका) के समान अत्यन्त सन्ताप से युक्त चिरकाल तक अत्यधिक मान को धारण किये रही ॥६०२॥

यहाँ पर सूर्य और दिशाओं में जिस प्रकार समान विशेषणों के द्वारा और लिङ्गविशेष का ग्रहण होने के नायक और नायिका के रूप में प्रतीति होती है, उसी प्रकार ग्रीष्मकालीन दिनश्री की भी प्रतिनायिका से रूप में

श्लेषोपमायास्तु स विषयः यत्रोपमानस्योपादानमन्तरेण साधारणेष्वपि विशेषणेषु न तथा प्रतीतिः। यथा—

स्वयं च पल्लवाताम्रभास्वत्करविराजिता।
प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा ॥६०३॥

प्रतीति हो जायगी, अतः 'दयितया' इस पद के स्वशब्दतः उपादान (प्रतिपादन, कथन) करने की क्या आवश्यकता है?

विमर्श—यहाँ पर स्त्रीस्पर्शकारित्व रूप नायक के तुल्य (समान) विशेषणों के द्वारा और पुल्लिग होने से सूर्य पर नायक के व्यवहार की प्रतीति होती है और पुरुषकरस्पर्शविषयत्वरूप नायिका के समान विशेषणों के बल से स्त्रीलिङ्ग होने के कारण दिशाओं में नायिका के व्यवहार की प्रतीति और अत्यन्त सन्ताप और अत्यधिक मानरूप प्रतिनायिका के सदृश विशेषण के द्वारा दिनश्री में प्रतिनायिकात्वरूप से प्रतीति हो जाती है तो प्रतिनायिकात्व का शब्द के द्वारा बोध कराने के लिए उपमानरूप 'दयितया इव' पद का प्रयोग व्यर्थ (अनुपादेय) है। इस प्रकार अनुपादेय उपमान का ग्रहण होने से प्राचीन आचार्यों के मत में यहाँ 'अनुपादेयत्व' रूप दोष है किन्तु काव्यप्रकाशकार के मत में इसे पुनरुक्तत्व अथवा अपुष्टार्थत्व दोष में अन्तर्भाव किया जा सकता है।

यहाँ शंका होती कि 'स्पृशतीत्यादि' श्लोक में समासोक्ति अलङ्कार मानने पर यदि दोष आता है तो यहाँ श्लेषोपमा अलंकार मान लिया जाय, समासोक्ति नहीं मानी जाय। इस पर कहते हैं कि जहाँ उपमान के उपादान (ग्रहण) के बिना भी श्लिष्ट विशेषणों के द्वारा उसकी स्पष्ट प्रतीति हो जाती है वहाँ समासोक्ति चमत्कारजनक होती है किन्तु जहाँ उपमान के उपादान के बिना समान विशेषणों के द्वारा उसकी स्पष्ट रूप से प्रतीति नहीं होती, वहाँ उपमा ही चमत्कारजनक होती है और वहीं श्लेषोपमा होती है। प्रस्तुत उदाहरण में तो दयिता रूप उपमान के उपादान के बिना भी विशेषणों के द्वारा दिनश्री में प्रतिनायिकात्व की स्पष्ट प्रतीति होती है, इसलिए 'स्पृशतीत्यादि' उदाहरण में समासोक्ति ही है और यहाँ उपमान का उपादान होने से समासोक्ति दोष है तथा अनुपादेय दोष है जिसका अपुष्टार्थत्व अथवा पुनरुक्तत्व दोष में अन्तर्भाव हो जाता है।

अनुवाद—**श्लेषोपमा का विषय वही होता है जहाँ उपमान विशेष के उपादान के बिना समान विशेषणों के होने पर भी उस प्रकार की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती। जैसे—**

"पार्वती स्वयं भी नव-पल्लवों के समान लालिमा युक्त चमकते हुए हाथों से सुशोभित प्रातःकालीन संध्या के समान दुर्लभ फल (मोक्ष) के इच्छुक जनों को अभीष्ट फल देने वाली है।" ॥६०३॥

अप्रस्तुतप्रशंसायामपि उपमेयमनयैव रीत्या प्रतीतं न पुनः प्रयोगेण कदर्थतां नेयम्। यथा—

आहूतेषु विहंगमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते
मध्येवारिधि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां रुचम्।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां
धिक् सामान्यमचेतनं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ॥६०४॥

अत्राचेतनस्य प्रभोरप्रस्तुतविशिष्टसामान्यद्वारेणाभिव्यक्तौ न युक्तमेव पुनः कथनम्।

विमर्श—यहाँ पर उपमानभूत 'प्रभातसंध्या' पद का ग्रहण किये विना विशेषणों के द्वारा उसकी स्पष्ट प्रतीति नहीं होती, इसलिए यहाँ श्लेषोपमा है, समासोक्ति नहीं है और स्पृशतीत्यादि उदाहरण में उपमानभूत 'दयितया' पद का ग्रहण किये विना भी विशेषणों के द्वारा प्रतिनायिका रूप उपमान की प्रतीति हो जाती है, इसलिए यहाँ समासोक्ति है, श्लेषोपमा नहीं।

(६) अस्तुतप्रशंसा दोष

अनुवाद— अप्रस्तुतप्रशंसा में भी उपमेय इसी रीति से (शब्दतः उपादान के बिना) प्रतीत हो जाता है, अतः पुनः प्रयोग के द्वारा दूषित नहीं करना चाहिए। जैसे—

अनुवाद—पक्षियों के बुलाने पर सामने आता हुआ मच्छर भी नहीं रोका जा सकता, समुद्र के मध्य में पड़ा हुआ तृणमणि भी मणियों की कान्ति धारण करता है, तेजस्विओं के बीच में जाने में जुगनू भी कम्पित नहीं होता, इस प्रकार तत्त्वों के अन्तर (स्वरूप के तारतम्य) को न समझने वाले (अविवेकी) राजा के समान अचेतन (जड़) सामान्य को धिक्कार है।।६०४॥

यहाँ पर अप्रस्तुत विशेषणों से विशिष्ट (विशेषण युक्त) सामान्य के द्वारा जड़ (अचेतन) राजा की अभिव्यक्ति हो जाने पर उसका पुनः शब्द द्वारा कथन उचित नहीं है।

विमर्श—प्राचीन आचार्यों के मतानुसार यहाँ पर समान विशेषणों के द्वारा प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति हो जाने ने उसका शब्दतः उपादान (ग्रहण) होने पर 'अनुपादेयत्व' दोष होता है किन्तु आचार्य मम्मट अपुष्टार्थत्व अथवा पुनरुक्तत्व दोष में उसका अन्तर्भाव करते हैं। प्रदीपकार का कथन है कि यहाँ अचेतन जड़ राजा (उप-

नदेतेऽलङ्कारदोषा यथासम्भविनोऽप्येवंजातीयकाः पूर्वोक्तयैव दोष जात्याऽन्तर्भाविता न पृथक् प्रतिपादनमर्हन्तीति सम्पूर्णमिदं काव्यलक्षणम्।

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत् ।
न तद्विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः ।।

इति काव्यप्रकाशेऽर्थालङ्कारनिर्णयो नाम दशम उल्लासः ।।१०।।

समाप्तश्चायं काव्यप्रकाशः।

मेय) की अप्रस्तुतनिष्ठ सामान्य के द्वारा अभिव्यक्ति संभव होने से शब्दतः उसका उपादान (कथन) उचित नहीं है, इसलिए यहाँ अपुष्टार्थत्व अथवा पुनरुक्तत्व दोष है।

अनुवाद—इस प्रकार से ये अलङ्कार-दोष और यथासम्भव इसी प्रकार के अन्य दोष भी पूर्वोक्त दो-सामान्य में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, इसलिए उनका अलग से प्रतिपादन करना उचित नहीं है इस प्रकार हमारा यह काव्यलक्षण (निरूपण) सम्पूर्ण हो गया है।

अनुवाद—इस प्रकार यह काव्यमार्ग विद्वानों के (ग्रन्थों में) अनेक रूपों में स्थित अर्थात् विद्वानों के ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीत होने वाला यह काव्यमार्ग जो एकरूप में (अभिन्न सा) प्रतीत हो रहा है वह कोई विचित्र बात नहीं है क्योंकि इस ग्रन्थ में जो सम्यक् रूप से निर्मित है, सङ्घटना ही उसका हेतु है।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार के पूर्व काव्यशास्त्रीय विचार-परम्परा में विभिन्न आचार्यों द्वारा जो अलग-अलग मत प्रचलित थे, मम्मट ने अपने ग्रन्थ में उन सभी मतों का समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। उनके इस समन्वयात्मक संघटना-चातुर्य के कारण पृथक्-पृथक् रूप से प्रतिपादित विभिन्न मत एक समन्वित रूप में पाये जाते हैं। जैसाकि निदर्शनकार का कथन है कि ध्वनिकार आदि विद्वानों का उनके ग्रन्थों में प्रतिपादित जो यह काव्य मार्ग है जो पृथक् रूप से स्थित होकर भी एक रूप में प्रतिभासित होता है, वहाँ घङ्घटना ही एकमात्र हेतु है। आचार्य रुय्यक का कथन है कि मम्मट की इस कृति को अल्लटसूरि ने पूरा किया है, इन प्रकार यह दो विद्वानों द्वारा रचित होने पर भी रचना-शैली की समानता के कारण जो अखण्डरूप में प्रतीत होता है उसका कारण संघटना ही है—

"एतेन महामतीनां प्रसरणहेतुरेषग्रन्थः ग्रन्थकृताऽनेन (मम्मटेन) कथमप्यसमाप्तत्वादपरेण च पूरिताशेषत्वात् द्विखण्डोऽप्यखण्डतया यदवभासते तत्र संघटनैव हेतुः।"

काव्यप्रकाश के टीकाकार आचार्य माणिक्यचन्द्र का कथन है कि इस ग्रन्थ को किसी ने प्रारम्भ किया और दूसरे ने समाप्त किया, इस प्रकार दो खण्ड होने पर भी संघटना के कारण अखण्ड रूप में प्रतीत होता है—

"अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समर्थितो इति द्विखण्डोऽपि संघटनावशादखण्डायते।"

जैसाकि पहले बताया जा चुका है कि मम्मट ने इस ग्रन्थ को परिकर अलंकार तक ही लिखा है और शेष अंश को अल्लटसूरि ने पूरा किया है—

कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः।
प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायाल्लटसूरिणा॥

इस प्रकार काव्यप्रकाश में अर्थालङ्कारनिर्णय नामक दशम उल्लासः समाप्त हुआ।

इस प्रकार डा० पारसनाथद्विवेदिकृत काव्यप्रकाश की हिन्दी व्याख्या का दशम उल्लास समाप्त हुआ॥१०॥

परिशिष्ट—१

काव्यप्रकाशस्थ सूत्रों की अकारादिक्रम से सूची

परिशिष्ट—२

परिशिष्ट—३

काव्यप्रकाशस्थ उदाहरणों की वर्णक्रमानुसारिणी सूची